दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय-जय, काल-विनाशिनि काली जय जय।
उमा-रमा-ब्रह्माणी जय जय, राधा-सीता-रुक्मिणि जय जय॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जय-जय दुर्गा, जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥
जयति शिवाशिव जानकिराम। गौरीशंकर सीताराम॥
जय रघुनन्दन जय सियाराम। व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम॥
रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम॥

(संस्करण २,५०,०००)

'सबसों ऊँची प्रेम सगाई'

सबसो ऊँची प्रेम सगाई।
दुरजोधनके मेवा त्यागे, साग बिदुर घर खाई॥
जूठे फल सबरीके खाये, बहु बिधि स्वाद बताई।
प्रेमके बस नृप सेवा कीन्हीं आप बने हरि नाई॥
राजसु-जग्य जुधिष्ठिर कीन्हो तामे जूँठ उठाई।
प्रेमके बस पारथ रथ हाँक्यो, भूलि गये ठकुराई॥
ऐसी प्रीति बढी बृंदाबन, गोपिन नाच नचाई।
सूर कूर इहि लायक नाही, कहँ लगि करो बड़ाई॥

इस अङ्कका मूल्य १२० रु० (सजिल्द १३५ रु०)

वार्षिक शुल्क*
भारतमें १२० रु०
सजिल्द १३५ रु०
विदेशमें—सजिल्द
US$25 (Air Mail)
US$13 (Sea Mail)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

पञ्चवर्षीय शुल्क*
भारतमें ६०० रु०
सजिल्द ६७५ रु०
विदेशमें—सजिल्द
US$125 (Air Mail)
US$65 (Sea Mail)

* कृपया नियम देखे।

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये केशोराम अग्रवालद्वारा गीताप्रेस गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

visit us at www.gitapress.org | e-mail gitapres@ndf.vsnl.net.in

'कल्याण'के सम्मान्य सदस्यों और प्रेमी पाठकोसे नम्र निवेदन

१-'कल्याण' के ७७ व वर्ष—सन् २००३ का यह विशेषाङ्क 'भगवत्प्रेम-अङ्क' आप लोगाकी सेवाम प्रस्तुत है। इसम ४६४ पृष्ठाम पाठ्य-सामग्री और ८ पृष्ठोम विषय-सूची आदि है। कई बहुरगे एव रेखाचित्र भी दिये गये है। इस विशेषाङ्कके साथ फरवरी एव मार्च माहका अङ्क भी प्रेषित किया गया है। डाकसे सभी ग्राहकाको विशेषाङ्क-प्रेषणमे लगभग दो माहका समय लग जाता है।

२-वार्षिक सदस्यता-शुल्क प्रेषित करनेपर भी किसी कारणवश यदि विशेषाङ्क वी०पी०पी० द्वारा आपके पास पहुँच गया हो तो उसे डाकघरसे प्राप्त कर लेना चाहिये एव प्रेषित की गयी राशिका पूरा विवरण (मनीऑर्डर पावतीसहित) यहाँ भेज देना चाहिये। जिससे जाँचकर आपके सुविधानुसार राशिकी उचित व्यवस्था की जा सके। सम्भव हो तो वी०पी०पी० से किसी अन्य सज्जनको ग्राहक बनाकर उसकी सूचना यहाँ नय सदस्यके पूरे पतेसहित देनी चाहिये। ऐसा करके आप 'कल्याण' को आर्थिक हानिसे बचानेके साथ-साथ 'कल्याण' के पावन प्रचारम सहयोगी भी हो सकगे।

३-इस अङ्कके लिफाफे (कवर)-पर आपकी सदस्य-सख्या एव पता छपा है, उसे कृपया जाँच ले तथा अपनी सदस्य-सख्या सावधानीसे नोट कर ल। रजिस्ट्री अथवा वी०पी०पी० का नम्बर भी नोट कर लेना चाहिये। पत्र-व्यवहारमे सदस्य-सख्याका उल्लख नितान्त आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना आपके पत्रपर हम समयसे कार्यवाही नहीं कर पाते है। डाकद्वारा अङ्कोके सुरक्षित वितरणमे सही पिन-कोड आवश्यक है। अत अपने लिफाफेपर छपा अपना पता जाँच लेना चाहिये।

४-*'कल्याण'* एव *'गीताप्रेस-पुस्तक-विभाग'* की व्यवस्था अलग-अलग है। अत पत्र तथा मनीऑर्डर आदि सम्बन्धित विभागका अलग-अलग भेजना चाहिये।

'कल्याण'के उपलब्ध पुराने विशेषाङ्क

वर्ष	विशेषाङ्क	मूल्य (रु०)	वर्ष	विशेषाङ्क	मूल्य (रु०)
६	श्रीकृष्णाङ्क	१००	३५	स० योगवासिष्ठाङ्क	९०
७	ईश्वराङ्क	९०	३६	स० शिवपुराण (बडा टाइप)	१००
८	शिवाङ्क	१००	३७	स० ब्रह्मवैवर्तपुराण	११०
९	शक्ति-अङ्क	१००	३९	भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अङ्क	८५
१२	सत-अङ्क	१००	४३	परलोक और पुनर्जन्माङ्क	१००
१५	साधनाङ्क	१००	४४-४५	गर्गसहिता [भगवान् श्रीराधाकृष्णकी दिव्य लीलाआका वर्णन]	७०
१६	भागवताङ्क	१३०			
१८	स० वाल्मीकीय रामायणाङ्क	६५	४४-४५	नरसिह-पुराणम्	५५
१९	सक्षिप्त पद्मपुराण	१२०	४४-४५	अग्निपुराण	११०
२१	स० मार्कण्डेयपुराण	५५	४८	श्रीगणश-अङ्क	७५
२१	स० ब्रह्मपुराण	७०	४९	हनुमान-अङ्क	७०
२२	नारी-अङ्क	१००	५१	स० श्रीवराहपुराण	६०
२३	उपनिषद्-अङ्क	१००	५३	सूर्याङ्क	६०
२४	हिन्दू-सस्कृति-अङ्क	१२०	६६	स० भविष्य-पुराणाङ्क	७५
२५	स० स्कन्दपुराणाङ्क	१४०	६७	शिवोपासनाङ्क	७५
२६	भक्तचरिताङ्क	१२०	६८	रामभक्ति-अङ्क	६५
२८	स० नारदपुराण	१००	६९	गो-सेवा-अङ्क	७५
३०	सत्कथा-अङ्क	१००	७२	भगवल्लीला-अङ्क	६५
३१	तीर्थाङ्क	१००	७४	स० गरुडपुराणाङ्क	८०
३४	स० देवीभागवत (मोटा टाइप)	१२०	७५	आरोग्य-अङ्क [मासिक अङ्कासहित]	१२०
			७६	नीतिसार-अङ्क [" "]	१२०

सभी अङ्कोपर डाक-व्यय अतिरिक्त देय हागा। गीताप्रेस-पुस्तक-विक्री-विभागसे प्राप्य है।

व्यवस्थापक—'कल्याण'-कार्यालय पत्रालय—गीताप्रेस—२७३००५, जनपद—गारखपुर, (उ०प्र०)

॥ श्रीहरि ॥

'भगवत्प्रेम-अङ्क' की विषय-सूची

पत्रिका

प्रेम-तत्त्व-विमर्श

प्रेमोपासना और उसके विविध रूप

आर्षग्रन्थों तथा सत्साहित्यमें प्रेम-निरूपण

प्रेमाभक्तिके परम उपासक [प्रेमीभक्तोंके चरित]

चित्र-सूची

(रगीन-चित्र)

(रेखा-चित्र)

श्रुतिका प्रेममय माङ्गलिक सदेश

सहृदय सामनस्यमविद्वेष कृणामि व ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्स जातमिवाघ्न्या ॥

आप सबके मध्यम विद्वेषको हटाकर मैं सहृदयता समनस्कताका प्रचार करता हूँ। जिस प्रकार गौ अपने बछडेसे प्रेम करती है, उसी प्रकार आप सब एक-दूसरसे प्रेम कर।

अनुव्रत पितु पुत्रो मात्रा भवतु समना ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाच वदतु शन्तिवाम्॥

पुत्र पिताके व्रतका पालन करनेवाला हो तथा माताका आज्ञाकारी हो। पत्नी अपने पतिसे शान्तियुक्त मीठी वाणी बोलनेवाली हो।

मा भ्राता भ्रातर द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्च सव्रता भूत्वा वाच वदत भद्रया॥

भाई-भाई आपसम द्वेष न कर। बहिन बहिनके साथ ईर्ष्या न रखे। आप सब एकमत और समान व्रतवाले बनकर मृदु वाणीका प्रयोग कर।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथ ।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे सज्ञान पुरुषेभ्य ॥

जिस प्रेमसे देवगण एक-दूसरेसे पृथक् नहीं होते और न आपसमे द्वेष करते हैं, उसी ज्ञानको तुम्हारे परिवारमे स्थापित करता हूँ। सब पुरुषोंमे परस्पर मेल हो।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट सराधयन्त सधुराश्चरन्त ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्व समनसस्कृणोमि॥

श्रेष्ठता प्राप्त करते हुए सब लोग हृदयसे एक साथ मिलकर रहो कभी विलग न होओ। एक-दूसरेको प्रसन्न रखकर एक साथ मिलकर भारी बोझको खींच ले चलो। परस्पर मृदु सम्भाषण करते हुए चलो और अपने अनुरक्त जनोसे सदा मिले हुए रहो।

सध्रीचीनान्व समनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्सवननेन सर्वान्।
देवा इवामृत रक्षमाणा सायप्रात सौमनसो वो अस्तु॥

समान गतिवाले आप सबको समनस्क बनाता हूँ, जिससे आप पारस्परिक प्रेमसे समान-भावोके साथ एक अग्रणीका अनुसरण कर। देव जिस प्रकार समान-चित्तसे अमृतकी रक्षा करते हैं उसी प्रकार साय और प्रात आप सबकी उत्तम समिति हो।

स गच्छध्व स वदध्व स वो मनासि जानताम्।
देवा भाग यथा पूर्वे सजानाना उपासते॥

हे धर्म-निरत विद्वानो! आप परस्पर एक होकर रह, परस्पर मिलकर प्रेमसे वार्तालाप कर। समान-मन होकर ज्ञान प्राप्त करे। जिस प्रकार श्रेष्ठजन एकमत होकर ज्ञानार्जन करते हुए ईश्वरकी उपासना करते हैं उसी प्रकार आप भी एकमत होकर विरोध त्यागकर अपना काम कर।

समानो मन्त्र समिति समानी समान मन सह चित्तमेषाम्।
समान मन्त्रमभि मन्त्रये व समानेन वो हविषा जुहामि॥

हम सबकी प्रार्थना एक समान हो भेद-भावसे रहित परस्पर मिलकर रहें, अन्त करण—मन-चित्त-विचार समान हो। मैं सबके हितके लिये समान मन्त्रोको अभिमन्त्रित करके हवि प्रदान करता हूँ।

समानी व आकूति समाना हृदयानि व ।
समानमस्तु वो मनो यथा व सुसहासति॥

तुम सबके सकल्प एक समान हो तुम्हारे हृदय एक समान हो और मन एक समान हो जिससे तुम्हारा कार्य परस्पर पूर्णरूपसे सगठित हो।

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥

मेरी जिह्वाके अग्रभागमे माधुर्य हो। मेरी जिह्वाके मूलमे मधुरता हो। मेरे कर्ममे माधुर्यका निवास हो और हे माधुर्य! मेरे हृदयतक पहुँचो।

'मधुराधिपतेरखिल मधुरम्'

अधर मधुर वदन मधुर नयन मधुर हसित मधुरम्।
हृदय मधुर गमन मधुर मधुराधिपतेरखिल मधुरम्॥ १॥
वचन मधुर चरित मधुर वसन मधुर वलित मधुरम्।
चलित मधुर भ्रमित मधुर मधुराधिपतेरखिल मधुरम्॥ २॥
वेणुर्मधुरो रेणुर्मधुर पाणिर्मधुर पादौ मधुरो।
नृत्य मधुर सख्य मधुर मधुराधिपतेरखिल मधुरम्॥ ३॥
गीत मधुर पीत मधुर भुक्त मधुर सुप्त मधुरम्।
रूप मधुर तिलक मधुर मधुराधिपतेरखिल मधुरम्॥ ४॥
करण मधुर तरण मधुर हरण मधुर स्मरण मधुरम्।
वमित मधुर शमित मधुर मधुराधिपतेरखिल मधुरम्॥ ५॥
गुञ्जा मधुरा माला मधुरा यमुना मधुरा वीची मधुरा।
सलिल मधुर कमल मधुर मधुराधिपतेरखिल मधुरम्॥ ६॥
गोपी मधुरा लीला मधुरा युक्त मधुर मुक्त मधुरम्।
दृष्ट मधुर शिष्ट मधुर मधुराधिपतेरखिल मधुरम्॥ ७॥
गोपा मधुरा गावो मधुरा यष्टिर्मधुरा सृष्टिर्मधुरा।
दलित मधुर फलित मधुर मधुराधिपतेरखिल मधुरम्॥ ८॥

॥ इति श्रीमद्वल्लभाचार्यकृत मधुराष्टक सम्पूर्णम् ॥

श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है। उनके अधर मधुर हैं, मुख मधुर है, नेत्र मधुर है, हास्य मधुर है, हृदय मधुर हे ओर गति भी अति मधुर है॥ १॥ उनके वचन मधुर ह, चरित्र मधुर हे, वस्त्र मधुर ह, अङ्गभङ्गी मधुर ह, चाल मधुर हे ओर भ्रमण भी अति मधुर हे, श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है॥ २॥ उनका वेणु मधुर हे, चरणरज मधुर है, करकमल मधुर ह, चरण मधुर हे, नृत्य मधुर है और सख्य भी अति मधुर हे, श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है॥ ३॥ उनका गान मधुर है, पान मधुर है, भोजन मधुर हे, शयन मधुर है, रूप मधुर है और तिलक भी अति मधुर है, श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर हे॥ ४॥ उनका कार्य मधुर है, तैरना मधुर है, हरण मधुर है, स्मरण मधुर है, उद्‌गार मधुर है आर शान्ति भी अति मधुर है, श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर हे॥ ५॥ उनकी गुञ्जा मधुर हे, माला मधुर हे, यमुना मधुर है, उसकी तरङ्गे मधुर हे, उसका जल मधुर हे और कमल भी अति मधुर हे, श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर हे॥ ६॥ गोपियाँ मधुर हे, उनकी लीला मधुर है, उनका सयोग मधुर हे, वियोग मधुर हे, निरीक्षण मधुर हे ओर शिष्टाचार भी मधुर है, श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है॥ ७॥ गोप मधुर हैं, गोएँ मधुर ह, लकुटी मधुर ह, रचना मधुर है, दलन मधुर है ओर उसका फल भी अति मधुर ह, श्रीमधुराधिपतिका सभी कुछ मधुर है॥ ८॥

'भजत रे मनुजा· कमलापतिम्'

भुजगतल्पगत घनसुन्दर गरुडवाहनमम्बुजलोचनम्।
नलिनचक्रगदाकरमव्यय भजत रे मनुजा कमलापतिम्॥ १॥
अलिकुलासितकोमलकुन्तल विमलपीतदुकूलमनोहरम्।
जलधिजाङ्कितवामकलेवर भजत रे मनुजा कमलापतिम्॥ २॥
किमु जपैश्च तपोभिरुताध्वरैरपि किमुत्तमतीर्थनिषेवणे ।
किमुत शास्त्रकदम्बविलोकनैर्भजत रे मनुजा कमलापतिम्॥ ३॥
मनुजदेहमिम भुवि दुर्लभ समधिगम्य सुरैरपि वाञ्छितम्।
विषयलम्पटतामपहाय वै भजत रे मनुजा कमलापतिम्॥ ४॥
न वनिता न सुतो न सहोदरो न हि पिता जननी न च बान्धव ।
व्रजति साकमनेन जनेन वै भजत रे मनुजा कमलापतिम्॥ ५॥
सकलमेव चल सचराचर जगदिद सुतरा धनयावनम्।
समवलोक्य विवेकदृशा द्रुत भजत रे मनुजा कमलापतिम्॥ ६॥
विविधरोगयुत क्षणभङ्गुर परवश नवमार्गमलाकुलम्।
परिनिरीक्ष्य शरीरमिद स्वक भजत रे मनुजा कमलापतिम्॥ ७॥
मुनिवरैरनिश हृदि भावित शिवविरिञ्चिमहेन्द्रनुत सदा।
मरणजन्मजराभयमोचन भजत रे मनुजा कमलापतिम्॥ ८॥
हरिपदाष्टकमेतदनुत्तम परमहसजनेन समीरितम्।
पठति यस्तु समाहितचेतसा व्रजति विष्णुपद स नरो ध्रुवम्॥ ९॥

॥ इति श्रीमत्परमहसस्वामिब्रह्मानन्दविरचित श्रीकमलापत्यष्टक सम्पूर्णम्॥

रे मनुष्यो! जो शेषशय्यापर पौढे हुए ह, नीलमेघ-सदृश श्याम-सुन्दर हैं, गरुड जिनका वाहन हे और जिनके कमल-जैसे नेत्र हे, उन शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी अव्यय श्रीकमलापतिको भजो॥ १॥ भौंरोके समान जिनकी काली-काली कोमल अलकें हैं, अति निर्मल सुन्दर पीताम्बर हे और जिनके वामाङ्कमे श्रीलक्ष्मीजी सुशोभित है, रे मनुष्यो! उन श्रीकमलापतिको भजो॥ २॥ जप, तप, यज्ञ अथवा उत्तम-उत्तम तीर्थोंके सेवनमे क्या रखा हे? अथवा अधिक शास्त्रावलोकनके पचडेमे पडनेसे ही क्या होना है? रे मनुष्यो! बस श्रीकमलापतिको ही भजो॥ ३॥ इस ससारम यह मनुष्य-शरीर अति दुर्लभ ओर देवगणासे भी वाञ्छित है—ऐसा जानकर विषय-लम्पटताको त्यागकर रे मनुष्यो! श्रीकमलापतिको भजो॥ ४॥ इस जीवके साथ स्त्री, पुत्र, भाई, पिता, माता और बन्धुजन कोई भी नहीं जाता, अत रे मनुष्यो! श्रीकमलापतिको भजा॥ ५॥ यह सचराचर जगत्, धन और यौवन सभी अत्यन्त अस्थिर हैं—ऐसा विवेकदृष्टिसे देखकर रे मनुष्यो! शीघ्र ही श्रीकमलापतिको भजो॥ ६॥ यह शरीर नाना प्रकारके रोगाका आश्रय, क्षणिक, परवश तथा मलसे भरे हुए नौ मार्गोंवाला है—ऐसा देखकर रे मनुष्यो! श्रीकमलापतिको भजो॥ ७॥ मुनिजन जिनका अहर्निश हृदयम ध्यान करते हैं, शिव, ब्रह्मा तथा इन्द्रादि समस्त देवगण जिनकी सवदा वन्दना करते हैं तथा जो जरा, जन्म और मरणादिके भयको दूर करनेवाल हैं, रे मनुष्यो! उन श्रीकमलापतिको भजो॥ ८॥ दास परमहसद्वारा कह गये इस अत्युत्तम भगवान् हरिके अष्टकको जो मनुष्य समाहितचित्तसे पढता है, वह अवश्य ही भगवान् विष्णुके परमधामको प्राप्त होता है॥ ९॥

'किङ्किणीमञ्जुलं श्यामलं तं भजे'

अच्युत केशव रामनारायण कृष्णदामोदर वासुदेव हरिम्।
श्रीधर माधव गोपिकावल्लभ जानकीनायक रामचन्द्र भजे॥ १॥
अच्युत केशव सत्यभामाधव माधव श्रीधर राधिकाराधितम्।
इन्दिरामन्दिर चेतसा सुन्दर देवकीनन्दन नन्दज सदधे॥ २॥
विष्णवे जिष्णवे शङ्खिने चक्रिणे रुक्मिणीरागिणे जानकीजानये।
वल्लवीवल्लभायार्चितायात्मने कसविध्वसिने वशिने ते नम ॥ ३॥
कृष्ण गोविन्द हे राम नारायण श्रीपते वासुदेवाजित श्रीनिधे।
अच्युतानन्त हे माधवाधोक्षज द्वारकानायक द्रौपदीरक्षक॥ ४॥
राक्षसक्षोभित सीतया शोभितो दण्डकारण्यभूपुण्यताकारण ।
लक्ष्मणेनान्वितो वानरै सेवितोऽगस्त्यसम्पूजितो राघव पातु माम्॥ ५॥
धेनुकारिष्टकानिष्टकृद् द्वेषिहा केशिहा कसहृद्वशिकावादक ।
पूतनाकोपक सूरजाखेलनो बालगोपालक पातु मा सर्वदा॥ ६॥
विद्युदुद्योतवत्प्रस्फुरद्वासस प्रावृडम्भोदवत्प्रोल्लसद्विग्रहम्।
वन्यया मालया शोभितोर स्थल लोहिताङ्घ्रिद्वय वारिजाक्ष भजे॥ ७॥
कुञ्चितै कुन्तलैर्भ्राजमानानन रत्नमौलि लसत्कुण्डल गण्डयो ।
हारकेयूरक कङ्कणप्रोज्ज्वल किङ्किणीमञ्जुल श्यामल त भजे॥ ८॥
अच्युतस्याष्टक य पठेदिष्टद प्रेमत प्रत्यह पूरुष सस्पृहम्।
वृत्तत सुन्दर कर्तृविश्वम्भरस्तस्य वश्यो हरिर्जायते सत्वरम्॥ ९॥

॥ इति श्रीमच्छङ्कराचार्यकृतमच्युताष्टक सम्पूर्णम् ॥

अच्युत केशव, राम, नारायण, कृष्ण, दामोदर, वासुदेव, हरि, श्रीधर, माधव, गोपिकावल्लभ तथा जानकीनायक श्रीरामचन्द्रजीको मैं भजता हूँ॥ १ ॥ अच्युत, केशव, सत्यभामापति लक्ष्मीपति, श्रीधर, राधिकाजीद्वारा आराधित लक्ष्मीनिवास, परम सुन्दर, देवकीनन्दन, नन्दकुमारका मैं चित्तसे ध्यान करता हूँ॥ २॥ जो विभु हैं विजयी हैं, शङ्ख-चक्रधारी हैं रुक्मिणीजीके परम प्रेमी हैं, जानकीजी जिनकी धर्मपत्नी हैं तथा जो व्रजाङ्गनाओके प्राणाधार हैं उन परमपूज्य, आत्मस्वरूप, कसविनाशक, मुरलीमनोहरको मैं नमस्कार करता हूँ॥ ३ ॥ हे कृष्ण! हे गोविन्द! हे राम। हे नारायण। हे रमानाथ! हे वासुदेव। हे अजेय। हे शोभाधाम। हे अच्युत। हे अनन्त। हे माधव। हे अधोक्षज (इन्द्रियातीत)। हे द्वारकानाथ। हे द्रौपदीरक्षक। (मुझपर कृपा कीजिये)॥ ४॥ जो राक्षसापर अति कुपित हैं, श्रीसीताजीसे सुशोभित हैं, दण्डकारण्यकी भूमिकी पवित्रताके कारण हैं, श्रीलक्ष्मणजीद्वारा अनुगत हैं, वानरासे सेवित हैं और श्रीअगस्त्यजीसे पूजित हैं वे रघुवशी श्रीरामचन्द्रजी मेरी रक्षा करे॥ ५॥ धेनुक और अरिष्टासुर आदिका अनिष्ट करनेवाले शत्रुओका ध्वस करनेवाले केशी और कसका वध करनेवाले, वशीको बजानेवाले, पूतनापर कोप करनेवाले, यमुनातटविहारी बालगोपाल मेरी सदा रक्षा करे॥ ६॥ विद्युत्प्रकाशके सदृश जिनका पीताम्बर विभासित हो रहा है, वर्षाकालीन मेघोके समान जिनका अति शोभायमान शरीर है, जिनका वक्ष स्थल वनमालासे विभूषित है और जिनके चरणयुगल अरुणवर्ण हैं, उन कमलनयन श्रीहरिको मैं भजता हूँ॥ ७॥ जिनका मुख घुँघराली अलकासे सुशोभित है, मस्तकपर मणिमय मुकुट शोभा दे रहा है तथा कपोलोपर कुण्डल सुशोभित हो रहे हैं उज्ज्वल हार केयूर (बाजूबन्द), कङ्कण और किङ्किणीकलापसे सुशोभित उन मञ्जुलमूर्ति श्रीश्यामसुन्दरको मैं भजता हूँ॥ ८॥ जो पुरुष इस अति सुन्दर छन्दवाले और अभीष्ट फलदायक अच्युताष्टकको प्रेम और श्रद्धासे नित्य पढता है विश्वम्भर विश्वकर्ता श्रीहरि शीघ्र ही उसके वशीभूत हो जाते हैं॥ ९॥

प्रियतम प्रभुकी प्रेम-साधना

प्रेम भगवान्‌का साक्षात् स्वरूप ही हे। जिसे विशुद्ध सच्चे प्रेमकी प्राप्ति हो गयी, उसे भगवान् मिल गये—यह मानना चाहिये। प्रेम न हो तो रूखे-सूखे भगवान् भावजगत्‌की वस्तु रहे ही नही।

वास्तवमे प्रभु रसरूप हें। श्रुतियोम भी परमपुरुपकी रसरूपताका वर्णन मिलता हे—'रसो वे स ' (तै०उप० २।७।२)। प्रेमका निजी रूप रसस्वरूप परमात्मा ही है। इसीलिये जैसे परमात्मा सर्वव्यापक हे, वेसे ही प्रेमतत्त्व (आनन्दरस) भी मर्वत्र व्याप्त है। हरक जन्तुम तथा हरेक परमाणुमे आनन्द अथवा रसस्वरूप प्रेमकी व्याप्ति हे। ससारमे बिना प्रेम या आनन्दरसके एक-दूसरेसे मिलना नहीं हो सकता। स्त्री, पुत्र, मित्र, पिता, भ्राता, पुत्रवधू तथा पशु-पक्षी आदिमे भी प्रीति या स्नेह इस प्रेमरसकी व्याप्तिके कारण ही है।

कहते हैं कि गुडके सम्बन्धसे नीरस बेसनम मिठास आ जाती हे। इसी प्रकार 'स्व'के सम्बन्धसे अर्थात् अपनेपनके सम्बन्धसे ससारकी वस्तुआमे भी प्रीति होती हे। ससारकी जिस वस्तुमे जितना अपनापन होगा, वह वस्तु उतनी ही प्यारी लगेगी। उसमे राग होना स्वाभाविक है। ससारकी वस्तुओमे जहाँ राग हे वहाँ द्वेष भी हे। जहाँ द्वेप है वहाँ राग हे—य द्वन्द्व है। द्वन्द्व अकेला नहीं रहता। राग-द्वेप—य दोनो साथ रहते ह, इसीलिये इसका नाम द्वन्द्व हे। पर एक बात बडी विलक्षण हे, वह हे—रस (प्रम)-साधनाकी। रस-साधनाका प्रारम्भ भगवान्‌मे अनुरागको लेकर ही होता है। एकमात्र भगवान्‌म अनन्य राग होनेपर अन्यान्य वस्तुआम रागका स्वाभाविक ही अभाव हो जाता है। उन वस्तुओमसे राग निकल जानेके कारण उनम कहीं द्वेप भी नहीं रहता। कारण ये राग-द्वप साथ-साथ ही तो रहते ह। प्रेमीजन द्वन्द्वासे अपने लिये अपना कोई सम्पर्क नहीं रखकर उन द्वन्द्वाके द्वारा अपने प्रियतम भगवान्‌को सुख पहुँचात हें और प्रियतमको सुख पहुँचानेके जो भी साधन हें, उनमसे काई-सा साधन भी त्याज्य नहीं है तथा कोई भी वस्तु हेय नहीं। कारण उन वस्तुआम कहीं आसक्ति रहती नही जो मनको खीच ले, इसलिय रसकी साधनाम कहींपर कडवापन नहीं हे। उसका आरम्भ ही होता है माधुर्यको लेकर, भगवान्‌म रागको लेकर। राग बडा मीठा हाता है, रागका स्वभाव ही मधुरता हे और यह मधुरता आती है अपनेपनसे। जहॉ अपनत्व नहीं वहाँ प्रेम नहीं।

इसी कारण साक्षात् अपनेम अर्थात् 'स्व' मे प्राणीका सर्वाधिक प्रेम होता हे। इसीलिये भगवान् प्राणके प्राण, जीवके जीवन, आनन्दके आनन्द प्रत्यक्ष स्वात्मा हैं, अतएव प्रेम या रसस्वरूप ही ह। पर यह अपनापन ससारमे प्राय दिखायी देनेवाले निकटस्थ प्राणिपदार्थमे होना स्वाभाविक है, जो जन्म-मरणके बन्धनका भी कारण होता है। इसीलिये गोस्वामी तुलसीदासजीने रामचरितमानसमे यह लिखा हे—

जननी जनक बधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
(५।४८।४-५)

माता-पिता, भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, अपना शरीर, धन, मकान, मित्र आर परिवार—ये ही सब ममताके आस्पद हें। अत भगवान् कहते हें—इन सबकी ममताका कच्चा धागा बटोरकर उसकी एक मजबूत रस्सी बट लो आर मेरे चरणकमलम बाँध दो। यहाँ कच्चा धागा इसलिये कहा गया कि इन प्राणिपदार्थोमे जो ममता है—अपनापन ह वह स्वार्थपूर्ण है। इसलिये यह कच्चा धागा है, जो कभी भी स्वार्थकी टकराहटसे टूट सकता है, परतु प्रभुमे जो प्रेम होता है वह कभी टूटता नहीं। स्त्री-पुत्र, भाई-बन्धु, मित्र आदिम कभी प्रेम और कभी वैर भी हो जाता हे। कभी पेमकी कमी और कभी अधिकता हो जाती है, परतु भगवान्‌म वह सदा-सर्वदा एकरस निरतिशय रहता है। क्याकि जैसे सूर्य प्रकाशका उद्‌गम-स्थान या प्रकाशस्वरूप ही हे, वैसे ही भगवान् भी प्रेमके

उद्गम-स्थान या प्रेमस्वरूप ही है। इसीलिये इन्हें प्रेम (रस)-सागर भी कहा जाता है। यह रससागर बडा अनुपम, अतुल और विलक्षण है। इसमे प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद वस्तुत एक भगवान् ही होते है, पर सदा ही तीनो बनकर रसास्वाद करते और कराते रहते हैं।

वस्तुत परमेश्वरमे प्रेम होना ही विश्वमे प्रेम होना है और विश्वके समस्त प्राणियोमे प्रेम ही भगवान्मे प्रेम है, क्योकि स्वय परमात्मा ही सबके आत्मस्वरूपसे विराजमान है। जो व्यक्ति इस भगवत्प्रेमके रहस्यको भलीभाँति समझ लेता है, उसका सभी प्राणियोके साथ अपनी आत्माके समान प्रेम हो जाता है। ऐसे प्रेमीकी प्रशसा करते हुए भगवान्ने कहा है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र सम पश्यति योऽर्जुन।
सुख वा यदि वा दु ख स योगी परमो मत ॥

(गीता ६।३२)

हे अर्जुन! जो योगी अपने ही समान सम्पूर्ण भूतोमें सम देखता है और सुख अथवा दु खमे भी सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है। अपनी सादृश्यतासे सम देखनेका यही अभिप्राय है कि जैसे मनुष्य अपने सिर, हाथ, पेर और गुदा आदि अङ्गोमे भिन्नता होते हुए भी उनमे समान रूपसे आत्मभाव रखता है अर्थात् सारे अङ्गोमे अपनापन समान होनेसे सुख और दु खको समान ही देखता है, वैसे ही सम्पूर्ण भूतोमे जो समभाव देखता है इस प्रकारके समत्वभावको प्राप्त भक्तका हृदय प्रेमसे सराबोर रहता है। उसकी दृष्टि सबके प्रति प्रेमकी ही हो जाती है। उसके हृदयमे किसीके भी साथ घृणा और द्वेषका लेश भी नहीं रहता। उसकी दृष्टिमे तो सम्पूर्ण ससार एक वासुदेवरूप ही हो जाता है।

इस परमतत्त्वको न जाननेके कारण ही प्राय मनुष्य राग-द्वेष करते हैं तथा परमात्माको छोडकर सासारिक विषय-भोगोकी ओर दौडते हैं ओर बार-बार दु खको प्राप्त होते हैं। मनुष्य जो स्त्री-पुत्र, धन आदि पदार्थोंमे सुख समझकर प्रेम करते हैं, उन आपातरमणीय विषयोंमे उन्हे जो सुखकी प्रतीति होती हे वह केवल भ्रान्तिसे होती है। वास्तवमे विषयोमे सुख है ही नहीं, परतु जिस प्रकार सूर्यकी किरणासे मरुभूमिम जलके विना हुए ही उसकी प्रतीति होती है ओर प्यासे हिरण उसकी आर दोडते हैं तथा अन्तमे निराश होकर मर जाते हें, ठीक इसी प्रकार सासारिक मनुष्य ससारके पदार्थोंके पीछे सुखकी आशासे दाडते हुए जीवनके अमूल्य समयको व्यर्थ ही विता देते हें और असली नित्य परमात्म-सुखमे वञ्चित रह जाते ह।

जबतक साधक विषय-भोगाके मोहसे मुक्त नहीं होता, तबतक उसमे भक्तिभाव उत्पन्न ही नहीं होता। भक्तिका प्रभाव अमित है। यह सब दु खोको मिटानेवाली, सब प्रकारके कल्याणको देनेवाली, मोक्षकी कामनाको दूर भगानेवाली, घनीभूत, आनन्दरूपा, दुर्लभ एव परमात्मप्रभु श्रीकृष्णको आकृष्ट करनेवाली है—

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षणी च सा॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु पू० ल० १।१३)

भक्ति मोक्षरूपा भी मानी गयी है। भक्तिका उद्रेक महापुरुषोके उपदेश, उपनिषद्, पुराण आदिके श्रवणद्वारा होता है, परतु प्रेम ईश्वरीय देन अथवा नैसर्गिक रूपमे ही स्वय स्फूर्त होता है। देवर्षि नारदके उपदेशने प्रह्लाद, ध्रुव आदिके मनमे भगवद्भक्तिका बीज अङ्कुरित किया पर इसके साथ ही नन्दबाबा, माँ यशोदा तथा व्रजाङ्गनाओके मनमे स्वभावत ही प्रेम प्रस्फुटित हुआ।

भक्ति दो प्रकारकी कही गयी है—(१) वैधी भक्ति, (२) अनुरागा भक्ति। वैधी भक्तिमे प्रवृत्तिकी प्रेरणा शास्त्रसे मिलती हे, जिसे विधि कहते हैं। शास्त्रज्ञ, दृढ विश्वासयुक्त, तर्कशील बुद्धिसम्पन्न तथा निष्ठावान् साधक ही वैधी भक्तिका अधिकारी हे। वह शास्त्रविधिके अनुसार अपने आराध्यकी सेवा-पूजा और उपासना करता है। दूसरी रागानुगा भक्ति आत्यन्तिक रागके कारण ही उत्पन्न होती हे। रागात्मिका भक्ति और दृढ — स्वाभाविक आसक्तिका नाम है। अपन आग

जो स्वाभाविक आसक्ति होती है उसे रागानुरागा कहते हैं। रागात्मक भाव प्रगाढ हो जानेपर प्रेम कहलाने लगता है—

अजातपक्षा इव मातर खगा
　　स्तन्य यथा वत्सतरा क्षुधार्ता ।
प्रिय प्रियेव व्युषित विषण्णा
　　मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥
(श्रीमद्भा० ६।११।२६)

जेसे पक्षियोके पखहीन बच्चे अपनी माकी बाट जोहते रहते है, जैसे भूखे बछड अपनी माका दूध पीनेके लिये आतुर रहते हैं ओर जेसे वियोगिनी पत्नी अपने प्रवासी प्रियतमसे मिलनेके लिये उत्कण्ठित रहती है—वेसे ही कमलनयन! मेरा मन आपके दर्शनक लिये छटपटा रहा ह।

इस प्रकार पगाढ प्रेमकी पराकाष्ठा ही रागानुगा (प्रेमा) भक्ति है। इस प्रेमाभक्तिम अनन्यताका सर्वोपरि स्थान है। अनन्यताके सम्बन्धमे देवर्पि नारदका कथन है कि अपने पिय भगवान्को छाडकर दूसरे आश्रयोके त्यागका नाम ही अनन्यता है—'अन्याश्रयाणा त्यागोऽनन्यता' (ना० भ० सू० १०)। अनन्य प्रेमका साधारण स्वरूप यह हे—एक भगवान्क अतिरिक्त अन्य किसीमे किसी समय भी आसक्ति न हो। प्रेमकी मग्नतामे भगवान्के सिवा अन्य किसीका ज्ञान ही न रहे, जहाँ-जहाँ मन जाय वहीं भगवान् दृष्टिगोचर हा। यूँ होते-होते अभ्यास बढ जानेपर अपने-आपकी विस्मृति होकर केवल भगवान् ही रह जायँ यही विशुद्ध अनन्य प्रम हे। प्रेम करनेका हेतु भी केवल परमेश्वर या उनका प्रेम ही होना चाहिये। प्रेमके लिये ही प्रेम किया जाय अन्य कोई हतु न रह। मान-बडाई और प्रतिष्ठा तथा इस लोक ओर परलाकके किसी भी पदार्थकी इच्छाकी गन्ध भी साधकके मनम न रहे। एसा विशुद्ध प्रेम होनेपर जो आनन्द हाता है उसकी महिमा अकथनीय हैं। एस प्रमका वास्तविक महत्त्व कोई परमात्माका अनन्य प्रेमी ही जानता है।

उत्तम साधक सासारिक कार्य कर
अनन्यभावस परमात्माका चिन्तन किया करत
भगवत्प्रेमी साधक अपना मन परमात्माम
कोशिश करते हैं, परतु अभ्यास और आसक्ति
ध्यान करते समय भी उनका मन विषयोम च
है। जिनका भगवान्म मुख्य प्रेम हे वे
भगवान्को स्मरण रखत हुए समस्त कार्य क
जिनका भगवान्मे अनन्य प्रेम हो जाता है
समस्त चराचर विश्व एक वासुदेव ही प्रतीत
है। ऐसे महात्मा बडे दुर्लभ हैं (गीता ७।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह
केसे हो? इस सम्बन्धम गास्वामीजी महाराज

बिनु सतसग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भ
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ अनु
(रा०च०म

पर वास्तविकता यह हे कि हमलोगोक
काञ्चन-कामिनी मान-प्रतिष्ठाम हो रहा है।
प्रेमके लिय ता हृदयम कामना ही नहीं करत
प्रेमके लिये हृदय तरस नही जाता, व्याकुल
जाता, तबतक प्रेमकी प्राप्ति हो भी केसे सकती
तो हमलोगाका कामी मन नारी-प्रमम ही
उपलब्धि कर रहा ह, अभी तो हमलोगाका लो
काञ्चनकी प्राप्तिम ही पागल हे, अभी तो हम
चञ्चल चित्त मान-बडाईके पीछे मारा-मारा फि
जबतक हमलोगोका यह काम आर लोभ स
मिमटकर एकमात्र प्रभुके प्रति नहीं हा जाता, तब
पभु-प्रेमको प्राप्त करनेके अधिकारी हो नहीं हैं

भगवान् हम जल्दी-से-जल्दी कैसे मि
भाव जाग्रत् रहनेपर ही भगवान् मिलते हैं। यह
उत्तरोत्तर बढती चले—ऐसी उत्कट इच्छा ही
प्रभुके मिलनेका कारण है। प्रभुका रहस्य और
जाननस ही प्रम हाता है। थाडा-सा भी प्रभुका

जान लेनेपर हम एक क्षण भी नहीं रह सकते। इस सम्बन्धमे विभिन्न प्रेमाचार्योंने विभिन्नरूपसे प्रेमाभक्तिका लक्षण किया है। भगवान् वेदव्यास भगवान्के अर्चन-पूजन आदिमे अनुराग अथवा प्रेमको ही वास्तविक प्रेमाभक्ति मानते हैं—'पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्य' (ना०भ०सू० १६)। इस कथनकी पुष्टि 'विष्णुरहस्य'मे भी हुई है। श्रीगर्गाचार्यने भगवत्कथादिमे अनुरागको ही भक्ति माना है—'कथादिष्विति गर्ग' (ना०भ०सू० १७)। महर्षि शाण्डिल्यके अनुसार आत्मरतिके अविरोधी विषयमे अनुराग होना ही भक्ति है। श्रीशङ्कराचार्यजीने भी इसी मतकी पुष्टि की है—आत्मरूपसे प्रत्येक प्राणीमे भगवान् ही विराजमान हैं। अत सर्वात्मामे रति होना वस्तुत भगवान्की भक्ति ही है ओर ऐसी भक्ति करनेवालेको मुक्ति प्राप्त होनेमे सदेह नहीं।* देवर्षि नारदके अनुसार अपने सभी कर्मोंको भगवदर्पण करना और भगवान्का किञ्चित् विस्मरण होनेपर व्याकुल हो जाना प्रेम अथवा प्रेमाभक्ति है—

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति।

(ना०भ०सू० १९)

अपने समस्त कर्म (वैदिक और लौकिक) भगवान्मे अर्पण करके प्रियतम भगवान्का अखण्ड स्मरण करना और पलभरके लिये भी यदि उनका विस्मरण हो जाय (प्रियतमको भूल जाय) तो परम व्याकुल हो जाना—यही सर्वलक्षणसम्पन्न भक्ति है। मछलीका जलमे, पपीहेका मेघम, चकोरका चन्द्रमामे जैसा प्रेम है वैसा ही हमारा प्रेम प्रभुमे हो। एक पल भी उसके बिना चैन न मिले, शान्ति न मिले—ऐसा प्रेम प्रेमी सतोकी कृपासे ही प्राप्त होता है। पर ऐसे प्रेमी सताके दर्शन भी प्रभुकी पूर्ण कृपासे होते हैं। प्रभुकी कृपा सबपर पूर्ण है ही, कितु पात्र विना वह कृपा फलवती नहीं होती। भक्तिमती प्रेम-दीवानी मीराबाईके अग्रलिखित पदमें उनकी प्रेमविह्वलताका पूर्ण परिचय प्राप्त होता है—

हे री मै तो दरद दिवाणी मेरो दरद न जाणै कोय॥
घायलकी गति घायल जाणै जो कोइ घायल होय।
जौहरिकी गति जौहरी जाणै की जिन जौहर होय॥
सूली ऊपर सेज हमारी सोवण किस बिध होय।
गगन मँडलपर सेज पियाकी किस विध मिलणा होय॥
दरदकी मारी बन-बन डोलूँ बैद मिल्या नहिं कोय।
मीराकी प्रभु पीर मिटेगी जद बैद साँवलियाँ होय॥

दयाबाईकी दीनता और विरहवेदना बडी ही मर्मस्पर्शी है। कितने करुणकण्ठसे वे प्रभुसे प्रार्थना करती हैं—

जनम जनम के बीछुरे, हरि! अब रह्यो न जाय।
क्यो मन कूँ दुख देत हो, बिरह तपाय तपाय॥
बौरी ह्वै चितवत फिरूँ, हरि आव केहि ओर।
छिन ऊठूँ छिन गिरि परूँ, राम दुखी मन मोर॥

वस्तुत मिलन और वियाग प्रेमके दो समान स्तर ह। इन दोनाम ही प्रेमीजनोकी भाषामे, प्रेमीजनोकी अनुभूतिमे समान रति है। आनन्दस्वरूप भगवान्मे जो राग होता है, वह भगवान्से मिलनेकी इच्छा उत्पन्न करता हे और उनका वियोग अत्यन्त दु खदायी होता है, परतु भगवान्के लिये होनेवाली व्याकुलता अत्यन्त दु खदायिनी होनेपर भी परम सुखस्वरूपा होती हे। भगवान्के विरहमे जो अपरिसीम पीडा होती है, उसके सम्बन्धमे कहते हैं कि वह कालकूट विषसे भी अति भयावह होती है, पर उस विषम वियोग-विषके साथ एक बडी विलक्षण अनुपम वस्तु लगी रहती है—भगवान्की मधुरातिमधुर अमृतस्वरूपा **चिन्मयी स्मृति**। भगवान्की स्मृति नित्यानन्द सुखदस्वरूप भगवान्को अदर हृदयस्थलमे विराजमान करा देती है। वस्तुत जहाँ-जहाँ भगवान्की स्मृति है वहाँ-वहाँ भगवत्-रसका समुद्र लहराता है। इसीलिये जहाँ भोगोके लिये होनेवाली व्याकुलता निरन्तर दु खदायिनी होती है वहाँ भगवान्के लिये हानेवाली आकुलता भगवत्स्मृतिके कारण सुखस्वरूपा हो जाती है। इसीलिये यदि कोई प्रेमी साधकसे पूछे कि तुम सयोग

* मोक्षकारणसामग्र्या भक्तिरेव गरीयसी। स्वस्वरूपानुसन्धान भक्तिरित्यभिधीयते॥ (विवेकचूडामणि ३१)

और वियोग दोनोमेसे कौन-सा लेना चाहते हो, एक ही मिलेगा, सयोग या वियोग। यह बडा विलक्षण पश्न है। जो प्राणप्रियतम है, प्राणाधार है, जिसका क्षणभरका वियोग भी अत्यन्त असह्य है। यदि हमसे पूछा जाय तो दोनामस कान-सा चाहते हा तो स्वाभाविक हम यही कहेगे कि हम मिलन चाहते हैं, सयोग चाहते है, वियोग कदापि नही। परतु प्रेमियोकी कुछ विलक्षण—अनोखी रीति है। वे कहते है कि इनमेसे एक मिले तो वियोग चाहते है, सयोग नहीं। बडी विलक्षण बात है यह। वे ऐसा क्या चाहते ह, इसलिये कि वियोगमे सयोगका अभाव नहीं। यद्यपि वियोगम बाहरी मिलन नहीं है तथापि आभ्यन्तरम—अदरम मधुर मिलन हो रहा है। प्रियतमकी मधुर स्मृति निरन्तर बनी रहती है। मिलनका अभाव तो है ही नहीं और असली मिलन होता भी है अन्तवृत्तिका ही। हमार सामने कोई वस्तु रहे भी और हमारी आँखे भी खुली है, पर मनकी अन्तर्वृत्ति उस ऑखके साथ नहीं है। सामनेवाली वस्तु ऑखोके सामने रहनेपर भी दीखेगी नहीं। इस प्रकार बाह्यवियोगमे आभ्यन्तरिक मिलन निरन्तर रहता है ओर सयोगका मिलन बाहरका मिलन है। इसमे समय, स्थान, लोकमर्यादा आदिके बन्धन हैं। यह बिलकुल स्वाभाविक बात है, इसे सब समझ सकते हैं। किसीसे मिलनेके लिये समय, स्थान निश्चित करना पडता है तथा मर्यादा आदिका भी ध्यान रखना पडता है, परतु वियोगके मिलनम जा अन्तर्मिलन होता है उसम कोई समयकी अपेक्षा नहीं, लगातार दिनभर होता रहे। स्थानकी अपेक्षा नहीं—जगलमे, घरमे, बाहर-भीतर कहीं भी हो सकता है, फिर व्यवहारकी भी कोई अपेक्षा नहीं। इस प्रकार जैसा आनन्द अन्तरात्माम आभ्यन्तरमिलनम है वैसा बाह्यमिलनम नहीं। ससारकी किसो प्रिय वस्तुका वियोग हो जाता है तो वह बार-बार याद आती है मिलती नहीं, इसस उसकी स्मृति भी दु खदायिनी होती है। परतु प्रियतम भगवान्‌का वियोग इससे विलक्षण है। यह परम सुखमय होता है। इसीलिये किसी कविने कहा है—

मिलन अन्त है मधुर प्रेम का और विरह जीवन है।
विरह प्रेम की जाग्रत् गति है और सुषुप्ति मिलन है॥

—ये पक्तियाँ भगवत्प्रेमम पूर्णरूपसे लागू होती है। प्रियतम प्रभुका वियोग या विरह ही प्रेमकी जाग्रद् अवस्था है।

भगवान्‌को छोडकर जगत्‌का स्वरूप तमोमय है, अन्धकारमय है ओर भगवान् है प्रकाशमय। उनमे प्रकाश-ही-प्रकाश है। मनम भगवान्‌को प्राप्त करनेकी जो वृत्ति उत्पन्न होती है, वह वृत्ति सात्त्विक हाती है। सात्त्विक वृत्ति प्रकाशरूपा होती है। भगवान् तो परम प्रकाशरूप हैं ही, इसलिये इस प्रेमरसकी साधनाम निरन्तर और निरन्तर एकमात्र परम प्रकाशरूप भगवान् सामने रहते हैं। इसीलिये इसका नाम है—'उज्ज्वलरस' अर्थात् आनन्दरस, मधुररस। *'काम अधतम प्रेम निर्मल भास्कर'* इसमे कामनालेश न होनेके कारण कहींपर भी अन्धकारके लिये कोई कल्पना ही नहीं ह, दु खके लिये कोई कल्पना ही नहीं है। इस प्रेमरसकी साधनामे आरम्भसे ही भगवान्‌का स्वरूप, भगवान्‌का शब्द भगवान्‌का स्पर्श, भगवान्‌की गन्ध ओर भगवान्‌का रस—ये सब साथ रहत हैं। जहाँ शुरूमे भगवत्-रस साथ हो वही वास्तवम प्रेमसाधना है। यह परम प्रियतम भगवान्‌की साधना है। प्रियतम प्रभुका स्वरूप प्रेमका ही पुञ्ज है।

प्रेम ही आनन्द है ओर आनन्द ही प्रेम है। भगवान् सगुण-साकारको उपासना करनेवालाके लिये प्रेममय बन जाते हैं आर निर्गुण-निराकारकी उपासना करनेवालोंके लिये आनन्दमय बन जात हैं। वे सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही भक्तोंके प्रेमानन्द हैं और वे ही पूर्णब्रह्म परमात्मा मूर्तिमान् होकर प्रकट होते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीन कहा—

हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मै जाना॥

हरि सब जगह परिपूर्ण हैं। वे प्रमस ही प्रकट होते हैं, क्योंकि वे स्वय प्रममय हैं।

—राधेश्याम खेमका

प्रेमदर्शनके आचार्य देवर्षि नारद और उनका भक्तिसूत्र

अहो नारद धन्योऽसि विरक्ताना शिरोमणि । सदा श्रीकृष्णदासानामग्रणीर्योगभास्कर ॥

(श्रीमद्भा० माहात्म्य २।५४)

सनकादि मुनीश्वरोने कहा—नारदजी! आप धन्य हैं। आप विरक्तोके शिरोमणि हैं। श्रीकृष्णदासाके शाश्वत पथप्रदर्शक एव भक्तियोगके भास्कर हैं।

देवर्षि नारदजीकी महत्ताकी क्या इयत्ता उनके भगवत्प्रेमका क्या निदर्शन, साक्षात् प्रेमस्वरूप प्रेमैकगम्य और परम प्रेमास्पद मनमोहन श्रीकृष्ण जिनकी इस प्रकार निरन्तर स्तुति किया करते है, जिन्हे प्रणाम किया करते हैं—

अह हि सर्वदा स्तौमि नारद देवदर्शनम्।

× × ×

उत्सङ्गाद्ब्रह्मणो जातो यस्याहन्ता न विद्यते। अगुप्तश्रुतिचारित्र नारद त नमाम्यहम्॥
कामाद्वा यदि वा लोभाद् वाच नो नान्यथा वदेत्। उपास्य सर्वजन्तूना नारद त नमाम्यहम्॥

(स्कन्द० माहे० कौमारिका खण्ड)

मैं दिव्यदृष्टिसम्पन्न श्रीनारदजीकी सदा स्तुति करता हूँ। जो ब्रह्माजीकी गोदसे प्रकट हुए हैं, जिनके मनमे अहकार नहीं है, जिनका शास्त्रज्ञान और चरित्र किसीसे छिपा नहीं है, उन देवर्षि नारदको मैं नमस्कार करता हूँ। जो कामना अथवा लोभवश झूठी बात मुँहसे नहीं निकालते और सभी प्राणी जिनकी उपासना करते हैं, उन नारदजीको मैं नमस्कार करता हूँ।

स्वय देवर्षि नारदजी अपनी स्थितिके विषयमे कहते हैं—जब मैं उन परमपावनचरण उदारश्रवा प्रभुके गुणोका गान करने लगता हूँ, तब वे प्रभु अविलम्ब मेरे चित्तमे बुलाये हुएकी भाँति तुरत प्रकट हो जाते हैं—

प्रगायत स्ववीर्याणि तीर्थपाद प्रियश्रवा । आहूत इव मे शीघ्र दर्शन याति चेतसि॥ (श्रीमद्भा० १।६।३४)

श्रीनारदजी प्रेमी परिव्राजक हैं। उनका काम ही है—अपनी वीणाके मनोहर झकारके साथ भगवान्‌के गुणाका प्रेमपूर्वक गान करना। उनका नित्य सर्वत्र भ्रमण प्रेमरसकी अविकल धाराको प्रवाहित करनेके लिये हुआ करता है और इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये वे अवतरित भी होते हैं। वे प्रेमकीर्तनके आचार्य और भागवतधर्मके प्रधान बारह आचार्योंमे हैं। उन्हाने घर-घर एव जन-जनमे प्रेमाभक्तिकी स्थापना करनेकी प्रतिज्ञा की है। निरन्तर वे इस भक्तिके प्रचारम ही लगे रहते हैं। देवर्षि नारदजी कृपामूर्ति हैं, जीवापर कृपा करनेके लिये ये निरन्तर त्रिलोकीम घूमते रहते हैं। इनका एक ही व्रत है कि जा भी मिल जाय, उसे चाहे जैसे हो भगवान्‌के श्रीचरणोतक पहुँचा दिया जाय। ये सचमुच सबके सच्चे हितैषी हैं। इन्हे भगवान्‌का मन कहा गया है। प्रह्लाद ध्रुव अम्बरीष आदि महान् भक्तोको इन्होने ही भक्तिमार्गमे प्रवृत्त किया और श्रीमद्भागवत तथा वाल्मीकीय रामायण-जैसे दो अनूठे ग्रन्थ भी ससारको इन्हींकी कृपासे प्राप्त हुए। शुकदेव-जैसे महान् ज्ञानीको भी इन्होने ही उपदेश दिया। पूर्वजन्मम इन्हे भगवान्‌की जिस मोहिनी छविका दर्शन प्राप्त हुआ था, उसीको प्राप्त करनेकी छटपटाहटमे देवर्षि नारदने उस जन्मको भगवत्स्मृतिसे कृतार्थ कर पुन इस जन्मको भगवान्‌के नित्य पार्षदके रूपमे प्राप्त किया। देवर्षि नारद भगवान्‌के विशेष कृपापात्र और लीलासहचर हैं। जब-जब भगवान्‌का अवतार होता हैं ये उनकी प्रेमलीलाके लिये भूमि तैयार करते हैं। लीलोपयोगी उपकरणोका सग्रह और अन्य प्रकारकी सहायता करते हैं। इनका मङ्गलमय जीवन जगत्‌के मङ्गलके लिये ही है। श्रीराम और श्रीकृष्णकी लीलाओमे तो ये विशेषरूपसे सहयोग देते रहे।

एक समय देवर्षि नारदजीने भगवान्‌से पूछा—देवेश्वर! आप कहाँ निवास करते हैं? इसपर भगवान्‌ने कहा—नारद! न तो मैं वैकुण्ठम वास करता हूँ और न योगियाके हृदयम मेरे भक्त जहाँ मेरा गुणगान करते हैं, वहीं मैं भी रहता हूँ—

नाह वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न वै। मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥
(पद्मपु० उ० ९२।२२)

बस, फिर क्या था, देवर्षि नारदजीने भगवद्गुणगान प्रारम्भ कर दिया। देवर्षि नारदजीने अनुभव किया कि भगवान् भक्तके प्रेमके वशीभूत हैं तथा प्रेमका अनुरागका अनुरक्तिका मार्ग सहज और सुलभ भी है। इसलिये अनन्य प्रेमसे उन्हें रिझाना चाहिये। इसी बातको बतानेके लिये इन्होंने चौरासी सूत्रोंकी उद्भावना की। ये ही चौरासी सूत्र भक्तिसूत्रके नामसे प्रसिद्ध हैं, जिनमें प्रेमकी महाभावदशाका बहुत ही अद्भुत वर्णन हुआ है। इस भक्तिसूत्रके सूत्र छोटे-छोटे हैं, संस्कृत बहुत ही सरल है, किंतु भाव बड़ा ही गम्भीर है। ये सभी सूत्र याद करनेयोग्य हैं। जैसे प्रेमके स्वरूपके विषयमें बताया गया है—'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥' (भक्तिसूत्र ५१)। प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है। यह प्रेम गुणरहित है कामनारहित है, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, विच्छेदरहित है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है और अनुभवरूप है—'गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्॥' (भक्तिसूत्र ५४)। साथ ही भक्ति क्या है इसे बताते हुए कहा गया है—'तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति॥' (भक्तिसूत्र १९)। अर्थात् अपने सब कर्मोंको भगवान्के अर्पण करना और भगवान्का थोड़ा-सा भी विस्मरण होनेमें परम व्याकुल होना ही भक्ति है। नारदजीने प्रेमाभक्तिको कर्म, ज्ञान और योगसे भी बढ़कर बताते हुए कहा है—'सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा॥' (भक्तिसूत्र २५)। भक्तिको प्राप्त करनेके मुख्य साधनोंमें देवर्षि नारदजीने भगवत्प्रेमी महापुरुषोंकी अथवा लेशमात्र भी भगवत्कृपाको ही माना है—'मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा॥' (भक्तिसूत्र ३८)। यह भी बताया गया है कि महापुरुषोंका सङ्ग अथवा सत्सङ्ग बड़ा ही दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है तथा यह भगवान्की कृपासे ही प्राप्त होता है—'महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च। लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव॥' (भक्तिसूत्र ३९-४०)। भगवान् और उनके भक्तोंमें भेदका अभाव है—'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्॥' (भक्तिसूत्र ४१)।

देवर्षि नारदजी बताते हैं कि भगवत्प्रेमी भक्त स्वयं तो तरता ही है, लोकोंको भी तार देता है—'स तरति स तरति स लोकांस्तारयति॥' (भक्तिसूत्र ५०)। इतना ही नहीं, भगवान्के प्रेमी भक्त तीर्थोंको सुतीर्थ, कर्मोंको सुकर्म और शास्त्रोंको सत्-शास्त्र कर देते हैं—'तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि॥' (भक्तिसूत्र ६९)। ऐसे भक्तोंको पाकर पितर आनन्दित होते हैं, देवता नाचने लगते हैं और यह पृथ्वी सनाथा हो जाती है—'मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवताः सनाथा चेयं भूर्भवति॥' (भक्तिसूत्र ७१)। निष्कर्षरूपमें देवर्षि नारदजी कहते हैं—'सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीयः॥' (भक्तिसूत्र ७९)। अतः सब समय, सर्वभावसे निश्चिन्त होकर केवल भगवान्का ही भजन करना चाहिये। यहाँ अविकलरूपमें यह भक्तिसूत्र भावानुवादके साथ प्रस्तुत है—

नारदभक्तिसूत्र

अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः॥ १॥

अब हम भक्तिकी व्याख्या करेंगे।

सा त्वस्मिन्* परमप्रेमरूपा॥ २॥

वह (भक्ति) ईश्वरके प्रति परम प्रेमरूपा है।

अमृतस्वरूपा च॥ ३॥

और अमृतस्वरूपा (भी) है।

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति॥ ४॥

जिसको (परम प्रेमरूपा और अमृतरूपा भक्तिको) पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है अमर हो जाता है (और) तृप्त हो जाता है।

यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति॥ ५॥

जिसके (प्रेमस्वरूपा भक्तिके) प्राप्त होनेपर मनुष्य न

* पाठभेद 'कस्मै'।

किसी वस्तुकी इच्छा करता है, न शोक करता हे, न द्वेप करता है, न किसी वस्तुमे आसक्त होता है और न उसे (विषयभोगाकी प्राप्तिमे) उत्साह होता है।

यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति॥ ६॥

जिसको (परम प्रेमरूपा भक्तिको) जान (प्राप्त)-कर मनुष्य उन्मत्त हो जाता हे स्तब्ध (शान्त) हो जाता हे (और) आत्माराम बन जाता है।

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्॥ ७॥

वह (प्रेमाभक्ति) कामनायुक्त नहीं है क्योकि वह निरोधस्वरूपा है।

निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यास ॥ ८॥

लौकिक और वैदिक (समस्त) कर्मोके त्यागको निरोध कहते हैं।

तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च॥ ९॥

उस प्रियतम भगवान्मे अनन्यता और उसके प्रतिकूल विषयमे उदासीनताको भी निरोध कहते हैं।

अन्याश्रयाणा त्यागोऽनन्यता॥ १०॥

(अपने प्रियतम भगवान्को छोडकर) दूसरे आश्रयोके त्यागका नाम अनन्यता है।

लोके वेदेपु तदनुकूलाचरण तद्विरोधिषूदासीनता॥ ११॥

लौकिक और वैदिक कर्मोंमे भगवान्के अनुकूल कर्म करना ही उसके प्रतिकूल विषयमे उदासीनता है।

भवतु निश्चयदाढर्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम्॥ १२॥

(विधिनिपेधसे अतीत अलौकिक प्रेम-प्राप्ति करनेका मनमे) दृढ निश्चय हो जानेके बाद भी शास्त्रकी रक्षा करनी चाहिये अर्थात् भगवदनुकूल शास्त्रोक्त कर्म करने चाहिये।

अन्यथा पातित्याशङ्कया॥ १३॥

नहीं तो गिर जानेकी सम्भावना है।

लोकोऽपि तावदेव किंतु भोजनादिव्यापारस्त्वाशरीरधारणावधि॥ १४॥

लौकिक कर्मोको भी तबतक (बाह्यज्ञान रहनेतक) विधिपूर्वक करना चाहिये, पर भोजनादि कार्य जबतक शरीर रहेगा तबतक होते रहेगे।

तल्लक्षणानि वाच्यन्ते नानामतभेदात्॥ १५॥

अब नाना मतोके अनुसार उस भक्तिके लक्षण बताये जाते हैं।

पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्य ॥ १६॥

पराशरनन्दन श्रीव्यासजीके मतानुसार भगवान्की पूजा आदिमे अनुराग होना भक्ति है।

कथादिष्विति गर्ग ॥ १७॥

श्रीगर्गाचार्यके मतसे भगवान्की कथा आदिमे अनुराग होना ही भक्ति है।

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्य ॥ १८॥

शाण्डिल्य ऋषिके मतमे आत्मरतिके अविरोधी विषयमे अनुराग होना ही भक्ति है।

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति॥ १९॥

परतु देवर्षि नारदके मतसे अपने सब कर्मोंको भगवान्के अर्पण करना और भगवान्का थोडा-सा भी विस्मरण होनेमे परम व्याकुल होना ही भक्ति है।

अस्त्येवमेवम्॥ २०॥

ठीक ऐसा ही है।

यथा व्रजगोपिकानाम्॥ २१॥

जैसे व्रजगोपियाकी (भक्ति)।

तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवाद ॥ २२॥

इस अवस्थामे भी (गोपियोमें) माहात्म्यज्ञानकी विस्मृतिका अपवाद नहीं।

तद्विहीन जाराणामिव॥ २३॥

उसके बिना (भगवान्को भगवान् जाने बिना किया जानवाला प्रेम) जाराके (प्रेमके) समान हे।

नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम्॥ २४॥

उसमे (जारके प्रेममे) प्रियतमके सुखसे सुखी होना नहीं है।

सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा॥ २५॥

वह (प्रेमरूपा भक्ति) तो कर्म, ज्ञान और योगसे भी श्रेष्ठतर है।

फलरूपत्वात्॥ २६॥

क्योंकि (वह भक्ति) फलरूपा है।

ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च॥ २७॥

ईश्वरको भी अभिमानसे द्वेषभाव है और दैन्यसे प्रियभाव है।

तस्या ज्ञानमेव साधनमित्येके ॥ २८ ॥

उसका (भक्तिका) साधन ज्ञान ही है किन्हीं (आचार्यों)-का यह मत है।

अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये ॥ २९ ॥

दूसरे (आचार्यों)-का मत है कि भक्ति और ज्ञान एक-दूसरेके आश्रित हैं।

स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः * ॥ ३० ॥

ब्रह्मकुमारोंके (सनत्कुमारादि और नारदके) मतसे भक्ति स्वयं फलरूपा है।

राजगृहभोजनादिषु तथैव दृष्टत्वात् ॥ ३१ ॥

राजगृह और भोजनादिमें वैसा ही देखा जाता है।

न तेन राजपरितोषः क्षुधाशान्तिर्वा ॥ ३२ ॥

न उससे (जान लेनेमात्रसे) राजाकी प्रसन्नता होगी न क्षुधा मिटेगी।

तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः ॥ ३३ ॥

अतएव (संसारके बन्धनसे) मुक्त होनेकी इच्छा रखनेवालोंको भक्ति ही ग्रहण करनी चाहिये।

तस्याः साधनानि गायन्त्याचार्याः ॥ ३४ ॥

आचार्यगण उस भक्तिके साधन बतलाते हैं।

तत्तु विषयत्यागात् सङ्गत्यागाच्च ॥ ३५ ॥

वह (भक्ति-साधन) विषयत्याग और सङ्गत्यागसे सम्पन्न होता है।

अव्यावृतभजनात् ॥ ३६ ॥

अखण्ड भजनसे (भक्तिका साधन सम्पन्न होता है)।

लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनात् ॥ ३७ ॥

लोकसमाजमें भी भगवत्-गुण-श्रवण और कीर्तनसे (भक्ति-साधन सम्पन्न होता है)।

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा ॥ ३८ ॥

परंतु (प्रेमभक्तिकी प्राप्तिका साधन) मुख्यतया (प्रेमी) महापुरुषोंकी कृपासे अथवा भगवत्कृपाके लेशमात्रसे होता है।

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च ॥ ३९ ॥

परंतु महापुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है।

लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव ॥ ४० ॥

उस (भगवान्)-की कृपासे ही (महत्पुरुषोंका) सङ्ग भी मिलता है।

तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् ॥ ४१ ॥

क्योंकि भगवान्‌में और उनके भक्तमें भेदका अभाव है।

तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम् ॥ ४२ ॥

(अतएव) उस (महत्सङ्ग)-की ही साधना करो, उसीकी साधना करो।

दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः ॥ ४३ ॥

दुःसङ्गका सर्वथा ही त्याग करना चाहिये।

कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात् ॥ ४४ ॥

क्योंकि वह (दुःसङ्ग) काम, क्रोध, मोह, स्मृतिभ्रंश, बुद्धिनाश एवं सर्वनाशका कारण है।

तरङ्गायिता अपीमे सङ्गात्समुद्रायन्ति ॥ ४५ ॥

ये (काम-क्रोधादि) पहले तरङ्गकी तरह (क्षुद्र आकारमें) आकर भी (दुःसङ्गसे विशाल) समुद्रका आकार धारण कर लेते हैं।

कस्तरति कस्तरति मायाम्? यः सङ्गांस्त्यजति यो महानुभावं सेवते, निर्ममो भवति ॥ ४६ ॥

(प्रश्न) कौन तरता है? (दुस्तर) मायासे कौन तरता है? (उत्तर) जो सब सङ्गोंका परित्याग करता है, जो महानुभावोंकी सेवा करता है और जो ममतारहित होता है।

यो विविक्तस्थानं सेवते, यो लोकबन्धमुन्मूलयति, निस्त्रैगुण्यो भवति, योगक्षेमं त्यजति ॥ ४७ ॥

जो निर्जन स्थानमें निवास करता है, जो लौकिक बन्धनोंको तोड़ डालता है, जो तीनों गुणोंसे परे हो जाता है और जो योग तथा क्षेमका परित्याग कर देता है।

यः कर्मफलं त्यजति कर्माणि संन्यस्यति ततो निर्द्वन्द्वो भवति ॥ ४८ ॥

जो कर्मफलका त्याग करता है, कर्मोंका भी त्याग करता है और तब सब कुछ त्यागकर जो निर्द्वन्द्व हो जाता है।

वेदानपि संन्यस्यति केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते ॥ ४९ ॥

जो वेदोंका भी भलीभाँति परित्याग कर देता है और जो अखण्ड असीम भगवत्प्रेम प्राप्त कर लेता है।

---

* पाठभेद 'ब्रह्मकुमार'।

स तरति स तरति स लोकांस्तारयति॥ ५०॥

वह तरता है, वह तरता है, वह लोकोंको तार देता है।

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥ ५१॥

प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है।

मूकास्वादनवत्॥ ५२॥

गूँगेके स्वाद लेनेकी तरह।

प्रकाशते[1] क्वापि पात्रे॥ ५३॥

किसी बिरले योग्य पात्रमें (प्रेमी भक्तमें) ऐसा प्रेम प्रकट भी होता है।

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्॥ ५४॥

यह प्रेम गुणरहित है, कामनारहित है, प्रतिक्षण बढ़ता रहता है, विच्छेदरहित है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर है और अनुभवरूप है।

तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति[2] तदेव चिन्तयति॥ ५५॥

उस प्रेमको पाकर प्रेमी उस प्रेमको ही देखता है, प्रेमको ही सुनता है, उस प्रेमका ही वर्णन करता है और उस प्रेमका ही चिन्तन करता है।

गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा॥ ५६॥

गौणी भक्ति गुणभेदसे अथवा आर्तादिभेदसे तीन प्रकारकी होती है।

उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति॥ ५७॥

(उनमें) उत्तर-उत्तर क्रमसे पूर्व-पूर्व क्रमकी भक्ति कल्याणकारिणी होती है।

अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ॥ ५८॥

अन्य सबकी अपेक्षा भक्ति सुलभ है।

प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयंप्रमाणत्वात्॥ ५९॥

क्योंकि भक्ति स्वयं प्रमाणरूप है, इसके लिये अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है।

शान्तिरूपात्परमानन्दरूपाच्च॥ ६०॥

भक्ति शान्तिरूपा और परमानन्दरूपा है।

लोकहानौ चिन्ता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदत्वात्[3]॥ ६१॥

लोकहानिकी चिन्ता (भक्तको) नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वह भक्त अपने-आपको और लौकिक-वैदिक (सब प्रकारके) कर्मोंको भगवान्के अर्पण कर चुका है।

न तदसिद्धौ[4] लोकव्यवहारो हेयः किंतु फलत्यागस्तत्साधनं च कार्यमेव॥ ६२॥

(परंतु) जबतक भक्तिमें सिद्धि न मिले तबतक लोकव्यवहारका त्याग नहीं करना चाहिये, किंतु फल त्यागकर (निष्कामभावसे) उस भक्तिका साधन करना चाहिये।

स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रं[5] न श्रवणीयम्॥ ६३॥

स्त्री, धन, नास्तिक और वैरीका चरित्र नहीं सुनना चाहिये।

अभिमानदम्भादिकं त्याज्यम्॥ ६४॥

अभिमान, दम्भ आदिका त्याग करना चाहिये।

तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधाभिमानादिकं तस्मिन्नेव करणीयम्॥ ६५॥

सब आचार भगवान्के अर्पण कर चुकनेपर यदि काम, क्रोध, अभिमानादि हों तो उन्हें भी उस (भगवान्)-के प्रति ही करना चाहिये।

त्रिरूपभङ्गपूर्वकं नित्यदासनित्यकान्ताभजनात्मकं वा प्रेमैव कार्यम्, प्रेमैव कार्यम्॥ ६६॥

तीन (स्वामी, सेवक और सेवा) रूपोंको भङ्गकर नित्य दासभक्तिसे या नित्य कान्ताभक्तिसे प्रेम ही करना चाहिये, प्रेम ही करना चाहिये।

भक्ता एकान्तिनो मुख्याः॥ ६७॥

एकान्त (अनन्य) भक्त ही श्रेष्ठ हैं।

कण्ठावरोधरोमाञ्चाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च॥ ६८॥

ऐसे अनन्य भक्त कण्ठावरोध, रोमाञ्च और अश्रुयुक्त नेत्रवाले होकर परस्पर सम्भाषण करते हुए अपने कुलोंको और पृथ्वीको पवित्र करते हैं।

---

१ पाठभेद प्रकाश्यते। २ किसी-किसी प्रतिमें 'तदेव भाषयति' नहीं है। ३ पाठभेद लोकवेदशीलत्वात्। ४ पाठभेद 'तत्सिद्धौ'। ५ पाठभेद 'स्त्रीधननास्तिकचरित्रम्'।

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि॥ ६९॥

ऐसे भक्त तीर्थोंको सुतीर्थ, कर्मोको सुकर्म और शास्त्रोको सत्-शास्त्र कर देते है।

तन्मया ॥ ७०॥

(क्योकि) वे तन्मय हैं।

मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवता सनाथा चेयं भूर्भवति॥ ७१॥

(ऐसे भक्तोका आविर्भाव देखकर) पितर प्रमुदित होते हैं, देवता नाचने लगते हैं और यह पृथ्वी सनाथा हो जाती है।

नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेद ॥ ७२॥

उनमे (भक्तामे) जाति विद्या रूप, कुल, धन और क्रियादिका भेद नहीं है।

यतस्तदीया ॥ ७३॥

क्याकि (भक्त सब) उनके (भगवान्‌के) ही हैं।

वादो नावलम्ब्य ॥ ७४॥

(भक्तको) वाद-विवाद नहीं करना चाहिये।

बाहुल्यावकाशादनियतत्वाच्च॥ ७५॥

क्योकि (वाद-विवादमे) बाहुल्यका अवकाश है और वह अनियत है।

भक्तिशास्त्राणि मननीयानि तदुद्बोधककर्माण्यपि करणीयानि॥ ७६॥

(उस प्रेमाभक्तिकी प्राप्तिके लिये) भक्तिशास्त्रका मनन करते रहना चाहिये और ऐसे कर्म भी करने चाहिये जिनसे भक्तिकी वृद्धि हो।

सुखदु खेच्छालाभादित्यक्ते काले प्रतीक्ष्यमाणे क्षणार्धमपि व्यर्थं न नेयम्॥ ७७॥

सुख दु ख इच्छा लाभ आदिका (पूर्ण) त्याग हो जाय, ऐस कालकी बाट देखत हुए आधा क्षण भी (भजन बिना) व्यर्थ नहीं बिताना चाहिये।

अहिंसासत्यशौचदयास्तिक्यादिचारित्र्याणि परिपालनीयानि॥ ७८॥

(भक्तिके साधकको) अहिसा सत्य शौच दया आस्तिकता आदि आचरणीय सदाचारोका भलीभाँति पालन करना चाहिये।

सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तितैर्भगवानेव भजनीय ॥ ७९॥

सब समय सर्वभावसे निश्चिन्त होकर (केवल) भगवान्‌का ही भजन करना चाहिये।

स कीर्त्यमान शीघ्रमेवाविर्भवति अनुभावयति च भक्तान्॥ ८०॥

वे भगवान् (प्रेमपूर्वक) कीर्तित होनेपर शीघ्र ही प्रकट होते हैं और भक्ताको अपना अनुभव करा दते हैं।

त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी, भक्तिरेव गरीयसी॥ ८१॥

तीना (कायिक, वाचिक, मानसिक) सत्यामे (अथवा तीनो कालोमे सत्य भगवान्‌की) भक्ति ही श्रेष्ठ है भक्ति ही श्रेष्ठ है।

गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्तिदास्यासक्तिसख्यासक्तिकान्तासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्तितन्मयतासक्तिपरमविरहासक्तिरूपा एकधाप्येकादशधा भवति॥ ८२॥

यह प्रेमरूपा भक्ति एक होकर भी १ गुणमाहात्म्यासक्ति, २ रूपासक्ति ३ पूजासक्ति, ४ स्मरणासक्ति ५ दास्यासक्ति ६ सख्यासक्ति, ७ कान्तासक्ति ८ वात्सल्यासक्ति, ९ आत्मनिवेदनासक्ति, १० तन्मयतासक्ति और ११ परमविरहासक्ति—इस प्रकारसे ग्यारह प्रकारकी होती है।

इत्येव वदन्ति जनजल्पनिर्भया एकमता कुमारव्यासशुकशाण्डिल्यगर्गविष्णुकौण्डिन्यशेषोद्धवारुणिबलिहनुमद्विभीषणादयो भक्त्याचार्या ॥ ८३॥

कुमार (सनत्कुमारादि), वेदव्यास, शुकदेव शाण्डिल्य गर्ग, विष्णु, कौण्डिन्य, शेष, उद्धव आरुणि बलि हनुमान्, विभीषण आदि भक्तितत्त्वके आचार्यगण लोगोकी निन्दा-स्तुतिका कुछ भी भय न कर (सब) एकमतसे ऐसा ही कहते हैं (कि भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है)।

य इद नारदप्रोक्त शिवानुशासन विश्वसिति श्रद्धत्ते स प्रेष्ठ लभते स प्रेष्ठ लभत इति॥ ८४॥

जो इस नारदोक्त शिवानुशासनम विश्वास और श्रद्धा करते हैं व प्रियतमको पाते हैं, वे प्रियतमको पाते हैं।

महर्षि शाण्डिल्य और उनका भगवत्प्रेम

कृपामूर्ति महर्षि शाण्डिल्य परम भागवत हैं। भगवान्के अनन्य प्रेमी हैं। वे भगवान्के सौन्दर्य, माधुर्य एव औदार्य आदि दिव्य स्वरूपोका ध्यान करते रहते हैं। भगवान्की मङ्गलमयी कथाओका प्रेमपूवक श्रवण तथा प्रेमाभक्तिका दान—ये ही दो उनके मुख्य कार्य रहे हैं। त्याग, वैराग्य, तपस्या तथा स्वाध्यायका आश्रयण और भगवत्प्रेममे निमग्न रहना—यही उनकी मुख्य चर्या रही ह। पद्मपुराणने बताया है कि महर्षि शाण्डिल्य भगवान्की लीलास्थली परम पावन चित्रकूटधामम रहते हुए श्रीमद्भागवतकी कथाओका पाठ करते हुए ब्रह्मानन्दमे निमग्न रहते हैं—

इतिहासमिम पुण्य शाण्डिल्योऽपि मुनीश्वर ।
पठते चित्रकूटस्थो ब्रह्मानन्दपरिप्लुत ॥

(श्रीमद्भा० मा० ५।८९)

पुराणोमे आया है कि कश्यपवशी महामुनि देवलके पुत्र ही शाण्डिल्य नामसे प्रसिद्ध हुए। धर्मशास्त्रकार शङ्ख और लिखित इन्हीके पुत्र कहे गये हैं। ये रघुवशीय नरेश दिलीपके पुरोहित थे। कहीं-कहीं नन्द-गोपके पुरोहितके रूपमे भी इनका वर्णन आता है। इन्हाने प्रभासक्षेत्रमे शिवलिङ्ग स्थापित कर दिव्य सौ वर्षोतक घोर तपस्या और प्रेमपूर्ण आराधना की थी फलस्वरूप भगवान् शिव प्रसन्न हुए और इनके सामने प्रकट होकर इन्हे तत्त्वज्ञान, भगवद्भक्ति और अष्टसिद्धियोका वरदान दिया।

महर्षि शाण्डिल्यने मथुराधिपति राजा वज्रबाहुको सम्पूर्ण गर्गसहिता सुनायी। इसका फल यह हुआ कि राजाको पार्षदोसहित भगवान् राधामाधवके प्रत्यक्ष दर्शन हुए। उस समय महर्षि शाण्डिल्यने भगवान्की बहुत ही सुन्दर स्तुति की, जो इस प्रकार है—

वैकुण्ठलीलाप्रवर मनोहर
नमस्कृत देवगणै पर वरम्।
गोपाललीलाभियुत भजाम्यह
गोलोकनाथ शिरसा नमाम्यहम्॥

(गर्ग० मा० ४।८)

भाव यह है कि प्रभो! आप वैकुण्ठपुरीमे सदा लीलामे तत्पर रहनेवाले हैं। आपका स्वरूप परम मनोहर है। देवगण सदा आपको नमस्कार करते हैं। आप परम श्रेष्ठ हैं। गो-पालनकी लीलामे आपकी विशेष अभिरुचि रहती है—ऐसे आपका मैं भजन करता हूँ। साथ ही आप गोलोकाधिपतिको मैं नमस्कार करता हूँ।

एक बारकी बात है—ऋषियोने महर्षि शाण्डिल्यसे पूछा—'भगवन्! सब जगह और सब समयमे काम देनेवाला ऐसा कौन-सा उपाय है, जिसके द्वारा मनुष्य सर्वोत्कृष्ट सिद्धि प्राप्त कर सकता है?'

महर्षि शाण्डिल्यने उत्तर दिया—

क्षेममात्यन्तिक विप्रा हरेर्भजनमेव हि।
देशकालानपेक्षात्र साधनाभावमप्युत॥

(शाण्डिल्यसहिता १।९)

अर्थात् 'हे विप्रो! मनुष्य-जीवनमे सबसे बढकर कल्याणकारक भगवद्भजन है। किसी देश या कालकी इसमे अपेक्षा नहीं है और न इसके लिये साधन जुटाने पडते हैं।'

भक्ति श्रीकृष्णदेवस्य सर्वार्थानामनुत्तमा।
एषा वै चेतस शुद्धिर्यत शान्तिर्यतोऽभयम्॥

(शा० स० १।१९)

अर्थात् 'भगवान् श्रीकृष्णकी भक्ति धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—चारो पुरुषार्थोसे भी बढकर है। इससे अन्त करण शुद्ध हो जाता है और अन्त करणके शुद्ध होनेपर जीवको शान्ति मिलती है, वह निर्भय हो जाता है।'

महर्षि शाण्डिल्य भक्तिशास्त्रके महान् आचार्य हैं। जैसे भगवान् वेदव्यासने समस्त श्रुतियोका समन्वय करनेके लिये ब्रह्मसूत्रका प्रणयन किया, वैसे ही श्रुतियो, श्रीमद्भागवत तथा गीताका तात्पर्यपरक निर्णय करनेके लिये इन्होने एक विलक्षण ग्रन्थका प्रणयन किया, जो 'शाण्डिल्यभक्तिसूत्र' या 'भक्तिमीमासा' के नामसे प्रसिद्ध है। यह स्वरूपमे जितना ही लघु हे माहात्म्यम उतना ही बृहद् है। इसम छोटे-छोटे एक सौ सूत्र हैं। इन सूत्राम उन्होने प्रेम प्रेमी तथा प्रेमास्पदका जो सुन्दर वर्णन किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इनके नामसे एक उपनिषद् भी प्राप्त है जिसमे इन्हे योगज्ञानके विशिष्ट जिज्ञासु एव आचार्यके रूपमे निर्दिष्ट

किया गया है। इस उपनिषद्‌मे प्रेमयोगतत्त्व एवं अध्यात्म-साधनाकी प्रक्रियाका निरूपण हुआ है।

आचार्यका अभिमत है कि जीवोंका ब्रह्मभावापन्न होना ही मुक्ति है। जीव ब्रह्मसे अभिन्न है। उसका आवागमन स्वाभाविक नहीं है, किंतु जपाकुसुमके सांनिध्यसे स्फटिकमणिकी लालिमाके समान, अन्तःकरणकी उपाधिसे ही होता है, किंतु केवल औपाधिक होनेके कारण ही वह ज्ञानसे नहीं मिटाया जा सकता, उसकी निवृत्ति तो उपाधि और उपाधेय—इन दोनोंमेसे किसी एककी निवृत्ति या सम्बन्ध छूट जानेसे ही हो सकती है। चाहे जितना ऊँचा ज्ञान हो, किंतु जैसे स्फटिकमणि और जपाकुसुमका सांनिध्य रहते लालिमाकी निवृत्ति नहीं हो सकती वैसे ही जबतक अन्तःकरण है, तबतक न तो उपाधि और उपाधेयका सम्बन्ध छुडाया जा सकता है तथा न आवागमनसे ही जीवको बचाया जा सकता है। अतः उपाधिके नाशसे ही भ्रमकी निवृत्ति हो सकती है। उपाधिनाशके लिये भगवद्भक्तिसे बढकर और कोई उपाय नहीं है। इस भक्तिसे त्रिगुणात्मक अन्तःकरणका लय होकर ब्रह्मानन्दका प्रकाश हो जाता है इससे आत्मज्ञानकी व्यर्थता भी नहीं होती, क्योंकि अश्रद्धारूपी मलको दूर करनेके लिये ज्ञानकी आवश्यकता होती है। इस प्रकार महर्षि शाण्डिल्यने भगवद्भक्तिकी उपयोगिता और ज्ञानकी अपेक्षा उसकी श्रेष्ठता सिद्ध की है।

भक्ति क्या है, इसे बताते हुए वे अपने भक्तिसूत्रमे कहते हैं—**'सा परानुरक्तिरीश्वरे'** भगवान्‌मे परम अनुराग ही भक्ति है अर्थात् भगवान्‌के साथ अनन्य प्रेम हो जाना ही भक्ति है। इस अनुरागसे ही जीव भगवन्मय हो जाता है, उसका अन्तःकरण अन्तःकरणके रूपमे पृथक् न रहकर भगवान्‌मे समा जाता है यही मुक्ति है।

भगवान्‌के सर्वोपरि गुणको बताते हुए महर्षि शाण्डिल्य कहते हैं—**'मुख्यं तस्य हि कारुण्यम्'** (शाण्डिल्यसूत्र ४९) अर्थात् भगवान्‌का मुख्य गुण है—कारुण्य या दयालुता। परमात्मा परम दयालु हैं कृपालु हैं कृपासागर हैं—इस बातको सदा ध्यानमे रखते हुए प्रेमपूर्वक उनकी आराधना करनी चाहिये। इससे भगवद्विश्वासमे वृद्धि होगी और भगवान्‌मे अनन्य प्रेम होनेमे परम सहायता प्राप्त होगी। करुणावरुणालय प्रभु करुणा—कृपाकी वर्षा कर जीवोंका उद्धार कर देते हैं। महर्षि शाण्डिल्यविरचित यह भक्तिसूत्र बडे ही महत्त्वका है। इसके छोटे-छोटे सूत्रोंमे भगवत्प्रेमका बडा ही निगूढ भाव भरा हुआ है।

महर्षि शाण्डिल्य भगवान्‌की लीलास्थलियोंमे भ्रमण करते हुए, भगवान्‌के दिव्य चरित्रका अनुस्मरण करते हुए विभोर रहते हैं और भगवत्प्रेमियोंको भगवत्-लीलाधामका रहस्य भी बताते हैं। एक बार ऐसे ही भ्रमण करते हुए महर्षि व्रजभूमिमे पहुँच गये और महाराज परीक्षित् तथा राजा वज्रनाभकी प्रार्थनापर उन्होंने उन्हे भगवान्‌की अन्तरग प्रेमलीलास्थली व्रजभूमिका रहस्य बताते हुए कहा—

प्रिय परीक्षित् और वज्रनाभ! मैं तुमलोगोंको व्रजभूमिका रहस्य बतलाता हूँ। तुम दत्तचित्त होकर सुनो। 'व्रज' शब्दका अर्थ है—व्याप्ति। इस वृद्धवचनके अनुसार व्यापक होनेके कारण ही इस भूमिका नाम 'व्रज' पडा है। सत्त्व रज तथा तम—इन तीन गुणोंसे अतीत जो परब्रह्म है, वही व्यापक है। इसलिये उसे 'व्रज' कहते हैं। वह सदानन्दस्वरूप परम ज्योतिर्मय और अविनाशी है। जीवन्मुक्त पुरुष उसीमे स्थित रहते हैं। इस परब्रह्मस्वरूप व्रजधाममे नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका निवास है। उनका एक-एक अङ्ग सच्चिदानन्दस्वरूप है। वे आत्माराम और आप्तकाम हैं। प्रेमरसमे डूबे हुए रसिकजन ही उनका अनुभव करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णकी आत्मा हैं—राधिका उसमे रमण करनेके कारण ही रहस्य-रसके मर्मज्ञ ज्ञानी पुरुष उन्हे 'आत्माराम' कहते हैं। 'काम' शब्दका अर्थ है कामना—अभिलाषा व्रजमे भगवान् श्रीकृष्णके वाञ्छित पदार्थ हैं—गौएँ, ग्वालबाल, गोपियाँ और उनके साथ लीला-विहार आदि वे सब-के-सब यहाँ नित्य प्राप्त हैं। इसीसे श्रीकृष्णको 'आप्तकाम' कहा गया है। भगवान् श्रीकृष्णकी यह रहस्यलीला प्रकृतिसे परे है। वे जिस समय प्रकृतिके साथ खेलने लगते हैं, उस समय दूसरे लोग भी उनकी लीलाका अनुभव करते हैं। प्रकृतिके साथ होनेवाली लीलामे ही रजोगुण सत्त्वगुण और तमोगुणके द्वारा सृष्टि स्थिति और प्रलयकी प्रतीति होती है।

इस प्रकार यह निश्चय होता है कि भगवान्‌की लीला दो प्रकारकी है—एक वास्तवी और दूसरी व्यावहारिकी। वास्तवी लीला स्वसंवेद्य है—उसे स्वयं भगवान् और उनके रसिक भक्तजन ही जानते हैं। जीवोंके सामने जो लीला होती है वह व्यावहारिकी लीला है। वास्तवी लीलाके बिना व्यावहारिकी लीला नहीं हो सकती परंतु व्यावहारिकी लीलाका वास्तविक लीलाके राज्यमें कभी प्रवेश नहीं हो सकता।

(स्कन्दपुराणान्तर्गत श्रीमद्भा० माहात्म्य १।११—२६)

छान्दोग्य श्रुतिमें आपके द्वारा उपदिष्ट विद्याको 'शाण्डिल्यविद्या'के नामसे अभिहित किया गया है। उसमें आपने बताया है कि सारा ब्रह्माण्ड ब्रह्म है इसका कारण यह है कि परमात्मा 'तज्जलानिति' है अर्थात् यह संसार उसी परमात्मासे उत्पन्न होता है, उसीमें लीन होता है और उसीसे प्रतिपालित होता है। पुरुष भावनामय है। उसकी जैसी भावना होगी वैसी ही उसे गति मिलेगी। परमात्मा सत्यसंकल्प, सर्वकर्ता तथा सर्वगत हैं, वे दयालु हमलोगोंके हृदयमें ही विराजमान हैं। यदि हमलोग उनका आश्रय लें तो उन्हें अवश्य प्राप्त कर सकते हैं इसमें संदेह नहीं—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।'

'एतद् ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मीति।'

(छान्दो० ३।१४।१ ४)

इस प्रकार भगवत्प्रेमी महर्षि शाण्डिल्यजीने भगवान्‌की प्रेमाभक्तिका उपदेश देकर जीवोंपर महान् अनुग्रह किया है।

श्रीशुकदेवजीकी माधुर्योपासना

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावो-
ऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम् ।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि॥

(श्रीमद्भा० १२।१२।६८)

श्रीशुकदेवजी महाराज अपने आत्मानन्दमें ही निमग्न थे। इस अखण्ड अद्वैत स्थितिसे उनकी भेददृष्टि सर्वथा निवृत्त हो चुकी थी। फिर भी मुरलीमनोहर श्यामसुन्दरकी मधुमयी मङ्गलमयी, मनोहारिणी लीलाओंने उनकी वृत्तियोंको अपनी ओर आकर्षित कर लिया और उन्होंने जगत्‌के प्राणियोंपर कृपा करके भगवत्तत्त्वको प्रकाशित करनेवाले इस (श्रीमद्भागवत) महापुराणका विस्तार किया। मैं उन्हीं सर्वपापहारी व्यासनन्दन भगवान् श्रीशुकदेवजीके चरणोंमें नमस्कार करता हूँ।

भक्तिका प्रमुख तत्त्व है प्रेम। महर्षि शाण्डिल्यजी इसे परानुरक्ति तथा देवर्षि नारदजी परम प्रेमरूपा मानते हैं। श्रीवल्लभ 'स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तः' तथा श्रीवेदान्तदेशिक 'परमा भक्तिरतिशयिता प्रीतिः' कहकर भक्तिमें अतिशय प्रेमकी प्रतिष्ठा स्वीकार करते हैं। भक्तका भगवान्‌के प्रति होनेवाला गाढ़ आकर्षण 'राग' कहलाता है। प्रेमाभक्तिके मूलमें राग केन्द्रीय भाव है। इस रागमें योग-वियोगकी वृत्ति विद्यमान रहती है अर्थात् मिलन होनेपर बिछुड़ जानेकी आशंका तथा वियोगमें मिलनेकी उत्कण्ठा ही प्रेम है। प्रेमवृत्तिकी सर्वोच्च स्थिति आत्मसमर्पणमें प्रकट होती है जहाँ सौन्दर्यके महासमुद्र श्रीकृष्णमें यह गोपीभाव बनकर अविच्छिन्नरूपमें प्रवाहित होती रहती है। ऋग्वेदकी ऋचाओं—'पतिरिव जायामभि नो न्येतु धर्ता दिवः' (१०।१४९।४) तथा 'जायेव पत्य उशती सुवासाः' (१०।७१।४)-में निहित उत्कट दाम्पत्यभाव ही माधुर्योपासनाका मूलाधार कहा जा सकता है। इन मन्त्रोंमें भक्त कहता है कि उसकी चित्तवृत्तियाँ सब कुछ छोड़कर वैसे ही परमेश्वरकी ओर दौड़े, जैसे आलिङ्गनके लिये आतुर स्त्रियाँ पतिकी ओर दौड़ती हैं। उपनिषद् परम तत्त्वको 'रसो वै सः' कहकर रसरूप मानता है भक्तको यदि उस रसको प्राप्त करना है तो स्वयंको रसिक बनाना होगा। इसलिये रसिकभक्तोंका सिद्धान्त बन गया—

कृष्णप्रिया सखीभावं समाश्रित्य प्रयत्नतः ।
तयोः सेवां प्रकुर्वीत दिवानक्तमतन्द्रितः ॥

श्रीशुकदेवजी वृत्रासुरके प्रसंगमें स्पष्ट कहते हैं कि आदर्श भक्तको कैसा होना चाहिये और उसकी एकाग्रता अनन्यता तथा प्रेमकी प्रगाढ़ता कैसी होनी चाहिये? भगवान्‌को प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए वृत्रासुरने प्रार्थना की—जैसे पक्षियोंके पंखविहीन बच्चे अपनी माकी राह देखते रहते हैं जैसे भूखे बछड़े अपनी माका दूध पीनेके लिये अकुला उठते हैं और सर्वोपरि जैसे वियोगिनी प्रेमिका अपने प्रियतमसे मिलनेके लिये बेचैन हो उठती है वैसे ही हे कमलनयन रमणीयताकी मूर्ति सर्वसौभाग्यनिधि परमात्मन्! तुम्हें देखनेके लिये मेरे नेत्र छटपटा रहे हैं—

अजातपक्षा इव मातर खगा
स्तन्य यथा वत्सतरा क्षुधार्ता ।
प्रिय प्रियेव व्युषित विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्॥
(श्रीमद्भा० ६।११।२६)

श्रीमद्भागवतकी माधुर्यपरक लीलाओके चित्रणने निम्बाक, चतन्य, हरिदासी, राधावल्लभीय तथा शुकसम्प्रदायके साधकाको पूर्णरूपसे प्रभावित किया। श्रीजीवगोस्वामीने 'प्रीति-सदर्भ' नामक ग्रन्थमे भगवान्की ऐश्वर्य तथा माधुर्यपरक लीलाआमसे माधुर्य लीलाको सर्वश्रेष्ठ बताया हे। उनकी दृष्टिमे मधुरोपासना सर्वोपरि साधना है। 'उज्ज्वलनीलमणि' ग्रन्थमे कहा गया ह कि रसराज श्रीकृष्ण ओर उनकी प्राणवल्लभा गापियॉ माधुर्यभावके आलम्बन ह—

अस्मिन्नालम्बना प्राक्ता कृष्णस्तस्य च वल्लभा ।

यहाँ यह बात ध्यानम रखने योग्य है कि काम तथा भगवत्प्रेमम अन्तर हे। जिन लोगोकी बुद्धि परमेश्वरम लीन रहती है, उनमे कामनाएँ उत्पन्न होनेपर भी सासारिक भोगाकी प्रवृत्ति नहीं होती। भगवद्विषयक रति वह अगार है, जो मनक बीजको भून डालता है। जैसे भुने हुए अन्नम अङ्कुर उत्पन्न नहीं हो सकते वेसे ही कृष्णासक्त मनम लौकिक कामनाआको अङ्कुरित होनेका अवसर ही नहीं मिलता। चीरहरण-प्रसगमे स्वय भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोसे कहते हैं—

न मय्यावेशितधिया काम कामाय कल्पते।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते॥
(श्रीमद्भा० १०।२२।२६)

यह भाव क्योकि श्रीकृष्णकी प्रियताक लिये हैं, इसम साधककी निजी भोगवृत्ति नहीं है। अत लौकिक दृष्टिस दीखनेवाला काम यहाँ प्रेमम परिणत हो जाता है। कृष्णदास कविराजने इसीलिये कहा था—

आत्म सुख दु ख गोपी ना करे विचार।
कृष्ण सुख हेतु करे सब व्यवहार॥
कृष्ण विना और सब करि परित्याग।
कृष्ण सुख हेतु करे शुद्ध अनुराग॥

माधुर्यभावका तात्पर्य निजेन्द्रिय-सुखकी कामना नहीं है यह तो श्रीकृष्णके सुखके लिय है। श्रीमती कुब्जाको छाडकर अन्य किसीम निज सुखकी कामना नहीं हैं। मरा विचार है कि शुद्ध माधुर्य वृन्दावनम है। मथुरा एश्वयलालाकी भूमि है, अत वहाँ कुब्जामे यह भाव उत्पन्न हो सकता हे। श्रीशुकदेवजीने कुब्जाको यहॉ गोपियासे हीन मानकर कहा है—परीक्षित्! कुब्जाने केवल अङ्गराग समर्पित कर उस परमतत्त्वका पा लिया जा अत्यन्त कठिन है, परतु उस दुर्भगाने उसे प्राप्त करके भी व्रजगोपियाकी भाँति सेवा न माँगकर विषयसुख मॉगा। जो भगवान्का प्रसन्न करके उनसे विषयसुखकी याचना करता है वह निश्चय ही दुर्बुद्धि हे क्योकि वास्तवमे विषयसुख अत्यन्त तुच्छ है—

सैव कैवल्यनाथ त प्राप्य दुष्प्रापमीश्वरम्।
अङ्गरागार्पणेनाहो दुर्भगेदमयाचत॥
दुराराध्य समाराध्य विष्णु सर्वेश्वरेश्वरम्।
यो वृणीते मनोग्राह्यमसत्त्वात् कुमनीष्यसौ॥
(श्रीमद्भा० १०।४८।८ ११)

श्रीशुकदेवजी कुब्जाको दुर्भगा कहते ह पर गोपियोको भगवान् श्रीकृष्ण महाभागा कहते हैं। रासकी रात्रिम पधारी हुइ गापियोका दखकर व कह उठते हैं—

स्वागत वो महाभागा प्रिय कि करवाणि व ।
(श्रीमद्भा० १०।२९।१८)

इसपर शुकदेवजीकी टिप्पणी हे—गोपियाने अपने प्यारे श्यामसुन्दरके लिये सारी कामनाएँ, सार भोग छोड दिये थ। श्रीकृष्णमे उनका अनन्त अनुराग तथा परम प्रेम था। गोपियाँ यह निश्चय कर चुकी थीं कि आत्मज्ञानम निपुण महापुरुष भी उनस ही प्रेम करत है—

प्रेष्ठ प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाण
कृष्ण तदर्थविनिवर्तितसर्वकामा ।
× × ×
कुर्वन्ति हि त्वयि रति कुशला स्व आत्मन्
नित्यप्रिय पतिसुतादिभिरार्तिदै किम्।
(श्रीमद्भा० १०।२९।३० ३३)

श्रीशुकदेवजी स्वय निकुञ्जसवी थे। भुशुण्डिरामायण (९९।७३।७४)-मे उन्ह सखीरूपम प्रस्तुत किया गया है—

असौ मुनिर्नित्यविलासदर्शन
कुतूहली श्रीजनकात्मजाया ।
सखीपद प्राप्य निकुञ्जराज्ये
प्रियेण साक रमत सदैव॥

यही नहीं व राजा दशरथको व्रजके प्रमुख रस-स्थानाका दर्शन करानक बाद वहीं निकुञ्जलीलाम भाग

लनेके लिये अन्तर्धान भी हो जाते हैं। ब्रह्माजी भुशुण्डिरामायणमे कहते हैं—

इति व्रज दर्शयित्वा राज्ञे दशरथाय स ।
तस्मिन्नेव निकुञ्जान्त पश्यतोऽन्तर्दधौ शुक ॥

श्रीशुकदेवजी नित्य वृन्दावनधामकी निकुञ्जलीलाको उपास्य मानते हैं। साधकाके लिये यह लीला प्रकट और ससारी जीवाके लिये अप्रकट मानी गयी है। साधकका निस्सग आनन्दानुभव ही इसका प्रयोजन है। केवल गोपिभावमे निस्सग सुखानुभवके लिये कोई स्थान नहीं है। श्रीशुकदेवजी श्रीसीता-राम तथा श्रीराधा-कृष्णके निकुञ्जविहारके निस्सग साक्षी ह, वे प्रिय-प्रियतमाके नित्यविहारदशनके अभिलापी ह। शुकदेवजीकी मधुरोपासना इतनी उज्ज्वल और प्रगाढ हे कि श्रीरामभक्तिके तथा श्रीकृष्णभक्तिके रसिक सम्प्रदायवाले समानभावसे उन्हे प्रमाण मानते हैं। चाहे श्रीसीता-राम हो या श्रीराधा-कृष्ण हो, है तो अद्वयतत्त्वका ही द्विधा रूप। वृन्दावनदेवजीका तो कथन ही है—

मूर्तिमान शृगार हरि, सब रस को आधार।
रस पोपक सब शक्ति ले व्रज मे करत विहार॥

आचार्य वल्लभने श्रीशुकदवजीके इस वचनका उल्लेख करते हुए उपासनामे कान्ताभावको स्वीकार किया हे—

काम क्रोध भय स्नेहमैक्य सौहृदमेव च।
नित्य हरौ विदधतो यान्ति तन्मयता हि ते॥

(श्रीमद्भा० १०।२९।१५)

अर्थात् भगवान्‌से केवल सम्बन्ध हो जाना चाहिये। वह सम्बन्ध चाहे जैसा हो—कामका हो क्रोधका हो या भयका हो, स्नेह, नातेदारी या सोहार्दका हो। चाहे जिस भावसे भगवान्‌मे नित्य-निरन्तर अपनी वृत्तियाँ जोड दी जायँ, वे भगवान्‌से ही जुडती हैं। इसीलिये वृत्तियाँ भगवन्मय हो जाती हैं और उस जीवको भगवान्‌की ही प्राप्ति होती है।

सुबोधिनीमें कामको स्त्रीभावमें तथा सौहार्दको सख्यभावम निहित मानते हुए प्रथम स्थानीय-उपासनाभाव कान्ताभाव या माधुर्यको तथा द्वितीय स्थानीय-भाव सख्यको बताया गया हे। इसीलिये यहाँ काम पहले तथा सख्य अन्तम आया हे। जीवका कल्याण भगवान्‌से सम्बन्ध स्थापित करनेमे है, वह सम्बन्ध चाहे जेसा हो। भगवन्मय वृत्तियाँ परम तत्त्वकी प्राप्तिमे सहायक होती हैं। इनम प्रबल वृत्ति काम है। अत मधुरोपासनाको भावदृष्टिसे श्रेष्ठ, साधना समझना चाहिये, ऐसी श्रीशुकदेवजीकी स्थापना है।

भागवतमे कामको दैहिक स्तरपर स्वीकार नहीं किया गया, वह भावके स्तरपर अनुरागका रूप धारण करता है। स्वय भगवान् श्रीकृष्णका कथन है कि इस ससारमे उनका अङ्ग-सङ्ग ही मनुष्योमे प्रीति या अनुरागका कारण नहीं है। इसीलिये याज्ञिकोकी पत्नियोको लौट जानेका आदेश देते हुए वे कहते हैं—'हे ब्राह्मणपत्नियो! तुम जाओ और अपना मन मुझमे लगा दो। तुम्हे बहुत शीघ्र मेरी प्राप्ति हो जायगी।'

न प्रीतयेऽनुरागाय ह्यङ्गसङ्गो नृणामिह।
तन्मनो मयि युञ्जाना अचिरान्मामवाप्स्यथ॥

(श्रीमद्भा० १०।२३।३२)

शुकदेवजी पतिके द्वारा बलपूर्वक राकी गयी एक मधुरोपासिका ब्राह्मणपत्नीकी चर्चा इस प्रसगमे करते हैं तथा श्रीकृष्णके वाक्यकी पुष्टिमे कहते है कि उस ब्राह्मणपत्नीने श्यामसुन्दरके सुने हुए रूपमाधुर्यका ध्यान करते हुए मन-ही-मन उनका आलिङ्गन किया तथा शरीरका विसर्जन कर दिया—

तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्त यथाश्रुतम्।
हृदोपगुह्य विजहौ देह कर्मानुबन्धनम्॥

(श्रीमद्भा० १०।२३।३४)

वेणुगीतकी पृष्ठभूमिमे भी गोपियोके भावजगत्‌मे विहारका चित्रण शुकदेवजी करते है। श्रीकृष्णके नटवररूपकी कल्पनामे आकर्षणकी पराकाष्ठा निहित है। भगवान्‌से मिलनेकी आकाङ्क्षाने गोपियाके मनोराज्यमे वृन्दावनविहारीको लाकर खडा कर दिया। मनसा प्रत्यक्षीकरणकी इस प्रक्रियामे उन्होने वशीध्वनि भी सुन ली और फिर वे इतनी तन्मय हो गयीं कि श्रीकृष्णको पाकर उनका आलिङ्गन करने लगीं। यहाँ **'स्मरन्त्य कृष्णचेष्टितम्'** पर यदि ध्यान देगे तो भावलोकका सौन्दर्य पकडमे आ जायगा।

योगमे वियोग तथा वियोगमे योगकी भावना इस माधुर्योपासनाका मुख्य आधार है। दिनके समय गोचारणके लिये गये भगवान्‌का वियोग उनके योगमे ही छिपा है तथा भगवान्‌के मथुरा चल जानेपर भी गोपियाँ वियोगमे योगका अनुभव करती हैं। वस्तुत ध्यानयोगकी सिद्धि ही कृष्णवियोगका फल है। श्रीकृष्णने अपने सदेशमे

स्पष्ट कहा है—गोपियो! तुमसे दूर रहनेका एक विशेष कारण है। वह यही कि तुम मेरा प्रगाढ ध्यान कर सको, शरीरसे दूर रहनेपर ही मनसे किया गया सनिधिका अनुभव स्मृतिको तरोताजा रखता है। विमुक्त होकर ही प्रेमम प्रगाढता आती है—

यत्त्वह भवतीना वै दूरे वर्ते प्रियो दृशाम्।
मनस सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया॥

(श्रीमद्भा० १०।४७।३४)

सचमुच गोपियाँ इसी स्थितिमे पहुँच चुकी थीं। वे सर्वत्र श्रीकृष्णका ही अनुभव करती थीं। तभी तो वे उद्धवजीसे कहती हैं—यह वही यमुना नदी है, जिसम वे विहार करते थे। यह वही पर्वत है, जिसके शिखरपर चढकर वे बाँसुरी बजाते थे। ये वे ही वन हैं, जिनम वे रासलीला करते थे और ये वे ही गौएँ हैं, जिनको चरानेके लिये वे सुबह-शाम हमलोगाको देखते हुए आते-जाते थे और यह ठीक वैसी ही वशीकी तान हमारे कानाम गूँजती रहती है जैसी वे अपने अधरोके सयोगसे छेडा करते थे। यहाँका एक-एक प्रदेश, एक-एक धूलिकण उनके परम सुन्दर चरणकमलोसे चिह्नित है। हम इन्हे देखती रहती हैं और ये भी हर क्षण श्रीकृष्णको हमारी आँखाके सामने लाकर रख देते हैं। अब उद्धवजी तुम्हीं बताओ, हम उन्ह भूल भी तो कैसे?

पुन पुन स्मारयन्ति नन्दगोपसुत यत।
श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं नैव शक्नुम ॥

(श्रीमद्भा० १०।४७।५०)

इस प्रकार कहा जा सकता है कि शान्त दास्य सख्य वात्सल्य तथा माधुर्यभावकी उपासनाम शुकदेवजीको माधुर्य या कान्ताभक्ति ही अधिक प्रिय है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे भी अनेक प्रकारके सवेगाका उदय विकास तथा लयीकरण इस भावोपासनामे ही हो सकता है। लौकिक रतिके उन्नयनका मार्ग भी इसी प्रक्रियामे मिल सकता है। 'वैष्णवनकी वार्ता' के अनेक भक्ताका जीवन इस सदर्भमे उद्धृत किया जा सकता है। अत सस्कृतहृदय भावुक भक्तको श्रीमद्भागवतका यह साधनापक्ष अगीकार करना चाहिये। परमहसवृत्तिका साधक ही इस साधनाम सफल हो सकता है अन्यको इस मार्गपर चलनका अधिकार नहीं है।

(आचार्य डॉ० श्रीविष्णुदत्तजी राकेश, विद्यासागर, विद्यावाचस्पति, पी-एच्०डी०, डी० लिट्०)

कृष्णप्रिया श्रीरुक्मिणीजीका प्रभुमे अनन्य प्रेम

श्रीमद्भागवतम अनिर्वचनीय प्रेमके दो चरित्र बडे ही पुनीत और अलौकिक हैं। प्रथम प्रेमकी जीवित प्रतिमा प्रात स्मरणीया गोपबालाओका और द्वितीय भगवती श्रीरुक्मिणीजीका। विदर्भ देशके राजा भीष्मकके रुक्मी रुक्मरथ रुक्मबाहु, रुक्मकेश और रुक्ममाली नामक पाँच पुत्र और रुक्मिणी नामकी एक सबसे छोटी कन्या थी। रुक्मिणीजी साक्षात् रमा थीं, भगवान्मे उनका चित्त तो स्वाभाविक ही अनुरक्त था परतु लीलासे नारदादि तत्त्वज्ञानियोंके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णके माहात्म्य, रूप वीर्य, गुण शोभा और वैभवका अनुपम वर्णन सुनकर अपने मनमे उन्होने दृढ निश्चय कर लिया कि श्रीकृष्ण ही मेरे पति हैं।

आरम्भमे साधकको अपना ध्येय निश्चय करनेकी ही आवश्यकता होती है। ध्येय निश्चित होनेके पश्चात् उसकी प्राप्तिके लिये साधन किये जाते हैं। जिसका लक्ष्य ही स्थिर नहीं वह लक्ष्यवेध कैसे करेगा? भगवती रुक्मिणीने दृढ प्रत्यय कर लिया कि जो कुछ भी हो चाहे जितना लोभ *या भय आये मुझे तो श्रीकृष्णको ही अपने जीवनाधार*-रूपमे प्राप्त करना है। भक्त भगवान्को जैसे भजता है भगवान् भी भक्तको वैसे ही भजते हैं। श्रीरुक्मिणीने जब श्रीकृष्णका माहात्म्य सुनकर उनका पतिरूपसे वरण किया तो उधर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने भी रुक्मिणीको बुद्धि लक्षण उदारता रूप शील ओर गुणोकी खान समझकर—योग्य अधिकारी मानकर पत्नीरूपसे ग्रहण करनेका निश्चय कर लिया।

श्रीरुक्मिणीजीके बडे भाई रुक्मी भगवान् श्रीकृष्णसे द्वेष रखते थे उन्होने अपने माता-पिता और भाइयाकी इच्छाके विपरीत रुक्मिणीजीका विवाह श्रीकृष्णसे न कर शिशुपालसे करना चाहा ओर उन्हींके इच्छानुसार सम्बन्ध पक्का भी हो गया। जब यह समाचार श्रीरुक्मिणीजीको मिला तब उन्हे बडा दु ख हुआ। उन्होने अपना जीवन पहलेसे ही भगवान्पर न्योछावर कर दिया था। अब इस विपत्तिमे पडकर उन्हाने अपने मनकी दशाके सम्बन्धमे

श्रीकृष्णके प्रति निवेदन करनेके अभिप्रायसे एक छोटा-सा पत्र लिखा और एक विश्वासी वृद्ध ब्राह्मणको उसे देकर द्वारका भेज दिया। पत्र क्या था! प्रेम-समुद्रके कुछ अमूल्य

और अनुपम रत्नोंकी एक मंजूषा थी। थोड़से शब्दोंमें अपना हृदय खोलकर रख दिया गया था। नवधा भक्तिके अन्तिम सोपान आत्मनिवेदनका सुन्दर स्वरूप उसके अंदर था।

ब्राह्मणदेवता द्वारका पहुँचकर श्रीकृष्णचन्द्रके द्वारपर उपस्थित हुए। द्वारपाल उन्हें अंदर ले गया। भगवान् श्रीकृष्णने ब्राह्मणदेवताको देखते ही सिंहासनसे उतरकर उनकी अभ्यर्थना की। अपने हाथोंसे उठाकर आसन दिया और आदरपूर्वक बैठाकर भलीभाँति उनकी पूजा की। ब्राह्मणके भोजन-विश्रामादि कर चुकनेपर भगवान् श्रीकृष्ण उनके पास जाकर बैठ गये और अपने कोमल कर-कमलोंसे उनके पैर दबाते-दबाते धीर-भावसे कुशल-

समाचार पूछनेके बाद ब्राह्मणसे बोले—'महाराज! मैं उन सब ब्राह्मणोंको बारम्बार मस्तक झुकाकर प्रणाम करता हूँ जो सदा संतुष्ट रहते हैं, जो दरिद्र होनेपर भी सुखसे अपना जीवन बिताते हैं, जो साधु हैं, प्राणिमात्रके परम बन्धु हैं और जो निरभिमानी तथा शान्त हैं। ब्रह्मन्! आप अपने राजाके राज्यमें सुखसे तो रहते हैं? जिस राजाके राज्यमें प्रजा सुखी है, वही राजा मुझको प्रिय है।' इस प्रकार कुशल-प्रश्नके बहानेसे भगवान्‌ने ब्राह्मण और क्षत्रियोंके उस धर्मको बतला दिया, जिससे वे भगवान्‌के प्रिय पात्र बन सकते हैं।

ब्राह्मणने सारी कथा संक्षेपमें सुनाकर वह प्रेम-पत्रिका भगवान्‌को दिखलायी, जिसपर श्रीरुक्मिणीके द्वारा अपनी प्रेम-मुद्रिकाकी मुहर लगायी हुई थी। भगवान्‌की आज्ञा पाकर ब्राह्मणने पत्र पढ़कर सुनाया। पत्रमें लिखा था—'हे त्रिभुवनकी सुन्दरताके समुद्र! हे अच्युत! जो कानोंके छिद्रोंद्वारा हृदयमें प्रवेश करके (तीनों प्रकारके) तापोंको शान्त करते हैं, वे आपके सब अनुपम गुण और नेत्रधारियोंकी दृष्टिका जो परम लाभ है, ऐसे आपके मनोमोहन स्वरूपकी महिमा सुनकर मेरा चित्त आपपर आसक्त हो गया है लोकलज्जाका बन्धन भी उस (प्रेमके प्रवाह)-को नहीं रोक सकता।'

'हे मुकुन्द! ऐसी कौन कुलवती, गुणवती और बुद्धिमती कामिनी है जो आप-जैसे अतुलनीय कुल, शील स्वरूप विद्या अवस्था, सम्पत्ति और प्रभाव-सम्पन्न पुरुषको विवाह-समय उपस्थित होनेपर पति-रूपसे वरण करनेकी अभिलाषा नहीं करेगी। हे नरश्रेष्ठ! आप ही तो मनुष्योंके मनको रमानेवाले हैं। अतएव हे विभो! मैंने आपको पति मानकर आत्मसमर्पण कर दिया है अतएव आप यहाँ अवश्य पधारकर मुझे अपनी धर्मपत्नी बनाइये। हे कमलनयन! मैं अब आपकी हो चुकी क्या सियार कहीं सिंहके भागको हर ले जा सकता है? मैं चाहती हूँ आप वीर-श्रेष्ठके भाग—मुझको सियार शिशुपाल यहाँ आकर स्पर्श भी न कर सके। यदि मैंने पूर्त (कुआँ-बावड़ी आदि बनवाना), इष्ट (अग्निहोत्रादि) दान नियम, व्रत एवं देवता ब्राह्मण और गुरुओंके पूजनद्वारा भगवान्‌की कुछ भी आराधना की है तो भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं आकर मेरा पाणिग्रहण करें और दमघोषनन्दन (शिशुपाल) आदि दूसरे

राजा मुझे हाथ भी न लगा सके।'

'हे अजित! परसा विवाहकी तिथि है अतएव आप एक दिन पहले गुप्त-रूपसे पधारिये, फिर पीछेसे आये हुए अपने सेनापतियाको साथ लेकर शिशुपाल-जरासध आदिकी सेनाका नष्ट-भ्रष्ट कर बलपूर्वक मुझे ग्रहण कीजिये, यही मेरी विनम्र प्रार्थना है। यदि आप यह कह कि तुम तो अन्त पुरम रहती हो तुम्हारे बन्धुओको मारे बिना मैं किस तरह तुम्हारे साथ विवाह कर सकता हूँ या तुम्ह हरकर ले जा सकता हूँ? तो मैं आपको उसका उपाय बताती हूँ। हमारे कुलकी सनातन रीतिके अनुसार कन्या पहले दिन कुलदेवी भवानीकी पूजा करनेके लिये बाहर मन्दिरम जाया करती है। वहाँ मुझे हरण करना सुलभ है।' इतना लिखनेके पश्चात् अन्तमे देवी रुक्मिणी लिखती हैं—

यस्याङ्घ्रिपङ्कजरज स्नपन महान्तो
वाञ्छन्त्युमापतिरिवात्मतमोऽपहत्यै ।
यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसाद
जह्यामसून् व्रतकृशाञ्छतजन्मभि स्यात्॥

(श्रीमद्भा० १०।५२।४३)

'हे कमललोचन! उमापति महादेव तथा उनके समान दूसर ब्रह्मादि महान् लाग अपने अन्त करणका अज्ञान मिटानेके लिये आपके जिस चरणरजके कणोसे स्नान करनेकी प्रार्थना करत रहते हैं, मैं यदि उस प्रसादको नहीं पा सकी तो निश्चय समझियेगा कि मैं व्रत-उपवासादिके द्वारा शरीरको सुखाकर व्याकुल हुए प्राणोको त्याग दूँगी। (यो बारम्बार करते रहनेपर अगल) सौ जन्मोमे तो आपका प्रसाद प्राप्त होगा ही।'

कुछ लोग कहते हैं कि इस पत्रमे कौन-सी बडी बात है? किसी पुरुषके रूप-गुणपर मुग्ध होकर घरवालोंकी इच्छाके विरुद्ध उस प्रेमपत्र लिखना कौन-सी अच्छी बात है? परतु एसा कहनेवाल सज्जन भूलते हैं। श्रीरुक्मिणीजीने किसी पार्थिव रूप-गुणपर मुग्ध होकर यह पत्र नहीं लिखा पत्रके अन्तिम श्लोकसे स्पष्ट सिद्ध है कि रुक्मिणी किसी राजा या बलवान्‌को नहीं जानती और चाहती थीं। रुक्मिणी जानती थीं देवदेव महादेवादिद्वारा वन्दित-चरण कमललोचन साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णको। रुक्मिणीका त्याग और निश्चय देखिये। इष्ट पूर्त दान नियम व्रत और देवता-गुरु-ब्राह्मणाकी पूजा आदि सबका फल रुक्मिणी केवल एक ही चाहती हैं। यही तो भक्तका निष्कामकर्म है। भक्तके द्वारा दान, यज्ञ, तप आदि सभी कर्म किये जाते हैं परतु किसलिये? धन जन, भोग स्वर्गादिके लिये नहीं, केवल भगवान्‌को पानेके लिये घर, द्वार, परिवार भाई-बन्धुका ममत्व त्याग कर। इसी प्रकार तो भगवत्प्राप्तिके लिये भक्तको लोकलज्जा और मर्यादाका बाँध तोडकर आत्मसमर्पण करना पडता है। इतनेपर भी यदि भगवान् नहीं मिलते तो भक्त ऊबता नहीं। उसका निश्चय है कि आज नहीं तो क्या है, 'कभी सौ जन्माम तो उनका प्रसाद प्राप्त होगा ही।'

जहाँ इतना विशुद्ध और अनन्य प्रेम होता है, वहाँ भगवान् आये बिना कभी रह नहीं सकते। अतएव रुक्मिणीजीका पत्र सुनते ही भगवान्न भक्तका सकट हरनेके लिये निश्चय कर लिया और ब्राह्मणसे कहने लगे— 'भगवन्! जैसे रुक्मिणीका चित्त मुझम आसक्त है वैसे ही मेरा भी मन उसीमे लग रहा है। मुझे तो रातको नींद भी नहीं आती । मैंने निश्चय कर लिया है कि युद्धमे अधम क्षत्रियोकी सेनाका मन्थन कर उसके बीचसे काष्ठके भीतरसे अग्नि-शिखाके समान मुझको एकान्त-भावसे भजनेवाली अनिन्दिताङ्गी राजकुमारी रुक्मिणीको ले आऊँगा।' वही भक्त सबसे श्रेष्ठ समझा जाता है जो अपने अन्तरके प्रेमकी प्रबल इच्छास भगवान्‌के चित्तमे मिलनेके लिये अत्यन्त व्याकुलता उत्पन्न कर दे। इस प्रकारकी अवस्थाम भगवान् भक्तसे मिले बिना एक क्षण भी सुखकी नींद नहीं सो सकते। जैसे भक्त अपने प्रियतम भगवान्‌के विरहमे तारे गिनता हुआ रात बिताता हे वैसे ही भगवान् भी उसीके ध्यानम जागा करते हैं ऐसी स्थिति हो जानेपर भगवत्प्राप्तिमे विलम्ब नहीं होता। भगवान् दौडते ह इस प्रकारके भक्तको सादर ग्रहण करनेके लिये।

भगवान्‌का रुख देखकर चतुर सारथी दारुक उसी क्षण शैव्य सुग्रीव मेघपुष्प और बलाहक नामक चार घोडे जोतकर रथ ल आया और भगवान्‌ने उसपर सवार होकर रथ बहुत शीघ्र हाँकनेकी आज्ञा देकर विदर्भ देशके कुण्डिनपुरके लिये प्रस्थान किया। ब्राह्मणदेवता भी साथ ही थे।

श्रीरुक्मिणीजीने सारी रात जागते हुए बितायी सूर्योदय होनेको आया ब्राह्मण नहीं लाट रुक्मिणीकी विरह-व्यथा उत्तरोत्तर बढ रही थी, वे मनमे इस प्रकार चिन्ता करने लगीं

कि 'अहो! रात बीत गयी, सवेरे मुझ अभागिनीके विवाहका दिन है। कमललोचन भगवान् श्रीकृष्ण अबतक नहीं आये, न ब्राह्मणदेवता ही लौटे? क्या उन अनिन्दितात्मा श्रीकृष्णने मुझमें कहीं कोई निन्दनीय बात देखी है? क्या इसीलिये वे मेरे पाणिग्रहणका उद्योग करके नहीं पधारते? क्या भगवान्, विधाता और महादेव मुझ अभागिनीके प्रतिकूल हैं? क्या भगवती गिरिजा रुद्राणी गौरी भी मेरे अनुकूल नहीं हैं?' इस प्रकार चिन्ता करती हुई श्रीरुक्मिणीजी, जिनका चित्त केवल गोविन्दकी चिन्तासे ही भरा हुआ है, जिनके नेत्रोंमें आँसू बह रहे हैं, अपने उन नेत्रोंको मूँदकर भगवान् हरिका ध्यान करने लगीं।
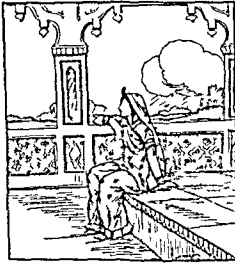
भगवान् श्रीकृष्णके ध्यानमें मग्न होते ही रुक्मिणीजीके बाँह, ऊरु, भुजा और नेत्र आदि अङ्ग भावी प्रियकी सूचना देते हुए फड़क उठे और उसी क्षण भगवान् श्रीकृष्णके शुभागमनका प्रिय समाचार लेकर वही वृद्ध ब्राह्मण आ पहुँचे। भगवान्‌की आगमन-वार्ता सुनकर रुक्मिणीजीको जो आनन्द हुआ वह वर्णनातीत है। श्रीकृष्ण और बलदेवका आगमन सुनकर रुक्मिणीके पिता राजा भीष्मकने उनके स्वागत और अतिथि-सत्कारका पूरा प्रबन्ध किया। भगवान्‌की भुवनमोहन रूपराशिको निरखकर नगरके नर-नारियोंका चित्त उसीमें रम गया और सभी प्रेमके आँसू बहाते हुए कहने लगे कि 'यदि हमने कभी कुछ भी सुकृत किया हो तो त्रिलोकके विधाता अच्युत भगवान् कुछ ऐसा करें कि ये मनमोहन अनूपरूप-शिरोमणि श्रीकृष्ण ही रुक्मिणीका पाणिग्रहण करें।'

श्रीरुक्मिणीजी अम्बिकाकी पूजाके लिये गयीं। वहाँ देवीका पूजन कर बड़ी-बूढ़ियोंसे आशीर्वाद प्राप्तकर बाहर आकर अपने रथपर चढ़ना ही चाहती थीं कि इतनेहीमें माधव श्रीकृष्णचन्द्रने आकर शत्रुओंकी सेनाके सामने ही गरुडचिह्नयुक्त अपने रथपर तुरंत ही रुक्मिणीको चढ़ा लिया और चल दिये। लोगोंने पीछा किया, परंतु किसीकी कुछ भी नहीं चली, भगवान् और बलदेवजी शत्रुओंका दर्प-दलन कर देवी रुक्मिणीसहित द्वारकामें आ पहुँचे और वहाँ विधिपूर्वक विवाह-संस्कार सम्पन्न हुआ। श्रीकृष्णको रुक्मिणीसे (जो श्रीलक्ष्मीजीका अवतार हैं) मिलते देखकर पुरवासियोंको परम आह्लाद हुआ। भक्त और भगवान्‌के मिलन-प्रसंगमें किसे आनन्द नहीं होता?

अनन्यगति श्रीरुक्मिणीजी निरन्तर भगवान्‌की सेवामें रत रहतीं। एक दिन भगवान् श्रीकृष्णने प्रसन्नतापूर्वक मन्द-मन्द मुसकाते हुए रुक्मिणीसे कुछ ऐसी रहस्ययुक्त बातें कहीं, जिसे सुनकर रुक्मिणीजी थोड़ी देरके लिये व्याकुल हो गयीं। अपना समस्त ऐश्वर्य सौंपकर भी भगवान् समय-समयपर भक्तकी यों परीक्षा किया करते हैं, वह इसलिये कि भक्त कहीं ऐश्वर्यके मदमें मत्त होकर प्रेमकी अनिर्वचनीय स्थितिसे च्युत न हो जाय। यद्यपि श्रीरुक्मिणीजीके लिये ऐसी कोई आशंका नहीं थी, तथापि भगवान्‌ने अपने भक्तोंका महत्त्व बढ़ाने और जगत्‌को सच्चे प्रेमकी अनुपम शिक्षा देनेके लिये रुक्मिणीजीकी वाणीसे भगवत्प्रेमका तत्त्व कहलाना चाहा और इसीलिये उनसे रहस्ययुक्त वचन कहे। भगवान् बोले—'हे राजकुमारी! लोकपालोंके समान धनसम्पन्न महानुभाव, श्रीमान् तथा रूप और उदारतासे युक्त महान् बली नरपति तुमसे विवाह करना चाहते थे। कामोन्मत्त शिशुपाल तुम्हें ब्याहनेके लिये बारात लेकर आ पहुँचा था, तुम्हारे भ्राता आदिने भी तुम्हारा विवाह शिशुपालके साथ करनेका निश्चय कर लिया था तो भी तुमने सब प्रकारसे अपने योग्य उन राजकुमारोंको छोड़कर, जो किसी बातमें तुम्हारे समान नहीं है—ऐसे मुझ-जैसेको अपना पति क्यों बनाया?

हे सुभ्रु! तुम जानती हो, हम राजाओंके भयसे समुद्र-किनारे आ बसे हैं, क्योंकि हमने बलवानोंसे वैर बाँध रखा है; फिर राज्यासनके अधिकारी भी नहीं हैं। जिनका आचरण स्पष्ट समझमें नहीं आ सकता, जो स्त्रियोंके वशमें नहीं रहते, ऐसे हम-सरीखे पुरुषोंकी पदवीका अनुसरण करनेवाली स्त्रियाँ प्रायः कष्ट और दुःख ही उठाया करती हैं। हे

सुमध्यमे! हमलोग स्वयं निष्किञ्चन (धन-सम्पत्तिरहित) हैं और धन-सम्पत्तिरहित दरिद्र ही हमसे प्रेम करते हैं।

धनवान् लोग प्रायः हमको नहीं भजते। जो लोग धन, जाति, ऐश्वर्य, आकार और अवस्थामें परस्पर समान हों, उन्हींसे मित्रता और विवाह करना शोभा देता है। अपनेसे अत्यन्त विषम परिस्थितिवालोंके साथ विवाह या मित्रता कभी उचित नहीं होती। हे रुक्मिणी! तुम दूरदर्शिनी नहीं हो इसीसे बिना जाने तुमने मुझ-जैसे गुणहीनको नारदादिके मुखसे प्रशंसा सुनकर वर लिया, वास्तवमें तुमको धोखा हुआ। यदि तुम चाहो तो अब भी जिसके संगसे तुम इस लोक और परलोकमें सुख प्राप्त कर सको, ऐसे किसी *अन्य योग्य क्षत्रियको ढूँढ़ सकती हो*। तुम्हारा हरण तो हमने शिशुपाल-दन्तवक्त्र आदि घमंडी राजा और हमसे वैरभाव रखनेवाले तुम्हारे भाई रुक्मीका दर्प-दलन करनेके लिये किया था, क्योंकि बुरे *लोगोंका तेज नाश करना ही हमारा कर्तव्य है*। इतना कहकर अन्तमें भगवान् बोले—

उदासीना वयं नूनं न स्त्र्यपत्यार्थकामुकाः ।
आत्मलब्ध्याऽऽस्महे पूर्णा गेहयोर्ज्योतिरक्रियाः ॥

(श्रीमद्भा० १०।६०।२०)

'हे राजकुमारी! हम आत्मलाभसे ही पूर्ण होनेके कारण स्त्री, पुत्र और धनादिकी कामना नहीं रखते। हम उदासीन हैं, देह और गृहमें हमारी आसक्ति नहीं है। जैसे दीपककी ज्योति केवल प्रकाश करके साक्षीमात्र रहती है वैसे ही हम समस्त क्रियाओंके केवल साक्षीमात्र हैं।'

भगवान्के इस रहस्यपूर्ण कथनपर हम क्या कहें? भगवान्ने इस व्याजसे भक्तको अपना वास्तविक स्वरूप और भक्तका कर्तव्य तथा उसके लक्षण बतला दिये। भगवती रुक्मिणीको (*तुम ऐसे किसी अन्य योग्य क्षत्रियको ढूँढ़ सकती हो*) इन शब्दोंसे बड़ी मर्म-वेदना हुई, वे मस्तक अवनत करके रोने लगीं, अश्रुधारासे शरीर भींग गया। दारुण मनोवेदनासे कण्ठ अवरुद्ध हो गया और अन्तमें अचेत होकर गिर पड़ीं। भगवान् रुक्मिणीकी इस प्रेम-दशाको देख मुग्ध होकर तुरंत पलंगसे उठे और चतुर्भुज होकर दो हाथोंसे रुक्मिणीको उठा लिया और

उनके बिखरे हुए केशोंको सँवार कर आँसू पोंछने लगे। रुक्मिणीजीको चेत हुआ तब भगवान् बोले—'राजकुमारी! *मैं तो हँसी करता था, तुम्हारे चरित्रको मैं भलीभाँति जानता हूँ*। तुम्हारे मुखसे प्रणयकोप प्रकट करनेवाली बातें सुननेके लिये ही मैंने इतनी बातें कही थीं।'

भगवान् भक्तकी परीक्षा तो बड़ी कठिन लिया करते हैं, परंतु फिर तुरंत सँभाल भी लेते हैं। भगवान्ने रुक्मिणीको बहुत समझाकर धैर्य बँधाया, तब भगवान्के चरणकमलोंकी नित्य अनुरागिणी देवी रुक्मिणी बड़े मधुर शब्दोंमें भगवान्से कहने लगीं—'हे कमलनयन! आपने जो *ऐसा कहा कि मैं तुम्हारे समान नहीं था, तुमने क्यों मेरे साथ विवाह किया?*' सो आपका कथन सर्वथा सत्य है, मैं अवश्य ही आपके योग्य नहीं हूँ। कहाँ ब्रह्मादि तीनों देवोंके या तीनों गुणोंके नियन्ता दिव्य शक्तिसम्पन्न आप साक्षात् भगवान्! और कहाँ मैं अज्ञानी तथा सकाम पुरुषोंके द्वारा पूजी जानेवाली गुणमयी प्रकृति! हे प्रभो! आपका यह कहना कि 'हम राजाओंसे डरकर समुद्रकी शरणमें आकर बसे हैं' सर्वथा सत्य है, क्योंकि शब्दादि गुण ही राजमान

(प्रकाश पानेवाले) होनेके कारण 'राजा' हैं, उनके भयसे ही मानो समुद्रके सदृश अगाध विषयशून्य भक्तोके हृदयदेशमे आप चैतन्यघन आत्मारूपसे प्रकाशित हैं। आपका यह कहना भी ठीक है कि 'हमने बलवानोसे वैर बाँध रखा है और हम राज्यासनके अधिकारी नहीं हैं।' बहिर्मुख हुई प्रबल इन्द्रियोके साथ अथवा जिनकी प्रबल इन्द्रियाँ विषयोमे आसक्त हैं, उनसे कभी आपको प्रीति नहीं है। हे नाथ! राज्यासन तो घोर अविवेकरूप है।

मनुष्य राजपदको पाकर ज्ञानशून्य कर्तव्यविमूढ होकर अन्धा-सा बन जाता है। ऐसे राजपदको तो आपके सेवकोने ही त्याग दिया है, फिर आपकी तो बात ही क्या है? हे भगवन्! आपने जो कहा कि 'हमारे आचरण स्पष्ट समझमे नहीं आ सकते।' वह सत्य ही है, आपके चरणकमलके मकरन्दका सेवन करनेवाले मुनियाके ही आचरण स्पष्ट समझमे नहीं आते। पशु-समान अज्ञानी मनुष्य जिनकी तर्कना भी नहीं कर सकते। ऐसे आपके अनुगामी भक्तोका चरित्र ही जब इतना अचिन्त्य और अलौकिक है, तब आप जो साक्षात् ईश्वर हैं, उनके चरित्रका दुर्बोध या अलौकिक होना कोई आश्चर्य नहीं। आपने कहा कि 'हम निष्किञ्चन हैं, निष्किञ्चन ही हमसे प्रेम करते हैं', अत हे स्वामिन्! जिन ब्रह्मादि देवताओकी सभी पूजा करते हैं, वे भी जब सादर आपको पूजते हैं तब आप निष्किञ्चन तो नहीं हैं, परतु एक तरहसे आप निष्किञ्चन ही हैं, क्योकि आपसे भिन्न कुछ है ही नहीं।

जो लोग धन-सम्पत्तिके मदसे अधे हो रहे हैं और केवल अपने शरीरके पालन-पोषणमे ही रत हैं, वे आप कालरूपको नहीं जानते। आप पूजनीयोमे सबसे श्रेष्ठ हैं, जगत्-पूज्य ब्रह्मादि आपको इष्टदेव मानकर पूजते हैं, उनके आप प्रिय हैं और वे आपके प्रिय हैं। आप सम्पूर्ण पुरुषार्थ और परमानन्दरूप हैं, आपको प्राप्त करनेकी अभिलाषासे श्रेष्ठ बुद्धिवाले लोग सब वस्तुओका त्याग कर देते हैं। हे विभो! ऐसे श्रेष्ठ बुद्धिवाले पुरुषोसे ही आपका सेव्य-सेवक-सम्बन्ध उचित है, स्त्री-पुरुष-रूप सम्बन्ध योग्य नहीं है, कारण कि इस सम्बन्धमे आसक्तिके कारण प्राप्त हुए सुख-दु खोसे व्याकुल होना पडता है इसलिये आपका यह कहना कि समान लोगोमे ही मित्रता और विवाह होना चाहिये, यह ठीक ही है। आपने कहा कि 'नारदादिके मुखसे प्रशसा सुनकर मुझे वर लिया', अत हे भगवन्! ऐसे सर्वत्यागी मुनिगण ही आपके प्रभावको जानते और कहते हैं। आप जगत्‌के आत्मा हैं और भक्तोको आत्मस्वरूप प्रदान करते हैं, यह समझकर ही मैंने आपका वरण किया है।

आपने कहा कि 'तुम दूरदर्शिनी नहीं हो' सो प्रभो! आपकी भ्रुकुटियाके बीचसे उत्पन्न कालके वगसे जिनके समस्त विषय-भोग नष्ट हो जाते हैं—ऐसे ब्रह्मादि देवताआको भी मैंने पति बनाना उचित और श्रेष्ठ नहीं समझा तो फिर शिशुपालादि तुच्छ लोगाकी बात ही क्या है? हे गदाग्रज! हे प्रभो! सिह जैसे अपनी गर्जनासे पशुपालकोको भगाकर अपना आहार ले आता है, वैसे ही आप शार्ङ्गधनुषके शब्दसे राजाओको भगाकर अपना भाग—जो मैं हूँ, उसे हर लाये हैं, ऐसे आप उन राजाआके भयसे समुद्रकी शरणम आकर बसे हैं—यह कहना ठीक नहीं है। भगवन्! आप सब गुणाकी खान हैं, आपके चरणकमलोके मकरन्द-सुगन्धका वर्णन साधुगणोद्वारा किया गया है। लक्ष्मी सदा उसका सेवन करती हैं, भक्तजन उससे मोक्ष पाते हैं। ऐसे चरणकमलाके मकरन्दकी सुगन्ध पाकर अपने प्रयोजनको विवेक-बुद्धिसे देखनेवाली कौन ऐसी स्त्री होगी, जो आपको छोडकर किसी मरणशील और कालके भयसे सदा शकित दूसरे पार्थिव पुरुषका आश्रय लेगी?

अतएव आपने जो यह कहा कि 'दूसरा पुरुष ढूँढ सकती हो' वह ठीक नहीं है। आप जगत्‌के अधिपति और सबके आत्मा हैं, इस लोक और परलोकमे सब अभिलाषाएँ पूरी करनवाले हैं, मैंने योग्य समझकर ही आपको पति बनाया है। मेरी यही प्रार्थना है कि मैं देवता, पशु, पक्षी आदिकी किसी भी योनिम भ्रमण करूँ, परतु सर्वत्र आपहीके चरणोकी शरणमे रहूँ। नाथ! जो लोग आपको भजते हैं, आप समदर्शी और नि स्पृह होते हुए भी उनको भजते हैं और आपको भजनेसे ही इस असार-ससारसे मुक्ति मिलती है।

हे अच्युत! हे शत्रुनाशन! जो स्त्री-प्रधान घरोमे रहकर गधेके समान बोझा ढोते हैं बैलकी तरह नित्य गृहस्थीके कामोमे जुते रहकर क्लेश भोगते हैं कुत्तेके समान जिनका तिरस्कार होता है बिलावकी तरह जो दीन बने हुए गुलामोकी भाँति स्त्री आदिकी सेवामे लगे रहते हैं—ऐसे

शिशुपालादि राजा उसी (अभागिनी) स्त्रीके पति हों, जिसके कानोंमें शिव-ब्रह्मादिकी सभाओंमें आदर पानेवाली आपकी पवित्र कथाओंने प्रवेश नहीं किया हो। हे स्वामिन्! जिसने आपके चरणारविन्दके मकरन्द-सुगन्धको कभी नहीं पाया अर्थात् जिसने आपके चरणोंमें मन लगानेका आनन्द कभी नहीं पाया, वही मूढ़ स्त्री बाहर त्वचा, दाढ़ी-मूँछ, रोम, नख और केशोंसे ढके हुए तथा भीतर मांस, हड्डी, रुधिर कृमि, विष्ठा, कफ पित्त और वातसे भरे हुए जीवन्मृत (जीते ही मुर्देके समान) पुरुषको पतिभावसे भजेगी।

हे कमलनयन! आपने कहा कि 'हम उदासीन हैं, आत्मलाभसे पूर्ण हैं' सो सत्य है, क्योंकि निजानन्द-स्वरूपमें रमण करनेके कारण मुझपर अत्यन्त अधिक दृष्टि नहीं रखते तथापि मेरी यही प्रार्थना है कि आपके चरणोंमें मेरा चित्त सदा लगा रहे। आप इस जगत्की वृद्धिके लिये उत्कृष्ट रजोगुणको स्वीकार करते हुए मुझ (प्रकृति)-पर जो दृष्टि डालते हैं, उसीको मैं परम अनुग्रह मानती हूँ। प्रभो! मैं आपके कथनको मिथ्या नहीं मानती जगत्में कई स्त्रियाँ ऐसी हैं जो स्वामीके रहते भी अन्य पुरुषपर आसक्त हो जाती हैं पुंश्चली स्त्रियोंका मन विवाह हो जानेपर भी नये-नये पुरुषोंपर आसक्त होता रहता है, किंतु चतुर बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वे ऐसी असती स्त्रियोंसे विवाह कभी न करें। क्योंकि ऐसी स्त्रियाँ दोनों कुलोंको कलंकित करती हैं, जिससे स्त्रीके साथ ही पुरुषकी भी इस लोकमें अकीर्ति और परलोकमें बुरी गति होती है।'

इस प्रकार भगवान्को तत्त्वसे जाननेवाली प्रेमकी प्रत्यक्ष मूर्ति देवी रुक्मिणीजीने अपने भाषणमें भगवान्का स्वरूप, माहात्म्य, भगवत्प्राप्तिके उपाय, भक्तोंकी निष्ठा, भक्तोंके कर्तव्य और भगवान्से विमुख अधम जीवोंकी दशा तथा उनकी गतिका वर्णन किया। देवी रुक्मिणीके इस भाषणसे भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और सकामभावकी निन्दा, निष्कामकी प्रशंसा तथा सब कुछ छोड़कर प्रेमसे भगवत्प्राप्तिके लिये व्याकुल रहनेवाले भक्तोंका महत्त्व बतलाते हुए उन्होंने कहा—

दूतस्त्वयाऽऽत्मलभने सुविविक्तमन्त्र
प्रस्थापितो मयि चिरायति शून्यमेतत्।
मत्वा जिहास इदमङ्गमनन्ययोग्यं
तिष्ठेत तत्त्वयि वयं प्रतिनन्दयामः॥

(श्रीमद्भा० १०।६०।५७)

'तुमने मुझको ही वरण करनेका दृढ़ निश्चय करके अपने प्रणकी सूचना देनेके लिये मेरे पास दूत भेजा और जब मेरे आनेमें कुछ विलम्ब हुआ, तब तुमने सब जगत्को शून्य देखकर यह विचार किया कि यह शरीर और किसीके भी योग्य नहीं है। इसका न रहना ही उत्तम है, अतएव मैं तुम्हारे प्रेमका बदला चुकानेमें असमर्थ हूँ। तुमने जो किया वह तुम्हारे ही योग्य है मैं केवल तुमको प्रसन्न करनेका प्रयत्न करूँगा।'

श्रीहनुमान्जीका दास्य प्रेम

अनन्य भक्त-प्रवर पवनपुत्र हनुमान्जी अपना आध्यात्मिक परिचय देते हुए कहते हैं कि 'देहबुद्धिसे मैं अपने आराध्य श्रीरामका दास हूँ, जीवबुद्धिसे अपने अंशीका अंश हूँ और आत्मासे अभेद वही हूँ जो मेरे इष्टदेव स्वयं हैं।' इस सूक्तिके गागरमें अर्थका सागर समाया हुआ है।

हनुमान्जी दास्य भक्तिके परम पिपासु हैं। स्वधर्माचरण और प्रभुके प्रति आत्म-समर्पण ही उनके जीवनका साध्य है। उनकी भक्ति भुक्ति और मुक्तिसे परे स्वान्त सुखाय है। उनके भीतर-बाहर सर्वत्र आराध्य-ही-आराध्य हैं। उनका रोम-रोम रामके अनुरागके रागारुणसे रञ्जित है। आत्म-विस्मरण ही उनके समर्पणकी चरम उपलब्धि है।

हनुमान्जीको अपने इष्टदेवसे चाहिये केवल निर्भरा भक्ति। निर्भरा भक्तिका उद्देश्य है—एकनिष्ठ भगवत्प्राप्ति। वे अपने आराध्यके विनीत दास हैं और आराध्य श्रीराम उनके सर्वसमर्थ स्वामी हैं। सर्वसमर्थ स्वामी उनके साध्य भी हैं और साधनाके लिये साधन भी। साधन इसलिये क्योंकि वे निःसाधन हैं और साध्य इसलिये क्योंकि स्वामीके अतिरिक्त अन्यत्र उनकी अनुरक्ति नहीं। शरणागतिका यह स्वरूप ही उनका सर्वस्व है—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥

देहदृष्ट्या तु दासोऽहं जीवदृष्ट्या त्वदंशकः। वस्तुतस्तु त्वमेवाहमिति मे निश्चला मतिः॥ (अध्यात्मरामायण)

तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनदन। जानहिं भगत भगत उर चदन॥

(रा०च०मा० २।१२७।३-४)

दासकी अनन्य भक्तिसे अभिभूत एक बार प्रभु यह कहनेसे अपनेको रोक न सके कि मैं तुम्हे न स्वर्गका सुख दे सकता हूँ और न मुक्तिका ही सुख। मैं तुम्हे कुछ भी दे सकनमे असमर्थ हूँ। मैं तो तुमसे स्वय प्रेमरस ग्रहण करता हूँ। मैं तुम्हारे अनिर्वचनीय प्रेम-रसका आस्वाद ग्रहण करनेके लिये ही तो बार-बार वसुन्धरापर अवतार लेता हूँ।

अयोध्याके राजसिहासनपर आरूढ होनेके पश्चात् श्रीरामके हृदयमे एक दिन असह्य हूक उठी कि अयोध्याका राजसिहासन तो मैंने ले लिया, किष्किन्धाका राज्य सुग्रीवको दे दिया और लङ्का-जैसी स्वर्णनगरीका अधिपति विभीषणको बना दिया किंतु अत्यन्त परम प्रिय दास जिसकी निष्कामसेवासे मैं कभी भी उऋण नहीं हो सकता, उसे देनेके लिये अब मेरे पास कुछ भी शेष नहीं रहा। प्रभुके हृदयमे उठती तीव्र कसकसे द्रवीभूत पवनसुत फूट-फूटकर रो पडे। उन्हाने कहा कि आपके कमलवत् चरणसे बढकर मेरे लिये सम्पूर्ण सृष्टिम कुछ भी नहीं। आपकी चरण-रज-सवा मेरे लिये पदसे भी श्रेष्ठ परम पद है। आपके इस परम पदको पाकर मैं कृतार्थ हूँ।

ईश्वरीय प्रयोजनकी सिद्धिके लिये जीवनम कैसी आचार-सहिताका वरण किया जाय इसके सर्वोत्कृष्ट प्रतिमान हनुमान्‌जी ही हैं। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके निकटतम आत्मीय जनोंमे वे भी हैं। राम-पञ्चायतन सीतासहित चार बन्धुओका पुञ्ज है, किंतु स्थापनाओंमे हनुमान्‌जीके भी होनेसे सख्या छ हो जाती है। राम-पञ्चायतनके अन्तर्गत उनकी यह स्थापना सर्वोत्तम उपलब्धि है। इसके अतिरिक्त राम-पञ्चायतनकी एक विशिष्टता और भी है जहाँ श्रीराम-सीता यथास्थान राजसिहासनारूढ हैं और तीनो बन्धु भव्य वस्त्राभूषणोसे अलकृत यथाचित स्थानोंमे सुशोभित हैं, वहाँ सबके बीच मात्र एक कौपीन धारण किये राम-सीताके पदाम्बुजोमे भक्तिभाव-सम्पृक्त समर्पित मुद्रामे नतमस्तक हनुमान्‌जी भी विराजमान हैं, यह दास्य भावकी भक्तिका मूर्तिमान् बिम्ब है। इस बिम्बसे उन्हे वह श्रेय मिला, जिसे तुलसीने *'राम ते अधिक राम कर दासा'* की अपनी अनूठी उक्तिमे प्रकट किया है।

सकटमोचक हनुमान्‌जीकी दूसरी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है—श्रीरामावतारका सूत्र-सचालक होना। इस स्थितिके प्रकटीकरणकी पुष्टि उस चित्रम बडी सजीव प्रतिबिम्बित है जिसमे वे अपने सुदृढ स्कन्धापर श्रीराम-लक्ष्मणको बाल-रूपम धारण किये हुए हें। इसका अर्थगाम्भीर्य यह है कि वे लोकसेवाके उन उदात्त मूल्योंके निर्वहनके प्रति निष्ठापूर्वक प्रतिबद्ध हैं जो अवतार लेकर श्रीराम-लक्ष्मणद्वारा निवहन किये गये। अनन्य भक्तमे लोकसेवाका उन्मेष भी होता है।

इस निष्ठाका सुफल भी भारतीय जनमानसकी ओरसे उन्हे कृतज्ञताके रूपम मिला। अखिल देशव्यापी स्तरपर आराधनाके लिये राम-मन्दिरोसे भी कहीं अधिक हनुमान्-मन्दिर प्रतिष्ठापित हैं। इसका अभिप्राय श्रीरामके प्रति पूज्यभावकी लेशमात्र भी कमी नहीं, अपितु रामके दासके प्रति भी जनमानसमे कृतज्ञताके उमड रहे स्रोतका प्रकटीकरण है। रामभक्ति तो भारतीय जनमानसका साध्य है ही, परतु उस उच्चतम शिखरतक पहुँचानेका सोपान तो हनुमान्‌जीकी आचरणमूलक प्रेरणा ही है। गोस्वामी तुलसीदासजी भी तो गुरु हनुमान्‌जीकी अगुलियाँ पकडकर श्रीरामके चरणारविन्दोतक पहुँचे थे।

हनुमान्‌जीके रोम-रोममे श्रीराम रमण करते हैं। उनकी विमलवाणी 'राम-राम'के महोच्चारसे अविराम गूँजती रहती है। *'राम काजु कीन्हे बिनु मोहि कहाँ बिश्राम'* ही उनके जीवनका मूल मन्त्र है। इस पुनीत अनुष्ठानके प्रति वे अपनी समग्र चेतना और तत्परता नियोजित करते हैं। उनके हृदयमे व्यक्तिगत आकाङ्क्षाओका अङ्कुरतक प्रस्फुटित नहीं होता। उन्होने अपनी सभी इच्छाएँ और स्पृहाएँ प्रभु-भक्तिके पुनीत पवाहम विसर्जित कर दी थीं। इस वस्तुस्थितिका अवबोध उन्होंने एक बार सीता माताको अपना हृदय चीरकर कराया भी था। उनका निर्मल हृदय श्रीरामका अभिराम धाम हे—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

(रा०च०मा० २।१३१)

प्रभुका अवतार अधर्मके नियमन और धर्मके सवर्द्धनका हेतु है। इससे सृष्टिमे सतुलन स्थापित होता है। अवतारी महापुरुषोके ऐसे महान् सत्कार्योंमे उनके निकटतम कारक पुरुष भी उच्चस्तरीय सहयोगी बनकर अवतार लेते हैं। रामकी छत्रच्छायामे हनुमान्‌जी ज्ञान-भक्ति-सेवाके साकार रूप बनकर अवतीर्ण हुए। पवन-पुत्र स्वय पवनरूप हैं। सृष्टिकी सर्वोपरि अपरिहार्य, सर्वोत्कृष्ट और सर्वसुलभ वस्तु पवन ही हैं जो सबको सब समय सहज ही सेवारूप-

अविराम प्राप्त हैं।

लङ्का-अभियानमे आद्यन्त हनुमान्‌जीकी सूझ-बूझकी विविधताएँ द्रष्टव्य हैं।

शक्तिशाली रावणकी सुसज्जित सेनासे युद्ध किस प्रणालीसे किया जाय, इसका प्रशिक्षण हनुमान्‌जीने स्वयं अपने दलको दिया। साधनोंके अभावके बावजूद सुलभ उपकरणोंका युद्धमें यथोचित उपयोग करके विजयश्री प्राप्त की जा सकती है, यह उन्होंने प्रत्यक्ष कर दिखाया। रावणकी अशोक-वाटिकासे ही एक वृक्ष उखाड़कर उसीके वृक्षसे उसीके बेटे अक्षकुमारको उसीकी वाटिकामें मारकर उन्होंने यमपुरी पहुँचा दिया। जिस कौशलसे रामकार्यके लिये लङ्कामें प्रविष्ट होकर रावणके ही तेल-तूल-आगसे उसकी स्वर्णनगरीको आगकी प्रचण्ड लपटोंमें झोंककर उन्होंने लङ्का-दहन किया, ऐसा उदाहरण अन्यत्र नहीं।

सशंकित सुग्रीवद्वारा *'पुरुष जुगल'*की वास्तविकताकी खोज-बीनके लिये हनुमान्‌जीको भेजनेपर विदित हुआ कि *'अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार'*। इस भेंटसे दास हनुमान् स्वयं तो प्रभुसे जुड़ गये, किंतु अपनी तरह ही समस्त जीवोंको भी प्रभुके चरणोंतक पहुँचाये बिना उन्हें शान्ति नहीं। जीव स्वयं निर्बल है। उसमें स्वयं उठकर साधनाके द्वारसे प्रभुके द्वारतक पहुँचनेकी शक्ति नहीं है। अतः प्रभुको स्वयं करुणासे द्रवीभूत होकर जीवको शरण देनेके लिये ऊपरसे नीचे उतरकर असीमसे ससीम बनना पड़ता है। यही अवतारवाद है।

प्रभु निष्काम हैं, किंतु असीम शक्तिसम्पन्न हैं। जीव सकाम, किंतु शक्तिहीन है। हनुमान्‌जी जीवकी इच्छा और प्रभुकी शक्तिका समन्वय कराते हैं। प्रभु जीवको बुद्धि देते हैं संसारको समझनेके लिये और हनुमान् उसे विश्वास देते हैं प्रभुसे जुड़नेके लिये, किंतु जीव इस क्रमको ही उलट देता है। वह संसारपर विश्वास करता है और ईश्वरको बुद्धिसे समझना चाहता है। परिणाम यह होता है कि जीव जन्म-जन्मान्तरतक कोल्हूके बैलकी तरह जहाँ है वहीं रह जाता है। अतः हनुमान्‌जी जीवमें प्रभु-विश्वास उत्पन्नकर उसीसे जुड़नेकी सत्प्रेरणा निरन्तर देते रहते हैं।

ऐसे महत्कार्यका शुभारम्भ वह अपने संरक्षक सुग्रीवसे प्रारम्भ करते हैं। हनुमान्‌जीके माध्यमसे श्रीराम-सुग्रीव-मिलन ब्रह्म और जीवका मिलन है। दोनोंके बीच दास्यभक्तिसे भी सरल सख्य-भक्तिकी स्थापना होती है। प्रगाढ़ मैत्रीधर्मका पालन करते हुए जहाँ श्रीराम बालिका संहार करके पत्नीसहित किष्किन्धाका राज्य सुग्रीवको तत्काल दिला देते हैं, वहाँ सुग्रीव विषय-भोगमें संलिप्त होकर सीताकी खोजमें उतनी ही देर लगाता है। सुग्रीव (जीव) वैभव पाकर प्रभुको और उनके कार्यको भूल जाता है। वह श्रीरामकी करुणा और हनुमान्‌के विश्वासका दुरुपयोग करता है।

धैर्यकी भी एक सीमा होती है। सीताकी खोजमें अप्रत्याशित विलम्ब होते देख श्रीरामको अन्ततोगत्वा लक्ष्मणको संकेत देना ही पड़ा कि *'भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव'* (रा०च०मा० ४।१८)। उधर हनुमान्‌जी भी सीताकी खोजके प्रति सुग्रीवकी अन्यमनस्कता देखकर—

इहाँ पवनसुत हृदयँ बिचारा। राम काजु सुग्रीवँ बिसारा॥
निकट जाइ चरनन्हि सिरु नावा। चारिहु बिधि तेहि कहि समुझावा॥
(रा०च०मा० ४।१९।१-२)

हनुमान्‌जीका सत्परामर्श पाकर—

सुनि सुग्रीवँ परम भय माना। बिषयँ मोर हरि लीन्हेउ ग्याना॥
अब मारुतसुत दूत समूहा। पठवहु जहँ तहँ बानर जूहा॥
(रा०च०मा० ४।१९।३-४)

एक अवसर वह भी था जब हनुमान्‌जीके सत्प्रयाससे श्रीरामने सुग्रीवको भयमुक्त करनेका वचन दिया था—

सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहिं बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान॥
(रा०च०मा० ४।६)

और आज इस अवसरपर भय दिखाया, जिससे सुग्रीव काँप उठा। जटिल-से-जटिल समस्या सुलझानेमें हनुमान्‌जी अत्यन्त निपुण हैं। एक ओर सुग्रीवको सचेत कर दिया तो दूसरी ओर क्रुद्ध लक्ष्मण जो सुग्रीवको डराने आ रहे थे उनका स्वागत करते हुए *'करि बिनती मंदिर लै आए। चरन पखारि पलँग बैठाए॥'* (रा०च०मा० ४।२०।५)। इधर क्रुद्ध लक्ष्मण भूल ही गये कि अग्रजद्वारा किस प्रयोजनके निमित्त यहाँ भेजा गया हूँ और उधर अन्यमनस्क सुग्रीवको भी कर्तव्य-बोध हो गया। हनुमान्‌जीकी प्रत्युत्पन्नमतिसे प्रतिकूल परिस्थिति अनुकूल हो गयी।

हनुमान्‌जीका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है सीता माताकी खोज। यह कार्य उनके बिना पूर्ण होना कठिन था। पराम्बा सीता ज्ञानियोंकी शान्ति, भक्तोंकी भक्ति और कर्मयोगियोंकी शक्ति हैं। उनकी खोज वस्तुतः शान्ति, भक्ति और शक्तिकी खोज है। सीताकी खोजके अभियानमें सर्वप्रथम सुरसा

उनसे टकराती है और अहकारकी लडाई लडती है। किंतु हनुमान्‌जी तो सीताकी खोजम ही दत्तचित्त थे। उन्होने नम्रतापूर्वक सुरसासे कहा—

राम काजु करि फिरि मैं आवौं। सीता कइ सुधि प्रभुहि सुनावौं॥
तब तव बदन पैठिहउँ आई। सत्य कहउँ मोहि जान दे माई॥
(रा०च०मा० ५।२।४-५)

हे माता। रामकार्यमे शरीरका उपयोग हो जाने दो, फिर तुम मुझे अपने मुखका ग्रास बना लेना। मैं तुमसे सत्य कहता हूँ, किंतु यह विवेकपूर्ण प्रस्ताव अस्वीकृत करके वह अपने अहकारमे शनै-शनै वृद्धि करने लगी—

सत जोजन तेहि आनन कीन्हा। अति लघु रूप पवनसुत लीन्हा॥
बदन पइठि पुनि बाहेर आवा। मागा बिदा ताहि सिरु नावा॥
(रा०च०मा० ५।२।१०-११)

वह सुरसासे अहकारकी लडाई नहीं लडते। अहकारसे अहकारकी टकराहट श्रेयस्कर भी नहीं। वह उनका अत्यन्त लघुरूप खोजती रही कि आखिर यह मर्कट गया तो कहाँ गया? नम्रताने अहकारको पराभूत कर दिया। वह एकदम शून्य हो गये। ऐसी अभेद दृष्टि विरलोमे होती है।

इसी अनुक्रमम उनकी भेट *'लकिनी निसिचरी'* से भी हुई जिसने धमकाया—*'जानेहि नहीं मरमु सठ मोरा। मोर अहार जहाँ लगि चोरा॥'* (रा०च०मा० ५।४।३)। हनुमान्‌जीने कहा कि जब सारे चोर तेरे आहार हैं तो चोराका सरताज तो तेरा स्वामी लङ्कामे ही है, जिसकी तू सेविका है। सर्वप्रथम तो तू उसे ही अपना आहार बना—इतना कहकर एक ऐसा मुष्टिका-प्रहार किया कि *'रुधिर बमत धरनीं ढनमनी'*। मुष्टिका-प्रहारने सत्सगका कार्य किया। उसे सीख मिली कि ऐसा सुख जिससे प्रभु विलग हो जाते हो उससे तो अधिक स्वागतयोग्य वह दु ख ही है, जो हमे प्रभुसे जोडता है। हनुमान्‌जी एक क्षण भी प्रभुसे विलग नहीं रह सकते। वह उनसे सतत जुडे हैं और समस्त जीवोको भी प्रभुसे जोडनेका पुनीत कार्य अहर्निश करते रहते हैं।

लङ्कामे विभीषण हनुमान्‌जीसे अपनी मनोव्यथा करुण शब्दामे व्यक्त करते हैं—

सुनहु पवनसुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महुँ जीभ बिचारी॥
तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा॥
तामस तनु कछु साधन नाहीं। प्रीति न पद सरोज मन माहीं॥
अब मोहि भा भरोस हनुमता। बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता॥
(रा०च०मा० ५।७।१—४)

प्रत्युत्तरमे हनुमान्‌जीके तृप्तिदायक वचन सुनकर उन्हे परम शान्ति प्राप्त होती है—

सुनहु बिभीषन प्रभु कै रीती। करहिं सदा सेवक पर प्रीती॥
कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चचल सबहीं बिधि हीना॥
(रा०च०मा० ५।७।६-७)

अस मैं अधम सखा सुनु मोहू पर रघुबीर।
कीन्ही कृपा सुमिरि गुन भरे बिलोचन नीर॥
जानतहूँ अस स्वामि बिसारी। फिरहिं ते काहे न होहिं दुखारी॥
(रा०च०मा० ५।७ ५।८।१)

तत्पश्चात् विभीषणसे सीता माताका सम्पूर्ण वृत्तान्त जानकर वे अशोकवाटिकाके लिये प्रस्थान करते हैं, जहाँ अपनी प्रथम लघु भेटमे ही सीता माताको तृप्ति और शान्ति प्रदान करते हैं। उसका बोध निम्न पक्तियामे है—

कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास।
जाना मन क्रम बचन यह कृपासिधु कर दास॥
(रा०च०मा० ५।१३)

तथा *'सुनतहिं सीता कर दुख भागा'*—*'तोहि देखि सीतलि भइ छाती'* आदि। सीता माताने पुलकित होकर उन्हे आशिष् भी प्रदान किया—

मन सतोष सुनत कपि बानी। भगति प्रताप तेज बल सानी॥
आसिष दीन्हि रामप्रिय जाना। होहु तात बल सील निधाना॥
अजर अमर गुननिधि सुत होहू। करहुँ बहुत रघुनायक छोहू॥
(रा०च०मा० ५।१७।१—३)

सीताजीकी खोज पूर्ण होनेपर दास हनुमान्‌के प्रति प्रभुके हृदयोद्गारकी अत्यन्त मनोरम झाँकी प्रस्तुत है—

सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥
पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता॥
सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमत।
चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवत॥
(रा०च०मा० ५।३२।७-८ दोहा ३२)

हनुमान्‌जी कहते हैं कि आत्मप्रशसा सुनकर अहकार उत्पन्न होता है। अहकारसे पतन होता है और जब प्रभुके मुखसे दासकी प्रशसा हो रही है तो मेरा गिरना अवश्यम्भावी है। अत मेरे गिरनेके लिये आपके चरणोसे बढकर अन्य कोई स्थान नहीं है। यहाँ गिरकर मैं धन्य हो जाऊँगा।

प्रभु जब पूछते हैं कि तुमने लङ्का-दहन कैसे किया? तो उत्तर देते हैं *'सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई॥'* (रा०च०मा० ५।३३।९)।

कर्ता तो आप ही हैं और आपने ही अपनी लीला दिखानेके लिये मुझे निमित्त बनाया है। मैं भी आपका, मेरे अदर विद्यमान पुरुषार्थ भी आपद्वारा प्रदत्त वरदान है। कर्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान-सम्बन्ध-अधिकरण और लङ्का-दहनकी अन्तिम निष्पत्ति (फल) सब कुछ आप ही हैं। आपके अतिरिक्त और कौन है? सब कुछ आपको सेवार्पित है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

(गीता ४।२४)

'कह हनुमत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥' ऐसा निवेदन करते हुए वे प्रभुसे अपना अभीष्ट प्राप्त कर लेते हैं—

नाथ भगति अति सुखदायनी। देहु कृपा करि अनपायनी।
सुनि प्रभु परम सरल कपि बानी। एवमस्तु तब कहेउ भवानी॥

(रा०च०मा० ५।३४।१-२)

सीताकी मनोव्यथा पूछनेपर वे बिना कुछ कहे ही सब कुछ व्यक्त कर देते हैं—*'सीता कै अति बिपति बिसाला। बिनहिं कहे भलि दीनदयाला॥'* (रा०च०मा० ५।३१।९) एक ओर अशोकवाटिकामे बडी सान्त्वना देकर सीताके अश्रु पोछकर आये हैं दूसरी ओर जहाँ प्रभुको आशुप्रेरित करनेकी बात थी वहाँ *'सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आए जल राजिव नयना॥'* जब जहाँ जैसी पृष्ठभूमि रचनेकी आवश्यकता वहाँ तदनुसार करनेमे परम पारगत।

इधर लक्ष्मणजीको शक्ति लगनेपर भगवान् राम विषादमे डूब गये यह विसूरते हुए कि *'मिलइ न जगत सहोदर भ्राता'* तथा *'नारि हेतु प्रिय भाइ गँवाई'* और अब मैं अयोध्याम किसीको भी अपना मुख दिखानेयोग्य नहीं रहा उधर दास हनुमान् लङ्कासे सुषेन वैद्यको *'आनेउ भवन समेत तुरंता'* और ओषध न पहचाननेपर समूचा पर्वत ही उठा लाये। उनके आते ही *'हरषि राम भेटेउ हनुमाना। अति कृतग्य प्रभु परम सुजाना॥'* (रा०च०मा० ६।६२।१) स्वामी श्रीरामपर जब भी कोई विपत्ति आती है दास जबतक उसका निवारण नहीं कर लेता, तबतक उसकी एक ही पुकार रहती है—*'राम काजु कीन्हे बिनु मोहि कहाँ बिश्राम'*।

हनुमान्जी स्वय तो श्रीरामके अनन्य दास हैं ही सभीम श्रीरामका दास होनेकी कल्पना करते हैं। एक बार प्रभु रामने सम्मुख आसीन वानरी सेनासे प्रश्न किया कि चन्द्रमामे कालापन क्या है? *'कहहु काह निज निज मति भाई'* सुग्रीवने कहा कि चन्द्रमाम पृथ्वीकी छाया पडनेसे कालापन है। किसीने अनुमान लगाया कि राहुने चन्द्रमाको मारा है, यह उस चोटकी कालिमा है। अन्य किसीने कल्पना की कि ब्रह्माजीने जब रतिमुखकी रचना की तो सार भाग निकाल लिया। अन्तमे हनुमान्जीके उत्तरसे सभी रीझ उठे और श्रीराम मुसकरा उठे—

कह हनुमत सुनहु प्रभु ससि तुम्हार प्रिय दास।
तव मूरति बिधु उर बसति सोइ स्यामता अभास॥

(रा०च०मा० ६।१२ (क))

भगवान् रामने अपनी प्रथम भेटमे हनुमान्जीसे कहा—*'सुनु कपि जियँ मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥'* (रा०च०मा० ४।३।७) स्वय लक्ष्मणजी इसकी पुष्टि करते हैं कि मैं माता सीताके साथ वनमे चौदह वर्ष रहकर भी उनका विश्वास-अर्जन न कर सका जबकि हनुमान्जीने अपनी प्रथम लघु भेटमे ही उनका विश्वास प्राप्त कर लिया *'कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास। जाना मन क्रम बचन यह कृपासिधु कर दास॥'* (रा०च०मा० ५।१३)। दूसरी बात यह है कि मेरी असावधानीसे ही उनका हरण हुआ, किंतु सीताकी खोजमे दिन-रात एक करके हनुमान्जीने दोनोको अन्तमे मिला दिया। शेषनागके रूपमे पृथ्वीका भार-निर्वहन तो मैं करता ही हूँ, किंतु उन्होने दूनेका प्रमाण तो तभी दे दिया जब *'लिए दुऔ जन पीठि चढाई'* (रा०च०मा० ४।४।५)।

एक बार श्रीराम-सीता-हनुमान् विपिनमे एक वृक्षकी घनी छाँहमे आसीनस्थ थे। उस वृक्षकी शाखाओसे लिपटी एक पल्लवित-पुष्पित लतासे वृक्षकी शोभामे वृद्धि हो रही थी। प्रभु रामने हनुमान्से कहा कि वृक्षकी श्रीवृद्धिका श्रेय लताको है। सीताने कहा कि लताका आश्रयदाता तो वृक्ष है। यदि लताको वृक्षका आश्रय न मिला होता तो लता पल्लवित-पुष्पित ही न हो पाती। ऐसा कहकर दोना हनुमान्जीकी ओर देखने लगे।

हनुमान्जीने कहा कि प्रभु और उनकी शक्ति *'कहिअत भिन्न न भिन्न'* हैं। भक्तको तो दोनाकी स्निग्ध छायाका आश्रय चाहिये। भक्ताको एक बार प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका है कि ज्ञान (राम) और भक्ति (सीता)-के वियुक्त हो जानसे सृष्टिका सतुलन ही विस्थापित हो जाता है। उस अवधिमे प्रवृत्तिपरक वैराग्य (लक्ष्मण) और निवृत्तिपरक वैराग्य (हनुमान्)-को कैसी विषम स्थिति झेलनी पडी थी। विलगावरूप माराच

असत्मे सत्की भ्रान्ति उत्पन्न करता है। इससे बचनेसे शान्ति (सीता) सुरक्षित रहती है। भक्ति (सीता) निरापद तभी रहती है, जब वैराग्य (लक्ष्मण-हनुमान्)-को श्रीराम-सीता दोनाकी स्निग्ध छाया प्राप्त होती है।

जब मैं अपने गुरुप्रवर हनुमान्‌जीकी याद करता हूँ तो मुझे तो राम स्वत याद आ जाते हैं और जब मुझे मर्यादा-पुरुषोत्तम रामकी याद आती है तो रामके पादारविन्दोम नतमस्तक हनुमान् स्वत याद आ जाते हैं। मुझे यह कहना परम प्रिय लगता है कि—

जैसे बाण को चाहिए धनुष और धनुष को बाण।
ऐसे हनुमान को चाहिए राम और राम को हनुमान॥

(श्रीगिरीशचन्द्रजा श्रीवास्तव)

प्रेमी उद्धवका सख्यभाव

एता पर तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गाविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावा ।
वाञ्छन्ति यद् भवभिया मुनयो वय च
कि ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य॥*

(श्रीमद्भा० १०।४७।५८)

उद्धवजी भगवान्‌के सखा-भक्त थे। अक्रूरके साथ जब भगवान् व्रजसे मथुरा आ गये और कसको मारकर सब यादवाको सुखी बना दिया, तब भगवान्‌ने एकान्तमे

अपने प्रिय सखा उद्धवको बुलाकर कहा—'उद्धव! व्रजकी गोपाङ्गनाएँ मेरे वियोगमे व्याकुल होगी, उन्हे जाकर तुम समझा आओ। उन्ह मेरा सदेश सुना आओ कि मैं तुमसे अलग नहीं, सदा तुम्हारे ही साथ हूँ।' उद्धवजी अपने स्वामीकी आज्ञा पाकर नन्द-व्रजम गये। वहाँ चारो ओरसे उन्हे व्रजवासियाने घेर लिया और लग भाँति-भाँतिके प्रश्न करने, कोई आँसू बहाने लगा, कोई मुरली बजाते-बजाते राने लगा, कोई भगवान्‌का कुशल-समाचार पूछने लगा। उद्धवजीने सबको यथायोग्य उत्तर दिया और सबको धैर्य बँधाया।

एकान्तम जाकर उन्हाने गोपियोको अपना ज्ञान-सदेश सुनाया। उन्होने कहा—'भगवान् वासुदेव किसी एक जगह नहीं हैं, वे तो सर्वत्र व्यापक हैं। उनमे भगवत्-बुद्धि करो, सर्वत्र उन्हे देखो।' गोपियाने रोते-रोत कहा—'उद्धवजी! तुम ठीक कहते हो, किंतु हम गँवारी वनचरी इस गूढ ज्ञानको भला कैसे समझ सकती हैं। हम तो उन श्यामसुन्दरकी भोली-भाली सूरतपर ही अनुरक्त हैं। उनका वह हास्ययुक्त मुखारविन्द वह काली-काली घुँघराली अलकावली वह वशीकी मधुर ध्वनि हमे हठात् अपनी ओर खींच रही है। वृन्दावनकी समस्त भूमिपर उनकी अनन्त स्मृतियाँ अङ्कित हैं। तिलभर भी जमीन खाली नहीं, जहाँ उनकी कोई मधुर स्मृति न हो। हम इन यमुनापुलिन, वन पर्वत वृक्ष और लताओमे उन श्यामसुन्दरको देखती हैं। इन्हे देखकर उनकी स्मृति मूर्तिमान् होकर हमारे हृदयपटलपर नाचने लगती है।

उनके ऐसे अलोकिक प्रेमको देखकर उद्धवजी अपना समस्त ज्ञान भूल गये और अत्यन्त करुणाके स्वरमे कहने लगे—

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणा पादरेणुमभीक्ष्णश ।
यासा हरिकथोद्गीत पुनाति भुवनत्रयम्॥

(श्रीमद्भा० १०।४७।६३)

* उद्धवजी कहते हैं—इस पृथ्वीपर जन्म लेना तो इन गोपाङ्गनाओका ही सार्थक हुआ क्योकि इन्हे विश्वात्मा भगवान् नन्दनन्दनके प्रति प्रगाढ प्रेम है जिसे पानेके लिये मुनिगण तथा हम भक्तजन सदा इच्छुक बने रहते हैं। जिनको भगवान्‌की कथाम अनुराग हो गया है उन्हे कुलीनताकी द्विजातिसमुचित सस्कारकी और बडे-बडे यज्ञ-यागोम दीक्षित होनेकी क्या आवश्यकता है?

'मैं इन व्रजाङ्गनाओंकी चरणधूलिकी भक्तिभावसे वन्दना करता हूँ, जिनके द्वारा गायी हुई हरि-कथा तीनों भुवनोंको पावन करनेवाली है।' व्रजमें जाकर उद्धवजी ऐसे प्रभावित हुए कि वे सब ज्ञान-गाथा भूल गये।

भगवान्‌के द्वारका पधारनेपर ये भी उनके साथ गये। यदुवंशियोंके मन्त्रिमण्डलमें इनका भी एक प्रधान स्थान था। इनकी भगवान्‌में अनन्य भक्ति थी। जब इन्होंने समझा कि भगवान् अब इस लोककी लीलाका संवरण करना चाहते हैं, तब ये एकान्तमें जाकर बड़ी दीनताके साथ कहने लगे—

नाहं तवाङ्घ्रिकमलं क्षणार्धमपि केशव।
त्यक्तुं समुत्सहे नाथ स्वधाम नय मामपि॥
(श्रीमद्भा० ११।६।४३)

'हे भगवन्! हे नाथ! मैं आपके चरणोंसे आधे क्षणके लिये भी अलग होना नहीं चाहता। मुझे भी आप अपने साथ ले चलिये।'

भगवान्‌ने कहा—'उद्धव! मैं इस लोकसे इस शरीरद्वारा अन्तर्हित होना चाहता हूँ। मेरे अन्तर्हित होते ही यहाँ घोर कलियुग आ जायगा। इसलिये तुम बदरिकाश्रमको चले जाओ और वहाँ तपस्या करो। तुम्हें कलियुगका धर्म नहीं व्यापेगा।'

भगवान्‌की ऐसी ही मर्जी है, यह समझकर उद्धवजी चले तो गये, किंतु उनका मन भगवान्‌की लीलाओंमें ही लगा रहा। जब सब यादव प्रभासक्षेत्रको चले गये तो भगवान्‌की अन्तिम लीलाको देखने विदुरजी भी प्रभासमें पहुँचे। तबतक समस्त यदुवंशियोंका संहार हो चुका था। विदुरजी ढूँढ़ते-ढूँढ़ते भगवान्‌के पास पहुँचे। भगवान् सरस्वती नदीके तटपर एक अश्वत्थवृक्षके नीचे विराजमान थे, विदुरजीने रोते-रोते उन्हें प्रणाम किया। दैवयोगसे पराशरके शिष्य मैत्रेयजी भी वहाँ आ गये। दोनोंको भगवान्‌ने इस समस्त जगत्‌की सृष्टि, स्थिति, प्रलयका ज्ञान कराया और इस अन्तिम ज्ञानको विदुरजीके प्रति उपदेश करनेके लिये भी भगवान् आज्ञा कर गये।

भगवान्‌की आज्ञा पाकर उद्धवजी बदरिकाश्रमको चले। भगवान् अपने परमधामको पधारे। उद्धवजीके हृदयमें भगवान्‌का वियोग भर रहा था अतः उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। वे खूब रोते थे। किंतु रोना भी किसी हृदयके सामने हो तो हृदय हलका होता है। दैवयोगसे उद्धवजीको विदुरजी मिल गये। विदुरजीने पूछा—'यदुवंशके सब लोग कुशलपूर्वक तो हैं?' यदुकुलका नाम सुनते ही उद्धवजी ढाह बाँधकर रो पड़े और रोते-रोते बोले—

कृष्णद्युमणिनिम्लोचे गीर्णेष्वजगरेण ह।
किं नु नः कुशलं ब्रूयां गतश्रीषु गृहेष्वहम्॥
दुर्भगो बत लोकोऽयं यदवो नितरामपि।
ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोडुपम्॥
(श्रीमद्भा० ३।२।७-८)

'कृष्णरूपी सूर्यके अस्त होनेपर, कालरूपी सर्पके ग्रसे जानेपर हे विदुरजी! हमारे कुलकी अब कुशल क्या

पूछते हो? यह पृथ्वी हतभागिनी है और उनमें भी ये यदुवंशी सबसे अधिक भाग्यहीन हैं, जो दिन-रात पासमें रहनेपर भी भगवान्‌को नहीं पहचान सके, जैसे समुद्रमें रहनेवाले जीव चन्द्रमाको नहीं पहचान सकते।'

इसके बाद उद्धवजीने यदुवंशके क्षयकी सब बातें सुनायीं।

उद्धवजी परम भागवत थे, ये भगवान्‌के अभिन्नविग्रह थे। इनके सम्बन्धमें भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है—

अस्माल्लोकादुपरते मयि ज्ञानं मदाश्रयम्।
अर्हत्युद्धव एवाद्धा सम्प्रत्यात्मवतां वरः॥
नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यूनो यद्गुणैर्नार्दितः प्रभुः।
अतो मद्वयुनं लोकं ग्राहयन्निह तिष्ठतु॥
(श्रीमद्भा० ३।४।३०-३१)

'मेरे इस लोकसे चले जानेके पश्चात् उद्धव मेरे ज्ञानकी रक्षा करेंगे। उद्धव मुझसे गुणोंमें तनिक भी कम नहीं हैं, अतः वे ही सबको इसका उपदेश करेंगे।'

जिनके लिये भगवान् ऐसा कहते हैं उनके भगवत्प्रेमके सम्बन्धमें क्या कहा जा सकता है।

अक्रूरजीका भगवत्प्रेम

दहभृतामियानर्थो हित्वा दम्भ भिय शुचम्।
सन्देशाद् यो हरेर्लिङ्गदर्शनश्रवणादिभि ॥*

(श्रीमद्भा० १०। ३८। २७)

भक्ति-शास्त्रमें भक्ति श्रवण, कीर्तन, स्मरण पादसेवन, अर्चन वन्दन दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—इस तरह नौ प्रकारकी वतायी गयी है। इसके उदाहरणमे एक-एक भक्तका नाम लेते हैं—जैसे श्रवणमे परीक्षित्, कीर्तनमे वेदव्यास आदि-आदि। इस तरह वन्दन-भक्ताम अक्रूरजीको वताया गया है। ये भगवान्के वन्दन-प्रधान भक्त थे। इनका जन्म यदुवशम ही हुआ था। ये वसुदेवजीके कुटुम्वके नातेसे भाई लगते थे। इनके पिताका नाम श्वफल्क था। ये कसके दरवारके एक दरबारी थे। कसके अत्याचारासे पीडित होकर वहुत-से यदुवशी इधर-उधर भाग गये थे, कितु ये जिस-किसी प्रकार कसके दरवारमे ही पडे हुए थे।

जव अनेक उपाय करके भी कस भगवान्को नहीं मरवा सका तव उसने एक चाल चली। उसने एक धनुपयज्ञ रचा और उसमे मल्लाके द्वारा मरवानेके लिये गोकुलसे गोप-ग्वालोंके सहित श्रीकृष्ण-बलरामको बुलवाया। उन्हे आदरपूर्वक लानेके लिये अक्रूरजीको भेजा गया। कसकी आज्ञाको पाकर अक्रूरजीकी प्रसन्नताका ठिकाना नहीं रहा। वे भगवान्के दर्शनाके लिये बडे उत्कण्ठित थे, किसी-न-किसी प्रकार वे भगवान्के दर्शन करना चाहते थे। भगवान्ने स्वत ही कृपा करके ऐसा सयोग लगा दिया। जीव अपने पुरुपार्थसे प्रभुका दर्शन करना चाहे तो यह उसकी अनधिकार चेष्टा है। कोटि जन्ममे भी उतनी पवित्रता वैसी योग्यता जीव नहीं प्राप्त कर सकता कि जिससे वह परात्पर प्रभुके सामने पुरुपार्थके द्वारा पहुँच सके। जब वे ही अहैतुकी कृपा करके दयावश जीवको अपने समीप बुलाना चाहे, तभी वह आ सकता है। प्रभुने कृपा करके घर वैठे ही अक्रूरजीको बुला लिया।

प्रात काल मथुरासे रथ लेकर वे नन्दगाँव भगवान्को लेने चले। रास्तेम अनेक प्रकारके मनसूबे बाँधते जाते थे। सोचते थे, उन पीताम्बरधारी बनवारीको मैं इन्हीं चक्षुओसे देखूँगा उनके सुन्दर मुखारविन्दको, घुँघराली काली-काली लटाओसे युक्त सुकपोलोको निहारूँगा। वे जब मुझे अपने सुकोमल करकमलासे स्पर्श करगे, उस समय मरे समस्त शरीरमे विजली-सी दौड जायगी। वे मुझसे हँस-हँसकर बात करेगे। मुझे पास बिठायेगे। बार-बार प्रेमपूर्वक 'चाचा', 'चाचा' कहेगे। मेरे लिये वह कितने सुखकी बात होगी। इस प्रकार भाँति-भाँतिकी कल्पनाएँ करते हुए वे वृन्दावनके समीप पहुँचे। वहाँ उन्होने वज्र, अङ्कुश, यव ध्वजा आदि चिह्नासे विभूषित श्यामसुन्दरके चरणचिह्नाको देखा। बस,
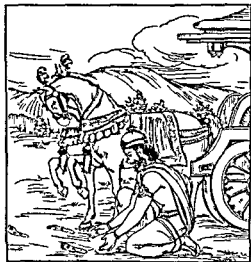
फिर क्या था। वे उन घनश्यामके चरणोको देखते ही रथसे कूद पडे और उनकी वन्दना करके उस धूलिम लोटने लगे। उन्ह उस धूलिमे लोटनेमे कितना सुख मिल रहा था, यह कहनेकी बात नहीं है। जैसे-तैसे व्रजमे पहुँचे। सर्वप्रथम बलदेवजीके साथ श्यामसुन्दर ही उन्हे मिले। उन्हे छातीसे लगाया, घर ले गये, कुशल पूछी, आतिथ्य किया और सब हाल जाना।

दूसरे दिन रथपर चढकर अक्रूरके साथ श्यामसुन्दर और बलराम मथुरा चले। गोपियाने उनका रथ घेर लिया, बडी कठिनतासे आगे बढ सके। थोडी दूर चलकर यमुना-किनारे अक्रूरजी नित्य-कर्म करने ठहरे। स्नान करनेके लिये ज्या ही उन्होने डुबकी लगायी कि भीतर चतुर्भुज श्रीश्यामसुन्दर दिखायी दिये। घबडाकर ऊपर आये तो दोना भाइयाको रथपर बैठे देखा। फिर डुबकी लगायी तो पुन

---

* प्राणियोके देह-धारण करनेकी सफलता इसीमें है कि निर्दम्भ निर्भय और शोकरहित होकर अक्रूरजीके समान भगवत्-चिह्नोके दर्शन तथा उनके गुणोंके श्रवणादिके द्वारा अहैतुकी भक्ति करे।

वही मूर्ति जलके भीतर दिखायी दी। अक्रूरजीको ज्ञान हो गया कि जलमे, स्थलम, शून्यमे कोई भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ श्यामसुन्दर विराजमान न हा। भगवान् उन्हे देखकर हँस पड। वे भी प्रणाम करके रथपर बैठ गये। मथुरा पहुँचकर भगवान् रथसे उतर पडे और बोले—'हम अकेले ही पेदल जायँगे।' अक्रूरजीने बहुत प्रार्थना की कि आप रथपर पहले मरे घर पधारे, तब कहीं अन्यत्र जायँ। भगवान्ने कहा—'आपके घर तो तभी जाऊँगा जब कसका अन्त हो जायगा।' अक्रूरजी दु खी मनसे चले गये।

कसको मारकर भगवान् अक्रूरजीके घर गये। अब अक्रूरजीके आनन्दका क्या ठिकाना! जिनके दर्शनोके लिये योगीजन हजारो-लाखो वर्ष तपस्या करते हैं, वे स्वत ही बिना प्रयासके घरपर पधार गये। अक्रूरजीने उनकी विधिवत् पूजा की और कोई आज्ञा चाही। भगवान्ने अक्रूरजीको अपना अन्तरङ्ग सुहृद् समझकर आज्ञा दी कि 'हस्तिनापुरमे जाकर हमारी बूआके लडके पाण्डवोका समाचार ले आओ। हमने सुना है, धृतराष्ट्र उन्ह दु ख देता है।' भगवान्की आज्ञा पाकर अक्रूरजी हस्तिनापुर गये और धृतराष्ट्रको सब प्रकारसे समझाकर तथा पाण्डवाके समाचार लेकर लोट आये।

भगवान् जब मथुरापुरीको त्यागकर द्वारका पधारे, तब अक्रूरजी भी उनके साथ ही गये। ये भगवान्के प्रिय सखा और सच्चे भक्त थे। अन्तमे भगवान्के साथ-ही-साथ ये उनके धामको पधारे।

भक्त श्रीसुतीक्ष्णजीका प्रभु-प्रेम

अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया॥
तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया। भजै मोहि मन बच अरु काया॥
पुरुष नपुसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥
(रा०च०मा० ७।८७।७-८ (क) ७।८७)

'गुरुदेव!' सुतीक्ष्णजीने अपनी शिक्षा समाप्त होनेपर अपने गुरु श्रीअगस्त्यजीसे अत्यन्त विनयपूर्वक कहा—'आपके चरणाम रहकर मैंने विद्या प्राप्त की है। आप कृपापूर्वक कुछ गुरु-दक्षिणा बताइये। मैं आपके चरणोमे क्या उपस्थित करूँ?'

'मैं तुम्हारी श्रद्धासे प्रसन्न हूँ।' श्रीअगस्त्यजीने स्नेहपूर्वक उत्तर दिया—'तुम्ह गुरु-दक्षिणा देनेकी आवश्यकता नहीं, मैं तुम्हें स्नेहपूर्वक वैसे ही उऋण कर दे रहा हूँ।' 'नहीं गुरुदेव!' सुतीक्ष्णजी बोले—'आपने मुझे दुर्लभ विद्यादान दिया है। आप गुरु-दक्षिणाके लिये मुझे कुछ आज्ञा दीजिये।'

'तुम्हें गुरु-दक्षिणा देनेकी आवश्यकता नहीं' अगस्त्यजीने पुन उत्तर दिया—'मैं तुम्ह ऋणमुक्त कर दे रहा हूँ। तुम सुखपूर्वक चल जाओ।'

'परम पूज्य गुरुदेव!' सुतीक्ष्णजीने आग्रहपूर्वक पुन निवेदन किया—'आप कुछ-न-कुछ गुरु-दक्षिणामें अवश्य माँगिये। गुरु-दक्षिणा दिये बिना मुझे सताप नहीं होगा।'

'अत्यधिक हठ उचित नहीं।' अगस्त्यजीके मनमे कुछ रोष उत्पन्न हो गया। 'पर तुम नहीं मानते और मुझे गुरु-दक्षिणा देना ही चाहते हो तो जगद्वन्द्य परमप्रभु श्रीरामको लाकर मुझसे मिला दो।'

श्रीसुतीक्ष्णजीने गुरुदेवके चरणोमे सादर साष्टाङ्ग दण्डवत् किया और वहाँसे चलकर अरण्यमे एक कुटिया बना ली। श्रीसुतीक्ष्णजीकी कुटियाके समीप अन्य कितने ही ऋषि रहते थे। वह स्थान सुतीक्ष्ण-आश्रमके नामसे प्रख्यात था। उक्त आश्रम अत्यन्त मनोरम था। वहाँ प्रत्येक ऋतुके पुष्प और फल सुलभ थे। आश्रम प्रत्येक दृष्टिसे तपस्वियाके उपयुक्त एव सुखद था।

श्रीसुतीक्ष्णजीकी भगवान् श्रीराममे अद्भुत रति थी। वे मन वाणी एव कर्मसे श्रीराघवेन्द्रके भक्त थे। स्वप्नमे भी किसी अन्य देवताकी आशा नहीं रखते थे। वे निरन्तर श्रीरामके ध्यान एव उनके भजन-स्मरणमे ही लगे रहते थे। अत्यन्त सरल एव निश्छल प्रकृतिके श्रीसुतीक्ष्णजी प्राय श्रीरामके स्मरणम राते-रोते बेसुध हो जाते थे। प्रभु-प्रेमम पगे रहनेक कारण उन्हे फल एव जल ग्रहण करनेका ध्यानतक नहीं रहता था इस कारण उनका शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था। देहमें मासका नाम नहीं था। कवल अस्थिपञ्जर ही शेष रह गया था। श्रीसुतीक्ष्णमुनिम नवधा भक्तिके सभी आदर्श उपस्थित हो गये

थे। वे राम-मन्त्रके अनन्य उपासक थे।

'भगवती सीता एव अनुज लक्ष्मणसहित प्रभु श्रीराम इधर ही आ रहे हैं'—यह सवाद पाते ही सुतीक्ष्णजी उठकर खडे हो गये और मनमे अनेक मनोरथ करते हुए आतुरतासे दौड पडे। उस समय उनके मनकी बडी विचित्र स्थिति

थी। सुतीक्ष्णजीकी भक्ति, उनकी योग्यता उनकी नम्रता एव विनय दुर्लभ है। वे कहते हैं—

हे विधि दीनबधु रघुराया। मो से सठ पर करिहहिं दाया॥
मोरे जियँ भरोस दृढ नाहीं। भगति बिरति न ग्यान मन माहीं॥
नहिं सतसग जोग जप जागा। नहिं दृढ चरन कमल अनुरागा॥
एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

(रा० च० मा० ३।१०।४ ६—८)

श्रीसुतीक्ष्णजी प्रभुको प्राप्त करनेकी योग्यताका अपनेमे सर्वथा अभाव देखते हैं। उन्हे अपनेमे भक्ति ज्ञान, वैराग्य, जप, यज्ञ, सत्सङ्ग एव प्रभु-पाद-पद्मामे दृढ अनुराग—कुछ भी नहीं दीखता पर करुणामूर्ति प्रभुके स्वभावकी आशा तथा उसका विश्वास अवश्य है और ये ही भक्तिकी पराकाष्ठाके लक्षण हैं।

'आज ससार-सागरसे मुक्ति प्रदान करनेवाले प्रभुके मुख-कमलका दर्शन कर मेरे नेत्र सफल होगे, कृतार्थ हो जायँगे।'—अपने इसी भावसे भावित श्रीसुतीक्ष्णजी प्रेममे मग्न हो गये। उस समय उनकी दशा अत्यन्त विचित्र हो गयी थी। वे किस दिशामे, कहाँ, किसलिये जा रहे हैं—इसका उन्हे पता ही न था। उन्हे मार्ग नहीं सूझ रहा था। वे कभी जोरसे श्रीभगवान्‌के परम मङ्गलमय, परम मधुर नामका उच्चारण करने लगते तो कभी सर्वथा मौन हो जाते, जैसे उनकी वाणी ही नहीं है। प्रेमविह्वल श्रीसुतीक्ष्णजी कभी पीछे लौट जाते और कभी अपने आराध्य श्रीरामके गुण गा-गाकर नृत्य करने लगते। वे कभी गाते, कभी रोते और कभी अट्टहास करने लगते। श्रीरामके ध्यानमे तल्लीन होकर वे कभी नाचते तो कभी मौन खडे हो जाते।

दयासिन्धु, सर्वेश्वर, प्रेममूर्ति प्रभु श्रीराम वृक्षकी ओटसे श्रीसुतीक्ष्णजीकी यह प्रेमपूर्ण स्थिति देख रहे थे। उनकी यह अतिशय प्रीति देखकर प्रभु उनके हृदयमे प्रकट हो गये। महामुनिने अपने हृद्देशमे त्रैलोक्यवन्दित अपने जीवनधन श्रीरामके मधुर मनोहर स्वरूपका दर्शन किया तो
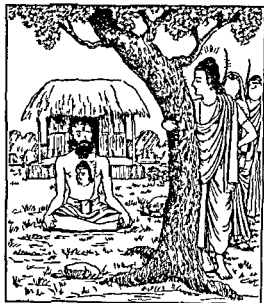
उनकी स्थिति अत्यन्त विचित्र हो गयी। उन्हे रोमाञ्च हो आया। वे मार्गमे ही अचल होकर बैठ गये—

मुनि मग माझ अचल होइ बैसा। पुलक सरीर पनस फल जैसा॥

(रा०च०मा० ३।१०।१५)

फिर तो प्रभु श्रीराम उनके समीप आ गये। प्रभु श्रीसुतीक्ष्णजीको अनेक प्रकारसे जगाने लगे, किंतु ध्यानजनित अनिर्वचनीय सुखकी समाधिके कारण वे नहीं जगे। सच बात तो यह है कि प्रभु श्रीराम वृक्षकी ओटसे श्रीसुतीक्ष्णजीके अतिशय प्रेमकी स्थिति देखकर तत्काल उनके समीप पहुँचकर उन्हे सुखी करना चाहते थे किंतु श्रीसुतीक्ष्णजीके समीप पहुँचनेमे कुछ देर हो जायगी, यह सोचकर अपने

विरदके रक्षार्थ त्वराके कारण प्रभु उनके हृदयमे प्रकट हो गये थे। फिर श्रीसुतीक्ष्णजीके हृदयकी वह अद्भुत प्रीति अक्षुण्ण बनी रहनेपर वहाँसे हट भी कैसे सकते थे? अतएव लीला-अवतारविग्रह राजकुमारके मधुर रूपको छिपाकर प्रभुने नित्य अवतारी विग्रह शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज रूपका उन्हे दर्शन कराया। फिर तो श्रीसुतीक्ष्णजी छटपटा

उठे। हृद्देशमे अपने जीवनाराध्य श्रीरामके स्थानपर श्रीविष्णुके* दर्शन कर वे मणिहीन फणिकी भाँति व्याकुल हो गये—

मुनि अकुलाइ उठा तब कैसे। बिकल हीन मनि फनि बर जैसे॥
(रा०च०मा० ३।१०।१९)

जब व्याकुल होकर श्रीसुतीक्ष्णजी जगे तो उनके सम्मुख सीता एव लक्ष्मणसहित उनके आराध्य त्रैलोक्यमोहन, धनुर्धर श्रीराम खडे थे। फिर तो—

परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी। प्रेम मगन मुनिबर बड़भागी॥
(रा०च०मा० ३।१०।२१)

और भक्तप्राणधन भगवान् श्रीरामने उन्हे उठाकर अपने हृदयसे लगा लिया। प्रभु श्रीरामसे मिलते हुए सुतीक्ष्णजीकी ऐसी शोभा हो रही थी, जैसे तमाल-तरुसे कनकवृक्ष मिल रहा हो और मुनि श्रीसुतीक्ष्णजीने खडे होकर नवनीरदवपु श्रीरामके मुखारविन्दको देखा तो वे चित्रलिखित-से खडे रह गये। फिर हृदयमे धैर्य धारणकर उन्होने बार-बार प्रभुके चरणोमे सिर रखा तथा अपने आश्रममे लाकर प्रभुकी श्रद्धा-भक्तिसे एव विधिपूर्वक पूजा की।
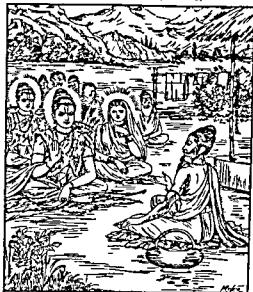
फिर अपनी दीनता एव अल्पज्ञता तथा प्रभुकी अपार महिमाका सकेत करते हुए श्रीसुतीक्ष्णजीने अत्यन्त विनय-पूर्ण शब्दोमे श्रीभगवान्‌की स्तुति की। स्तुति करते हुए श्रीसुतीक्ष्णजीने कहा—

जो कोसल पति राजिव नयना। करउ सो राम हृदय मम अयना॥
अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मै सेवक रघुपति पति मोरे॥
(रा०च०मा० ३।११।२०-२१)

अभी कुछ ही देर पूर्व ध्यानमग्न मुनि तो जगाये नहीं जग रहे थे और अब कितनी चतुराईसे वरकी याचना कर रहे हैं!

इत्येव स्तुवतस्तस्य राम सस्मितमब्रवीत्।
मुने जानामि ते चित्त निर्मल मदुपासनात्॥
अतोऽहमागतो द्रष्टु मदृते नान्यसाधनम्।
मन्मन्त्रोपासका लोके मामेव शरण गता ॥
निरपेक्षा नान्यगतास्तेषा दृश्योऽहमन्वहम्।
(अ०रा० ३।२।३५—३७)

'श्रीसुतीक्ष्णजीके इस प्रकार स्तुति करनेपर श्रीरामचन्द्रजीने उनसे मुसकराकर कहा—'मुने! मैं यह जानता हूँ कि तुम्हारा चित्त मेरी उपासनासे निर्मल हो गया है और तुम्हारा मेरे अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है, इसीलिये मैं तुम्हे देखने

* श्रीसुतीक्ष्णजी-जैसे सर्वगुणसम्पन्न भक्तके मनमें अपने इष्टके प्रति अनन्य श्रद्धा एव भक्ति थी इस कारण अवतार और अवतारीमें किंचित् भी भेद न मानते हुए भी उन्हें तो अपने परमाराध्य नीलकलेवर श्रीराम ही प्राणप्रिय थे। इसे उन्होंने अपने ही मुखसे स्पष्ट भी कर दिया—

जदपि बिरज ब्यापक अबिनासी। सब के हृदयँ निरतर बासी॥
तदपि अनुज श्री सहित खरारी। बसतु मनसि मम काननचारी॥ (रा०च०मा० ३।११।१७-१८)

आया हूँ। संसारमे जो लोग मेरे मन्त्रकी उपासना करते हैं और मेरी ही शरणमे रहते हैं तथा नित्य निरपेक्ष और अनन्य-गति रहते हैं, उन्हे मैं नित्य-प्रति दर्शन देता हूँ।'

श्रीभगवान्‌ने पुन कहा—'त्व ममोपासनादेव विमुक्तोऽसीह सर्वत ' (अ०रा० ३।२।३८)—तुम केवल मेरी उपासनासे इस जीवितावस्थामे ही सब प्रकार मुक्त हो गये हो।'

फिर अति आतुरताका आनन्द प्राप्त करनेके लिये अपने प्रेमी भक्त श्रीसुतीक्ष्णजीसे विनोद करते हुए कहा—

परम प्रसन्न जानु मुनि मोही। जो बर मागहु देउँ सो तोही॥

(रा०च०मा० ३।११।२३)

'हे मुनि! मैं आपपर अत्यन्त प्रसन्न हूँ। आपकी जो इच्छा हो, माँगिये। मैं आपको वही दूँगा।'

श्रीसुतीक्ष्णजीने तो पहले ही श्रीभगवान्‌से वर माँग लिया था, पर श्रीभगवान् और देनेके लिये प्रस्तुत हैं। इससे लगता है कि मेरी माँगमे कहीं-न-कहीं त्रुटि अवश्य रह गयी है। अनन्त ज्ञाननिधि प्रभुसे सर्वथा अल्पज्ञ जीव अपनी बुद्धिके अनुसार ही तो याचना करेगा—यह सोचकर अपनी अभीष्ट-सिद्धिके लिये मुनिने बडी ही विनम्रतासे निवेदित किया—

मुनि कह मै बर कबहुँ न जाचा। समुझि न परइ झूठ का साचा॥
तुम्हहि नीक लागै रघुराई। सो मोहि देहु दास सुखदाई॥

(रा०च०मा० ३।११।२४-२५)

श्रीभगवान्‌ने पुन विनोद किया। श्रीसुतीक्ष्णजीको ध्यान अत्यधिक प्रिय है, पर श्रीभगवान्‌ने अपने वरदानम ध्यानका स्पर्श भी नहीं किया। वरदान देते हुए प्रभु बोले—

अबिरल भगति बिरति बिग्याना। होहु सकल गुन ग्यान निधाना॥

(रा०च०मा० ३।११।२६)

पर श्रीसुतीक्ष्णजीकी भक्ति अत्यन्त दृढ थी। अपने अभीष्टकी सिद्धिके लिये उन्होने निखिल सृष्टिके स्वामी, अपने परमाराध्य प्रभु श्रीरामसे निवेदन किया—

प्रभु जो दीन्ह सो बरु मै पावा। अब सो देहु मोहि जो भावा॥
अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इदु इव बसहु सदा निहकाम॥

(रा०च०मा० ३।११।२७ ३।११)

'हे धनुष-बाणधारी भगवान् श्रीराम! आप भाई श्रीलक्ष्मण और माता जानकीसहित निष्काम (स्थिर) होकर सदा ही मेरे हृदयाकाशमें चन्द्रवत् निवास कर।'

और मुनिकी श्रद्धा-भक्ति एव प्रेमके अधीन प्रभुने प्रसन्नतापूर्वक तत्क्षण कह दिया—'एवमस्तु।' और फिर बोले—

गुरु ते द्रष्टुमिच्छामि ह्यगस्त्य मुनिनायकम्।
किञ्चित्काल तत्र वस्तु मनो मे त्वरयत्यलम्॥

(अ०रा० ३।२।३९)

'अब मैं तुम्हारे गुरु मुनिश्रेष्ठ अगस्त्यजीसे मिलना चाहता हूँ, मेरा चित्त उनके पास कुछ दिन रहनेके लिये उतावला हो रहा है।'

श्रीसुतीक्ष्णजीने तुरत कहा—'प्रभो! आश्रमसे आये मुझे बहुत दिन बीत गये और इस कारण मुझे गुरुजीके दर्शन किये भी अत्यधिक दिन हो गये। अब मैं आपके साथ ही गुरुजीके यहाँ चलूँगा इसमे आपके लिये सकोचका कोई प्रश्न नहीं है। मैं अपने स्वार्थसे चलना चाहता हूँ—'

बहुत दिवस गुर दरसनु पाएँ। भए मोहि एहिं आश्रम आएँ॥
अब प्रभु सग जाउँ गुर पाहीं। तुम्ह कहँ नाथ निहोरा नाहीं॥

(रा०च०मा० ३।१२।२-३)

प्रभुने सुतीक्ष्णजीकी चतुराई समझ ली और उन्होने मुसकराते हुए उन्हे अपने साथ ले लिया। मार्गमे अपनी भक्तिकी अद्भुत बात सुनाते हुए प्रभु श्रीराम जब अगस्त्य मुनिके आश्रमके समीप पहुँचे, तब—

तुरत सुतीछन गुर पहिं गयऊ। करि दडवत कहत अस भयऊ॥
नाथ कोसलाधीस कुमारा। आए मिलन जगत आधारा॥
राम अनुज समेत बैदेही। निसि दिनु देव जपत हहु जेही॥

(रा०च०मा० ३।१२।६—८)

श्रीसुतीक्ष्णजी तुरत अपने गुरुके पास पहुँचे और उनके चरणामे दण्डवत् करके उन्हाने निवेदन किया—नाथ! आप लक्ष्मण और माता जानकीसहित जिन परम प्रभुका दिन-रात नामजप करते रहते हैं, वे विश्वाधार कोशलकुमार आपसे मिलने पधारे हैं।

सुनत अगस्ति तुरत उठि धाए। हरि बिलोकि लोचन जल छाए॥

(रा०च०मा० ३।१२।९)

श्रीसुतीक्ष्णजीकी वाणी सुनते ही श्रीअगस्त्यजी तुरत उठ खडे हुए और आतुरतासे प्रभुके दर्शनार्थ दौड पडे तथा सीता-अनुजसहित नवघनसुन्दर श्रीरामको देखते ही प्रेम-निमग्न हो गये। उनके नेत्रोमे प्रेमाश्रु भर आये।

इस प्रकार श्रीसुतीक्ष्णजीने अपनी अनुपम भक्तिसे प्रभु-प्राप्तिके साथ ही अपने गुरुकी माँगी हुई गुरु-दक्षिणा भी उन्हें दे दी और उनसे उऋण हो गये।

श्रीमच्छङ्कराचार्यजीका श्रीकृष्णप्रेम

प्रबोधसुधाकर नामक ग्रन्थमे श्रीमच्छङ्कराचार्यजीने द्विधा भक्ति भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान और सगुण-निर्गुणकी एकता आदिका बडा सुन्दर विवेचन किया है। उसे सक्षेपमे भावार्थसहित यहाँ दिया जा रहा है—

द्विधा भक्ति

चित्ते सत्त्वोत्पत्तौ तडिदिव बोधादयो भवति। तर्ह्येव स स्थिर स्याद्यदि चित्त शुद्धिमुपयाति॥
शुद्ध्यति हि नान्तरात्मा कृष्णपदाम्भोजभक्तिमृते। वसनमिव क्षारोदैर्भक्त्या प्रक्षाल्यते चेत ॥
यद्वत्समलादर्शे सुचिर भस्मादिना शुद्धे। प्रतिफलति वक्त्रमुच्चै शुद्ध चित्ते तथा ज्ञानम्॥
जानन्तु तत्र बीज हरिभक्त्या ज्ञानिनो ये स्यु। मूर्त चैवामूर्तं द्वे एव ब्रह्मणो रूपे॥
इत्युपनिषत्तयोर्वा द्वौ भक्तौ भगवदुपदिष्टौ। क्लेशादक्लेशाद्वा मुक्ति स्यादेतयोर्मध्ये॥
स्थूला सूक्ष्मा चेति द्वेधा हरिभक्तिरुद्दिष्टा। प्रारम्भे स्थूला स्यात्सूक्ष्मा तस्या सकाशाच्च॥
(१६६—१७१)

चित्तम सत्त्वकी उत्पत्ति होनेपर विजलीकी तरह बोध हो जाता हे ओर यदि चित्त शुद्ध हो चुका हो तो वह बोध उसी समय स्थिर हो जाय। अन्तरात्मा (चित्त)-की शुद्धि श्रीकृष्णक चरणकमलकी भक्ति बिना नहीं होती। जैसे साबुनसे मिले हुए जलके द्वारा वस्त्र प्रक्षालन किया जाता हे, इसी प्रकार भक्तिसे चित्त धुलता है। जेसे मलिन दर्पणको भस्म आदिसे भलीभाँति साफ कर लेनेपर उसमे मुखका प्रतिबिम्ब ठीक पडता है, इसी प्रकार ज्ञान भी शुद्ध चित्तम होता है। जो हरिभक्तिसे ज्ञानी हुए हैं वे उसमे भक्तिको ही बीज समझे, ब्रह्मके मूर्त और अमूर्त दो ही रूप हें। यह उपनिषद् है, भगवान्ने दो ही प्रकारके भक्त बतलाये हैं। उन दोनोमेसे एकको मुक्ति क्लेशसे मिलती हे, दूसरेको बिना ही क्लेशके मिल जाती है। हरिभक्ति दो प्रकारकी कही गयी है—स्थूल और सूक्ष्म। प्रारम्भमे स्थूल होती हे, फिर उसीसे सूक्ष्म हो जाती है॥ १६६—१७१ ॥

स्वाश्रमधर्माचरण कृष्णप्रतिमार्चनोत्सवो नित्यम्। विविधोपचारकरणैर्हरिदासै सङ्गम शश्वत्॥
कृष्णकथासश्रवणे महोत्सव सत्यवादश्च। परयुवतौ द्रविण वा परापवादे पराङ्मुखता॥
ग्राम्यकथासूद्वेग सुतीर्थगमनेषु तात्पर्यम्। यदुपतिकथावियोगे व्यर्थं गतमायुरिति चिन्ता॥
एव कुर्वति भक्ति कृष्णकथानुग्रहोत्पन्ना। समुदेति सूक्ष्मभक्तिर्यस्या हरिरन्तराविशति॥
स्मृतिसत्पुराणवाक्यैर्यथाश्रुताया हरेर्मूर्तौ। मानसपूजाभ्यासो विजननिवासेऽपि तात्पर्यम्॥
सत्य समस्तजन्तुषु कृष्णस्यावस्थितेर्ज्ञानम्। अद्रोहो भूतगणे ततस्तु भूतानुकम्पा स्यात्॥
(१७२—१७७)

अपने वर्णाश्रमधर्मका आचरण अनेक उपचारासे नित्य श्रीकृष्णमूर्तिका पूजनोत्सव सदा हरिदासोका सङ्ग श्रीकृष्णके कथाश्रवणमे महोत्सव, सत्यभाषण, परस्त्री परधन और परनिन्दासे पराङ्मुखता ग्राम्य कथामे (विषयी स्त्री-पुरुषाकी व्यर्थ चर्चाम) उद्वेग तीर्थगमनमे प्रीति, यदुपति श्रीकृष्णकी कथाका वियोग होनेपर यह चिन्ता कि जीवनका इतना समय व्यर्थ गया। इन साधनासे भक्ति करनेवाले पुरुषमे श्रीकृष्णकथाकी कृपासे वह सूक्ष्म बुद्धि उत्पन्न होती है, जिसके भीतर श्रीहरि प्रवेश कर जाते हैं। स्मृति और सत्पुराणाके वचनासे श्रीहरिकी जैसी मूर्ति सुनी है उसम मानस-पूजाका अभ्यास निर्जन स्थानके निवासम प्रीति सत्य सब जीवोमे श्रीकृष्णकी स्थितिका ज्ञान भूतसमूहमे अद्रोह—इन साधनासे समस्त भूतोमे कृपा उत्पन्न हा जाती है॥ १७२—१७७॥

प्रमितयदृच्छा लाभे सन्तुष्टिर्दारपुत्रादौ। ममताशून्यत्वमतो निरहङ्कारत्वमक्रोध ॥
मृदुभाषिता प्रसादो निजनिन्दाया स्तुतौ समता। सुखदु खशीतोष्णद्वन्द्वसहिष्णुत्वमापदो न भयम्॥
निद्राहारविहारष्वनादर सङ्गराहित्यम्। वचने चानवकाश कृष्णस्मरणन शाश्वती शान्ति ॥

केनापि गीयमाने हरिगीते वेणुनादे वा। आनन्दाविर्भावो युगपत्स्याद्धृष्टसात्त्विकोद्रेक ॥
तस्मिन्ननुभवति मन प्रगृह्यमाण परमात्मसुखम्। स्थिरता याते तस्मिन् याति मदोन्मत्तदन्तिदशाम्॥
जन्तुषु भगवद्भाव भगवति भूतानि पश्यति क्रमश । एतादृशी दशा चेत्तदैव हरिदासवर्य स्यात्॥
(१७८—१८३)

थाडेसे यदृच्छा लाभम सतोष, स्त्री-पुत्रादिमे ममताका अभाव, निरहकारता, अक्रोध, मृदुभाषण, प्रसन्नता अपनी निन्दा और स्तुतिमे समभाव, सुख-दु ख, शीत-उष्णादि द्वन्द्वामे सहनशीलता, विपत्तिमे निर्भयता, निद्रा-आहार-विहार आदिमे अनादर, आसक्तिहीनता, व्यर्थ वचन बोलनेमे अनवकाश (समय न मिलना), श्रीकृष्णके स्मरणसे पूर्ण शान्ति, किसी पुरुषने श्रीहरिका गीत गाया हो या मुरली बजायी हो तो उसे सुनते ही तत्क्षण आनन्दका आविर्भाव और सात्त्विक हर्षका उल्लास। ऐसे अनुभवसे मन जब परमात्म-सुखको ग्रहण करके स्थिर हो जाता है, तब (प्रेमसे) उसकी दशा मदमत्त गजराजकी-सी हो जाती है, वह सब जीवोमे भगवान्‌के भावको और क्रमसे भगवान्‌मे सब जीवोको देखता है, ऐसी दशा हो जानेपर ही वह श्रेष्ठ हरिदास होता है॥ १७८—१८३॥

ध्यानकी विधि

यमुनातटनिकटस्थितवृन्दावनकानने महारम्ये। कल्पद्रुमतलभूमौ चरण चरणोपरि स्थाप्य॥
तिष्ठन्त घननील स्वतेजसा भासयन्तमिह विश्वम्। पीताम्बरपरिधान चन्दनकर्पूरलिप्तसर्वाङ्गम्॥
आकर्णपूर्णनेत्र कुण्डलयुगमण्डितश्रवणम्। मन्दस्मितमुखकमल सुकौस्तुभोदारमणिहारम्॥
वलयाङ्गुलीयकाद्यानुज्ज्वलयन्त स्वलकारान्। गलविलुलितवनमाल स्वतेजमापास्तकलिकालम्॥
गुञ्जारवालिकलित गुञ्जापुञ्जान्विते शिरसि। भुञ्जान सहगोपै कुञ्जान्तरवर्तिन हरिं स्मरत॥
मन्दारपुष्पवासितमन्दानिलसेवित परानन्दम्। मन्दाकिनीयुतपद नमत महानन्दद महापुरुषम्॥
सुरभीकृतदिग्वलय सुरभिशतैरावृत सदा परित । सुरभीतिक्षपणमहासुरभीम यादव नमत॥
कन्दर्पकोटिसुभग वाञ्छितफलद दयार्णव कृष्णम्। त्यक्त्वा कमन्यविषय नेत्रयुग द्रष्टुमुत्सहते॥
पुण्यतमामतिसुरसा मनोऽभिरामा हरे कथा त्यक्त्वा। श्रोतु श्रवणद्वन्द्व ग्राम्य कथमादर भवति॥
दौर्भाग्यमिन्द्रियाणा कृष्णे विषये हि शाश्वतिके। क्षणिकेषु पापकरणेष्वपि सज्जन्ते यदन्यविषयेषु॥
(१८४—१९३)

'यमुनातटके निकट स्थित वृन्दावनके अति रमणीय किसी काननमे कल्पवृक्षकी तलभूमिमे चरणपर चरण रखकर बैठे हुए मेघश्याम, जो अपने तेजसे विश्वको प्रकाशित कर रहे हैं, पीताम्बर धारण किये हुए हैं, चन्दन-कर्पूरसे जिनका शरीर लिप्त हो रहा है, जिनके नेत्र कानातक पहुँचे हुए हैं, जिन्हाने कानोमे कुण्डल धारण किय हैं, जिनका मुखकमल मन्द हाससे युक्त है, जो कौस्तुभमणिसे युक्त सुन्दर हार पहने हुए हैं जो अपने प्रकाशस कङ्कण अँगूठी आदि अलकारोको शोभित कर रहे हैं वनमाला जिनके गलेमे लटक रही है अपने तेजसे जिन्होने कलिकालका निरास कर दिया है, गुञ्जापुञ्जसे युक्त मिरपर गुञ्जा और भ्रमरोके शब्द हो रहे हैं, ऐसे किसी कुञ्जके अदर बैठकर गोपोके साथ भोजन करते हुए श्रीहरिका स्मरण करो। जो कल्पवृक्षके पुष्पोकी गन्धसे युक्त मन्द पवनसे सेवित है गङ्गाजी जिनके चरणकमलमे स्थित हैं जो महान् आनन्दके दाता हैं, एसे परमानन्दस्वरूप महापुरुषको नमस्कार करो। दसा दिशाआको जिन्होने सुगन्धित कर दिया हे सुरभि-सदृश सैकडो गायाने जिनको चारा ओरसे घेर रखा है, देवताओके भयको नाश करनेके लिय जो भयानक महासुररूप धारण करनेवाले हैं, उन यादवको नमस्कार करो। जो करोडा कामदेवोसे भी सुन्दर हैं, जो वाञ्छित फलके दाता हैं, ऐसे दयासमुद्र श्रीकृष्णको छोडकर ये नेत्रयुगल और किस विषयके दर्शनका उत्साह करे। अति पवित्र अति सुन्दर रसवती, मनोरम श्रीकृष्णकथाको छोडकर ये कर्णयुगल ससारी पुरुषोकी चर्चा सुननेके लिये कैसे आदर कर। सदा विद्यमान श्रीकृष्णरूपी विषयके हाते हुए भी पापके साधन क्षणिक अन्य विषयाम प्रीति करना इन्द्रियोका दुर्भाग्य ही है॥ १८४—१९३॥

सगुण-निर्गुणकी एकता

श्रुतिभिर्महापुराणै सगुणगुणातीतयोरैक्यम्। यत्प्रोक्त गूढतया तदह वक्ष्येऽतिविशदार्थम्॥
भूतेष्वन्तर्यामी ज्ञानमय सच्चिदानन्द । प्रकृते पर परात्मा यदुकुलतिलक स एवायम्॥
ननु सगुणो दृश्यतनुस्तथैकदेशाधिवासश्च। स कथ भवेत्परात्मा प्राकृतवद्रागरोषयुत ॥
इतरे दृश्यपदार्था लक्ष्यन्तेऽनेन चक्षुषा सर्वे। भगवाननया दृष्ट्या न लक्ष्यते ज्ञानदृग्गम्य ॥
यद्विश्वरूपदर्शनसमये पार्थाय दत्तवान् भगवान्। दिव्य चक्षुस्तस्माददृश्यता युज्यते नृहरौ॥
साक्षाद्यथैकदेशे वर्तुलमुपलभ्यते रवेर्बिम्बम्। विश्व प्रकाशयति तत्सर्वे सर्वत्र दृश्यते युगपत्॥
यद्यपि साकारोऽय तथैकदेशी विभाति यदुनाथ । सर्वगत सर्वात्मा तथाप्यय सच्चिदानन्द ॥
एको भगवान् रेमे युगपद्गोपीष्वनेकासु । अथवा विदेहजनकश्रुतदेवभूदेवयोर्हरिर्युगपत्॥
अथवा कृष्णाकारा स्वचमू दुर्योधनोऽपश्यत्। तस्माद्व्यापक आत्मा भगवान् हरिरीश्वर कृष्ण ॥
वक्षसि यदा जघान श्रीवत्स श्रीपते स कि द्वेष्य । भक्तानामसुराणामन्येषा वा फल सदृशम्॥
तस्मान्न कोऽपि शत्रुर्नो मित्र नाप्युदासीन । नृहरि सन्मार्गस्थ सफल शाखीव यदुनाथ ॥
लोहशलाकानिवहे स्पर्शाश्मनि भिद्यमानेऽपि। स्वर्णत्वमेति लौह द्वेषादपि विद्विषा तथा प्राप्ति ॥

(१९४—२०५)

श्रुतियो और महापुराणाने जो सगुण-निर्गुणकी एकता गुप्तरूपसे कही है मैं उसे स्पष्ट करके बतलाऊँगा। ज्ञानस्वरूप सच्चिदानन्द प्रकृतिसे परे परमात्मा जो सर्वभूताका अन्तर्यामी है, यह यदुकुलतिलक (श्रीकृष्ण) वही है। (यदि ऐसा कहा जाय कि) यह कृष्ण तो सगुण हे, इसका शरीर दृश्य है, एक स्थानमे रहनेवाला है और साधारण पुरुषाकी तरह राग-द्वेपसे युक्त है, यह परमात्मा कैसे हो सकता है? अन्य दृश्य पदार्थ इस नेत्रसे पहचाने जाते हैं, भगवान् इस नेत्रसे नहीं पहचाना जाता यह ज्ञानदृष्टिका विपय है। विश्वरूप दर्शनके समय भगवान्ने अर्जुनको दिव्यचक्षु दिया था इसलिये नृहरिमें अदृश्यता युक्त ही है। गोलाकार सूर्यका मण्डल साक्षात् एकदेशम देखा जाता है, पर (वह) समस्त विश्वका प्रकाश करता है और सब देशोके निवासी सब पुरुप एक ही कालमे (उसे) अपने सन्मुख देखते हैं। यद्यपि साकार यदुनाथ एकदेशी नजर आता है तथापि यह सर्वव्यापक सर्वात्मा सच्चिदानन्द ही है। एक ही भगवान्ने एक ही कालमे अनेक गोपियोम रमण किया अथवा विदेह जनक और श्रुतदेव ब्राह्मणके घरम एक ही कालम हरिने प्रवेश किया अथवा दुर्योधनने अपनी समस्त सेनाको कृष्णाकार देखा, इसलिये कृष्ण व्यापक आत्मा भगवान् हरि ईश्वर ही है। वक्ष स्थलका आघात श्रीवत्स क्या हरिका द्वेष्य है। भक्तोको (तथा) अन्य असुरोको फल सदृश ही मिला। इसलिये कोई भी उसका शत्रु, मित्र या उदासीन नहीं है, नृहरि यदुनाथ शुभ मार्गम स्थित फले हुए वृक्षके सदृश है। लौहशलाकाओसे पारसके तोडनेपर भी (वह) लोहा (जिसकी शलाकाएँ बनी होती हैं) सोना हो जाता है उसी प्रकार द्वेप करनेसे भी शत्रुओंको (उसकी) प्राप्ति हुई॥ १९४—२०५॥

नन्वात्मन सकाशादुत्पन्ना जीवसन्ततिश्चेयम्। जगत प्रियतर आत्मा तत्प्रकृते नैव सम्भवति॥
वत्साहरणावसरे पृथग्वयोरूपवासनाभूपान्। हरिरजमोह कर्तुं सवत्सगोपान् विनिर्ममे स्वस्मात्॥
अग्नेर्यथा स्फुलिङ्गा क्षुद्रास्तु व्युच्चरन्तीति। श्रुत्यर्थं दर्शयितु स्वतनारतनोत्स जीवसन्दोहम्॥
यमुनातीरनिकुञ्जे कदाचिदपि वत्सकाश्च चारयति। कृष्णे तथार्यगोपेषु च वरगोष्ठेषु चारयत्स्वारात्॥

(२०६—२०९)

यदि कहा जाय कि आत्मासे जीवसमूहाकी उत्पत्ति हुई है, सारे जगत्को अपना आत्मा अत्यन्त प्रिय है तो यह बात कृष्णमें नहीं घटती। वत्सहरणके समय ब्रह्माको मोहित करनेके लिये पृथक्-पृथक् अवस्था, रूप वस्त्र और भूपणवाले वत्स और गाप कृष्णने अपनेहीसे बनाये थे। अग्निसे जैसे छोटे-छोटे चिनगारे निकलते हैं, वैसे ही

परमात्मासे सब जीव निकलते हैं। इस श्रुतिका अर्थ दिखलानेके लिये कृष्णने अपने ही शरीरसे तो जीवोंका समूह रचा था। यमुनाके तीरपर कुञ्जमे कृष्ण बछडे चरा रहे थे और दूर गोष्ठोमे वृद्ध गोप गौवोको चरा रहे थे॥ २०६—२०९॥

वत्स निरीक्ष्य दूराद्गाव स्नेहेन सम्भ्रान्ता । तदभिमुख धावन्त्य प्रययुर्गोपैश्च दुर्वारा ॥
प्रस्त्रवभरेण भूय स्नुतस्तना प्राप्यपूर्ववद्वत्सान्। पृथुरसनया लिहन्त्यस्तर्णकवत्य प्रपाययन्प्रमुदा॥
गोपा अपि निजबालाङ्गगृहुर्मूर्धानमाघ्राय। इत्थमलौकिकलाभस्तेषा तत्र क्षण ववृधे॥
गोपा वत्साश्चान्ये पूर्वं कृष्णात्मका ह्यभवन्। तेनात्मन प्रियत्व दर्शितमेतेषु कृष्णेन॥
प्रेय पुत्राद्वित्तात्प्रेयोऽन्यस्माच्च सर्वस्मात्। अन्तरतर यदात्मेत्युपनिषद सत्यताभिहिता॥
(२१०—२१४)

दूरसे वत्साको देख, स्नेहविवश होकर गौएँ भागकर उनके पास आयीं, गोप हटा न सके। दूधके भारसे स्तन बहने लगे, पहले वत्सोके पास जाकर लम्बी जीभासे चाटती हुई हालके ब्याने—बच्चेवाली गौओने भी पहलेकी तरह प्रेमसे वत्सोको दूध पिलाया। गोपोने भी मुख चूमते हुए अपने-अपने बालकोको गोदमे ले लिया। इस प्रकार उस क्षणमे उनको अलौकिक आनन्द प्राप्त हुआ। वे सब बालक ओर वत्स कृष्णरूप ही तो थे, इसलिये कृष्णने इनमे अपनी प्रियतरता दिखा दी। यह अन्तरतर आत्मा पुत्रसे, धनसे और सारे जगत्से अति प्रिय है। इस उपनिषद्की सत्यता कृष्णने बतला दी॥ २१०—२१४॥

नित्यानन्दसुधानिधेरधिगत सन्नीलमेघ सतामौत्कण्ठ्यप्रबलप्रभञ्जनभरैराकर्षितो वर्षति।
विज्ञानामृतमद्भुत निजवचो धाराभिराराद्दिद चेतश्चातक चेन्न वाञ्छति मृषा क्रान्तोऽसि सुप्तोऽसि किम्॥
चेतश्चञ्चलता विहाय पुरत सधाय कोटिद्वय तत्रैकत्र निधेहि सर्वविषयानन्यत्र च श्रीपतिम्।
विश्रान्तिर्हितमप्यहो क्व नु तयोर्मध्ये तदालोच्यता युक्त्या वानुभवेन यत्र परमानन्दश्च तत्सेव्यताम्॥

नित्यानन्दरूपी अमृतके समुद्रसे निकलता हुआ सत्पुरुषोकी उत्कण्ठारूपी प्रबल वायुके वेगसे उडाया हुआ नीलमेघ तेरे समीप ही अपने वचनरूपी धाराओसे अद्भुत ज्ञानरूपी अमृत (श्रीगीता)-की वर्षा कर रहा है। रे चित्त चातक! क्यो नहीं पीता? क्या तुझे किसीने पकड लिया है या तू सोया हुआ है? रे चित्त! चञ्चलताको त्यागकर अपने सामने तराजूके दोनो पलडे रख और विचारकर कि दोनोके बीचमे विश्राम और हित किसमे है? युक्ति और अनुभवसे जिसम परमानन्द मिले, उसीका सेवन कर।

पुत्रान्पौत्रमथ स्त्रियोऽन्ययुवतीर्वित्तान्यथोऽन्यद्धन भोज्यादिष्वपि तारतम्यवशतो नाल समुत्कण्ठया।
नैतादृग्यदुनायके समुदिते चेतस्यनन्ते विभौ सान्द्रानन्दसुधार्णवे विहरति स्वैर यतो निर्भयम्॥
काम्योपासनयार्थयन्त्यनुदिन किञ्चित्फल स्वेप्सित किञ्चित्स्वर्गमथापवर्गमपरैर्योगादियज्ञादिभि ।
अस्माक यदुनन्दनाङ्घ्रियुगलध्यानावधानार्थिना कि लोकेन दमेन कि नृपतिना स्वर्गापवर्गैश्च किम्॥

पुत्र, पौत्र, स्त्रियाँ, अन्य युवतियाँ, धन, अन्य धन-भोज्यादि पदार्थोंमे न्यूनाधिक भाव होनेसे कभी भी इच्छा शान्त नहीं होती। अनन्त घनानन्दामृतसमुद्र विभु यदुनायक कृष्ण जब चित्तमे प्रकट होकर इच्छापूर्वक विहार करता है, तब यह बात नहीं रहती (इच्छा शान्त हो जाती है) और चित्त निर्भय हो जाता है। कुछ लोग प्रतिदिन सकाम उपासनासे मनोवाञ्छित फलकी प्रार्थना करते हैं। दूसरे कुछ लोग यज्ञादिसे स्वर्ग ओर योगादिसे मुक्तिकी प्रार्थना करते हैं, हमे तो यदुनन्दनके चरणयुगलके ध्यानमे सावधान रहनेकी इच्छा है। हमे लोकसे, दमसे, राजासे, स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष)-से क्या प्रयोजन!

(ब्रह्मलीन पूज्यपाद श्रीअच्युतमुनिजी महाराज)*

---

* पूर्वकालमें अच्युतमुनिजी एक उच्चकोटिके विरक्त सत थे जो काशीमें गङ्गातटपर निवास करते थे। इनके परम भक्त श्रीगौरीशकरजी गोइनकाने 'अच्युत-ग्रन्थमाला' के नामसे विभिन्न महत्त्वपूर्ण पुस्तकोंका प्रकाशन भी कराया था।

सुदर्शनचक्रावतार श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यका भगवत्प्रेम

भारतभूमि अखिल ब्रह्माण्डनायक परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् श्रीहरिकी अवतारभूमि एव लीलास्थली है। नित्य-विभूतिकी तरह लीला-विभूतिमे भी प्रभुके लोकोत्तर प्रभाव प्रकट होते हैं। युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तरमे उचित समय आनेपर भक्तोकी इच्छाके अनुरूप सद्रक्षण, दुष्ट-दमन और धर्मस्थापनार्थ भगवान् स्वय भूतलपर अवतीर्ण होते हैं। द्वापरान्तमे एतदर्थ श्रीकृष्णका अवतार हुआ था। अपनी अनन्त शक्तिरूपा गोपियोके माध्यमसे उन्होने उत्तम फलरूपा प्रेमलक्षणा भक्तिकी सुमधुर धारा प्रवाहित की। इसी प्रकार दाम, श्रीदाम, सुदाम वसुदाम उद्धव और अर्जुनप्रभृति अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग पार्षदोद्वारा ज्ञान-वैराग्यसवलित पराभक्ति (भगवत्प्रेम)-का स्वरूप अभिव्यक्त कराकर अनुकरणप्रिय मानव-स्वभावको प्रेममार्गमे चलनेकी सरल सरणि प्रदर्शित की।

भगवान्‌का अवतार भक्तोकी प्रार्थनापर उनपर अनुग्रहहेतु स्वेच्छासे होता है, परतु भगवत्पार्षदोका अवतार प्रभुकी आज्ञासे होता है। लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने जब अपनी लीलाका सवरण अर्थात् अवतार-प्रयोजन पूर्ण करके गोलोकधाम प्रयाण किया तब कालान्तरमे कलिके प्रवेश-प्रभावसे भागवतधर्म और सनातन वैदिक परम्पराका ह्रास एव अन्यान्य अवैदिक उपासनाका विस्तार होने लगा। चारो ओर अशान्तिका वातावरण बढने लगा, जिससे भगवत्प्रेम, भक्तिमार्ग, सदाचार, सद्व्यवहार आदिमे शिथिलता आने लगी। सच्चिदानन्द, अनन्त कल्याणगुणार्णव सर्वेश्वर श्रीकृष्णके स्वधामगमनके पश्चात् कलिकालके तीव्र वेगसे स्वयद्वारा सस्थापित धर्म-मर्यादाओका उच्छेद होते देखकर 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ' परमेश्वर श्रीहरिने अपने प्रियतम आयुधवर चक्रराज श्रीसुदर्शनको आज्ञा दी—

सुदर्शन महाबाहो कोटिसूर्यसमप्रभ।
अज्ञानतिमिरान्धाना विष्णो मार्गं प्रदर्शय॥

हे महाबाहो! सुदर्शन! आपका तेज करोडो सूर्यके तुल्य है। अत अज्ञानरूपी अन्धकारसे अन्धे बने हुए अर्थात् किकर्तव्यविमूढ मानवोको अर्चिरादि पद्धतिद्वारा गोलोक वैकुण्ठ आदि दिव्य धाम-प्राप्तिका सुगम मार्ग दिखाइये जो श्रुति-तन्त्रादि शास्त्रोमे विष्णुमार्गके नामसे परिवर्णित है। चक्रराज सुदर्शन भगवान्‌के अन्तरङ्ग पार्षद हैं। जिस प्रकार असुर-सहार आदिमे उनकी शक्ति अकुण्ठित तथा अप्रतिहत है, उसी प्रकार भक्तोकी रक्षा तथा प्रेमास्पदके प्रेमस्वरूपको प्रकट करनेमे परम मधुरस्वरूप है।

महर्षि दुर्वासाजीने महाभागवत राजर्षि अम्बरीषकी परीक्षा ली। दुर्वासाने रोषमे आकर कृत्याको प्रकट किया तथा राजाके विनाशहेतु प्रेरित किया। उधर सुदर्शनजी प्रभुकी आज्ञासे भक्त अम्बरीषके रक्षार्थ उनकी सनिधिमे अव्यक्त रूपसे रहते थे। भगवान्‌के प्रति अहेतुकी भक्ति एव अगाध प्रेम रखनेवाले निष्कपट भक्तके ऊपर सकट आया देखकर सुदर्शनजी प्रकट हुए, कृत्याका विनाश कर दुर्वासाके पीछे लगे और उन्हे सतप्त किया। अब महर्षि व्याकुल होते हुए ब्रह्मलोक गये, सुदर्शनचक्रके तापसे बचानेकी प्रार्थना की, परतु ब्रह्माजीने अपनी असमर्थता बतायी। वहाँसे शिवलोक गये, श्रीशिवजीसे भी निराशा ही हाथ लगी। अन्तत वैकुण्ठमे जाकर क्षमा-प्रार्थना करते हुए अपनी रक्षाहेतु विनती की। महान् आश्चर्य! भगवान् श्रीविष्णु कहने लगे—

अह भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रिय ॥

हे द्विजवर! मैं स्वतन्त्र होता हुआ भी भक्तजनोंका प्रिय अर्थात् भक्तवत्सल होनेके कारण सज्जन भक्तोके अधीन-सा हूँ। सज्जन भक्तोंने प्रेमद्वारा मेरे मनको वशीभूत कर दिया है। अत मैं उनकी उपेक्षा नहीं कर सकता। महर्षे! जहाँसे आपका यह सकट उपस्थित हुआ वहीं पहुँचिये शान्ति मिलेगी। अब दुर्वासाजी समझ गये कि प्रभु

कितने भक्तवत्सल हैं, भक्तोकी प्रेममयी भावनासे कैसे बँधे हैं। फिर तो वे वैकुण्ठसे नि सकोच अम्बरीषके पास पहुँचे, क्षमा माँगी। तब राजाने भगवान् श्रीसुदर्शनकी स्तुति की— हे चक्रराज! आप स्वय अग्नि सोम, सूय आदि समस्त तेजोमय देवोके भी तेज स्वरूप हैं। आपका अमित प्रभाव है। इन महर्षिका मङ्गल हो। आप शान्त हो जायँ। इस प्रकार अनेक प्रार्थना करनेपर सुदर्शनजी शान्तरूपमे दर्शन देकर अन्तर्धान हो गये।

वे ही चक्रराज श्रीसुदर्शनजी उपर्युक्त भगवदाज्ञा शिरोधाय करके जब तेजोराशिके रूपमें भूतलपर अवतीर्ण हुए, उस समय सर्वत्र चारो ओर दिव्य मङ्गलमय प्रकाश फैल गया। दक्षिण भारतमें गोदावरी-तटपर वैदूर्यपत्तन (मूँगी-पैठण) स्थानमें महर्षि अरुण अपनी पत्नी जयन्तीके साथ तपश्चर्या कर रहे थे उत्तम सतानकी कामना थी। भगवत्प्रेरणासे सुदशनजी उन्हीं ऋषि-दम्पतिके पुत्ररूपमें प्रकट हुए। महर्षिने सभी शुभ लक्षण देखकर बालकका नाम नियमानन्द रखा। श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायकी परम्परागत मान्यता है कि द्वापरान्तम युधिष्ठिर सवत् ६ कार्तिक शुक्ल पूर्णिमाको सायकाल इनका जन्म हुआ। वर्तमानमें इसी दिन इनकी जयन्ती मनायी जाती है। भविष्यपुराणमें भगवान् श्रीवेदव्यासने निर्देश किया है—

सुदर्शनो द्वापरान्ते कृष्णाज्ञप्तो जनिष्यति।
निम्बादित्य इति ख्यातो धर्मग्लानि हरिष्यति॥

अर्थात् आयुधप्रवर चक्रराज सुदर्शन भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे द्वापरान्तमे पृथिवीपर जन्म धारण करेगे और निम्बादित्य (निम्बार्क) नामसे प्रख्यात होकर सनातन वैदिक धर्म, वैष्णव-सम्प्रदाय-परम्पराकी शिथिलताको दूर कर प्राणिमात्रका कल्याण करेगे।

भगवान् सुदर्शनको पुत्ररूपमे प्राप्तकर महर्षि अरुण और माता जयन्तीके हृदयमे अद्भुत अनुराग एव प्रेमलक्षणा भक्तिका आविर्भाव हुआ जो भगवत्कृपैकलभ्य है। अमित प्रतिभासम्पन्न श्रीनियमानन्दजी (निम्बार्काचार्य) अल्पावस्थामे ही अनन्त दिव्य गुणोसे युक्त होकर शोभायमान रहने लगे। जिनके दर्शन देवताओको भी दुर्लभ हैं, ऐसे सुदर्शन प्रभुने कुछ वर्ष परम पावन पितृ-सदन अरुणाश्रमम निवास किया।

एक समय व्रजक्षेत्रसे तीर्थयात्रा करते हुए कुछ सत-महात्मा अरुणाश्रम पहुँचे। महर्षिने उनका आतिथ्य किया। सत्सङ्ग-वार्ता-प्रसङ्गम व्रज-वृन्दावनकी महिमा बतायी। यह सुनकर श्रीनियमानन्दजीको भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञाका स्मरण हो आया। प्रभुके नाम-रूप-लीला-धामकी साक्षात् अनुभूति एव अगाध रूपम भगवत्प्रेम जाग्रत् हुआ। श्रीहरिकी जन्मभूमि तथा लीला-विहारस्थली मथुरा, गोकुल, वृन्दावन, यमुना-पुलिन आदिके दर्शनकी तीव्र उत्कण्ठा बढी। अब एक क्षणका विलम्ब भी असह्य होने लगा। अत वे माता-पितासहित व्रजधाम पधारे। वहाँपर यमुना-पुलिन, वृन्दावन, गोवर्धन गोकुल आदि व्रजधामके अद्भूत स्थलाका अवलोकन कर अलौकिक प्रेमानन्दसे परिप्लुत हाकर उनके नेत्रासे अविरल अश्रुधारा बहने लगी और श्रीनियमानन्द (निम्बार्काचाय) पराभक्ति-पयोधिमे अवगाहन करने लगे।

जो स्वय अगाध भगवत्प्रेमम निमग्न होगा वही इतर सासारिक प्राणीको अधिकारानुसार भगवत्प्रेम प्रदान कर सकता है। जैसे पूर्वकालम भगवत्पार्षद उद्धवजीके व्रजमे पहुँचनेपर समस्त व्रजवासियोंके हृदयम असीम प्रेमभाव उमड पडा था, उसी प्रकार सुदर्शनावतार श्रीनियमानन्दके व्रजम पहुँचनेपर सबमें अपार भगवत्प्रेम प्रकट हुआ। अपने मनोमन्दिरमे ध्यानपरायण हो उन्होने निकुञ्जलीलाविहारी श्रीराधा-कृष्णकी दिव्य छविको धारण कर लिया। इस प्रकार ध्यानावस्थित अवस्थामे आचार्य श्रीनियमानन्द (श्रीनिम्बार्क)-को सम्पूर्ण व्रजमण्डल प्रभुके बाल-क्रीडा-प्रसङ्गके वत्सहरण-लीलामे जैसे ब्रह्माजीको व्रजरज, लतावृक्ष गोवत्स, गोपवृन्द, गिरिराज आदि सभी अच्युतमय दिखायी देते थे, वैसा ही दिखायी देने लगा। आचार्यप्रवरने जब भावजगत्मे प्रवेश किया तब बाह्य लौकिक ज्ञान विलुप्त हो गया। स्वय वे भगवद्धामको प्राप्त होकर सम्पूर्ण विश्वको अपनेमें देखने लगे। बहुत देरतक इसी प्रकार भावजगत्मे ही वे विराजमान रहे। यह भगवत्प्रेमकी पराकाष्ठाका स्वरूप हे। प्रभुने विचार किया यदि इसी प्रकार प्रेमोद्रेकसे ये भावजगत्मे ही निमग्न रहेगे तो सुदर्शनके अवतारका प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा, अत इनको प्रकृतिस्थ करना चाहिये, ऐसा विचार कर उन्होने विश्वमोहिनी वैष्णवी मायाका विस्तार किया। अब तो आचार्यप्रवर भावजगत्से उतरकर प्रकृतिस्थ हो गये। जैसे ब्रह्माजीके सामनेसे वह सब दृश्य लुप्त हो जानेपर वे प्रकृतिस्थ हो गये थे। तदनन्तर श्रीनियमानन्दजीने गिरिराज गोवर्धनकी उपत्यका (तलहटी)-म तपश्चर्या आरम्भ की। यहाँ निम्ब-वृक्षोकी बहुलता होनेसे इस बस्तीको निम्बग्रामके नामसे जाना जाता

है। यहींपर एक समय सायकाल पितामह ब्रह्माजी यतिवेषमे प्रवेशद्वारपर पहुँचे। नियमानन्दजीने उन्हे सादर आश्रमके भीतर पधराया। आतिथ्य-ग्रहणके लिये प्रार्थना की गयी, पर यतिवेषधारी ब्रह्माजीने सूर्यास्तके बाद भगवत्प्रसाद-ग्रहण न करनेका अपना नियम बताया। इसपर अरणनन्दनने अपने दिव्य प्रभावसे निम्ब-वृक्षमे उन्हे अर्कबिम्बका दर्शन कराया।

चारो ओर सूर्यप्रकाश देखकर यतिराजने प्रसाद ग्रहण किया। तत्पश्चात् तुरत अँधेरी रात दिखी। यह देखकर उन्हे विश्वास हो गया कि ये ही सुदर्शनचक्रावतार हैं। यतिराजने अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट किया। यह व्यवस्था दी— 'निम्बे अर्को दर्शितो येन' अर्थात् निम्ब-वृक्षपर अर्कबिम्ब स्थापित करनेसे आपका नाम 'निम्बार्क' होगा। आपद्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायको 'निम्बार्क-सम्प्रदाय' के नामसे जाना जायगा। यह कहकर ब्रह्माजी अन्तर्धान हो गये। श्रीब्रह्मदेवके स्वधामगमनके पश्चात् श्रीनिम्बार्कप्रभु भक्तिमार्ग और भगवत्प्रेमके स्वरूपको लोकमे प्रवर्तित करनेहेतु आत्म-चिन्तन एव शास्त्रानुशीलन करते हुए तपश्चर्यामे लीन हुए। भगवत्प्रेरणासे भक्तिसूत्रके प्रणेता देवर्षि श्रीनारदजीका जब आगमन हुआ, तब आश्रम परम आनन्दमय वातावरणसे व्याप्त हुआ। अर्चन-वन्दनके साथ श्रीनिम्बार्क मुनीन्द्रने विनम्रभावसे देवर्षि नारदके चरण-सानिध्यमे उपस्थित होकर प्रपत्तिपूर्वक उनसे मन्त्रोपदेश ग्रहण किया। मन्त्र-दीक्षाके अनन्तर देवर्षिने निम्बार्कको सम्बोधित करते हुए कहा—हे चक्रराज! हे अरुणनन्दन! आप स्वय अपनी ज्ञान-ज्योतिके प्रकाशसे जगत्के अज्ञानान्धकारको दूर करनेमे समर्थ हैं। फिर भी रहस्यकी बात बताता हूँ—

ज्ञानिनामपि मनो विचाल्यते
मायया भगवत प्रसह्य यत्।
निर्मल तदपि दूषित पुन-
र्जायते सलिलवत्कुसङ्गत ॥
केशवोऽपि भगवान् भुव गतो
लीलया स कुरुते मनुष्यवत्।
एवमेव च भवान् प्रवर्तयन्
सम्प्रदायसरणि व्रजिष्यति॥

श्रीहरिकी दुरत्यय माया ज्ञानियोके चित्तको भी हठात् विचलितकर ससारकी ओर प्रेरित कर देती है। जिस प्रकार आकाशसे गिरता हुआ निर्मल जल भूमिका स्पर्श पाते ही मटमैला हो जाता है, उसी प्रकार कुसङ्गके प्रभावसे निर्मल मन भी दूषित हो जाता है। जिसका मन श्रीकृष्णके चरणारविन्दमे लगा हुआ है, वह लोकमे सामान्यरूपसे विचरण करता हुआ मायाके बन्धनसे दूर रहता है। ब्रह्म, रुद्र आदि देवोको भी उपदेश देनेवाले सर्वैश्वर्यसम्पन्न सर्वेश्वर श्रीकृष्ण लीलामय वपु धारणकर जब पृथ्वीपर आते हैं तो वे भी सामान्य पुरुषकी भाँति सब कार्य करते हैं किंतु अपनी स्वतन्त्र सत्ताके कारण किसीके अधीन नहीं रहते, उसी प्रकार आप भी अनुग्रह-विग्रह धारणकर भूतलपर आये हैं, अत सत्सम्प्रदाय-सिद्धान्त एव भक्ति-मार्गको प्रकाशित करते हुए यहाँ विचरण करेगे। स्वय मुक्तभावसे रहकर आप जगत्को प्रेमलक्षणा भक्ति तथा मुक्तिका मार्ग दिखायगे।

गुरुदेव श्रीदेवर्षिवर्यका आदेश-उपदेश शिरोधार्य कर आपने भगवत्प्रेमको दर्शानेवाले सद्ग्रन्थो, स्तोत्रोकी रचनाके साथ युगलस्वरूप श्रीराधाकृष्णकी वृन्दावन-निकुञ्जोपासनाका प्रवर्तन किया जो प्रेमैकपुञ्ज मधुरातिमधुर है। आपके सूत्रात्मक सकलशास्त्रसारभूत भाष्य और मौलिक सद्ग्रन्थोका आश्रय लेकर शिष्य-प्रशिष्य परम्परागत परवर्ती पूर्वाचार्यवर्योने भगवत्प्रेम और भक्तिके स्वरूपका प्रभूत रूपमे प्रख्यापन किया है।

श्रीनिम्बार्क भगवान्‌की इसी प्रेमभावनाका उदात्त स्वरूप आचार्य-परम्परा-स्तोत्रमे अभिव्यक्त हुआ है—

यत्सम्प्रदायाश्रयणान्नराणा
श्रीराधिकाकृष्णपदारविन्दे ।
प्रेमागरीयान् सहसाऽभ्युदैति
निम्बार्कमेत शरण प्रपद्ये॥

जिन आद्याचार्य भगवन्निम्बार्कद्वारा लोकमे प्रवर्तित सम्प्रदाय-परम्पराका आश्रय लेनेसे नित्य किशोर श्यामाश्याम श्रीराधाकृष्णके युगल चरणारविन्दमे परमोत्कृष्ट प्रेमभाव सहसा उदित होता है वह उन अनुग्रहैकविग्रह आचार्यवर्य श्रीनिम्बार्ककी शरणमे प्रपन्नभावसे प्राप्त होता है। इस प्रकार अनेक भावोसे सुदर्शनचक्रावतार भगवन्निम्बार्काचार्यका भगवत्प्रेम सदा स्मरणीय एव अनुकरणीय है।

(प्राचार्य श्रीवासुदेवशरणजी उपाध्याय, निम्बार्कभूषण, व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य)

आचार्य रामानुज और उनका प्रेम-निवेदन

वैष्णवाचार्योंमे श्रीरामानुजाचार्यजीका विशिष्ट स्थान है। आप भगवान् श्रीसकर्षणके अवतार माने जाते हैं। आपका भक्तिसिद्धान्त 'विशिष्टाद्वैत' के नामसे प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदायकी परम्परामे सर्वप्रथम आचार्य नारायण माने जाते हैं। उन्होने निजस्वरूपा शक्ति श्रीमहालक्ष्मीजीको श्रीनारायणमन्त्रका उपदेश दिया, उनसे यह उपदेश विष्वक्सेनजीको प्राप्त हुआ और आगे नाथमुनि आदिकी परम्पराम वही उपदेश श्रीयामुनाचार्यजीको प्राप्त हुआ। ये ही यामुनाचार्यजी श्रीरामानुजके परम गुरु थे। इस प्रकार इस विशिष्टाद्वैतभक्तिसिद्धान्तमे श्रीनाथमुनि, यामुनाचार्य तथा रामानुजाचार्य—तीन आचार्य विशेष प्रसिद्ध हुए, जो 'मुनित्रय' कहलाते हैं। यामुनाचार्यजी आलवन्दार भी कहलाते हैं। उनका 'आलवन्दारस्तोत्र' प्रपत्तिमार्गका अनूठा स्तोत्र है।

श्रीरामानुजाचार्यजीने भक्तिमार्गका प्रचार करनेके लिये सारे भारतकी यात्रा की और गीता तथा ब्रह्मसूत्रपर भाष्य लिखा। वेदान्तसूत्रोपर इनका भाष्य 'श्रीभाष्य'के नामसे प्रसिद्ध है और इनका सम्प्रदाय भी श्रीसम्प्रदाय कहलाता है, क्योंकि इस सम्प्रदायकी आद्यप्रवर्तिका श्रीमहालक्ष्मीजी मानी जाती हैं।

श्रीरामानुजके सिद्धान्तके अनुसार भगवान् ही पुरुषोत्तम हैं, वे ही प्रत्येक शरीरमे साक्षीरूपमे विद्यमान हैं। वे जगत्‌के नियन्ता, शेषी (अवयवी) एव स्वामी हैं और जीव उनका नियम्य शेष तथा सेवक है। अपने व्यष्टि अहकारको सर्वथा हटाकर भगवान्‌की सर्वतोभावेन शरण ग्रहण करना ही जीवका परम पुरुषार्थ है। भगवान् लक्ष्मी-नारायण जगत्‌के माता-पिता और जीव उनकी सतान ह। माता-पिताका प्रेम और उनकी कृपा प्राप्त करना ही सतानका धर्म है। वाणीसे भगवान् नारायणके नामका ही उच्चारण करना चाहिये और मन-वाणी एव शरीरसे उनकी सेवा करनी चाहिये। श्री-भूलीला महादेवियोके सहित भगवान् नारायणकी सेवा प्राप्त हाना ही परम पुरुषार्थ है। भगवान्‌के इस दासत्वकी प्राप्ति ही मुक्ति है। भगवान् अनन्त गुणगणावलीसे समन्वित हैं। वे सृष्टिकर्ता, कर्मफलप्रदाता, नियन्ता, सर्वान्तर्यामी, अपार कारुण्य, सौशील्य, वात्सल्य, औदार्य, ऐश्वर्य और सौन्दर्य आदि अनन्तानन्त सद्‌गुणाके महासागर हैं।

ईश्वरका स्वरूप पाँच प्रकारका है—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा। श्रीभगवान् शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज हैं। श्री-भूलीलासहित समस्त दिव्याभूषणोसे भूषित हैं। वे भक्तोके प्रेमानन्दमे सदा निमग्न रहते हैं। आचार्यके अनुसार न्यासविद्या ही प्रपत्ति है। अनुकूलताका सकल्प, प्रतिकूलताका त्याग, भगवान्‌मे सम्पूर्ण आत्मसमर्पण—सब प्रकारसे केवल भगवान्‌के शरण हो जाना ही प्रपत्ति है। अत सर्वस्व निवेदनरूप शरणागत भक्ति ही भगवान्‌की प्रसन्नताका प्रधान साधन है। शरणागत भक्तको करुणामय भगवान् अपना विशिष्ट प्रेम प्रदानकर कृतार्थ कर देते हैं। आचार्य रामानुजने दैन्यभावकी प्रतिष्ठा की है। आपने अपने शरणागतिगद्य, श्रीरङ्गगद्य तथा वैकुण्ठगद्य (गद्यत्रय)-मे प्रेमाभक्तिका निचोड लाकर रख दिया है।

आचार्य स्वय कहते हैं—भगवान् मेरे नित्य स्वामी हैं और मैं उनका नित्य दास हूँ। मैं कब अपने कुलके स्वामी, देवता और सर्वस्व भगवान् नारायणका जो मेरे भोग्य, दाता, पिता और मेरे सब कुछ हैं, इन नेत्रोद्वारा दर्शन करूँगा। मैं कब भगवान्‌के युगलचरणारविन्दाको अपने मस्तकपर धारण करूँगा? कब वह समय आयेगा जबकि मैं भगवान्‌के दोनो चरणारविन्दोकी सेवाकी आशासे अन्य सभी भोगोकी आशा-अभिलाषा छोडकर समस्त सासारिक भावनाओसे दूर हो भगवान्‌के युगल-चरणारविन्दोमे प्रवेश कर जाऊँगा। कब ऐसा सुयोग प्राप्त होगा जब मैं भगवान्‌के युगल चरणकमलोकी सेवाके योग्य होकर उन चरणोकी आराधनामे ही लगा रहूँगा। कब भगवान् नारायण अपनी अत्यन्त शीतल दृष्टिसे मेरी ओर देखकर स्नेहयुक्त, गम्भीर एव मधुर वाणीद्वारा मुझे अपनी सेवामे लगनेका आदेश देगे।*

---

* 'भगवतो नित्यस्वाम्यमात्मनो नित्यदास्य च यथावस्थितमनुसधाय कदाह भगवन्त नारायण मम कुलनाथ मम कुलदैवत मम कुलधन मम भोग्य मम मातर मम पितर मम सर्वं साक्षात्करवाणि चक्षुषा? कदाह भगवत्पादाम्बुजद्वय शिरसा सग्रहीष्यामि? कदाह भगवत्पादाम्बुजद्वयपरिचर्याशयानिरस्तसमस्तेतरभोगाशोऽपगतसमस्तसासारिकस्वभावस्तत्पादाम्बुजद्वय प्रवेक्ष्यामि? कदाह भगवत्पादाम्बुजद्वयपरिचर्याकरणयोग्यस्तत्पादौ परिचरिष्यामि? कदा मा भगवान् स्वकीययातिशीतलया दृशावलोक्य स्निग्धगम्भीरमधुरया गिरा परिचर्यामाज्ञापयिष्यतीति।' —श्रीवैकुण्ठगद्यम्

आचार्य पुन प्रार्थना करते हैं—

हे प्रभो! मैं पिता, माता, स्त्री, पुत्र, बन्धु, मित्र, गुरु, रत्नराशि, धन-धान्य, खेत, घर, सारे धर्म और अविनाशी मोक्षपदसहित सम्पूर्ण कामनाओको त्यागकर समस्त ब्रह्माण्डका आक्रान्त करनेवाले आपके दोना चरणोंकी शरणम आया हूँ—

पितर मातर दारान् पुत्रान् बन्धून् सखीन् गुरून्।
रत्नानि धनधान्यानि क्षेत्राणि च गृहाणि च॥
सर्वधर्मांश्च सत्यज्य सर्वकामाश्च साक्षरान्।
लोकविक्रान्तचरणौ शरण तेऽव्रज विभो॥

(शरणागतिगद्यम्)

उनका कहना है—हे पूर्णकाम सत्यसकल्प, परब्रह्मस्वरूप पुरुषोत्तम, हे महान् ऐश्वर्यसे युक्त श्रीमन्नारायण! हे वैकुण्ठनाथ! आप अपार करुणा, सुशीलता, वत्सलता उदारता ऐश्वर्य और सौन्दर्य आदि गुणोके महासागर हैं, छोटे-बडेका विचार न करके सामान्यत सभी लोगाको आप शरण देते हैं, प्रणतजनोकी पीडा हर लेते हैं। शरणागताके लिये तो आप वत्सलताके समुद्र ही हैं। आप सदा ही समस्त भूताकी यथार्थताका ज्ञान रखते हैं। सम्पूर्ण चराचर भूताके सारे नियमा ओर समस्त जड-चेतन वस्तुओके आप अवयवी हैं (ये सभी आपके अवयव हैं)। आप समस्त ससारके आधार हैं, अखिल जगत् तथा हम सभी लोगाके स्वामी हैं। आपकी कामनाएँ पूर्ण और आपका सकल्प सच्चा है। आप समस्त प्रपञ्चसे भिन्न और विलक्षण हैं। याचकोके तो आप कल्पवृक्ष हैं, विपत्तिम पडे हुए के सहायक हैं। ऐसी महिमावाले तथा आश्रयहीनाको आश्रय देनेवाले हे श्रीमन्नारायण! मैं आपके चरणारविन्दयुगलकी शरणम आया हूँ, क्याकि उनके सिवा मेरे लिये कहीं भी शरण नहीं है।*

श्रीरङ्गनाथस्वामीसे अपना प्रेम निवेदन करते हुए वे उनसे अपना दास्य-भाव देनेकी प्रार्थना करते हुए कहते हैं—

तवानुभूतिसम्भूतप्रीतिकारितदासताम् ।
देहि मे कृपया नाथ न जाने गतिमन्यथा॥

(श्रीरङ्गगद्यम्)

हे नाथ! कृपा करके मुझे अपना सेवक बना लीजिये। मुझे अपनी दासता, किकरताका दान दे दीजिये। कैसी दासता? जो कि प्रीतिसे होती है—प्रेम जिसको करा लेता है। कैसा प्रेम? आपके अनुभवसे होनेवाला। मैं अनन्त लावण्य, अपार माधुर्य परम सौन्दर्यकी प्रतिष्ठाभूत आपकी दिव्य मूर्तिका एव आपके अनन्त सौशील्य वात्सल्य आदि गुणाका अनुभव करूँ। वह अनुभव ऐसा होगा कि मेरे हृदयमे *आपके प्रति तैलधाराके समान अविच्छिन्न प्रेम* लहरा देगा। वह प्रेम मुझसे आपकी सेवा करायेगा। मैं उस प्रेमम विभोर होकर आपकी सेवा-सपर्या भजन-भक्ति करूँगा। आपकी ऐसी सुन्दर सेवा-भक्तिके अतिरिक्त मुझे अन्य कोई उपाय अपने उद्धारका और अन्य कोई लक्ष्य अपने जीवनका नहीं सूझ रहा है। यह सेवा ही मेरी गति है—उपाय है और जीवनका लक्ष्य है।

प्रेमधर्मरूप-सौन्दर्य-माधुर्यसिन्धु भगवान् श्रीकृष्ण

जय नँदनदन प्रेम-विवर्धन सुषमासागर नागर स्याम।
जय काता-पट-काति-कलेवर मन्मथ-मन्मथ रूप ललाम॥
जय गोपीजन-मन-हर मोहन राधावल्लभ नव-घनरूप।
जय रस-सुधा-सिधु सुचि उछलित रासरसेस्वर रसिक अनूप॥
जय मुरली धर अधर गान-रत जय गिरिवरधर जय गोपाल।
मग जोहत बीतत पल जुग सम दै दरसन अब करौ निहाल॥

* सत्यकाम सत्यसकल्प परब्रह्मभूत पुरुषोतम महाविभूते श्रीमन्नारायण श्रीवैकुण्ठनाथ अपारकारुण्यसौशील्यवात्सल्यौदार्यैश्वर्यसौन्दर्यमहोदधे अनालोचितविशेषाशेषलोकशरण्य प्रणतार्तिहर आश्रितवात्सल्यैकजलधे अनवरतविदितनिखिलभूतजातयाथात्म्य अशेषचराचरभूतनिखिलनियमननिरत अशेषचिदचिद्वस्तुशेषीभूत निखिलजगदाधार अखिलजगत्स्वामिन् अस्मत्स्वामिन् सत्यकाम सत्यसकल्प सकलेतरविलक्षण अर्थिकल्पक आपत्सख श्रीमन्नारायण अशरण्यशरण्य अनन्यशरणस्त्वत्पादारविन्दयुगल शरणमह प्रपद्ये। —शरणागतिगद्यम्

श्रीमद्वल्लभाचार्यकी प्रेमोपासना

महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य भगवत्प्रेममय थे। वे गोपीप्रेमके साकार स्वरूप ही थे और प्रतिक्षण प्रभुकी परम प्रेममयी निकुञ्जलीलाके दिव्य रसमे मग्न रहते थे। उनके रोम-रोमसे दिव्य भगवत्प्रेम उमडता रहता था। जो भी उनकी सनिधिम रहता, वह श्रीकृष्णप्रेम-युक्त हो जाता।

महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यके द्वारा उपदिष्ट पुष्टिमार्ग प्रेममार्ग है। आचार्यका मत है कि पुष्टिमार्गीय जीवकी तो सृष्टि ही भगवत्स्वरूपकी सेवाके लिये हुई है—**'भगवद्रूपसेवार्थं तत्सृष्टिर्नान्यथा भवेत्'** (पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद १२)। महाप्रभुजी यह स्वीकार करते हैं कि भक्तिमे स्नेह और माहात्म्य दोनाका सम्मिलन होता है—**'स्नेहो माहात्म्य च मिलित भक्तिर्भवति'** (सुबोधिनी)।

वास्तवमे भक्तिका वास्तविक स्वरूप है प्रेमपूर्वक भगवत्सेवा—**'भक्तिश्च प्रेमपूर्विका सेवा।'** (सुबोधिनी) जब भक्तका चित्त भगवत्प्रेममय होकर भगवत्प्रवण हो जाता है, तभी सेवा सधती है। ऐसी ही सेवा सिद्ध करनेके लिये प्रेमी भक्त तनुवित्तजा सेवा करता है—**'चेतस्तत्प्रवण सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा।'** (सिद्धान्तमुक्तावली २) महाप्रभुजीकी आज्ञा है कि प्रेमपूर्वक सेवा करनेसे सेव्य—स्वामी अवश्य प्रसन्न होते हैं। भगवान् भी अपने प्रेमी भक्ताके वशमे हो जाते हैं।

जिन प्रमेय भगवान् श्रीहरिको क्रियारूपम वेदके पूर्वकाण्डमे वर्णित किया जाता है और ज्ञानरूपमे उत्तर-काण्डमे जिनका वर्णन होता है, वे ही भक्तिमार्गमे ज्ञान-क्रिया-उभयरूपमे प्रमेय हैं। वे ही भक्तिमार्गम फलरूप हैं। उन वेदार्थ उभयरूप प्रमेय भगवान्की प्राप्तिका साधन प्रेम ही है। नवधा भक्ति उसी प्रेमाभक्तिका साधन है—

विशिष्टरूप वेदार्थ फल प्रेम च साधनम्।
तत्साधन नवविधा भक्तिस्तत्प्रतिपादिका॥

(सर्वनिर्णयप्रकरण)

क्रिया-ज्ञान-उभय-विशिष्ट भगवान् श्रीकृष्णका प्रादुर्भाव प्रेममयी सेवासे ही होता है। वास्तवमे भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रेमी भक्तोको कृतार्थ करनेके लिये ही अवतरित होते हैं यही उत्तमा अभिव्यक्ति है। उनके प्रादुर्भावका मुख्य कारण प्रेमी भक्तोको कृतार्थ करना होता है, दैत्यवध करना नहीं।

प्रेममय भक्तिमार्गमे अन्तर्बाह्य सभी प्रकारका त्याग और प्रभु श्रीकृष्णके प्रति एकनिष्ठ अनन्य भाव नितान्त आवश्यक है। यदि देहपातपर्यन्त भक्त कृष्णैकमानस रहे तो उसे शीघ्र ही प्रभु श्रीकृष्णके साथ सायुज्यफल प्राप्त होता है। ऐसा सर्वत्यागी, अनन्य, एकनिष्ठ, कृष्णमात्रैकमानस, जो कि भगवत्प्रेममे स्त्री, घर, पुत्र, आप्तजन, प्राण, वित्त, इहलोक और परलोक सभी छोडकर कृष्णके प्रति परम भाव-परायण हो जाता है, दुर्लभ है। ऐसा प्रेम-निमग्न, प्रेम-प्लुत भक्त उत्तम है, वह चाहे करोडोमें एक ही क्या न हो, वही आदर्श है और उत्तम है—

सर्वत्यागेऽनन्यभावे कृष्णमात्रैकमानसे।
सायुज्य कृष्णदेवेन शीघ्रमेव ध्रुव फलम्॥
एतादृशस्तु पुरुष कोटिष्वपि सुदुर्लभम्।
यो दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिम परम्।
हित्वा कृष्णे पर भाव गत प्रेमप्लुत सदा॥

(सर्वनिर्णयप्रकरण)

यह प्रेममार्ग भगवत्प्राप्तिके सभी मार्गोमे उत्तम है, क्योंकि इसमें भगवान्के वाक्य ही प्रमाण हैं, भगवान् ही इस मार्गमे प्रमेय (जाननेयोग्य) हैं, भगवान् स्वय ही फलरूप हैं। इसकी यह भी विशेषता है कि इसका साधन जो प्रेममयी भक्ति है, वह मानो फलसे भी अधिक रसमय है। यदि किसी बाधाके कारण प्रेमाभक्तिरूप साधन समुचित ढगसे न बन पाये तो भी परम दयालु भगवान् अपने निष्ठावान् प्रेमी भक्तको कृतार्थ कर देते हैं, उसकी दुर्गति या नाश नहीं होने देते। भगवान् स्वय उसकी रक्षा करते हैं—

मार्गोऽय सर्वमार्गाणामुत्तम परिकीर्तित ।
यस्मिन् पातभय नास्ति मोचक सर्वथा यत ॥

(सर्वनिर्णयप्रकरण)

किंतु यह मार्ग उन्हें ही सिद्ध होता है जिनपर भगवान्की कृपा होती है और उन्हींको प्रेममयी भक्तिके मुख्य फलरूप भगवान् प्राप्त होते हैं—

सर्वथा चेद्धरिकृपा न भविष्यति यस्य हि।
तस्य सर्वं अशक्य स्यान्मार्गेऽस्मिन् सुतरामपि॥

(सर्वनिर्णयप्रकरण)

जब भगवत्कृपासे किसी दैवी जीवमे भगवत्प्रेमका बीज-भाव स्थापित कर दिया जाता है तो भगवान्की प्रेममयी सेवाके प्रेमपन्थ—पुष्टिमार्गम उसकी अत्यन्त रुचि होती है। वह भगवान्के गुणोमे भगवान्के माहात्म्यमे और भगवान्की

लीलाओमे विशेष रुचि दिखलाता है। उसकी भाषा, वेश और आचरण सभीमे प्रेममार्गकी रुचि दिखलायी देने लगती है। ऐसी रुचिसे ही ज्ञात होता है कि इस जीवपर भगवान्की कृपा है—

कृपापरिज्ञान च मार्गरुच्या निश्चीयते।
(सर्वनिर्णयप्रकरण)

भगवान्के गुण, माहात्म्य लीला आदिके श्रवणम रुचि प्रथम कक्षाकी आरम्भिक रुचि है। जब श्रवणादिसे स्वाभाविक रूपसे भगवान् भक्तके हृदयमे विराजते हैं, तब उसके मनमे एक विशेष रुचि होती है, जिसे 'परोक्ष रुचि' कहते हैं, क्योकि भक्तको भगवान्का साक्षात्कार नहीं हुआ होता है। इस परोक्ष रुचिसे पुष्टि जीवम भगवान्के द्वारा स्थापित बीजरूप भाव श्रवणादि साधनोसे पनपने-बढने लगता है। वह धीरे-धीरे भगवान्के प्रति स्नेह, प्रेमके रूपमे परिणत हो जाता है। भक्तके अन्तरमे जब भगवत्प्रेम जाग जाता है, तब भगवान्के अतिरिक्त अन्य सभी विषयामे होनेवाले रागका नाश हो जाता है।

भगवत्प्रेम इतर राग-विनाशक है। भगवत्प्रेम भावमयी भगवत्सेवा और भगवान्की मङ्गलमयी सरस लीलाओके श्रवणसे वृद्धिंगत होते हुए आसक्तिका रूप ग्रहण कर लेता है। भगवान्म आसक्त प्रेमी भक्तको वे सारे पदार्थ ओर व्यक्ति बाधक प्रतीत होने लगत हैं, जो भगवान्से सम्बद्ध नहीं हैं। यहाँतक कि ऐसे स्वजन-परिजन जो भगवद्भावमे सहयोगी नहीं हें या बाधक हें वे भी भगवदासक्त प्रेमी भक्तको बाधक और अनात्मरूप प्रतीत होते हैं। वह उन्हे छोड देनेके लिये भी तत्पर हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजीकी भी यही सलाह हे—

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥

सूरदासजी भी अपने भगवत्-रगमे रँगे मनको यही सिखावन देते हैं—*'तजौ मन, हरि-विमुखनि कौ सग।'*

भगवत्प्रेममे रँगे, भगवत्-आसक्त भक्तकी भगवदासक्ति क्रमश परिपक्व होकर व्यसन अवस्थाको प्राप्त हो जाती है। व्यसन अवस्थामे भगवत्प्रेम-परिप्लुत भक्तके दैहिक धर्मोका भी निरसन-सा हो जाता है। भगवद्भावके परिपाककी इस रसात्मक स्थितिम मग्न भक्तको न तो घर-परिवार-स्वजन-परिजनकी याद आती है, न शरीर और शरीरके धर्मोंकी सुध-बुध रहती है तथा न उसे इस लोक एव परलोकका ध्यान ही रहता है। जिस प्रकार गङ्गाजीका जल-प्रवाह निरन्तर समुद्रमे गिरता है, उसी प्रकार व्यसन-अवस्था-प्राप्त प्रेमी भक्तके मनकी समस्त वृत्तियाँ भगवान्मे ही लगी रहती हैं, वह प्रतिक्षण भगवत्प्रवण होकर भगवान्मे ही तल्लीन रहता है।

भगवान् श्रीकृष्णमे प्रेमकी यह व्यसनात्मक स्थिति प्राप्त हो जानेपर भक्त कृतार्थ हो जाता है। इस प्रकार भगवान्के द्वारा स्थापित भगवद्भावका बीज श्रवणादिके द्वारा विकसित होते हुए प्रेमके रूपमे अङ्कुरित, आसक्तिके रूपमे पल्लवित और व्यसनके रूपमे पुष्पित होता है। तब भक्तको पूर्ण पुरुषोत्तम रसात्मक परब्रह्म श्रीकृष्णकी फलरूपमे उपलब्धि होती है। यह भावमयी प्रेमसाधना आद्यन्त रसात्मक है।*

भगवत्प्रेमकी परिपक्वावस्थामे पहुँचनेपर प्रेमी भक्तका सुख-दु ख-उत्सव सब कुछ भगवत्सम्बन्धी हो जाता है, निजी नहीं रहता। उसकी यही अभिलाषा रहती हे कि श्रीकृष्णके वियोगमे यशोदामैया, नन्दबाबा आर गोपियोको जो दु ख हुआ था, वही कभी मेरे जीवनम अवतरित हो। श्रीकृष्णकी रसमयी लीलाओसे व्रजवासियोको, गोपिकाओको गोकुलम जो सुख मिला था, क्या वैसा ही सुख भगवान् मेरे जीवनमे भी प्रदान करेगे? उद्धवजीके आगमनपर गोकुल और वृन्दावनमे जैसा महान् उत्सव हुआ था क्या वैसा महोत्सव मेरे मनमे भी होगा?

यच्च दु ख यशोदाया नन्दादीना च गोकुले।
गोपिकाना तु यद् दु ख तद् दु ख स्यान्मम क्वचित्॥
गोकुले गोपिकाना तु सर्वेषा व्रजवासिनाम्।
यत् सुख समभूत् तन्मे भगवान् किं विधास्यति॥
उद्धवागमने जात उत्सव सुमहान् यथा।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित्॥
(निरोधलक्षणम् १—३)

श्रीमद्वल्लभाचार्यका दृढ निश्चय है कि श्रीहरिके

---

* महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यने इसका वर्णन षोडश ग्रन्थाके अन्तर्गत भक्तिवर्धिनी' ग्रन्थमें किया है—

बीजभावे दृढे तु स्यात् त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात्॥
बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मत । अव्यावृत्तो भजेत् कृष्ण पूजया श्रवणादिभि ॥
व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्त श्रवणादौ यतेत् सदा। तत प्रेम तथासक्तिर्व्यसन च यदा भवेत्॥
बीज तदुच्यते शास्त्रे दृढ यन्नापि नश्यति। स्नेहाद् रागविनाश स्यादासक्त्या स्याद् गृहारुचि ॥
गृहस्थाना बाधकत्वमनात्मत्व च भासते। यदा स्याद् व्यसन कृष्णे कृतार्थ स्यात् तदैव हि॥ (१—५)

स्वरूपका सदा ध्यान करना, उन्हींके विषयमे सकल्प करना उन्हींका दर्शन करना, उन्हींका स्पर्श करना, उन्हींके लिये प्रत्येक कार्य करना और उन्हींके लिये गतिमान् होना प्रेमी भक्तका जीवन है। जिस भी इन्द्रियका भगवत्सेवामे स्पष्ट विनियोग न मालूम पड, उसका विशेषरूपसे निग्रह करना भक्तका सुनिश्चित कर्तव्य है—

तदा विनिग्रहस्तस्य कर्तव्य इति निश्चय ॥

(निरोधलक्षण १९)

परमप्रेमम परिप्लुत होकर भगवान्मे ही निरुद्ध हो जानेसे बढकर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकी दृष्टिमे न तो कोई मन्त्र है, न इससे उत्कृष्ट कोई स्तोत्र है, न इससे ऊँची कोई विद्या है और न इससे उत्तम कोई तीर्थ है—

नात परतरो मन्त्रो नात परतर स्तव ।
नात परतरा विद्या तीर्थं नात परात् परम्॥

(निरोधलक्षण २०)

श्रीमद्वल्लभाचार्य स्वय भगवत्प्रेममे पूर्णत निरुद्ध, तल्लीन और तन्मय रहते थे। वे अपने अनुयायियोको भी ऐसी प्रेमसाधनाकी राहपर चलाते थे कि वे भी प्रपञ्चको भूलकर भगवत्-आसक्तिमय होकर भगवान् श्रीकृष्णमे ही निरुद्ध होकर कृतार्थ हो जायँ—

अह निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गत ।
निरुद्धाना तु रोधाय निरोध वर्णयामि ते॥

(निरोधलक्षण १०)

(डॉ० श्रीगजाननजी शर्मा, सम्पादक 'श्रीवल्लभ-चिन्तन')

श्रीमध्वाचार्यजी और उनके प्रेमोपदेश

श्रीभगवान् नारायणकी आज्ञासे स्वय वायुदेवने ही भक्ति-सिद्धान्तकी रक्षाके लिये तमिलनाडु प्रान्तके मगलूर जिलेके अन्तर्गत उडूपीक्षेत्रसे दो-तीन मील दूर वेललि ग्राममे भार्गवगोत्रीय नारायणभट्टके अशसे तथा माता वेदवतीके गर्भसे विक्रम सवत् १२९५ की माघ शुक्ला सप्तमीके दिन आचार्य मध्वके रूपमे अवतार ग्रहण किया था। कई लोगोने आश्विन शुक्ला दशमीको इनका जन्म-दिन माना है। परतु वह इनके वेदान्त-साम्राज्यके अभिषेकका दिन है, जन्मका नहीं। इनके जन्मके पूर्व पुत्र-प्राप्तिके लिये माता-पिताको वडी तपस्या करनी पडी थी।

बचपनसे ही इनम अलौकिक शक्ति दीखती थी। इनका मन पढने-लिखनेम नहीं लगता था, अत यज्ञोपवीत होनेपर भी ये दौडने कूदने-फाँदने तैरने और कुश्ती लडनेमे ही लगे रहते थे। अत बहुत-से लोग इनके पितृप्रदत्त नाम वायुदेवके स्थानपर इन्हे 'भीम' नामसे पुकारते थे। ये वायुदेवके अवतार थे, इसलिये यह नाम भी सार्थक ही था। परतु इनका अवतार-उद्देश्य खेलना-कूदना तो था नहीं, अत जब वेद-शास्त्रोंकी ओर इनकी रुचि हुई, तब थोडे ही दिनोमे इन्होने सम्पूर्ण विद्या अनायास ही प्राप्त कर ली।

जब इन्होने सन्यास लेनेकी इच्छा प्रकट की तब मोहवश माता-पिताने बडी अडचने डालीं, परतु इन्होने उनकी इच्छाके अनुसार उन्हे कई चमत्कार दिखाकर, जो कि अबतक एक सरोवर और वृक्षके रूपमे इनकी जन्म-भूमिमे विद्यमान हैं एव एक छोटे भाईके जन्मकी बात कहकर ग्यारह वर्षकी अवस्थामे अद्वैतमतके सन्यासी अच्युतपक्षाचार्यजीसे सन्यास ग्रहण किया। यहाँपर इनका सन्यासी नाम 'पूर्णप्रज्ञ' हुआ। सन्यासके पश्चात् इन्हाने वेदान्तका अध्ययन आरम्भ किया। इनकी बुद्धि इतनी तीव्र थी कि अध्ययन करते समय ये कई बार गुरुजीको ही समझाने लगते और उनकी व्याख्याका प्रतिवाद कर देते। सारे दक्षिण देशमे इनकी विद्वत्ताकी धूम मच गयी।

एक दिन इन्होने अपने गुरुसे गङ्गास्नान और दिग्विजय करनेकी आज्ञा माँगी। ऐसे सुयोग्य शिष्यके विरहकी सम्भावनासे गुरुदेव व्याकुल हो गये। उनकी व्याकुलता देखकर अनन्तेश्वरजीने कहा कि भक्ताके उद्धारार्थ गङ्गाजी स्वय सामनेवाले सरोवरम परसा आयेगी, अत वे यात्रा न कर सकेगे। सचमुच तीसरे दिन उस तालाबमे हरे पानीके स्थानपर सफेद पानी हो गया और तरङ्गे दीखने लगीं। अतएव आचार्यकी यात्रा नहीं हो सकी। अब भी हर बारहवे वर्ष एक बार वहाँ गङ्गाजीका प्रादुर्भाव होता है। वहाँ एक मन्दिर भी हे।

कुछ दिनाके बाद आचार्यने यात्रा की और स्थान-स्थानपर विद्वानोके साथ शास्त्रार्थ किये। इनके शास्त्रार्थका उद्देश्य होता—भगवद्भक्तिका प्रचार वेदोकी प्रामाणिकताका स्थापन मायावादका खण्डन और मर्यादाका सरक्षण। एक जगह तो इन्होने वेद महाभारत और विष्णुसहस्रनामके क्रमश तीन दस और सो अर्थ हैं—ऐसी प्रतिज्ञा करके और व्याख्या करके पण्डितमण्डलीको आश्चर्यचकित कर दिया। गीताभाष्यका

निर्माण करनेके पश्चात् इन्होने बदरीनारायणकी यात्रा की और वहाँ महर्षि वेदव्यासको अपना भाष्य दिखाया। कहते हैं कि दु खी जनताका उद्धार करनेके लिये उपदेश ग्रन्थनिर्माण आदिकी इन्हे आज्ञा प्राप्त हुई। बहुत-से नृपतिगण इनके शिष्य हुए, अनेक विद्वानाने पराजित होकर इनका मत स्वीकार किया। इन्होने अनेक प्रकारकी योगसिद्धियाँ प्राप्त की थीं और इनके जीवनमे समय-समयपर वे प्रकट भी हुईं। इन्होने अनेक मूर्तियोकी स्थापना की और इनके द्वारा प्रतिष्ठित विग्रह आज भी विद्यमान हैं। श्रीबदरीनारायणमे व्यासजीने इन्हे शालग्रामकी तीन मूर्तियाँ भी दी थीं जो इन्होने सुब्रह्मण्य, उडूपि और मध्यतलम पधरायीं।

एक बार किसी व्यापारीका जहाज द्वारकासे मलावार जा रहा था, तुलुबके पास वह डूब गया। उसमे गोपीचन्दनसे ढकी हुई भगवान् श्रीकृष्णकी एक सुन्दर मूर्ति थी। मध्वाचार्यको भगवान्की आज्ञा प्राप्त हुई और उन्होने मूर्तिको जलसे निकालकर उडूपिमे उसकी स्थापना की। तभीसे वह रजतपीठपुर अथवा उडूपि मध्वमतानुयायियाका तीर्थस्थल हो गया। एक बार एक व्यापारीके डूबते हुए जहाजको इन्होने बचा दिया। इससे प्रभावित होकर वह अपनी आधी सम्पत्ति इन्हे देने लगा, परतु इनके रोम-रोममे भगवान्का अनुराग और ससारके प्रति विरक्ति भरी हुई थी। ये भला, उसे क्यो लेने लगे। इनके जीवनम इस प्रकारके असामान्य त्यागके बहुत-से उदाहरण हैं। कई बार लोगाने इनका अनिष्ट करना चाहा और इनके लिखे हुए ग्रन्थ भी चुरा लिये। परतु आचार्य इससे तनिक भी विचलित या क्षुब्ध नहीं हुए, बल्कि उनके पकडे जानेपर उन्हे क्षमा कर दिया और उनसे बडे प्रेमका व्यवहार किया। ये निरन्तर भगवत्-चिन्तनम सलग्न रहते थे। बाहरी काम-काज भी केवल भगवत्सम्बन्धसे ही करते थे।

इन्होने उडूपिमे और भी आठ मन्दिर स्थापित किये जिनमें श्रीसीताराम द्विभुज कालियदमन चतुर्भुज कालियदमन, विट्ठल आदि आठ मूर्तियाँ हैं। आज भी लोग उनका दर्शन करके अपने जीवनका लाभ लेते हैं। ये अपने अन्तिम समयमे सरिदन्तर नामक स्थानम रहते थे। यहींपर इन्हाने परम धामकी यात्रा की। देहत्यागके अवसरपर पूर्वाश्रमके सोहन भट्टको—जिनका नाम पद्मनाभतीर्थ हो गया था—श्रीरामजीकी मूर्ति और व्यासजीकी दी हुई शालग्रामशिला देकर अपने मतके प्रचारकी आज्ञा कर गये। इनके शिष्याके द्वारा अनेक मठ स्थापित हुए तथा इनके द्वारा रचित अनेक ग्रन्थोका प्रचार होता रहा। इनके मतका विशेष विवरण इस सक्षिप्त परिचयमे देना सम्भव नहीं है।

श्रीमन्मध्वाचार्यके उपदेश

१ श्रीभगवान्का नित्य-निरन्तर स्मरण करते रहना चाहिये, जिससे अन्तकालम उनकी विस्मृति न हो, क्योकि सैकडा बिच्छुआके एक साथ डक मारनेसे शरीरमे जैसी पीडा होती है, मरणकालमे मनुष्यको वैसी ही पीडा होती है वात, पित्त और कफसे कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है तथा नाना प्रकारके सासारिक पाशासे जकडे रहनेके कारण मनुष्यको बडी घबराहट हो जाती है। ऐसे समयमे भगवान्की स्मृतिको बनाये रखना बडा कठिन हो जाता है। (द्वा० स्तो० १। १२)

२ सुख-दु खाकी स्थिति कर्मानुसार होनेसे उनका अनुभव सभीके लिये अनिवार्य है। इसीलिये सुखका अनुभव करते समय भी भगवान्को न भूलो तथा दु खकालमे भी उनकी निन्दा न करो। वेद-शास्त्रसम्मत कर्ममार्गपर अटल रहो। कोई भी कर्म करते समय बडे दीनभावसे भगवान्का स्मरण करो। भगवान् ही सबसे बडे सबके गुरु तथा जगत्के माता-पिता हैं। इसीलिये अपने सारे कर्म उन्हींके अर्पण करने चाहिये। (द्वा० स्तो० ३। १)

३ व्यर्थकी सासारिक झझटोके चिन्तनमे अपना अमूल्य समय नष्ट न करो। भगवान्मे ही अपने अन्त करणको लीन करो। विचार, श्रवण ध्यान और स्तवनसे बढकर ससारम अन्य कोई पदार्थ नहीं है। (द्वा० स्तो० ३। २)

४ भगवत्-चरणकमलोका स्मरण करनेकी चेष्टामात्रसे ही तुम्हारे पापोका पर्वत-सा ढेर नष्ट हो जायगा। फिर स्मरणसे तो मोक्ष होगा ही, यह स्पष्ट है। ऐसे स्मरणका परित्याग क्यो करते हो। (द्वा० स्तो० ३। ३)

५ सज्जनो! हमारी निर्मल वाणी सुनो। दोनो हाथ उठाकर शपथपूर्वक हम कहते हैं कि भगवान्की समता करनेवाला भी इस चराचर जगत्म कोई नहीं है फिर उनसे श्रेष्ठ तो कोई हो ही कैसे सकता है। वे ही सर्वश्रेष्ठ हैं। (द्वा० स्तो० ३। ४)

६ यदि भगवान् सबसे श्रेष्ठ न होते तो समस्त ससार उनक अधीन किस प्रकार रहता और यदि समस्त ससार उनके अधीन न होता तो ससारके सभी प्राणियाको सदा-सर्वदा सुखकी ही अनुभूति होनी चाहिये थी। (द्वा० स्तो० ३। ५) [प्रेपिका—कु० पूजा सैनी]

श्रीचैतन्यमहाप्रभुका दिव्य प्रेम

[प्रेमधनके बिना जीवन व्यर्थ है]

श्रीचैतन्यमहाप्रभु कलियुगमे सकीर्तनके प्रवर्तकाचार्यके रूपमे माने जाते हैं। इन्होने नवद्वीप (बगाल)-की पावन धरतीपर जन्म ग्रहणकर उसे पवित्र बनाया और प० श्रीजगन्नाथ मिश्रको पिता तथा परम भाग्यवती श्रीमती शचीदेवीको माता बननेका गौरव प्रदान किया। ये नीमके नीचे प्रादुर्भूत होनेसे निमाई और गौर अङ्ग (वर्ण) होनेसे गौराङ्ग कहलाये। *'हानहार बिरवानके होत चीकने पात'* की उक्ति इनपर पूर्णरूपेण चरितार्थ हुई है।

कहा जाता है कि चेतन्यमहाप्रभुजी एक बार गयामे अपने पितरोंको पिण्डदान करने हेतु पधारे थे। श्रीविष्णुपादके दर्शन करनेके बाद इनकी भेट श्रीस्वामी ईश्वरपुरीजी महाराजसे हो गयी। लोकमर्यादाको निभानेके निमित्त इन्होने हठपूर्वक प्रार्थना करके पुरीजी महाराजको विवश करते हुए उनसे श्रीकृष्ण-मन्त्रकी दीक्षा ले ली। मन्त्र-दीक्षा प्राप्त करते ही ये मूर्च्छित होकर धराधामपर धडामसे गिर पडे। साथियोने मानवीय उपचार करके इन्हे किसी प्रकार चैतन्य किया। बस फिर क्या था पूर्वसे ही हृदयम जमा हुआ प्रेम प्रवाहित होकर फूट पडा। उस प्रेम-प्रवाहके फूटते ही इनके अदरसे ऐसी सहज धारा बह निकली, जिसने सम्पूर्ण जगत्को प्रेम-प्लावित कर दिया।

सही बात तो यह है कि चेतन्यमहाप्रभुका आविर्भाव वस्तुत विशुद्ध प्रेम और विश्वबन्धुत्वका द्योतक है। कारण कि इन्होने राधाके रूपमे श्रीकृष्ण-राधा-प्रेमामृतका पान करते हुए हिन्दू, बौद्ध, जैन, ईसाई, सिक्ख मुसलमान आदि सभीको एक प्रेमसूत्रमे ग्रथितकर विश्व-बन्धुत्वकी ज्योति जलायी। महाप्रभुने बताया कि जो भी नाम हमे प्रिय हो, जो भी हमारा धर्म, सम्प्रदाय ओर आजीविका हो उसीमे रहकर हम प्रेमसे भगवन्नाम-सकीर्तन करना चाहिये। इतना ही नहीं द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वेत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि चाहे जिस किसी भी आध्यात्मिक, दार्शनिक सिद्धान्तवादको माननेवाले क्या न हो, वे प्रेमसे नाम-सकीर्तन कर सकते हैं। नाम-सकीर्तन करनेवालोको वेशभूषा भी नहीं बदलना है और न ही किसी अन्य बाह्याडम्बरकी आवश्यकता है। शुद्धभावसे कीर्तनमात्र करना ही परम मङ्गलकारक है।

चैतन्यमहाप्रभुने प्रेमधर्मके मूलभूत आध्यात्मिक तत्त्वोकी व्याख्या की। प्रेम-भक्तिके अङ्गरूपमे इन्होने स्वामी श्रीरामानन्दद्वारा प्रदर्शित सेवा और उपासनाके पाँच उत्कृष्ट तत्त्वोको स्वीकार किया हे—(१) वर्णाश्रमधर्माचारपालनद्वारा भगवद्भक्ति प्राप्त होती है। (२) भगवान्के लिये सभी स्वार्थोंका त्याग करना आवश्यक है। (३) भगवत्प्रेमद्वारा सर्वधर्मत्याग होता है। (४) ज्ञानात्मिका भक्तिकी साधना करनी पडती है और (५) स्वाभाविक एव अखण्डरूपमे मनको श्रीकृष्णकी भक्तिम लगाना जीवमात्रका लक्ष्य है।

श्रीचैतन्यमहाप्रभु अपनेको ससारी जीव मानते हुए श्रीकृष्णसे शुद्ध भक्तिकी प्रार्थना इस प्रकार करते हैं—

धन जन नाहिं माँगो कविता सुन्दरी।
शुद्ध भक्ति देह मोरे कृष्ण कृपा करि॥
अति दैन्य पुन माँगो दास्य भक्ति दाना।
आपनाके करे ससारी जीवन अभिमाने॥

(श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत)

श्रीचैतन्यमहाप्रभुने सुप्तप्राय मानव-जातिको प्रेमसे भक्ति-पथ दिखलाकर पुन जागृति प्रदान की—

जो सिद्ध जोगी मुनी ऋषि सकले गौर प्रेमे रसि।
आनन्द ए तिनि भूवन गोर प्रेमरे होई मगन।
हाँ तक कीर्तन ली प्यारे, वृक्षादि पशु पक्षी खरे।

प्रेम रसरे रसिजाई, पाषाण तरल हुअई।
जीव याकतेक मातर, रसिव नाहिं स भवन।
यकल जीवक उद्धार कारणे गौर अवतार।

(श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत)

श्रीगौराङ्ग चैतन्यमहाप्रभु कीर्तन करते हुए वृन्दावन जा रहे हैं। वे अरण्यवासी सिंह, हस्ती मृग और पक्षियोंतकको श्रीकृष्णप्रेममे उन्मत्त करते हुए एव उनके मुखसे श्रीहरिके सुमधुर नामोका उच्चारण कराते हुए उन्हे भी अपने साथ ही नृत्य कराते जा रहे हैं। दास्यप्रेम-भक्तिके महत्त्वका वर्णन उन्होने इस प्रकार किया है—

दास्य सुखरू सुख नाहिं, सकल सुख तुच्छा ताहिं।
कोटिए ब्रह्म सुख जे हिय, दास्य भाव तू समनोहि।
जे लक्ष्मी अति प्रिया होई दास्य सुखकू से भागई।
विधि नारद भव पुण, आवर सुक सनातन।
सकले दास्य भवे भोग, आपने अनन्त ईश्वर।
दास्य सुखरे मोल होई सकल भाव पासोरई।
राधा रुकमणी आदि लेते, दास्य जे भागन्ति निरते।

(श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत)

अर्थात् दास्यभक्तिके समान और कोई सुख नहीं इसकी तुलनामे अन्य सुख व्यर्थ हैं। करोडो ब्रह्म-सुख दास्यभावके सुखके सामने तुच्छ हैं। जो लक्ष्मी अति प्रिया होती हैं, वे दास्यभक्तिको माँगती हैं। इसी तरह नारद शुक और सनातन आदि सभी दास्यप्रेममे विभोर रहते हुए अपने-आपमे अनन्त ईश्वर हैं। राधा, रुक्मिणी आदि सभी सर्वदा दास्यप्रेमकी याचना करती हैं।

श्रीचैतन्यमहाप्रभुने सारे ससारके लिये प्रेम-शब्दाभिधेय ज्योति जलायी। ससारमें प्रेय और श्रेय नामक दो मार्ग हैं। इनमे प्रेय भौतिक और श्रेय आध्यात्मिक पथका अनुसरण करता है। प्रेयका अर्थ है—स्त्री पुत्र, धन, यश आदि इस लोकके तथा स्वर्गलोकके समस्त प्राकृत सुख-भोगोकी सामग्रियोकी प्राप्तिका मार्ग तथा श्रेयका अर्थ है—इन भौतिक सुख-भोगोकी सामग्रियोंमे उदासीन रहकर नित्यानन्दस्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तमकी प्रीतिके लिये उद्योग करना। इसीलिये श्रीचैतन्यमहाप्रभुने सकीर्तनके द्वारा प्रेय एव श्रेय दोनो मार्गोंको एक साथ समन्वित करके चलनेको कहा है।

वास्तवमे जबतक जगत्मे भगवन्नाम-सकीर्तन रहेगा, तबतक श्रीचैतन्यमहाप्रभुका प्रेम-शरीर ज्यो-का-त्यो बना रहेगा और भक्तगण गाते रहगे—

श्रीकृष्ण चैतन्य प्रभु नित्यानन्द। हरे कृष्ण हरे राम राधे गोविन्द।

ऐसे दिव्य प्रेमावतार गौराङ्ग चैतन्यमहाप्रभुकी सकीर्तन-लीलाका आज भी सर्वत्र वितरण हो रहा है। भक्तगण प्रभु-नाम-सकीर्तन कर रहे हैं। आजके युगमे इनके दिव्य प्रेमकी ज्योति पूर्णरूपसे जले तभी विश्व-बन्धुत्वकी भावना जाग सकती है। हम कीर्तनको अपने जीवनका लक्ष्य बनाये यही उनकी सच्ची स्मृति होगी।

इस तरह हम देखते हैं कि श्रीचैतन्यमहाप्रभु-जैसे भक्तोकी महिमा अपरम्पार है। इनका जीवन-दर्शन हमे पतनके गर्तमे गिरनेसे बचा सकता है। इनका पावन चरित्र पतित मानवको कल्याणके मार्गपर ले जानेवाला है।

(प्रो० श्रीलालमोहरजी उपाध्याय)

मोह और प्रेममें अन्तर

(सुश्री आभाजी मिश्रा)

मोह बाह्य आडम्बर है, किंतु प्रेमको आन्तरिक अनुभूति कहा जाता है। मोहका सासारिक पदार्थोसे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, जबकि प्रेम अलौकिक समर्पणका द्योतक है। मोह एकागी है, मगर प्रेम उभय पक्षीय है। मोहमे 'मैं' की प्रधानता पायी जाती है, परतु प्रेममे परमात्माका वास होता है। प्रेम साधन और साध्य दोनो है, लेकिन मोहमे यह गुण नहीं पाया जाता। मोह अधोगामी होता है तो प्रेम उत्कर्षकी राह है। वस्तुत मोह भवबन्धन है, मगर प्रेम मुक्त अभिव्यक्ति है। मोह दु खरूप है, प्रेम आनन्दस्वरूप है। मोहके व्यापारी अनेक है, परतु प्रेमके पुजारी विरले ही होते है। मोहका अन्त मृत्यु है और प्रेमकी परिणति मोक्ष है। मोह बिका है तो प्रेम टिका है। मोह मस्ताना है पर प्रेम दीवाना है। मोह आदान है, प्रेम प्रदान है। प्रेम उपासना है तो मोह वासना है। रागसे मोहकी उत्पत्ति होती है और अनुरागसे प्रेम पोषित होता है।

संतशिरोमणि तुलसीदासजीकी प्रेमसाधना

गोस्वामी तुलसीदासजीने अपने श्रीरामचरितमानसके कई प्रसगोमे सतोके विविध गुणो और लक्षणोकी अवली प्रस्तुत की है। वे स्वय सत थे। करुणा और परदु खकातरता ही सतत्वकी मुख्य पहचान है, क्योंकि यह भावना परोपकारकी ओर प्रेरित करती है। तुलसीके कथनानुसार सतका हृदय नवनीतके समान कोमल होता है, किंतु दोनोमे एक अन्तर है। नवनीत आत्मपीडा (अग्निकी आँच)-से पिघलता है जबकि सतके हृदयको परपीडा द्रवीभूत करती है—

सत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं सत सुपुनीता॥
(रा०च०मा० ७।१२५।७-८)

परपीडासे विगलित होकर तुलसीदासजीने लोककल्याणार्थ भक्तिका जो मार्ग प्रशस्त किया, वह अनुपम एव वरेण्य है। उनका भगवत्प्रेम उनकी साधनाका उदात्त स्वरूप है। उनके श्रीरामचरितमानस एव अन्य ग्रन्थोमे इस प्रेमकी उज्ज्वल छविके दर्शन होते हैं।

तुलसीदासजीके लिये रामप्रेम सर्वोपरि था, क्योकि उनकी दृष्टिमे रामप्रेम विश्वप्रेमका प्रतीक था—'*सीय राममय सब जग जानी।* ....' उनकी मान्यता थी कि प्रेमकी उच्चता लक्ष्यकी व्यापकताके अनुरूप होती है। जिस प्रेमका लक्ष्य जितना व्यापक होगा वह उतना ही ऊँचा होगा। गृहप्रेमसे समाजप्रेम, समाजप्रेमसे राष्ट्रप्रेम और राष्ट्रप्रेमसे यह विश्वप्रेम अथवा श्रीरामप्रेम बडा है। विभीषण, भरत प्रह्लाद, राजा बलि और व्रजवनिताओने व्यक्तिगत प्रेम या पारिवारिक प्रेमको ठुकराकर विश्वप्रेमके प्रतीक श्रीराम या श्रीकृष्णके प्रति अनुराग प्रकट किया, जिसके मङ्गलकारी औचित्यका समर्थन करते हुए तुलसीदासजीने अपनी विनय-पत्रिका (१७४)-के एक पदमे लिखा है—

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रहलाद बिभीषन बधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कत ब्रज-बनितन्हि भये मुद-मगलकारी॥

तुलसी-प्रेमके आलम्बन दाशरथि श्रीराम थे जो सगुण और परब्रह्मके अवतार थे। उनके अनुसार श्रीरामके चरणोके प्रति अनन्य प्रेमका होना ही भक्ति है और इसीलिये उन्होने श्रीरामके चरणोके प्रति निरन्तर प्रेमके होनेकी स्पृहा व्यक्त की है—

तिमि रघुनाथ निरतर प्रिय लागहु मोहि राम॥
(रा०च०मा० ७।१३०।७ (ख))

उनके श्रीराम ऐश्वर्यमय, क्षमावान्, शरणागतवत्सल और करुणायतन हैं, इसके कारण भक्तोको सदैव उनकी उदारताकी छत्रच्छाया सुलभ हो जाती है। तुलसीदासजी इस आस्थाके मूर्तरूप थे कि सर्वव्यापी श्रीहरिका प्रकटीकरण प्रेमसे होता है—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मै जाना॥
(रा०च०मा० १।१८५।१)

तुलसीदासजी दास्यभक्तिके अनुयायी थे जिसे सेवक-सेव्य भक्ति कहते हैं। उनके एक पात्र काकभुशुण्डिजीका स्पष्ट उद्घोष है—'*सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि*'। इस भक्तिमार्गके अनुसार आराध्यको महान्, उत्कृष्ट, ऐश्वर्यवान् माना जाता है और भक्त अपनेको तुच्छ, दीन तथा निकृष्ट समझता है। इस सन्दर्भमे विनय-पत्रिकाका पद (७९) द्रष्टव्य है—

देव—
तू दयालु, दीन हौ, तू दानि, हौं भिखारी।
हौ प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुज-हारी॥
नाथ तू अनाथको, अनाथ कौन मोसो?
मो समान आरत नहि, आरतिहर तोसो॥
ब्रह्म तू, हौ जीव, तू है ठाकुर, हौ चेरो।
तात-मात, गुरु-सखा, तू सब बिधि हितु मेरो॥
तोहिं मोहिं नाते अनेक मानियै जो भावै।
ज्यो त्यों तुलसी कृपालु! चरन-सरन पावै॥

श्रीरामके औदार्यपर तुलसीदासको बहुत भरोसा था। यहाँतक कि उनके श्रीराम बिना सेवाके ही द्रवीभूत हो जाते हैं। उनकी उदारतासे लाभान्वित होनेवालोंकी शृङ्खलामें गीध शबरी, विभीषण आदि सम्मिलित हैं—

ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर राम सरिस कोउ नाहीं॥

× × ×

सो गति देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी॥

× × ×

सो संपदा बिभीषन कहँ अति सकुच सहित हरि दीन्हीं॥

(विनय-पत्रिका १६२)

श्रीराम 'पुनीत प्रेम अनुगामी' हैं। ज्यों ही वे अपने भक्तोंको धर्मविहीन देखते हैं त्यों ही उन्हें अनुगृहीत कर देते हैं। दास्यभक्तिमें दीनताके सन्निवेशसे भक्तका कल्याण सुनिश्चित हो जाता है, क्योंकि जहाँ दीनता होती है वहाँ अहंकारका भाव तिरोहित हो जाता है और इसीलिये भक्त पतन या स्खलनसे सुरक्षित हो जाता है किंतु यहाँ एक बात ध्यान देनेयोग्य है कि तुलसीदासजीकी दैन्यभावना दास्यमनोवृत्ति उत्पन्न करनेवाली नहीं है—उनकी दीनता विनम्रताकी पराकाष्ठामें परिवर्तित है।

सरलतासे अनुप्राणित होनेके कारण तुलसीदासजीकी भक्तिभावना या श्रीरामानुराग कई विशेषताओंसे सम्पादित है। वे रागात्मिका भक्तिके पक्षधर थे जिसमें आडम्बरका निषेध और तड़क-भड़कका आवर्जन है। उनकी भक्ति आचरणकी परिष्कारक और धर्मप्रवण है। विरति और विवेकपर आधृत होनेके कारण यह श्रेष्ठ तथा कल्याणकारिणी है। श्रीरामसे प्रेम स्थापित करते हुए जितेन्द्रिय बनकर नैतिक पथपर अग्रसर होना ही भक्तिका वास्तविक स्वरूप है—

प्रीति राम सों नीति पथ चलिय राग रिस जीति।
तुलसी संतन के मते इहै भगति की रीति॥

(दोहावली ८६)

चातकप्रेमको अनन्य एवं आदर्श मानते हुए तुलसीने इसी प्रेमके अनुगमनका संदेश दिया है जिसमें अनन्यता एकनिष्ठता, सरसता, सहिष्णुता, निस्पृहता प्रभृति गुणोंकी विद्यमानता रहती है।* श्रीरामके स्नेही होनेमें ही जीवनकी सार्थकता है। निष्कामभावसे श्रीरामप्रेम करनेमें ही भलाई और कल्याण है। सन्तोषवृत्तिके साथ श्रीरामके प्रति अनुरागात्मक सम्बन्ध रखना निज काननवासकी आवश्यकता नहीं है—

राम सनेही राम गति राम चरन रति जाहि।
तुलसी फल जग जनम को दियो बिधाता ताहि॥
आपु आपने तें अधिक जेहि प्रिय सीताराम।
तेहि के पग की पानहीं तुलसी तनु को चाम॥
स्वारथ परमारथ रहित सीता राम सनेहँ।
तुलसी सो फल चारि को फल हमार मत एहँ॥
जे जन रूखे बिषय रस चिकने राम सनेहँ।
तुलसी ते प्रिय राम को कानन बसहिं कि गेहँ॥
जथा लाभ संतोष सुख रघुबर चरन सनेह।
तुलसी जो मन खूँद सम कानन बसहुँ कि गेह॥

(दोहावली ५८—६२)

श्रीरामप्रेम सर्वोपरि है। इसके बिना सारे नियम व्यर्थ हैं।

श्रीरामके कथनानुसार जिस भक्तिपद्धतिसे उनमें (राममें) आशुद्रवणशीलता होती है, वही भक्ति है जो भक्तके लिये सुखद होती है। इस भक्तिमें आलम्बन श्रीराम हैं।

श्रीरामकी भक्ति सचराचर-सेवाके द्वारा भी की जा सकती है। भक्तिका आलम्बन विश्व भी हो सकता है जिसमें श्रीरामकी अभिव्यक्ति हुई है। विश्वके अन्तरालमें श्रीसीतारामकी विद्यमानताका अनुभव कर तुलसीदासजीने सम्पूर्ण विश्वको प्रणाम किया है—

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

(रा०च०मा० १।८।२)

(डॉ० श्रीरामाप्रसादजी मिश्र एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

---

* एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास। एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास॥
चातक तुलसी के मते स्वातिहुँ पिऐ न पानि। प्रेम तृषा बाढ़ति भली घटें घटैगी आनि॥
चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष। तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोख॥
तीनि लोक तिहुँ काल जस चातक ही के माथ। तुलसी जासु न दीनता सुनी दूसरे नाथ॥
बास बेस बोलनि चलनि मानस मंजु मराल। तुलसी चातक प्रेम की कीरति बिसद बिसाल॥
(दोहावली २७७ ७९ ८१ ८८ ९७)

संत सूरदासका वात्सल्य-प्रेम

भक्तिके आचार्योने वत्सल अथवा वात्सल्यभक्तिपर बल देकर और उसका भक्तिमे समावेश करके उसके गोरवको और अधिक बढा दिया है। भक्तिक आचार्योने वात्सल्यभक्तिका निर्वचन भी किया ओर उसके उदाहरणस्वरूप अभिव्यक्ति भी दी। हिदीके भक्त कवियाने उस दायको स्वीकार किया ओर अपने काव्यामे आचार्यप्रणीत ग्रन्थासे प्रेरणा भी ली। इस तरहक कवियामे सूरदास ऐसे ही भक्त-सत हैं जिन्हाने श्रीमद्भागवतमहापुराणके आधारपर अपने सूरसागरके पदोकी रचना की। श्रीमद्भागवतम वर्णित श्रीकृष्णकी लीलाओको उन्होने काव्यमय विस्तार दिया। श्रीकृष्णकी बाललीलाआके चित्रणम उनकी मतिमे व्यापक विस्तार और निखार आया। उनके विविधताभरे पदोमे वात्सल्य-वर्णनके कारण विद्वानाने वात्सल्यरसकी पूर्ण प्रतिष्ठाका श्रेय सत सूरदासजीका ही दिया है।

सूर-साहित्यके दो रूप मिलते हैं—(१) वल्लभाचार्यजीकी भेटसे पहले जब ये विनय ओर दीनताभरे भावोके पद गाते थे ओर (२) वल्लभाचार्यजीकी भेटके बाद जब इन्होने भगवान्‌की लीलाओका वर्णन किया। 'चोरासी वैष्णवनकी वार्ता' मे आया है कि सूरदासजीने वल्लभाचार्यजीके सामने दो पद गाये। पहला पद था—*'हरि हौ सब पतितनि को नायक'* और दूसरा था—*'प्रभु, हों सब पतितनि कौ टीकौ'*। इन्हे सुनकर वल्लभाचार्यजीने कहा—*'जो सूर है के ऐसो घिघियात काहे को है कछु भगवल्लीला वर्णन करि'*। सूरदासजीने कहा कि मुझमें ऐसी समझ नहीं है। तब वल्लभाचार्यजीने इन्ह उपदेश दिया। तबसे सूरदासजीको नवधा-भक्ति सिद्ध हो गयी और इन्होने भगवल्लीलाकी दृष्टिका स्फुरण पाया। जैस कोई बालक पुराने खिलोनेको छोडकर फिर नये खिलोनेसे ही खेलता है—ऐसे सूरदासजीने उसके बादसे भगवान्‌की लीलाआका वर्णन प्रारम्भ किया।

सूरदासजी उच्च कोटिके सत होनेके साथ-साथ उच्च कोटिके कवि भी थे। इन्हाने वात्सल्य ओर शृङ्गाररसप्रवाहिनी एसी विस्तृत और गम्भीरताभरी भावाभिव्यक्ति की है कि इन्हे वात्सल्य और शृङ्गाररसका सम्राट् कहा जाता है। सूरदासजी अन्धे थे परतु इन्हे दिव्य दृष्टि प्राप्त थी। ये भगवान्‌के कीर्तनकार थे। जैसा भगवान्‌का स्वरूप होता था वे उसे अपनी बद आँखासे वैसा ही वणन कर दते थ। 'अष्टसखानकी वार्ता' म आया हे कि एक वार श्रीविट्ठलनाथजीके पुत्रोने उनकी परीक्षा लेनी चाही। उन्होने नवनीतप्रिय बालकृष्णकी मूर्तिका कोई शृङ्गार नहीं किया। नग्न मूर्तिपर मोतियाकी माला लटका दी ओर सूरदासजीसे कीतन करनेकी प्रार्थना की। दिव्य-दृष्टि प्राप्त सूरदासजीने पद गाया—

देखे री हरि नगम नगा।
जल सुत भूषन अग विराजत बसनहीन छबि उठत तरगा॥

ऐसे दिव्य-दृष्टिप्राप्त सतने अपनी वद आँखासे भगवान् श्रीकृष्णकी बाललीलाओका वात्सल्यरससे सिक्त वाणीमे विस्तारभरा वर्णन किया हे। उस रसधाराम भक्त और साहित्यकार निमग्न हो गये।

सूरदासजीके वात्सल्यरसकी दो दशाएँ हैं—(क) सयोग-वात्सल्य और (ख) वियोग-वात्सल्य जो यहाँ सक्षेपमे वर्णित हैं—

(क) सयोग-वात्सल्य

१-पुत्रजन्मका आनन्द ओर उल्लास।
२-विभिन्न सस्कारोके अवसरापर वात्सल्यसुखानुभृति।
३-श्रीकृष्णकी बालछविका वणन।
४-बालस्वभावका चित्रण।
५-बालक्रीडा एव चेष्टाएँ।
६-माखनचोरी और उलाहने।
७-मातृहृदय।

पुत्र-जन्मके आनन्दोल्लासका वर्णन—श्रीकृष्णके प्रति अभिव्यक्त वात्सल्यके आश्रय नन्द, यशादा व्रजकी गोपियाँ और गोप ह। उन्हींको वात्सल्यसुखकी विशेष अनुभूति होती हे। वसुदेव और देवकी तो उनके रूपको देखकर आश्चयसे अभिभूत हो जाते हैं। नन्दक यहाँ पुत्रजन्मके हर्ष ओर आनन्दका बडा ही सजीव वर्णन सूरने किया है। माता यशोदा पुत्रके सुखको देखकर अत्यन्त आनन्दका प्राप्त होती ह। नन्द अपनी प्रसन्नताको वस्त्र आभूपण, गाय और नाना वस्तुओका दान करके प्रकट करते हैं। गोपियाँ मङ्गलगान करती हैं बधाई देती हैं और शिशुको आशीर्वाद देती हैं। ढाढी, जगा सूत, मागध आदि भी नेग लेते हैं आर आशीवाद देते हैं। सारे व्रजम पुत्रजन्मपर फैली शाभाकी कोई सीमा नहीं है। सूरदासजी वर्णन करते हैं—

सोभा-सिधु न अत रही री।
नद-भवन भरि पूरि उमँगि चलि व्रज का वीथिनि फिरति वही री।

सूरदासजीने आनन्द-उल्लासका वर्णन वात्सल्यसे पुष्टरूपमे किया है—बढईसे रत्नजटित पालना बनवाया गया है, उसमे रेशमकी डोरी लगी है। श्रीकृष्णको पालनेम सुलाकर यशोदा आनन्दित होती हैं। श्रीकृष्ण कभी पलक मूँद लेते हैं, कभी अधर फडकाते हैं। पालनेमे झुलाते समय वात्सल्यमयी यशोदाका वर्णन कविने इस प्रकार किया है—

जसोदा हरि पालनैं झुलावै।
हलरावै, दुलराइ मल्हावै, जोइ-सोइ कछु गावै।
मेरे लाल कौं आउ निंदरिया, काहैं न आनि सुवावै।
तू काहैं नहिं बेगहिं आवै, तो कौं कान्ह बुलावै।

(सूरसागर ६६१)

विभिन्न सस्कारोंके अवसरोपर वात्सल्य-सुखानुभूति— पुत्रोत्सवके पश्चात् होनेवाले अनेक सस्कारोका वर्णन सूरदासजीने किया है। इनमे नामकरण, वर्षगाँठ अन्नप्राशन एव कर्णछेदन मुख्य हैं। नामकरण और अन्नप्राशनपर ज्योतिषी तथा ब्राह्मणको बुलाया जाता है। उस समय भी उत्सव-जैसा वातावरण होता है। कृष्णकी एक वर्षकी अवस्था हो जानेपर सूरदासजीने उनके वर्षगाँठके उत्सवका और उस समयके आनन्दोल्लासका वर्णन किया है। श्रीकृष्णको शृङ्गार कराकर और वस्त्राभूषणोसे सजाकर यशोदा फूली नहीं समाती हैं। निम्नलिखित पक्तियोमे सूरने उस समयके वात्सल्यमय दृश्यका वर्णन करते हुए कहा है—

दोउ कपोल गहि कै मुख चूमति, बरष-दिवस कहि करति कलोल।
सूर स्याम ब्रज-जन-मोहन-बरष-गाँठि कौ डोरा खोल॥

(सूरसागर ७१२)

श्रीकृष्णके कर्णछेदनका वर्णन बडे ही मनोवैज्ञानिक ढगसे किया गया है। कर्णछेदनके समय यशोदाको पहले तो बडा आनन्द होता है, परतु जब यह ध्यान आता है कि कर्णछेदन करनेसे बालक कृष्णको कष्ट होगा तो उनका हृदय धडकने लगता है। वे उधर देख भी नहीं सकीं और मुख मोड लेती हैं। *श्रीकृष्ण रोने लगते हैं तो* कर्णछेदन करनेवाले नाईको धमकाने लगती हैं ताकि रोते हुए बालकको कुछ ढाढस बँध सके। बालस्वभावकी परख और माताके हृदयकी अनुभूतिसे भरा कर्णछेदनका यथार्थ चित्रण सूरदासजीकी निम्नलिखित पक्तियोमे द्रष्टव्य है—

कान्ह कुँवर कौ कनछेदन है हाथ सोहारी भेली गुर की।
बिधि बिहँसत हरि हँसत हेरि हरि जसुमति की धुकधुकी सु उर की॥

× × ×

लोचन भरि-भरि दोऊ माता, कनछेदन देखत जिय मुरकी।
रोवत देखि जननि अकुलानी, दियौ तुरत नौआ कौं घुरकी॥

(सूरसागर ७९८)

श्रीकृष्णकी बालछविका वर्णन— श्रीकृष्णकी बाल-छविका वर्णन सूरदासजीने क्रम-क्रम करके उनके बढते हुए रूपके अनुसार किया है। उनके पूरे शरीरके सौन्दर्यके साथ शरीरके एक-एक अङ्गका जैसे पैर, अँगुली, नख, कर, चिबुक, भुजा, कण्ठ, ओष्ठ, मुख, जीभ, दाँत नाक, कान, नेत्र, भौंह, भाल, बाल आदिका अनेक पदाम वर्णन किया है। विभिन्न आभूषणो—पैंजनी किंकिनी, पहुँची बघनखा, कठुला शेरनख, मोती और प्रवालके द्वारा अलकृत उनकी शोभाके वर्णन किये हैं। पिछोरी, झगुलिया, कुलही आदिके साथ बिदी, डिठौना, तिलक, काजल आदिके वर्णन बालछविके वर्णन हैं। श्रीकृष्णके हँसने, किलकने, तुतलाने, लडखडाकर चलने, धूलधूसरित होने, माखन खाने, लपटाने, प्रतिबिम्बको पकडने, खेलने, नाचने आदिका वर्णन सूरदासजीने अनेक पदोमे किया है। इन वर्णनोम सूरकी रुचि इसलिये भी अधिक जगी है, क्योकि वे उनके अपने हृदयगत इष्टदेवके प्रति भावोकी तरहके हैं। इस प्रसगका एक पद अतीव वात्सल्यरसपूर्ण है। वह यहाँपर द्रष्टव्य है—

सुत-मुख देखि जसोदा फूली।
हरषित देखि दूध की दँतियाँ, प्रेममगन तन की सुधि भूली।
बाहिर तैं तब नद बुलाए, देखौ धौं सुदर सुखदाई।
तनक-तनक सी दूध-दँतुलिया देखौ नैन सफल करौ आई॥
आनँद सहित महर तब आए, मुख चितवत दोउ नैन अघाई।
सूर स्याम किलकत द्विज देख्यौ, मनौ कमल पर बिज्जु जमाई॥

(सूरसागर ७००)

यहाँपर श्रीकृष्ण आलम्बन हैं। यशोदा और नन्द आश्रय हैं। दूधके दाँत उद्दीपनविभाव हैं। नन्दको बुलाना और दोनोका ध्यान देकर देखना अनुभाव है और हर्ष सचारीभाव है।

सूरदासने भगवान्‌की रूपमाधुरीका तरह-तरहसे वर्णन किया है। उनकी किलकारी हँसी और बालक्रीडा, तोतले वचन आदिकी शोभाका शब्दाद्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। अत वे कहते हैं—

जो मेरी अँखियनि रसना होतीं कहतीं रूप बनाइ री।
चिर जीवहु जसुदा कौ ढोटा, सूरदास बलि जाइ री॥

बालस्वभाव-चित्रण—सूरदासजीने बालस्वभावका चित्रण बडी बारीकीस किया है। बच्चोकी प्रकृतिके भीतर जितनी पैठ सूरने लगायी है, उतनी और किसी कविने नही लगायी। आचार्य रामचन्द्र शुक्लने ठीक ही कहा है कि सूरने बालहृदयका कोना-कोना झाँक लिया था। बच्चोम स्पर्धाका भाव बडा प्रबल हाता ह। यशोदा श्रीकृष्णको दूध पिलाना चाहती हैं। इसस तुम्हारी चोटी बढ जायगी और बलराम-जैसी हो जायगी। स्पर्धावश वे दूध पीने लगते हैं पर वे चाहते हैं कि दूध पीते ही चोटी बढ जानी चाहिये। वे मातासे पूछने लगते हैं—

मैया कबहिँ बढैगी चोटी।
किती बार मोहिँ दूध पियत भई यह अजहू है छोटी।

(सूरसागर ७९३)

सूरदासजीने बालकृष्णके स्वभावके अनक चित्र उरेहे हैं। गाय दुहने तथा चरानेके लिये आग्रह करना रेता, पैता, मना, मनसुखा और हलधरके साथ गोचारणको जाना सबके साथ शिलापर बैठकर भाजन करना, दाऊके डरकी बात करना मिट्टी खाना कहानी सुननेका चाव रखना खाना खाते समय कुछ खाना, कुछ गिराना आदि अनेक बालस्वभावके चित्रणके शताधिक पद सूरने लिखे हैं। उनके बालसुलभ हठका बडा वात्सल्यभरा ओर बालमनोविज्ञानसे पुष्ट चित्रण सूरने अनेक पदाम किया ह। यहाँपर उनका एक बडा प्रसिद्ध पद पठनीय हे—

मैया मैं तौ चद-खिलौना लैहौं।
जैहौं लोटि धरनि पर अबहीं तेरी गोद न ऐहौं।
सुरभी कौ पय पान न करिहौं, बेनी सिर न गुहैहौं।
ह्वैहौं पूत नँद बाबा कौ तेरौ सुत न कहैहौं।
आगैं आउ, बात सुनि मेरी, बलदेवहिं न जनैहौं।
हँसि समुझावति, कहति जसोमति, नई दुलहिया दैहौं।
तेरी सौं मेरी सुनि मैया अबहिं बियाहन जैहौं।
सूरदास ह्वै कुटिल बराती, गीत सुमगल गैहौं॥

(सूरसागर ८११)

बाल-क्रीड़ा और चेष्टाएँ—बालक्रीडा वात्सल्यरसके उद्बोधनका महत्त्वपूर्ण अग है। बालक्रीडासे वात्सल्यरस उद्दीप्त होता है। सूरदासने बाल भगवान्‌के शिशुरूप और बालरूप दोनाकी क्रीडाआका सुन्दर चित्रण किया है। श्रीकृष्ण आँगनमे घुटनाके बल चल रहे हैं। व किलकारी मार रहे हैं। नन्द और यशोदा उनकी क्रीडापर भावविभोर हा रहे ह। तोतले शब्द, दौडना, गिरना, फिर उठना, मणियाके आँगनमे अपने प्रतिबिम्बका पकडना—इसी तरहकी शिशुक्रीडाएँ हैं। श्रीकृष्ण कुछ बडे होते हैं तो यशादा उन्हे अँगुली पकडकर चलना सिखाती हैं। परोकी पजनियाँ बजती हें। यशोदा उन्ह नचाती ह और बडा आनन्द लेती हैं—*'आँगन स्याम नचावहीं जसुमति नँदरानी'*। श्रीकृष्ण अपनी चञ्चलताके कारण स्वय भी तरह-तरहकी चेष्टाएँ करत हैं। यशोदा दूध बिला रही हैं। उससे रईकी घुमड-घुमड ध्वनि हा रही है। श्रीकृष्णजी अपनी किकिणी और नूपुरोकी ध्वनि करते हुए उम्सी रईकी ध्वनिक साथ नाचते हैं—

त्यौं त्यौं मोहन नाचै ज्यौं ज्यौं रई-घमरकौ होइ री।
तैसियै किकिनि-धुनि पग-नूपुर, सहज मिले सुर दोइ री॥

श्रीकृष्णके खेलका बडा सुन्दर वणन सूरने किया है। कभी खीझते हैं, कभी चौगान खेलत हें, कभी भौंरा-चकडोरीसे खलते हैं। कभी खेलम एक-दूसरेको हारनेपर दावँ देनका अवसर देना पडता है। इस तरहका एक बडा वात्सल्यभरा वर्णन खेलके प्रसगम सूरदासने किया है। श्रीकृष्ण खेलम हार जाते हैं। श्रीदामा जीत जाते हैं। श्रीकृष्ण दावँ देना नहीं चाहते, परतु अन्तत खेलना भी चाहते हैं तो दावँ देते हें। इसका वर्णन सूरने इस प्रकार किया है—

खेलत मैं को काकौ गुसैयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस हीं कत करत रिसैयाँ॥
जाति-पाँति हमतैं बड़ नाहीं नाहीं बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातैं जातैं अधिक तुम्हारें गैयाँ॥
रूहठि करै तासौं को खेलै रहे बैठि जहँ-तहँ सब ग्वैयाँ।
सूरदास प्रभु खेल्यौइ चाहत दाउँ दियौ करि नद-दुहैयाँ॥

(सूरसागर ८६३)

माखनचोरी और उलाहने—श्रीकृष्णकी बाललीलाआम माखनचोरी बडी चर्चित रही है। सूरदासने श्रीकृष्णके माखनके अनुराग और माखन चुरानेके अनेक प्रसग गाये हैं। श्रीकृष्णके साथ माखन चुरानेवाले बालकाकी पूरी टोली होती हे। माखन खाना, माखन और दधिक भाजन फोडना, बदराको माखन खिलाना दूधम पानी मिलाना बछडे गायाक नीचे दूध पीनेको खोलकर छाड देना—इन सब बातासे गापियाँ तग आ जाती हैं। यशादाक पास उलाहने

लेकर आती हैं। पुत्रप्रेमके कारण यशोदा यह स्वीकार नहीं करतीं। वे श्रीकृष्णका पक्ष लेकर ग्वालिनोसे लडती हैं—

मेरौ गोपाल तनक सौ, कहा करि जानै दधि की चोरी।
हाथ नचावत आवति ग्वारिनि, जीभ करै किन थोरी।

(सूरसागर ९११)

कई बार दधि-माखन चुराते समय गोपियाँ श्रीकृष्णको पकड भी लेती हैं तो वे तरह-तरहके बहाने बना देते हैं। जैसे—मैं तो इस भाजनमेसे चींटी निकाल रहा था या मैंने अपना घर समझा इस धोखेमे आ गया। कई बार गोपियाँ पकडकर भी ले आयीं। सूरदासने ऐसे अनेक भावपूर्ण चित्र खींचे हैं। एक बार यशोदाने स्वय श्रीकृष्णको माखन चुराते देख लिया। उनका मुख दधिसे सना हुआ था। यशोदाने हाथमे साँटी ले ली। उस समय श्रीकृष्ण अत्यन्त कातर होकर जो उत्तर देते हैं और यशोदा सब कुछ जानते हुए भी कि श्रीकृष्ण अपराधी हैं, वे वात्सल्यरसकी दुग्धधवल धारामे निमग्न हो जाती हैं। सूरदासरचित वात्सल्यरसका बडा प्रसिद्ध पद है—

मैया मैं नहिं माखन खायौ।
ख्याल परैं ये सखा सबै मिलि, मेरैं मुख लपटायौ।
देखि तुही सींके पर भाजन, ऊँचैं धरि लटकायौ।
हौं जु कहत नान्हे कर अपने मैं कैसैं करि पायौ।
मुख दधि पौंछि, बुद्धि इक कीन्हीं, दोना पीठि दुरायौ।
डारि साँटि मुसुकाइ जसोदा स्यामहिं कठ लगायौ।
बाल-बिनोद-मोद मन मोह्यौ, भक्ति-प्रताप दिखायौ।
सूरदास जसुमति कौ यह सुख सिव बिरचि नहिं पायौ॥

(सूरसागर ९५२)

इस उपर्युक्त पदमे वात्सल्यरसकी पूर्ण निष्पत्ति हुई है। इसमे रसके सारे अवयव आ गये हैं। यशोदा इसमे आश्रय हैं। श्रीकृष्ण आलम्बन हैं। श्रीकृष्णकी चतुराई—मुखसे दधि पाछना और दोना पीछे छुपाना उद्दीपन हैं। साँटी डाल देना एव कण्ठसे लगा लेना अनुभाव हैं और मुसकराना सचारीभाव है। ऐसी रसमाधुरी लिये हुए वात्सल्यरसका चित्रण देखकर ही आचार्योने सूरको वात्सल्यरसका प्रतिष्ठापक कहा है।

मातृहृदय—सूरदासको माताके हृदयका सच्चा पारखी कहा गया है। सूरसागरमे भगवान् श्रीकृष्णकी बाललीलाओके वर्णनमे सबसे अधिक पद माताके हृदयपक्षसे सम्बद्ध हैं। माताके हृदयको पहचाननेके विषयमे सहृदयाका मानना है कि सूरदास बाललीलावर्णन करनेमे अद्वितीय हैं, यह बात सत्य है, किंतु मातृहृदयका चित्र खींचनेम ये अपनी सानी नहीं रखते।

यशोदा माता हैं। वे वात्सल्यमयी हैं। उन्होंने श्रीकृष्णके वात्सल्यका सर्वाधिक अनुभव किया है। सूरने उनके हृदयका अनुभव करके यशोदाकी आँखोसे कृष्णको देखकर स्वय प्रज्ञाचक्षु होते हुए भी इतनी मार्मिक अभिव्यक्ति की है जो देखते ही बनती है। माताकी अभिलाषा बच्चेके शीघ्र बडे होनेकी होती है। यशोदा कहती हैं—*'नान्हरिया गोपाल लाल, तू बेगि बड़ो किन होहि'*। यशोदाजी भगवान् श्रीकृष्णको अपना बच्चा समझती हैं। मिट्टी खानेके प्रसगमे भगवान् अपनी मायासे उन्हे विमोहित तो करते हैं, पर पुन उन्हे भुलावेमे डाल देते हैं। उन्हे याद नहीं रहता कि उन्होने श्रीकृष्णके मुखमे ब्रह्माण्ड देखा है।

सूरदासने माता यशोदाद्वारा श्रीकृष्णके घुटनो-चलने, पावो-चलने, दूधके दाँत देखने, तोतले वचन बोलने और बाल-क्रीडा करनेके अपने नाना भाँतिके मनोरथा, अपनी अभिलाषाको शब्दाद्वारा अभिव्यक्ति दी है। माताके हृदयका एक अत्यन्त भावभरा मार्मिक पद द्रष्टव्य है—

जसुमति मन अभिलाष करै।
कब मेरौ लाल घुटुरुवनि रेंगै, कब धरनी पग द्वैक धरै॥
कब द्वै दाँत दूध के देखौं, कब तोतरैं मुख बचन झरै।
कब नदहिं बाबा कहि बोलै, कब जननी कहि मोहिं ररै॥
कब मेरौ अँचरा गहि मोहन, जोइ-सोइ कहि मोसौं झगरै।
कब धौं तनक-तनक कछु खैहै अपने कर सौं मुखहिं भरै॥

(सूरसागर ६९४)

यशोदाजीके प्रत्येक कार्यमे—बच्चेके लालन-पालनमे वात्सल्य झलकता हे। प्रात उठनेके लिये मुँह धोनेके लिये और माखन-रोटी खानेके लिये बडे अनुरागसे श्रीकृष्णको राजी करती हैं। वे श्रीकृष्णके बडा होनेपर स्तन्य छुडाना चाहती हैं तो कितनी ममता-वात्सल्यभरी कलासे उनको समझाती हैं कि देखो अब तुम बडे हो गये हो माका दूध पियोगे तो तुम्हारे अच्छे दाँत बिगड जायँगे—

'जैहैं बिगरि दाँत ये अच्छे, तातैं कहि समुझावति।'

ग्वाल-बाल चिढाते हैं कि 'श्रीकृष्णको मोल लिया है', तो समझाती हैं—

सूर स्याम मोहिं गोधन की सौं, हौं माता तू पूत॥'

खेलते समय श्रीकृष्ण यशोदासे आँख मुँदवाते हैं।

श्रीकृष्ण सब बच्चोमे छोटे हैं, यशोदा चाहती हैं कि श्रीकृष्ण जीत जायँ। वे बता देती हैं कि बच्चे किधर है और श्रीकृष्ण श्रीदामाको पकड लेते हैं। श्रीदामाके चोर होनेपर कविने भावाभिव्यक्ति की है—

हँसि-हसि तारी देत सखा सब, भए श्रीदामा चोर।
सूरदास हँसि कहत जसोदा, जीत्यौ है सुत मोर॥

(सूरसागर ८५८)

ऊखलसे बाँधनेपर, माखन चोरी करनेपर और दूध बिलोते हो मटका फोडनेपर नाराज होकर भी माता भीतरसे द्रवित हो जाती हैं। उलाहना देनेपर कई बार गोपियोपर ही खीझ पडती हैं कि क्या हो गया जो माखन खा लिया तो—

कहन लगीं अब बढि-बढ़ि बात।
ढोटा मेरौ तुमहिं बँधायौ, तनकहिं माखन खात।

(सूरसागर ९७३)

—ये भाव यशोदा माताके हृदयकी अभिव्यक्ति करनेवाले हैं। जब श्रीकृष्ण गोवर्धनको उठा लेते हैं तो यशोदाका मातृहृदय बडे आश्चर्यमे पड जाता है। माताको पुत्र सदैव कोमल और अशक्त लगता है। यशोदा श्रीकृष्णके हाथ दबाने लगती हैं और बलैया लेती हैं। सूरदासजी वर्णन करते हैं—

गिरिवर कैसैं लियौ उठाइ।
कोमल कर चापति महतारी, यह कहि लेति बलाइ॥

(सूरसागर १५८५)

(ख) वियोग-वात्सल्य

सयोगसुखके अभावका नाम वियोग है। श्रीकृष्णके साथ नन्द-यशोदा, गोप-गोपी, ग्वाल-बाल और गाय-बछडोका बेहद लगाव था। श्रीकृष्णके अलग होनेपर उन सभीको वियोगकी अनुभूति होती है। श्रीकृष्णके वियोग-वात्सल्यकी अनुभूति सबसे अधिक यशोदाको होती है। श्रीकृष्णका वियोग दो अवसरोपर होता है—एक तो कालीदहमे कूद पडनेपर और दूसरा मथुरा चले जानेपर। कालीदहमे कूदनेका वियोग थोडी देरका होता है, पर यशोदाकी अतिशय वियोग-वात्सल्यभरी छटपटाहट देखनेमे आती है—

खन भीतर खन बाहिर आवति, खन आँगन इहिं भाँति।
सूर स्याम कौं टेरति जननी, नैंकु नहीं मन साँति॥

(सूरसागर ११५८)

वियोगका दूसरा अवसर श्रीकृष्णके मथुरागमनपर आता है—यह श्रीकृष्णका दीर्घकालीन वियोग है। सूरने सयोग-वात्सल्यकी तरह वियोग-वात्सल्यकी अभिव्यक्ति भी बडी गम्भीर, व्यापक और सूक्ष्म चित्रणद्वारा की है। मथुरा जानेके वियोगमे कसके द्वारा अनिष्टकी आशकासे वेदना और बलवती हो जाती है। श्रीकृष्णका दीर्घकालीन साहचर्य एकदम भुलाया भी नहीं जा सकता। श्रीकृष्णके मथुरागमनके अवसरपर चार बार वियोगकी अभिव्यक्ति सूरदासजीने अपने विशाल ग्रन्थ 'सूरसागर'मे की है—(१) मथुरा जाते समय, (२) नन्द आदिके मथुरासे लौटते समय, (३) कुछ दिन व्यतीत हो जानेपर नन्द तथा यशोदाके वार्तालाप करते समय और (४) उद्धवके आगमनके समय। वियोग-वात्सल्यके चित्रणमें सूरदासने माता यशोदाके विरहोद्गारोकी ही अभिव्यक्ति की है। मथुरा जाते समय वे अनिष्टकी आशकासे अभिभूत हो जाती हैं और श्रीकृष्ण तथा बलरामको ले जानेका सारा दोष अक्रूरको देती हैं। वे कातरताभरे शब्दोमे व्रजके लोगोको पुकारती हैं। उनके शब्दोम वियोग-वात्सल्यकी छटपटाहट व्यक्त होती है—

जसोदा बार बार यौं भाषै।
है कोउ ब्रज मैं हितू हमारो, चलत गुपालहिं राखै॥

(सूरसागर ३५९१)

नन्दजी भी यशोदाजीको समझाते हैं, परतु यशोदाको धैर्य नहीं बँधता। श्रीकृष्णके जाते समय चारो ओर व्रजके लोगोकी भीड है। बीचमे रथपर श्रीकृष्ण और बलरामजी बैठे हैं। यशोदा पृथ्वीपर लेट जाती हैं। वे अत्यन्त मार्मिक शब्दोमे श्रीकृष्णसे कहती हैं—'लाल! बिछुडते समय मेरी छातीसे लग जाओ।'

उद्धवके व्रज आनेपर उद्धव-गोपीसवादमें भी यशोदाकी दशाका वर्णन है। वे व्रजकी दशाका वर्णन करती हैं। गोप-गोपी और ग्वाल-बालोंके साथ गायोंकी दशाका वर्णन करती हैं। अपनी मिलनकी उत्सुकता प्रकट करती हैं। सूरने वर्णन किया है कि वे श्रीकृष्णको सुखी देखकर सतोष कर लेती हैं और अपना मातृत्वभरा आशिष् देती हैं—

कहियौ जसुमति की आसीस।
जहाँ रहौ तहँ नद लाड़िलौ, जीवौ कोटि बरीस॥

(सूरसागर ४७०७)

इस प्रकार सूरदासजीका सयोग-वात्सल्यके साथ वियोग-वात्सल्य भी विस्तृत और सूक्ष्म अन्तर्दशाओके साथ

पुष्टरूपम वर्णित है। वियोग, अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण आदि सब दशाएँ भी उनमे आ गयी हैं। सूरदासक वात्सल्यवर्णनमे अनेक स्थलोपर श्रीकृष्णके अलौकिक रूपका भा सकत किया गया है। भगवान् जब अपने चरणका अँगूठा मुखम डालते हैं तो *'उछरत सिधु, धराधर काँपत, कमठ पीठ अकुलाइ। सेष सहसफन डोलन लागे, हरि पीवत जब पाइ।'* ऐसा कहनमे भगवान्का अलौकिक रूप लक्षित है। *'सूरदास प्रभु गोकुल प्रगटे, मेटन कौं भू* ऐसा कहनमे भी अलौकिक स्वरूप प्रकट होत सूरदासजीन वात्सल्यका वर्णन अपने भक्तिभ अभिव्यक्तिक लिये किया है। विद्वानोने इसीसे वात्सल्यको वात्सल्य-भक्ति-रसकी कोटिमे रखा है

(डॉ० श्रीनिवासजी शर्मा, एम्०ए० (हिन्दी-सस्‍ पी-एच्०डी०)

भक्त नामदेवका नामप्रेम

'मर भाग्यम ज्ञान-वैराग्य कहाँ?' सत श्रीज्ञानेश्वरजीसे तीर्थयात्राके बीच उनक सत्सङ्गके अनन्तर श्रीनामदेवजीन कहा। 'मुझ तो विठोबाकी कृपाका ही आश्रय है। मुझ ता नाम-सकीतन ही प्रिय लगता है।'

हैदराबाद (दक्षिण)-के नरसी ब्राह्मणी नामक ग्रामम भगवद्भक्त छीपी (दर्जी) श्रीदामा सेठकी धर्मपत्नी गोणाइक गर्भसे कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा रविवार, सवत् १३२७ वि०-का प्रत्यूप-वेलाम श्रीनामदेवजीने जन्म लिया था। य शैशवस ही श्राविट्ठलके श्रीविग्रहकी पूजा, उनके गुणगान तथा उनक नामका जप करते रह। श्रीविट्ठलके चरणाम इनका अमित प्रेम था, उनका नाम इन्ह प्राणासे अधिक प्रिय था।

सृष्टिके प्रत्यक पदार्थम केवल विठोबाके ही दर्शन उन्ह हाते थ। घरके एक कोनेम आग लगी तो आप दूसरी ओरका सामान अग्निम फकते हुए बोले, 'प्रभो! इधर कृपा क्या नहीं करते?' अन्तत उन्हीं भक्तप्राणधनको उनकी कुटिया छानी पडी।

कुत्ता रोटी लेकर भागा तो आप घीकी कटारी लिय उसके पीछे चिल्लात हुए दौडे 'प्रभो! रोटी रूखी है। उसम घृत लगा लेने दीजिये।'

अपने आराध्यको इस रीतिसे सर्वत्र देखना उनके नाम-कोर्तनके विना क्षणभर भी चैनसे न रह पाना विश्वास निष्ठा और प्रेमकी पराकाष्ठा है और इसके सजीव प्रमाण श्रीनामदेवजी हैं।

श्रीनामदवजी यहाँतक कहते हैं कि 'जो नारायणका भजन नहीं करते मैं उनको देखना भी नहीं चाहता'—

जे न भजति नारायणा। तिनका मैं न करौं दरसणा॥

आप ससारकी कठिनाइया और जीवनकी निस्सार प्रकाश डालत हुए कहते हैं कि 'भगवान्की लीला अ समुद्र है, उसकी गति कोई नहीं देख सकता। ग्रहणके ता प्रभुका नाम है, उसे ही भजिये'—

तत्त गहनको नाम है, भजि लीजै सोई।
लीला सिंध अगाध है, गति लखै न कोई॥

'सानेके पर्वत, हाथी और घोडेका दान तथा क गायाका दान नामके समान नहीं। ऐसा नाम अपनी जी रखा जिससे जरा और मृत्यु पुन न हो'। अत एकाग्र होकर नामसकीर्तन करना चाहिये क्योकि इस भवसा रूपी ससारको पार करनेके लिये नाम ही जहाज है-

कचन मेरु-सुमेरु, हय-गज दीजै दाना।
काटि गऊ जो दान दे, नहिं नाम समाना॥
अस मन लाव नाम रसना। तेरो बहुरि न हाइ जरा-मर
एकै मन एकै दसा एकै व्रत धरिये।
नामदव नाम जहाज है, भवसागर तरिये॥

आप जोर देकर कहते हैं कि 'मेरी बात सच्ची म लो और निर्भय होकर भगवान्का भजन करो'—

कहत नामदेव साँची मान। निरभै होइ भजिलै भगवा

श्रीभगवान्के नामके ये अनन्य प्रेमी महात्मा नाम-उ करनेवाले पुरुषाके दर्शनसे अपनेको कृतार्थ अनुभव क थे उनक लिय अपना प्राण उनके सम्मुख रख देनेमे इन्ह हिचक नहीं थी। वे स्वय कह भी देते हैं—

कहत नामदेव बलि-बलि जैहौं, हरि भजि और न लेखो

सवत् १४०७ वि० म ८० वर्षकी आयुमें आप परमधामकी यात्रा की। महाराष्ट्रमे वारकरी पन्थके सस्थाप एक प्रकारसे आप ही हैं।

भक्त कविरत्न जयदेवजी और उनका श्रीकृष्ण-प्रेम

प्रसिद्ध भक्त-कवि जयदेवका जन्म लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व बगालके वीरभूमि जिलेके अन्तर्गत केन्दुबिल्व नामक ग्राममें हुआ था। इनके पिताका नाम भोजदेव और माताका नाम वामादेवी था। ये भोजदेव कान्यकुब्जसे बगालमे आये हुए पञ्च-ब्राह्मणोम भरद्वाजगोत्रज श्रीहर्षके वशज थे। माता-पिता बाल्यकालम ही जयदेवको अकेला छोडकर चल बसे थ। ये भगवान्‌का भजन करते हुए किसी प्रकार अपना निर्वाह करते थे। पूर्व-सस्कार बहुत अच्छे होनेके कारण इन्होने कष्टमे रहकर भी बहुत अच्छा विद्याभ्यास कर लिया था और सरल प्रेमके प्रभावसे भगवान् श्रीकृष्णकी परम कृपाके अधिकारी हो गये थे।

इनके पिताको उसी गाँवके निरञ्जन नामक एक ब्राह्मणके कुछ रुपये देने थे। निरञ्जनने जयदेवको ससारसे उदासीन जानकर उनकी भगवद्भक्तिसे अनुचित लाभ उठानेके विचारसे किसी प्रकार उनके घर-द्वार हथियानेका निश्चय किया। उसने एक दस्तावेज बनाया और आकर जयदेवसे कहा—'देख जयदेव! मैं तेरे राधा-कृष्णको और गोपी-कृष्णको नहीं जानता या तो अभी मेरे रुपये ब्याज-समेत दे दे, नहीं तो इस दस्तावेजपर सही करके घर-द्वारपर मुझे अपना क़ब्जा कर लेने दे!'

जयदेव तो सर्वथा नि स्पृह थे। उन्हे घर-द्वारमे रत्तीभर भी ममता न थी। उन्होंने कलम उठाकर उसी क्षण दस्तावेजपर हस्ताक्षर कर दिये। निरञ्जन कब्जा करनेकी तैयारीसे आया ही था। उसने तुरत घरपर कब्जा कर लिया। इतनेमे ही निरञ्जनकी छोटी कन्या दौडती हुई अपने घरसे आकर निरञ्जनसे कहने लगी—'बाबा! जल्दी चलो, घरमे आग लग गयी, सब जल गया।' भक्त जयदेव वहीं थे। उनके मनमे द्वेष-हिसाका कहीं लेश भी नहीं था निरञ्जनके घरम आग लगनेकी खबर सुनकर वे भी उसी क्षण दौडे और जलती हुई लाल-लाल लपटोके अदर उसके घरम घुस गये। जयदेवका घरमे घुसना ही था कि अग्नि वैसे ही अदृश्य हो गयी जैसे जागते ही सपना!

जयदेवकी इस अलौकिक शक्तिको देखते ही निरञ्जनके नेत्रोमे जल भर आया। अपनी अपवित्र करनीपर पछताता हुआ। निरञ्जन जयदेवके चरणोमे गिर पडा और दस्तावेजको फाडकर कहने लगा—'देव! मेरा अपराध क्षमा करो, मैंने लोभवश थोडे-से पैसाके लिये जान-बूझकर बेईमानीसे तुम्हारा घर-द्वार छीन लिया है। आज तुम न होते तो मेरा तमाम घर ख़ाक हो गया होता। धन्य हो तुम! आज मैंने भगवद्भक्तका प्रभाव जाना।'

उसी दिनसे निरञ्जनका हृदय शुद्ध हो गया और वह जयदेवके सङ्गसे लाभ उठाकर भगवान्‌के भजन-कीर्तनमें समय बिताने लगा। उसका जीवन भगवत्प्रेममय हो गया।

भगवान्‌की अपने ऊपर इतनी कृपा देखकर जयदेवका हृदय द्रवित हो गया। उन्होने घर-द्वार छोडकर पुरुषोत्तम-क्षेत्र—पुरी जानेका विचार किया और अपने गाँवके पराशर नामक ब्राह्मणको साथ लेकर वे पुरीकी ओर चल पडे। भगवान्‌का भजन-कीर्तन करते, मग्न हुए जयदेवजी चलने लगे। एक दिन मार्गमे जयदेवजीका बहुत दूरतक कहीं जल नहीं मिला। बहुत जोरकी गरमी पड रही थी, वे प्यासके मारे व्याकुल होकर जमीनपर गिर पडे। तब भक्तवाञ्छाकल्पतरु हरिने स्वय गोपाल-बालकके वेषम पधारकर जयदेवको कपडेसे हवा की और जल तथा मधुर दूध पिलाया। तदनन्तर मार्ग बतलाकर उन्हे शीघ्र ही पुरी पहुँचा दिया। अवश्य ही भगवान्‌को छद्मवेषमे उस समय जयदेवजी और उनके साथी पराशरने पहचाना नहीं।

जयदेवजी प्रेममे डूबे हुए सदा श्रीकृष्णका नाम-गान करते रहते थे। एक दिन भावावेशमे अकस्मात् उन्होने देखा मानो चारो ओर सुनील पर्वतश्रेणी है नीचे कल-कल निनादिनी कालिन्दी बह रही है। यमुना-तीरपर कदम्बके नीचे खडे हुए भगवान् श्रीकृष्ण मुरली हाथमे लिये मुसकरा रहे हैं। यह दृश्य देखते ही जयदेवजीके मुखसे अकस्मात् यह गीत निकल पडा—

मेघैर्मेदुरमम्बर वनभुव श्यामास्तमालद्रुमै-
र्नक्त भीरुरय त्वमेव तदिम राधे गृह प्रापय।
इत्थ नन्दनिदेशतश्चलितयो प्रत्यध्वकुञ्जद्रुम
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रह केलय ॥

पराशर इस मधुर गानको सुनकर मुग्ध हो गया। बस,

यहींसे ललितमधुर 'गीतगोविन्द' आरम्भ हुआ। कहा जाता है, यहीं जयदवजीको भगवान्के दशावताराके प्रत्यक्ष दर्शन हुए और उन्होने *'जय जगदीश हरे'* की टेर लगाकर दसो अवतारोकी क्रमश स्तुति गायी। कुछ समय बाद जब उन्हे बाह्य ज्ञान हुआ, तब पराशरको साथ लेकर वे चले भगवान् श्रीजगन्नाथजीके दर्शन करने। भगवान्के दर्शन प्राप्तकर जयदवजी बहुत प्रसन्न हुए। उनका हृदय आनन्दसे भर गया। वे पुरुषोत्तमक्षेत्र—पुरीमे एक विरक्त सन्यासीकी भाँति रहने लगे। उनका कोई नियत स्थान नहीं था। प्राय वृक्षके नीचे ही वे रहा करते और भिक्षाद्वारा क्षुधा-निवृत्ति करते। दिन-रात प्रभुका ध्यान चिन्तन और गुणगान करना ही उनके जीवनका एकमात्र कार्य था।

विवाहकी इच्छा न होनेपर भी सुदेव नामके एक ब्राह्मणने भगवान्की आज्ञासे अपनी पुत्री पद्मावती जयदेवजीको अर्पित कर दी। भगवान्का आदेश मानकर जयदेवजीको पद्मावतीके साथ विवाह करना पडा। कुछ दिना बाद गृहस्थ बने हुए जयदेव पतिव्रता पद्मावतीको साथ लेकर अपने गाँव केन्दुबिल्व लौट आये और भगवान् श्रीराधामाधवकी युगल श्रीमूर्ति प्रतिष्ठित करके दोना उनकी सेवामे प्रवृत्त हो गये।

कुछ समय केन्दुबिल्वमे रहनेके बाद जयदेवजी यात्राको निकले। एक राजाने उनका बडा सम्मान करके उन्हे अपने यहाँ रखा और वहाँसे चलते समय इच्छा न रहनेपर भी बहुत-सा धन उन्हे दे दिया। जयदेवजीने उसे लेनेसे इनकार किया परतु जब राजा किसी प्रकार भी नहीं माना, तब मन मारकर उन्होने राजाकी प्रसन्नताके लिये नि स्पृह और निर्मम भावसे कुछ धन साथ ले लिया तथा वहाँसे वे अपने गॉवको चल पडे। मार्गमे कुछ डाकुओने पीछेसे आक्रमण करके जयदेवजीको नीचे गिरा दिया और देखते-ही-देखते उनके हाथ-पैर काटकर उन्हे एक कुएँमे डाल दिया। अनित्य धनकी गठरीके साथ ही उन्होने महान् दु खके कारणरूप भयानक पापकी भारी पोटली भी बाँध ली। अपनी सफलतापर गर्व करते हुए डाकू वहाँसे चल दिये।

भगवत्कृपासे कुएँमे जल बिलकुल नहीं था इससे जयदेवजी डूबे नहीं। भगवान्की दयासे उन्हे कहीं चोट भी नहीं आयी। वे कुएँके अदर एक सुन्दर शिलाको पाकर उसीपर सुखसे बैठ गये और प्रभुके विधानपर परम प्रसन्न होते हुए प्रेमसे उनका नाम-गुण-कीर्तन करने लगे। जयदेवजीने सोचा कि हो-न-हो यह मेरे धन-ग्रहण करनेका ही परिणाम है!

थोडी देर बाद उधरसे गौडेश्वर राजा लक्ष्मणसेनकी सवारी निकली। कुएँमसे आदमीकी आवाज आती सुनकर राजाने देखनेकी आज्ञा दी। एक सेवकने जाकर देखा तो मालूम हुआ, कोई मनुष्य सूखे कुएँमे बैठा श्रीकृष्णनामकीर्तन कर रहा है। राजाकी आज्ञासे उसी क्षण जयदेव बाहर निकाले गये और इलाज करानेके लिये उन्हे साथ लेकर राजा अपनी राजधानी गौडको लौट आये। श्रीजयदेवजीकी विद्वत्ता और उनके श्रीकृष्ण-प्रेमका परिचय प्राप्तकर राजाको बडी प्रसन्नता हुई तथा उनके लोकोत्तर गुणोको देख वह उनका भक्त बन गया। राजाने हाथ-पैर काटनेवालोका नाम-पता और हुलिया पूछा। जयदवजी नाम-पता तो जानते ही नहीं थे, हुलिया भी उन्होने इसलिये नहीं बताया कि कहीं राजकर्मचारी उनका पता लगाकर उन्हे तग न करे।

चिकित्सासे जयदेवजीके घाव सूख गये। राजाने उन्हे अपनी पञ्चरत्न-सभाका प्रधान बना दिया और सर्वाध्यक्षताका सारा भार उन्हे सौंप दिया। इसके कुछ दिना बाद इनकी पत्नी पद्मावती भी श्रीराधामाधवकी युगल मूर्तिको लेकर पतिके पास चली आयीं। राजा हर तरहसे धनादि देकर जयदवजीका सम्मान करना चाहते, परतु धन-मानके विरागी भक्त जयदेव मामूली खर्चके सिवा कुछ भी नहीं लेते थे। एक दिन राजमहलमे कोई महोत्सव था। उसमे भोजन करनेके लिये हजारो दरिद्र, भिक्षुक अतिथि, ब्राह्मण, साधु आदि आये थे। उन्हींमे साधुवेषधारी वे चारो डाकू भी थे जिन्होने जयदेवजीको धनके लोभसे उनके हाथ-पैर काटकर कुएँमे फेक दिया था।

डाकुओको क्या पता था कि हमने जिसे मरा समझ लिया था वही यहाँ सर्वाध्यक्ष है। डाकुओने दूरसे ही जयदेवजीको देखा और लूले-लँगडे देखकर उन्हे तुरत पहचान लिया। वे डरकर भागनेका मौका देखने लगे। इतनेमे ही जयदेवजीकी दृष्टि उनपर पडी। देखते ही वे वैसे ही आनन्दमे भर गये जैसे बहुत दिनोके बिछुडे बन्धुओको देखकर बन्धुको आनन्द होता है। जयदेवजीने मनमे सोचा 'इन्हे धनकी आवश्यकता होगी। राजा मुझसे सदा धन लेनेको कहा करते हैं आज इन्हे कुछ धन दिलवा दिया जायगा तो बडा सतोष होगा।' जयदवजीने राजासे कहा—

'मेरे कुछ पुराने मित्र आये हैं, आप चाहे तो इन्हें कुछ धन दे सकते हैं।' कहनेभरकी देर थी। राजाने तुरत उन्हें अपने पास बुलाया और उनकी इच्छाके अनुसार बहुत-सा धन-धान्य देकर आदरपूर्वक खिलाने-पिलानेके बाद वस्त्रालङ्कारासे पुन सम्मानित करके प्रेमपूर्वक उनको विदा कर दिया। धनका बोझ ज्यादा हो गया था तथा रास्तेमे सँभालकी भी आवश्यकता थी, इसलिये जयदेवजीने एक अफसरके साथ चार सेवकाको उनके साथ कर दिया। राहम अफसरने उनके इतना धन-सम्मान पानेका रहस्य जाननेके लिये उनसे पूछा कि 'भाइयो! आपका नि स्पृह भक्तवर जयदेवजीके साथ क्या सम्बन्ध है, जिससे उन्हाने आपलोगाको इतनी अपार सम्पत्ति दिलवाकर आपके उपकारका बदला चुकाया है?'

पापबुद्धि डाकुओने ईश्वरके न्याय और भयको भुलाकर कपटसे कहा—'साहब! तुम्हारा यह अध्यक्ष और हमलोग एक राज्यमे कर्मचारी थे। हमलोग अफसर थे और यह हमारी मातहतीम काम करता था इसने एक बार ऐसा कुकर्म किया कि राजाने गुस्सेम आकर इसका सिर उडा दनेकी आज्ञा दे दी। उस समय हमलागोने दया करके इसे बचा लिया और इसके हाथ-पैर कटवाकर छोड दिया। हम कहीं यह भेद खोल न दे, इसी भयसे इसने हमारा इतना सम्मान किया-कराया है। हमने भी उसका बुरा हो जानेके डरसे कुछ भी नहीं कहा।'

डाकुआका इतना कहना था कि धडामसे धरती फटी और चारा जीते ही उसमे समा गये! राजकर्मचारी आश्चर्यम डूब गया।

तदनन्तर अफसर नौकरोके सिरपर सारा धन लदवाकर वापस राजधानीको लौट आये और राजासे उन्होने सारा हाल सुना दिया। राजाने जयदेवका बुलाकर चकित मनसे सब बाते सुनायीं। इतनेम ही राजा यह देखकर आश्चर्य और हर्षमे डूब गया कि जयदेवजीकी आँखोसे आँसुओकी धारा बह रही है तथा उनके कटे हुए हाथ-पैर उसी क्षण पुन पूर्ववत् स्वाभाविक हो गये हैं। राजाने विस्मित होकर बडे ही कौतूहलसे आग्रहपूर्वक सारा हाल पूछा। जयदेवजीको अब सच्ची घटना सुनानी पडी। दयालुहृदय जयदेवजीने कहा—'राजन्! मैं बहुत ही अभागा हूँ, जिसके कारण उन बेचारोके प्राण गये। मैंने धनको बुरा समझकर छोड दिया था पुन राजाके आग्रहसे उसे ग्रहण किया। इसीसे वनमे उन बेचारोकी बुद्धि लोभवश दूषित हो गयी ओर उन्होने धन छीननेके लिये मुझे लूला-लँगडा करके कुएँम डाल दिया। इस प्रकार उन्होने धनका और धन-ग्रहणका प्रत्यक्ष दोष सिद्ध कर मरे साथ मित्रताका ही बर्ताव किया। मैं उनके उपकारसे दब गया, इसीसे उन्हे आपके पाससे धन दिलवाया। अधिक धन दिलवानेमे मेरा एक हेतु यह भी था—यदि उनकी धनकी कामना पूर्ण हो जायगी तो वे डाकूपनके निर्दय कामको छोड दगे। अवश्य ही मेरे हाथ-पैर किसी पूर्वकृत कर्मके फलसे ही कटे थे वे तो केवल लोभवश निमित्त बने थे। आज अपने ही कारणसे उनकी इस प्रकार अप्राकृतिक मृत्युका समाचार सुनकर मुझे रोना आ रहा है। यदि उनका दोप हो तो भगवान् उन्हे क्षमा करे। कितना आश्चर्य है कि मेरे दोष न देखकर भगवान्ने दया करके मेरे हाथ-पैर पुन पूर्ववत् बना दिये हैं। राजन्! ऐसे मेरे प्यारे श्रीकृष्णको जो नहीं भजता उसके समान अभागा और कौन होगा।'

भक्तप्रवर श्रीजयदेवजीकी वाणी सुनकर राजा चकित हो उनके चरणामे लोट गया। भक्तहृदयकी महत्ताका प्रत्यक्ष परिचय प्राप्तकर वह उनसे अत्यन्त प्रभावित होकर भक्त बन गया!

जयदेवजीकी पत्नी पद्मावती भी छायाकी भाँति सब प्रकारसे स्वामीका अनुवर्तन करनेवाली थी। भगवान्के प्रति उसका प्रेम भी असीम था। पातिव्रत-धर्मका महत्त्व वह भलीभाँति जानती थी। जयदेवजी राजपूज्य थे। इससे रानी राजमाता आदि राजमहलकी महिलाएँ भी उनके घर पद्मावतीजीके पास आकर सत्सङ्गका लाभ उठाया करती थीं। रानी बहुत ही सुशीला, साध्वी, धर्मपरायणा ओर पतिव्रता थी। परतु उसके मनमे कुछ अभिमान था इससे किसी-किसी समय वह कुछ दु साहम कर बैठती थी। एक दिन पद्मावतीके साथ भी वह ऐसा ही दु साहसपूर्ण कार्य कर बैठी।

सत्सङ्ग हो रहा था। बातो-ही-बातोमे पद्मावतीने सती-धर्मकी महिमा बतलाते हुए कहा कि 'जो स्त्री स्वामीके मर जानेपर उसक शवके साथ जलकर मती होती है, वह तो नीची श्रेणीकी ही सती है। उच्च श्रेणीकी सती तो पतिके मरणका समाचार सुनते ही प्राण त्याग देती है।' रानीको यह बात नहीं जँची। उसने समझा पद्मावती अपने

सतीत्वका गौरव बढानेके लिये ऐसा कह रही है। मनमे ईर्ष्या जाग उठी, रानी परीक्षा करनेका निश्चय करके बिना ही कुछ कहे महलको लौट गयी। एक समय राजाके साथ जयदेवजी कहीं बाहर गये थे। रानी सुअवसर समझकर दम्भसे विषादयुक्त चेहरा बनाकर पद्मावतीके पास गयी और कपट-रुदन करते-करते कहा कि 'पण्डितजीको वनमे सिह खा गया।' उसका इतना कहना था कि पद्मावती 'श्रीकृष्ण-कृष्ण' कहकर धडामसे पृथ्वीपर गिर पडी! रानीने चौंककर देखा तो पद्मावती अचेतन मालूम हुई—परीक्षा करनेपर पता लगा कि पद्मावतीके प्राणपखेरू शरीरसे उड गये हैं। रानीके होश उड गये। उसे अपने दु साहसपूर्ण कुकृत्यपर बडा पश्चात्ताप हुआ। वह सोचने लगी, 'अब मैं महाराजको कैसे मुँह दिखाऊँगी। जब पतिदेव अपने पूज्य गुरु जयदेवजीकी धर्मशीला पत्नीकी मृत्युका कारण मुझको समझेगे, तब उन्हे कितना कष्ट होगा! जयदेवजीको भी कितना सन्ताप होगा! हा दुर्दैव!' इतनेमे ही जयदेवजी आ पहुँचे। राजाके पास भी मृत्यु-सवाद जा पहुँचा था, वह भी वहीं आ गया। राजाके दु खका पार नहीं रहा। रानी तो जीते ही मरेके समान हो गयी। जयदेवजीने रानीकी सखियोसे सारा हाल जानकर कहा—'रानी-मासे कह दो, घबराएँ नहीं। मेरी मृत्युके सवादसे पद्मावतीके प्राण निकल गये तो अब मेरे जीवित यहाँ आ जानेपर उन प्राणोको वापस भी आना पडेगा।' जयदेवजीने मन-ही-मन भगवान्से प्रार्थना की। कीर्तन आरम्भ हो गया। जयदेवजी मस्त होकर गाने लगे। धीरे-धीरे पद्मावतीके शरीरमे प्राणोका सञ्चार हो आया। देखते-ही-देखते वह उठ बैठी और हरि-ध्वनि करने लगी। रानी आनन्दकी अधिकतासे रो पडी। उसने कलङ्क-भञ्जन श्रीकृष्णको धन्यवाद दिया और भविष्यमे कभी ऐसा दु साहस न करनेकी प्रतिज्ञा कर ली। सब ओर आनन्द छा गया। जयदेवजीकी भक्ति और पद्मावतीके पातिव्रतका सुयश चारो ओर फैल गया।

कुछ समय गौडमे रहनेके बाद पद्मावती और श्रीराधामाधवजीके विग्रहोको लेकर राजाकी अनुमतिसे जयदेवजी अपने गाँवको लौट आये। यहाँ उनका जीवन श्रीकृष्णके प्रेममे एकदम डूब गया। उसी प्रेमरसमे डूबकर इन्होने मधुर 'गीतगोविन्द' की रचना की।

एक दिन श्रीजयदेवजी 'गीतगोविन्द' की एक कविता लिख रहे थे, परतु वह पूरी ही नहीं हो पाती थी। पद्मावतीने कहा—'देव! स्नानका समय हो गया है, अब लिखना बद करके आप स्नान कर आये तो ठीक हो।' जयदेवजीने कहा—'पद्मा! जाता हूँ। क्या करूँ मैंने एक गीत लिखा है, परतु उसका शेष चरण ठीक नहीं बैठता। तुम भी सुनो—

स्थलकमलगञ्जन मम हृदयरञ्जन
जनितरतिरङ्गपरभागम् ।
भण मसृणवाणि करवाणि चरणद्वय
सरसलसदलक्तकरागम् ॥
स्मरगरलखण्डन मम शिरसि मण्डनम्—

इसके बाद क्या लिखूँ, कुछ निश्चय नहीं कर पाता। पद्मावतीने कहा—'इसमे घबरानेकी कौन-सी बात है। गङ्गास्नानसे लौटकर शेष चरण लिख लीजियेगा।'

'अच्छा यही सही। ग्रन्थको और कलम-दावातको उठाकर रख दो, मैं स्नान करके आता हूँ।'

जयदेवजी इतना कहकर स्नान करने चले गये। कुछ ही मिनटो बाद जयदेवका वेष धारणकर स्वय भगवान् श्रीकृष्ण पधारे और बोले—'पद्मा! जरा 'गीतगोविन्द' देना।'

पद्मावतीने विस्मित होकर पूछा,—'आप स्नान करने गये थे न? बीचसे ही कैसे लौट आये?'

महामायावी श्रीकृष्णने कहा—'रास्तेमे ही अन्तिम चरण याद आ गया, इसीसे लौट आया।' पद्मावतीने ग्रन्थ और कलम-दावात ला दिये। जयदेव-वेषधारी भगवान्ने—

'देहि मे पदपल्लवमुदारम्।'

—लिखकर कविताकी पूर्ति कर दी। तदनन्तर पद्मावतीसे जल मँगाकर स्नान किया और पूजादिसे निवृत्त होकर भगवान्को निवेदन किया हुआ पद्मावतीके हाथसे बना भोजन पाकर पलँगपर लेट गये।

पद्मावती पत्तलमे बचा हुआ प्रसाद पाने लगी। इतनेमे ही स्नान करके जयदेवजी लौट आये। पतिको इस प्रकार आते देखकर पद्मावती सहम गयी और जयदेव भी पत्नीको भोजन करते देखकर विस्मित हो गये। जयदेवजीने कहा—'यह क्या? पद्मा आज तुम श्रीमाधवको भोग लगाकर मुझको भोजन कराये बिना ही कैसे जीम रही हो? तुम्हारा ऐसा आचरण तो मैंने कभी नहीं देखा।'

पद्मावतीने कहा—'यह आप क्या कह रहे हैं ? आप कविताका शेष चरण लिखनेके लिये रास्तेसे ही लौट आये थे कविताकी पूर्ति करनेके बाद आप अभी-अभी तो स्नान-पूजन-भोजन करके लेटे थे। इतनी देरमें मैं आपको नहाये हुए-से आते कैसे देख रही हूँ!' जयदेवजीने जाकर देखा, पलँगपर कोई नहीं लेट रहा है। वे समझ गये कि आज अवश्य ही यह भक्तवत्सलकी कृपा हुई है। फिर कहा—'अच्छा पद्मा! लाओ तो देखें, कविताकी पूर्ति कैसे हुई है।'

पद्मावती ग्रन्थ ले आयी। जयदेवजीने देखकर मन-ही-मन कहा—'यही तो मेरे मनमें था, पर मैं सकोचवश लिख नहीं रहा था।' फिर वे दोनों हाथ उठाकर रोते-रोते पुकारकर कहने लगे—'हे कृष्ण! नन्दनन्दन, हे राधावल्लभ, हे व्रजाङ्गनाधव, हे गोकुलरत्न, करुणासिन्धु, हे गोपाल! हे प्राणप्रिय! आज किस अपराधसे इस किङ्करको त्यागकर आपने केवल पद्माका मनोरथ पूर्ण किया!' इतना कहकर जयदेवजी पद्मावतीकी पत्तलसे श्रीहरिका प्रसाद उठाकर खाने लगे। पद्मावतीने कितनी ही बार रोककर कहा—'नाथ! आप मेरा उच्छिष्ट क्यों खा रहे हैं?' परंतु प्रभु-प्रसादके लोभी भक्त जयदेवने उसकी एक भी नहीं सुनी।

इस घटनाके बाद उन्होंने 'गीतगोविन्द' को शीघ्र ही समाप्त कर दिया। तदनन्तर वे उसीको गाते मस्त हुए घूमा करते। वे गाते-गाते जहाँ कहीं जाते, वहीं भक्तका कोमलकान्त गीत सुननेके लिये श्रीनन्दनन्दन छिपे हुए उनके पीछे-पीछे रहते। धन्य प्रभु!

अन्तकालमें श्रीजयदेवजी अपनी पतिपरायणा पत्नी पद्मावती और भक्त पराशर, निरञ्जन आदिको साथ लेकर वृन्दावन चले गये तथा वहाँ भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर लीला देख-देखकर आनन्द लूटते रहे। कहते हैं कि वृन्दावनमें ही वे देह त्यागकर नित्यनिकेतन गोलोक पधार गये।

किसी-किसीका कहना है कि जयदेवजीने अपने ग्राममें शरीर छोड़ा था और उनके घरके पास ही उनका समाधि-मन्दिर बनाया गया।

आचार्य श्रीमधुसूदन सरस्वतीजीका श्रीकृष्ण-प्रेम

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

जिनके करकमल वंशीसे विभूषित हैं, जिनकी नवीन मेघकी-सी आभा है, जिनके पीत वस्त्र हैं अरुण बिम्बफलके समान अधरोष्ठ हैं पूर्ण चन्द्रके सदृश सुन्दर मुख और कमलके-से नयन हैं, ऐसे भगवान् श्रीकृष्णको छोड़कर अन्य किसी भी तत्त्वको मैं नहीं जानता।

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महो धावति॥
(मधुसूदनी गीताटी०)

ध्यानाभ्याससे मनको स्ववश करके योगीजन यदि किसी प्रसिद्ध निर्गुण, निष्क्रिय परमज्योतिको देखते हैं तो वे उसे भले ही देखें, हमारे लिये तो श्रीयमुनाजीके तटपर जो कृष्णनामवाली वह अलौकिक नील ज्योति दौड़ती फिरती है, वही चिरकालतक लोचनोंको चकाचौंधमें डालनेवाली हो।

श्रीमधुसूदन सरस्वतीजी अद्वैत वेदान्तके महान् तत्त्वज्ञ थे, किंतु भगवान् मनमोहनकी मोहिनी छटाने उनपर ऐसा प्रभाव डाला कि फिर वे सदाके लिये उनकी गुणावलीपर रीझते ही चले गये। भगवान्का स्वरूप ही ऐसा है कि उसपर अमलात्मा-विमलात्मा ज्ञानीजन भी मुग्ध हो जाते हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥
(श्रीमद्भा० १।७।१०)

अर्थात् जो लोग ज्ञानी हैं, जिनकी अविद्याकी गाँठ खुल गयी है और जो सदा आत्मामें ही रमण करनेवाले हैं, वे भी भगवान्की हेतुरहित भक्ति किया करते हैं क्योंकि भगवान्के गुण ही ऐसे मधुर हैं, जो सबको अपनी ओर खींच लेते हैं।

श्रीमधुसूदनाचार्यजीने गीताकी मधुसूदनी टीकाके प्रारम्भमें मङ्गलाचरणके रूपमे उपर्युक्त श्लोकोद्वारा भगवान् श्रीकृष्णका जो स्वरूप चित्रित किया है, उससे उनका श्रीकृष्णप्रेम स्पष्ट झलकता है।

ईसाकी लगभग सोलहवीं शताब्दीमे बगालके फरीदपुर जिलेके कोटालपाडा ग्राममे प्रमोदन पुरन्दर नामक एक विद्वान् ब्राह्मण रहते थे। उनके तृतीय पुत्र हुए कमलनयनजी। इन्होने न्यायके अगाध विद्वान् गदाधरभट्टके साथ नवद्वीपके हरिराम तर्कवागीशसे न्यायशास्त्रका अध्ययन किया। काशी आकर दण्डिस्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रमजीसे इन्होने वेदान्तका अध्ययन किया और यहीं सन्यास ग्रहण किया। सन्यासका इनका नाम 'मधुसूदन सरस्वती' पडा।

स्वामी मधुसूदन सरस्वतोको शास्त्रार्थ करनेकी धुन थी। काशीके बडे-बडे विद्वानोको ये अपनी प्रतिभाके बलसे हरा देते थे। परतु जिसे श्रीकृष्ण अपनाना चाहते हो, उसे मायाका यह थोथा प्रलोभन-जाल कबतक उलझाये रख सकता है। एक दिन एक वृद्ध दिगम्बर परमहसने उनसे कहा—'स्वामीजी! सिद्धान्तकी बात करते समय तो आप अपनेको असङ्ग, निर्लिप्त ब्रह्म कहते हैं, पर सच बताइये क्या विद्वानोको जीतकर आपके मनमे गर्व नहीं होता? यदि आप पराजित हो जायँ, तब भी क्या ऐसे ही प्रसन्न रह सकोगे? यदि आपको घमड होता है तो ब्राह्मणोको दु खी करने, अपमानित करनेका पाप भी होगा।' कोई दूसरा होता तो मधुसूदन सरस्वती उसे फटकार देते, परतु उन सतके वचनोसे वे लज्जित हो गये। उनका मुख मलिन हो गया। परमहसने कहा—'भैया! पुस्तकोके इस थोथे पाण्डित्यमे कुछ रखा नहीं है। ग्रन्थोकी विद्या और बुद्धिके बलसे किसीने इस मायाके दुस्तर जालको पार नहीं किया है। प्रतिष्ठा तो देहकी होती है और देह नश्वर है। यश तथा मान-बडाईकी इच्छा भी एक प्रकारका शरीरका मोह ही है। तुम श्रीकृष्णकी शरण लो। उपासना करके हृदयसे इस गर्वके मैलको दूर कर दो। सच्चा आनन्द तो तुम्हे आनन्दकन्द श्रीवृन्दावनचन्द्रके चरणोमे ही मिलेगा।'

स्वामीजीने उन महात्माके चरण पकड लिये। दयालु सतने श्रीकृष्ण-मन्त्र देकर उपासना तथा ध्यानकी विधि बतायी और चले गये। मधुसूदन सरस्वतीने तीन महीनेतक उपासना की। जब उनको इस अवधिमे कुछ लाभ न जान पडा, तब काशी छोडकर ये घूमने निकल पडे। कपिलधाराके पास वही सत इन्हे फिर मिले। उन्होने कहा—'स्वामीजी! लोग तो भगवत्प्राप्तिके लिये अनेक जन्मोतक साधन, भजन और तप करते हैं, फिर भी बडी कठिनतासे उन्हे भगवान्के दर्शन हो पाते हैं, पर आप तो तीन ही महीनेमे घबरा गये।' अब अपनी भूलका स्वामीजीको पता लगा। ये गुरुदेवके चरणोपर गिर पडे। काशी लौटकर ये फिर भजनमे लग गये। प्रसन्न होकर श्रीश्यामसुन्दरने इन्हे दर्शन दिये।

अद्वैतसिद्धि सिद्धान्तबिन्दु, वेदान्तकल्पलतिका, अद्वैत-रत्न-रक्षण और प्रस्थानभेदके लेखक इन प्रकाण्ड नैयायिक तथा वेदान्तके विद्वान्ने भक्तिरसायन गीताकी 'गूढार्थदीपिका' नामक व्याख्या एव श्रीमद्भागवतकी व्याख्या लिखी। ये कहते हैं—'यह ठीक है कि अद्वैत ज्ञानके मार्गपर चलनेवाले मुमुक्षु मेरी उपासना करते हैं, यह भी ठीक है कि आत्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करके मैं स्वाराज्यके सिहासनपर आरूढ हो चुका हूँ, किंतु क्या करूँ, एक कोई गोपकुमारियोका प्रेमी शठ है, उसी हरिने बलपूर्वक मुझे अपना दास बना लिया है'—

> अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्या
> स्वाराज्यसिहासनलब्धदीक्षा ।
> शठेन केनापि वय हठेन
> दासीकृता गोपवधूविटेन॥

आचार्यजीका कहना है कि भक्तिका फल प्रत्यक्ष भी है और परोक्ष भी। जिस प्रकार गङ्गास्नानसे तापपीडित मनुष्यको प्रत्यक्ष शान्ति मिलती है और उसका पाप-नाश आदि अदृष्ट फल भी शास्त्रोमे कहा गया है, उसी प्रकार भक्तिसे प्रत्यक्ष सुख-शान्तिकी अनुभूति होती है तथा भक्तिविधायक शास्त्रासे मोक्ष आदि फलकी प्राप्ति भी सुनी जाती है—

> दृष्टादृष्टफला भक्ति सुखव्यक्तेर्विधेरपि।
> निदाघदूनदेहस्य गङ्गास्नानक्रिया यथा॥

(भक्तिरसायन २।४७)

भगवत्प्रेमी भक्तके लक्षण

(पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज)

अन्य समस्त कार्य छोडकर जो सर्वदा एकमात्र भगवान्‌का ही अवलम्बन करता है, एकमात्र भगवान्‌की सेवा-पूजाम तन-मन-धनसे निरन्तर नियुक्त रहता है, वह भक्त नमस्कारयोग्य है।

जो भगवान्‌म समस्त लोक और समस्त लोकोमे भगवान्‌का दर्शन करता है, जो सर्वत्र समानबुद्धि रखता है और सर्वभूतोमे प्रेम रखता है, वह भक्त नमस्कारयोग्य है।

जिसको अपने और परायेका भेद नहीं है, जिसको इच्छा, द्वेष और अभिमान नहीं है तथा जो सर्वदा पवित्र एव भगवान्‌मे दत्तचित्त है, वह भक्त नमस्कारयोग्य है।

जिसका मन सम्पत्ति-विपत्तिमे भगवान्‌को छोडकर अन्यत्र कहीं नहीं जाता जो सर्वदा सत्यवादी एव सदाचारपरायण है, वही भक्त नमस्कारयोग्य है।

जो भगवान्‌के सर्वत्र दर्शन करता है, जिसको ससारसे अभय प्राप्त है, जो अन्य प्राणियाको अभय प्रदान करता है, जो ससारसे उदासीन है तथा जो आश्रमधर्मम कुशल है, वही भक्त नमस्कारयोग्य है।

जिसको प्रेमका ही अवलम्बन है और जिसका हृदय प्रेममय है वही भक्त नमस्कारयोग्य है।

जो सर्वदा चातककी भाँति एकनिष्ठ है, सर्वदा लक्ष्मणकी भाँति स्वतन्त्रतासे रहित है, सर्वदा द्वन्द्वा अर्थात् शीतोष्ण और राग-द्वेपसे परे एव सतुष्टचित्त है, वही भक्त नमस्कारयोग्य है।

जो भगवान्‌के अतिरिक्त और किसीको नहीं जानता और न किसीको चाहता है, जिसका मन स्थिर है और जो सयमी है, वही भक्त नमस्कारयोग्य है।

जो भगवान्‌को इसी शरीरसे प्राप्त कर लेता है, जिसका भगवान्‌के चिन्तनमे ही समय व्यतीत होता है, वही भक्त नमस्कारयोग्य है।

जिसने भगवान्‌को जो कि एकमात्र सत्य वस्तु हैं आत्मसमर्पण किया है, वही नमस्कारयोग्य है।

ऐसे भक्तराजके दर्शन, प्रणाम और सेवा करनेवालेका जीवन धन्य है। ऐसे भक्तकी कृपासे प्रेमकी वृद्धि और कामनासे विरति होती है। भक्तका हृदय ही भगवान्‌का विलासस्थान है। भक्तके हृदयसे भगवान्‌का स्वरूप और भगवान्‌की महिमा प्रकाशित होती है। हे पुरुषो! ऐसे भक्तको त्यागकर और किसका सङ्ग करना चाहिये? भक्त सम्पत्ति, सिद्धि अथवा कैवल्यमुक्ति नहीं चाहता वह सर्वस्व त्याग देता है और सम्पूर्णरूपसे भगवान्‌मे विलीन होता है अर्थात् आत्मविसर्जन करता है। भगवान्‌मे आत्माकी आहुति प्रदान करना सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है, यही परम पुरुषार्थ है। जो जिस पदार्थको चाहता है वह उसीको प्राप्त करता है। जो कुछ भी नहीं चाहता वह श्रीभगवान्‌को प्राप्त करता है। भक्तका धन केवल श्रीकृष्णके चरणकमल है और वह केवल भगवान्‌की कृपासे ही प्राप्त होता है।

[प्रेपक—श्रीशिवकुमारजी गोयल]

भगवत्प्रेमके साधक और बाधक

सूधे मन सूधे बचन सूधी सब करतूति। तुलसी सूधी सकल बिधि रघुबर प्रेम प्रसूति॥
बेष बिसद बोलनि मधुर मन कटु करम मलीन। तुलसी राम न पाइऐ भएँ बिषय जल मीन॥

(दोहावली १५२-१५३)

'जिसका मन सरल है, वाणी सरल है और समस्त क्रियाएँ सरल हैं, उसके लिये भगवान् श्रीरघुनाथजीके प्रेमको उत्पन्न करनेवाली सभी विधियाँ सरल हैं अर्थात् निष्कपट (दम्भरहित) मन वाणी और कर्मसे भगवान्‌का प्रेम अत्यन्त सरलतासे प्राप्त हो सकता है। तुलसीदासजी कहते हैं कि ऊपरका वेष साधुओका-सा हो और बोली भी मीठी हो, परतु मन कठोर हो और कर्म भी मलिन हो—इस प्रकार विपयरूपी जलकी मछली बने रहनेसे श्रीरामजीकी प्राप्ति नहीं होती (श्रीरामजी तो सरल मनवालेको ही मिलते हैं)।'

प्रेमतत्त्व

(ब्रह्मलीन धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

प्रेमतत्त्वको रसिक लोग 'मूकरसास्वादनवत्' कहते हैं। कोई आन्तर मधुर वेदनाको तो कोई स्नेहात्मक अन्त करणकी वृत्तिको ही प्रेम कहते हैं। यद्यपि वधू आदिमे राग, यागादिमे श्रद्धा, गुरु आदिमे भक्ति तथा सुखादिकी इच्छा—ये सभी प्रेमके ही रूप हैं, तथापि सुखमात्रका अनुवतन करनेवाली अन्त करणकी सात्त्विकी वृत्ति ही प्रेम हे। यह प्राप्त, अप्राप्त और नष्टमे भी रहती है। इच्छा नष्ट और प्राप्तमे नहीं होती। प्रेमरसज्ञ लोग रसस्वरूप परमात्माको ही प्रेम कहते हैं। इसीलिये द्रवीभूत अन्त करणपर अभिव्यक्त रसस्वरूप परमात्मा ही प्रेमके रूपम प्रकट होता है। अतएव आचार्योने कहा है—

भगवान् परमानन्दस्वरूप स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकाररसतामेति पुष्कलाम्॥

अस्पृष्ट दु ख निरपम सुखसवित्स्वरूप परमात्मा ही प्रेम हे। यह भी कहा गया है—

निरुपमसुखसविद्रूपमस्पृष्टदु ख तमहमखिलतुष्ट्यै शास्त्रदृष्ट्या व्यनज्मि।

प्रेमियोका कहना है कि चित्त लाक्षा (लाख)-के समान कठोर द्रव्य है। वह तापक द्रव्यके योगसे कोमल या द्रवीभूत होता है। जैसे द्रवीभूत लाक्षामे नि क्षिप्त हिङ्गुल, हरिद्रा आदि रग स्थायीभावको प्राप्त होता है, वैसे ही द्रवीभूत अन्त करणपर अभिव्यक्त भगवान् ही भक्ति कहे जाते हैं। भगवान्के गुणगणश्रवणसे चरित्रनायक पूर्णतम प्रभुका स्वरूप प्रकट होता है। पुनश्च उनके प्रति स्नेहादिका प्रादुर्भाव होता है। स्नेहादिसे चित्तमे द्रवता होती है। स्नेहास्पद पदार्थके दर्शनसे उसमे सस्कार उत्पन्न होता है अतएव पुन -पुन उसका स्मरण होता है। उपेक्षणीय वस्तुके सस्कार नहीं होते, इसका कारण यही है कि रागके आस्पद या द्वेषके आस्पद पदार्थको ग्रहण करता हुआ चित्त रागादिसे द्रवीभूत हुआ है, इसीलिये उसके सस्कार हो जाते हैं। उपेक्षणीय तत्त्वके ग्रहण-समयमे चित्त द्रवीभूत नहीं होता क्योकि वह तापक भाव नहीं है। प्रेमी कहते हैं कि भगवान्के उत्कट स्नेहसे चित्तको इतना द्रुत करे कि वह गङ्गाजलके समान निर्मल कोमल तथा द्रवीभूत हो जाय। फिर उसमे भगवान्का स्थायीरूपसे प्राकट्य होता है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥

(श्रीमद्भा० ३।२९।११)

अथात् भगवान्के गुणाके श्रवणसे भगवान्म द्रवीभूत चित्तकी वृत्तियाका ऐसा प्रवाह चलता है, जैसे कोमल, निर्मल, द्रवीभूत गङ्गाजलका प्रयाह समुद्रकी ओर चलता है। जिस समय द्रवीभूत चित्तम पूर्णतम पुरुषोत्तम प्रभुका प्राकट्य होता है, उस समय ही स्थिर भक्ति कही जाती है। जैसे लाक्षाके कठोर रहनेपर उसमे रग स्थिर नहीं होता, लाखकी टिकियापर मुहरका अक्षर अङ्कित करनेके लिये भी अग्नि-सम्बन्धसे उसे कुछ कोमल किया जाता है, क्योकि कठोर लाखपर मुहरके अक्षर अङ्कित नहीं होते, वैसे ही कठोर अद्रुत चित्तपर भगवान्का स्वरूप चरित्र, गुण तथा अन्यान्य सदुपदेश अङ्कित नहीं होते। परतु गङ्गाजलके समान कोमल द्रवीभूत अन्त करणम भगवान्का प्राकट्य होनेसे फिर भगवान् भी निकलनेमे समर्थ नहीं होते। जैसे लाक्षाके साथ एकदम मिला हुआ रग उसमेसे निकलनेम समर्थ नहीं होता लाख चाह तो भी रगसे वियुक्त नहीं हो सकती वैसे ही यदि भगवान् चाहे तो भी भक्तके द्रवीभूत चित्तसे निकल नहीं सकते। भक्त भी यदि चाहे तो भी वह भगवान्से वियुक्त नहीं हो सकता, भगवान्को अपने अन्त करणसे निकाला नहीं जा सकता।

विसृजति हृदय न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाश ।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्म स भवति भागवतप्रधान उक्त ॥

(श्रीमद्भा० ११।२।५५)

अर्थात् जिसके हृदयकी प्रणय-रशनासे बँधे हुए भगवान् अपनेको न छुडा सके वही प्रधान भक्त है। कितने स्थलोमे भक्त भगवान्से कहते हैं कि यदि आप हमारे हृदयसे निकल जायँ तो हम देखे आपकी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायकता। कहीं-कहीं भक्त भी हृदयसे भगवान्को निकालना चाहते हैं भगवान्मे दोषानुसधान करते हैं, परतु असफल होते हैं—

प्रत्याहृत्य मुनि क्षण विषयतो यस्मिन् मनोधित्सति
बालाऽसौ विषयेषु धित्सति मन प्रत्याहरन्ती मन ।

यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
मुग्धेय किल पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति ॥

अतएव कुछ लोग द्रवताको ही प्रेम कहते हैं। यद्यपि द्रवताकी अपेक्षा अवश्य है, तथापि प्रेमका स्वयस्वरूप द्रवता नहीं है, प्रेमका निजी रूप तो रसस्वरूप परमात्मा ही है। अतएव आचार्योंने उसे निरुपम सुख-सविद्रूप बतलाया है। जिस तरह सच्चिदानन्द ब्रह्म विश्वका कारण है, अतएव उसके सदश, चिदशकी सर्वत्र अनुवृत्ति दिखायी देती है। 'घट सन्' 'पट सन्' इत्यादि रूपसे सद्विशेष घटादि प्रपञ्चमे सत्की व्याप्ति है। वैसे ही '**आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि**' के अनुसार आनन्दरससे भी सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है, अतएव सर्वत्र उसकी अनुवृत्ति या व्याप्ति होनी चाहिये। इसीलिये हर एक जन्तुमे, प्रत्येक परमाणुमे आनन्द, रस या रसस्वरूपभूत प्रेमकी भी व्याप्ति है। बिना प्रेम या रसके एक-दूसरेसे मिलना नहीं हो सकता। पुत्र, कलत्र मित्र आदिका मिलन भी रस या स्नेहसे है। पशु-पक्षियोमे, पिता-माता, पुत्र, पुत्रवधूमे प्रीति स्नेह होता है। 'कि बहुना' एक परमाणुका दूसरे परमाणुसे मिलना भी बिना स्नेहके नहीं हो सकता। इस तरह प्रेमतत्त्व आनन्द या रसस्वरूप होनेसे विश्वका कारण है, इसलिये उसकी व्याप्ति है। वह सर्वत्र और सबके पास है। उसका दुरुपयोग करनेसे अर्थात् केवल सासारिक वस्तुओमे ही प्रेम करनेसे दु ख होता है। भगवान्मे उसका सम्बन्ध जोडते ही सारा विश्व आनन्दमय, मङ्गलमय हो जाता है। इसीलिये प्रेमियोने चाहा है कि ससारसे प्रेम हटकर भगवान्मे ही हो जाय—

यह बिनती रघुबीर गुसाईं।

× × ×

या जगमे जहँ लगि या तनुकी प्रीति प्रतीति सगाई।
ते सब तुलसिदास प्रभु ही सो होहिं सिमिटि इक ठाईं॥

(विनय-पत्रिका १०३)

जैसे किसीके पास कोई दिव्यशक्तिसम्पन्न क्षेत्र हो, परतु वह उसमे दौर्गन्ध्यविषकण्टकादिपूर्ण विपवृक्षको लगाकर उससे दु ख पाता है यदि हिम्मत बाँधकर सावधानीसे उस वृक्षको काटकर सौन्दर्य, माधुर्य, सौरस्य, सौगन्ध्यपूर्ण आम्र या कल्पवृक्षको लगाये तो अवश्य सुखी हो जाय। ठीक वैसे ही प्रेमको ससारके साथ जोडकर प्रेममे लौकिक भावाको जोडकर प्राणी दु खी होता है जबकि प्रेमके साथ भगवान्का सम्बन्ध जोडते ही सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द हो जाता है। जैसे कोई कल्याणमयी, करुणामयी, पुत्रवत्सला अम्बा अपने शिशुको कहीं भेजती हुई उसे ऐसा पाथेय अवश्य प्रदान करती है, जिसके सहारे वह पुन अपनी अम्बाके पास आ जाय, यदि ऐसा न ध्यान रखे तो उसे करुणामयी नहीं कहा जा सकेगा, वैसे ही अनन्त ब्रह्माण्डजननी कृष्णाभिधाना माँने भी जीवोको प्रेमतत्त्व साथमे ही दे रखा है। उसे भूल जानेसे या उसका दुरुपयोग करनेसे जीव दु ख पाता है। परतु उसका स्मरणपूर्वक सदुपयोग करते ही अर्थात् गुरुजनो, शास्त्रो एव भगवान्मे प्रेमका उपयोग करनेसे वह कृतकृत्य होकर अपनी कृष्णाभिधाना माँके अङ्क (गोद)-मे जा पहुँचता है, सर्वदाके लिये कृतकृत्य हो जाता है।

कहा जा सकता है कि यदि रस, प्रेम और भगवान् एक हैं तथा नित्य सिद्ध ही हैं तो भगवान्मे प्रेमको 'प्रेम' और अन्य प्रेमास्पदमे विषय-विषयीभाव कल्पनाकी क्या अपेक्षा है? इससे तो मालूम पडता है कि प्रेमके लिये भेदभावकी ही अपेक्षा है। बिना दोके प्रेम नहीं होता, अतएव प्रेम और भगवान् भी दो वस्तु होनी चाहिये। परतु गम्भीरतासे विवेचन करे तो मालूम होगा कि आरम्भमे औपाधिक प्रेमके लिये अवश्य ही दोकी अपेक्षा किवा अभिव्यक्तिके लिये साधनकी अपेक्षा है, परतु स्वभावत प्रेम अभेदमे या अत्यन्त सनिहित प्रत्यगात्मामे ही होता है और वह स्वत सिद्ध भी है। जैसे स्वप्रकाश ब्रह्मके प्राकट्यार्थ भी महावाक्यजन्य परब्रह्माकाराकारित वृत्तिकी अपेक्षा होती है, वैसे ही भगवत्स्वरूप स्वत सिद्ध प्रेमके भी प्राकट्यके लिये भगवदाकाराकारित स्निग्ध मानसी वृत्ति अपेक्षित है। उस प्राकट्यके लिये ही सद्धर्म सत्कर्म आदि साधनोकी अपेक्षा है। प्राकट्यभेदसे ही उसके अणु, मध्यम, महत् एव परम महत्परिमाणभेदसे अनेक भेद भी होते हैं। साधनकालमे ही भेदभावकी अपेक्षा होती है। अज्ञानके कारण ही भगवान्मे प्रेम न होकर विश्वमे होता है या यो समझिये कि नीरस, निस्सार ससारमे रसस्वरूप भगवान्के सम्बन्धसे ही सरसताकी प्रतीति होती है। अत सरसत्वेन प्रतीयमान विश्वमे प्रेम होता है। जैसे प्रकाशकी अन्यत्र सातिशयता और व्यभिचारिता होनेपर भी सूर्यमे उसका व्यभिचार या सातिशयता सम्भव नहीं है, वैसे ही अन्यत्र प्रेमका व्यभिचार और सातिशयता देखी जाती है, परतु भगवान्मे व्यभिचार और सातिशयता नहीं है। पुत्र, कलत्रादिकोमे कभी प्रेम, कभी वैर भी हो

प्रमकी कमी, कभी अधिकता हो जाती है, परतु भगवान्‌मे वह सदा होता है और सर्वदा निरतिशय होता है, क्योंकि जैसे सूर्य प्रकाशके उद्‌गमस्थान या प्रकाशस्वरूप ही हैं, वैसे ही भगवान् भी प्रेमके उद्‌गमस्थान किंवा प्रेमस्वरूप ही हैं।

कहा जाता है कि भगवान्‌मे प्रेम प्रत्यक्ष नहीं है, फिर भगवान्‌मे अव्यभिचारी और निरतिशय प्रेम या उन्हे प्रेमस्वरूप कैसे माना जाय? परतु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि भगवान् सर्वप्रकाशक, अखण्ड बोधरूपसे प्रत्यगात्मारूपसे प्रसिद्ध हैं। अतएव उनमे प्रेम भी प्रसिद्ध है। केवल अनिर्वचनीय आवरण मिटानेके लिये ही कुछ प्रयत्नकी अपेक्षा है। विज्ञानसे सारी वस्तुओंका व्यवहार होता है। सम्पूर्ण वस्तु, सम्पूर्ण व्यवहार बोधसे ही प्रकाशित होता है। फिर बोधमे क्या सदेह? *'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू'* जैसे दर्पणदर्शनके पश्चात् तदन्तर्गत प्रतिबिम्ब दिखायी देता है वैसे ही बोधमानके पश्चात् ही विश्व या उसकी वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं—'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिद विभाति।' जैसे तरङ्ग व्यामोहसे ही कह सकती है कि 'जल कहाँ है?' जो कुछ हे 'मैं ही हूँ।' वैसे ही जीव व्यामोहसे ही कह सकता हे कि 'भगवान् कहाँ हैं? जो कुछ है, मैं ही हूँ।' जैसे तरङ्गके भीतर बाहर, मध्यम 'किं बहुना' तरङ्गका अस्तित्व ही जलपर निर्भर है, वैसे ही सम्पूर्ण जगत्‌मे विशेषत जीवमे उसके भीतर, बाहर, मध्यमे सर्वत्र भगवान् ही हैं। वस्तुत सम्पूर्ण विश्व या जीव भगवान्‌की सत्तासे ही सत्तावाले हैं, उनका पृथक् अस्तित्व ही नहीं है।

प्राणीका अपने प्राणोंमे, सुखमे अपनी आत्मामे स्वाभाविक प्रम होता है, भगवान् तो प्राणोंके प्राण सुखके सुख और जीवोंके भी जीवन हैं। फिर उनमे प्रेम स्वाभाविक क्या न हो? इसीलिये तो महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—*'लोके न हि स विद्येत यो न राममनुव्रत ।'* अर्थात् लोकमे कोई भी जन्तु या कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है जो रामका भक्त न हो। वसिष्ठजी कहते हैं—*'प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम। तुम्ह तजि तात सोहात गृह जिन्हहि तिन्हहि बिधि बाम॥'* अर्थात् हे तात! राघवेन्द्र रामभद्र! तुम्हीं तो प्राणोंके प्राण जीवोंके जीवन और आनन्दके भी आनन्द हो। प्राणसे या अपानसे प्राणी नहीं जीता किंतु प्राणीमें प्राणशक्ति देनेवाले प्राणके भी प्राण भगवान् ही सबको जिलाते हैं। फिर तुमको छोडकर जगत् किसे अच्छा लगे? इस दृष्टिसे रावणादि भी रामके भक्त ही हैं। भला, अपनी सत्ताका कौन विरोधी होगा? नास्तिक भी अपनी और अपने सिद्धान्तकी सत्ताका बाध या अपलाप नहीं चाहता या करता। हर एक व्यक्तिका निश्चय है कि और कुछ हो या नहीं, रहे या न रहे, मैं तो हूँ ही मैं तो रहूँ ही। जैसे जलके बिना तरङ्ग क्षणभर भी टिक नहीं सकती, वैसे ही सत्ताके बिना सम्पूर्ण पदार्थ असत् हो जाते हैं। सत्, चित्, आनन्द रसस्वरूप भगवान्‌के बिना सब नि स्फूर्ति, नीरस, निरानन्द, 'किं बहुना' असत् हो जाते हैं। उनके योगसे—आध्यात्मिक सम्बन्धसे ही स्फूर्तिमत्ता, सरसता, सानन्दता और अस्तित्व सिद्ध होता है। अत उनका अमङ्गलमय वियोग किसे सह्य होगा?

जैसे गुडके सम्बन्धसे नीरस बेसनमे मिठास आती है वैसे ही 'स्व'के सम्बन्धसे—अपनेपनके सम्बन्धसे वस्तुओंमे प्रीति होती है। अपनेपनके बिना कट्टर वैष्णवोंको भगवान् शिवमे और शैवोंको विष्णुमे भी प्रेम नहीं होता। अनन्त ब्रह्माण्डनायक भगवान्‌के ही जिस रूपमे अपनापन अपना उपास्यभाव होता है, उसीमे प्रेम होता है। जिसमे उपास्यबुद्धि इष्टबुद्धि नहीं जिसमे अपनापन नहीं उसमे प्रेम भी नहीं। अपनापन होनेसे अपने क्षेत्र वृक्षकी बागके काँटोंमे भी प्रेम होता है, उनके नष्ट होनेमे कष्ट होता है। जिस अपनेपनके बिना ब्रह्म भी नीरस जिस अपनेपनके सम्बन्धसे कण्टकादिमें भी प्रेम, साक्षात् उस अपनेमे 'स्व'मे प्राणीका कितना प्रेम हो सकता है? इसीलिये भगवान् प्राणके प्राण जीवके जीवन, आनन्दके आनन्द प्रत्यक्ष स्वात्मा हैं, अतएव प्रेम या रसस्वरूप ही हैं। जो वस्तु जितनी अप्रत्यक्ष दूर और अपनेसे भिन्न है उसमे उतनी ही प्रेमकी कमी होती है। क्षेत्र मित्र, पुत्र कलत्र आदिमे दूरस्थ अप्रत्यक्ष तत्त्वोंकी अपेक्षा अधिक प्रेम होता है। क्षेत्रादिकी अपेक्षा देहादिमे अधिक प्रेम होता है। देह-विरुद्ध होनेसे उन सबका ही त्याग किया जाता है, क्योंकि उनकी अपेक्षा देह सनिहित एव प्रत्यक्ष है। देहसे भी इन्द्रियाँ प्राण अन्तरङ्ग हैं अत उनमे प्रेम अधिक होता है। मन उनसे भी समीप है अत उसके प्रतिकूल या उसे दु खदायी मालूम पडनेपर देहादिका भी त्याग किया जाता है। बुद्धि अहमर्थका भी निरोध आत्महितके लिये किया जाता है।

'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति' इत्यादिसे मनोनाश वासनाक्षयके लिये प्रयत्न प्रसिद्ध ही है। इस दृष्टिसे सर्वान्तरङ्ग, सर्वसनिहित, परम प्रत्यक्ष प्रत्यगात्मस्वरूप ही भगवान् हैं। उन्हींमे मुख्य प्रेम

और वे ही प्रेमस्वरूप भी हैं। उनसे भिन्नमे प्रेमकी कमी स्पष्ट है। आत्माके लिये ही सब कुछ होता है, देवताम प्रीति भा आत्मकल्याणके लिये ही होती है, आत्म-प्रतिकूल देवताकी उपेक्षा ही होती है। यदि भगवान् प्रत्यगात्मस्वरूप नहीं तब तो भगवान् शेष (अङ्ग) हो जायँगे, भगवान्के लिय आत्मा नहीं, कितु भगवान् आत्माके लिये समझे जायँगे, अत भगवान् परोक्ष होनेमे अस्वप्रकाश समझे जायँगे। भगवान् अनात्मा होनेसे बहिरङ्ग और शेष (अङ्ग) समझे जायँगे, यह सब अनर्थ है क्योकि सिद्धान्तत वस्तुगत्या भगवान् ही सर्वान्तरङ्ग, सर्वान्तरात्मा हैं, वे ही सर्वशेषी हैं। सब कुछ उनके लिये, वे किसीके लिये नहीं। भगवान् ही प्रत्यगात्मा होनेसे स्वप्रकाश और वे ही शेपी ह, वे ही निरतिशय, निरुपाधिक परप्रेमके आस्पद हैं। इसीलिये तो जैसे सैन्धवखिल्य (सेधा नमकका टुकडा) अपने-आपको अपने उद्गमस्थान समुद्रमे समर्पण कर समुद्ररूप हो जाता है वैसे ही औपाधिक चैतन्यरूप जीवात्मा अपने उद्गमस्थान परप्रेमास्पद भगवान्मे आत्मसमर्पण करके भगवत्स्वरूप हो जाता है। जैसे घटाकाश घट और घटाकाश सबको ही महाकाशमे समर्पण कर देता है—

त्वदीय वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।

(जब आकाशसे ही वायु आदि क्रमसे घट बना, उसीस घटाकाशकी प्रतीति हुई, घट पृथिव्यादिमे लय-क्रमसे आकाश हो गया, तब घटाकाश सुतरा आकाश हो गया यही सच्चा आत्मसमर्पण है) वैसे ही जीवात्मा भगवान्से प्रादुर्भूत अपना सर्वस्व ओर अपने-आपको भगवान्मे समर्पण करके सर्वदाके लिये सर्वशेपी, सर्वान्तरङ्ग, सर्वप्रेमास्पद सर्वान्तरात्मस्वरूप हो जाता है। अपने मिथ्या, काल्पनिक भावका सर्वदाके लिये बाध कर पारमार्थिक रूपको प्राप्त कर लेता है।

इस तरह औपाधिक प्रेम सापेक्ष, सातिशय होनेपर भी निरुपाधिक प्रेम भेदनिरपेक्ष, स्वप्रकाश सर्वान्तरात्मा भगवान्का स्वरूप ही है और वह स्वत सिद्ध है। केवल उसके प्राकट्यके लिये ही प्रयत्नकी अपेक्षा होती है। जैसे ब्रह्माकार वृत्तिकी कोमलता, दृढतासे नित्यसिद्ध परमात्मस्वरूप ज्ञानम भी कोमलता और दृढताका व्यवहार होता है, वैसे ही प्रेमम भी कोमलता दृढतासे नित्यसिद्ध परमात्मस्वरूप ज्ञानमे भी कोमलता और दृढताका व्यवहार होता है। प्रेमम भी कोमलता, दृढता ओर उत्पत्तिका उपचार टी है। आमाम (कच्चा आम) पक्काम्रका हेतु समझा जाता है, वैसे ही साधनावस्थाका प्रेम साध्यावस्थाके प्रेमका साधन माना जाता है। उसम रक्षाकी भी बडी अपेक्षा समझी जाती है। भावुकाने कहा है कि जैसे दीप बुझ जाता है, वैसे प्रमके बुझ जानेका भी भय रहता है। जैसा कि किसीकी उक्ति है—

प्रेमाद्वयो रसिकयोरपि दीप एव
हृद्वेश्म भासयति निश्चलमव भाति।
द्वारादय वदनतस्तु बहिष्कृतश्चे-
न्निर्वाति शीघ्रमथवा लघुतामुपैति॥

अर्थात् दोनो रसिकोक हृदयमे रहनेवाला प्रेम एक दीप है, वही हृदयभवनका प्रकाशन करता हे आर निश्चल होकर स्वय देदीप्यमान होता है। यदि वह मुखरूप द्वारसे बाहर किया गया तो या ता बुझ जाता है अथवा उसमे लघुता आ जाती है।

वैसे प्रेमतत्त्व निष्कारण वतलाया जाता है—

आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि
क्षीयेताऽपि न चापराधविधिना नत्या न यो वर्द्धते।
पीयूषप्रतिवेदिनस्त्रिजगती दु खद्रुह साम्प्रत
प्रेम्णस्तस्य गुरो किमद्य करवै वाङ्निष्ठता लाघवम्॥

अर्थात् प्रेमदेवने अपने प्रादुर्भावके दिन किसी सूक्ष्मतम हेतुकी भी अपेक्षा नहीं की किसी भी अपराधके कारण उनका ह्रास नहीं होता और बहुत नमस्कारसे उनकी वृद्धि भी नहीं हाती। पीयूषके प्रतिस्पर्धी, त्रिजगती दु खके द्राही, परम गुरु प्रेमदेवताको वाग्गोचर करके लघु केसे बनाया जाय? यद्यपि लोकमे प्रेम त्रिदल होता है—पहला आश्रय, दूसरा विषय और तीसरा प्रेम। तथापि अन्तरङ्गस्थितिम तीना एक ही वस्तु हैं, एकम ही औपाधिक त्रैविध्यकी कल्पना होती है, जैसे जल और तरङ्गमे वास्तविक भेद न होनेपर भी काल्पनिक भेदको लेकर व्यवहार होता है—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बदउँ सीता राम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥
(रा०च०मा० १। १८)

श्रीभगवान्की आह्लादिनी शक्तिरूपा श्रीजनकनन्दिनी तो इतनी अन्तरङ्ग हैं जैसे अमृतम माधुर्य। परमानन्द-सुधासिन्धु भगवान्मे माधुर्यसारसर्वस्व ही उनकी आह्लादिनी शक्ति है। उन्हींका प्रेम वास्तविक प्रेम है।

भगवत्प्रेममे सद्भावनाका महत्त्व

(ब्रह्मलीन जगद्गुरु शकराचार्य ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज)

केवल किसी बातके सुननेसे ही उतना लाभ नहीं होता, जितना सुननेके अनुसार अनुष्ठान करनेसे। शास्त्रमे एक जगह चारो युगोका लक्षण करते हुए लिखा है कि कलियुग कलियुग नहीं, अपितु उचित कार्यका ज्ञान हो जानेपर भी सोये पडे रहना और उसके लिये उचित प्रयत्न न करना कलियुग है। इसी प्रकार उस कार्यको करनेके लिये आलस्य त्यागना द्वापर, कार्यमे उद्यत होना त्रेता तथा उसमे सलग्न होकर उसे सम्पादन करने लग जाना सत्ययुग है—

कलि शयानो भवति सञ्जिहानस्तु द्वापर ।
उत्तिष्ठन्त्रेता भवति कृत सम्पद्यते परम्॥

इसके लिये सबसे बडी आवश्यकता है—सद्भावना। भावना अच्छी होनेपर प्राणीके कल्याणमे कोई बाधा नहीं होती। इसलिये उत्तम भावना बनानी चाहिये। साथ ही अपने ज्ञान और कर्मको भी शुद्ध करना चाहिये। सिद्धान्त तो यह है कि ज्ञान एव कर्म भी भावनाका ही अनुसरण करते हैं, अत प्रधानता भावनाकी ही है। साधनावस्थामे चित्तकी शुद्धि अत्यन्त अपेक्षित होती है और चित्तशुद्धि ही भावनाके पवित्र होनेका मूल है। चित्तकी शुद्धताके लिये योगसूत्रकारका कहना है—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणा सुखदु खपुण्यापुण्यविषयाणा भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥ (पा०सू० १। ३३)

सुखी प्राणीमे मैत्री-सौहार्द, दु खीमे करुणा-कृपा पुण्यशीलमे मुदिता-हर्ष और अपुण्य—पापीमे उपेक्षा-उदासीनता करनेसे चित्तकी शुद्धि होती है अर्थात् सुखसयुक्त सभी प्राणियोको देखकर ऐसी भावना करे कि 'ठीक है, मेरे मित्रोको सुख हो रहा है', इस प्रकार मैत्री-प्रेमकी भावना करनेसे ईर्ष्याकी भावना समाप्त हो जाती है। दु खितोको देखकर 'किस प्रकार इनका दु ख दूर होगा'—इस प्रकार कृपाकी भावना करनी चाहिये, उपेक्षा अथवा हर्ष नहीं मानना चाहिये। पुण्यशीलोको देखकर उनके पुण्यका अनुमोदन करते हुए प्रसन्न होना चाहिये, विद्वेष तथा उपेक्षाकी भावना नहीं अपनानी चाहिये। इसी प्रकार पापियोके समक्ष आनेपर उनमे उदासीनताका भाव अपनाना चाहिये न कि उनके पापका अनुमोदन तथा द्वेष करना चाहिये। ऐसा करनेसे शुक्ल धर्म उत्पन्न होता है फिर राग-द्वेषादिमलरहित होकर मन प्रसन्न होता है तथा भावना अत्यन्त पवित्र हो जाती है। कर्मके कदाचित् ठीक न होनेपर भी यदि भावना पवित्र हो तो प्राणीका कल्याण होता है।

कहते हैं कि एक राजमार्ग (सडक)-के दोनो ओर आमने-सामने एक वेश्या तथा सन्यासी रहते थे, दोनो युवा थे। अपने पेशेमे लगी वेश्या भजन करनेवाले उस सन्यासी बाबाको देखकर अपनेको धिक्कारती और मनमें सोचती कि 'मैं बडी पापिन हूँ, ऐसे दुष्कर्ममे प्रवृत्त हूँ, सन्यासी बाबाका जीवन बडा उत्तम है। इन्होने सर्वस्व त्यागकर अपना मन भगवद्भजनमे लगा दिया है।' उधर सन्यासी वेश्याको देखकर इसके विपरीत सोचते—'मैं बडा हतभाग्य हूँ कि इसी अवस्थामे बाबा बन बैठा, ससारके सुखका अनुभव नहीं किया यह वेश्या ही धन्य है जो अपनी युवावस्थाका आनन्द ले रही है।' यही सोचते दोनोका महाप्रयाण हुआ। भावनाके अनुसार ही वेश्याको स्वर्गादि पुण्यलोकोकी प्राप्ति हुई और सन्यासी बाबाको नरक जाना पडा। अत भावना उत्तम होना अत्यन्त आवश्यक है। सद्भावनासे दिव्य प्रेमकी प्राप्ति होती है।

जो व्यक्ति दान करनेमे समर्थ नहीं है, वह भी दानकी भावना कर सकता है। उससे वह भले ही दान न कर सके, किंतु लेनेकी बुरी भावनासे तो बच जायगा। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

कलि कर एक पुनीत प्रतापा। मानस पुन्य होहिं नहिं पापा॥
(रा०च०मा० ७।१०३।८)

अन्तत इसका भी अर्थ यही है कि पुण्यकी भावनासे ही पुण्य हो जाता है और मानसकृत पाप नहीं होता। इसका यह तात्पर्य है कि यदि मनसे कोई पाप हो जाय तो भी कर्मसे उसका आचरण नहीं करना चाहिये जिससे वह वहीं दबकर नष्ट हो जाय। महाभारतकारने भी कहा है—

मनसा रोचयन्पाप कर्मणा नाभिरोचयेत्।
न प्राप्नोति फल तस्य इति धर्मविदो विदु ॥

यदि मनसे पाप हो भी जाय तो उसे कर्मसे नहीं करना चाहिये, क्योकि मानसिक पापका फल उसे नहीं होता। यह भावनाको ही शुद्ध करनेका उपाय है। भावनाके दूषित होनेपर प्राणीको जहाँ दूसरेके दु खको दूर करनेके लिये स्वय दु खी होना चाहिये वहाँ वह इसके विपरीत दूसरेको अधिक दु ख हो इसके लिये स्वय थोडा दु ख

उठानेको भी प्रस्तुत हो जाता है।

कहा जाता है कि एक दरिद्र ब्राह्मण थे, उसपर भी अधिक सताने हो गयीं। शास्त्रकी आज्ञा है कि दरिद्रको तप करना चाहिये, वे भी उसीके अनुसार दरिद्रादेवीसे मुक्ति पानेके लिये तप करने लगे। फलत उन्हे एक शङ्ख प्राप्त हुआ। शङ्खमें विशेषता थी कि ब्राह्मणदेव जितनी वस्तु उससे लेगे, उसकी दूनी उनके पडोसीको मिल जायगी। ब्राह्मणदेवकी भावना अत्यन्त दूषित थी। अपनेसे दूनी सुखसामग्रीकी वस्तु पडोसीको मिलनेकी बात उन्हे स्वप्नमें भी स्वीकार नहीं थी, भले ही शङ्खसे बिना कुछ माँगे वे बाल-बच्चोसहित स्वय भूखा मर जायँ। उन्होने शङ्खको घरमे रख छोडा और कभी कुछ नहीं माँगा। दुर्भावना इतनी जबर्दस्त थी कि इतनेसे भी उन्हे सतोष नहीं हुआ। उन्होने सोचा कि यह शङ्ख हमसे दूनी धन-सम्पत्ति हमारे पडोसीको प्रदान कर सकता है तो यदि मैं स्वय एकाक्ष होनेकी इससे प्रार्थना करूँ तो अवश्य ही मेरा पडोसी दोनो आँखोसे अन्धा हो जायगा। यह दुर्भावनाका दुष्परिणाम है जिसके कारण दूसरेको अन्धा बनानेके लिये अपनेको एकाक्ष होना भी उचित ही प्रतीत होता है। दुर्भावनासे प्रेमका सर्वथा लोप हो जाता है और राग-द्वेष चरम सीमाको प्राप्त कर लेता है।

इसलिये हमारा आपलोगोसे कहना है कि सत्सङ्गसे देखना चाहिये कि हमारी भावनामे कुछ अन्तर हुआ या नहीं। यदि हुआ तो हमलोगोका सत्सङ्ग सफल हुआ। यदि न भी हुआ तो कोई चिन्ताकी बात नहीं। प्रयत्न जारी रखना चाहिये, साथ ही भगवान्‌की कृपाका भी भरोसा रखना चाहिये। भगवान् बडे दयालु हैं, वे अवश्य ही भावनाको शुद्ध करेगे और भावनाके शुद्ध होते ही प्राणीको आत्मस्वरूपका ज्ञान होगा और तभी भगवत्प्रेमकी जागृति होगी। फिर तो जीवन सफल हो जायगा। जीवनकी सफलताके लिये अपनेमे सद्भावना लानी होगी और सद्भाव लानेके लिये अध्यात्म-पाठशालामे नाम लिखाना होगा। वह आज लिखाइये चाहे दस-पाँच जन्मके बाद, बिना लिखाये जीवनकी सफलताकी कुञ्जी प्राप्त नहीं हो सकती। अध्यात्म-पाठशालामे ही यह पाठ पढाया जाता है कि प्राणिमात्र उस परम प्रसिद्ध अमरणधर्मा परमात्माके ही पुत्र हैं—'**अमृतस्य पुत्रा**'। जहाँ अध्यात्म-पाठशालाका यह पाठ आपके चित्तमे बैठा वहीं परम कल्याणकारिणि सद्भावनादेवीका प्रादुर्भाव हुआ और आप प्राणिमात्रमे उस परमतत्त्वको जब देखने लगेगे तो आपका कल्याण सुनिश्चित है। अत अपनेमे सद्भावना लानी चाहिये। सद्भावनासे ही भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होती है।

प्रेम-माधुरी

(ब्रह्मलीन स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज)

चलिये आप मेरे साथ वृन्दावन। शरीरसे नहीं तो मनसे ही सही। यह मत पूछिये कि वहाँ क्या है? वहाँ सब कुछ है—प्रेम है, सगीत है मिलन है, विरह है, योग है, शृङ्गार है। वहाँ क्या नहीं है? वहाँकी अनुरागमयी भूमिके कण-कणमे एक दिव्य उन्माद भरा हुआ है। वहाँके पत्ते-पत्तेमे एक विचित्र आकर्षण है। आप चाहते क्या हैं? आपकी *जन्म-जन्मकी लालसा पूरी हो जायगी। वहीं तो सर्वस्व है।* जावन है वहाँ, रस है वहाँ, पूर्ण रसमे रहकर अतृप्ति है वहाँ। चलिये तो सही। वहाँकी दिव्य लताओसे आलिङ्गित सरस रसालकी मञ्जरियोके मकरन्दसे आकृष्ट हुए भौंरोको, जो अपनी चञ्चलता छोडकर इस प्रकार उनसे लिपट गये हैं मानो कारागारमे कैद हैं। जब मलयज वायु अपने कोमल करोसे स्पर्श करती है, बौराके झूलेपर मस्त हुए मिलिन्दोको आन्दोलित करती है और वे एक साथ ही अत्यन्त मधुर दिव्य सगीत गाते हुए मधु-धारा प्रवाहित करनेवाली पुष्पवती लताआकी ओर बढते हैं, तब हृदयमे कितना आनन्द होता है, उन्हें देखकर सम्पूर्ण हृदय किस प्रकार रससे सराबोर हो जाता है—यह वहीं चलकर देखिये। आप भी *श्रीरूप गोस्वामीके समान मधुर कण्ठसे कूक उठेगे—*

सुगन्धौ माकन्दप्रकरमकरन्दस्य मधुरे
विनिष्यन्दे वन्दीकृतमधुपवृन्द मुहुरिदम्।
कृतान्दोल मन्दोन्नतिभिरनिलैश्चन्दनगिरे-
र्ममानन्द वृन्दाविपिनमतुल तुन्दिलयति॥*

वृन्दावनम सबसे बडा आनन्द तो व्रजदेवियोके

* आमके बौरोंके सुगन्धित एव मधुर मकरन्दके कारागारमे भौंरोंको बद करके मलयाचलसे आनेवाली शीतल-मन्द-सुगन्ध वायुके द्वारा मन्द-मन्द आन्दोलित होकर वृन्दावन मेरे अनुपम आनन्दको सवर्धित कर रहा है।

दर्शनका है। वे गाँवकी गँवार ग्वालिने प्रेमकी मूर्तियाँ ही हैं। नगरकी बनावट उन्हे छूतक नहीं गयी है। कितनी भोली हैं वे! उस दिव्य राज्यमे कपटका तो प्रवेश ही नहीं है। केवल उनका हृदय ही दिव्य नहीं है, शरीर भी दिव्य है। देखिये, सामने यह वृन्दावन है। कितना सुन्दर है यह धाम! परतु आप अभी धामको मत देखिये, यह सामने जो व्रजदेवी बैठी हैं, उनको देखिये। इस समय यह ध्यान कर रही हैं। क्या यह श्रीकृष्णका ध्यान कर रही हैं? अजी, वृन्दावनमे श्रीकृष्णका ध्यान नहीं करना पडता। यहाँ तो वे ही इनका ध्यान करते हैं, इनके पीछे-पीछे घूमते हैं। फिर ये इतनी तन्मयतासे किस साधनामे तत्पर हैं? अच्छा, सुन लीजिये यह इनका भोलापन है।

आप सुनकर हँसगे, परतु भावपूर्ण हृदयसे तनिक देखिये तो मालूम होगा कितना गम्भीर प्रेम है। इनका हृदय इनके हाथम नहीं है, निरन्तर श्यामसुन्दरके पास ही रहता है। इनके हृदयमे श्रीकृष्णकी बाँसुरी बजती ही रहती है, एक क्षणके लिये भी बद नहीं होती। ये प्रतिपल उनके मधुर सस्पर्श और रूप-सुधाके पानके लिये आकुल रहती हैं। घरमे, वनम, कुञ्जम, नदी-तटपर—जहाँ भी ये रहती हैं, वहाँ इनका मन उसी चितचोर मोहनको देखनेके लिये मचलता रहता है। अब घरका काम-धन्धा कैसे हो? इन्होने सोचा—यह हृदयकी विवशता तो अच्छी नहीं है, इसको अपने हाथमे करना चाहिये। यह कैसे हो? बिना योग किये यह वशमे कैसे आये? इसलिये आप योग कर रही हैं। कितना आश्चर्य है! बडे-बडे मुनिगण प्राणायाम आदि साधनोके द्वारा मनको विषयोसे खींचकर जिनमे लगाना चाहते हैं उन्हींसे मनको हटाकर यह गोपी विषयोमे लाना चाहती है। बडे-बडे योगी जिनको अपने चित्तमे तनिक-सा देखनेके लिये लालायित रहते हैं, उन्हींको यह मुग्ध गोपी अपने हृदयसे निकाल देना चाहती है! श्रीरूप गोस्वामीने क्या ही सुन्दर कहा है—

प्रत्याहृत्य मुनि क्षण विषयता यस्मिन् मनो धित्सते
बालासौ विषयेषु धित्सति तत प्रत्याहरन्ती मन ।
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
मुग्धेय किल पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति॥

परतु क्या इन्हे सफलता मिल सकेगी? ये निर्विकल्प समाधिमे स्थित हो जायँगी अथवा अपने मनको वशमे करके घरके काम-काजमे लगी रह सकगी? ना, इसकी तो सम्भावना ही नहीं है। इनका हृदय एक रगम रँगा जा चुका है, अब इसपर दूसरा रग चढनेवाला नहीं। ये जो कुछ कर रही हैं, वह तो इनके प्रेमका दिव्य उन्माद है। भला, श्रीकृष्णके बिना ये जीवित रह सकती हैं? इनका जीवन तो श्रीकृष्णमय है। आप पूछगे—भाई ऐसा उच्च जीवन इन्हें कैसे प्राप्त हुआ?

यह कथा भी बडी विचित्र है। गाँवकी बालिका इन्हे बरसानेके बाहरका तो कुछ पता ही न था। एक दिन इन्होने किसीके मुँहसे कृष्णका नाम सुन लिया। बस, फिर क्या था—पूर्वकी प्रीति जग गयी। 'कृष्ण' नाममे भी कुछ अद्भुत आकर्षण है। जिनके कानोमे यह समा जाता है वह दूसरा कुछ सुनना ही नहीं चाहता। वह तो ऐसा चाहने लगता है कि कहीं मेरे अरबो कान हो जाते। नामने इनपर मोहनी डाली, इन्होने अपनेको निछावर कर दिया। किया नहीं इनका हृदय स्वय निछावर हो गया। एक दिन ये यमुनातटपर घूम रही थीं, मुरलीकी मोहक तान सुनकर मुग्ध हो गयीं। सखियोने एक बार श्यामसुन्दरका चित्रपट दिखा दिया, आँखे निर्निमेष होकर रूप-रसका पान करने लगीं। इन्हे मालूम न था कि ये तीनो एक ही हैं। एक हृदयकी तीनपर आसक्ति! इन्हे बडी व्यथा हुई। श्रीरूप गोस्वामीने इनकी मर्मान्तक पीडाका इन्हींके शब्दोमे वर्णन किया है—

एकस्य श्रुतमेव लुम्पति मति कृष्णेति नामाक्षर
सान्द्रोन्मादपरम्परामुपनयत्यन्यस्य वशीकल ।
एष स्निग्धघनद्युतिर्मनसि मे लग्न पटे वीक्षणात्
कष्ट धिक् पुरुषत्रये रतिरभून्मन्ये मृत श्रेयसी॥*

जब इन्हे मालूम हुआ कि ये तीन नहीं हैं, एक ही हैं तब कहीं इनके हृदयकी वेदना शान्त हुई। एक वेदना तो शान्त हो गयी परतु दूसरी लग गयी। उसी दिनसे इनकी गति बदल गयी। वे कैसे मिलेगे, इस चिन्तासे धैर्य लुप्त हो गया। बार-बार काँप उठतीं सारे शरीरपर स्वेद-बिन्दु झलकते ही रहते, सखियोसे यह बात छिपी न रही। उन्होने एकान्तमे पूछा—'सखी, तुम्हे क्या हो गया है? कौन-सी

* एक दिन किसी पुरुषका 'कृष्ण' यह दो अक्षरका नाम सुनते ही मेरी बुद्धि लुप्त हो गयी। दूसरे दिन किसी पुरुषकी वशीध्वनि सुनते ही मैं उन्मादिनी हो गयी। तीसरे दिन वर्षाकालीन मेघके समान श्यामसुन्दर नवकिशोरको चित्रपटमें देखकर मेरा मन हाथसे बाहर हो गया। बडे दु खकी बात है धिक्कार है मुझे—तीन-तीन पुरुषोसे प्रेम! मर जानेमें ही अब मेरा कल्याण है।

ऐसी दुर्लभ वस्तु है, जिसके लिये तुम्हें इतनी चिन्ता हो रही है? बार-बार तुम्हारे शरीरमे रोमाञ्च हो आता है, कभी आँसू तो कभी पसीना! इतनी गम्भीर मुद्रा, जैसी कभी नहीं देखी! ऐसा क्यो? हमलोगोसे क्या अपराध हो गया है कि अपने हृदयकी वेदना हमसे नहीं बता रही हो? क्या हम तुम्हारी अपनी नहीं हैं? अपने लोगोसे कोई बात छिपाना अच्छा नहीं है। यदि हम तुम्हारी कुछ सेवा कर सके तो हम उसका अवसर दो। हमे हमारे सौभाग्यसे क्या वञ्चित कर रही हो?' इन्होने अपनी सखियोंसे अपने हृदयकी बात कही और उन लोगोने इन्हे वृन्दावनके कुञ्जोमे श्रीकृष्णके दर्शन कराये। क्या ही सुन्दर दर्शन था! ये श्रीकृष्णको देखकर बोल उठी थीं—

नवमनसिजलीलाभ्रान्तनेत्रान्तभाज
स्फुटकिसलयभङ्गीसङ्गिकर्णाञ्चलस्य।
मिलितमृदुलमौलेर्मालया मालतीना
मदयति मम मेधा माधुरी माधवस्य॥

'नवीन प्रेमकी लीलाको प्रकट करनेवाले नेत्रोकी चञ्चल चितवन, कपोलोपर मनोहर पल्लवोकी सुन्दर रचना, मुकुटपर मालतीकी माला—सब मधुर-ही-मधुर! माधवकी यह माधुरी मेरे धैर्यका बाँध तोड रही है, मेरी मेधाको उन्मादिनी बना रही है।'

सचमुच ये उन्मादिनी हो गयीं घरकी सुध भूल गयीं, अपने-आपको भूल गयीं। सखियाँ किसी प्रकार इन्हे घर ले आयीं, परतु इनकी चेष्टा ज्यो-की-त्यो बनी रही। घरवाले बडे चिन्तित हुए—'यह क्या हो गया? इस रोगकी क्या चिकित्सा है? वैद्यकमे तो इसका वर्णन नहीं है। हो-न-हो कोई ग्रह लग गया है। सामने मयूरपिच्छ देखकर काँपने लगती है गुञ्जाके दर्शनमात्रसे आँखोमे आँसू आ जाते हैं, रोने लगती है। इसके चित्तमे अपूर्व नाट्यक्रीडाका चमत्कार उत्पन्न करनेवाला न जाने कौन-सा नया ग्रह प्रवेश कर गया है, जिससे इसकी यह दशा हो रही है'—

अग्रे वीक्ष्य शिखण्डखण्डमचिरादुत्कम्पमालम्बते
गुञ्जाना तु विलोकनान्मुहुरसौ सास्त्र परिक्रोशति।
नो जाने जनयन्नपूर्वनटनक्रीडाचमत्कारिता
बालाया किल चित्तभूमिमविशत् कोऽय नवीनग्रह ॥

यह ग्रह और कोई नहीं है, श्रीकृष्ण ही हैं। जिसके चित्तमे वे प्रवेश कर जाते हैं, उसकी ऐसी ही दशा हो जाती है। वह न लोकका रहता है, न परलोकका। कम-से-कम लोक और परलोकका स्वार्थ रखनेवालोके लिये तो वह बेकार हो ही जाता है। एक सखीने श्रीकृष्णके पास जाकर इनकी सारी कथा सुनायी। 'श्रीकृष्ण! यदि कहीं दूरसे भी प्रसङ्गवश तुम्हारे नामके अक्षर उसके कानोमे पड जाते हैं तो हमारी प्यारी सखी सिसक-सिसककर रोने और काँपने लगती है और तो क्या कहूँ, कहीं सयोगवश नये-नये श्याम मेघ उसके सामने आ जाते हैं तो वह उन्हे प्राप्त करनेके लिये इतनी उत्सुक हो जाती है कि तत्क्षण उसके चित्तमे पख प्राप्त करनेकी इच्छा हो आती है—

दूरादप्यनुषङ्गत श्रुतिमिते त्वन्नामधेयाक्षरे
सोन्माद मदिरेक्षणा विरुवती धत्ते मुहुर्वेपथुम्।
आ कि वा कथनीयमन्यदसिते दैवान्नवाम्भोधरे
दृष्टे त परिरब्धुमुत्सुकमति पक्षद्वयीमिच्छति॥

नन्दनन्दन श्यामसुन्दरको जिसने एक बार भर आँख देख लिया उसको फिर तृप्ति कहाँ? वह तो उन्हे देखे बिना रह ही नहीं सकता। एक-एक क्षण कल्पके समान हो जाता है। प्रतिक्षण प्यास बढती ही जाती है और बार-बार मनमे यही आता है कि हा! अबतक श्रीकृष्ण नहीं आये उनके बिना यह जीवन निस्सार है। श्रीकृष्णके आनेमे थोडा-सा विलम्ब होनेपर इन्होंने अपनी सखीसे कहा—

अकारुण्य कृष्णो यदि मयि तवाग कथमिद
मुधा मा रोदीर्मे कुरु परमिमामुत्तरकृतिम्।
तमालस्य स्कन्धे सखि कलितदोर्वल्लरिरिय
यथा वृन्दारण्ये चिरमविचला तिष्ठति तनु ॥

'हे सखी! यदि श्रीकृष्ण मेरे लिये निठुर हो गये, वे अबतक नहीं आये तो इसम तुम्हारा क्या अपराध है? तुम व्यर्थ उदास मत होओ, रोओ मत। आगेका काम देखो। ऐसा उपाय करो कि इस श्यामवर्ण तमालवृक्षके तनेमे मेरी भुजाएँ लिपटी हुई हो और मेरा यह शरीर चिरकालतक वृन्दावनमें ही अविचलरूपसे रहे।'

यहाँ इन व्रजदेवीकी यह दशा थी, उधर श्रीकृष्ण पश्चात्ताप कर रहे थे। वे सोच रहे थे—'मैंने निठुरता की। कहीं उसके कोमल हृदयका प्रेमाङ्कुर सूख न जाय। प्रेमके आवेशमें आकर वह कहीं शरीर न छोड दे।

फूली मनोरथ-लता कहीं मुरझा न जाय।' उन्होंने तमालवृक्षकी आडमे खडे होकर देखा, यहाँ प्राणत्यागकी पूरी तैयारी है। व्रजदेवी कह रही हैं—

यस्योत्सङ्गसुखाशया शिथिलिता गुर्वी गुरुभ्यस्त्रपा
प्राणेभ्योऽपि सुहृत्तमा सखि तथा यूय परिक्लेशिता ।
धर्म सोऽपि महान् मया न गणित साध्वीभिरध्यासितो
धिग्धैर्यं तदुपेक्षितापि यदह जीवामि पापीयसी॥

'जिसके उत्सङ्ग-सुखके लिये मैंने गुरुजनाकी बडी भारी लाज छाड दी, सखियो! जिनके लिये तुमलागाको जो कि हमारे प्राणोसे भी अधिक प्रिय हो, इतना क्लेश दिया, जिनके लिये सती-साध्वी स्त्रियोद्वारा अनुष्ठित महान् धर्मका भी मैंने आदर नहीं किया, उन्हींके द्वारा उपेक्षित होनेपर भी मैं जीवित हूँ, मैं पापिनी हूँ। मेरे धैर्यको धिक्कार है।'

इस प्रकार कहते-कहते व्रजदेवी तमालसे लिपटनेके लिये अधीरभावसे दौडीं, परतु यह क्या? तमालका स्पर्श भी कहीं इतना शीतल होता है? यह मधुर सस्पर्श तो प्राणोमे मृत्युके बदले अमृतमय जीवनका सञ्चार कर रहा है। आँखे खोलीं तो देखा यह तो तमाल नहीं, श्रीकृष्ण हैं। एक साथ ही अनेक प्रकारके भाव उठे और तत्क्षण विलीन हो गये। हृदयमे आश्चर्य, प्रेम और आनन्दकी बाढ आ गयी। शरीर स्थिर हो गया आँखे जम गयीं, मानो अब देखते ही रहना है। ऐसी निधि पाकर उसे आँखोसे ओझल कौन करे? निर्निमेष नयनोसे रूप-रसका पान करने लगीं। श्रीकृष्ण बहुत देरतक रहे—हँसे, खेले बोले, अनेक प्रकारकी लीला करते रहे, परतु वे बडे खिलाडी हैं, आँखमिचौनी खेलनेमें तो उनका कोई सानी नहीं है। वे फिर आनेका वादा करके चले गये, वे वहाँ रहकर भी छिप गये, वे यहाँ रहकर भी छिपे हुए हैं। ऐसी ही उनकी लीला है। उनके जानेपर, सखियोके बहुत सचेत करनेसे ये घर गयीं। परतु घरके कर्तव्योको कौन सँभालता मन तो इनके हाथमे था ही नहीं। इन्होने सोचा—'योग करनेसे मन वशमे होता है, चलो, अब योग ही करे।' यह अपने चित्तको श्रीकृष्णके पाससे खींचनेके लिये या यों कहिये कि श्रीकृष्णको अपने चित्तसे निकालनेके लिये योग कर रही हैं। परतु क्या यह सम्भव है? चित्तमे कोई आ जाय तो उसे निकाल सकते हैं, चित्त कहीं चला जाय तो उसे खींच सकते हैं? देवी, तुम अब क्या कर रही हो यह? जो चित्त हो गया है, जिसके विना चित्तकी सत्ता ही नहीं है, उसको तुम चित्तमेसे कैसे निकाल सकोगी? अस्तु, यह भी तो प्रेम ही करा रहा है। प्रेमका ऐसा ही कुछ स्वरूप है।

नन्दनन्दन श्रीकृष्णका प्रेम जिसके चित्तमे उदय होता है, उसके द्वारा कितनी ही उलटी-सीधी चेष्टाएँ होने लगती हैं, क्योकि इसमे विष और अमृत दोनोका अपूर्व सम्मिश्रण है। पीडा तो इसमे इतनी है कि इसके सामने नये कालकूट विषका गर्व भी खर्व हो जाता है। आनन्दका इतना बडा उद्गम है यह प्रेम कि अमृतकी मधुरिमाका अहङ्कार शिथिल पड जाता है। श्रीरूप गोस्वामीने इसका वर्णन करते हुए कहा है—

पीडाभिर्नवकालकूटकटुतागर्वस्य निर्वासनो
निष्यन्देन मुदा सुधामधुरिमाहङ्कारसङ्कोचन ।
प्रेमा सुन्दरि नन्दनन्दनपरो जागर्ति यस्यान्तरे
ज्ञायन्ते स्फुटमस्य वक्रमधुरास्तेनैव विक्रान्तय ॥

इतना ही नहीं, प्रेमकी गति और भी विलक्षण है। क्योकि प्रेम तो अपने-आपकी मस्ती है, उसमे किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं है। कोई कुछ भी कहे, सुने, करे, प्रेमी अपने ढगसे सोचता है। प्रियतमकी स्तुति सुनकर जहाँ प्रसन्न होना चाहिये, वहाँ प्रेमी कभी-कभी उससे तटस्थ हो जाता है, वह सब सुन-सुनकर उसके चित्तमे व्यथा होने लगती है। प्रियतमकी निन्दा सुनकर जहाँ दु ख होना चाहिये, वहाँ प्रेमी सुखका अनुभव करने लगता है—उन बाताको परिहास समझकर। दोषके कारण उसका प्रेम क्षीण नहीं होता, गुणाके कारण बढता नहीं क्याकि वह तो आठो पहर एकरस एक-सा रहता है। अपनी महिमामे प्रतिष्ठित, अपने स्वरसमे डूबा हुआ नैसर्गिक प्रेम कुछ ऐसा ही होता है—कुछ ऐसी ही उसकी प्रक्रिया है। श्रीरूप गोस्वामीके शब्दोमें—

स्तोत्र यत्र तटस्थता प्रकटयच्चित्तस्य धत्ते व्यथा
निन्दापि प्रमद प्रयच्छति परीहासश्रिय बिभ्रती।
दोषेण क्षयिता गुणेन गुरुता केनाप्यनातन्वती
प्रेम्ण स्वारसिकस्य कस्यचिदिय विक्रीडति प्रक्रिया॥

प्रेम-नगरकी रीति ही निराली है स्थूल लोकको मर्यादाएँ उसके बाहरी फाटकतक भी नहीं फटक पातीं।

अपने प्रियतमको अपने हृदयसे निकालनेके लिये योग! भला, यह भी कोई प्रेम है? हाँ, अवश्य ही यह प्रेम है। शुद्ध प्रेम है। इसीसे तो श्रीकृष्ण इनके बुलानेसे बोलते हैं, हँसानेसे हँसते हैं, खिलानेसे खाते हैं। श्रीकृष्ण इनके जीवन-प्राणसे एक हो गये हैं, वे अपने श्रीकृष्णको प्राणोसे अलग करना चाहती हैं। इसका अर्थ है कि वे उन प्राणोको छोड देना चाहती हैं जो बिना श्रीकृष्णके भी जीवित हैं। इनका यह योग तभीतक चल सकता है, जबतक श्रीकृष्णकी बाँसुरी नहीं बजती। जिस समय विश्वविमोहन मोहनकी मुरली बज उठेगी उस समय इनकी सब योग-समाधि भूल जायगी। इतनी मधुरिमा है उसमे कि बडे-बडे समाधिनिष्ठ योगी इस बातकी अभिलाषा किया करते हैं कि वशीकी मधुरध्वनि कब मेरी समाधि तोडेगी। वशीध्वनिके सम्बन्धमे जानते हो न, वह क्या-क्या कर गुजरती है इस ससारमे—

रुन्धन्नम्बुभृतश्चमत्कृतिपर कुर्वन्मुहुस्तुम्बुरु
ध्यानादन्तरयन् सनन्दनमुखान् विस्मापयन् वेधसम्।
औत्सुक्यावलिभिर्बलि चटुलयन् भोगीन्द्रमाघूर्णयन्
भिन्दन्नण्डकटाहभित्तिमभितो बभ्राम वशीध्वनि ॥

'जब वशी बजती है तब बादलोका गति-रोध हो जाता है। सगीत-सम्राट् तुम्बुरु गन्धर्व बार-बार चमत्कृत हो उठते हैं। सनक, सनन्दन आदिके हृदयमे रसका समुद्र उमडने लगता है और वे अपनी सब ध्यान-धारणा छोड बैठते हैं। ब्रह्मा चकित, स्तम्भित, विस्मित होकर कहने लगते हैं—'मेरी सृष्टिमे इतना माधुर्य कहाँ!' रसातलके एकच्छत्र अधिपति दैत्यराज बलिका चित्त उत्सुकताकी परम्परासे अस्थिर हो जाता है। शेषनाग आघूर्णित होने लगते हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोका घेरा तोड-फोडकर सम्पूर्ण जगत्मे परिव्याप्त हो जाती है यह वशीध्वनि।'

वशीकी इस उन्मादक स्वर-लहरीके स्पर्शसे अपनेको कौन नहीं भूल जाता? इसीके द्वारा निखिल जगत्का चुम्बन करके श्रीकृष्ण एक गुदगुदी उत्पन्न किया करते है, सोये हुए प्रेमको जगाया करते हैं।

अभी जो यह ध्यान कर रही हैं, उनकी यह स्थिति है कि यह अपने चित्तको श्रीकृष्णसे अलग करना चाहती हैं और इनका चित्त अणु-अणुमे, परमाणु-परमाणुमें श्रीकृष्णको ही देख रहा है। इनका प्रेमोन्मत्त चित्त प्रत्येक ध्वनिको श्रीकृष्णकी ध्वनि समझ रहा है, प्रत्येक स्पर्शको श्रीकृष्णका स्पर्श समझ रहा है, इनके हृदयकी आँखें श्रीकृष्णके ही मोहक रूपरसको पीकर छक रही हैं और नासिकामें वही उन्मादक दिव्य सुगन्ध भर रही है। इनके बार-बार मना करनेपर भी मन उन्हींके साथ क्रीडा करने लगता है और यह भी उसीमें तन्मय हो जाती हैं। घटोतक आत्मविस्मृत रहनेके बाद एकाध बार इन्हे अपनी अवस्थाका ध्यान हो आता है और तब यह अपने चित्तको उधरसे खींचना चाहती हैं। परतु यह योग-साधना क्या उन्हे श्रीकृष्णसे अलग कर सकती है? अजी, योग-साधनामे क्या रखा है, ससारकी कोई भी शक्ति इन्हे श्रीकृष्णसे अलग नहीं कर सकती और तो क्या, स्वय श्रीकृष्ण भी इन्हे अपनेसे अलग नहीं कर सकते।

जानते हो इस समय श्रीकृष्णकी क्या दशा होगी? इनका यह प्रेमोन्माद क्या उनसे छिपा होगा? नहीं, नहीं, वे सब जानते हैं, अपने प्रेमियोकी अनिर्वचनीय स्थिति देखकर स्वय मुग्ध होते रहते हैं। अपने प्रेमियाके प्रेमको जगानेके लिये ही तो उनकी आँखसे ओझल हो जाते हैं। वे अब भी कहीं यहीं होगे। इन व्रजदेवीकी जैसी प्रेममयी स्थिति है, वैसी ही उनकी भी होगी। उन्हे सर्वत्र गोपियोका ही दर्शन होता होगा। अब वे आते ही होगे। देखो न, वह आ रहे हैं। वह फहराता हुआ पीताम्बर, मन्द-मन्द पद-विन्यास हाथमे बाँसुरी, मेघश्याम श्रीविग्रह, मन्द-मन्द मुसकान, प्रेमभरी चितवन, अनुग्रहपूर्ण भौंहे, उन्नत ललाट, गोरोचनका तिलक, काले-काले घुँघराले बाल, मयूरपिच्छका मुकुट—सब-का-सब आँखोंमे प्राणोंमे, हृदयमे और आत्मामे दिव्य अमृतका सञ्चार कर रहा है। देखो तो कुछ गाते हुए आ रहे हैं। हमलोग अलग होकर सुने और उनकी लीलाओका आनन्द ले। अच्छा क्या गुनगुना रहे हैं?

राधा पुर स्फुरति पश्चिमतश्च राधा
राधाधिसव्यमिह दक्षिणतश्च राधा।
राधा खलु क्षितितले गगने च राधा
राधामयी मम बभूव कुतस्त्रिलोकी॥

मेरे सामने राधा है, मेरे पीछे राधा है मेरे बाये राधा है, मेरे दाहिने राधा है, पृथिवीमे राधा है आकाशमे राधा है—यह सम्पूर्ण त्रिलोकी मेरे लिये राधामय क्यों हो गयी?

भगवत्प्रेमकी प्राप्ति ही मानव-जीवनका लक्ष्य है

[परम पूज्यपाद श्रीहरियाबाजी महाराजके सदुपदेश]

भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके कुछ उपाय

भगवत्प्रेमकी प्राप्ति ही मानव-जीवनका प्रमुख लक्ष्य है। सभी धर्मशास्त्राने भगवत्कृपाकी प्राप्तिके लिये निश्छल हृदयसे भगवान्के प्रति अनन्य प्रेमभावना उद्दीप्त कर, हर क्षण उन्हींका स्मरण करते-करते दैनिक कार्य करनेकी प्रेरणा दी है।

जो भगवान्के असली प्रेमी हैं, उनकी यह पहचान है कि यदि उन्हे क्षणभरके लिये भी भगवान्की विस्मृति हो जाय तो वे तडप उठते हैं। अत भगवत्प्रेमम निरन्तर निमग्न रहना चाहिये। सद्गृहस्थ अपने प्रतिदिनके कार्य सुचारुरूपसे चलाते-चलाते भी भगवत्प्रेमम डूबे रहते हैं—यह हमारे धर्मशास्त्रोकी कथाआसे स्पष्ट हो जाता है। भगवत्प्रेम-प्राप्तिके लिये हमे भगवन्नामका सहारा लेना पडेगा।

श्रीभगवन्नामकी बडी अद्भुत तथा विलक्षण महिमा है। श्रीभगवन्नाम ही साक्षात् भगवान् हैं। जिस प्रकार भगवान्का अवतार श्रीराम तथा श्रीकृष्णके रूपमे होता है उसी प्रकार नाम भी भगवान्का स्वरूप तथा साक्षात् अवतार हे। बगालम तो श्रीभगवन्नामको 'नामब्रह्म' कहकर पुकारते हैं। हमने बहुत-से ऐसे मन्दिर देखे हैं कि जिनमे श्रीठाकुरजी महाराजकी प्रतिमाकी जगह 'नाम ठाकुर' की ही पूजा होती है। नामका तत्त्व सबसे उत्कृष्ट हे। भगवान्के नाममे अचिन्त्य शक्ति विद्यमान है। एक बार भी श्रीभगवन्नामका उच्चारण करनेमात्रसे ही अनन्त जन्मोके पाप-ताप भस्मीभूत हो जाते हैं। नाम साक्षात् भगवान् हैं—इसमे तनिक भी सदेह मत करो और नामका सहारा लेकर सहज ही भवसागरसे पार हो जाओ।

वास्तवम ससारी विद्या असली विद्या नहीं है, यह हमे ससारके मायाजालमे फँसानेवाली है। यह तो अविद्या है। असली विद्या वही है जो जीवके सब पापाको दूर करके उसे भगवान् श्रीकृष्णके सम्मुख कर देती है और मायाजालसे छुडाकर प्रभु श्रीकृष्णसे मिला देती है।

जो भगवान्के सच्चे भक्त होते हैं, उनकी परीक्षा होती है। इससे वे बडे दृढ हो जाते हैं और प्रभुके परम कृपापात्र बन जाते हैं। छोटे भक्तोकी छोटी परीक्षा होती है और बडे भक्ताकी वडी। वड भक्ताकी परीक्षाके लिय तो उनक सामन अप्सराएँतक भेजी जाती हैं और यदि व उनक चक्करम फँस गये ता मार गय। नहीं तो वे सच्चे भक्त बन जात हैं। भक्ताको कामिनी-काञ्चनमे दूर रहना चाहिय। इनके जालम फँस गये ता फिर भक्त कैसे?

किसी भी जीवको नीचा मत समझा किसीका भी अपमान मत करो और अपनेको तृणसे भी नीचा समझो। जवतक हमारे हृदयम दीनता न होगी, तबतक कुछ नहीं हागा। इस ससारम अभिमान ही सबसे बुरी चीज है। इससे घोर अध पतन हो जाता है। प्राय ऐसा देखा गया है कि वडे-वडे विद्वान् और पण्डित औराको तो श्रीभगवन्नाम-जप-कीर्तन करनेका उपदेश देते हैं, परतु अभिमानवश स्वय नहीं करते और कीर्तनम चुपचाप खडे रहते हैं। वे समझते हैं कि हम ता वडे विद्वान् हैं, हमे कीर्तन करके क्या करना है? कीर्तन तो छोटे मनुष्योका काम है। यह अभिमान उन्हे कीर्तनके श्रेष्ठतम लाभसे वञ्चित कर देता है और घोर अध पतन कर डालता है।

जब जीव भक्ति महारानीकी गोदमे वैठ जाता है तब सचमुच ही उसका एक प्रकारसे नया जन्म होता है। भक्ति महारानीकी कृपासे उसमे अभिमानका नाम भी नहीं रहता।

श्रीभगवन्नाम-कीर्तनकी वडी अद्भुत महिमा है। भगवान् विष्णुने स्वय अपने श्रीमुखसे देवर्षि नारदजी महाराजसे कहा है—

> नाह वसामि वैकुण्ठे योगिना हृदये न च।
> मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥
>
> (पद्मपुराण उत्तरखण्ड ९२।२२)

भगवान् कहते हैं कि 'नारदजी। जहाँपर मेरे भक्त कीर्तन करते हैं, मैं वहींपर रहता हूँ।' भगवान्ने कीर्तन-प्रेमियोके प्रति जो उदारता दिखायी है, वह अपूर्व है। जितने भी ईश्वरप्राप्तिके मार्ग हैं, सभी ठीक हैं, परतु कलियुगमे तो श्रीहरिकी भक्ति और श्रीहरिनाम-सकीर्तन ही कल्याणका एकमात्र सरल तथा सर्वोत्तम साधन है।

जो इस मायासे निकल गये हैं उनकी यही पहचान है कि वे अपना हठ नहीं रखते और बडे सरल तथा

निरभिमानी होते हैं। भगवान्के नामके प्रतापसे अभिमान उनके पास भी नहीं फटक सकता।

श्रद्धा और विश्वास ही भक्तिके प्राण हैं। श्रद्धा और विश्वासके बिना क्या होगा? कीर्तनमें बैठकर यह समझना चाहिये कि यहाँ भगवान् हमारे सामने बैठे हैं। नामसे ही भगवान्की प्राप्ति होगी। यह विश्वासकी बात है। नाम साक्षात् भगवान् हैं, ऐसा दृढ़ विश्वास होना चाहिये।

जितना प्रेम एक विषयी मनुष्यका विषयोंमें होता है, उतना ही प्रेम भगवान्में हो, तभी काम बनता है। प्रेमका राज्य अति विलक्षण है और वेदकी शक्तिकी भी उसमें गति नहीं है। प्रेमकी निष्ठा अति दुर्लभ है।

याद रखो कि जबतक तुम व्याकुल होकर प्रभुको नहीं पुकारोगे, तबतक कुछ नहीं होगा। यही एकमात्र उपाय है कि तुम रो-रोकर प्रभु श्रीकृष्णको पुकारो। बस, इसके सामने अन्य साधन कुछ भी नहीं हैं।

हमारे शास्त्र, वेद, पुराण और स्मृति—सबकी पूर्णता श्रीभगवद्दर्शनमें ही है। विद्याका मद हो जाता है, अतः इस मदसे बचते रहना चाहिये। आजकलके बहुत-से पण्डित ऐसे हैं कि जो विद्वान् तो अवश्य हैं, पर उनका आचरण ठीक नहीं है। वे स्वयंके आचरणपर ध्यान नहीं देते, सो ठीक नहीं है।

हमारे सभी वेद, शास्त्र, पुराण और सभी पूज्य ऋषि-महर्षि, साधु-संत-महात्मा यही कहते हैं तथा यही बतलाते हैं कि इस संसारमें दो ही चीज पतनके कारण हैं—पहली चीज है सङ्ग और दूसरी भोजन। कुसङ्गसे सदा-सर्वदा बचते रहना चाहिये और भोजन सात्त्विक करना चाहिये। बढ़िया भोजन और बढ़िया कपड़ोंसे बचना चाहिये, यही कल्याणमार्ग है।

हमारा मन जबतक शुद्ध और पवित्र नहीं होगा, तबतक कल्याण नहीं होगा। शुद्ध और पवित्र मन तब होगा जब हमारा भोजन शुद्ध तथा पवित्र होगा। भोजन शुद्ध और पवित्र तब होगा जब वह बेईमानीके पैसेका न होकर शुद्ध कमाईका होगा एवं उस भोजनको बनानेवाला भी मांसभक्षक तथा नीच हृदयका पापी और पतित नहीं होगा।

व्यभिचारिणी स्त्री तथा रजस्वला स्त्रीके हाथका बना और होटलोंका बना भोजन करनेसे एवं अंडे, मांस, मछली, प्याज-लहसुन आदि तामसिक पदार्थोंके खानेसे हमारा मन कभी शुद्ध तथा पवित्र नहीं रह सकता। मनके शुद्ध हुए बिना भजन-ध्यान नहीं हो सकता।

हम भोजनके सम्बन्धमें आपको अपना अनुभव सुनाते हैं। जबतक हम बाँधपर रहे और बाँधके आसपासके गाँवोंके लोगोंकी हाथ-पैरकी मेहनतसे शुद्ध कमाईके द्वारा लाये गये अन्नकी रोटी खाते रहे, तबतक तो हमारा मन बड़ा शुद्ध, शान्त, सात्त्विक तथा पवित्र बना रहा और हमें भजन-कीर्तनमें अद्भुत आनन्द आता रहा। इसके विपरीत जबसे हमें शहरोंमें रहनेके कारण बाबू लोगोंका अन्न खाना पड़ रहा है, जो आजकल प्रायः बेईमानीके कमाये धनसे बनता है, हमारा मन पहले-जैसा शुद्ध नहीं दिखलायी देता। वह अशान्त-सा रहता है और भजन-कीर्तनमें भी इसी कारण पहले जैसा अद्भुत आनन्द नहीं प्राप्त होता।

ग्रामोंकी सनातनधर्मी गरीब हिंदू जनताकी रूखी-सूखी शुद्ध कमाईकी रोटी खानेमें जो सुख है तथा विलक्षण आनन्द है और उससे जैसा भजन-ध्यान-कीर्तन होता है, मन शान्त रहता है, वह सुख, आनन्द, शहरमें बड़ी-बड़ी आलीशान कोठियोंमें रहनेवाले, प्रायः असत्-मार्गकी कमाईसे पैसा पैदा करनेवाले लोगोंके छप्पन प्रकारके सुस्वादु भोजन करनेमें कहाँ प्राप्त हो सकता है? इसलिये जिसे अपना परम कल्याण करना हो और मनको शुद्ध, पवित्र तथा सात्त्विक रखकर भजन-ध्यानका विलक्षण आनन्द लूटना हो, उसे होटलोंका और बेईमानीकी कमाईका भोजन भूलकर भी नहीं करना चाहिये। *'जैसा खावे अन्न वैसा बने मन'*—इस बातको कभी नहीं भूलना चाहिये।

भगवान् अपने भक्तोंके अधीन हैं। भगवान्को अपने भक्त जितने प्यारे हैं, उतने और कोई भी नहीं हैं। भगवान् श्रीकृष्णने अपने श्रीमुखसे श्रीउद्धवजीसे कहा था कि 'उद्धव! मुझे तुम्हारे-जैसे भक्त जितने प्यारे हैं, उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, आत्मा शंकर, भाई बलरामजी, अर्धाङ्गिनी लक्ष्मी तथा मेरा अपना आत्मा भी प्यारा नहीं है।' भगवान् भक्तके लिये ही लीला करते हैं। भगवान्के लिये उनके प्राणप्यारे भक्त ही लीलाधर हैं।

श्रीमन्महाप्रभु गौराङ्गदेव अपनी माताजीके ऐसे अनन्य भक्त थे कि जितनी बार भी उन्हें उनकी माताजी मिलतीं उतनी ही बार श्रीमन्महाप्रभुजी पृथ्वीपर लेटकर श्रीमाताजीको साष्टाङ्ग प्रणाम किया करते। श्रीमन्महाप्रभुजी अपनी माताजीके इतने बड़े परम भक्त होनेपर भी माताजीसे कहा करते थे—'माताजी! जो भगवान् श्रीकृष्णके भक्तोंसे घृणा करता है, वह

मुझे तनिक भी प्रिय नहीं है।' इसलिये भगवद्भक्तोका भूलकर भी कभी अपमान नहीं करना चाहिये।

श्रीमन्महाप्रभु श्रीगौराङ्गदेवका अवतार उस समय हुआ था, जिस समय सब लोग भगवद्भक्तोको और भक्तिको बडी घृणाकी दृष्टिसे देखने लगे थे तथा उनको अत्यन्त तुच्छ समझते थे। उस समय तिलक लगाना भी कठिन हो गया था। श्रीमन्महाप्रभुजीने प्रकट होकर सबको बताया—'भक्तिके बिना जीवका कदापि कल्याण नहीं होगा।' उन्होने घर-घर जाकर श्रीहरिनाम-सकीर्तनकी धूम मचा दी। आज भी यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो श्रीहरिनामका सहारा लो, तभी कल्याण होगा।

भगवन्नाम-कीर्तन करके अगर तुम किसी अन्य वस्तुको चाहते हो तो भगवान् हाथसे निकल जायँगे। चाहे जो हो जाय कुछ भी न माँगो। भले ही सब कुछ नष्ट हो जाय, किंतु भगवत्सम्बन्ध न टूटने पाये।

मुझे तो सब मार्ग एक ही ओरको गये दीखते हैं एक ही फल दीखता है। पर वहाँ पहुँचनेके लिये, उससे मिलनेके लिये बडी-से-बडी कुर्बानी देनी पडेगी।

सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी॥
(रा०च०मा० ५।४८।५)

हे मन! तू अपनी चतुराई छोड दे, यह समझ कि भगवान् हमारे हैं ओर हम भगवान्के हैं।

नियमपूर्वक सत्सग करके मनको भगवान्मे लगाओ। भगवत्प्रेम प्राकृतिक वस्तु नहीं है, वह तो चिन्मय रस है।

जब समष्टिकी लगन होती है, तब भगवान् अवतार लेते हैं और एककी ही लगन होती है तब उसके भावानुसार उसे दर्शन देते हैं। लगन निरन्तर प्रतिक्षण बढती रहनी चाहिये। लगन बढती है—भगवत्कृपासे, महाप्रभुजीकी कृपासे और पूर्ण भक्तकी कृपासे।

समस्त ससारमे जितने भी रस हैं, उन सबके सार श्रीकृष्ण हैं। जीव तभीतक प्राकृतिक रसोके वशीभूत है, जबतक वह श्रीकृष्णरससे वञ्चित है।

जो श्रीकृष्ण हैं, वे ही श्रीराधिका हैं जो श्रीराधिका हैं, वे ही श्रीकृष्ण हैं। दोनों परस्पर अभिन्न हैं ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शक्ति और शक्तिमान्, गुलाबका फूल तथा उसकी सुगन्ध। बल्कि यो कहिये कि श्रीजीके द्वारा ही श्रीकृष्णका आनन्द है। वैष्णवाने श्रीजीको 'आह्लादिनी शक्ति' कहा है, जिसका सार प्रेम है।

हमारे मन कितने मलिन हैं, जो हम श्रीकृष्ण और श्रीराधामे पुरुष-स्त्रीका भाव करते हैं। वहाँ तो इसकी गन्ध भी नहीं है। उनकी लीलाओका रहस्य जाननेके लिये, बडे ऊँचे भाववाले परम पवित्र मन चाहिये। हमारे मन तो प्राकृतिक रागको क्षणमात्र भी नहीं त्याग सकते। सचमुच, यदि मन मायासे ऊपर उठ जाय तो नया जन्म ही हो जाय।

जो लोग भगवान्की लीलाओमे तर्क-वितर्क करते हैं, उन्हे उत्तर देनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योकि भगवान्पर उनका विश्वास ही नहीं है।

हमे यदि उस रसको पीना है तो भले ही इसके लिये ससारसे हमारी जड कट जाय। उसकी लगनमे हँसते-हँसते सिरतक दे देना चाहिये।

हम कथा-कीर्तन सुनते-करते हैं पर वे सब ऊपर-ही-ऊपर हवाकी तरह उड जाते हैं। अदर गहरी तहमे चले जायँ तो फिर क्या कहने हैं?

जैसे बच्चा माताकी गोदमे जानेके लिये रोता है, वैसे ही माता भी बच्चेको गोदमे लेनेके लिये आतुर होती है। इसी प्रकार जो जीव भगवान्से मिलना चाहते हैं तो भगवान् भी चाहते हैं कि ये जीव मेरी ओर आये।

भगवान् बडा बनना नहीं चाहते। वे चाहते हैं कि जीव मुझे छोटा बनाकर मुझसे प्यार करे। बडा बननेकी धुन तो सासारिक मनुष्यमे होती है। जो यह समझता है कि भगवान् तो हमारे ही हैं, उसे भजन करनेकी जरूरत नहीं होती। श्रीमहाप्रभुजीने यही बतलाया था कि 'जीवो! भगवान्से डरो मत, राधा-कृष्ण कहो उनसे खूब प्रेम करो।'

हम छोटे-से त्यागको भी बहुत कुछ समझ लेते हैं परतु भगवान्के लिये हमें सारे सासारिक सम्बन्धोंका त्याग करना होगा। वह भी सदाके लिये और हँसते-हँसते प्रसन्नताके साथ।

साधकको किसी बलकी जरूरत नहीं है वह केवल यही विश्वास रखे कि भगवान् हमारे हैं। बस, इसीकी जरूरत है। जब महाप्रभुजीने हमे अपना लिया तो फिर डरनेकी क्या आवश्यकता है?

जब भगवत्कृपा होगी तब सब कुछ अपने-आप ही हो जायगा। हमें कुछ करनेकी जरूरत ही नहीं होगी। हमें तो भगवत्प्रेममें निमग्न रहकर भगवान्की कृपाप्राप्तिके लिये प्रयासरत रहना चाहिये। [प्रस्तोता—गोलोकवासी भक्त श्रीरामशरणदासजी]

भगवत्प्रेमकी आनन्दात्मकताका रहस्य

[ब्रह्मलीन योगिराज श्रीदेवराहा बाबाजी महाराजके अमृतोपदेश]

भगवत्प्रेम ही विश्वप्रेम है और वही परमानन्द है। आनन्द और प्रेम दोना की प्रक्रिया एक है। आनन्दमे अहम्का बन्धन क्षीण होता है और भगवत्प्रेममे भेद-दृष्टि समाप्त हो जाती है। जबतक जीव अहता और ममतासे आवृत रहता है, तबतक उसमे भेदभाव भी रहता है और वासनाजन्य प्रेम भी। प्रेमसे जब वासनाका भाव विच्छिन्न हो जाता हे तो विशुद्ध आनन्दकी प्राप्ति होती है। अत आनन्दकी उत्कृष्ट इच्छा ही भगवत्प्रेम कहलाती है। 'वासुदेव सर्वम्' की भावनासे पूर्णत भावित होकर भक्त साधक भगवत्प्रेमकी दिव्यताको प्राप्त होता है। इस प्रकार उपास्य, उपासक और उपासनारूपी त्रिपुटीका लय ही भगवत्प्रेमका सच्चा व्यापार है। इस स्थितिमे सब कुछ आत्मस्वरूप ही हो जाता है व्यवहारमे कुछ भेद बना भी रहे तो कोई हानि नहीं। तुलसीदास, कबीरदास, ज्ञानदेव तुकाराम आदि सताने समग्र विश्वको उसकी विभूतिके रूपम ही स्वीकार किया है। सत तुकाराम कहते हैं—

गुड़ सा मीठा है भगवान्, बाहर भीतर एक समान।
किसका ध्यान करूँ सविवेक, जल तरग स है हम एक॥

इसी प्रकार कबीरदासने भी कहा है—

लोगा भरमि न भूलहु भाई।
खालिकु खलक खलक महि खालिकु पूर रह्यो सब ठाईं॥
माटी एक अनेक भाँति करि साजी साजनहारै।
ना कछु पोच माटी के भाँणे ना कछु पोच कुँमारै॥
सब महि सच्चा एको सोई, तिसका किया सब किछु होई।
हुकम पछानै सु एकी जानै वदा कहियै सोई॥
अल्लह अलख न जाई लखिया गुरु गुड़ दीना मीठा॥
कहि कबीर मेरी सका नासी, सर्व निरजन डीठा॥

(कबीर-ग्रन्थावली परिशिष्ट १२)

सर्वात्म-दर्शनका मूल तत्त्व यही हे कि जो आत्मा मुझमे है, वही सभी प्राणियोमे भी है—'सर्वभूतस्थमात्मान सर्वभूतानि चात्मनि'। श्रीमद्भागवत महापुराणमे भी यही बात कही गयी हे—

सर्वभूतेषु य पश्येद् भगवद्भावमात्मन ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तम ॥

(११।२।४५)

अर्थात् आत्मस्वरूप भगवान् समस्त प्राणियोमे आत्मारूपसे—नियन्तारूपसे स्थित हैं। जो कहीं भी न्यूनाधिकता न देखकर सर्वत्र परिपूर्ण भगवत्सत्ताको ही देखता है और साथ ही समस्त प्राणी एव समस्त पदार्थ आत्मस्वरूप भगवान्मे ही आधेयरूपसे अथवा अध्यस्त रूपसे स्थित हैं, अर्थात् वास्तवमे भगवत्स्वरूप ही हैं—इस प्रकार जिसका अनुभव है ऐसी जिसकी सिद्ध दृष्टि है, उसे भगवान्का परम प्रेमी उत्तम भागवत समझना चाहिये।

भगवत्प्रेमकी वास्तविक उपलब्धिहेतु कुछ सरलभाव निर्दिष्ट हैं—

(१) जब कहीं जाओ तो यह समझो कि भगवान्की परिक्रमा कर रहे हैं।

(२) कुछ भी देखो तो समझो कि हम भगवान्के विभिन्न रूपोके दर्शन कर रहे हैं।

(३) जब भोजन करो तो यह भाव रखो कि भगवान्का प्रसाद पा रहे हैं।

(४) जब जल पीयो तो यह समझो कि भगवान्का चरणामृत पान कर रहे हैं।

(५) जब सोओ तो भगवान्का नाम-गुण-चिन्तन करते हुए सोओ और यह समझो कि प्रभुकी ममतामयी गोदमे विश्राम कर रहे हैं।

(६) जब जगो तो यह समझो कि भगवान्का ही कार्य करनेके लिये जगे हैं।

[प्रेषक—श्रीमदनजी शर्मा शास्त्री 'मानसकिंकर']

प्रेमकी विभिन्न अवस्थाएँ

(गोलोकवासी संत पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारीजी महाराज)

कैतवरहित प्रेम नहि भवति मानुषे लोके।
यदि भवति कस्य विरहो विरहे सत्यपि को जीवति॥

लोक-मर्यादाको मेटकर मोहनसे मन लगानेको मनीषियोंने प्रेम कहा है। प्रेमके लक्षणमे इतना ही कहना यथेष्ट है कि 'प्रेमैव गोपरामाणा काम इत्यगमत् प्रथाम्' अर्थात् गोपियोके शुद्ध प्रेमको ही 'काम' के नामसे पुकारनेकी परिपाटी पड गयी है। इससे यही तात्पर्य निकला कि प्रेममे इन्द्रिय-सुखकी इच्छाओका एकदम अभाव होता है क्याकि गोपिकाओके काममे किसी प्रकारके अपने शरीर-सुखकी इच्छा नहीं थी। वे जो कुछ करती थीं केवल श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके निमित्त। इसलिये शुद्ध प्रेम इन्द्रिय और उनके धर्मोंसे परेकी वस्तु है। इसीको 'राग' के नामसे भी पुकारते हैं। इस 'काम', 'प्रेम' अथवा 'राग' के तीन भेद हो सकते हैं—पूर्वराग, मिलन, विछोह या विरह।

जिसके हृदयमे प्रेम उत्पन्न हो जाता है, उसे घर-द्वार, कुटुम्ब-परिवार और ससारी विषयभोग कुछ भी नहीं सुहाते। सदा अपने प्यारेका ही चिन्तन बना रहता है। रागमार्गके उपासक वैष्णवोने अपने ग्रन्थोमे ऐसे प्रेमियोकी भिन्न-भिन्न दशाओका बडे विस्तारके साथ वर्णन किया है। इस सकुचित स्थलमे न तो उनका उल्लेख ही हो सकता है और न यहाँ उनके उल्लेखका कुछ विशेष प्रयोजन ही दिखायी देता है। इस सम्बन्धमे अष्ट सात्त्विक भावोका बहुत उल्लेख आता है और वे ही अत्यन्त प्रसिद्ध भी हैं, अत यहाँ बहुत ही सक्षेपमे पहले उन्हीं आठ भावोका वर्णन करते हैं। वे आठ ये हैं—स्तम्भ, कम्प स्वेद वैवर्ण्य अश्रु, स्वर-भग, पुलक और प्रलय। अब इनकी सक्षिप्त व्याख्या सुनिये—

स्तम्भ—शरीरका स्तब्ध हो जाना। मन और इन्द्रियाँ जब चेष्टारहित होकर निश्चल हो जाती हैं, उस अवस्थाको स्तम्भ कहते हैं।

कम्प—शरीरमे कँपकँपी पैदा हो जाय, उसे 'वेपथु' या 'कम्प' कहते हैं। अर्जुनकी युद्धके आरम्भम भयके कारण ऐसी ही दशा हुई थी। उन्होने स्वय कहा है—

'वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥'

अर्थात् मुझे कँपकँपी छूट रही है रागटे खडे हो गये हैं।

स्वेद—शरीरमेसे पसीना छूटना या पसीनेमे 'लथपथ' हो जाना, इसे 'स्वेद' कहते हैं।

अश्रु—विना प्रयत्न किये शोक, विस्मय, क्रोध अथवा हर्षके कारण आँखोमसे जो जल निकलता है, उसे 'अश्रु' कहते हैं। हर्षम जो अश्रु निकलते हैं, वे ठण्डे होते हैं और वे प्राय आँखोकी कोरसे नीचेको बहते हैं। शोकके आँसू गरम होते हैं और वे आखोके बीचसे ही बहते हैं।

स्वरभग—मुखसे अक्षर (शब्द)-का स्पष्ट उच्चारण न हो सके उसे 'स्वरभेद', 'गद्‌गद' या स्वर-भग कहते हैं।

वैवर्ण्य—उपर्युक्त कारणोसे मुखपर जो एक प्रकारकी उदासी, पीलापन या फीकापन आ जाता है उसे 'वैवर्ण्य' कहते हैं। उसका असली स्वरूप है—'आकृतिका बदल जाना।'

पुलक—शरीरके सम्पूर्ण रोम खडे हो जायँ, उसे पुलक या रोमाञ्च कहते हैं।

प्रलय—जहाँ शरीरका तथा भले-बुरेका ज्ञान ही न रह जाय, उसे प्रलय कहते हैं। इन्हीं सब कारणासे बेहोशी आ जाती है। इस अवस्थामे प्राय लोग पृथ्वीपर गिर पडते हैं। 'बेहोश होकर धडामसे पृथ्वीपर गिर पडनेका नाम प्रलय है।'

उपर्युक्त सभी भाव हर्ष विस्मय, क्रोध शोक आदि कारणोसे होते हैं कितु ईश्वर-प्रेमके पक्षमे ही ये प्रशसनीय हैं।

पहले हम पूर्वराग मिलन और वियोग अथवा बिछोह—ये तीन अवस्थाएँ प्रेमकी बता चुके हैं। अब उनके सम्बन्धमे कुछ सुनिये—

पूर्वराग—प्यारेसे साक्षात्कार तो हुआ नहीं है किंतु चित्त उसके लिये तडप रहा है। इसे ही सक्षेपमे पूर्वराग कह सकते हैं। दिन-रात उसीका ध्यान उसीका चिन्तन और उसीके सम्बन्धका ज्ञान बना रहे। मिलनेकी उत्तरोत्तर इच्छा बढती ही जाय, इसीका नाम पूर्वराग है। इस दशामे शरीरसे, घर-द्वार तथा जीवनसे भी एकदम वैराग्य हो जाता है। उदाहरणके लिये इसी श्लोकको लीजिये—

हे देव! हे दयित! हे भुवनैकबन्धो!
हे कृष्ण! हे चपल! हे करुणैकसिन्धो!

हे नाथ! हे रमण! हे नयनाभिराम!

हा! हा! कदा नु भवितासि पद दृशोर्मे?

हे देव! हे दयालो! हे विश्वमें एकमात्र बन्धु! हे श्याम! अरे ओ चपल! हे करुणाके सागर! हे स्वामिन्! हे मेरे साथ रमण करनेवाले! हे मेरे नेत्राको सुख देनेवाले प्राणेश! तुम मुझे दर्शन कब दोगे?

उपर्युक्त श्लोकमे परम करुणापूर्ण सम्बोधनोद्वारा बडी ही मार्मिकताके साथ प्यारेसे दर्शन देनेकी प्रार्थना की गयी है। सचमुच अनुराग इसीका नाम है। ऐसी लगन हो, तब कहीं वह निगोडा इस ओर दृष्टिपात करता है। बडा निर्दयी है!

मिलन—दूसरा है, सम्मिलन-सुख। यह विषय वर्णनातीत है। सम्मिलनमे क्या सुख है यह बात तो अनुभवगम्य है, इसे तो प्रेमी और प्रेमपात्रके सिवा दूसरा कोई जान ही नहीं सकता। इसीलिये कवियोने इसका विशेष वर्णन नहीं किया है। सम्मिलन-सुखको तो दोनो एक होकर ही जान सकते हैं, वे स्वय उसका वर्णन करनेमे असमर्थ होते हैं, फिर कोई वर्णन करे भी तो कैसे करे? अनुभव होनेपर वर्णन करनेकी शक्ति नहीं रहती और बिना अनुभवके वर्णन व्यर्थ है। इसलिये इस विषयमे सभी कवि उदासीन-से ही दीख पडते हैं। श्रीमद्भागवत आदिमे वर्णन है, किंतु वह आटेमें नमकके ही समान प्रसगवश यत्किञ्चित् है। सभीने विरहके वर्णनमे ही अपना पाण्डित्य प्रदर्शित किया है और यदि कुछ वर्णन हो सकता है तो यत्किञ्चित् विरहका ही हो भी सकता है। उसीके वर्णनमे मजा है। सम्मिलन-सुखको तो सिर्फ वे दोनो ही लूटते हैं। सुनिये रसिक रसखानजीने दूर खडे होकर इस सम्मिलनका बहुत ही थोडा वर्णन किया है, किंतु वर्णन करनेमे कमाल कर दिया है। दो प्रेमियोके सम्मिलनका इतना सजीव और सुन्दर चित्र शायद ही किसी अन्य कविकी कवितामे मिले। एक सखी दूसरी सखीसे श्रीराधिकाजी और श्रीकृष्णके सम्मिलनका वर्णन कर रही है। सखी कहती है—

ए री! आज-काल्हि सब लोक-लाज त्यागि दोऊ,
सीखे है सबै बिधि सनेह सरसायबो।
यह रसखान दिन द्वै मे बात फैलि जैहै,
कहाँलौ सयानी! चन्द हाथन छिपायबो॥
आज हौ निहारयो बीर, निपट कलिन्दी तीर,
दोउनको दोउन सौ मुख मुसकायबो।
दोऊ परै पैयाँ दोऊ लेत है बलैयाँ,
उन्हैं, भूल गयीं गैयाँ, इन्है गागर उठायबो॥

कैसा सजीव वर्णन है। वह भी कालिन्दीकूलपर एकान्तमे हुआ था, इसलिये छिपकर सखीने देख भी लिया, कहीं अन्त पुरमे होता तो फिर वहाँ उसकी पहुँच कहाँ?

'दोऊ परै पैयाँ दोऊ लेत है बलैयाँ,
उन्है, भूल गयीं गैयाँ, इन्है गागर उठायबो॥'

—कहकर तो सखीने कमाल कर दिया है। धन्य है ऐसे सम्मिलनको।

वियोग—तीसरी दशा है विरहकी। इन तीनोमे उत्तरोत्तर एक-दूसरीसे श्रेष्ठ हैं। पूर्वानुरागकी अपेक्षा मिलन श्रेष्ठ है और मिलनकी अपेक्षा विरह श्रेष्ठ है। प्रेमरूपी दूधका विरह ही मक्खन है। इसीलिये कबीरदासजीने कहा है—

बिरहा-बिरहा मत कहौ, बिरहा है सुलतान।
जेहि घट बिरह न सचरै, सो घट जान मसान॥

विरहके भी तीन भेद हैं—भविष्यविरह, वर्तमानविरह और भूतविरह। इनमे भी परस्परमे उत्तरोत्तर उत्कृष्टता है। भावी-विरह बडा ही करुणोत्पादक है, उससे भी दु खदायी वर्तमान-विरह। भूत-विरह तो दु ख-सुखकी पराकाष्ठासे परे ही है।

पहले भावी-विरहको ही लीजिये। 'प्यारा कल चला जायगा' बस इस भावके उदय होते ही कलेजेमे जो एक प्रकारकी ऐठन-सी होने लगती है उसी ऐठनका नाम 'भावी-विरह' है।

ऐसी विरह-वेदना अपने किसी प्रियके विछोहमे सभीके हृदयमे होती है किंतु श्रीकृष्णके मथुरा-गमनका समाचार सुनकर गोपिकाओको जो भावी-विरह-वेदना हुई, वह तो कुछ बात ही अनोखी है। वैसे तो सभीका विरह उत्कृष्ट है किंतु श्रीराधिकाजीके विरहको ही सर्वोत्कृष्ट माना गया है। एक सखी हृदयको हिला देनेवाले समाचारको लेकर श्रीमतीजीके समीप जाती है। उसे सुनते ही श्रीराधिकाजी कर्तव्यविमूढ-सी होकर प्रलाप करने लगती हैं। उनके प्रलापका मिथिलाके अमर कवि श्रीविद्यापति ठाकुरने बडा ही मार्मिक वर्णन किया है—राधिकाजी कह रही हैं—

'मैं क्या करूँ? कहाँ जाऊँ? कुछ अच्छा नहीं लगता। अरे! ये निष्ठुर प्राण भी तो नहीं निकलते। प्रियतमके लिये मैं किस देशमे जाऊँ? रजनी बीतनेपर प्रात काल किसके

कमलमुखकी ओर निहारूँगी? प्यारे तो दूर देशमे जा रहे हैं, में उनके विरह-शोकमे मर जाऊँगी। समुद्रमे कूदकर प्राण गँवा दूँगी, जिससे लोगाकी दृष्टिसे ओझल रह सकूँ। नहीं तो प्यारेको गलेकी माला बनाकर देश-विदेशाम योगिनी बनकर घूमती रहूँगी।' यह भावी-विरहका उदाहरण है। अब वर्तमान-विरहकी बात सुनिये—

जो अबतक अपने साथ रहा, जिसके साथ रहकर भाँति-भाँतिके सुख भोगे और विविध प्रकारके आनन्दका अनुभव किया वही जानेके लिये एकदम तैयार खडा है। उस समय दिलमे जो एक प्रकारकी धडकन होती है, वह सीनेमे कोई मानो एक साथ ही सैकडो सुइयाँ चुभो रहा हो, उसी प्रकारकी-सी कुछ-कुछ दशा होती है, उसे ही 'वर्तमान-विरह' कहते हैं।

गोपिकाआके बिना इस विरह-वेदनाका अधिकारी दूसरा हो ही कौन सकता है? रथपर बैठकर मथुरा जानेवाले श्रीकृष्णके विरहमे व्रजाङ्गनाओकी क्या दशा हुई, इसे भगवान् व्यासदेवकी ही अमरवाणीमे सुनिये। उनके बिना इस अनुभवगम्य विषयका वर्णन कर ही कौन सकता है—

एव ब्रुवाणा विरहातुरा भृश
व्रजस्त्रिय कृष्णविषक्तमानसा ।
विसृज्य लज्जा रुरुदु स्म सुस्वर
गोविन्द दामोदर माधवेति॥

(श्रीमद्भा० १०।३९।३१)

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित्से कह रहे हैं—'राजन्! जिनके चित्त श्रीकृष्णम अत्यन्त ही आसक्त हो रहे हैं जो भविष्यमे होनेवाले विरह-दु खको स्मरण करके घबडायी हुईं नाना भाँतिके आर्त-वचनोको कहती हुईं और लोक-लाज आदिकी कुछ भी परवा न करती हैं, वे ऊँचे स्वरसे चिल्ला-चिल्लाकर हा गोविन्द! हा माधव! हा दामोदर! कह-कहकर रुदन करने लगीं।' यही वर्तमान विरहका सर्वोत्तम उदाहरण है।

प्यारे चले गये अब उनसे फिर कभी भेट होगी या नहीं—इसी द्विविधाका नाम 'भूत-विरह' है। इसमे आशा-निराशा दोनोका सम्मिश्रण है। यदि मिलनकी एकदम आशा ही न रहे तो फिर जीवनका काम ही क्या? फिर तो क्षणभरमे इस शरीरको भस्म कर द। प्यारेके मिलनकी आशा तो अवश्य ही है किंतु पता नहीं वह आशा कब पूरी होगी। पूरी होगी भी या नहीं, इसका भी कोई निश्चय नहीं। बस, प्यारेके एक ही बार दूरस ही थोडी ही देरके लिये क्या न हो, दर्शन हो जायँ! बस, इसी एक लालसासे वियोगिनी अपने शरीरको धारण किये रहती है। उस समय उसकी दशा विचित्र होती है। साधारणतया उस विरहकी दस दशाएँ बतायी गयी हैं। वे ये हैं—

चिन्तात्र जागरोद्वेगौ तानव मलिनाङ्गता।
प्रलापो व्याधिरुन्मादो मोहमृत्युर्दशा दश॥

(उज्ज्वलनीलमणि शृ० १५३)

'चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता मलिनाङ्गता, प्रलाप व्याधि उन्माद, मोह और मृत्यु—ये ही विरहकी दस दशाएँ हैं।' अब इनका सक्षिप्त विवरण सुनिये—

चिन्ता—अपने प्यारेके ही विषयमे सोते-जागते उठते-बैठते हर समय सोचते रहनेका नाम चिन्ता है। मनमे दूसरे विचारोके लिये स्थान ही न रहे। व्रजभाषा-गगनके परम प्रकाशवान् नक्षत्र 'सूर' ने चिन्ताका कैसा सजीव वर्णन किया है—

नाहिंन रह्यो हियमे ठौर।
नन्द-नन्दन अछत कैसे आनिये उर और॥
चलत चितवत, दिवस जागत, स्वप्न, सोवत रात।
हृदयते वह स्याम मूरति छिन न इत उत जात॥
कहत कथा अनेक ऊधो लोक-लाज दिखात।
कहा करौ तन प्रेम-पूरन घट न सिन्धु समात॥
श्याम गात सरोज-आनन ललित-गति मृदु हास।
'सूर' ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास॥

प्यासेको फिर नींद कहाँ? नींद तो आँखोमे ही आती है और आँखे ही रूपकी प्यासी हैं, ऐसी अवस्थामे नींद वहाँ आ ही नहीं सकती। इसलिये विरहकी दूसरी दशा 'जागरण' है।

जागरण—न सोनेका ही नाम 'जागरण' है यदि विरहिणीको क्षणभरके लिये निद्रा आ जाय तो वह स्वप्नम तो प्रियतमके दर्शन-सुखका आनन्द उठा ले। किंतु उसकी आँखाम नींद कहाँ? श्रीराधिकाजी अपनी एक प्रिय सखीसे कह रही हैं—

या पश्यन्ति प्रिय स्वप्ने धन्यास्ता सखि योषित ।
अस्माक तु गते कृष्णे गता निद्रापि वैरिणी॥

(पद्यावली)

'प्यारी सखी! वे स्त्रियाँ धन्य हैं जो प्रियतमके दर्शन स्वप्नमे तो कर लेती हैं। मुझ दुःखिनीके भाग्यमे तो यह सुख भी नहीं बदा है। मेरी तो वैरिणी निद्रा भी श्रीकृष्णके साथ-ही-साथ मथुराको चली गयी। वह मेरे पास आती ही नहीं।' निद्रा आये कहाँ, आँखोमे तो प्यारेके रूपने अड्डा जमा लिया है। एक म्यानमें दो तलवार समा ही कैसे सकती हैं?

उद्वेग—हृदयमे जो एक प्रकारकी हलचल और बेकली होती है, उसीका नाम उद्वेग है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने उद्वेगका कितना सुन्दर वर्णन किया है—

ब्याकुल ही तड़पौ बिनु प्रीतम,
कोऊ तौ नेकु दया उर लाओ।
प्यासी तजौ तनु रूप-सुधा बिनु,
पानिय पीको पपीहैं पिआओ॥
जीयमे हौंस कहूँ रहि जाय न,
हा! 'हरिचद' कोऊ उठि धाओ।
आवै न आवै पियारो अरे! कोउ,
हाल तौ जाइकै मेरो सुनाओ॥

पागलपनकी हद हो गयी न! भला कोई जाकर हाल ही सुना देता तो इससे क्या हो जाता? अब चौथी दशा कृशताका समाचार सुनिये—

कृशता—प्यारेकी यादमे बिना खाये-पीये दिन-रात चिन्ता करनेके कारण शरीर जो दुबला हो जाता है, उसे 'कृशता' या 'तानव' कहते हैं। इसका उदाहरण लीजिये। गोपियोकी दशा देखकर उद्धवजी मथुरा लौटकर आ गये हैं और बडे ही करुण-स्वरसे श्रीराधिकाजीकी दशाका वर्णन कर रहे हैं। प्रज्ञाचक्षु सूरने तो इस वर्णनमे कमाल ही कर दिया है, सुनिये—

चित्त दै सुनौ स्याम प्रबीन!
हरि! तुम्हारे बिरह राधा, मैं जु देखी छीन॥
तज्यो तेल, तमोल, भूषन, अग बसन मलीन।
ककना कर बाम राख्यो, गाढ भुज गहि लीन॥
जब सँदेसो कहन सुन्दरि, गवन मो तन कीन।
खसि मुद्रावलि चरन अरुझी गिरि धरनि बलहीन॥
कठ बचन न बोल आवै, हृदय आँसुनि भीन।
नैन जल भरि रोइ दीनो, ग्रसित आपद दीन॥
उठि बहुरि सभारि भट ज्यो, परम साहस कीन।
'सूर' प्रभु कल्यान ऐसे जियहि आशा लीन॥

यदि इसी एक अद्वितीय पदको विरहकी सभी दशाओंके लिये उद्धृत कर दें तो यह सम्पूर्ण विरह-वेदनाके चित्र खींचनेमे पर्याप्त होगा। विरहिणी श्रीराधाकी कृशता, मलिनाङ्गता, चिन्ता, उद्वेग, व्याधि, मोह और मृत्युतककी दसो दशाओका वर्णन इसी एक पदमें कर दिया गया है। मृत्युको शास्त्रकारोने साक्षात् मृत्यु न बताकर 'मृत्युतुल्य अवस्था' ही बताया है। श्रीराधिकाजीकी इससे बढकर और मृत्यु-तुल्य अवस्था हो ही क्या सकती है?

मलिनाङ्गता—'शरीरकी सुध न होनेसे शरीरपर मैल जम जाता है, बाल चिकट जाते हैं, वस्त्र गन्दे हो जाते हैं। इसे ही 'मलिनाङ्गता' या 'मलिनता' कहते हैं। ऊपरके पदमे राधिकाजीके लिये आया ही है—

'तज्यो तेल तमोल, भूषन, अग बसन मलीन।'

प्रलाप—शोकके आवेशमे अपने-परायेको भूलकर जो पागलोकी तरह भूली-भूली बाते करने लगते हैं, उसका नाम 'प्रलाप' है। श्रीसीताजीकी खोजमे श्रीलक्ष्मणजीके साथ श्रीरामचन्द्रजी वनोमे भटक रहे हैं। हृदयमे भारी विरह है, अपने-परायेका ज्ञान नहीं, शरीरका होश नहीं, चौंककर खडे हो जाते हैं और प्रलाप करने लगते हैं—

कोऽह ब्रूहि सखे स्वय स भगवानार्य स को राघव
के यूय बत नाथ नाथ किमिद दासोऽस्मि ते लक्ष्मण ।
कान्तारे किमिहास्महे बत सखे देव्यागतिर्मृग्यते
का देवी जनकाधिराजतनया, हा जानकि क्वासि हा॥

भगवान् लक्ष्मणजीसे चौंककर पूछते हैं—'भैया! मैं कौन हूँ, मुझे बताओ तो सही।'

लक्ष्मण कहते हैं—'प्रभो! आप साक्षात् भगवान् हैं।'

फिर पूछते हैं—'कौन भगवान्?'

लक्ष्मण कहते हैं—'रघु महाराजके वशमे उत्पन्न होनेवाले श्रीराम।'

फिर चारो ओर देखकर पूछते हैं—'अच्छा, तुम कौन हो?'

यह सुनकर अत्यन्त ही अधीर होकर लक्ष्मणजी दीनताके साथ कहते हैं—'हे स्वामिन्! हे दयालो! यह आप कैसी बाते कर रहे हैं? मैं आपका चरणसेवक लक्ष्मण हूँ।'

भगवान् फिर उसी प्रकार कहते हैं—'तब फिर हम यहाँ जङ्गलोमे क्यो घूम रहे हैं?'

शान्तिके साथ धीरेसे लक्ष्मणजी कहते हैं—'हम

किसी कारणविशेषसे जो हृदयमें भाव उत्पन्न होता है, उसे भावोदय कहते हैं। जैसे सायंकाल होते ही श्रीकृष्णके आनेका भाव हृदयमें उदित हो गया। हृदयमें दो भाव जब आकर मिल जाते हैं, तो उस अवस्थाका नाम भाव-सन्धि है, जैसे बीमार होकर पतिके घर लौटनेपर पत्नीके हृदयमें हर्ष और विषादजन्य दोनों भावोंकी सन्धि हो जाती है। बहुत-से भाव जब एक साथ ही उदय हो जायँ तब उसे भाव-शाबल्य कहते हैं। जैसे 'पुत्रोत्पत्तिके समाचारके साथ ही पत्नीकी भयंकर दशाका तथा पुत्रको प्राप्त होनेवाली उसके पुत्रहीन मातामहकी सम्पत्ति तथा उसके प्रबन्ध करनेके भाव एक साथ ही हृदयमें उत्पन्न हो जायँ।' इसी प्रकार इष्टवस्तुके प्राप्त हो जानेपर जो एक प्रकारकी सन्तुष्टि हो जाती है, उसे 'भाव-शान्ति' कहते हैं। जैसे रासमें अन्तर्धान हुए श्रीकृष्ण सखियोंको सहसा मिल गये, उस समय उनका अदर्शनरूप जो विरहभाव था, वह शान्त हो गया।

इसी प्रकार निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मरण, आलस्य, जाड्य, व्रीडा, अवहित्था, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, औत्सुक्य, अमर्ष, असूया, चापल्य, सुप्त, उग्रता, उपालम्भ, निद्रा और विबोध—इन सबको व्यभिचारी भाव कहते हैं। इनका वैष्णव-शास्त्रोंमें विशदरूपसे वर्णन किया गया है।

इन सब बातोंका असली तात्पर्य यही है कि हृदयमें किसीकी लगन लग जाय, दिलमें कोई धँस जाय, किसीकी रूप-माधुरी आँखोंमें समा जाय और किसीके लिये उत्कट अनुराग हो जाय, तब बड़ा पार हो जाय। एक बार उस प्यारेसे लगन लगनी चाहिये, फिर भाव, महाभाव, अधिरूढभाव तथा सात्त्विक विकार और विरहकी दशाएँ तो आप-से-आप उदित होंगी। पानीकी इच्छा होनी चाहिये। ज्यों-ज्यों पानीके बिना गला सूखने लगेगा, त्यों-त्यों तड़फड़ाहट आप-से-आप ही बढ़ने लगेगी। उस तड़फड़ाहटको बुलानेके लिये प्रयत्न न करना होगा। किंतु हृदय किसीको स्थान दे तब न, उसने तो काम-क्रोधादि चोरोंको स्थान दे रखा है, वहाँ फिर महाराज प्रेमदेव कैसे पधार सकते हैं? सचमुच हमारा हृदय तो वज्रका है। स्तम्भ, रोमाञ्च, अश्रु आदि आठ विकारोंमेंसे एक भी तो हमारे शरीरमें स्वेच्छासे उदित नहीं होता। भगवान् वेदव्यास तो कहते हैं—

> तदश्मसारं हृदयं बतेदं
> यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः ।
> न विक्रियेताथ यदा विकारो
> नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ॥
> (श्रीमद्भा० २।३।२४)

अर्थात् 'उस पुरुषके हृदयको वज्रकी तरह—फौलादकी तरह समझना चाहिये, जिसके नेत्रोंमें हरि-नाम-स्मरणमात्रसे ही जल न भर आता हो, शरीरमें रोमाञ्च न हो जाते हों और हृदयमें किसी प्रकारका विकार न होता हो।' सचमुच हमारा तो हृदय ऐसा ही है। कैसे करें, क्या करनेसे नेत्रोंमें जल और हृदयमें विकृति उत्पन्न हो? महाप्रभु चैतन्यदेव भी रोते-रोते यही कहा करते थे—

> नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
> पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥

अर्थात् हे नाथ! तुम्हारा नाम-ग्रहण करते-करते कब हमारे दोनों नेत्रोंमेंसे जलकी धारा बहने लगेगी, कब हम 'गद्गद कण्ठसे 'कृष्ण-कृष्ण' कहते हुए पुलकित हो उठेंगे?' वे महाभाग तो अपनी साधको पूरी कर गये। १८ वर्ष नेत्रोंमेंसे इतनी जलधारा बहायी कि कोई मनुष्य इतने रक्तका जल कभी बना ही नहीं सकता। गौर-भक्तोंका कहना है कि महाप्रभु गरुड-स्तम्भके समीप जगमोहनके इसी ओर, जहाँ खड़े होकर दर्शन करते थे, वहाँ नीचे एक छोटा-सा कुण्ड था, महाप्रभु दर्शन करते-करते इतने रोते थे कि उस गड्ढेमें अश्रुजल भर जाता था। एक-दो दिन नहीं, साल-दो-साल नहीं, पूरे अठारह साल इसी प्रकार वे रोये। उन्मादावस्थामें भी उनका जगन्नाथजीके दर्शनोंको जाना बंद नहीं हुआ। यह काम उनका अन्ततक अक्षुण्ण-भावसे चलता रहा। वैष्णव-भक्तोंका कथन है कि महाप्रभुके शरीरमें प्रेमके ये सभी भाव प्रकट हुए। क्यों न हो, वे तो चैतन्यस्वरूप ही थे। अन्तमें श्रीललितकिशोरीजीकी अभिलाषामें अपनी अभिलाषा मिलाते हुए हम इस वक्तव्यको समाप्त करते हैं—

> जमुना पुलिन कुंज गहवरकी कोकिल ह्वै द्रुम कूक मचाऊँ।
> पद-पंकज प्रिय लाल मधुप ह्वै मधुरे-मधुरे गूँज सुनाऊँ॥
> कूकर ह्वै बन बीथिन डोलौं बचे सीथ रसिकनके खाऊँ।
> 'ललितकिसोरी' आस यही मम ब्रज-रज तजि छिन अनत न जाऊँ॥

श्रीमद्भगवद्गीतामें प्रेम-साधना

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

एक परमेश्वरके सिवा मेरा कोई नहीं है, वे ही मेरे सर्वस्व हैं—ऐसा समझकर जरा भी स्वार्थ, अभिमान और कामना न रखकर एकमात्र भगवान्मे ही अतिशय श्रद्धासे युक्त अनन्य प्रेम करना और भगवान्से भिन्न किसी भी वस्तुमे किञ्चिन्मात्र भी प्रेम न करना—यह अनन्य प्रेम है। अनन्य प्रेमके साधनका स्वरूप और फल गीता (१०।९-१०)-मे इस प्रकार बताया गया है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्त परस्परम्।
कथयन्तश्च मा नित्य तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषा सततयुक्ताना भजता प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोग त येन मामुपयान्ति ते॥

'निरन्तर मुझमे मन लगानेवाले और मुझमे ही प्राणोको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर सतुष्ट होते है एव मुझ वासुदेवमे ही निरन्तर रमण करते हैं। उपर्युक्त प्रकारसे ध्यान आदिद्वारा मुझमे निरन्तर रमण करने और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

यहाँ भगवान्ने ९वे श्लोकमे अनन्य प्रेमी भक्तके लक्षणोके रूपमें छ साधन बतलाये हैं और १०वे श्लोकमे उनका फल बतलाया है। अब इनके विषयमे कुछ विस्तारसे विचार किया जाता है—

'मच्चित्ता '

जैसे ससारी मनुष्य रात-दिन ससारमे ही रचे-पचे रहते हैं, वैसे ही भगवान्के प्रेमी भक्त भगवान्मे ही रचे-पचे रहते हैं तथा जैसे ससारी मनुष्य हर समय मनसे ससारका ही चिन्तन करते रहते हैं, वैसे ही भगवद्भक्त हर समय मनसे भगवान्का ही चिन्तन करते रहते हैं। भगवान्से मिलनेके इच्छुक साधक भक्त मनसे भगवान्का आह्वान करके भगवान्का दर्शन भाषण स्पर्श, वार्तालाप पूजा, आदर सत्कार और विनोद करते रहते हैं। सर्वप्रथम भक्त भगवान् श्रीशिव, श्रीविष्णु, श्रीराम श्रीकृष्ण आदि अपने इष्टदेवका आह्वान करके चरणोसे लेकर मस्तकतक वस्त्र-आभूषण-आयुध आदिके सहित उनके स्वरूपका श्रद्धा-प्रेमसे चिन्तन करता है। फिर मनसे ही अपने सम्मुख प्रकट मानसिक भगवान्के स्वरूपका मानसिक सामग्री और अपने मानसिक शरीरके द्वारा षोडश उपचारोसे पूजन करता है। तत्पश्चात् आत्मीयतापूर्वक स्तुति-प्रार्थना करता है तथा मनसे ही उनके साथ आमोद प्रमोद और विनोद करता हुआ आश्रम, घर या वनमे विचरण करता रहता है। जहाँ-जहाँ भगवान्के चरण टिकते हैं, उस-उस भूमिमे भगवान्का प्रभाव प्रवेश कर जाता है, इसलिये उस भूमिकी रजको परम पवित्र और कल्याणकारिणी हो गयी समझता है। जिस बिछौने, गद्दे या शतरजीपर बैठकर भगवान्के साथ भक्त मनसे वार्तालाप करता है, उस शतरजी और गद्दे आदिमे मानो भगवान्के दिव्य गुण-प्रभावके परमाणु प्रवेश कर गये, इसलिये उस शतरजी गद्देको छूनेसे उसके शरीरमे रोमाञ्च हो जाते हैं तथा हृदय प्रफुल्लित होता रहता है। जैसे दो सखा आपसम प्रेमकी बातचीत करते हैं, वैसे ही वह भगवान्के साथ दिव्य प्रेमकी मनसे ही बातचीत करता रहता है। प्रेमभरे नेत्रासे वे एक-दूसरेको देखते हैं। भगवान्के हृदयम और नेत्रोमे समता, शान्ति ज्ञान, प्रेम आदि अनन्त दिव्य गुण भरे पडे हैं भगवान् मुझपर अनुग्रहपूर्ण दृष्टिपात करते हैं, जिससे वे गुण मेरे मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर और रोम-रोमम ऐसे प्रवेश कर रहे है कि उनमे समता शान्ति, ज्ञान आनन्द तथा प्रसन्नताकी सीमा ही नहीं रही। मानो मैं गुणोके सागरमे डूबा हुआ हूँ—ऐसा उसे प्रत्यक्ष अनुभव होता है। भगवान्के नेत्रोकी दृष्टि जहाँ-जहाँ पडती है, वे सब वस्तुएँ दिव्य अलौकिक कल्याणदायक हो जाती हैं—ऐसा अनुभव होने लगता है। फिर मानो भगवान् और भक्त दोनो एक साथ भोजन करने बैठे हैं तथा एक-दूसरेको परोस रहे हैं। भगवान्के स्पर्शसे वह भोजन दिव्य अलौकिक रसमय परम मधुर हो गया है। उस भोजनके करनेसे सारे शरीरमे इतनी प्रसन्नता, आनन्द शान्ति और तृप्ति हो रही है कि उसका कोई ठिकाना नहीं है। भगवान्के अङ्गसे जिस वस्तुका स्पर्श हो जाता है, वह भी दिव्य रसमय, आनन्दमय शान्तिमय प्रेममय और कल्याणमय हो जाती है। भगवान् जिसको अपने मनसे स्मरण कर लेते हैं वह वस्तु भी परम शान्ति परमानन्द और परम कल्याणदायिनी हो जाती है। भगवान्मे दिव्य सुगन्ध आती

है, वह नासिकाके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌की वाणी बडी ही कोमल और मधुर है, वह कानोंके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌का चरण-स्पर्श हाथोंके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌का दर्शन नेत्रोंके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌का चिन्तन मनके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌के साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण-स्वरूपका जो तात्त्विक ज्ञान है, वह बुद्धिके लिये अमृतके समान है। इस प्रकार उनका दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप चिन्तन आमोद, प्रमाद आदि सभी रसमय आनन्दमय, प्रेममय और अमृतमय हैं। भगवान्‌के नाम रूप लीला और धाम सभी परम मधुर, दिव्य, अलौकिक तथा रसमय हैं। या चिन्तन करते हुए वे प्रेमी भक्त अपने चित्तको सर्वथा भगवन्मय बना देते हैं भगवान्‌के सिवा अन्य किसी भी पदार्थमें उनके मनकी प्रीति और वृत्ति नहीं रहती अत वे भगवान्‌को एक क्षण भी नहीं भूल सकते। एक भगवान्‌मे ही उनका मन तन्मय होकर निरन्तर लगा रहता है।

'मद्गतप्राणा '

वे प्रेमी भक्त उपर्युक्त भगवान्—श्रीशिव, श्रीविष्णु, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि अपने इष्टदेवके साक्षात् दर्शनके लिये उनको अपना जीवन, धन और प्राण—सर्वस्व समझकर अपने जीवनको उन्हींके अर्पण कर देते हैं। फिर उनकी सारी चेष्टाएँ भगवान्‌के लिये ही होने लगती है। उनका जीवन भगवान्‌के लिये ही होता है। उन्हे क्षणमात्रका भी भगवान्‌का वियोग असह्य हो जाता है। उनको भगवद्दर्शनके बिना चैन नहीं पडता, न रातको नींद आती है और न दिनमे भूख लगती है। भगवान्‌के सिवा कोई भी पदार्थ उन्हे अच्छा नहीं लगता। वे जलके बिना मछलीकी भाँति तडफते रहते हैं। जैसे मछलीके प्राण जलगत हैं उसी प्रकार उनके प्राण भगवद्गत हो जाते हैं। वे गोपियोंकी तरह विरहाकुल पागल और उन्मत्त-से हुए भगवान्‌को ही खोजते-फिरते हैं। इस प्रकार वे अपने जीवन-प्राण सबको भगवान्‌के न्यौछावर कर देते हैं उनका सब कुछ भगवान्‌के अर्पण हो जाता है। उन्हे खाने पीने बोलने चलने आदिकी भी सुध-बुध नहीं रहती। यक्ष राक्षस देवता, मनुष्य पशु आदि किसीकी भी परवा नहीं रहती। वे सबसे निर्भय होकर विचरते हैं। शास्त्रमर्यादा और लोकमर्यादाका भी उन्हे ज्ञान नहीं रहता। मन तन धन जीवन प्राण और सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण कर देनेके कारण भगवान्‌के सिवा अन्य किसीमे भी उनकी प्रीति तथा ममता नहीं रहती। वे एकमात्र भगवान्‌पर ही निर्भर रहते हैं।

ऐसे प्रेमी भक्तके सम्बन्धमे ही श्रीसुन्दरदासजीने यह कहा है—

> न लाज तीन लोक की न बेद को कह्यौ करै।
> न सक भूत प्रेत की न देव यक्ष ते डरै॥
> सुनै न कान और की द्रसै न और इच्छना।
> कहै न मुख और बात भक्ति प्रेम लच्छना॥

'बोधयन्त परस्परम्'

जैसे गोपियाँ भगवान्‌के प्रेमके तत्त्वको परस्पर एक-दूसरीको कहती और समझाती रहती थीं वैसे ही वे भगवत्प्रेममे मग्न हुए प्रेमी भक्त अपने प्रेमी मित्रोंके साथ भगवान्‌के नाम, रूप, लीला धाम, प्रेम, गुण और प्रभावकी चर्चा करते हुए एक-दूसरेको उनका तत्त्व-रहस्य समझाते रहते हैं एव अपने परम प्रिय भगवान्‌की लीला चरित्र, महिमा तथा भगवान्‌के माधुर्य रूप-लावण्य वस्त्र आभूषण, नाम और गुण-प्रभाव आदिके सम्बन्धमे परस्पर वार्तालाप करते-करते उस विशुद्ध परम प्रेम तथा आनन्दमे तन्मय एव मुग्ध हो जाते हैं।

'कथयन्तश्च माम्'

इसी प्रकार वे भक्त भगवान्‌के प्रेमी भक्तो तथा अपने प्रिय सखाओंके सम्मुख भगवान्‌के नामोंका कीर्तन और गुणोंका गान करते रहते हैं एव भगवान्‌के साकार, निराकार सगुण, निर्गुण, स्वरूपके तत्त्वरहस्यका भगवान्‌के चरित्र और दिव्य लीलाओंका, भगवान्‌के नामकी महिमाका भगवान्‌के नित्य परम धामके गुण-प्रभाव-तत्त्व-रहस्यका तथा भगवान्‌के दिव्य अलौकिक, अनन्त नानाविध गुणोंके तत्त्व-रहस्यका पुस्तक व्याख्यान और पत्र-व्यवहार आदिके द्वारा वर्णन करते रहते हैं। ऐसा करते हुए वे भगवत्प्रेमके आनन्दमे विह्वल और मग्न हो जाते हैं। फिर भी इन सबका वर्णन करनेसे वे कभी अघाते ही नहीं।

'नित्य तुष्यन्ति च'

वे भक्त ऊपर बतायी हुई बातोंसे ही हर समय सतुष्ट रहते हैं। इनसे बढकर किसीको भी आनन्ददायक नहीं समझते। वे भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको समझ-समझकर तृप्त और सतुष्ट रहते हैं, परम शान्ति तथा परमानन्दके दिव्य

रसमे हर समय मग्न रहते हैं। वे आमोद-प्रमोदपूर्वक हर समय इतने प्रसन्नचित्त रहते हैं कि भारी-से-भारी आपत्ति पडनेपर भी उस आनन्दकी स्थितिसे विचलित नहीं होते, वर अपने इष्टदेवके नाम, रूप, लीला, गुण ओर प्रभावको स्मरण करते हुए परम आनन्दम ही मस्त रहते हैं। अपन परम प्यारे इष्टदेव परमात्माकी प्रेममयी लीला और चरित्रको मनसे ही देख-देखकर सदा परम सतुष्ट रहते हें तथा भगवान्‌के परम मधुर स्वभाव, महिमा एव रूप-माधुरीके तत्त्व-रहस्यको समझकर परम आनन्दम मग्न रहत हैं।

'रमन्ति च'

वे परम प्रेमी भक्त भगवान्‌के साथ ही अलौकिक दिव्य आमोद-प्रमोदपूर्वक क्रीडा करते रहते हैं। वे निरन्तर एक भगवान्‌मे ही सर्वथा रमण करते रहत हैं। अपने परम प्यारे भगवान्‌मे दिव्य अलौकिक सुगन्ध आती रहती है, उसका नासिकासे स्वाद लना नासिकाके द्वारा रमण है। भगवान्‌के प्रसादको पाकर जिह्वाके द्वारा उसका स्वाद लेना जिह्वाके द्वारा रमण है। भगवान्‌के नेत्रोसे नेत्र मिलाकर, उनके नेत्राम जो एक अलौकिक दिव्य प्रेम, रस और ज्ञानयुक्त ज्योति है, उसको देखते रहना नेत्राके द्वारा रमण है। भगवान्‌के चरणोका हाथासे स्पर्श करना हाथाके द्वारा रमण है। भगवान्‌के नूपुर वशी आदिकी ध्वनिको तथा उनकी प्रेमभरी कोमल मधुर वाणीको सुन-सुनकर स्वाद लेना कानाके द्वारा रमण हे। भगवान्‌के गुण, प्रभाव रूप, लीला आदिका चिन्तन करना मनसे भगवान्‌मे रमण करना है तथा भगवान्‌के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार-स्वरूपके तत्त्व-रहस्यको समझकर मुग्ध होते रहना बुद्धिके द्वारा उनमे रमण करना है। इस प्रकार भगवान्‌का आघ्राण प्रसाद-भोग, दर्शन स्पर्श भाषण-श्रवण चिन्तन, मनन आदि सभी परम मधुर, रसमय प्रेममय, अमृतमय और आनन्दमय है—ऐसा समझकर वे प्रेमी भक्त अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोका भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोडकर उनसे उनके दशन-भाषण आदि करनेम ही अत्यन्त अनुपम रसास्वाद लेते हुए भगवान्‌म ही नित्य-निरन्तर रमण करते रहते हैं। गोपियोका भगवान्‌मे अनन्य विशुद्ध दिव्य प्रेम था। उनके मन प्राण और समस्त चेष्टाएँ एकमात्र अपने प्राणधन प्रमास्पद भगवान्‌के ही अर्पित थीं तथा वे भगवान्‌के गुणाका गान करती हुई उनके प्रेममे ही सदा मग्न रहती थीं। भागवतकार बतलाते हैं—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरु ॥

(श्रीमद्भा० १०।३०।४४)

'गोपियोका मन श्रीकृष्णमय हो गया था। उनकी वाणीसे श्रीकृष्णचर्चाके अतिरिक्त और कोई बात नही निकलती थी। उनके शरीरसे केवल श्रीकृष्णके लिये और केवल श्रीकृष्णपरक चेष्टाएँ हो रही थीं। कहाँतक कह, उनका आत्मा श्रीकृष्णमय हो रहा था। वे केवल श्रीकृष्णके गुणो और लीलाओका ही गान कर रही थीं तथा उनमे इतनी तन्मय हो रही थीं कि उन्हे अपने शरीर और घरकी भी सुध-बुध नहीं रही।'

उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम, गुण और प्रभावका तत्त्व-रहस्य समझकर श्रद्धा-विश्वास तथा अनन्य प्रेमपूर्वक निरन्तर मनसे चिन्तन दर्शन, भाषण एव चरण-स्पर्श करना ही भगवान्‌को प्रीतिपूर्वक विशुद्ध, निष्कामभावसे भजना है। इस प्रकार भगवान्‌को भजनेवाले भक्त मान, बडाई प्रतिष्ठा, ऐश-आराम भाग और त्रिलोकीके ऐश्वर्यको तथा मुक्तिको भी नहीं चाहते। वे केवल विशुद्ध प्रेमके लिये ही भगवान्‌को अनन्यभावसे भजते हैं—

न पारमेष्ठ्य न महेन्द्रधिष्ण्य
न सार्वभौम न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भव वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।१४)

'जिसने अपनेको मुझे अर्पण कर दिया है, वह मेरे सिवा न तो ब्रह्माका पद चाहता है और न देवराज इन्द्रका। उसके मनमे न तो सार्वभौम सम्राट् बननेकी इच्छा होती है और न वह रसातलका ही स्वामी होना चाहता ह तथा वह योगकी बडी-बडी सिद्धियो ओर मोक्षकी भी अभिलाषा नहीं करता।'

ऐसे अनन्य विशुद्ध प्रेम करनेवाले भक्तको भगवान् वह बुद्धियोगरूप विज्ञानसहित ज्ञान दे देते हैं, जिससे भगवान्‌के साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण-स्वरूपका तत्त्व-रहस्य यथावत् समझमे आ जाता है और उसके फलस्वरूप उसे परम प्रेमास्पद भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती हे। भगवान्‌की प्राप्ति होनके पश्चात् उसे केवल भगवान्‌का ही अनुभव रहता

है, वह नासिकाके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌की वाणी बडी ही कोमल और मधुर है, वह कानोके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌का चरण-स्पर्श हाथोके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌का दर्शन नेत्रोके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌का चिन्तन मनके लिये अमृतके समान है। भगवान्‌के साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण-स्वरूपका जो तात्त्विक ज्ञान है, वह बुद्धिके लिये अमृतके समान है। इस प्रकार उनका दर्शन, भाषण, स्पर्श, वार्तालाप, चिन्तन, आमोद, प्रमाद आदि सभी रसमय आनन्दमय प्रेममय और अमृतमय हैं। भगवान्‌के नाम, रूप, लीला और धाम सभी परम मधुर, दिव्य अलोकिक तथा रसमय हैं। यो चिन्तन करते हुए वे प्रेमी भक्त अपने चित्तको सर्वथा भगवन्मय बना देते है, भगवान्‌के सिवा अन्य किसी भी पदार्थमे उनके मनकी प्रीति और वृत्ति नहीं रहती, अत वे भगवान्‌को एक क्षण भी नहीं भूल सकते। एक भगवान्‌मे ही उनका मन तन्मय होकर निरन्तर लगा रहता है।

'मद्‌गतप्राणा '

वे प्रेमी भक्त उपर्युक्त भगवान्—श्रीशिव, श्रीविष्णु, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि अपने इष्टदेवके साक्षात् दर्शनके लिये उनको अपना जीवन धन और प्राण—सर्वस्व समझकर अपने जीवनको उन्हींके अर्पण कर देते हैं। फिर उनकी सारी चेष्टाएँ भगवान्‌के लिये ही होने लगती है। उनका जीवन भगवान्‌के लिये ही होता है। उन्हे क्षणमात्रका भी भगवान्‌का वियोग असह्य हो जाता है। उनको भगवद्दर्शनके बिना चेन नहीं पडता, न रातको नींद आती है और न दिनमे भूख लगती है। भगवान्‌के सिवा कोई भी पदार्थ उन्हे अच्छा नहीं लगता। वे जलके बिना मछलीकी भाँति तडफते रहते हैं। जैसे मछलीके प्राण जलगत हैं, उसी प्रकार उनके प्राण भगवद्‌गत हो जाते हैं। वे गोपियाकी तरह विरहाकुल पागल और उन्मत्त-से हुए भगवान्‌को ही खोजते-फिरते हैं। इस प्रकार वे अपने जीवन-प्राण सबको भगवान्‌के न्यौछावर कर देते हैं, उनका सब कुछ भगवान्‌के अर्पण हो जाता है। उन्हे खाने पीने बोलने चलने आदिकी भी सुध-बुध नहीं रहती। यक्ष राक्षस देवता मनुष्य पशु आदि किसीकी भी परवा नहीं रहती। वे सबसे निर्भय होकर विचरते हैं। शास्त्रमर्यादा और लोकमर्यादाका भी उन्हे ज्ञान नहीं रहता। मन तन धन जीवन प्राण और सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण कर देनेके कारण भगवान्‌के सिवा अन्य किसीमे भी उनकी प्रीति तथा ममता नहीं रहती। वे एकमात्र भगवान्‌पर ही निर्भर रहते हैं।

ऐसे प्रेमी भक्तके सम्बन्धमे ही श्रीसुन्दरदासजीने यह कहा है—

> न लाज तीन लोक की न वेद को कह्यौ करै।
> न सक भूत प्रेत की न दव यक्ष ते डरै॥
> सुनै न कान और की द्रसै न और इच्छना।
> कहै न मुख और बात भक्ति प्रेम लच्छना॥

'बोधयन्त परस्परम्'

जैसे गोपियाँ भगवान्‌के प्रेमके तत्त्वको परस्पर एक-दूसरीको कहती और समझाती रहती थीं वैसे ही वे भगवत्प्रेममे मग्न हुए प्रेमी भक्त अपने प्रेमी मित्रोके साथ भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम प्रेम, गुण और प्रभावकी चर्चा करते हुए एक-दूसरेको उनका तत्त्व-रहस्य समझाते रहते हैं एव अपने परम प्रिय भगवान्‌की लीला चरित्र, महिमा तथा भगवान्‌के माधुर्य रूप-लावण्य, वस्त्र, आभूषण, नाम और गुण-प्रभाव आदिके सम्बन्धमे परस्पर वार्तालाप करते-करते उस विशुद्ध परम प्रेम तथा आनन्दमे तन्मय एव मुग्ध हो जाते हैं।

'कथयन्तश्च माम्'

इसी प्रकार वे भक्त भगवान्‌के प्रेमी भक्तो तथा अपने प्रिय सखाओके सम्मुख भगवान्‌के नामोका कीर्तन और गुणोका गान करते रहते हैं एव भगवान्‌के साकार निराकार सगुण निर्गुण स्वरूपके तत्त्वरहस्यका भगवान्‌के चरित्र और दिव्य लीलाओका, भगवान्‌के नामकी महिमाका भगवान्‌के नित्य परम धामके गुण-प्रभाव-तत्त्व-रहस्यका तथा भगवान्‌के दिव्य अलौकिक, अनन्त नानाविध गुणोके तत्त्व-रहस्यका पुस्तक व्याख्यान और पत्र-व्यवहार आदिके द्वारा वर्णन करते रहते हैं। ऐसा करते हुए वे भगवत्प्रेमके आनन्दमे विह्वल और मग्न हो जाते हैं। फिर भी, इन सबका वर्णन करनेसे वे कभी अघाते ही नहीं।

'नित्य तुष्यन्ति च'

वे भक्त ऊपर बतायी हुई बातोसे ही हर समय सतुष्ट रहते हैं। इनसे बढकर किसीको भी आनन्ददायक नहीं समझते। वे भगवान्‌के तत्त्व-रहस्यको समझ-समझकर तृप्त और सतुष्ट रहते हैं परम शान्ति तथा परमानन्दके दिव्य

रसमे हर समय मग्न रहते हैं। वे आमाद-प्रमोदपूर्वक हर समय इतने प्रसन्नचित्त रहते हैं कि भारी-से-भारी आपत्ति पडनेपर भी उस आनन्दकी स्थितिसे विचलित नहीं होते, वर अपने इष्टदेवके नाम, रूप, लीला, गुण और प्रभावको स्मरण करते हुए परम आनन्दमे ही मस्त रहते हैं। अपन परम प्यारे इष्टदेव परमात्माकी प्रेममयी लीला और चरित्रको मनसे ही दख-देखकर सदा परम सतुष्ट रहत हें तथा भगवान्के परम मधुर स्वभाव, महिमा एव रूप-माधुरीके तत्त्व-रहस्यको समझकर परम आनन्दम मग्न रहते हें।

'रमन्ति च'

वे परम प्रेमी भक्त भगवान्के साथ ही अलौकिक दिव्य आमोद-प्रमोदपूर्वक क्रीडा करते रहते हैं। वे निरन्तर एक भगवान्मे ही सर्वथा रमण करते रहते हैं। अपने परम प्यारे भगवान्म दिव्य अलौकिक सुगन्ध आती रहती है, उसका नासिकासे स्वाद लेना नासिकाके द्वारा रमण है। भगवान्के प्रसादको पाकर जिह्वाके द्वारा उसका स्वाद लेना जिह्वाके द्वारा रमण है। भगवान्के नेत्रासे नेत्र मिलाकर उनक नेत्राम जो एक अलौकिक दिव्य प्रेम रस और ज्ञानयुक्त ज्योति है, उसको देखते रहना नेत्राके द्वारा रमण है। भगवान्के चरणाका हाथोसे स्पर्श करना हाथाके द्वारा रमण है। भगवान्के नूपुर, वशी आदिकी ध्वनिको तथा उनकी प्रेमभरी कोमल, मधुर वाणीको सुन-सुनकर स्वाद लेना कानाके द्वारा रमण है। भगवान्के गुण, प्रभाव रूप, लीला आदिका चिन्तन करना मनसे भगवान्मे रमण करना है तथा भगवान्के सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार-स्वरूपके तत्त्व-रहस्यको समझकर मुग्ध होते रहना बुद्धिके द्वारा उनम रमण करना है। इस प्रकार भगवान्का आघ्राण प्रसाद-भोग दर्शन स्पर्श, भाषण-श्रवण चिन्तन, मनन आदि सभी परम मधुर, रसमय प्रेममय अमृतमय और आनन्दमय हे—ऐसा समझकर वे प्रेमी भक्त अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियाका भगवान्के साथ सम्वन्ध जोडकर उनसे उनके दर्शन-भाषण आदि करनेमे ही अत्यन्त अनुपम रसास्वाद लेते हुए भगवान्म ही नित्य-निरन्तर रमण करते रहते हैं। गोपियाका भगवान्म अनन्य विशुद्ध दिव्य प्रेम था। उनके मन प्राण और समस्त चेष्टाएँ एकमात्र अपने प्राणधन प्रेमास्पद भगवान्के ही अर्पित थीं तथा वे भगवान्के गुणोका गान करती हुई उनके प्रेमम ही सदा मग्न रहती थीं। भागवतकार वतलाते हैं—

> तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिका ।
> तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरु ॥
>
> (श्रीमद्भा० १०।३०।४४)

'गोपियाका मन श्रीकृष्णमय हो गया था। उनकी वाणीसे श्रीकृष्णचर्चाके अतिरिक्त और कोई बात नहीं निकलती थी। उनके शरीरसे केवल श्रीकृष्णके लिये और केवल श्रीकृष्णपरक चेष्टाएँ हो रही थीं। कहाँतक कह, उनका आत्मा श्रीकृष्णमय हा रहा था। वे केवल श्रीकृष्णके गुणा और लीलाओका ही गान कर रही थीं तथा उनमे इतनी तन्मय हो रही थीं कि उन्ह अपने शरीर आर घरकी भी सुध-बुध नहीं रही।'

उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्के नाम, रूप लीला, धाम, गुण ओर प्रभावका तत्त्व-रहस्य समझकर श्रद्धा-विश्वास तथा अनन्य प्रेमपूर्वक निरन्तर मनस चिन्तन दर्शन, भाषण एव चरण-स्पर्श करना ही भगवान्को प्रीतिपूर्वक विशुद्ध, निष्कामभावसे भजना ह। इस प्रकार भगवान्को भजनेवाले भक्त मान, बडाई प्रतिष्ठा, ऐश-आराम भाग और त्रिलोकीक ऐश्वर्यको तथा मुक्तिको भी नही चाहते। वे केवल विशुद्ध प्रेमके लिये ही भगवान्को अनन्यभावस भजते हैं—

> न पारमेष्ठ्य न महेन्द्रधिष्ण्य
> न सार्वभौम न रसाधिपत्यम्।
> न यागसिद्धीरपुनर्भव वा
> मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥
>
> (श्रीमद्भा० ११।१४।१४)

'जिसने अपनेको मुझे अर्पण कर दिया है वह मेरे सिवा न तो ब्रह्माका पद चाहता हे ओर न देवराज इन्द्रका। उसके मनमे न तो सार्वभौम सम्राट् बननकी इच्छा होती है ओर न वह रसातलका ही स्वामी होना चाहता ह तथा वह योगकी बडी-बडी सिद्धिया ओर मोक्षकी भी अभिलाषा नही करता।'

ऐसे अनन्य विशुद्ध प्रेम करनवाले भक्तको भगवान् वह बुद्धियोगरूप विज्ञानसहित ज्ञान दे देते हैं, जिससे भगवान्के साकार-निराकार सगुण-निर्गुण-स्वरूपका तत्त्व-रहस्य यथावत् समझमे आ जाता है और उसके फलस्वरूप उसे परम प्रेमास्पद भगवान्की प्राप्ति हो जाती है। भगवान्की प्राप्ति होनके पश्चात् उसे केवल भगवान्का ही अनुभव रहता

है। वह अपने-आपको भी भूल जाता है। होश आनेके बाद उसकी सारी चेष्टाएँ भगवान्‌के ही मन और सकेतक अनुकूल कठपुतलीकी भाँति स्वाभाविक ही होती रहती हैं। फिर भगवान्‌की सारी चेष्टा भक्तके लिये और भक्तकी सारी चेष्टा भगवान्‌के लिये ही होती है। उनमे परस्पर नित्य-नया प्रेम सदा-सर्वदा समानभावसे जाग्रत् रहता है। परस्पर दोनोकी चष्टा एक-दूसरको आह्लादित करनेके लिये ही होती है, जो कि एक-दूसरेके लिये लीलारूप है। प्रेम, प्रेमास्पद और प्रमी—इनका नाम-रूप अलग-अलग है, परतु वस्तुत तोना एक ही हैं। जैसे सुवर्णके आभूपणाके नाम-रूप अलग-अलग होते हैं, किंतु वस्तुत वे स्वर्ण ही हैं। इसी प्रकार परम दिव्य चिन्मय प्रेमस्वरूप परमात्मा ही प्रेमी, प्रमास्पद ओर प्रेम नामसे व्यवहृत हुए हैं। भक्तकी दृष्टिमे तो भक्त प्रेमी, भगवान् प्रेमास्पद और उनका सम्बन्ध ही प्रेम है तथा भगवान्‌की दृष्टिमे भगवान् प्रेमी, भक्त प्रमास्पद एव उनका सम्बन्ध ही प्रेम है, अत भगवान्‌की सारी चेष्टा भक्तके लिये लीला है और भक्तकी सारी चेष्टा भगवान्‌के लिये लीला है। एक-दूसरेकी चेष्टा एक-दूसरेकी प्रसन्नताके लिये ही होती है।

वहाँ एक-दूसरेके साथ लज्जा, मान, भय और आदर-सत्कार किंचिन्मात्र भी नहीं रहते। वस्तुत तो एक ही हैं अत कौन किसका किससे किसलिये लज्जा, मान, भय और आदर-सत्कार करे। दास्य और वात्सल्यभावमें तो आदर-सत्कार और भय रहते हैं, कान्ताभावमें भी आदर-सत्कार रहते हैं तथा सख्यमे भी लज्जा रहती है, किंतु यहाँ तो परस्पर लज्जा, भय, मान और आदर-सत्कारका किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता, क्योंकि भगवान्‌की प्राप्ति होनेके साथ ही दास्य, सख्य कान्ताभाव, वात्सल्य, शान्त आदि सारे भावोका उस भक्तमे समावेश हो जाता है। वह इन सारे भावोसे अतीत केवल विशुद्ध चिन्मय परम प्रेमस्वरूप भगवान्‌को प्राप्त हो जानेके कारण इन भावोसे ऊपर उठ जाता है। इस परम विशुद्ध दिव्य अलौकिक प्रेमकी प्राप्ति रहस्यमय है। इसका कोई वाणीद्वारा वर्णन नहीं कर सकता।

प्रेम-तत्त्व

(ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामी श्रीशरणानन्दजी महाराज)

कामनासे युक्त होकर जो ईश्वरका भजन-चिन्तन किया जाता है, वह कामनाकी पूर्ति होने या न होनेपर ईश्वरसे विमुखता उत्पन्न करता है। जैसे बच्चा माँसे पैसा माँगता है, जबतक माँ पैसा नहीं देती, तबतक तो वह माँकी ओर देखता रहता है, किंतु पैसा मिलते ही माँसे विमुख होकर भाग जाता है। यही दशा सकाम साधककी होती है।

इसी प्रकार जो भक्ति भगवान्‌के गुण, प्रभाव और ऐश्वर्यको लेकर की जाती है, वह भी वास्तविक नहीं है। वह साधन-भक्ति है। प्रेम तो वह है, जो ईश्वरके साथ सम्बन्धसे होता है, जो उनको अपना माननेसे होता है। वे चाहे जैसे हो मुझसे प्रेम करे या न करे, दयालु हो चाहे निष्ठुर हो परतु मेरे हैं—इस भावसे ही सच्चा प्रेम होता है। जैसे विवाहके पहले सगाई करते समय देखा जाता है कि लडका कैसा है परतु जब सम्बन्ध हो जाता है तब तो वह अपना हो जाता है, वह चाहे जैसा हो, सती स्त्रीका तो वही सर्वस्व है। उसने तो उसपर अपने-आपको न्योछावर कर दिया है। उसकी दृष्टि उसके गुण-दोषोकी ओर नहीं जाती।

जो साधक भगवान्‌को अपना लेता है, उनसे प्रेम करना चाहता है, वह कैसा है—महान् दुराचारी है या सदाचारी, उच्च वर्णका है या नीच वर्णका—इसका भगवान् जरा भी विचार नहीं करते। जो उनको चाहता है, उनके साथ प्रेम करना चाहता है, वे उससे प्रेम करनेके लिये सदैव उत्सुक रहते हैं। साधक उनसे जितना प्रेम करता है वे उससे कितना अधिक प्रेम करते हैं—इसका वाणीद्वारा कोई वर्णन नहीं कर सकता। भगवान्‌की इस महिमाको समझनेवाला साधक उनपर अपनेको न्योछावर कर देनेके सिवा और करेगा ही क्या!

यदि प्रेमकी इच्छा रहते हुए भी सचमुच प्रेम प्राप्त नहीं हुआ तो उसके न मिलनेकी गहरी वेदना होनी चाहिये।

वह वेदना अवश्य ही प्रेम चाहनेवालेको प्रेमकी प्राप्ति करा देगी। यदि प्रेमकी चाह है, परतु उसके प्राप्त न होनेकी तीव्र वेदना नहीं है तो साधकको समझना चाहिये कि मेरे जीवनमे किसी-न-किसी प्रकारका अन्य रस है, जो मुझे प्रेमसे वञ्चित करनेवाला है। विचार करनेपर या तो किसी प्रकारके सद्गुणका अथवा किसी प्रकारके सदाचारका रस दिखलायी देगा क्योकि प्रम चाहनवालके मनम भोगवासना और भोगोका रस तो पहले ही मिट जाना चाहिये। जबतक भोगामे रस प्रतीत होता है, तबतक तो प्रेमकी सच्ची चाह ही नहीं होती।

भगवत्प्रेमका मूल्य सद्गुण या सदाचार नहीं है। अत उस प्रमम प्रत्येक मनुष्यका अधिकार हे। पतित-से-पतित भी भगवान्‌का प्रम प्राप्त कर सकता है, क्याकि जिस प्रकार भक्तवत्सल होनक नाते श्रीहरि अपन भक्तस स्नेह करते है, वैसे ही वे पतितपावन प्रभु अधमोद्धारक और दीनवन्धु भी तो हैं ही। अत दीन, हीन आर पतितसे भी वे प्यार करते हैं। उसे भी वे अपन प्रेमका पात्र समझत हैं। वे मनुष्यसे किसी सौन्दर्य या गुणक कारण प्रम नहीं करत, क्योकि अनन्त दिव्य सौन्दर्य, अनन्त दिव्य सद्गुणोके व केन्द्र हैं। किसी ऐश्वयक कारण प्रभु प्रेम करते हा, ऐसी बात भी नहीं है, क्योकि उनक समान ऐश्वर्य किसीके पास है ही नहीं तो उनसे अधिक ऐश्वर्य हो ही कैसे सकता है। व तो एकमात्र उसीसे प्रेम करते हैं, जो उनपर विश्वास करके यह मान लता है कि मैं उनका हूँ, वे मेरे हैं। बस इसके अतिरिक्त भगवान् और कुछ नहीं चाहते, इसलिय प्रत्येक मनुष्य उनके प्रेमका अधिकारी हे।

प्रेम प्रदान करना या न करना प्रभुके हाथकी बात है। वे जव चाहे, जिसका चाह, अपना प्रेम प्रदान करे अथवा न करे, इसमे साधकके वशकी बात नहीं है किंतु उनका प्रेम न मिलनेसे व्याकुलता और बचेनी तो होनी ही चाहिये। छोटी-से-छोटी चाह पूरी न होनेस मनुष्य दु खी हो जाता है, व्याकुल हो जाता है। फिर जिसको भगवान्‌के प्रेमका चाह है और प्रेम मिलता नहीं, वह चेनसे कैसे रह सकता है? उसकी वेदनाको किसी भी भोगका, सद्गुणका और सदाचारका अथवा सद्गतिका सुख भी कैसे शान्त कर सकता है?

अत जिस साधकको गोपीभाव प्राप्त करना हो और उनकी लीलामे प्रवेश करके गोपी-प्रेमकी बात समझनी हो, उसे चाहिये कि देहभावसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण भागवासनाका त्याग कर दे क्याकि जबतक दहभाव रहता ह अर्थात् मैं पुरुप हूँ, मैं स्त्री हूँ—ऐसा भाव होता है, तबतक गोपी-चरित्र सुनने और समझनेका अधिकार नहीं प्राप्त होता। फिर गोपी-प्रेम क्या है—यह ता कोई समझ ही कैसे सकता है।

जब भगवान् श्यामसुन्दरके प्रेमकी लालसा समस्त भाग-वासनाओको समाप्त कर सबल हो जाती है, तब साधकका व्रजमे प्रवेश होता हे। उसके पहले तो व्रजमे प्रवश हाना ही दुष्कर है। यह उस व्रजकी बात नहीं है, जहाँ लोग टिकट लेकर जाते हैं। यह तो वह व्रज है, जो प्रकृतिका कार्य नहीं, जहाँकी काई भी वस्तु भातिक नहीं और जिसका निर्माण दिव्य प्रेमकी धातुसे हुआ हे। जहाँकी भूमि, ग्वाल-बाल, गोपियाँ, गाये और लता-पत्ता आदि सब-के-सब चिन्मय हैं। जहाँ जडता और भौतिक भावकी गन्ध भी नहीं है, उस व्रजमे प्रवश हो जानेके बाद भी गोपीभावकी प्राप्ति बहुत दूरकी बात है। दासभाव सख्यभाव ओर वात्सल्यभावके बाद कहीं गोपी-भावकी उपलब्धि होती है। फिर साधारण मनुष्य उस गापी-प्रेमकी बात कैसे समझ और कह सकते हैं।

जबतक देहभाव रहता है तभीतक भोगवासना और अनेक प्रकारके दोष रहते हैं और तभीतक दोषोका नाश करके चित्तशुद्धिके लिये साधन करना रहता है। चित्तका सर्वथा शुद्ध हो जाना और सब प्रकारसे असत्‌का सग छूट जाना ही सच्चा व्रजमे प्रवेश है।

अत जिस साधकको गोपी-प्रेम प्राप्त करना हो, उसे चाहिये कि पहले मुक्तिके आनन्दतकका लोभ छोडकर व्रजमे प्रवेशका अधिकार प्राप्त करे। तत्पश्चात् भगवान्‌की कृपापर निर्भर होकर गोपी-भावको प्राप्त करे।

दिव्य-प्रेम

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

प्रेमकी सबसे पहली और एकमात्र मुख्य शर्त है—'स्वसुख-वाञ्छाकी कल्पनाका भी अभाव।' एक बड़ी सुन्दर निकुञ्ज-लीला है। एक सखीने नख-शिख शृङ्गार किया। ऐसा कि जो प्राणप्रियतम श्यामसुन्दरको परम सुख देनेवाला था। उसने दर्पणमें देखा और वह चली श्यामसुन्दरको दिखाकर उन्हें सुखी करनेकी मधुर लालसासे। प्रियतम श्यामसुन्दर निभृत निकुञ्जमें कोमल कुसुम और किसलयकी सुरभित शय्यापर शयन कर रहे हैं। अलसायी आँखोंमें नींद छायी है, बीच-बीचमें पलक खुलती है, पर तुरत ही बंद हो जाती है। प्रेममयी गोपी आयी है अपनी शृङ्गारसुषमासे श्यामसुन्दरको सुखी करनेके लिये। उसके मनमें स्व-सुखकी तनिक भी वाञ्छा नहीं है, पर श्यामसुन्दर सो रहे हैं, वह चाहती है, एक बार देख लेते तो उन्हें बड़ा सुख होता। उसके हाथमें कमल था, उसके परागको वह उड़ाने लगी। सोचा कोई परागकण प्रियतम श्यामसुन्दरके नेत्रोंमें पड़ जायगा तो कुछ क्षण नेत्र खुले रह जायँगे। इतनेमें वे मेरे शृङ्गारको देख लेंगे उन्हें परम सुख होगा।

इसी बीचमें नित्यनिकुञ्जेश्वरी श्रीराधारानी वहाँ आ पहुँचीं। उन्होंने प्यारी सखीसे पूछा—'क्या कर रही हो?' सखीने सब बताया। श्रीराधारानी स्वयं स्वभावसे ही श्यामसुन्दरका सुख चाहती हैं। पर यहाँ सखीकी यह चेष्टा उन्हें ठीक नहीं लगी। उन्होंने कहा—'सखी! तुम्हारा मनोभाव बड़ा मधुर है, पर श्यामसुन्दरको जब तुम सुखी देखोगी, तब तुम्हें अपार सुख होगा न? किंतु श्यामसुन्दरके इस सुखसे तुमको तभी सुख मिलेगा जब उनकी सुख-निद्रामें विघ्न उपस्थित होगा। इस आत्मसुखके लिये उनकी सुख-निद्रामें बाधा उपस्थित करना कदापि उचित नहीं है।' सखीने केवल श्रीकृष्ण-सुखके लिये ही शृङ्गार किया था परंतु इसमें भी स्व-सुखकी छिपी वासना थी इस बातको वह नहीं समझ पायी थी। प्रेमतत्त्वका सूक्ष्म दर्शन करनेवाली प्रेमस्वरूपा श्रीराधिकाजीने इसको समझा और सखीको रोक दिया। सखी प्रेमतत्त्वका सूक्ष्म परिचय पाकर प्रसन्न हो गयी।

गोपी चाहती हैं श्रीश्यामसुन्दरके चरणकमल हमारे हृदयको स्पर्श करें उन्हें इसमें अपार सुख भी मिलता है और वे यह भी जानती हैं, इससे प्रियतम श्यामसुन्दरको भी महान् सुख होता है तथापि वे जितनी विरहव्यथासे व्यथित हैं उससे कहीं अधिक व्यथित इस विचारसे हो जाती हैं कि हमारे वक्षोजसे प्रियतमके कोमल चरणतलमें कहीं आघात न लग जाय। वे रासपञ्चाध्यायीके गोपीगीतमें गाती हैं—

> यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु
> भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
> तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
> कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः॥
>
> (श्रीमद्भा० १०।३१।१९)

'तुम्हारे चरण कमलसे भी अधिक कोमल हैं। उन्हें हम अपने कठोर उरोजोंपर भी बहुत ही डरते-डरते धीरेसे रखती हैं कि कहीं उनमें चोट न लग जाय। उन्हीं कोमल चरणोंसे तुम रात्रिके समय घोर अरण्यमें घूम रहे हो यहाँके नुकीले कंकड़-पत्थरों आदिके आघातसे क्या उन चरणोंमें पीड़ा नहीं होती? हम तो इस विचारमात्रसे ही चक्कर आ रहा है। हमारी चेतना लुप्त हुई जा रही है। प्राणप्रियतम श्यामसुन्दर! हमारा जीवन तो तुम्हारे लिये ही है। हम तुम्हारी ही हैं।' अतः इस प्रेमराज्यमें किसी भी प्रकारसे निज सुखकी कोई भी *वाञ्छा नहीं होती*। इसीसे इसमें 'सर्वत्याग' है—त्यागकी पराकाष्ठा है। 'प्रेम' शब्द बड़ा मधुर है और प्रेमका यथार्थ स्वरूप भी समस्त मधुरोंमें परम मधुरतम है। परंतु त्यागमय होनेसे यह पहले है—बड़ा ही कटु बड़ा ही तीखा। अपनेको सर्वथा खो देना है—तभी इसकी कटुता और तीक्ष्णता महान् सुधामाधुरीमें परिणत होती है। गोपीमें वस्तुतः निज सुखकी कल्पना ही नहीं है फिर अनुसंधान तो कहाँसे होता? उसके शरीर मन वचनकी सारी चेष्टाएँ और सारे संकल्प

अपने प्राणाराम श्रीश्यामसुन्दरके सुखके लिये ही होते हैं, इसलिये उसमे चेष्टा नहीं करनी पडती। यह प्रेम न तो साधन है, न अस्वाभाविक चेष्टा है, न इसमे कोई परिश्रम है। प्रेमास्पदका सुख ही प्रेमीका स्वभाव है, स्वरूप है। 'हमारे इस कार्यसे प्रेमास्पद सुखी होगे'—यह विचार उसे त्यागमे प्रवृत नहीं करता। सर्वसमर्पित जीवन होनेसे उसका त्याग सहज होता है। अभिप्राय यह कि उसमे श्रीकृष्णसुखकाम स्वाभाविक है, कर्तव्यबुद्धिसे नहीं है। उसका यह 'श्रीकृष्णसुखकाम' उसका स्वरूपभूत लक्षण है।

प्राणप्रियतम भगवान् श्यामसुन्दरका सुख ही गोपीका जीवन है। इसे चाहे 'प्रेम' कह या 'काम'। यह 'काम' परम त्यागमय सहज प्रेष्ठसुख-रूप होनेसे परम आदरणीय है। मुनिमनोऽभिलषित है। 'काम' नामसे डरनेकी आवश्यकता नहीं है। '**धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ**'। भगवान्ने धर्मसे अविरुद्ध कामको अपना स्वरूप बतलाया है। भगवान्ने स्वय कामना की—'मैं एकसे बहुत हो जाऊँ' '**एकोऽह बहु स्याम्**'। इसी प्रकार 'रमण' शब्द भी भयानक नहीं है। भगवान्ने एकसे बहुत होनेकी कामना क्यो की? इसीलिये कि अकेलेमे 'रमण' नहीं होता—'**एकाकी न रमते।**' यहाँ भी 'काम' और 'रमण' शब्दका अर्थ गन्दा कदापि नहीं है इन्द्रिय भोगपरक नहीं है। मोक्षकी कामनावालेको 'मोक्षकामी' कहते हैं। इससे वह 'कामी' थोडे ही हो जाता है। इसी प्रकार गोपियोका 'काम' है—एकमात्र 'श्रीकृष्णसुखकाम' और यह काम उनका सहजस्वरूप हो गया है। इसलिये यह प्रश्न ही नहीं आता कि गोपियाँ कहीं यह चाह कि हमारे इस 'काम' का कभी किसी कालमे भी नाश हो। यह काम ही उनका गोपीस्वरूप है। इसका नाश चाहनेपर तो गोपी गोपी ही नहीं रह जाती। वह अत्यन्त नीचे स्तरपर आ जाती है, जो कभी सम्भव नहीं है।

गोपीकी बुद्धि उसका मन उसका चित्त उसका अहकार और उसकी सारी इन्द्रियाँ प्रियतम श्यामसुन्दरके सुखके सहज साधन हैं, न उसमे कर्तव्यनिष्ठा है, न अकर्तव्यका बोध, न ज्ञान है न अज्ञान, न वैराग्य है न राग, न कोई कामना है न वासना—बस, श्रीकृष्ण-सुखके साधन बने रहना ही उसका स्वभाव है। यही कारण है कि परम निष्काम, आत्मकाम, पूर्णकाम, अकाम आनन्दघन श्रीकृष्ण गोपी-प्रेमामृतका रसास्वादन कर आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं। जो आनन्दके नित्य आकर हैं, आनन्दके अगाध समुद्र हैं, आनन्दस्वरूप हैं, जिनसे सारा आनन्द निकलता है, जो आनन्दके मूल स्रोत हैं, जिनके आनन्द-सीकरको लेकर ही जगत्मे सब प्रकारके आनन्दोका उदय होता है, उन भगवान्मे आनन्दकी चाह कैसी? उनमे आनन्द प्राप्त करनेकी इच्छा कैसी? यह बात दार्शनिककी कल्पनामे नहीं आ सकती। परतु प्रेमराज्यकी बात ही कुछ विलक्षण है। यहाँ आनन्दमयमे ही आनन्दकी चाह है। इसीसे भगवान् श्यामसुन्दर प्रेमियोके प्रेमरसका आस्वादन करनेके लिये व्याकुल हैं। यशोदा मैयाका स्तन-पान करनेके लिये भूख गोपाल रोते हैं, गोप-सखाओ और बछडोके खो जानेपर कातर हुए कन्हैया उन्हें वन-वन ढूँढते-फिरते हैं, व्रजसुन्दरियोका मन हरण करके उन्ह अपने पास बुलानेके लिये गोपीजनवल्लभ उनके नाम ले-लेकर मधुर मुरलीकी तान छेडते हैं। प्रेमम यही विलक्षण महामहिम मधुरिमा है।

प्रेम भगवान्का स्वरूप ही है। प्रेम न हो तो रूखे-सूखे भगवान् भाव-जगत्की वस्तु रहे ही नहीं। आनन्दस्वरूप यदि आनन्दके साथ इस प्रकार आनन्दरसका आस्वादन न करे उनकी आनन्दमयी आह्लादिनी शक्ति उन्हे आनन्दित करनेमे प्रवृत्त न हो तो केवल स्वरूपभूत आनन्द बडा रूखा रह जाता है। उसमे रस नहीं रहता। इसलिये वे स्वय अपने ही आनन्दका अनुभव करनेके लिये अपनी ही स्वरूपभूता आनन्दरूपा शक्तिको प्रकट करके उसके साथ आनन्द-रसमयी लीला करते हे। यह आनन्द बनता नहीं। पहले नहीं था अब वना, सो बात नहीं है। प्रेम नित्य, आनन्द नित्य—दोनो ही भगवत्स्वरूप। आनन्दकी भित्ति प्रेम और प्रेमका विलक्षण रूप आनन्द। इस प्रेमका कोई निर्माण नहीं करता। जहाँ त्याग होता है वहीं इसका प्राकट्य—उदय हो जाता है। जहाँ त्याग वहाँ प्रेम और जहाँ प्रम, वहीं आनन्द।

कहीं भी द्वेषसे, वैरसे आनन्दका उदय हुआ हो तो बताइये ? असम्भव है। भगवान् प्रेमानन्दस्वरूप हैं। अतएव भगवान्‌की यह प्रेमलीला अनादिकालसे अनन्तकालतक चलती ही रहती है। न इसमे विराम होता है, न कभी कमी ही आती है। इसका स्वभाव ही वर्धनशील है।

समस्त जगत्‌के जीव-जीवनमे भी आशिकरूपमे विभिन्न प्रकारसे प्रेमकी ही लीला चलती है। माता-पिताके हृदयका वात्सल्य-स्नेह, पत्नी-पतिका माधुर्य, मित्रका पवित्र सख्यत्व, पुत्रकी मातृ-पितृ-भक्ति, गुरुका स्नेह, शिष्यकी गुरु-भक्ति—इस प्रकार विभिन्न विचित्र धाराओमे प्रेमका ही प्रवाह बह रहा है। यह प्रेम त्यागसे ही विकसित होता और फूलता-फलता है। जगत्‌मे यदि यह प्रवाह सूख जाय, सतानको माता-पिताका वात्सल्य न मिले, पति-पत्नीका माधुर्य मिट जाय मित्र-बन्धुआके सखाभावका नाश हो जाय, गुरु-शिष्यकी स्नेह-भक्ति न रहे और माता-पिताको पुत्रकी विशुद्ध श्रद्धा-सेवा न मिले तो जगत् भयानक हो जाय। कदाचित् ध्वस हो जाय या फिर जगत् क्रूर राक्षसोकी ताण्डवस्थली बन जाय। अतएव त्यागमय प्रेमकी बडी आवश्यकता है। यही प्रेम जब सब जगहसे सिमटकर एक भगवान्‌मे लग जाता है तब वह परम दिव्य हो जाता है। इसी एकान्त विशुद्ध प्रेमकी निर्मल मूर्ति है—गोपी और उस प्रेमके पुञ्जीभूत रूप ही हैं—श्यामसुन्दर—'पुञ्जीभूत प्रेमगोपाङ्गनानाम्'।

जहाँ स्व-सुखकी वाञ्छा है, वस्तु अपने लिये है वहीं वह 'भोग' है। वही वस्तु भगवान्‌के समर्पित हो गयी तो 'सेवा' है। 'स्व-सुख-वाञ्छा'को लेकर हम जो कुछ भी करते हैं, सब भोग है, उसी कामको भगवत्-समर्पित करके हम सुखी होते हैं तो वह प्रेम है। घरकी कोई चीज, मनकी कोई चीज, जीवनकी कोई चीज जबतक 'स्व-सुख' के लिये है तबतक 'भोग' है और जबतक भोग हैं, जब उनका इन्द्रियोके साथ भोग्य-सम्बन्ध है, तबतक उनसे दु ख उत्पन्न होता रहेगा। भगवान्‌ने स्वय कहा है—

ये हि सस्पर्शजा भोगा दु खयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्त कौन्तेय न तेषु रमते बुध ॥
(गीता ५।२२)

'जो भी सस्पर्शज भोग हैं, वे सभी दु खकी उत्पत्तिके क्षेत्र हैं और आदि-अन्तवाले हैं, इसलिये भैया अर्जुन! बुद्धिमान् लोग उनमे प्रीति नहीं रखते।'

पर ये ही सब भोग जब स्व-सुखकी इच्छाका परित्याग करके पर-सुखार्थ भगवदर्पित हो जाते हैं तो इन्हींको 'भगवान्‌की सेवा' कहा जाता है। यही प्रेम है। गोपीप्रेम इसीसे स्व-सुख-वाञ्छामे सर्वथा रहित परम उज्ज्वल है। यहाँ पूर्ण समर्पण हो चुकनेपर भी नित्य समर्पणकी लीला चलती रहती है। प्रतिक्षण समर्पण होता रहता है। यो समर्पण होते-होते समर्पण-क्रिया भी विस्मृत होने लगती है और फिर 'ग्रहण' भी समर्पणरूप त्यागरूप बन जाता है, क्योकि उसमे भी प्रियतमके सुखकी ही निर्मल वाञ्छा रहती है।

पर इस 'ग्रहण'मे प्रेमकी पहचान बहुत कठिन है। हम हलवा खा रहे हैं, हमे उसके मिठासका स्वाद आ रहा है तथा हमे सुख मिल रहा है। यह हलवा खाना तथा उसमे मिठास तथा सुखकी अनुभूति—स्व-सुखके लिये हो रही है या प्रेमास्पदके सुखके लिये—इसका परीक्षण बहुत कठिन है। इसका यथार्थ स्वरूप वही जानते है, जो प्रेमके इस स्तरतक पहुँच गये हैं। प्रेमीको स्वाद आ रहा है पर स्वादके सुखका ग्रहण वह तभी करता है, जब कि उससे प्राणधन प्रेमास्पद श्यामसुन्दरको सुख होता हो। स्वाद प्रेमीको आता है, परतु यदि प्रेमास्पदको उसमे सुख नहीं है तो वह स्वाद कभी प्रेमीको इष्ट नहीं है। हलवेकी मिठास लेते-लेते यह मालूम हो जाय कि प्रेमास्पद चाहते थे कि तुम मीठा हलवा न खाकर कडुवा नीम खाते तो तुरत हलवा उसके लिये कड़ुवा हो जायगा, बुरी चीज बन जायगा और वह नीम खाने लगेगा। यहीं पता लगता है कि 'ग्रहण' स्व-सुखकी वाञ्छासे था या प्रेमास्पदके सुखके लिये। यही बात कपडे पहनने सोने जागने, जगत्‌के सारे व्यवहार करनेमे है। प्रत्येक क्रियामे प्रेमास्पदका सुख ही एकमात्र इष्ट होना चाहिये। प्रेमीको यह पता लग जाय कि

प्रेमास्पद हमारे मरणमे प्रसन्न है तो प्रेमीके लिये एक क्षण भी जीवन-धारण करना परम दु खरूप हो जायगा।

यो प्रेमास्पदके सुखका जीवन जिनका बन जाता है, उनको प्रेमास्पद प्रभुके मनकी बात खोजनी नहीं पडती। वह उसके सामने स्वय प्रकट रहती है। प्रेमास्पदका मन उस प्रेमीके मनमे आ विराजता है। इसीलिये भगवान्ने अर्जुनसे श्रीगोपसुन्दरियोके सम्बन्धमे कहा है—

मन्माहात्म्य मत्सपर्यां मच्छ्रद्धा मन्मनोगतम्।
जानन्ति गोपिका पार्थ नान्ये जानन्ति तत्त्वत ॥

'मेरी महिमा, मेरी सेवाका स्वरूप, मेरी श्रद्धाका स्वरूप तथा मेरे मनकी बात तत्त्वसे केवल गोपिकाएँ ही जानती हैं। हे अर्जुन! दूसरा कोई नहीं जानता।'

इसलिये गोपीको यह पता नहीं लगाना पडता कि भगवान् किस बातसे प्रसन्न होगे। उनके अदर भगवान्का मन ही काम करता है। भगवान्ने स्वय श्रीउद्धवजीसे कहा है—

'ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिका ।'

(श्रीमद्भा० १०।४६।४)

'वे मेरे मनवाली हैं, मेरे प्राणवाली हैं, मेरे लिये अपने दैहिक वस्तुओ तथा कार्योंका सर्वथा परित्याग कर चुकी हैं।' श्रीकृष्ण ही गोपियोके मन हैं। श्रीकृष्ण ही उनके प्राण हैं। उनके सारे सकल्प तथा सारे कार्य श्रीकृष्ण-प्रीत्यर्थ या श्रीकृष्ण-सुखार्थ ही होते हैं।

प्रेमकी बडी ही विचित्र गति होती है। वह महागम्भीर है और महाचञ्चल है। प्रेमीमे प्रेमका अगाध समुद्र प्रशान्तभावसे स्थिर हो जाता है, परतु जैसे पूर्ण चन्द्रमाको देखकर महासमुद्र नाचने लगता है उसी प्रकार प्रेमास्पद भगवान्के प्रसन्न श्रीमुखको देखकर उनके सुखार्थ उस प्रेम-महासागरमे लहरे—तरङ्गे उठने लगती हैं। ये तरङ्गे ही प्रेमलीला हैं।

गोपियोके जीवनमे इन प्रेम-तरङ्गोके अतिरिक्त अन्य कोई भी क्रिया नहीं है। प्रेमकी ही ये उच्छ्वसित ऊर्मियाँ हैं जो नाच-नाचकर प्रेमसुधाका अधिकाधिक मधुर रसास्वादन कराया करती हैं। ये तरङ्गे कभी अत्यन्त उत्ताल हो जाती हैं, कभी मृदु बन जाती हैं, कभी बहुत ऊपर उछलती हैं, कभी मन्द-मन्द उठती-बैठती हैं, कभी सीधी होती हैं, कभी दाये-बाये हो जाती हैं। प्रेममे दो तरहके भाव होते हैं—दक्षिण और वाम। दक्षिणभावसे भी और वामभावसे भी—परस्पर प्रेम-लीलाएँ चलती रहती हैं। जहाँ प्रेमानन्दमयी श्रीराधारानी या गोपाङ्गनाओका वामभाव होता है, वहाँ प्रियतम श्यामसुन्दर उन्हे मनाया करते हैं और जहाँ प्रेमधन श्रीश्यामसुन्दरका वामभाव होता है, वहाँ श्रीराधारानी या श्रीगोपाङ्गनाएँ उन्हे मनाया करती हैं। मधुर मनोहर प्रेमसमुद्रके 'विरहतट' पर कभी 'विप्रलम्भ' रसका आस्वादन होता है तो कभी 'मिलनतट' पर 'सम्भोग' रसका आस्वादन होता है। फिर कभी मिलनमे ही विरहकी स्फूर्ति हो जाया करती है—

प्रियस्य सनिकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्षस्वभावत ।
या विश्लेषधियार्तिस्त प्रेमवैचित्यमुच्यते॥

'प्रेमकी उत्कर्षताके कारण प्रियतमके समीप रहनेपर भी उनके न रहनेके निश्चयसे होनेवाली पीडाका अनुभव होना प्रेम-वैचित्य कहलाता है।' इस प्रकार प्रेमसागरमे अनन्त मधुरातिमधुर तरङ्गे उठा करती हैं। इनका वर्णन कौन करे? जो तटपर खडा है, वह तो तरङ्गोके भीतरकी स्थिति जान नहीं सकता और जो तरङ्गोमे मिल गया वह तरङ्ग ही बन जाता है। इसीसे प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है—'अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपम्॥' (ना०भ०सू० ५१)

कभी-कभी ऐसा होता है—प्रेमी और प्रेमास्पद अपने-आपको भूलकर एक-दूसरे बन जाते हैं। नटवर रसिकशेखर श्रीश्यामसुन्दर अपनेको राधा मानकर हा कृष्ण! हा श्यामसुन्दर! हा प्राणवल्लभ! पुकारने लगते हैं और रासेश्वरि नित्य निकुञ्जेश्वरि श्रीराधारानी श्रीकृष्णके आवेशमे हा राधे! हा प्राणेश्वरी! हा प्राणाधिके! हा मनमोहनी! पुकारा करती हैं। ये सभी प्रेमसमुद्रकी पवित्रतम मधुर-मधुर तरङ्गे हैं। यह श्रीराधा-माधवका प्रेम, प्रेमविहार, प्रेमलीला नित्य है और नित्य वर्द्धनशील है, इसीसे उनका अप्रतिम आनन्द भी नित्य और प्रतिक्षण वर्द्धनशील है। किसी-किसी युगमे कोई ऐसे प्रेमी सत होते हैं, जो इस

प्रमलीलाका दर्शन करना चाहते हैं। तब उनकी प्रीतिसे प्रेरित होकर भगवान् अपने दिव्य धाम तथा प्रेमी परिकरो, सखाओ, सखियोको लेकर दिव्यधामके दिव्य चिन्मय पशु-पक्षियो और वृक्ष-लताओको लेकर इस मर्त्य भूमिपर अवतरित होते हैं। यही भगवान् श्रीराघवेन्द्रकी अवधलीला है और यही श्रीव्रजेन्द्रनन्दनकी व्रजलीला है। इस प्रेमराज्यमे उन्हींका प्रवेश है जो अपनेको खोकर स्व-सुखकी समस्त वाञ्छाओको मिटाकर भगवान्‌के ही हो जाते हैं। इस प्रकार त्यागकी पराकाष्ठासे उदित दिव्य प्रेमको वैष्णवोने 'पञ्चम पुरुषार्थ' बताया है। धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—चार पुरुषार्थ प्रसिद्ध हैं। प्रेम पञ्चम पुरुषार्थ है, जहाँ मोक्षकी कामनाका भी परित्याग हो जाता है। प्रेम-सेवाका छोडकर प्रेमी भक्त देनेपर भी मुक्तिको स्वीकार नहीं करते।

'दीयमान न गृह्णन्ति विना मत्सेवन जना ॥'

यही त्यागकी पराकाष्ठा है। इसमे 'अह'की चिन्ता या 'अह'की मङ्गल-कामनाका सर्वथा अभाव है। जहाँ मोक्षकी कामना है, वहाँ बन्धनकी अपेक्षा है। बन्धन न हो तो मोक्ष—छुटकारा किससे? और बन्धन किसको होता है। जो बँधा है, वही छुटकारा चाहता है। अत बन्धनकी अनुभूति और बन्धनसे मुक्त होनेकी इच्छा—इसीका नाम 'मुमुक्षा' है और यह जिसम है, उसीको 'मुमुक्षु' कहते हैं। छुटकारेकी इच्छाम ही बन्धनकी अनुभूति है, जिसको इस बन्धनकी अनुभूति है वही बन्धनसे मुक्त होनेकी इच्छा करता है—हम उसे चाहे मुमुक्षु कहे—चाहे जिज्ञासु या साधक। कुछ भी कहे, उसमे 'अह' है और वह 'अह'-का मङ्गल चाहता है। पर प्रेम-राज्यम तो अहकी चिन्ता ही नहीं है 'स्व' की सर्वथा विस्मृति है। प्रेमास्पदका सुख ही जीवन है। इसीसे यह 'पञ्चम पुरुषार्थ' है।

गीताके अन्तिम अध्यायका नाम 'मोक्षसन्न्यासयोग' है। 'मोक्षसन्न्यास'का यह अर्थ किया जाय कि इसम 'मोक्षके भी परित्याग' का विषय है। यही तो 'शरणागति' है। यह तो मानना ही चाहिये कि जिस अर्जुनको भगवान्‌ने रणाङ्गणम प्रत्यक्ष समझाकर गीताका उपदेश किया जिसको अपना अत्यन्त प्रिय, इष्ट और अधिकारी बताया, जिसके हितके लिये ही उपदेश किया—

'इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥'

—उस अर्जुनने गीताको जितना अच्छा समझा है, उतना और किसने समझा होगा? अर्जुनका जीवन गीताके अनुसार जितना बना होगा, उतना और किसका बनेगा, अर्जुन तो स्वीकार करता है कि 'मेरा मोह नष्ट हो गया और मैं आपके वचनाका पालन करूँगा।' और यहींपर गीता समाप्त हो जाती है। इस प्रकार गीताका अर्थ समझनेवालेकी जो गति हुई होगी, वही गीता-वक्ताके उपदेशका फल होना चाहिये। अब महाभारतमे देखिये—अर्जुनको 'सायुज्य मोक्ष'-की प्राप्ति हुई या और कुछ मिला। महाभारत, स्वर्गारोहणपर्वमे कथा है—

'देवताओ, ऋषियो और मरुद्गणोके द्वारा अपनी प्रशसा सुनते हुए महाराज युधिष्ठिर भगवान्‌के दिव्य धाममे जा पहुँचे। वहाँ उन्होने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण अपना ब्राह्मविग्रह धारण किये विराजमान हैं। उनका स्वरूप पूर्व देखे हुए विग्रहके ही सदृश है, अत वे भलीभाँति पहचाननेम आ रहे हैं। उनके दिव्य श्रीविग्रहसे दिव्य ज्योति फैल रही है। उनके सुदर्शनचक्रादि आयुध देवताओके शरीर धारण किये हुए उनकी सेवाम लगे हैं। वहीं अत्यन्त तेजस्वी वीरवर अर्जुन भी भगवान्‌की सेवामे सलग्न है। देवपूजित भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने भी युधिष्ठिरको आये देख उनका यथारीति सत्कार किया।'

इससे समझम आ जाना चाहिये कि अर्जुनको 'सायुज्य मोक्ष' नहीं मिला। उन्हे भगवान्‌की 'प्रेमसेवा' प्राप्त हुई। शरणागतिसे अर्जुनका मोह नष्ट हो गया—'नष्टो मोह ।' अतएव ससारसे मुक्ति होनेका काम तो हो ही गया। बन्धन रह गया केवल भगवान्‌की प्रेमसेवाका जो शरणागत अर्जुन और गीतावक्ता स्वय भगवान् श्रीकृष्ण दोनाको ही इष्ट है। अर्जुनसे भगवान्‌ने मानो कह दिया—'तुम्हारा मोह नष्ट हो गया। तुम मेरे सेवक थे सेवक ही रहोगे। मोहवश कह रहे थे—'मैं यह नहीं करूँगा' 'यह करूँगा' अब तुम मेरे

वचनोका ही अनुसरण करोगे। बस, काम हो गया। तुम मेरे चिर सेवक ही रहो। तुम्हे मोक्षसे क्या मतलब।' यही मोक्ष-सन्यास है। प्रेमी मोक्षका भी सन्यास कर देता है—यह अभिप्राय है।

मोक्ष-सन्यासका यथार्थ अर्थ क्या है, मुझे पता नहीं, मुझे गीताका न अध्ययन है, न ज्ञान। यह तो मैंने 'स्वान्त -सुखाय' अपने मनका अर्थ कह दिया है। वैसे न मैं जानता हूँ, न शास्त्रार्थ करना चाहता हूँ, न विवाद मैं तो सदा ही हारा हुआ हूँ। गीतामर्मज्ञ विज्ञ महानुभाव मेरी धृष्टताके लिये कृपया क्षमा करे।

इतना अवश्य ध्यानमे रखना चाहिये कि जबतक मोक्षकी इच्छा है तबतक स्व-सुख-वाञ्छा है ही, क्योकि इसमे अपने वन्धनकी अनुभूति है। बन्धन दु खरूप है उससे मुक्ति प्राप्त कर वह मोक्ष-सुखको प्राप्त करना चाहता है। यही स्व-सुखकी चाह है। अत यहाँ भी सर्वत्याग—पूर्ण त्याग नहीं है, प्रेमीजन पूर्ण त्यागी होते हैं। अत वे मोक्षका भी परित्याग करके केवल प्रेमसेवामे ही सहज सलग्न रहते हैं।

ऐसे प्रेमियोकी तो बात ही दूसरी है, उनके जरासे सङ्गके साथ भी मोक्षकी तुलना नहीं होती। श्रीमद्भागवतमे कहा है—

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्याना किमुताशिष ॥

(१।१८।१३ ४।३०।३४)

'भगवत्सङ्गीका अर्थ है—भगवान्मे अनुरक्त—आसक्त, भगवान्का सङ्गी, भगवान्का प्रेमी, गोपीभावापन्न। ऐसे भगवत्सङ्गीका सङ्ग यदि लवमात्रके समयके लिये मिलता हो तो उसकी तुलना यहाँके भोगाकी तो बात ही क्या है स्वर्गसे भी नहीं होती वर अपुनर्भव—मोक्षसे भी नहीं होती। 'अपुनर्भव' का अर्थ है—जिससे वापस नहीं लौटा जाता वैसी 'सायुज्य मुक्ति'। इस मुक्तिकी भी लवमात्रके भगवत्सङ्गीके सङ्गसे तुलना नहीं होती। यह भगवत्प्रेमकी महिमा है। इसीसे इस प्रेमकी—इस दिव्य भगवत्प्रेमकी—व्रजरसकी वाञ्छा शिव-नारदादि, महान् मुनि-तपस्वी आदि करते हैं। स्वय ब्रह्मविद्या भी इस प्रेमके लिये लालायित हैं—

जाबालि नामक ब्रह्मज्ञानी मुनिने एक बार विशाल वनमे विचरते समय एक विशाल बावलीके तटपर वटवृक्षकी छायाम एक अनन्य सुन्दरी परम तेजोमयी तरुणी देवीको कठोर तप करते देखा। चन्द्रमाकी शुभ्र ज्योत्स्नाके सदृश उसकी चाँदनी चारो ओर छिटक रही थी। उसे देखकर मुनिको बडा आश्चर्य हुआ और उन्होने यह जानना चाहा कि 'ये देवी कौन हैं तथा क्या तपस्या कर रही हैं।' पूछनेपर पता लगा कि जिनके शरण प्राप्त करनेपर अज्ञानान्धकार सदाके लिये नष्ट हो जाता है, दुर्लभ तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है तथा जीव मायाके बन्धनसे मुक्त होकर स्व-स्वरूप ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, वे स्वय ब्रह्मविद्या ही ये हैं। नम्रताके साथ प्रश्न करनेपर तापसी देवीने कहा—

ब्रह्मविद्याहमतुला योगीन्द्रैर्या च मृग्यते।
साह हरिपदाम्भोजकाम्यया सुचिर तप ॥
ब्रह्मानन्देन पूर्णाह तेनानन्देन तृप्तधी ।
चराम्यस्मिन् वने घोरे ध्यायन्ती पुरुषोत्तमम्॥
तथापि शून्यमात्मान मन्ये कृष्णरति विना।

(पद्मपुराण)

'मैं वह अतुलनीया ब्रह्मविद्या हूँ जिसे महान् योगिराज सदा ढूँढा करते हैं। मैं श्रीहरिके चरणकमलाकी प्राप्तिके लिये उनका ध्यान करती हुई दीर्घकालसे यहाँ तप कर रही हूँ। मैं ब्रह्मानन्दसे पूर्ण हूँ, मेरी बुद्धि भी उसी ब्रह्मानन्दसे परितृप्त है। परतु श्रीकृष्णमे मुझे रति (प्रेम) अभी नहीं मिली इसलिये मैं अपनेको सदा सूनी देखती हूँ।'

जिस अलौकिक प्रेमके लिये स्वय ब्रह्मविद्या कल्पातक तप करती हैं, जिस रसकी तनिक-सी प्राप्तिक लिये अर्जुन साधना करके अर्जुनी बनते हैं वह कितना उज्ज्वल कितना दिव्य, कितना पवित्र और कितना मधुरतम है, इसे कौन बता सकता है। वे गोपरमणियाँ धन्य हैं जिन्होने इस प्रेम-रसका आस्वादन किया और प्रेमास्पद श्यामसुन्दरको

करवाकर उनकी परम प्रीति लाभ की और जिनके सामने भगवान्‌ने अपना पूर्ण प्रकाश किया।

हमलोगोक सामने भगवान् अपनेको पूर्णरूपसे प्रकट नहीं करते, 'योगमाया' (अपनी आत्ममाया)-से ढके रखते हैं।

'नाह प्रकाश सर्वस्य योगमायासमावृत ।'

(गीता ७।२५)

भगवान्‌ने कहा—'मैं सबके सामने प्रकाशित क्यो नहीं होता, लोग मुझे पहचानते क्यो नहीं, इसीलिये कि में योगमायासे अपनेको ढके रखता हूँ।' परतु प्रेमवती श्रीगोपाङ्गनाओके साथ यह बात नहीं है। वहाँ भगवान् 'योगमायासमावृत' नहीं हैं, वहाँ 'योगमायामुपाश्रित' हैं अर्थात् अपनी अचिन्त्य महाशक्ति योगमायाको पृथक् प्रकट करके मानो कहते हैं—'मैं इस समय अनावृत हूँ, बेपर्द हूँ, तुम इस नाटककी सारी व्यवस्था करो, लीलाके सारे साज बनाओ।' योगमाया काम करती हैं। भगवान् तथा श्रीगोपाङ्गनाओंकी दिव्य रासलीला होती है। यहाँ कुछ भी गोपन नहीं है। भगवान्‌की अनावृत लीला है। गोपियोका चीरहरण क्या है ? वह कोई गदी चीज थोडे ही है। गदी चीज होती तो दुर्वृत्त कामियाको प्रिय होती और होती अनन्त कालतक नरकाम ले जानेवाली। शुकदेवजी परीक्षित्‌के सामने उसे कहते ही क्यो, पर यह तो सर्वथा लोकविलक्षण दिव्य भावमयी वस्तु है। मल विक्षेप और आवरण—तीन बडे बाधक दोप हैं जो आत्मस्वरूपतक, भगवान्‌तक साधकको नहीं जाने देते। इनम मलका नाश भजनसे या भगवत्प्राप्तिकी इच्छासे ही हो जाता है। विक्षेप-दोय नष्ट हो जाता है भगवान्‌मे मन लगानेसे। वहाँ चञ्चल मन अचञ्चल हो जाता है। रह जाता है—आवरण-दोप। यह वडा व्यवधान यना रहता है। ज्ञानके साधकोका यह दोप ज्ञानी पुरुपाके द्वारा किये हुए महान् अनुग्रहपूर्ण तत्त्वोपदेशसे दूर होता है और प्रेमी भक्तोंके इस दोपको भगवान् स्वय दूर कर देते हैं। वे अपने हाथा 'आवरण भग' कर देते हैं पर्दा फाड डालते हैं। यही गोपियोका चीरहरण है। जिस प्रेमम भय लज्जा सकोच तथा जरा भी व्यवधान नहीं है, ऐसा स्त्री-पुरुपका—पति-पत्नीका प्रेम हम जगत्‌मे देखते हैं। वहाँ कुछ भी ऐसी वस्तु नहीं रहती जिसे गोपनीय कहा जा सकता है। यही प्रेम जब दिव्य भाव बनकर भगवान्‌मे आ जाता है तथा पति-पत्नीके लौकिक सम्बन्धसे रहित, असम्बन्ध नित्य 'दिव्य सम्बन्धरूप' हो जाता है। तब वहाँ कुछ भी गोपनीय नहीं रहता। तमाम आवरणोका विनाश हो जाता है। यौनभाव तो वहाँ रहता ही नहीं। यही भगवान् तथा भक्तका अनावरण मिलन है। यहाँ मायाका आवरण हट गया। पृथक्ताका पर्दा फट गया। चीरहरण तथा रासलीलाका अर्थ है—अनावृत (योगमायाके पर्देसे मुक्त) भगवान् और अनावृत (अहता-ममता-आसक्तिरूप मायाके पर्देसे सर्वथा मुक्त) गोपाङ्गनाओंका महामिलन। जीव और परमात्माका, भक्त और भगवान्‌का घुल-मिल जाना—एक हो जाना।

यही दिव्य भगवत्प्रेम है। इस प्रेमराज्यमे जिनका प्रवेश है उनकी चरणरज भी परम पावनी है। ज्ञानिशिरोमणि उद्धवजी मोक्ष न चाहकर ऐसी प्रेमवती गोपियोकी चरणधूलि प्राप्त करनेके लिये व्रजमे लता-गुल्म-ओषधि बनना चाहते हैं। औरोकी तो बात ही क्या—भगवान् स्वय भी उनके चरणधूलिकणसे अपनेको पवित्र करनेके लिये उनके पीछे-पीछे सदा घूमा करते हैं—

'अनुव्रजाम्यह नित्य पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभि ॥'

'उसके पीछे-पीछे मैं सदा इस विचारसे चला करता हूँ कि उसके चरणोकी धूलि उडकर मुझपर पड जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ।'

प्रानधन सुदर स्याम सुजान!
छटपटात तुम बिना दिवस-निसि मेरे दुखिया प्रान॥
बिदरत हियौ दरस बिनु छन-छन दुस्सह दुखमय जीवन।
अमिलन के अति घोर दाह तैं दहत देह-इंद्रिय-मन॥
कलपत-बिलपत ही दिन बीतत निसा नींद नहिं आवै।
सुपन-दरसहू भयो असंभव, कैसैं मन सचु पावै॥
अब जनि देर करौ मन-मोहन! दया नैक हिय धारौ।
सरस सुधामय दरसन दै निज उर की अगिनि निवारौ॥

पूर्णयोगमें भगवत्प्रेम

[श्रीअरविन्दके विचार]

'भगवत्प्रेम एक साथ द्विविध क्रीडा करता है, उसकी पहली गति तो विश्वव्यापी है, जो असीम समुद्रकी तरह शान्त और सारे विश्वके ऊपर छायी होती है। दूसरी गति उसीके समान नृत्य करती हुई ऊपरी सतह-जैसी शक्तिशाली, तीव्र और आनन्दपूर्ण होती है, जो अपनी तरङ्गोके बल और पराक्रमको घटाती-बढाती रहती है तथा उन वस्तुओका चुनाव करती है, जिनपर फेन और फुहारोका चुम्बन देती हुई अपने सर्वावगाही जलसे आलिङ्गन करती हुई गिरना चाहती है।'

श्रीअरविन्द और श्रीमाँद्वारा प्रवर्तित योगमार्ग प्रेमतत्त्वकी तपस्यापर इतना अवलम्बित है कि इसे प्रेम-योग भी कहा जा सकता है। इसका उद्देश्य है—'पार्थिव सत्ताका दिव्य जीवनमे रूपान्तरण।' इसमे ससारके सभी उपादान भगवान्‌के प्रेमको प्राप्त करनेके साधन हो जाते हैं। इसके लिये प्रकृतिमे विकासके लिये जो अभीप्सा उपस्थित है, उसे भगवत्कृपासे जोड देना होगा और उसके लिये साधन है भगवत्प्रेम, जो आत्मसमर्पण अर्थात् मानव-चेतनाको प्रभुके प्रकाशमें उत्सर्ग कर देता है। इस आत्मसमर्पणकी कुञ्जी है ज्ञान, कर्म और भक्तिके द्वारोको खोलकर सृष्टिके विकासके मार्गके अवरोधो तथा बाधाओको समाप्त कर देना। प्रेम प्रकृतिकी डोरके द्वारा चेतनाको दिव्य तत्त्वसे सयुक्त कर देता है। यह एक साथ ही दिव्य और समस्त सत्ताओका मुकुट एव उनकी परिपूर्णताओका मार्ग है। भगवत्प्रेमके बिना योगके सारे मार्ग जीवनहीन हैं।

कितु प्रकृतिके विकासकी वर्तमान अवस्थामे मानवको चुनावकी स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है। मानवको अधिकार है कि वह भगवान्‌से प्रेम करे या न करे। मानवकी सकल्पशक्तिकी सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है कि वह अपनी चेतनाको भगवत्प्रेमके माध्यमसे भगवान्‌से जोड सकती है। साथ ही वह भगवत्तत्त्वको इसी माध्यमसे उतारकर मानवकी पशु-जीवनकी विकसित चेतनाको दिव्य जीवनकी ओर अग्रसर कर सकती है। ज्ञान और कर्मकी प्रगतिके लिये भी प्रेम ही मार्ग-प्रदर्शक है। ज्ञान भागवतमिलनकी ज्योति है और प्रेम ज्ञानका हृदय। प्रेमके कारण ही पूर्ण चैतन्यने जड चेतनामे विलीन होना स्वीकार किया था ताकि तामसिक प्रकृतिमे भी चेतना जाग्रत् होकर शनै -शनै दिव्यत्वको अभिव्यक्त कर सके। भगवत्प्रेमके कारण ही प्रकृतिका जडसे जगदीश्वरकी ओर विकास साधित हो रहा है। मानव तो इस विकासमे मध्यवर्ती सत्तामात्र है।

श्रीमाँने सृष्टिकी कथाको इस रूपमे किञ्चित् वर्णित किया है कि जब परात्पर प्रभुने स्वयको मूर्त्त बनाना चाहा तो प्रथम तत्त्व बना जगत्‌का ज्ञान और सृजन करनेकी क्षमता। इस कार्य-योजनाके मूलतत्त्व थे आनन्द और स्वाधीनता। इन्हे प्रकट करनेके लिये चार सत्ताएँ वैश्व विकासके लिये नि सृत हुई थीं। ये हैं—१-चेतना, २-प्रकाश ३-आनन्द और ४-प्रेम। कितु जैसे ही ये परमपुरुषसे अलग हुईं कि लीला-विधानसे चेतन अचेतनमे, प्रकाश अन्धकारमे, आनन्द शोकमे और प्रेम घृणामे परिवर्तित हो गया। अत जिस सृजन-शक्तिने इन सत्ताओको नि सृत किया था उसने उपचार और प्रतिकारके लिये परमपुरुषसे गुहार लगायी। अत साक्षात् परमपुरुषसे भगवत्प्रेमका अवतरण हुआ, जो इन सत्ताओद्वारा मूलतत्त्वको पानेका सकल्प और प्रयास करा सके।

भगवत्प्रेमके अवतरणके पूर्व जड था, सत्ता नहीं थी। परमपुरुष प्रेमके माध्यमसे ही जडमे अपने प्रति सचेत होते हैं। जब चेतनाने सृजन प्रारम्भ किया ता प्रथम अभिव्यक्ति सचेतन प्रकाशका नि सरण था। जब प्रकाश अपने उत्ससे पृथक् हुआ तो निश्चेतनका जन्म हुआ था। ये क्रियाएँ विश्व-निर्माणके पूर्वकी हैं। जब विश्वका निर्माण हुआ तो उसे व्यर्थ होनेसे बचानेके लिये भगवत्प्रेमने निश्चेतनको चेतनामे रूपान्तरित करनेके लिये उसम डुबकी लगायी थी और जड जगत्‌का वर्तमान स्वरूप तथा विकास इसीका परिणाम है।

भगवत्प्रेमके बिना अस्तित्वकी कल्पना नहीं की जा

सकती। प्रेमकी अभिव्यक्तियोका भी जीवोके क्रमश विकासके साथ ऊर्ध्वारोहण हुआ है। मानव-चेतनाके स्तरपर इस विकासक्रममे पहुँचकर सृष्टि भगवत्प्रेमके विभिन्न आयामोके प्रति सचेत हुई है। साथ ही सृष्टिकी चेतनाको यह भी आभास हो गया कि भगवत्प्रेमकी उपलब्धियोके सोपान मानवके विकास-स्तरपर ही समाप्त नहीं हो जाते।

श्रीमाँने कहा हे कि प्रेम अपने सारतत्त्वसे अभिन्न होनेका आनन्द हे। भगवत्प्रेमकी पूर्णताम प्रेम विश्वकी परिक्रमा करके उद्गमकी ओर लौट आता है। विश्वका अनुभव ही सृष्टिका प्रयोजन है। इसीके माध्यमसे भौतिक पदार्थका विकास तथा चेतनाको बहुआयामी होनेका सुयोग मिलता है। अत भगवान्‌को प्राप्त करने तथा उन्हे जीवनमे अभिव्यक्त करनेके लिये भगवत्प्रेमसे बढकर कोई साधन या तपस्या नहीं हो सकती। यह श्वेत दिव्याग्नि है जो सत्ताको शुद्ध ही नहीं करता, उसे शुचिता भी प्रदान करता है।

श्रीअरविन्द भगवत्प्रेमकी स्थितिको निरानन्द नहीं नित्यानन्दकी मधुमती भूमिका मानते हैं। इसमे अधिकार-भेदका भी प्रश्न नहीं उठता। प्रेमीकी पुकारके लिये प्रभु भी व्याकुल रहते हैं। हम उन्हे जितना चाहते हैं, उससे अनन्त गुना वे प्रतीक्षा करते रहते हैं कि उनसे प्रेम किया जाय। अवसर पाते ही वे अपने प्रेमसे हमे आच्छादित कर लेते हैं।

श्रीअरविन्द यह स्पष्ट कहते ह कि भगवत्प्रेम आन्तरात्मिक ही नहीं, बल्कि—**'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'**-का अनुसरण करते हुए सारी सत्ताओको अर्थात् व्यष्टिके रूपम सारे ब्रह्माण्डको समेटकर उसे भगवान्‌का समर्पण करनेवाला होता है। शरीर प्राण मन अहकार आदि सभी अङ्ग भगवत्प्रेमकी यज्ञाग्नि समिधाएँ हैं। 'स्व' को समाप्त करनेके लिये यह महान् प्रगतिका एक चरण है। भगवत्प्रेमम यज्ञ वह दिव्य कर्म है जो सृष्टिके आदिके साथ ही अभिव्यक्त है। चैतन्यपुरुष इस यज्ञका पुरोहित है। भक्ति, ज्ञान और कर्म इसके साधन हैं। यह भगवान्‌को समर्पित होकर उदार औंर असीम वनकर आनन्दमे रूपान्तरित हो जाता है। इसीलिय भगवत्प्रेम रूपान्तर और सृजन दोना साधनोसे ससार ओर प्राणियोके विकासका नियन्ता है। इस उद्देश्यकी परिपूर्तिहेतु चेतनाके बिलकुल बाहरी छोरातक प्रेमके प्रसारणके लिये पूर्णयोगका लक्ष्य-साधन किया जाता हे। भगवत्प्रेम सत्य ओर प्रकाशके नये स्वर्ग और नये ससारकी सृष्टिका योग है। इसकी विशेषता है कि यह अविद्यासे ग्रस्त नहीं होता।

भगवत्प्रेम ही पूर्ण योगका अधिष्ठान और मूल प्रेरणा है। पूर्णयोगका मूल सूत्र है कि मानवचेतनाकी सभी या कुछ शक्तियाँ भगवान्‌की ओर मुड जायँ ताकि उनका सम्बन्ध और मिलन सत्ताकी इस चेष्टासे स्थापित हो जाय। इसीलिये १-नित्यता २-तीव्रताको इसकी उडानके लिये पख माना जाता हे।

आनन्द अनिर्वचनीय हे, भगवत्प्रेम मानवी चेतनाकी किञ्चित् पकडमे आता तो है पर बहुआयामी होनेके कारण बुद्धि और विवेकके भी परे चला जाता है। पर योगकी प्रेरणा इसीसे प्रारम्भ होती है। यदि भगवान् हमे नहीं खोजते तो प्रकृतिम कोई भी ऐसा कारण या सूत्र नहीं दिखायी देता है कि हम उन्हे खोजनेकी अभीप्सा करे। पूर्णयोगका मूल सूत्र साधककी चेतनाको जितना भी वह आत्माके प्रकाशको उपलब्ध हो, कम-से-कम उतनी चेतनाको भगवान्‌की ओर मोड दिया जाय। भगवत्प्रेमके द्वारा जितना हम इसमे सफल होगे उतनी ही प्रगति होगी।

श्रीअरविन्द ब्रह्मकी अभिव्यक्तिके तीनो रूपोको स्पष्ट करते हैं—१-अन्त स्थ आत्मा २-ऊर्ध्व कमल—सम्पूर्ण मनका दिव्य भगवत्प्रेमसे परिपूर्ण हो जाना एव ३-व्याप्ति—भगवत्प्रेमकी परिव्याप्तिसे एकत्वका साधन। अनिर्वचनीय होते हुए भी भगवत्प्रेम दिव्य और अदिव्य सभी धरातलोको परिप्लावित कर सकता है। यह स्थूल-सूक्ष्म पाप-पुण्य सभीसे परे है। भगवत्प्रेम ही दिव्य प्रियतमका प्रेमपात्र और प्रियतमकी आत्मा है। भगवत्प्रम और भगवत्प्रयास पर्यायवाची हें। अभीप्साकी सचाईके उत्तरम यह प्रकट होता है, समता और शान्तिमे बढता है तथा शुद्ध एकत्व-बोधमे पूर्णताको प्राप्त करता है। प्रभुकी लाला और विकासके मानवीय स्तरपर चरम परिणति यही है। [प्रेषक—श्रीदेवदत्तजी]

मातृप्रेम, मातृभूमिप्रेम और भगवत्प्रेम

(परमादरणीय गुरुजी श्रीमाधवराव सदाशिवराव गोळवलकरजी)

[राष्ट्रिय स्वयसेवकसघके सरसघचालक श्रीमाधवराव सदाशिवराव गोळवलकर (श्रीगुरुजी) एक महान् भगवद्भक्त, राष्ट्रभक्त महापुरुष थे। उनका स्पष्ट मत था कि अपना दिव्य भारत-राष्ट्र भगवान्‌का साक्षात् विग्रह है। वे मातृभूमि, मातृशक्ति तथा भगवत्प्रेमको एक-दूसरेका पर्याय मानते थे। सन् १९६१ ई०मे उन्होने पुणेमे आयोजित 'मातृपूजन' ग्रन्थका लोकार्पण करते हुए मातृप्रेम, मातृभूमि (राष्ट्र)-प्रेमके विषयमे जो महत्त्वपूर्ण उद्‌गार व्यक्त किये थे, उनका सार अश यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। —स०]

मेरी माँकी अनेक सताने हुईं परतु उनमेसे मैं अकेला ही जीवित रहा। इस कारण मेरी माँकी ममता मुझपर विशेष रीतिसे स्वाभाविक ही रही। उनकी समस्त ममता मुझपर ही केन्द्रित थी, कितु मैं रहा केवल एक यायावर—सतत घूमते रहनेवाला ही।

एक बार मैं अपने घरसे चल दिया। अदृश्य हो गया। किसीको भी पता नहीं था कि मैं कहाँ गया हूँ। केवल मेरे एक मित्रको जो नागपुरम ही रहता था, मैं बताकर चला गया था। लगभग चार मासके बाद मैं लौट आया। जब मैं नागपुर वापस आया तो पता चला कि माँ बीमार हैं। माता-पिता उन दिनो नागपुरके समीप रामटेकमे रहते थे। मैं वहाँ गया। माँसे मैंने उनकी तबीयतके बारेमे पूछा। पता चला कि उन्हे हृदय-विकार है। डॉक्टरने 'अञ्जायना पेक्टोरीस' नामका हृदयका रोग बताया था। माँको बहुत कष्ट हो रहा था। हमारे मित्र डॉक्टर उन्हे औषधि दे रहे थे कितु उनकी औषधिसे लाभ नहीं हो रहा था। मुझे स्मरण होता है कि उस अवस्थाम भी अपना गायब हुआ पुत्र लौटकर आया देखकर वे मेरी सुख-सुविधाओकी ओर स्वय ध्यान देने लगीं। फिर एक दिन वे बोलीं, 'मुझे डॉक्टरकी औषधि नहीं चाहिये, तू ही मुझे औषधि दे।'

मैं न डॉक्टर था न वैद्य। कठवैद्य भी नहीं हूँ। कितु माँका आग्रह था कि मैं ही उन्हे औषधि दूँ। उनके आग्रहके कारण मैंने उनका कहना मान लिया। मैं नागपुर आया। नागपुरम रामकृष्ण मिशनका आश्रम है। उस आश्रममे रोगियाको होमियोपैथिक औषधि मुफ्त देनेकी व्यवस्था है। वहाँ सर्वसामान्य लोगोकी रोगमुक्तिके लिये एक वृद्ध साधु औषधि देते थे। मै उनके पास गया। उनसे कहा—'मेरी माँको ऐसा-ऐसा कष्ट है कौन-सी औषधि उन्हे देना ठीक होगा?' उन वृद्ध साधुने मुझसे ही पूछा, 'तुम्हारा क्या विचार है?' मैंने उत्तर दिया—'कुछ नहीं सोचा। आप ही कुछ दे। आपने यदि साधारण शक्करकी पुडिया दी तो भी चलेगी।' तब उन्होने एक औषधिका नाम मुझे बताया। मेन वह औषधि माँको दी और सचमुच माँको आराम हुआ। वे स्वस्थ हो गयीं। 'उसके बाद कई वर्षोंतक वे जीवित रहीं।' जबतक उनके हाथ-पैर काम करते रहे, तबतक वे घरके सब काम अपार कष्ट झेलते हुए करती रहीं। उन्हे दिलका दौरा फिर कभी नहीं पडा। वास्तवम उन्ह दिलका दोरा नहीं, पुत्र-वियोगका दोरा पडा था। डॉक्टरने भी यही कहा कि 'चूँकि तुम घरसे भाग गये थे इसीसे ऐसा हुआ।' इस घटनासे स्पष्ट है कि म माँको सुख पहुँचानेवाला नहीं, दु ख देनेवाला ही ठहरा।

फिर एक बार माँको पक्षाघात हुआ। उनका दाहिना अङ्ग निष्क्रिय हो गया। मुझे उसी समय अपने निर्धारित प्रवासपर जाना था। मैं घर गया। मेरे साथ सदैव ही एक डॉक्टर रहते हैं। उन्होने कहा कि 'यह पेरालीसिसका स्ट्रोक है। एकदम आराम नहीं होगा।' अन्य डॉक्टर भी आये और औषधोपचार प्रारम्भ हुआ। मैं ठहरा हमेशाका पवासी। स्वीकृत कार्यके लिये मुझे ट्रेनसे जाना था। मैं माँसे बोला, 'जाऊँ क्या?' उन्हाने कहा—'नहीं।' तो बोला—'ठीक है।' अपने मुकामपर आ गया। विचार किया कि पूर्वनिर्धारित कार्यक्रम रद्द करनेके लिये सब स्थानोपर तारद्वारा सूचित करना होगा कितु फिर सोचा कि कुछ देर बाद निर्णय

करूँगा। इसके बाद ११-११॥ बजे पुन मैंने माँसे पूछा तो उन्हाने 'जा' कहा। सोचनेकी बात है कि उन्हे उस समय कैसा लगा होगा? क्या वे यह सोचती होगी कि अपनी कठिन बीमारीमे इकलौता पुत्र भी समीप न रहे? नहीं, ऐसा नहीं। बात यह थी कि मेरे द्वारा एक कार्य स्वीकृत है, इस कार्यमे किसी प्रकारका विघ्न पडने देना उन्हे मजूर नहीं था। इसीलिये उन्होने मुझे जानेकी अनुमति दी। उन्होने यह भी कहा कि 'मनुष्यका जीवन-मरण किसीके पास रहने या न रहनेपर निर्भर नहीं।' यह सब बतानेका अर्थ कोई ऐसा न समझे कि मेरी माँ श्रेष्ठ योगिनी वगैरह थी। हाँ, वे भक्त *जरूर थीं और इसी कारण उनके मनमे धैर्य उत्पन्न हुआ* था। मेरी माँ सचमुच माँ थीं। मेरे कर्तव्य-मार्गमे उन्होने अपनी बीमारीकी बाधा भी नहीं आने दी। मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि माँके अनन्त उपकार हैं।

एक बार एक स्वयसेवककी माँ मेरी माँके पास शिकायत लेकर पहुँची कि उसका दूसरा लडका विवाह करनेसे इनकार कर रहा है। मेरी माँने उसकी सब बात शान्तिपूर्वक सुनी और समझाते हुए कहा, 'तुम्हारा दूसरा लडका विवाह नहीं कर रहा, परतु पहलेका विवाह तो हो चुका है, मेरा तो इकलौता पुत्र है और वह विवाह नहीं कर रहा फिर भी मुझे दु ख नहीं हो रहा। भला तुम क्यो मन खट्टा कर रही हो?' मुझे लगा कि चलो अच्छा ही हुआ, राष्ट्रकार्यके लिये एक प्रचारक मिला। इस प्रकार उसने सघ-कार्यमे मेरी सहायता ही की। इस प्रकारकी कुछ छोटी-छोटी घटनाओका स्मरण मुझे अपनी माँकी याद दिला रही है। मेरी माँ सचमुच माता थीं। माताके कर्तव्य अथवा जिसे हम मातृत्वके गुण कह सकते हैं, वे उनमे थे। परतु मुझे मातृभक्त नहीं कहा जा सकता। वैसी मेरी योग्यता भी नहीं है। हाँ ऐसी श्रेष्ठ माताके पुत्रके नाते यदि मुझे यहाँ निमन्त्रित किया गया हो तो वह उचित ही हुआ है।

फिर एक अन्य घटना याद आती है। मनुष्यके जन्मग्रहण करनेके पूर्व जन्मदात्री माता उसके पार्थिव शरीरका स्वत अपने रक्तसे ही तथा जन्मके पश्चात् अपने दूधसे तथा आगे यावज्जीवन प्रेमसे उसका पोषण करती है। किंतु निसर्ग-नियमके अनुसार कभी-न-कभी तो मातृवियोगका प्रसग आता ही है। वैसा ही प्रसग मुझपर भी आया। इसकी सूचना मैंने अपने स्वभावानुसार कुछ लोगोको जिनके प्रति मेरा नितान्त आदर है और उस मन स्थितिमे भी जिनका मुझे स्मरण हुआ, दी। उनमसे कामकोटिपीठके आदरणीय श्रीमच्छङ्कराचार्यजीको भी मैंने पत्र लिखा। उन्होंने हाथाहाथ दो श्लोकोके रूपमे मुझे सान्त्वना देनेवाला पत्र लिखा था। श्लोकोका अर्थ इस प्रकार था—

'अस्थिचर्ममय मानवदेहधारिणी तुम्हारी माँ यद्यपि *नहीं रहीं, किंतु जो तुम्हारे समान असख्य पुत्रोकी माता है,* जो केवल आज ही नहीं, सहस्रो वर्षोंसे असख्य पुत्रोंकी जन्मदात्री है और भविष्यमे भी सहस्रो वर्षोंतक ऐसे ही पुत्रोकी माँ रहेगी सबका धारण-पोषण करनेवाली, पवित्र और नित्य चैतन्यमयी भारतमाता विराजमान है। उस भारतमाताके कार्यार्थ कटिबद्ध हुए तुम्हे मातृवियोग हो ही नहीं सकता। तुम शोक न करो। तुम्हारे लिये शोकका कारण नहीं है।'

मुझे लगता है कि जिस दिन पूज्य माँका देहावसान हुआ, उस दिन मेरी आँखसे आँसूकी एक भी बूँद नहीं टपकी। जो लोग वहाँ आ-जा रहे थे उनके साथ मैं मुक्तरूपसे बाते कर रहा था। हो सकता है, अनेक वर्षोंसे जो सतत अभ्यास चला है उसीका यह परिणाम रहा हो। यह एक ऐसा प्रसग था, जब मनका सतुलन रखना कसौटीकी ही बात है। भगवान्‌की कृपासे मैं उस अवस्थासे बाहर निकल सका। श्रीमच्छङ्कराचार्यजीने जो सान्त्वना प्रदान की, उससे हृदयमे व्याप्त वेदनाका शमन तथा मनका सतुलन बनाये रखनेका कार्य हो सका।

मातृभक्तिका ह्रास

इसलिये मातृपूजनका विचार करते समय हमे अपनी *जन्मदात्री माँके समान ही अपनी मातृभूमिका भी विचार करना* चाहिये। किंतु दुर्दैवकी बात है कि यह सब हमे बताना पडता है। जन्मदात्रीके सम्बन्धमे कितनी उत्कट प्रेमकी भावना होनी चाहिये, परतु इस भावनाका लोप होता जा रहा है। आज ऐसे

लोग कम ही मिलेगे जो विशुद्ध मातृभूमि-भक्त हैं। कुछ लोग हैं जो सत्ता, यश अथवा स्वार्थके लिये मातृभूमिकी भक्ति करते हैं, किंतु मातृभक्तिसे ओतप्रोत हृदयका क्या कहीं दर्शन होता है? इसका उत्तर देना कठिन है। छोटे-छोटे स्वार्थोके लिये मातृभूमिके पुत्र आपसमे लडते-झगडते दिखायी दे रहे हैं। लोग स्वार्थके पीछे लगे हुए हैं। आपसमे सघर्ष कर रहे हैं। इस दृश्यको देखकर क्या कोई कह सकता है कि इनमे मातृभूमिकी भक्ति है?

मातृभूमि—हिन्दुराष्ट्र

वैसे यह हमारी मातृभूमि और हम इसके पुत्र हैं। यह नयी बात नहीं है। अति प्राचीन कालसे इस मातृभूमिके पुत्रके नाते हमारा यहाँ राष्ट्र-जीवन रहा है। इस बातकी घोषणा केवल हम ही करते हो सो बात नहीं। जिन लोगोने भी निष्पक्ष होकर सत्यको देखनेका प्रयत्न किया, उन सभीका यही कहना है। मेरे पास एक पुस्तक है। उसमे पुरानी अग्रेजी मासिक पत्रिका 'एडिन्बरा रिव्यू' के सन् १८७२ वर्षके एक अङ्कका उद्धरण दिया हुआ है जिसमे कहा गया है—

'Hindu is the most ancient Nation on the earth and has been unsurpassed in refinement and culture'

(पृथ्वीपर 'हिन्दु' एक अति प्राचीन राष्ट्र है, जो सभ्यता और सुसस्कृतिमे अद्वितीय है।)

पृथ्वीपर हिन्दु-जीवन अति प्राचीन राष्ट्रके नाते विद्यमान है। हम यह आज ही नहीं कह रहे हैं कि यह हिन्दु-राष्ट्र है। अग्रेज राज्यकर्ताओने अपने साम्राज्यवादी स्वार्थोकी पूर्तिके लिये हिन्दुराष्ट्र-जीवनको विशृखल कर 'खिचडी-राष्ट्र' निर्माण करनेका प्रयत्न किया। आज अग्रेज-राज्य प्रत्यक्ष रीतिसे हट गया है, किंतु फिर भी उनके द्वारा प्रचारित राष्ट्र-विस्मरणके कार्यको लोग अपने क्षुद्र स्वार्थके लिये आगे बढाते जा रहे हैं। तब क्या इन्हे लोग कह सकेगे कि ये मातृभूमिके पुत्र हैं? आज यह कहना कि हम मातृभूमिके पुत्र हैं या यह कहना कि हिन्दुस्थान हिन्दुओका है, विषाक्त माना जाता है। परतु यह धर्मशाला है, आओ-जाओ घर तुम्हारा है, ऐसा कहना अमृतमय समझा जाता है। यह तो बहुत ही दु खद स्थिति है। अग्रेजीमे जिसे 'फैशन' कहते हैं, वैसे ही 'यह सबका राष्ट्र' है कहनेकी एक पद्धति आजकल चल पडी है। इस फैशनसे स्वार्थ पूरा होता है, किंतु इससे मातृभूमिका विस्मरण होता है।

आधुनिक जीवन-प्रवाहमे बहनेके कारण जन्मदात्री माँके प्रति अनादर बढता जा रहा है। अपने जन्मको माता-पिताके वैषयिक सुखका 'बाइ प्रॉडक्ट' कहनेकी प्रवृत्तिका निर्माण हो रहा है। पूर्वकालमे विशिष्ट सकल्प कर, उस पवित्र सकल्पसे ही पुत्र-प्राप्तिकी जाती रही और शेष जीवन सयमसे व्यतीत किया जाता था, किंतु आजकल सब कुछ बदल गया है, सम्पूर्ण जीवन काममय हो चुका है।

जगन्माताका भी विस्मरण

जिस प्रकार हम जन्मदात्रीको भूल गये वैसे ही सम्पूर्ण राष्ट्रको जन्म देनेवाली मातृभूमिको भी भूल गये। इन दो महान् माताओके विस्मरणके बाद यह कैसे सम्भव है कि सर्वसृष्टिको जन्म देनेवाली अखण्ड मण्डलाकार जगन्माताका स्मरण रहे? किसीको धर्म भाता नहीं। धर्मका नाम लिया कि जगन्माताका स्मरण होना ही है और उसके साथ उनकी पूजा भी आती है। शिवके साथ शक्तिकी पूजा स्वाभाविक ही जुडी है। सत ज्ञानेश्वरने जगन्माताके स्वरूपका विशद वर्णन करते हुए उसे 'शिवशक्तिरूप' ही बताया। हम सबको जगन्माताके इसी स्वरूपका विचार करना चाहिये।

स्वामी रामकृष्ण परमहसके जीवनका एक प्रसग है। स्वामीजी साधना करनेके बाद सिद्ध पुरुष हो चुके थे, फिर भी वे कालीमाताके भक्त थे। ईश्वर-कृपासे तोतापुरी नामके साधुसे उनकी भेट हुई। तोतापुरी अद्वैत स्थितिकी प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्त किये हुए श्रेष्ठ साधु थे। रामकृष्णको अद्वैत ज्ञान पानेका अधिकारी पुरुष पाकर उन्होने कहा कि 'मैं तुम्हे अद्वैतका ज्ञान प्रदान करता हूँ।' ऐसा कहकर तोतापुरीने रामकृष्णजीके सिरपर हाथ रखा। उस समय रामकृष्णजीको समाधि लग गयी। वे तीन दिनतक समाधिमें रहे। श्वासका स्पन्दन भी बद हो गया। इसपर तोतापुरीको आश्चर्य हुआ किंतु इतना होते हुए भी रामकृष्णजीको

कालीमाताकी भक्तिम कोई कमी नहीं आयी। कालीमाताके मन्दिरमे जाकर वे तालियाँ वजाकर भक्तिम मस्त हो जाते थे। तोतापुरी ठहरे कठोर अद्वैती। वे कहते थे कि 'यह सव पाट-पसारा व्यर्थ हे। जग मिथ्या है और व्रह्म ही कवल सत्य है। ऐसा होते हुए भी तुम कालीमाताकी भक्ति क्यो करते हो?' रामकृष्णजीने उनसे कहा 'मैं इनकी भक्ति करता हूँ, इसका कारण है कि ये 'जगन्माता हैं।' तोतापुरीको यह वात नहीं पटती थी। तोतापुरी वहाँसे अन्यत्र जानेके लिये तैयार हुए तो रामकृष्णजीने उन्ह रोक लिया।

इसके बाद तोतापुरीजी अस्वस्थ हो गये। उन्ह दस्त लगने लगे। औपधि आदिसे भी कुछ लाभ नहीं हुआ। वे तत्त्वज्ञ थे। पद्मासन लगाकर ध्यान करते थे, किंतु शारीरिक अस्वास्थ्यकी इस स्थितिमे अब आसन लगाकर बैठना भी कठिन हो गया। तव यह सोचकर कि अव देह समाप्त करनेका समय आ चुका हे, किसीको कुछ भी न वताते हुए वे गङ्गाजीम उतर पडे। काफी देरतक गङ्गाजीमे घूमनेके बाद भी उन्हे डूबनेलायक पानीका स्थान नहीं मिला। इसलिये वे वापस आये। उनके मनम विचार आया कि 'ऐसा क्यो हुआ?' जब वे इस विचारम मग्न थे, उन्हे जगन्माताका साक्षात्कार हुआ। जगन्माताने उनसे कहा—'मुझे पारकर ब्रह्मको पाया जा सकता है। इसलिये मुझे समझे बिना ब्रह्म कहाँसे प्राप्त होगा? में यदि पार न जाने दूँ तो वह दिखायी कैसे देगा?'

श्रीरामकृष्ण सदैव एक कथा सुनाते थे। राम, लक्ष्मण सीता वनम चलते थे तब राम और लक्ष्मणके बीचम सीताजी चलती थीं। एक पंक्तिमे तीना चलते हैं और इसलिये बीचमे सीताके आनेके कारण लक्ष्मणको राम नहीं दिखायी पडते। तब सीताजी बीचमे चलते हुए अपना एक पग थोडा बाजूमे रख लेतीं ताकि लक्ष्मणको श्रीराम दिखायी पडे। ठीक ही है, माया बाजू होनेपर ही परब्रह्मके दर्शन सम्भव हैं। यही साक्षात्कार तोतापुरीको भी हुआ। इसके बाद उनकी बीमारी ठीक हुई और वे कालीमाताके दर्शन करनेके बाद वहाँसे वापस हुए।

जगन्माताके कारण शक्ति

इसलिये यह स्पष्ट है कि जगन्माताके सिवाय ज्ञान नहीं। उपनिषद् या अन्य कहीं एक कथा आती है। युद्धमे दैत्याका पराभव करनेपर देवताआको अपने पराक्रमका भारी गर्व हो गया। ऐसा गर्व हाना अच्छी वात नहीं। इसलिये जिस समय सव देवता सभाम विराजमान थ, उनके समक्ष अकस्मात् एक भव्य रूप प्रकट हुआ। ग्रन्थमे उसे यक्ष कहा गया है। दैत्यासे भी अधिक भयकर उस रूपको देखकर सब देवता घवरा गये। अव किसी-न-किसीको उसका सामना करना पडेगा। इसलिये तय हुआ कि जो सवसे वलवान् हा वह पहले जाय। सर्वप्रथम वायुदेवता ही सामने आये। यक्षने वायुसे पूछा, 'तुम्हारी शक्ति किस बातमे है।' वायुने कहा 'मैं अपनी शक्तिसे सारी सृष्टिको हिला सकता हूँ।' यक्षने कहा 'ठीक है, यह घासका एक तिनका यहाँ रखा है इसे हिला दो।' वायुने अपनी सव शक्ति लगा दी किंतु उस घासके तिनकेको वे हिलातक न सके। आखिर लज्जित होकर वापस हो गये। तब अग्निदेवता उठे, किंतु अग्नि भी अपनी समस्त दाहक शक्तिका प्रयोग कर थक गये, उस तिनकेको जला न पाये। अन्तमे इन्द्र भी गये, किंतु यक्षने यह दर्शाकर कि मानो इन्द्रकी कोई बिसात ही नहीं है, वह इन्द्रके समक्ष स्वय अन्तर्धान हो गया। तब इन्द्र विचार करने लगे कि देवताओको क्या बताया जाय? सब देवताओके इस पराभवका क्या कारण हो सकता है? इस प्रश्नपर इन्द्र सोच रहे थे कि उन्हे एक देदीप्यमान स्त्री दिखायी दी। अत्यन्त तेजस्वी हेमवती स्वरूपा उस स्त्रीने कहा 'तू जिसकी खोज कर रहा है, जिससे वायु गतिमान् है, जिसके कारण अग्निमे दाहकता है वह तो समस्त सृष्टिकी शक्ति परब्रह्मकी जननी है।' यही जगन्माता मातृत्वका मूलस्वरूप है।

विश्वमे मातृत्वका इतना उदात्त विचार किसीने प्रस्तुत नहीं किया हे। मातृत्वके सम्बन्धम कामलता और पवित्रताके विचार तो सर्वत्र प्रस्तुत किये जाते हैं। रोमन कैथोलिकोमे मेडोना और उनके पुत्र येशुके ऐसे चित्र जा हृदयको स्पर्श करनेवाले अत्यन्त प्रेमवान् हैं, पूजे जाते हैं। अपने यहाँ ज्ञानदायी, करुणामयी, जगत्को धारण करनेवाली, पालन करनेवाली होनेके साथ-साथ सहार-स्वरूपिणी शक्ति—इन तीन रूपोमे उनका वर्णन हुआ

है। जगन्माताका यह स्वरूप अन्य लोगाके ध्यानमे नही आया। हमारे यहाँ माता, मातृभूमि और जगन्माता—ये त्रिविध रूप मातृत्वके बताये गये हैं।

अब हमे विचार करना चाहिये कि क्या हम इस ससारम केवल खाने-पीनेके लिये ही जीवित हैं? इस प्रकारका जीवन तो पशु-पक्षी भी जी लेते हैं। मनुष्य तो विचार करनेवाला बुद्धिमान् प्राणी है। इसलिये अपने हृदयमे मातृत्वके सम्बन्धम श्रेष्ठ भावना जगाकर अत्यन्त कृतज्ञताके साथ इस जन्मदात्री धरित्री और जगद्धात्रीसे अपना माता-पुत्रका नाता है, ऐसे मातृत्वके स्वरूपका ध्यान धारण कर उसकी उपासना करनेके लिये कटिबद्ध होना चाहिये। पूर्ण श्रद्धाके साथ इसका पालन करना चाहिये। मानव-जीवनमे कृतज्ञताका स्थान असामान्य है।

आजकल हम कहते हैं कि हमारी बडी प्रगति हो रही है, किंतु मनुष्य कृतज्ञता भी भूलता हुआ दिखायी पड रहा है। अपने निजी सुखमे डूबा वह माँको भूलता है। कृतज्ञताकी भावना क्षीण हुई प्रतीत होती है। यह प्रगति नहीं, मानवतासे विमुख होनेवाली बात है। स्वार्थकी दृष्टि लेकर नहीं, अपितु सब ज्ञान देनेवाली शक्तिदात्री, ऐसी उसके सम्बन्धमे वास्तविक भावना होनी चाहिये। सर्वज्ञान-प्रदायिनी शक्तिदात्री जगन्माताकी वास्तविक भावनाके अभाव और केवल स्वार्थ-सीमित दृष्टिसे ही उसकी ओर देखनेके कारण जीवन पशुतुल्य बनता जा रहा है। कामप्रधान-जीवन सुसस्कृत मनुष्यके जीवनका लक्षण नहीं है। अन्त करणमे यदि कृतज्ञताका भाव नहीं रहा तो जीवन जगली हो जाता है। इसलिये सुसस्कृत होकर माताके प्रति अपनी भक्ति उसके इन विविध स्वरूपोमे नित्य करना अत्यावश्यक है। इसीमे मातृप्रेमकी सफलता निहित है और यही परिपुष्ट होकर भगवत्प्रेममे परिणत हो जाती है।

[प्रस्तुति—श्रीशिवकुमारजी गोयल]

श्रीरामजीका बन्धुप्रेम

(गोलोकवासी परम भागवत सत श्रीरामचन्द्र केशव डोगरेजी महाराज)

रामजीका बन्धुप्रेम भी अलौकिक है। ऐसा बन्धुप्रेम आपको जगत्मे कहीं देखनेको नहीं मिलेगा। जब महाराज दशरथजीने रामजीका राज्याभिषेक करनेकी सोची, तब रामजी लक्ष्मणसे कहते हैं—'लक्ष्मण! यह राज्य तेरा है, मैं तो निमित्तरूप हूँ, तुम मेरे बाह्य प्राण हो यह जीवन और राज्य तेरे लिये है।'

रामजी वनमे पधारे तो रामजीके पीछे-पीछे लक्ष्मण गये—इसमें क्या आश्चर्य है! कैकेयीने वनवास तो रामचन्द्रजीको दिया, लक्ष्मणको नहीं। फिर भी रामजी वनम जाते हैं तब लक्ष्मण माता-पिता और पत्नीको छोडकर बडे भाईक पीछे हो जाते हैं। रामजीका प्रेम ऐसा है कि राम-वियोगसे लक्ष्मण अयोध्यामे रह नहीं सके। लक्ष्मण पत्नी और माता-पिताको छोड सकते हैं, किंतु बडे भाईको नहीं छोड सकते हैं। राम-वियोग लक्ष्मणसे सहन नहीं हुआ। जहाँ रामजी हैं वहीं लक्ष्मण हैं।

रामजीने खेल खेलनेमे भी छोटे भाइयोके दिलको नहीं दुखाया। रामजी इस तरह खेलते हैं कि उनकी हार होती है और लक्ष्मण तथा भरतकी जीत। रामजी बोलते हैं कि मेरे भाईकी जीत मेरी ही जीत है। रामजी कौसल्याजीसे कहते हैं कि भरत मुझसे छोटा होते हुए भी जीत गया और मैं हार गया। भरत कौसल्याजीसे कहते हैं—'माँ! बडे भाईका मेरे ऊपर अगाध प्रेम है। वे जान-बूझकर हार जाते हैं।' श्रीरामजीने जगत्को बन्धुप्रेमका आदर्श दिखाया है। कैकेयी कहती हैं—'मैंने भरतको राज्य दिया है।' तब रामजी कहते हैं—'माँ! मेरा छोटा भाई यदि राजा बनता है तो मै सदाके लिये वनमे रहनेके लिये तैयार हूँ।'

लोग कहते हैं कि भरतका प्रेम रामके प्रेमसे श्रेष्ठ है। राज्य भरतने नहीं किया किंतु गद्दीपर उन्होने रामजीकी पादुकाको प्रतिष्ठित किया। रामजी तो वनमें तप करते हैं किंतु भरत महलमे ही तप करते हैं।

भरतका यह नियम था कि कोई साधु, ब्राह्मण, गरीब आये तो उनका प्रेमसे आतिथ्य-सत्कार करते थे। भरतने चौदह सालतक अन्न नहीं लिया। 'मेरे बडे भाई कन्दमूल खाते हैं तो मैं भोजन कैसे करूँ?' यह भरतका कहना था। भरतका प्रेम अति दिव्य है। रामजी वनमे शयन करते हैं तो भरतलाल पृथ्वीपर। भरत श्रीरामकी पादुकाका दर्शन करते हुए सतत 'राम! राम!!' जप करते रहते हैं।

आप छोटे भाईको प्रेम करेगे तो वह आपसे प्रेम करेगा। जगत्‌म रामराज्य कब होगा, भगवान् जाने। मनुष्यके वक्ष स्थलपर जबतक काम और स्वार्थ बैठे हैं, तबतक रामराज्यकी सम्भावना नहीं है, किंतु अपने घरमे आप ऐसा रामराज्य कर सकते हैं। जो व्यक्ति शुद्धभावसे अपने भाईसे प्रेम करेगा वह भी उतने ही शुद्धभावसे आपके प्रति प्रेम करेगा। कुछ लोग ऐसे होते हैं जो भाईसे तो कपट करते हैं और दूसरोसे प्रेम करते हैं।

यह कलियुगकी महिमा है। इसे बतानेके लिये ही भाई-भाईमे वैर होता है। एक गाँवमे हमको अनुभव हुआ। एक सेठ आये। वे कहते हैं, 'महाराज! हमको ऐसा मन्त्र दीजिये जिससे हम जीत जायँ'। मैंने पूछा, 'आपकी क्या इच्छा है?' सेठ कहते हैं कि मैंने दावा किया है, उसमे जीत जानेकी इच्छा है।

मैंने पूछा कि किसके ऊपर किया है? सेठ कहते हैं, अपने भाईके ऊपर। मुझे कहना पडा—'आपकी बुद्धि बहुत बिगडी है। मेरे पास ऐसा कोई मन्त्र नहीं है, जो भाईसे कपट करता है, जिसे भाईमे भगवान् नहीं दिखता, वह भगवान्‌की भक्ति क्या करेगा? भगवान् तो प्रत्यक्ष दिखते नहीं हैं। मूर्तिमे भगवान्‌की भावना करनी पडती है, किंतु भाई तो प्रत्यक्ष दिखता है। उससे यदि कपट करे तो उस कपटीकी भक्तिको भगवान् कैसे स्वीकार करेगे? जिन्हें घरमे रहकर भक्ति करनी है, उन्हे घरके प्रत्येक व्यक्तिमे ईश्वरका भाव रखना चाहिये।

सनातन धर्म तो यहाँतक कहता है कि आपके आँगनमे भिखारी आये तो उसमे भी भगवान्‌के दर्शन करें। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि घरमे कोई चीज यदि खराब हो जाय तो भिखारीको बुलाकर दे देते हैं। भिखारी भी भगवान्‌का अश है। दान लेनेवाला हलका है, ऐसा समझकर दान करे तो दान सफल नहीं होगा।

भिखारी यह उपदेश देने आता है कि गत जन्ममे मैंने किसीको कुछ दान नहीं दिया, इसीलिये मैं दरिद्र बना हूँ। आप भी दान-पुण्य न करेगे तो मेरे-जैसा ही बनेगे। आज भी भगवान् हमारे पास कभी दरिद्रनारायणके रूपम, कभी साधुके रूपमे और कभी ब्राह्मणके रूपमे आते हैं। जब जीवोमे सामने भगवान् नहीं दीखता है तो भगवान्‌को बुरा लगता है।

ज्ञानी कहता है कि ईश्वरका कोई रूप नहीं। वैष्णव मानते हैं कि जगत्‌मे जितने लोग होते हैं, सब भगवान्‌के स्वरूप हैं। ईश्वर अनेक रूप धारण करते हैं। किसीका तिरस्कार मत करो किसीके प्रति बुरा भाव मत रखो, तब घरमे रहकर भक्ति कर सकोगे। उपेक्षा रखे बिना सबसे प्रेम करो, स्वार्थभावसे प्रेम मत करो। सबमे मेरे भगवान् हैं—इस भावके साथ सबसे प्रेम करो।

मनुष्य-जन्म दूसरेको सुखी करनेके लिये है। बहुत बार मनुष्य परोपकारमे शरीर घिसता है, तब उसको दु ख होता है कि लोगोने मेरी कुछ कदर नहीं की। किंतु रामजीकी भी लोगोने निन्दा की है। इसलिये सत्कर्मोंकी कदर भगवान्‌के दरबारमे ही होगी। मान-दान सबसे श्रेष्ठ है। आप सबसे प्रेमपूर्वक बर्ताव करेगे तो सब आपसे प्रेम करेगे।

जो कपटके खेल खेलता है उसका मन सदा अशान्त रहता है। जिनका व्यवहार अति शुद्ध होता है, उनके पास कुछ न होनेपर भी उनको शान्ति मिलती है। पाप सदाके लिये छिपता नहीं है, एक-न-एक दिन वह जाहिर जरूर होगा। इसलिये यदि शान्ति चाहिये तो धर्मकी मर्यादाका पालन कीजिये। श्रीरामजीने जगत्‌मे धर्मका आचरण सिखाया है। श्रीरामजी कर्मका प्रकाश देनेवाले सूर्य हैं।

भगवत्प्रेम आत्मोद्धारके लिये है

(अनन्तश्रीविभूषित दक्षिणाम्नायस्थ शृङ्गेरी-शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्रीभारतीतीर्थजी महाराज)

भगवान् जिन्हे परमात्मा, परब्रह्म और परवस्तु आदि पर्यायवाची शब्दासे अभिहित करते हैं, वे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी एव 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' समर्थ हैं। भगवान्का लक्षण इस प्रकार कहा गया है—

उत्पत्ति प्रलय चैव भूतानामागति गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्या च स वाच्यो भगवानिति॥

(विष्णुपुराण ६।५।७८)

'भगा अस्य सन्तीति भगवान्'—इस अर्थमें वे षडैश्वर्य-सम्पन्न हैं—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशस श्रिय ।
वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णा भग इतीरणा॥

जिनमे ये सभी विद्यमान हैं, वे भगवान् हैं। श्रीभगवत्पाद शङ्कराचार्यजीने गीताभाष्यमे कहा है—'ऐश्वर्यादिषट्क यस्मिन् वासुदेवे नित्यम् अप्रतिबद्धत्वेन सामस्त्येन च वर्तते।' तथा 'उत्पत्त्यादिविषय च विज्ञान यस्य स वासुदेवो वाच्यो भगवान् इति।' अर्थात् ऐश्वर्यादि षड्गुण जिन वासुदेवमे अप्रतिबन्ध और सम्पूर्ण रूपमे नित्य वर्तमान रहते हैं तथा जिन्हे उत्पत्ति आदिका सर्वथा ज्ञान है, वे वासुदेव भगवान् कहलाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता (४।५)-मे अर्जुनकी शङ्काका समाधान करते हुए स्वय भगवान् कहते हैं—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यह वेद सर्वाणि न त्व वेत्थ परतप॥

अनावरण ज्ञानशक्तिसम्पन्न भगवान् नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभावके कारण सब कुछ जानते हैं। उनमे अप्रतिबद्ध ज्ञानशक्ति है यही अवतारका रहस्य है। श्रीभगवत्पादजीने गीताभाष्यकी अवतरणिकामे इस रहस्यको यो स्पष्ट किया है कि वे भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजसे सदा सम्पन्न होकर निज त्रिगुणात्मिका वैष्णवी माया मूलप्रकृतिको वशीकृत कर यद्यपि अज-अव्यय भूतोके ईश्वर और नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभावके हैं तथापि अपनी मायासे मानो शरीरवान् हो और उत्पन्न हुए हो इस प्रकार लोकानुग्रह करते हुए दीखते हैं। स्मरणीय है कि इस कथनका आधार साक्षात् भगवान्का वचन ही है जो गीता (४।६)-मे इस प्रकार है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृति स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

'जन्मरहित होनेपर भी, अक्षीणज्ञानशक्तिस्वभाववाला होनेपर भी तथैव ब्रह्मादि-स्तम्बपर्यन्तका ईश्वर होनेपर भी अपनी त्रिगुणात्मिका मायाको स्ववशमे कर मैं अवतरित होता हूँ।'

श्रुति भी यह घोषित कर रही है कि उन परमेश्वरको छोडकर, उनसे परे या ऊपर कोई वस्तु या व्यक्ति नहीं है। उन्हींसे सब कुछ व्याप्त है, परिपूर्ण है—

यस्मात्पर नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेद पूर्णं पुरुषेण सर्वम्। (महानारायणीयोपनिषद्)

भगवद्वचन है—

मत्त परतर नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिद प्रोत सूत्रे मणिगणा इव॥

(गीता ७।७)

अध्यात्मरामायणमे एक सुन्दर प्रसङ्ग है, जो अयोध्याकाण्डके प्रारम्भम है। एक बार नीलोत्पलदलश्याम, कौस्तुभामुक्तकन्धर सर्वाभरणसम्पन्न राम रत्नसिहासनपर विराजमान थे, उसी समय दिव्यदर्शन नारद वहाँ आये। उन्हे देखकर रामने उठकर सम्मानपूर्वक सीतासहित नमस्कार किया और कहा—'मुनीश्वर! आपके दर्शनसे कृतार्थ हूँ। आज्ञा दीजिये कि मैं क्या सेवा करूँ?'

तब नारदजीने भक्तवत्सल भगवान् श्रीरामसे कहा—'हे राम! सासारिक व्यक्तियो-जैसे अपने वाक्योसे मुझे क्या मोहित कर रहे हैं? हे विभो! आपने जो यह कहा कि 'मैं ससारी हूँ' सो ठीक ही है क्योंकि सम्पूर्ण जगत्की कारणभूता माया आपकी गृहिणी हैं। आपके सनिकर्षसे ब्रह्मादिका उनसे जन्म होता है। आपके ही आश्रयसे त्रिगुणात्मिका माया सर्वदा अजस्ररूपसे शुक्लकृष्णलोहित प्रजाको भी जन्म देती हैं। इस लोकत्रयमहागेहके गृहस्थ आप ही हैं। आप विष्णु हैं और जानकी लक्ष्मी हैं, आप

शिव हैं और जानकी शिवा हैं, आप ब्रह्मा हैं और जानकी वाणी हैं, आप सूर्य ह और जानकी प्रभा हैं, आप शशाङ्क हैं ओर शुभलक्षणा सीता रोहिणी हैं, आप इन्द्र हें और सीता शची हैं, आप अग्नि हे और सीता स्वाहा हैं, आप कालरूप यम हें और सीता सयमिनी हैं। प्रभो। हे जगन्नाथ। आप निर्ऋति हैं और शुभा जानकी तामसी हें। राम। आप वरुण हैं और शुभलक्षणा जानकी भार्गवी हैं। राम। आप वायु हैं और सीता सदागति कहलाती हें। राम। आप कुबेर हैं और सीता मर्वसम्पत् हें। आप लोकनाश करनेवाले रुद्र हैं तो जानकी रुद्राणी हैं। ससारमे स्त्रीवाचक जो कुछ भी है वह सब शुभा जानकी हैं ओर हे राघव। पुरुपवाचक सब कुछ आप ही हें। अत देव। तीनो लोकोमे आप दोनोको छोडकर कुछ भी नहीं है[1]।'

नारदजीने पुन कहा—'हे रघूत्तम। आपसे ही यह जगत् उत्पन्न हुआ है ओर आपमे ही प्रतिष्ठित है। अन्तम सब कुछ आपमे ही लीन हो जाता है इसलिये आप ही सबके कारण हैं—

त्वत्त एव जगज्जात त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
त्वय्येव लीयते कृत्स्न तस्मात्त्व सर्वकारणम्॥

(अ०रा० अयो० १।२५)

'रज्जुमे सर्पकी भाँति आत्माम जीवको माननेसे भय बना रहता हे जबकि 'मैं परमात्मा हूँ'—इस ज्ञानसे भय—दु खसे विमुक्ति हो जाती है। आपके ही कारण आपकी चिन्मात्र ज्योतिसे सभीमे बुद्धि प्रकाशित होती है, अतएव आप सबकी आत्मा हें। रज्जुमे सर्पभ्रमके समान अज्ञानसे ही आपम सम्पूर्ण जगत्की कल्पना की जाती है। आपके ज्ञानमे वह सव लीन हो जाता है, अत ज्ञानप्राप्तिका सदा अभ्यास करना चाहिये। आपके चरणकमलोम जिनका अनुराग है, केवल उन्हे ही क्रमिक रूपसे ज्ञान प्राप्त होता हे। इसलिये आपमे जो भक्ति रखते हैं, वे ही मुक्तिभाजन बनते हें। में आपके भक्तोके भक्ताका और उनके भी भक्ताका किंकर हूँ। अत हे प्रभो। मुझपर कृपा कर, मुझे मोहजालमे न फँसाये। आपके नाभिकमलसे उत्पन्न ब्रह्मा मेरे जनक हें, अत में तो आपका पौत्र हूँ। राघव। मुझ भक्तकी रक्षा करें[2]।

नारदजीका यह कथन सत्य है कि यही मोह है जो अनर्थकारी है। इसका नाम ही माया है, अविद्या है। यही तो ससार है ससृतिका कारण है। श्रीभगवत्पादजीने कहा है—'अव्यक्ता हि सा माया, तत्त्वान्यत्वनिरूपणस्य अशक्यत्वात्' अर्थात् वह माया तो अव्यक्त है उसके वास्तविक स्वरूपका निरूपण सम्भव नहीं है, क्याकि माया न सत् है, न असत् ही। वह अनिर्वचनीया है।

माया सत्यका आवरण अर्थात् सत्यको आच्छादित कर देती है, उससे सही रूपका बोध नहीं होता।

---

१ *अथ त नारदोऽप्याह राघव भक्तवत्सलम्। कि मोहयसि मा राम वाक्यैर्लोकानुसारिभि ॥*
ससार्यहमिति प्रोक्त सत्यमेतत्त्वया विभो। जगतामादिभूता या सा माया गृहिणी तव॥
त्वत्सन्निकर्षाज्जायन्ते तस्या ब्रह्मादय प्रजा। त्वदाश्रया सदा भाति माया या त्रिगुणात्मिका॥
सूतेऽजस्र शुक्लकृष्णलोहिता सर्वदा प्रजा। लोकत्रयमहागेहे गृहस्थस्त्वमुदाहृत॥
त्व विष्णुर्जानकी लक्ष्मी शिवस्त्व जानकी शिवा। ब्रह्मा त्व जानकी वाणी सूर्यस्त्व जानकी प्रभा॥
भवान् शशाङ्क सीता तु रोहिणी शुभलक्षणा। शक्रस्त्वमेव पौलामी सीता स्वाहानलो भवान्॥
यमस्त्व कालरूपश्च सीता सयमिनी प्रभो। निर्ऋतिस्त्व जगन्नाथ तामसी जानकी शुभा॥
राम त्वमेव वरुणो भार्गवी जानकी शुभा। वायुस्त्व राम सीता तु सदागतिरितीरिता॥
कुबेरस्त्व राम सीता सर्वसम्पत्प्रकीर्तिता। रुद्राणी जानकी प्रोक्ता रुद्रस्त्व लोकनाशकृत्॥
लोके स्त्रीवाचक यावत्तत्सर्वं जानकी शुभा। पुन्नामवाचक यावत्तत्सर्वं त्व हि राघव॥
तस्माल्लोकत्रये देव युवाभ्या नास्ति किञ्चन॥ (अ०रा० अयो० १।९—१९)

२ रज्जावहिमिवात्मान जीव ज्ञात्वा भय भवेत्। परात्माहमिति ज्ञात्वा भयदु खैर्विमुच्यते॥
चिन्मात्रज्योतिषा सर्वा सर्वदेहेषु बुद्धय। त्वया यस्मात्प्रकाश्यन्ते सर्वस्यात्मा ततो भवान्॥
अज्ञानान्न्यस्यते सर्वं त्वयि रज्जौ भुजङ्गवत्। त्वज्ज्ञानाल्लीयते सर्वं तस्माज्ज्ञान सदाभ्यसेत्॥
त्वत्पादभक्तियुक्ताना विज्ञान भवति क्रमात्। तस्मात्त्वद्भक्तियुक्ता ये मुक्तिभाजस्त एव हि॥
अह त्वद्भक्तभक्ताना तद्भक्ताना च किङ्कर। अतो मामनुगृह्णीष्व मोहयस्व न मा प्रभो॥
त्वन्नाभिकमलोत्पन्नो ब्रह्मा मे जनक प्रभो। अतस्तवाह पौत्रोऽस्मि भक्त मा पाहि राघव॥ (अ०रा० अयो० १।२६—३१)

गीताभाष्यमे बताया गया है कि 'तामसो हि प्रत्यय आवरणात्मकत्वादविद्या, विपरीतग्राहक सशयोपस्थापको वा अग्रहणात्मको वा॥' अविद्या तामस ज्ञान है, वह सत्यको आच्छादित करनेवाला आवरण है, वस्तुके यथार्थ ग्रहणके विपरीत या सशय उत्पन्न करनेवाला अथवा विषयको अग्राह्य करनेवाला है। रामायणके ही दो उदाहरण देखिये, जिनमे इस सत्याच्छादनका अद्भुत वर्णन किया गया है—

(१) महाराज दशरथने पहले कैकेयीको दो वर प्रदान किये थे जो धरोहर थे। रामके राजतिलकके अवसरपर कैकेयीने वे वर माँगे। सही है कि इसे मायाका प्रभाव ही मानना चाहिये। राम जब निष्प्रभ, निस्तेज महाराजके दर्शन करते हैं तब वे रामसे कहते हैं—

स्त्रीजित भ्रान्तहृदयमुन्मार्गपरिवर्तिनम्।
निगृह्य मा गृहाणेद राज्य पाप न तद्भवेत्॥
एव चेदनृत नैव मा स्पृशेद्रघुनन्दन।
इत्युक्त्वा दु खसन्तप्तो विललाप नृपस्तदा॥

(अ०रा० अयो० ३।६९-७०)

'राम! स्त्रीसे पराजित भ्रान्तहृदय और उन्मार्गसे परिवर्तित या पथभ्रष्ट मुझको कैदकर इस राज्यको ग्रहण करो इससे तुम्हे कोई पाप न लगेगा। यदि तुम ऐसा करोगे तो असत्य मुझे स्पर्श न करेगा।' ऐसा कहकर राजा दु खसतप्त हो विलाप करने लगे।

दशरथका रामके प्रति यह कथन कहाँतक समीचीन है, यह विचारणीय है। वे 'स्त्रीजित्' अवश्य हैं। दूसरे शब्दोमे वे 'मोहजित्' हैं। यह मोह है, यह माया है जो उनके मुखसे इस प्रकार कहला रही है। मायाग्रस्त कोई भी व्यक्ति हो उनका अनुमोदन करेगा। तदनुसार सद्य कार्यप्रवृत्त हो जायगा। परतु राम अमायिक हैं व क्या मोहवशीभूत होकर अनुचित कार्य करेगे ? उन नयकोविदने यथोचित रीतिसे अपने जनक और माता कैकेयीको भी आश्वस्त किया।

(२) लक्ष्मणको जब ज्ञात होता है कि पिताने रामको राज्याभिषेकके बदले वनवास दिया है तब वे अत्यन्त क्रुद्ध होकर रामसे कहते हैं—

उन्मत्त भ्रान्तमनस कैकेयीवशवर्तिनम्।
बद्ध्वा निहन्मि भरत तद्बन्धून्मातुलानपि॥
अद्य पश्यन्तु मे शौर्य लोकान्प्रदहत पुरा।
राम त्वमभिषेकाय कुरु यत्नमरिन्दम॥

(अ०रा० अयो० ४।१५-१६)

उन्मत्त, भ्रान्तचित्त और कैकेयीके वशीभूत राजाको मैं कैदकर भरत और उनके मातुल आदि सभी बान्धवोको मार डालूँगा। आज सम्पूर्ण लोकोको दग्ध करनेवाले कालानलके समान मेरे पौरुषको पहले वे सब लोग देख ले। हे शत्रुदमन राम! आप अभिषेककी तैयारी कीजिये।

उत्तेजित लक्ष्मणको रामने आलिङ्गित कर मधुर शब्दोसे समझाया—'तुम शूर हो और मेरा भला करना चाहते हो। यह सब मैं जानता हूँ, परतु उसके लिये यह समय नहीं है। आँखोके सामने राज्य और देहादि जो कुछ दीख रहे हैं, यदि वे सब सत्य हो तो तुम्हारा परिश्रम सफल माना जायगा। परतु ये सब सत्य नहीं हैं।' (अ० रा० अयो० ४। १८-१९)

कराति दु खेन हि कर्मतन्त्र
शरीरभोगार्थमहर्निश नर।
देहस्तु भिन्न पुरुषात्समीक्ष्यते
को वात्र भोग पुरुषेण भुज्यते॥
पितृमातृसुतभ्रातृदारबन्ध्वादिसङ्गम।
प्रपायामिव जन्तूना नद्या काष्ठौघवच्चल॥
छायेव लक्ष्मीश्चपला प्रतीता
तारुण्यमम्बूर्मिवदध्रुव च।
स्वप्नोपम स्त्रीसुखमायुरल्प
तथापि जन्तोरभिमान एव॥
ससृति स्वप्नसदृशी सदा रोगादिसङ्कुला।
गन्धर्वनगरप्रख्या मूढस्तामनुवर्तते॥

(अ०रा० अयो० ४।२२—२५)

अर्थात् मनुष्य दिन-रात शरीरभोगार्थ ही दु खसे सभी प्रकारके कर्म करता है। परतु पुरुषसे देह भिन्न है ऐसी स्थितिमे पुरुषसे क्या भोग भोगा जायगा। पिता माता पुत्र, भाई, पत्नी, बन्धु-बान्धव—इन सबका सगम तो नदीमे एकत्रित काष्ठके समान चपल है। छायाके सदृश लक्ष्मी चञ्चल है और यौवन पानीकी लहरोके समान अस्थिर है। स्त्री-सुख स्वप्नके सदृश है और मनुष्यकी आयु भी अल्प है तथापि इनके प्रति आकर्षण-अनुरक्ति है। स्वप्नके समान अस्तित्ववाली यह ससृति सदा रोगादिसे परिपूर्ण है। यह न तो सत्य है न शाश्वत ही। यह तो गन्धर्वनगरी है। फिर भी मूढ उसके पीछे दौडता है।

इतना ही नहीं, प्रतिक्षण रोगादि शत्रुओंकी भाँति मनुष्यपर आक्रमण करते ही रहते हैं। वृद्धावस्था बाघिन-जैसी सामने खडी रहती है और मृत्यु समयकी ताकमे सनद्ध उपस्थित रहती है—

विकारी परिणामी च देह आत्मा कथ वद॥
यमास्थाय भवाँल्लोक दग्धुमिच्छति लक्ष्मण।

(अ०रा० अयो० ४।३१-३२)

लक्ष्मण! विकारी और परिणामी देहको आत्मा कैसे कहा जा सकता है, जिसके आधारपर तुम तो लोकको ही जला डालनेके इच्छुक हो! मैं देह हूँ, इस प्रकारकी जो बुद्धि है, वह अविद्या और मैं देह नहीं हूँ, चिदात्मा हूँ, इस प्रकारकी बुद्धि विद्या कहलाती है। अविद्या ससृतिका कारण है और विद्या उसको दूर करनेवाली है। इसलिये मुमुक्षुओंको सदैव प्रयत्नपूर्वक तत्त्व-चिन्तन करना चाहिये—

देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता।
नाह देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते॥
अविद्या ससृतेर्हेतुर्विद्या तस्या निवर्तिका।
तस्माद्यत्न सदा कार्यो विद्याभ्यासे मुमुक्षुभि ॥

(अ०रा० अयो० ४।३३-३४)

जैसा कि श्रीभगवत्पादजीने कहा है—अविद्या नामक आत्मा-अनात्माके पारस्परिक अध्यासको पुरस्कृत कर लौकिक और वैदिक समस्त प्रमाण-प्रमेय व्यवहार प्रवृत्त होते हैं एव मोक्षपरक विधि-निषेधात्मक सभी शास्त्र भी—

'तमेतमविद्याख्यम् आत्मानात्मनो इतरेतराध्यास पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिकवैदिकाश्च प्रवृत्ता सर्वाणि शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि।' (ब्रह्मसूत्रभाष्य)

राग-द्वेष भय-क्रोध—ये सब अविद्याके ही खेल हैं। जबतक यह खेल चलता रहेगा, तबतक बन्धन ही है विमुक्ति नहीं शान्ति नहीं। रामने लक्ष्मणको इसीलिये समझाया है—

क्रोधमूलो मनस्ताप क्रोध ससारबन्धनम्।
धर्मक्षयकर क्रोधस्तस्मात्क्रोध परित्यज॥
क्रोध एष महान् शत्रुस्तृष्णा वैतरणी नदी।
सन्तोषो नन्दनवन शान्तिरेव हि कामधुक्॥

(अ० रा० अयो० ४। ३६-३७)

अर्थात् मानसिक सतापका मूल कारण क्रोध है, क्रोध ससारका बन्धन है। वह धर्मको क्षीण करनेवाला है, इसलिये तुम उसका परित्याग करो। यह क्रोध तो महान् शत्रु है और तृष्णा वैतरणी नदी है, जबकि सतोष नन्दनवन है एव शान्ति ही कामधेनु है।

लक्ष्मणको रामने और भी समझाया—

आत्मा शुद्ध स्वयञ्ज्योतिरविकारी निराकृति ।
यावद्देहेन्द्रियप्राणैर्भिन्नत्व नात्मनो विदु ॥
तावत्ससारदु खौघै पीड्यन्ते मृत्युसयुता ।
तस्मात्त्व सर्वदा भिन्नमात्मान हृदि भावय॥

(अ०रा० अयो० ८।३९-४०)

आत्मा शुद्ध स्वयज्योति, अविकारी और निराकृति है। ससारका दु ख और मृत्युका भय तबतक विद्यमान रहता है, जबतक आत्माको देह, इन्द्रिया और प्राणोसे भिन्न नहीं जाना जाता। इसलिये तुम हमेशा देहसे भिन्न आत्माको अपने हृदयमे अनुभव करो।

यह अमोघ उपदेश है। इससे बढकर सत्य क्या हो सकता है! जिसको यह अनुभव होता है, वह कृतकृत्य हो जाता है। वास्तवमे यह भगवत्प्रेम है। भगवत्प्रेमका दूसरा नाम आत्मप्रेम है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि विशुद्ध भक्ति या ज्ञानसे इसकी प्राप्ति होती है। कहा गया है कि 'स्वस्वरूपानुसन्धान भक्तिरित्यभिधीयते।' गीता (४।९—११)-मे भगवान्ने कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेव यो वेत्ति तत्त्वत ।
त्यक्त्वा देह पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥
वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिता ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागता ॥
ये यथा मा प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या पार्थ सर्वश ॥

जो व्यक्ति तत्त्वत यह जानता है कि मेरा जन्म और कर्म दिव्य है वह देहको त्यागकर पुनरपि जन्म नहीं लेता मुझको ही प्राप्त हो जाता है। राग भय और क्रोधरहित, मुझसे ही ओत-प्रोत और मेरे ही आश्रित बहुत-से व्यक्ति ज्ञान-तपस्यासे पूत होकर मेरे भावको प्राप्त हो चुके हैं। जो मुझको जैसे भजते हैं उनको मैं वैसे ही भजता हूँ। मनुष्य

सब प्रकारसे मेरे ही मार्गपर चलते हैं।

स्पष्ट है कि इसके लिये ईश्वरानुग्रह सर्वथा अपेक्षित है। ईश्वरानुग्रहके बिना ऐसी बुद्धि प्राप्त ही नहीं होती। श्रीभगवत्पादजीने सूत्रभाष्यमे इस सदर्भमे कहा है कि अविद्यावस्थामे रहनेवाला जीव कार्यकारणसघातके विवेकसे रहित रहता है, वह अविद्याके अन्धकारसे अन्धा बना रहता है। तब वह परमेश्वर जो कर्माध्यक्ष, सर्वभूताधिवास, साक्षी और चैतन्यदायक है, उससे उसके आज्ञानुसार कर्तृत्व-भोक्तृत्वस्वरूप ससारको प्राप्त करता है। उस ईश्वरके अनुग्रहसे ही ज्ञानकी प्राप्तिद्वारा मोक्षसिद्धिके वह योग्य होता है—

'अविद्यावस्थाया कार्यकारणसङ्घाताविवेकदर्शिनो जीवस्याविद्यातिमिरान्धस्य सत परस्मादात्मन कर्माध्यक्षात् सर्वभूताधिवासात् साक्षिणश्चेतयितुरीश्वरात्तदनुज्ञया कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणस्य ससारस्य सिद्धि , तदनुग्रहहेतुकेनैव च विज्ञानेन मोक्षसिद्धिर्भवितुमर्हति।'

ईश्वरानुग्रहकी जितनी आवश्यकता ज्ञान-प्राप्तिके लिये स्वीकार्य है, उतनी ही गुरुके अनुग्रहकी भी। यह मानना चाहिये कि ईश्वर और गुरु दोना उद्धारक हैं। पूर्वकृत सुकृतसे ईश्वरानुग्रह प्राप्त होता है। गुरुके अनुग्रहके लिये भी पूर्वपुण्य चाहिये। भगवान्ने गीतामे कहा है कि सब प्रकारके द्रव्यमय यज्ञोसे ज्ञानयज्ञ श्रेयस्कर है। ज्ञानयज्ञसे बढकर कोई यज्ञ नहीं है। 'ब्रह्मार्पणबुद्धि' से जिसका आचरण होता है, उसे सिद्धि अवश्य मिलती है। उसका विधान जाननेके लिये गुरुकी सेवामे पहुँचना चाहिये, गुरुकी सेवा करनी चाहिये और उनकी शुश्रूषा भी करनी चाहिये। परिणामस्वरूप तत्त्वदर्शी गुरुका उपदेश प्राप्त होता है। भगवान्की उक्ति है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञान ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिन ॥

(गीता ४।३४)

जो तत्त्वदर्शी अथवा सम्यग्दर्शी हैं, उनके द्वारा उपदेश प्राप्त होनेसे वह उपदेश सफल होता है। सम्यग्दर्शी तो वे हैं, जो भगवत्प्रेममे लीन हैं। भगवत्प्रेमका नामान्तर ही आत्मप्रेम है। अतएव भगवान्ने अर्जुनको समझाया है कि 'हे अर्जुन! जिस ज्ञानको प्राप्तकर पुन तुम इस प्रकारके मोहमें न पडोगे। समस्त प्राणियाको जिससे अपने-आपमे देखोगे और फिर मुझमे भी'—

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेव यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥

(गीता ४।३५)

सब परमेश्वरमे हैं अथवा क्षेत्रज्ञेश्वरैकत्व सभी उपनिषदोमें प्रसिद्ध है ही। जो विष्णुतत्त्व किवा भगवत्तत्त्वको जानता है वह सर्वज्ञ होता है, वह ज्ञानी होता है। भगवान्ने चार प्रकारके भक्तोमे ज्ञानीको सर्वाधिक प्रश्रय दिया है और कहा है कि वह उनका अत्यन्त प्रिय है। भगवत्प्रेमकी यह पराकाष्ठा है, जहाँतक पहुँचनेके लिये सतत प्रयत्न और तपस्या आवश्यक है। यही कारण है कि भगवान्ने कहा है—'बहुत-से मनुष्योमे कोई एक सिद्धिके लिये प्रयत्न करता है और प्रयत्नशील सिद्धोमे भी कोई एक 'तत्त्व' को यथावत् समझता है। अनेक जन्मोके अन्तमे ज्ञानवान् मुझे प्राप्त करता है। मुझ सर्वात्माको प्राप्त होनेवाला वह महात्मा सुदुर्लभ ही है'—

मनुष्याणा सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धाना कश्चिन्मा वेत्ति तत्त्वत ॥
बहूना जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मा प्रपद्यते।
वासुदेव सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ ॥

(गीता ७।३ १९)

स्वार्थसे कौन चूकता है—'स्वार्थे क प्रमाद्यति?' पुत्र-मित्र-कलत्र-बन्धु-बान्धवोसे प्रेम किस हेतु होता है? अपने हितके लिये ही न। भगवान्से प्रेम भी अपने हितके लिये ही है। भगवत्प्रेमका तात्पर्य है—अपनेसे प्रेम। आत्मा सबसे अधिक प्रिय है। श्रेयकी प्राप्ति इसीसे है। इसलिये अत्यधिक प्रिय आत्मा किवा परमात्माकी उपासना करनी चाहिये, किसी अन्यकी नहीं। 'शतश्लोकी' का वाक्य है—

'तस्मादात्मानमेव प्रियमधिकमुपासीत विद्वान् न चान्यत्।'

भगवान् आद्यशङ्कराचार्यकी प्रेममीमांसा

(अनन्तश्रीविभूषित श्रीद्वारकाशारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्रीस्वरूपानन्द सरस्वतीजी महाराज)

हिन्दी भाषामे 'प्रेम' शब्द स्नेह, प्रीति अनुग्रह, कृपा, मृदु व्यवहार, आमोद-प्रमोद, विनोद, हर्ष और उल्लास प्रभृति विविध अर्थोंका द्योतक किंवा व्यञ्जक है, जो सस्कृतव्याकरणके अनुसार पुँल्लिङ्ग तथा नपुसकलिङ्गमे 'प्रेमन्' शब्दसे निष्पन्न होता है। प्रसिद्ध विद्वान् वामन शिवराम आप्टेने 'प्रेमन्' के सदर्भमे टिप्पणी करते हुए लिखा है—

प्रियस्य भाव इमनिच् प्रादेश एकाच्कत्वात् न टिलोप ।

(सस्कृत-हिन्दीकोश पृ० ६९६)

और इसके आगे उन्होने स्त्रीलिङ्गमे 'प्रेमिन्' (प्रेमन्+इनि)-की भी चर्चा की है। यो तो 'प्रेम' शब्दकी अर्थवत्तासे ही सुस्पष्ट है कि इसका प्रीति रुचि, प्रियता और मनोनुकूलताके साथ गहरा सम्बन्ध है। जो सामान्यतया भौतिक तथा आध्यात्मिक द्विविध और सूक्ष्मतया अनेकविध होता है। जिस प्रकार एक ही जल बुद्बुद तरङ्ग, सर-सरिता और कूपजल प्रभृति अनेक रूपामे दृष्टिगोचर होते हुए भी तात्त्विकरूपसे नीर ही होता है अथवा एक ही रस पृथक्-पृथक् विभावानुभावसचारियोके सयोगसे शृङ्गार हास्य करुण रौद्र वीर बीभत्स आदि अनेक रूपाम प्रकट होता है। भवभूति कहते हैं—

एको रस करुण एव निमित्तभेदा-
द्भिन्न पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान्विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव तु तत् समग्रम्॥

(उत्तररामचरितम् ३।४७)

और काव्यशास्त्रियोके मतमे तो एक ही स्थायी भाव अनेक रसोके स्वरूपमे उसी प्रकार अभिव्यक्त या निष्पन्न होता है जिस प्रकार रसरूपात्मक ('रसो वै स'— तैत्तिरीयोपनिषद् २।७) उपादान कारणभूत जगन्नियन्ता परब्रह्मसे कार्यरूप जगत्की उत्पत्ति होती है।

विचारणीय है कि प्रेमका एक पर्यायवाची शब्द 'रति' भी है। जिसकी अर्थवत्ता लोकाभिमुख लोगोको तो बाँधती है किंतु योगियो ज्ञानियो सन्यासियो एव तपश्चर्यापूत महापुरुषोको मुक्त करती है और लोकबन्धनकी सीमासे उन्हे बहुत दूर लेकर चली जाती है। प्रीतिका विस्तार या उसकी व्यापकता समस्त ब्रह्माण्डमे विद्यमान जड-चेतन सभीमे है। महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजीके अनुसार अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये सुर, नर और मुनि सभी स्नेह करते हैं किंतु यहाँ 'स्वारथ' की अर्थवत्तात्मक सीमाएँ सभीकी अलग-अलग हैं और 'प्रेम' के प्रकार भी भिन्न-भिन्न हैं।

इस चिन्तनके अनुसार यदि भगवान् आद्यशङ्कराचार्यजी महाराजकी प्रीत्यात्मक मानसिकता भावना कार्यपद्धति चिन्तन और कृतियोपर विचार किया जाय तो *'हरि अनत हरिकथा अनता'* (रा०च०मा० १।१४०।५)-की उक्ति चरितार्थ होने लगेगी, क्योकि भगवान् आद्यशङ्कराचार्यजी देवाधिदेव महादेवके साक्षात् अवतार हैं जिनमे लोककल्याणहेतु जीवोके प्रति अगाध करुणा भरी हुई है। अल्पवयमे ही चारो वेदो, सनातनधर्म तथा सस्कृतिके सिद्धान्तो और सनातनपरम्पराके प्रति उन्हे असीम प्रेम था। छ शास्त्रोके लिये अनुराग, मानवताहेतु राग, राष्ट्रके प्रति प्रीति और ब्रह्मज्ञानके प्रति अनन्तानन्त निष्ठा थी। आपके व्यक्तित्वसागरमे एक ओर जहाँ 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' से आरम्भ होनेवाले ब्रह्मसूत्र 'धर्मक्षेत्रे' से लेकर 'ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम' पर्यन्त पूर्णता प्राप्त करनेवाली गीता, उपनिषद् वाङ्मय एव अन्य अनेकानेक आकर ग्रन्थोका भाष्य करनेकी उन्नत ज्ञानात्मक क्षमता हिमगिरिकी भाँति दृष्टिगोचर होती है, वहीं पराम्बा परमेश्वरी भगवती आदिशक्तिके पादपद्मोके प्रति भक्तिकी उत्ताल तरङ्गे भी तरङ्गायित होती देखी जा सकती हैं। आपके विशाल हृदयमे विद्यमान धर्म और देशके प्रति उत्कट प्रेमका ही परिणाम था, जिसके कारण अत्यन्त विशाल भारतवर्षकी आपने पैदल परिक्रमा की तथा सनातन वैदिक धर्मपर छाये कुहरकी परताको भगवान् सहस्रदीधितिके प्रचण्ड रश्मिपुञ्जकी भाँति अपने विद्यानलके प्रभावसे जीर्ण-शीर्ण कर दिया।

आचार्यपरम्पराके प्रति आपके मनमे स्थित प्रेमने ही

सनातनधर्मके रक्षार्थ 'स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूता' भारतभूमिकी चारों दिशाआम आपसे चार पीठाकी स्थापना करायी। जो निम्नलिखित हैं'—

प्रथम पश्चिमाम्नाय शारदामठ उच्यते।
कीटवारसम्प्रदायस्तस्य तीर्थाश्रमौ पदे॥
पूर्वाम्नायो द्वितीय स्याद् गोवर्धनमठ स्मृत ।
भोगवार सम्प्रदायो वनारण्ये पदे स्मृते॥
तृतीयस्तूत्तराम्नायो ज्योतिर्नाम मठो भवेत्।
श्रीमठश्चेति वा तस्य नामान्तरमुदीरितम्॥
चतुर्थो दक्षिणाम्नाय शृङ्गेरी तु मठो भवेत्।
सम्प्रदायो भूरिवारो भूर्भुवा गोत्रमुच्यते॥

(मठाम्नायमहानुशासनम् १ १० १८ २८)

अर्थात् सर्वप्रथम द्वारकाशारदापीठकी स्थापनाके बाद आचार्यचरणने क्रमश गोवर्धनपीठ, ज्योतिष्पीठ ओर शृङ्गेरीपीठकी स्थापना की, जिससे धर्मकी प्रथा अक्षुण्ण बनी रहे। इसके साथ-साथ आपने सभी पीठापर अलग-अलग अपने चार शिष्योको आचार्यके रूपमे प्रतिष्ठित किया तथा 'मठामायमहानुशासनम्' की रचना कर उसमे मठसम्बन्धित विधि-विधानो, आचार्योंकी योग्यता, परिचय तथा तत्सम्बद्ध मर्यादाकी सविस्तर व्यवस्था दी। आपने भावी सनातन पीढीको प्रेरणा तथा धर्ममर्यादाका निर्देश देनेकी दृष्टिस अनेक कृतियाका प्रणयन किया जिनमेसे कुछ इस प्रकार हैं—

(१) अपरोक्षानुभूति, (२) आत्मबोध (३) तत्त्वोपदेश, (४) प्रौढानुभूति, (५) ब्रह्मज्ञानावलीमाला (६) लघुवाक्यवृत्ति, (७) वाक्यवृत्ति (८) सदाचारानुसधानम्, (९) स्वात्मनिरूपणम्, (१०) अद्वैतानुभूति, (११) दशश्लोकी, (१२) प्रबोधसुधाकर, (१३) प्रश्नोत्तररत्नमालिका, (१४) ब्रह्मानुचिन्तनम्, (१५) मोहमुद्गर, (१६) सौन्दर्यलहरी, (१७) स्वात्मप्रकाशिका (१८) योगतारावली (१९) शतश्लोकी (२०) सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसग्रह, (२१) विवेकचूडामणि, (२२) उपदेशसाहस्री, (२३—४०) वेदान्तस्तोत्राणि (४१—६४) भक्तिस्तोत्राणि (६५) अनात्मश्रीविगर्हणप्रकरणम्, (६६) आत्मानात्मविचार, (६७) जीवन्मुक्तानन्दलहरी, (६८) वाक्यसुधा, (६९) अध्यात्मपटलविवरणम्, (७०) वदान्तब्रह्मसूत्रभाष्यम्, (७१) सनत्सुजातीयभाष्यम् और (७२) विष्णुसहस्रनामभाष्यम्।

इनके अतिरिक्त उपनिषद् वाङ्मय एव श्रीमद्भगवद्गीतापर कृत भाष्योकी भाँति शारीरकभाष्य भी आपकी प्रतिनिधि रचना है। आपके कर्तृत्वावलोकनसे सुस्पष्ट है कि आपको अपने जीवनम सर्वाधिक अभीष्ट था—अद्वैतवेदान्तकी सैद्धान्तिक स्थापना और ब्रह्मकी सत्यता तथा जगत्के मिथ्यात्वका प्रतिपादन। इसीलिये आपने कहा—

श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्त ग्रन्थकोटिभि ।
ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर ॥

कहना न होगा कि आचार्य शङ्करके अनुकरणके परिणामस्वरूप ही देशके अनेक सम्प्रदायो एव धर्मानुयायियाने अपने-अपने यहाँ आचार्यपरम्पराका श्रीगणेश किया। आपकी मेधा, तपश्चर्या, ज्ञानशक्ति और वाक्शक्तिसे ही प्रभावित होकर सम्राट् सुधन्वाने आपका शिष्यत्व ग्रहण किया था—

वेदान्तचर्चा समभूत् तदानीं राजा सुधन्वा यतिसेवकोऽभूत्।
तत्र द्विषोऽद्वैतपथस्य ये ते श्रुत्वैव तद् व्याकुलतामवापु ॥

(शङ्कराचार्यचरितम् १२।४)

भगवान् शङ्कराचार्यजी महाराज एक ओर जहाँ 'ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन' (गीता ४।३७) और 'ऋते ज्ञानान्न मुक्ति' के अद्वितीय चिन्तक, समर्थक किवा उच्चतम शिखर थे, वहीं वे उत्कट श्रद्धाकी परिपक्वावस्थाजन्य भक्तिके जीवन्त रूप थे। मात्र शक्तिके अस्तित्वको स्वीकार कर सतुष्ट हानेवाले नहीं थे, प्रत्युत वे भगवतीके सदृश अन्य किसीको भी माननेको तैयार ही नहीं थे। इसीलिये सौन्दर्यलहरी (१—३)-मे आप कहते हैं—

शिव शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्त प्रभवितु
× × ×
निमग्नाना दष्ट्रा मुररिपुवराहस्य भवति॥

अर्थात् भगवान् शिव शक्तिसे युक्त होकर ही कुछ करनेमे समर्थ हो पाते हैं। पराशक्ति भगवती त्रिपुरसुन्दरी राजराजेश्वरीसे वे यदि युक्त न हो तो उनमे स्पन्दनतक

सम्भव नहीं है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव—सभी क्रमश सृष्टि, स्थिति, सहार या सतुलन रखनेमे शक्तिके कारण ही समर्थ हो पाते हैं। साख्यके अनुसार प्रकृतिके विना पुरुष कुछ भी नहीं कर सकता, क्योंकि प्रकृति ही प्रधान है, वही सृष्टिकी सचालिका तथा सभी तत्त्वोकी मूल है। भगवान् शङ्करका कहना है कि हे मा! आप ब्रह्मादि त्रिदेवोकी आराध्या हैं। अत जन्म-जन्मान्तरके पुण्याभावमें भला कोई व्यक्ति आपकी स्तुति कैसे कर सकता है? अज्ञानरूपी अन्धकारको विनष्ट करनेवाली मणिद्वीप नगरीका प्रताप वस्तुत आपके चरणोकी धूलिका प्रभाव है। अज्ञानियोके लिये आत्मज्ञानरूपी वाञ्छित फल प्रदान करनेवाला कल्पवृक्षोंके पुष्पोसे नि सृत पराग और अर्थहीन दरिद्रोके लिये सभी सम्पत्तियोका स्वामी बनानेवाली चिन्तामणि उसी प्रकार आपके कृपाप्रसाद हैं, जैसे भवसागरमे निमग्न जीवोके उद्धारके लिये वराहावतारी भगवान्‌के दाँत। परमपूज्य आचार्यप्रवरका मानना है कि सर्वसौभाग्यदायिनी भगवती न केवल लोकसिद्धियोकी प्रदात्री हैं, प्रत्युत मोक्षप्रदा भी हैं। इसीलिये 'श्रीयन्त्र' की उपासना ससारमे पूज्यपादके प्रवर्तनके परिणामस्वरूप अनुदिन विकसित और व्यापक होती चली गयी। आपका कहना है कि—

मूलाधारचक्रमे पृथ्वी और जलतत्त्वोको, स्वाधिष्ठान-चक्रान्तर्गत मणिपूरमे अग्नि हृदयस्थ अनाहतचक्रमे वायु और विशुद्धिचक्रमे आकाश तथा भ्रूमध्यमे विद्यमान आज्ञाचक्रमे मनस्तत्त्वको इस प्रकार सम्पूर्ण कुलपथ सुषुम्णामार्गके द्वारा सभी चक्रोका भेदन कर सहस्रदलकमलमे अपने पति शिवसे सयुक्त होकर भगवती विहार करती रहती हैं।

ध्यातव्य है कि भेदनके समय शक्तिकी गति मूलाधारसे सहस्रारकी ओर रहती है और सहस्रारसे नीचे उतरते समय वह अपनी अन्वयभूमिकामे नाडियोको अमृतसे सींचती हुई मूलाधारकी ओर लौटकर अपना रूप सर्पाकार बनाकर लघु कुहरमे शयन करती है। इसी प्रकार जीवके ऐहिक किंवा आमुष्मिक सर्वविध श्रेयके उपलब्ध्यर्थ पूज्यपादने 'श्रीयन्त्र'-की सृष्टिक्रमीय उपासनापर बल दिया है, जो पिण्डमे ब्रह्माण्डका प्रतीकात्मक स्वरूप है और जिसमे ४ शिवचक्र, ५ शक्तिचक्र, ९ प्रपञ्चके कारणात्मक मूलतत्त्व, ४३ कोण, ८ दल, १६ दल, ३ रेखाएँ और ३ वृत्त हैं। आपकी दृष्टिमे इस यन्त्रका उपासक भगवान् कामेश्वरका अश बन जाता है, क्योकि उपासक षट्चक्रोके भेदनपूर्वक आज्ञाचक्रके ऊपर पहुँच जाता है—

मयूखास्तेषामप्युपरि तव पादाम्बुजयुगम्।

(सौन्दर्यलहरी श्लोक १४)

और वाक्‌सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

मनुष्य जन्म-जन्मान्तर तपश्चर्या करता है, किंतु जीवनमे कहीं भी पथच्युत होनेपर उसके मुक्तिके मार्गमें बाधाएँ आ जाती हैं और उसे पुन ससारमे जन्म लेना पडता है, किंतु भगवतीका भक्त यदि 'भवानि त्व"' मात्रका उच्चारण कर देता है, तो इतनेसे ही उसकी सायुज्य मुक्ति हो जाती है। यथा—

भवानि त्व दासे मयि वितर दृष्टिं सकरुणा-
मिति स्तोतु वाञ्छन् कथयति भवानि त्वमिति य ।
तदैव त्व तस्मै दिशसि निजसायुज्यपदवीं
मुकुन्दब्रह्मेन्द्रस्फुटमुकुटनीराजितपदाम् ॥

(सौन्दर्यलहरी श्लोक २२)

'श्रीयन्त्र' की उपासनामे भगवती सृष्टिकी बीज हैं जो हादि और कादि विद्याओकी उपादान कारण हैं। इसीलिये आज्ञाचक्रसे ऊपर पहुँचकर समयाचारका साधक जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त हो जाता है—

तवाज्ञाचक्रस्थ तपनशशिकोटिद्युतिधर
पर शम्भु वन्दे परिमिलितपार्श्वं परचिता।
यमाराध्यन् भक्त्या रविशशिशुचीनामविषये
निरालोके लोके निवसति हि भालोकभुवने॥

(सौन्दर्यलहरी श्लोक ३६)

वात्सल्य और प्रेमका जैसा चित्र भगवान् शङ्कराचार्यजीने सौन्दर्यलहरीके ६७वे श्लोकमे खींचा है वैसा अन्यत्र सर्वथा सुदुर्लभ है। यथा—

कराग्रेण स्पृष्ट तुहिनगिरिणा वत्सलतया
गिरीशेनोदस्त मुहुरधरपानाकुलतया।

करग्राह्य शम्भोर्मुखमुकुरवृन्त गिरिसुते
कथङ्कार ब्रूमस्तव चुबुकमौपम्यरहितम्॥

प्रकृत श्लोकमे भगवतीकी ठोडीका अनुपम सौन्दर्य वात्सल्यसे हिमवान् और प्रेमसे शिवजीद्वारा स्पर्शित है। इसी क्रममे सौन्दर्यलहरीके श्लाक ७२ मे वात्सल्यवश माताके स्तनोसे दुग्धस्राव होना और दुग्धपानके समय अपने शिरकुम्भको ही कहीं माताने तो नहीं ले लिया, इस भ्रमम गणेशजीका अपना सिर पकडनेपर वात्सल्यवश माता पार्वतीका हँस पडना अद्भुत पवित्र प्रेमभावका द्योतक है। इसी प्रकार श्लोक ७५के '**तव स्तन्य मन्ये धरणिधरकन्ये हृदयत** ' से लेकर '**कवीना प्रौढानामजनि कमनीय कवयिता**' पर्यन्त कृत वर्णनमे माताके करुणामय प्रेमका अद्वितीय चित्रण किया गया हे, जिसे पाकर मैं द्रविड शिशु वाग्देवताकी कृपाके परिणामस्वरूप कवि बन गया ऐसा स्वीकार करनेवाले पूज्यपादने इस ग्रन्थमे लौकिक उपादानोके माध्यमसे आध्यात्मिक चिन्तनका जो निरूपण किया है, वह सचमुच उनकी आध्यात्मिकता तथा लोकहितके प्रति गहनतम प्रेमको प्रमाणित करता है, यथा—

हरक्रोधज्वालावलिभिरवलीढेन वपुषा।
× × ×
जनस्ता जानीते तव जननि रोमावलिरिति॥

(सौन्दर्यलहरी श्लोक ७६)

यहाँ टीकाकार कहते हैं कि शिवजीके तृतीय नेत्रके खुलनेसे भस्मसात् कामने परमपावनी जगदम्बाके पास आकर शरण ली थी और तभीसे भगवतीके मनमे उसके प्रति पुत्रभाव उत्पन्न हुआ क्योंकि अम्बास्तवकार कहते हैं—

दग्ध यदा मदनमेकमनेकधा ते
मुग्ध कटाक्षविधिरङ्कुरयाञ्चकार।
धत्ते तदा प्रभृति देवि ललाटनेत्र
सत्य ह्रियैव मुकुलीकृतमिन्दुमौलि ॥
कामोत्थितो यतो जातस्तस्या कामेशयोषित ।
कामाक्षीति तत ख्याति सा गता काञ्चिकापुरे॥

जहाँतक लौकिक भावभूमिगत प्रेमके तटस्थ एव शास्त्रीय ज्ञानका प्रश्न है भगवान् आद्यशङ्कराचार्यजी महाराजने भगवती भारतीके साथ सम्पद्यमान शास्त्रार्थके प्रसगम उनके कामशास्त्रीय पूर्वपक्षका उत्तर देनेके लिये योगबलसे राजा अमरुके मृत शरीरमे प्रवेश किया था। तभी तो पद्मपाद नामक उनके विद्वान् शिष्यने राजा अमरुके दरबारमे गीत गाते हुए उनसे कहा था—

पूर्वं भवान् ब्रह्मरसस्य भोक्ता
भुङ्क्ते रस लौकिकमत्र निन्द्यम्।
अन्नादिकोष च विहाय नित्य
आनन्दरूपे नितरा रमस्व॥

(शङ्कराचार्यचरितम् ९।३२)

अर्थात् पहले आप ब्रह्मानन्दके भोक्ता थे और अब साधुजनद्वारा निन्द्य लोकरसका उपभोग कर रहे हैं। अत आप अन्नादि कोषोको छोडकर नित्य आनन्दमय रूपमे रमण करे।

माताकी मरणासन्नावस्थामे बद्रीनाथसे कालाटि पहुँचकर पूज्यपादने माताजीके प्रति सम्मानपूर्ण और शास्त्रसम्मत व्यवहार किया। वयोवृद्धा मा जब पुत्रका हाथ अपने हाथम लेकर अत्यधिक आनन्दको प्राप्त हुईं, उस समय बढे हुए मातृप्रेमवाले आचार्यप्रवर भी अश्रुयुक्त होकर माके शरीरसे लिपट गये। यथा—

हस्तेऽस्य हस्त च निजे निधाय
सानन्दमानन्दमवाप माता।
श्रीशङ्करश्चापि विवृद्धराग
साश्रुर्जनीदेहमथालिलिङ्ग ॥

(शङ्कराचार्यचरितम् ७।९)

इसके अतिरिक्त भारतवर्षको प्रादेशिक भेदासे रहित करने और राष्ट्रैक्यके उद्देश्यसे उन महामनीषी यतीश्वरने उपासकाके उपास्यके आधारपर अभिमत भेदोको तोडनेके अनेक प्रयत्न किये, जिससे उनका राष्ट्र और लोकधर्मके प्रति प्रेम सुस्पष्टतया परिलक्षित होता है। यथा—

एक चिकीर्षु स च भारतं यै
प्रादेशभेदै रहित मनीषी।
सेव्याभिभेद यतिराड् विभेत्तु-
मुपासकाना विविध प्रयेते॥

(शङ्कराचार्यचरितम् ६।३९)

परमात्माका दर्शन सुलभ हो जाता है।

एक ही भगवान् जनार्दन जगत्की सृष्टि, स्थिति, सहतिके लिये ब्रह्मा, विष्णु और महेश-सज्ञाओको धारण करते हैं। वे प्रभु स्रष्टा होकर अपनी ही सृष्टि करते हैं। पालक विष्णु होकर पाल्यरूप अपना ही पालन करते हैं। सहारक महेश होकर सहतरूप स्वयका ही सहार करते हैं—

सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्।
स सज्ञा याति भगवानेक एव जनार्दन ॥
स्रष्टा सृजति चात्मान विष्णु पाल्य च पाति च।
उपसह्रियते चान्ते सहर्ता च स्वय प्रभु ॥

(विष्णुपुराण १।२।६६-६७)

आत्मैव तदिद विश्व सृज्यते सृजति प्रभु ।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वर ॥

(श्रीमद्भा० ११।२८।६)

नामरूपात्मक जगत् प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। प्रपञ्चोपादान प्रधान (प्रकृति) परिणामशील अतएव विकारयुक्त है। इस प्रकार कार्यात्मक प्रपञ्च और कारणात्मक प्रधान दोनोकी तत्त्वरूपता असिद्ध है। पारिशेष्यन्यायसे प्रकृति और प्राकृत तद्वत् भूत और भौतिक प्रपञ्चका परमाश्रय परब्रह्म परमात्मा ही परम सत्य अर्थात् वास्तविक वस्तु है। वह ज्ञानस्वरूप है। स्वप्रकाश विज्ञानातिरिक्त कभी कहीं कोई भी पदार्थ नहीं है। उसमे अविद्या काम और कर्मयोगस परिलक्षित विभेद वास्तविक नहीं है। वह विज्ञान विमल विशोक और अशेष लोभादि विरहित है। वही एक सत्यस्वरूप परम परमेश्वर वासुदेव है। उससे पृथक् और कोई पदार्थ नहीं है। अणु, चूर्णरज पिण्ड, कपाल घटरूपसे प्रतिष्ठित मृत्तिकाके तुल्य आकाश, वायु, तेज जल और पृथ्वीरूपसे परब्रह्म ही प्रतिष्ठित है। व्यष्टि पृथ्वीरूपा मिट्टीमें प्रतिष्ठित घटोत्पादिनी शक्तिका आश्रय मृत्तिकाके तुल्य जगत्कारण ब्रह्ममे सनिहित प्रपञ्चोत्पादिनी शक्तिका समाश्रय स्वय परब्रह्म ही है। वह ज्ञानस्वरूप वासुदेव ही सत्य है, उसके अतिरिक्त सब कुछ असत्य है—

ज्ञानमेक पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम्।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा॥

(श्रीमद्भा० ३।३२।२८)

ब्रह्म एक है। वह निर्गुण और ज्ञानस्वरूप है। बाह्य वृत्तियोवाली इन्द्रियोके द्वारा वह भ्रान्तिवश शब्दादिधर्मोवाले विभिन्न पदार्थोंके रूपमे भास रहा है—

तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किञ्चि-
त्क्वचित्कदाचिद्द्विज वस्तुजातम्।
विज्ञानमेक निजकर्मभेद-
विभिन्नचित्तैर्बहुधाभ्युपेतम् ॥
ज्ञान विशुद्ध विमल विशोक-
मशेषलोभादिनिरस्तसङ्गम् ।
एक सदैक परम परेश
स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति॥
सद्भाव एव भवतो मयोक्तो
ज्ञान यथा सत्यमसत्यमन्यत्।

(विष्णुपुराण २।१२।४३-४५)

भगवान् वासुदेव उत्पत्ति, स्थिति, सहति, निग्रह-तिरोधान और अनुग्रहकर्ता हैं। वे स्वय ही जगत् बनते हैं और बनाते भी हैं। इतना ही नहीं जिस प्रकार व्यापक आकाश ही घटगत घटाकाश कहा जाता है, उसी प्रकार चिदाकाशस्वरूप परमात्मा ही व्यष्टिगत प्रत्यगात्मा कहा जाता है। जागर, स्वप्न, सुषुप्ति और समाधिमे अलिप्त एकरस साक्षी पुरुषरूप नारायणसे सत्ता चित्ता और प्रियता लाभकर देहेन्द्रियप्राणान्त करण अपना-अपना काम करनेमे समर्थ होते हैं।

अग्निकी चिनगारियाँ जिस प्रकार अग्निको उद्भासित और दग्ध करनेमे समर्थ नहीं उसी प्रकार इन्द्रिय प्राण और अन्त करण भी प्रत्यगात्मस्वरूप अन्तरात्मा नारायणको सत्ता, चित्ता और प्रियता प्रदान करनेमे समर्थ नहीं। 'नेति-नेति' आदि निषेधमुखसे प्रवृत्त श्रुतियाँ निषेधगर्भित विधि-मुखसे और 'तत्त्वमस्यादि' विधिमुखसे प्रवृत्त श्रुतियाँ विधिगर्भित निषेधसे ही नारायण नामक परमात्मतत्त्वमें प्रवृत्त होती हैं। शब्दोमे अर्थावबोधक सामर्थ्य भी भगवदनुग्रहसे ही सम्भव है।

इस प्रकार क्षेत्रज्ञ वासुदेव, नारायण, अज, ब्रह्म, भगवान् आदि नामोसे निरूपित वेदान्तवेद्य सच्चिदानन्दतत्त्व परमात्मा अन्तरात्मा और वस्तुत प्रत्यगात्मा है। 'सापेक्षमसमर्थं

भवति' (पा०सू० ३।१।८ भाष्य) सापेक्ष असमर्थ होता है अर्थात् निरपेक्ष समर्थ होता है। परमात्मा निरपेक्ष होनेसे समर्थ है।

जिस प्रकार जल-स्थल-नभमे विद्यमान विद्युत्की अर्थक्रियाकारिताक बिना विद्यमानता उसकी निर्गुणरूपता सिद्ध करती है तथा नीरूपता उसकी निराकारता सिद्ध करती है, उसी प्रकार सर्वव्यापक अद्वितीय सच्चिदानन्दस्वरूप निरुपाधिक परब्रह्मकी निर्गुण-निराकारता सिद्ध है। जिस प्रकार पखा आदिके माध्यमसे उपयागिता सिद्ध करनेवाली, कितु आँखासे ओझल रहनेवाली विद्युत्की सगुण-निराकारता सिद्ध है उसी प्रकार सर्वभूतनियामक मायोपाधिक सर्वेश्वरकी सगुण-निराकारता सिद्ध है। जिस प्रकार बल्ब, बादल आदिके योगसे अभिव्यक्त विद्युत्की सगुण-साकारता सिद्ध होती है उसी प्रकार प्रीति-प्रगल्भतादिके योगसे अभिव्यक्त श्रीराम-कृष्णादिरूप परब्रह्मकी सगुण-साकारता सिद्ध होती है।

श्रीराम-कृष्णादि रूपोम अवतरित भगवद्विग्रह सकल सुन्दरताओस सम्पन्न होता है। सर्वसोन्दर्यसार अनुपमरूपका दर्शन कर भावुक भक्त धन्य-धन्य होते है। दिव्य मुखचन्द्रकी आभा और प्रेमपूण मुसकानसे स्निग्ध चितवन भक्ताके मनको हर लेती है। देवताओके लिये भी दुर्लभ दर्शन लाभकर भक्त कृतार्थ हो जाते हैं। भगवद्दर्शनके बिना एक-एक क्षण कोटि-कोटि वर्षोके तुल्य प्रतीत होने लगते हैं। भगवद्दर्शनके बिना भक्तोकी दशा वैसी ही हो जाती है, जैसी सौरादि आलोकके बिना नेत्रोकी।

जब आत्मानात्मविवेकसम्पन्न परमहस मननशील मुनि और रागादिविरहित शमादिसम्पन्न सनकादि-सरीखे अमलात्मा सत भी स्वरूप, शक्ति और वेभवसे अनन्त अचिन्त्य महिमामण्डित प्रभुको नहीं पहचान पाते तब उनकी भक्ति करनेकी भावनावाले कितु देह-गेह, सगे-सम्बन्धियामे रचे-पचे प्राकृतजन उन्हे कैसे पहचान सकते हैं?

अमलात्मा आत्माराम मननशील मुनिगणो और चिज्जडग्रन्थिभेदक निर्ग्रन्थ परमहसोको भी निज गुणासे आकृष्ट कर उनसे भक्तियोग निष्पन्न करानेके लिये अवतीर्ण श्रीहरिके अनुपम स्वरूपको प्राकृतजन कैसे समझ सकते हैं?

जैसे मूढदृष्टिसम्पन्नोके द्वारा श्रीहरि लक्षित नहीं होते, वैसे ही परमहस मुनीन्द्र अमलात्माआके द्वारा भी वे लक्षित नहीं होते, क्यो न हो, प्रभु कारणोपाधिक कारणात्मा और कारणातीत जो ठहरे। उन्ह कार्योपाधिक परमहसादि न जान पाये, इसम आश्चर्य ही क्या है?—

> तथा परमहसाना मुनीनाममलात्मनाम्।
> भक्तियोगविधानार्थ कथ पश्येम हि स्त्रिय ॥
> (श्रीमद्भा० १।८।२०)

(२) अवतारतत्त्वकी तात्त्विक मीमासा—श्रीदेवकीजीने सम्भावित सर्वहेतुओका निराकरण करते हुए भगवदनुग्रहसे श्रीभगवान्के अवतारको समीचीन स्वीकार किया है—

> रूप यत् तत् प्राहुरव्यक्तमाद्य
> ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुण निर्विकारम्।
> सत्तामात्र निर्विशेष निरीह
> स त्व साक्षाद् विष्णुरध्यात्मदीप ॥
> (श्रीमद्भा० १०।३।२४)

वेदोने जिम वास्तव वस्तुका निरूपण किया है वह अव्यक्त है, क्योकि आद्य अर्थात् कारण है। वह परमाणुरूप नहीं है अपितु बृहद्-ब्रह्मस्वरूप है।

प्रकारान्तरसे यह भी कहा जा सकता है कि भगवत्तत्त्व अव्यक्त है। वह प्रत्यक्षानुमानादि किसी भी प्रकारसे व्यक्त नहीं होता। उत्पत्तिसे उसकी अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है क्याकि वह सर्वकार्योंका आद्य अर्थात् कारण है। जो सादि होता है, उसीकी अभिव्यक्ति होती है, न कि अनादिकी। व्यापक ब्रह्मस्वरूप होनेसे भी उसकी अभिव्यक्ति सम्भव नही है। परिच्छिन्नकी देशविशेषमे अभिव्यक्ति सम्भव है न कि व्यापककी। जो प्रकाशस्वरूप है जिसके सानिध्यमात्रसे सबका प्रकाशन सम्भव है, कोई परिच्छिन्न प्रकाश उसकी अभिव्यक्ति करनेम समर्थ नहीं है। किसी गुणसे भी उसकी अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है, क्याकि वह निर्गुण है। इतना ही नहीं, वह निर्विकार है, अत उसकी अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है।

सविकार प्रकृतिकी महदादिके द्वारसे अभिव्यक्ति

सम्भव है, न कि निर्विकारकी। वह सत्तामात्र है, सर्वाभिव्यञ्जक सद्रूपका अभिव्यञ्जक कोई भी वस्तुविशेष हो, यह सम्भव नहीं। यह लोकप्रसिद्ध तथ्य है कि 'घट सन् पट सन्'—'घट है, पट है' आदि स्थलोमे सत्तासे ही घटादि व्यक्त होते है, न कि घटादिसे सत्ताकी अभिव्यक्ति होती है। अभिप्राय यह है कि वन्ध्यापुत्रादि असत् स्वरूपका अभिव्यञ्जक नहीं होता, अतएव सत् ही स्वरूपका अभिव्यञ्जक हो सकता है। परम तत्त्व निर्विशेष है, अत उसका अभिव्यञ्जन असम्भव है। सावयवरूप सविशेष घटादिका ही घटत्वादि सामान्यसे अभिव्यञ्जन देखा जाता है, न कि निर्विशेषका। सचेष्टकी क्रियासे अभिव्यक्ति देखी जाती है, न कि निश्चेष्टकी। बद आकाशादिको खोला जा सकता है, न कि आकाशादिको खोला जाना सम्भव है।

इस प्रकार यद्यपि अव्यक्तत्व, आद्यत्व ब्रह्मत्व ज्योतित्व निर्गुणत्व, निर्विकारत्व सत्तामात्रत्व निर्विशेषत्व निरीहत्वरूप नवविध हेतुओसे भगवदवतारकी सिद्धि असम्भव परिलक्षित होनेपर भी जिस प्रकार अघटनघटनापटीयसी स्वात्मवैभव, आत्मयोगरूपा अचिन्त्यलीलाशक्ति मायाके लिये सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्मको परस्पर विलक्षण *जीव, जगत्* और जगदीश्वररूपसे अवतरित करना सम्भव है, उसी प्रकार जगदीश्वरको युगानुरूप विविध लीलोपयुक्त मत्स्य कूर्मादि अवतार-विग्रहोसे सम्पन्न करना भी सम्भव है—

युक्त च सन्ति सर्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथा।
माया मदीयामुद्गृह्य वदता किं नु दुर्घटम्॥
नैतदेव यथाऽऽत्थ त्व यदह वच्मि तत्तथा।
एव विवदता हेतु शक्तयो मे दुरत्यया ॥

(श्रीमद्भा० ११।२२।४-५)

'वदज्ञ ब्राह्मण इस विषयमे जो कुछ कहते हैं, वह सब ठीक है। मेरी माया स्वीकार करके क्या कहना असम्भव है। 'जैसा तुम कहते हो, वह ठीक नहीं है, मैं जो कहता हूँ, वही यथार्थ है'—इस प्रकार विवाद इसलिये होता है कि *मेरी शक्तियोका* पार पाना असम्भव है'—

सा वा एतस्य सद्रष्टु शक्ति सदसदात्मिका।
माया नाम महाभाग ययेद निर्ममे विभु ॥

(श्रीमद्भा० ३।५।२५)

'महाभाग। यह द्रष्टा और दृश्यका अनुसन्धान करनेवाली द्रष्टाकी शक्ति ही—कार्यकारणरूपा अनिर्वचनीया माया है। इसके द्वारा ही महेश्वरने इस *विश्वका निर्माण किया है*'—

स एवेद ससर्जाग्रे भगवानात्ममायया।
सदसद्रूपया चासौ गुणमय्यागुणो विभु ॥

(श्रीमद्भा० १।२।३०)

असम्भवको सम्भव करनेवाली शक्ति माया है। 'सेय भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते' (श्रीमद्भा० ३।७।९)। वही है यह श्रीभगवान्‌की माया जो युक्तिविरुद्ध परिलक्षित होनेवाली घटनाको भी घटित कर दे—

निर्गुण निष्क्रिय सूक्ष्म निर्विकल्प निरञ्जनम्॥
अनिरूप्यस्वरूप यन्मनोवाचामगोचरम्।
सत्समृद्ध स्वत सिद्ध शुद्ध बुद्धमनीदृशम्।
एकमेवाद्वय ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन॥

(अध्यात्मोपनिषत् ६२ ६३)

आदि श्रुतियोके अनुशीलनसे यह तथ्य सिद्ध होता है कि ब्रह्म समस्त क्रियाओ गुणो और विकारोसे विरहित है—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति' (तैत्तिरीय० ३।१) *आदि श्रुतियोके अनुशीलनसे यह तथ्य सिद्ध होता* है कि इस जगत्‌की सृष्टि स्थिति, सहति ब्रह्मसे ही होती है। उक्त दोनो प्रकारकी श्रुतियोमे वस्तुत विगान नहीं है। स्वरूपलक्षणलक्षित सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म वस्तुत निर्गुण, निष्क्रिय निर्विकार ही है, वही स्वशक्तिभूता त्रिगुणमयी अनिर्वचनीया मायाके योगसे तटस्थलक्षणलक्षित ईश्वररूपसे उत्पत्त्यादि कृत्योका निर्वाहक होता है। अभिप्राय यह है कि उसीमे त्रिगुणमयी प्रकृतिकृत व्यवहार आरोपित होते हैं। दाहिकाशक्तिसे दाहकी निष्पत्ति होनेपर भी अग्निको दाहक माना जाना *जिस प्रकार समीचीन है, उसी प्रकार मायाशक्तिसे* सृष्ट्यादिकी निष्पत्ति सम्भव होनेपर भी ब्रह्मको स्रष्टादि माना जाना सर्वतोभावेन समीचीन है।

'सच्छब्दवाच्यमविद्याशबल ब्रह्म। ब्रह्मणोऽव्यक्तम्। अव्यक्तान्महत्। महतोऽहङ्कार। अहङ्कारात्पञ्चतन्मात्राणि। पञ्चतन्मात्रेभ्य पञ्चमहाभूतानि। पञ्चमहाभूतेभ्योऽखिल जगत्॥' (त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत् १) आदि श्रुतियाँ उक्त रहस्यका प्रतिपादन स्वय ही करती हैं—

त्वत्तोऽस्य जन्मस्थितिसयमान् विभो
वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात् ।
त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यते
त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणै ॥

(श्रीमद्भा० १०।३।१९)

स्वय वेदाने परमात्माको सकल विरुद्धधर्माश्रयरूपसे निरूपित किया है। 'अजायमानो बहुधा वि जायते' (यजु० ३१।१९) यहाँ परमात्माको अजायमान और विशेपरूपसे जन्मयुक्त माना गया है। 'स एव मृत्यु सोऽमृतम्' (अथर्व० शौ० स० १३।४।३।२५)-मे परमात्माको मृत्यु और अमृत दोनो ही कहा गया है। 'तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तदन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत ' (यजु० ४०।५)-मे उसे चलनक्रियाशील और चलनक्रियारहित, दूर और समीप भीतर और बाहर बताया गया है। 'नासदासीद, नो सदासीत्' (ऋ०शा०स० १०।१२९।१)-मे न सत् था न असत् था—कहकर परमात्मशक्तिको भी परस्पर विरुद्धरूपसे निरूपित किया गया है। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' (श्वेता० ३।२०)-मे भगवत्तत्त्वको अणु-से-अणु और महान्-से-महान् कहा गया है। 'सर्वेन्द्रियगुणाभास सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' (श्वेता० ३।१७, गीता १३।१४)-मे उसे इन्द्रियसहित और इन्द्रियरहित कहा गया है। 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' (श्वेता० ३।१९) की उक्तिसे परमात्माको निराकार और 'सर्वत पाणिपाद तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्' (श्वेता० ३।१६)-की उक्तिसे साकार कहा गया है। 'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यश ' (यजु० ३२।३)-की उक्तिस श्रुतिने परमात्माको अनुपमेय कहा है तथा 'सवत्सरस्य प्रतिमा या त्वा रात्र्युपास्महे। सा न आयुष्मतीं प्रजा रायस्पोषेण स सृज' (अथर्व० ३।१०।३)—'हे रात्रि। सवत्सर (प्रजापति, परमात्मा)-की प्रतिमा (मूर्ति) जिस तेरी हम उपासना करते हैं, वह तू प्रतिमा हमारी प्रजाको धन-पुष्टि आदिसे सयुक्त कर।'—की उक्तिसे परमात्माकी मूर्तिका प्रतिपादन किया गया है।

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिण ।
उपासकाना कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥

(रामपूर्वतापिन्युपनिषत् १।७)

'ब्रह्म चिन्मय (चिन्मात्र), अद्वितीय निष्कल और अशरीर है। उपासकोकी कार्यसिद्धिके लिये उसके विविध अवतार-विग्रहकी श्रुतियोने उद्भावना की है, जो कि भक्तोद्वारा भाव्य (भावनायोग्य) है।'

—आदि वचनोंके अनुसार सगुणकी तात्त्विक निर्गुणरूपता और निर्गुणकी औपाधिक सगुणरूपताके कारण सगुण-निर्गुणम ऐक्य सिद्ध होता है।

जैसे स्वत शुद्ध स्फटिकमे हिङ्गुलके योगसे रक्तत्वकी और स्फटिकाशके प्रमोपसे पद्मरागत्वकी प्रतीति होती है, उसीमे चन्द्रिकाके योगसे इन्द्रनीलत्वकी स्फूर्ति होती है, वैसे ही स्वप्रकाश ब्रह्ममे मायायोगसे ईश्वरत्व (परमात्मत्व)-की प्राप्ति होती है। उसीमे चिदश (ब्रह्मत्व)-के प्रमोपसे और मायाके दार्ढ्यसे भगवान् और लीलावतार श्रीराम-कृष्णादिकी स्फूर्ति होती है—

मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभिर्युत ।
रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथाऽच्युत ॥

(पाञ्चरात्र)

'जिस प्रकार नाना छविधारी वैदूर्य नामक मणि नील-पीतादिसे युक्त रूपभेद (विविधता)-को प्राप्त होती है, उसी प्रकार भक्तोकी भावनाके योगसे भगवान् अच्युत रूपविशेषको प्राप्त होते हैं।'

अवतारविग्रह सर्वशक्तियो, विशेपणो और सर्वगुणोसे सम्पन्न है। यद्यपि चरम कार्य पृथ्वीमे भी गन्धादि सर्वविशेपताओका सनिवेश है तथापि वह भौतिकतारूप दूपणसे दूपित है। अविद्या काम और कर्मोंसे असस्पृष्ट अवतार-विग्रहमे सकल सुन्दरताओका सनिवेश और विशेपताओका उपनिवेश तथा भौतिकताका असनिवेश होता है। निजभक्तोपर अनुग्रह करनेकी भावनासे ही भगवान् अवतरित होते हैं—

बिभ्रद् वपु सकलसुन्दरसन्निवेश
कर्माचरन् भुवि सुमङ्गलमाप्तकाम ।

(श्रीमद्भा० ११।१।१०)

अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।
नेशे महि त्ववसितु मनसाऽन्तरेण
साक्षात्तवैव किमुतात्मसुखानुभूते ॥
त्व भावयोगपरिभावितहृत्सरोज

आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुसाम्।
यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत्तद्वपु प्रणयसे सदनुग्रहाय॥
(श्रीमद्भा० १०।१४।२ ३।९।११)

ध्यान रहे, गुलाबके बीज (अङ्कुरोत्पादिनी शक्तिविशिष्ट उपादान)-मे पत्तियो और काँटाको उत्पन्न करनेवाली शक्तियोकी अपेक्षा जिस प्रकार दिव्य पराग, मकरन्दसे समन्वित पुष्पाको समुत्पन्न करनेवाली शक्ति विलक्षण है, उसी प्रकार परमात्माम प्रपञ्चोत्पादिनी और प्राणियाको उत्पन्न करनेवाली शक्तियाकी अपेक्षा स्वयको श्रीराम-कृष्ण-शिवादिरूपोमे समुत्पन्न करनेवाली शक्ति विलक्षण है।

यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि भगवद्विग्रह कारणोपाधिक (मायोपहित) चैतन्यकी उपाधि मायानिष्ठ विशुद्ध सत्त्व निमित्तिक होनेसे तत्त्वान्तर सज्ञक विजातीय परिणाम न होनेसे निर्विकार है। लीलासौख्यकी दृष्टिसे परिच्छिन्न परिलक्षित होनेपर भी आकाश, अह और महत्की अपेक्षा भी विभु है—

यद्यपि साकारोऽय तथैकदेशी विभाति यदुनाथ ।
सर्वगत सर्वात्मा तथाप्यय सच्चिदानन्द ॥
(प्रबोधसुधाकर २००)

(३) भगवत्प्रेमतत्त्वकी तात्त्विक मीमासा— सर्वानुभव-सिद्ध यह तथ्य है कि आत्मा सर्वाधिक प्रीतिका विपय हे। अन्याम आत्मापेक्षया किञ्चिन्न्यून प्रीति स्वभावसिद्ध है। 'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रिय भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवति।' (बृहदा० २।४।५, ४।५।६) इस अनुभवसिद्ध श्रुतिके वलपर आत्माकी सुखरूपता सिद्ध है, न कि अन्योकी। 'सुखमस्यात्मनो रूपम्' (श्रीमद्भा० ७।१३।२६)—'यह आत्मा साक्षात्सुखरूप ही है।'

'यो वै भूमा तत्सुख नाल्पे सुखमस्ति' (छान्दोग्य० ७।२३।१)-के अनुसार भूमासज्ञक परमात्माकी सुखरूपता सिद्ध है न कि किसी अन्यकी। ऐसी स्थितिम जीवनिष्ठ असन्मान्यतासुलभ परमात्माकी परोक्षता और आत्माकी परिच्छिन्नता और सद्वितीयताका अपलाप परमात्माकी परप्रेमास्पदता और अक्षय सुखकी उपलब्धिके लिये अनिवार्य है—

सर्वेषामपि भूताना नृप स्वात्मैव वल्लभ ।
इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि॥
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥
वस्तुतो जानतामत्र कृष्ण स्थास्नु चरिष्णु च।
भगवद्रूपमखिल नान्यद् वस्त्विह किञ्चन॥
सर्वेषामपि वस्तूना भावार्थो भवति स्थित ।
तस्यापि भगवान् कृष्ण किमतद्वस्तु रूप्यताम्॥
(श्रीमद्भा० १०।१४।५० ५५—५७)

'राजन्! ससारके सभी प्राणी अपने आत्मासे ही सर्वाधिक प्रेम करते हैं। पुत्रसे धनसे या अन्य ममतास्पदसे जो प्रेम होता है, वह इसलिये कि वे वस्तुएँ अपने आत्माको प्रिय लगती हैं।'

'श्रीकृष्णको ही तुम सब आत्माओका आत्मा समझो। जगत्कल्याणके लिये ही वे योगमायाका आश्रय लेकर देहधारीक समान जान पडते हैं।'

'जो लोग भगवान् श्रीकृष्णके वास्तविक स्वरूपको जानते हैं, उनके लिये तो इस जगत्मे जो कुछ भी चराचर पदार्थ हैं और प्रपञ्चातीत परमात्माके विविध अवतार है, वे सभी श्रीकृष्णस्वरूप ही हैं। श्रीकृष्णके अतिरिक्त कुछ भी प्राकृत-अप्राकृत पदार्थ है ही नहीं।'

'सभी वस्तुओका अन्तिमरूप अपने कारणम स्थित होता है। उस कारणके भी परम कारण हैं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र। ऐसी स्थितिम किस वस्तुका श्रीकृष्णसे पृथक् प्रतिपादन करं।'

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लव
महत्पद पुण्ययशो , मुरारे ।
भवाम्बुधिर्वत्सपद पर पद
पद पद यद् विपदा न तेषाम्॥
(श्रीमद्भा० १०।१४।५८)

'जिन्हाने पुण्यकीर्ति मुकुन्द मुरारिके पदपल्लवकी नौकाका आश्रय लिया है जा सत्पुरुषाका मर्वस्व है उनके लिये यह भवसागर बछडक खुरके गढेके समान है। उन्‍ परमपदका प्राप्ति हा जाती है और उनके लिय विपत्तियाका निवाम-स्थान—यह ससार नहीं रह जाना।'

वास्तवमे समस्त कल्याणोकी अवधि आत्मा है और आत्मज्ञान प्रदान करनेवाले श्रीहरि ही सम्पूर्ण प्राणियोके प्रिय आत्मस्वरूप हैं। जिस प्रकार वृक्षकी जड सींचनेसे तना शाखा उपशाखादि सभीका पोषण हो जाता है तथा भोजनद्वारा प्राणोको तृप्त करनेसे समस्त इन्द्रियाँ पुष्ट होती हैं, वैसे ही श्रीभगवान्‌की पूजा ही सबकी पूजा है—

श्रेयसामपि सर्वेषामात्मा ह्यवधिरर्थत ।
सर्वेषामपि भूताना हरिरात्माऽऽत्मद प्रिय ॥
यथा तरोर्मूलनिषेचनेन
तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखा ।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणा
तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ॥

(श्रीमद्भा० ४।३१।१३-१४)

भगवान् श्रीहरि सम्पूर्ण प्राणियोके ईश्वर, आत्मा और परम प्रियतम हैं, वे अपने ही बनाये हुए स्थूल-सूक्ष्म पञ्चभूतादिविनिर्मित शरीरोमे जीवरूपसे प्रतिष्ठित और प्रतिपादित हैं—

सर्वेषामपि भूताना हरिरात्मेश्वर प्रिय ।
भूतैर्महद्भि स्वकृतै कृताना जीवसञ्ज्ञित ॥

(श्रीमद्भा० ७।७।४९)

सुखाभिव्यञ्जिका मनोवृत्ति प्रेम है। प्रेम मूकद्वारा प्राप्त रसास्वादनतुल्य है। आन्तर मधुर वेदनारूप अथवा सरस मनोवृत्तिरूपा प्रीति है। 'रसो वै स ' (तैत्तिरीय० २।७) आदि श्रुतियोके अनुसार रसस्वरूप, रसिकशेखर परमात्मा, उनकी बाह्याभ्यन्तर अभिव्यक्ति और उनमे सख्यादिभावसे अनुरक्ति प्रेम है। अप्राप्त प्राप्त और विनष्ट—त्रिविध-विषयक प्रेम सम्भव है।

चित्त घनीभूतालाक्षातुल्य कठिन है। भगवद्रसिकोके श्रीमुखसे श्रीहरिके प्रभाव, स्वभाव, स्वरूप, रूप, नाम, धाम और लीलाका श्रवण करते रहनेपर चित्त द्रवतायुक्त होता है। द्रवीभूत स्नेहिल अन्त करणपर प्रभुदर्शनजनित सस्कारके उत्तरोत्तर सुपुष्ट होते रहनेपर उत्तरोत्तर अभिव्यक्त प्रभु ही प्रेम हैं। स्निग्ध तरल, निर्मल, शुद्ध, समुद्रोन्मुख, गङ्गाप्रवाहवद् भगवद्गुणगणश्रवणादिसुलभ द्रवावस्थापन्न चित्त और चित्तापहारक चैत्यवपु (अन्तर्यामी) प्रभुमें प्रगाढतादात्म्यापत्ति प्रेमाभक्ति है—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षण भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्ति पुरुषोत्तमे॥

(श्रीमद्भा० ३।२९।११-१२)

'जिस प्रकार गङ्गाका प्रवाह अखण्डरूपसे समुद्रकी ओर बहता रहता है, उसी प्रकार मेरे गुणाके श्रवणमात्रसे मनोगतिका तैलधारातुल्य अविच्छिन्नरूपसे मुझ सर्वान्तर्यामीके प्रति हो जाना तथा मुझ पुरुषोत्तममे निष्काम और अनन्य प्रेम होना—निर्गुण (विशुद्धसत्त्वात्मिका) भक्तियोगका लक्षण कहा गया है।'

प्रेम प्रियतम और प्रेमीकी मधुर विवशताको द्योतित करता है। हृदयनिबद्ध प्रियतम प्रभु प्रेमीके प्रेमपाशसे स्वयको मुक्त नहीं करना चाहते। प्रेमी लोककृत तथा दैवकृत विविध यातना प्राप्त करते रहनेपर भी प्रभुको छोड नहीं सकते। अतएव प्रियतम और प्रेमीका परस्पर मधुर वैवश्य प्रेम है—

विसृजति हृदय न यस्य साक्षा-
द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाश ।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्म
स भवति भागवतप्रधान उक्त ॥

(श्रीमद्भा० ११।२।५५)

'विवशतासे नामोच्चारण करनेपर भी सम्पूर्ण अघराशिको नष्ट कर देनेवाले स्वय भगवान् श्रीहरि जिसके हृदयको क्षणभरके लिये भी नहीं छोडते हैं क्योकि उसने प्रेमकी रस्सीसे उनके चरणकमलोको बाँध रखा है वास्तवमे ऐसा पुरुष ही भगवान्‌के भक्तामे प्रधान है।'

क्यो न हो। विविध बन्धनोमे प्रेमरज्जुकृत बन्धन विलक्षण है। दारुके भेदनमे निपुण भ्रमर भी पद्मकोशमे निबद्ध रहनेपर कमलदलके भेदनमे असमर्थ होता है—

बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि
प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत् ।
दारुभेदनिपुणोऽपि षडङ्घ्रि-
र्निष्क्रियो भवति पङ्कजकोशे॥

(श्रीधरस्वामिपाद)

जहाँ सभी रस आर भाव समुद्रमे तरङ्गतुल्य उन्मज्जित आर निमज्जित होत हैं, वह प्रेम नामसे प्रथित ह—

सर्वे रसाश्च भावाश्च तरङ्गा इव वारिधौ।
उन्मजन्ति निमजन्ति यत्र स प्रेमसञ्ज्ञक ॥

(चैतन्यचन्द्रोदय ३।८)

आत्मीय भावसे आकर्षण प्रेमोत्पादक हे। आत्मभावम प्रतिष्ठा प्रमीकी पूणता हे। ममताका पयवसान अहता ह। आसक्तिका पर्यवसान अभिष्वङ्ग है। ममतास्पदम अहताकी घनता अभिष्वङ्ग ह। आसक्ति आर अभिष्वङ्गके विषय पुत्र दार ओर गृहादि हैं। आत्मामे परम प्रीति अशी-सरीखे प्रभुको आत्मीय सिद्ध करती है। अशी-सरीखे प्रभुसे निज एकताकी अनुभूति प्रभुकी आत्मरूपता सिद्ध करती ह। आत्मस्वरूप श्रीहरिसे अतिरक्ताकी असत्ता प्रभुकी अद्वितीयता सिद्ध करती ह। अतएव आत्मस्वरूप श्रीहरि सर्वोत्कृष्ट ही नहीं, अपितु एकमात्र प्रेमपात्र हैं।

लीलासौख्यकी अभिव्यक्तिक लिये प्रमास्पद प्रेमाश्रय ओर प्रेमको लेकर त्रिविधता है, परतु तरङ्गायित त्रिपुटीका आश्रय स्वय प्रमतत्त्व तुरीय ह। अद्वितीय प्रमतत्त्वम तुरीयत्व भी आपचारिक (अवास्तविक) ही हे—

'तुरीय त्रिपु सन्ततम्' (श्रीमद्भा० ११। २५। २०)

'मायासख्या तुरीयम्' (शाङ्करभाष्य मा०का० मङ्गला०)

प्रेमास्पदके प्रकाशव्यूहरूप प्रमास्पद, प्रमी आर प्रमम त्रिरूपता उसी प्रकार प्रातीतिक है, जिस प्रकार योगिविरचित कायव्यूहामे विविधता प्रातीतिक है।

कृष्णव्रता (कृष्णरता) कृष्णमनुस्मरन्तो
रात्रौ च कृष्ण पुनरुत्थिता ये।
ते कृष्णदहा प्रविशन्ति कृष्ण-
माज्य यथा मन्त्रहुत हुताशे॥

'जिन्हाने श्रीकृष्णभजनका ही व्रत ल रखा है, जा श्रीकृष्णम ही अनुरक्त हें, जो श्रीकृष्णका निरन्तर स्मरण करत हुए ही रात्रिमे सोत हें और उन्हींका स्मरण करत हुए सबेरे उठते हैं, व श्रीकृष्णस्वरूप होकर उनम इस तरह मिल जाते हैं, जसे मन्त्र पढकर हवन किया हुआ घृत अग्रिम मिल जाता ह'—

कृष्णभाव (भक्ति)-रसभाविता मति
क्रीयता यदि कुतोऽपि लभ्यते।
तत्र लौल्यमपि मूल्यमकल
जन्मकोटिसुकृतैर्न लभ्यते॥

(पद्यावली १४)

'हे सज्जनो। श्रीकृष्णभक्तिरसभावित (सुवासित) मति यदि किसी स्थलपर मिल जाय तो तुरत खरीद लो। उसका मूल्य केवल लालसा ह। श्रीकृष्णसेवासुख-लालसाक विना श्रीकृष्णभक्तिरसभावित मति कराडा जन्माक सुकृतासे भी नहा मिल सकती।'

प्रेम हू सब साधन कौ सार

प्रेम हू सव साधन को सार।
भगवत् प्राप्ति प्रेम साधन त, हाय प्रगट प्रभु हार॥ १॥
ज्या श्रम रहित वासना अविरल वढत राग आधार।
त्या अनुराग अधार प्रम का, प्रभु प्रति हाय अपार॥ २॥
तहँ न राग द्वेषादि द्वन्द्व जग, मुक्त सकल दु ख भार।
परमानद नित्य माधुर्य रस, रसिकन कौ आधार॥ ३॥
प्रेम रूप-हरि, प्रम स्वय हरि, वह रस रूप अगार।
साधन, सिद्धि, साध्य, साधक, सव प्रभु ही प्रेमाकार॥ ४॥
मति गति, भगति, कम, जप, तप, मख, सम दम नियम अपार।
'कृष्णगुपाल प्रम विनु सून, सव कहँ प्रेम अधार॥ ५॥

—प० श्रीकृष्णगोपालाचायजी

भगवत्प्रेमके प्रचार-प्रसारसे प्राणियोंका परम कल्याण

(अनन्तश्रीविभूषित तमिलनाडुक्षेत्रस्थ काञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्रीजयेन्द्रसरस्वतीजी महाराज)

यह भारतभूमि ऋषि-मुनिया एव साधु-महात्माओकी जन्मभूमि एव निवासस्थली रही है। अत सृष्टि स्थिति, सहार एव विश्वका सचालन और पालन—इन पाँच कृत्योको सम्पन्न करनेवाले परमात्माके अवताराकी भी क्रीडास्थली रही है। उन्हीं भगवान्के श्वास-नि श्वासभूत चारा वेद हैं और उन्हीं वेदाके व्याख्यास्वरूप इतिहास-पुराण धर्मशास्त्र आदि ग्रन्थ हैं। इस घोर कलियुगमे नित्य सुस्थिर रहनेवाले सनातन धर्मका ह्रास होने लगता है। लोगाकी धर्मम रुचि कुछ कम हो जाती है। ऐसी स्थितिम सत-महात्माओके प्रयासके द्वारा यह सनातन धर्म भारतम सुरक्षित रहता है।

इसी दिशामे 'कल्याण' पत्रके सचालकाका 'भगवत्प्रेम-अङ्क' प्रकाशित करनेका प्रयत्न हो रहा है। इस पत्रके द्वारा प्रतिवर्ष कोई विशेषाङ्क प्रकाशित कर धर्म और सदाचारका विश्वम प्रचार-प्रसार किया जाता है। 'भगवत्प्रेम-अङ्क' से देशवासिया और विश्वके सज्जनामे भी परस्पर भगवत्प्रेम और सद्व्यवहारका प्रचार-प्रसार होगा। इस प्रयत्नसे सम्पूर्ण विश्वके सभी प्राणियाका परम कल्याण होगा और विशेषरूपसे मानव-समाजका तो आत्यन्तिक श्रेय होगा।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको उपदेश देते हुए सभी लोगोको अपने-अपने धर्मम निरत रहनेको कहा है—इसमे सभी देश, सभी वर्ण और सभी आश्रमाम मनुष्याका अपने-अपने कर्तव्यपालनसे सम्पूर्ण विश्व तथा पृथ्वीपर निवास करनेवाले प्राणियोका परम कल्याण होता है और सिद्धि प्राप्त होती है—

स्वे स्वे कर्मण्यभिरत ससिद्धि लभते नर ।
स्वकर्मनिरत सिद्धि यथा विन्दति तच्छृणु॥
यत प्रवृत्तिर्भूताना येन सर्वमिद ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानव ॥

(१८।४५-४६)

भगवान्की कृपासे 'कल्याण' पत्रके इस विशेषाङ्कका अधिकाधिक प्रचार-प्रसार हो—यही हमारी शुभ कामना है। आशा है सभी लोग यथाशक्ति धर्म और सद्भावनाके प्रचार-प्रसारमे अपना हाथ बटायगे।

भगवान्का प्रेम और शक्ति सदा मेरे साथ है

मै जीवनकी किसी भी परिस्थितिमे भयभीत या परास्त नहीं होता, क्योंकि मेरे हृदयमे स्थित भगवान् मेरी सफलताके हेतु है। भगवान्के लिये कोई भी स्थिति ऐसी पेचीदा अथवा कठिन नहीं है, जिसको व सुलझा न सक अथवा जिसका सर्वानुकूल समाधान वे न कर सक। अतएव अपने मनको क्षुब्ध करनेवाली प्रत्येक पेचीदा या कठिन परिस्थितिको सर्वसमाधानविधायक भगवान्को सौपकर मै निश्चिन्त होता हूँ।

जब मै अस्वस्थ होता हूँ, तब न तो मै अपनी अस्वस्थताके विषयमे कुछ सोचता हूँ और न दूसरासे उसके सम्बन्धमे कुछ कहता-सुनता हूँ, प्रत्युत अपने हृदयमे इस विश्वासको दृढ करता हूँ कि सर्वरोगशामक भगवान् मेरे अन्तरमे अवस्थित है। जब कोई भय मुझे भयभीत करता है तो मै अपने हृदयम बार-बार इस विश्वासको दोहराता हूँ कि भगवान् सरक्षक एव साहसक रूपम नित्य मेरे साथ है। जब मन किसी भावी काल्पनिक अथवा वास्तविक विपत्तिकी आशङ्कासे भयभीत एव अस्थिर होने लगता है, तब मै इस विश्वासको परिपुष्ट करता हूँ कि जो भगवान् इस समय मेरे साथ है, वे ही भविष्यम भी मेरे साथ रहेगे।

सामने उपस्थित कठिनाइयोको—चाहे वे कितनी ही भीषण एव पेचीदा क्या न हा—मै विश्वासपूर्वक भगवान्के प्रेमपूर्ण और सौहार्दभरे सरक्षणम सौपता जाता हूँ और एक क्षणके लिये भी इस बातमे सदेह नहीं करता कि भगवान्का प्यार सब परिस्थितियोका सुन्दर-से-सुन्दर रूपमे समाधान कर रहा है।

मै भगवान्के प्रेम एव शक्तिके बलपर किसी भी परिस्थितिका स्थिरतासे सामना करनेमे समर्थ हूँ। भगवान्का प्रेम और शक्ति सदा मेरे साथ है।

सत्यप्रेम, गूढप्रेम, अगमप्रेम और तत्त्वप्रेमकी तात्त्विक मीमासा

(अनन्तश्रीविभूषित ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकाशीसुमेरुपीठाधीश्वर जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी श्रीचिन्मयानन्द सरस्वतीजी महाराज)

गोस्वामी तुलसीदासजीने श्रीरामचरितमानसमे श्रीरामभद्रके प्रति महाराज दशरथके प्रेमको 'सत्यप्रेम' कहा है, जनकजी और भरतजीके प्रेमको 'गूढप्रेम' माना है, भरत तथा श्रीरामके पारस्परिक प्रेमको 'अगमप्रेम' स्वीकार किया है तथा भगवती सीताके प्रेमको 'तत्त्वप्रेम' कहकर निरूपित किया है।

(१) सत्यप्रेम—कोपभवनम महारानी कैकेयीको मनाते हुए महाराज दशरथने दृढतापूर्वक यह भावना व्यक्त की—'मछली चाहे बिना पानीके जीती रहे और मणिधर सर्प भी चाहे बिना मणिके दीन-दु खी होकर जीता रहे, परतु मैं स्वभाववश ही कहता हूँ, मनम छल रखकर नहीं कि मेरा जीवन रामके बिना नहीं है'—

जिऐ मीन बरु बारि बिहीना। मनि बिनु फनिकु जिऐ दुख दीना॥
कहउँ सुभाउ न छलु मन माहीं। जीवनु मोर राम बिनु नाहीं॥

(रा०च०मा० २।३३।१-२)

महाराजने उक्त स्वभावको सत्य सिद्ध करते हुए निज प्रमाद और प्रबल प्रारब्धवश प्रिय पुत्र श्रीरामके वियोगका कुयोग सधनेपर प्रिय शरीरको श्रीरामविरहम तृणवत् त्याग दिया। अतएव उनका प्रेम 'सत्यप्रेम' सिद्ध होता है—

बदउँ अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद।
बिछुरत दीनदयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ॥

(रा०च०मा० १।१६)

क्यो न हो। मनुष्यलोकमे कपटरहित प्रेम होता नहीं। कदाचित् किसीमे हो भी जाय तो विरहयोग सधता नहीं और विरहका योग भी सध जाय तो जीवन सम्भव होता नहीं—

कैतवरहित प्रेम न तिष्ठति मानुषे लोके।
यदि भवति कस्य विरह सति विरहे को जीवति॥

(वैष्णवतोषिणी १०।३१।१)

(२) गूढस्नेह—दम्भी योगमे भोगको दुराकर रखते हैं जबकि विदेहराज जनकजीने श्रीराम-प्रेमरूप योगको भोगमे दुराकर रखा था, परतु वह प्रेम श्रीरामभद्रके दर्शनसे भोगको भगाकर प्रकट हो गया। अतएव श्रीरामभद्रके प्रति विदेहराजका वह प्रेम 'गूढस्नेह' (गूढप्रेम) कहा गया है—

प्रनवउँ परिजन सहित बिदेहू। जाहि राम पद गूढ सनेहू॥
जोग भोग महँ राखेउ गोई। राम बिलोकत प्रगटेउ सोई॥

(रा०च०मा० १।१७।१-२)

ह्लादिनीसारसर्वस्वभूता सीताजीके हृदयमे श्रीरामभद्रके प्रति तथा सवित्सारसर्वस्व श्रीरामभद्रके हृदयम देवी सीताके प्रति सनिहित प्रेमके मूर्तरूप श्रीभरतजी हैं। उन्हे श्रीभरद्वाज आदि महर्षियोंने साकार रामस्नेह, रामप्रेमपीयूष और रामभक्तिरस कहा है—

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु राम सनेहू॥
तुम्ह कहँ भरत कलक यह हम सब कहँ उपदेसु।
राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेसु॥
पूरन राम सुपेम पियूषा। गुर अवमान दोष नहिं दूषा॥

(रा०च०मा० २।२०८।८ दो० २०८ २०९।५)

श्रीभरतजीका पवित्र आचरण भक्तजनोको अनुरञ्जित करनेवाला भवभारका भञ्जन करनेवाला तथा रामस्नेहरूपी सुधाकर (चन्द्रमा)-का सारसर्वस्व है—

जन रजन भजन भव भारू। राम सनेह सुधाकर सारू॥

(रा०च०मा० २।३२६।८)

यदि श्रीसीतारामजीके प्रेमपीयूषसे परिपूर्ण भरतजीका जन्म भूतलपर न हुआ होता तो मुनियोके मनके लिये भी अगम यम-नियम-शम-दमादि कठिन व्रतोका आचरण कौन करता ? दु ख-दाह-दरिद्रता-दम्भादि दोषोंको सुयशके बहाने कौन हरण करता ? कलिमल-ग्रसित मनुष्योको हठपूर्वक श्रीरामभक्त कौन बनाता—

सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को॥
दुख दाह दारिद दभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥

(रा०च०मा० २।३२६ छद)

कौसल्याजीके मनम भरतजीके प्रति अधिक चिन्ता थी। उन्होने मिथिलेश्वरीको चित्रकूटमे भरतजीके शील-स्वभावको समझाते हुए कहा कि श्रीरामके प्रति भरतके

हृदयम 'गूढस्नेह' है। भले ही उन्हे माता-पिताने राज्य दिया है, उनके राज्यश्री प्राप्त करनेसे श्रीरामभद्रको परम प्रसन्नता है मन्त्रिमण्डलका समर्थन प्राप्त है, प्रजा भी अनुकूल है, हमारा भी पूर्ण समर्थन उन्हे सुलभ है, परतु वे रामविमुख होकर राज्यश्री लाभ कर सुखपूर्वक अयोध्याम निवास करते हुए राज्य करेगे, ऐसा मुझे नहीं लगता। वे राज्याधिकार सुलभ होनेपर भी वनम निवास करगे या कहीं अन्यत्र वनवासिया-सरीखे जीवन-यापन करते हुए अवधि व्यतीत करगे, ऐसा प्रतीत होता हे—

गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहे नीक मोहि लागत नाहीं॥

(रा०च०मा० २।२८४।४)

हुआ भी ऐसा ही। श्रीभरतजीने नन्दिग्रामम‍े निवास कर नियम, व्रत और भक्तिभावपूर्वक अवधि व्यतीत होनेकी प्रतीक्षा करते हुए राघवेन्द्र श्रीरामभद्रके प्रति अपने गूढप्रमको प्रकट कर दिया।

इसी प्रकार रामभक्त भरतजीके रामस्नेहसुधारससिक्त वचनाको सुनकर समम्त अवधवासी अति प्रसन्न हुए थे—

भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे। राम सनेह सुधाँ जनु पागे॥

(रा०च०मा० २।१८४।१)

रामवियोगविषमविपदग्ध रामभक्तोको भरतजीके रामस्नेहसुधारसस्निग्ध वचन उसी प्रकार दाहमुक्त कर स्फूर्तिप्रद सिद्ध होते है, जिस प्रकार सबीज मन्त्र सुनकर मृतप्राय मूर्च्छित व्यक्ति जग जाते है और नवीन स्फूर्ति-लाभ करते हे—

लोग बियोग बिषम बिष दागे। मत्र सबीज सुनत जनु जागे॥

(रा०च०मा० २।१८४।२)

कौसल्या-सुमित्रादि माताआ वसिष्ठादि गुरुजनो, मन्त्रिगण और प्रबुद्ध नागरिकोकी दृष्टिमे भरतजी श्रीरामप्रेमकी साक्षात् मूर्ति ही मान्य हैं—

मातु सचिव गुर पुर नर नारी। सकल सनेहँ बिकल भए भारी॥
भरतहि कहहिं सराहि सराही। राम प्रेम मूरति तनु आही॥

(रा०च०मा० २।१८४।३-४)

श्रीभरतजी उनकी दृष्टिम श्रीरामजीको प्राणाके समान प्यारे हें—

तात भरत अस काहे न कहहू। प्रान समान राम प्रिय अहहू॥

ऐसे भरतजी सबके प्राणप्रिय हो गये। सबने उनके जीवनको धन्य समझा और उनके शील तथा स्नेहकी भूरि-भूरि सराहना की—

धन्य भरत जीवनु जग माहीं। सीलु सनेहु सराहत जाहीं॥

(रा०च०मा० २।१८५।४)

चित्रकूट प्रस्थान करनेके पूर्व भरतजीन अयोध्याको श्रीरामजीकी सम्पत्ति समझकर उसकी सुरक्षाका पूर्ण प्रबन्ध किया। प्रेमावेशमे प्राप्त दायित्वसे मुकरना या उसके निर्वाहमे प्रमाद बरतना भरतजी-जैसे आदर्श भक्ताके लिये असम्भव है। श्रीभरतजीकी दृष्टिमे स्वामीके हितको करनेवाला ही सेवक है। स्वामीके हितको साधते समय भले ही उन्हे कोई स्वार्थी कहे, अनेक दोषारोपण भी क्यो न करे तो भी उसकी चिन्ता श्रीभरतजी-जैसे प्रबुद्ध भक्तके लिये उपयुक्त नहीं—

करइ स्वामि हित सेवकु सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई॥

(रा०च०मा० २।१८६।५)

श्रीभरतजीने गुरु वसिष्ठसे आशीर्वाद और परिचय-प्राप्त रामभक्त निषादराजको हृदयसे लगाकर निज विनय और प्रेमका परिचय देकर सबका हृदय जीत लिया। तीर्थराज प्रयागसे अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष न माँगकर जन्म-जन्ममे श्रीरामभद्रके चरणोमे वरदानस्वरूप रति चाहकर, श्रीरामप्रेमको पञ्चम पुरुषार्थ सिद्ध किया—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन॥

(रा०च०मा० २।२०४)

श्रीरामजी कदाचित् सर्वज्ञताको तिलाञ्जलि देकर प्राकृत पुरुषोके तुल्य भरतजीको कुटिल समझने लग जायँ, लोग गुरुद्रोही और साहिबद्रोही कहने लग जायँ, इसकी चिन्ता छोडकर भरतजी त्रिवेणीसे यही वर माँगते है कि श्रीसीतारामचरणोमे मेरा प्रेम आपके अनुग्रहसे प्रतिदिन बढता ही रहे—

जानहुँ रामु कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुर साहिब द्रोही॥
सीता राम चरन रति मोर। अनुदिन बढउ अनुग्रह तोर॥

(रा०च०मा० २।२०५।१-२)

क्यो न हो! मेघ चाहे जन्मभर चातककी सुध भुला दे और जल माँगनेपर वह चाहे वज्र तथा पत्थर (ओले)

ही गिराये, पर चातककी रटन घटनेसे तो उसकी टेकरूपी विभूति ही नष्ट हो जायगी, चातककी भलाई तो प्रेम बढानेमे ही सर्वतोभावेन सनिहित है।

जेसे तपानेसे सोनेपर चमक आ जाती है, वैसे ही प्रियतमके चरणोमे प्रमका नियम निभानेपर प्रेमी भक्तका गौरव बढ जाता है—

जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ। जाचत जलु पबि पाहन डारउ॥
चातकु रटनि घटे घटि जाई। बढे प्रेमु सब भाँति भलाई॥
कनकहिं बान चढइ जिमि दाहे। तिमि प्रियतम पद नेम निबाहे॥
(रा०च०मा० २।२०५।३—५)

वस्तुत मधुर अतृप्तिसे युक्त प्रेमपक्षमे नित्य वृद्धि सम्भव होनेपर भी पूर्णिमाकी तिथिका प्रवेश नहीं है। प्रेमीका प्रेम तभी परिपुष्ट माना जाता है जब प्रेष्ठसे भी निज प्रेमको दुराकर रखनेकी भावना उसके हृदयमे अवतरित होती है। प्रेमगोपनमे दक्ष भक्त ही तत्सुखसुखित्वकी भावनाम सर्वोत्कृष्ट गोपीभावसे भावित माना जाता है। मानसपटलपर प्रतिष्ठित प्रियतमका मानस-सयोग ही जब प्रेमीके लिये प्रियतमका सश्लेष सिद्ध होता है तथा मानस-भवनमे भावित प्रेष्ठका विश्लेष ही जब प्रेमीके लिये वियोग बन जाता है, तब बाह्य सयोग-वियोग-निरपेक्ष प्रेम परिपुष्ट माना जाता हे।

शुचिता ओर सत्यसे सम्पन्न स्नेह तथा शील-युक्त भरतजीका प्राप्त करके लोक और वेद—दोनो ही प्रतिष्ठित हुए।

विधिकी सीमामे लोक-वेदसम्मत राज्यश्रीका लाभ करके भी भरतजी उसके भोक्ता और उपभोक्ता नहीं बने। उन्हाने हृदयदाहको दूर करनेके लिये श्रीरामजीसे मिलनेका निर्णय लिया जिसे लोक और वेदके मर्मज्ञाने भी अतिश्रेष्ठ समझा। लोक-वेद-मर्मज्ञ देवगुरु बृहस्पतिजीके शब्दाम—

भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही॥
(रा०च०मा० २।२१८।७)

सारा जगत् श्रीरामजीको जपता है परतु श्रीरामजी जिन्हे जपते हैं उन भरतजीके समान श्रीरामजीका प्रेमी भला अन्य कौन होगा?

श्रीरामभद्रके चरणकमलामें अरति अर्थात् श्रीरामप्रेमकी अनभिव्यक्ति भवरोगका हेतु है। वल्कलवसनधारी बटोही श्रीरामका दर्शन जिन स्थावर-जङ्गम प्राणियोने किया और सौभाग्यवश जो स्वयको श्रीरामजीकी दृष्टिका विषय बना पाये, वे सभी परमपदके योग्य हुए। परतु जब विरही भरतका दर्शन उन्हे सुलभ हुआ तथा जब वे भरतजीकी दृष्टिका विषय बने, तब उनका भवरोग ही मिट गया, अर्थात् उनम श्रीरामप्रेमका द्रुतगतिसे सञ्चार हो गया और वे परम पदको प्राप्त हो गये—

जड़ चेतन मग जीव घनेरे। जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥
ते सब भए परम पद जोगू। भरत दरस मेटा भव रोगू॥
(रा०च०मा० २।२१७।१-२)

भरतजीका यह लोकोत्तर महत्त्व भी श्रीरामजीके अनुग्रहका ही फल समझना चाहिये। एक बार श्रीराम-नाम कहनेपर भी जब व्यक्ति तरन-तारन (स्वय तरनेवाला और अन्योको तारनेवाला) हो जाता है, तब श्रीरामजी स्वय जिसका स्मरण करते हो अर्थात् नामसहित ध्यान करते हा, अभिप्राय यह है कि जो भगवान् श्रीरामके भी प्रीतिपात्र हा, उनके दर्शनका ऐसा अनुपम महत्त्व क्या न हो!

मुग्धा शक्तिके वशीभूत भरतजी स्वयको श्रीरामस्नेहविहीन समझकर मार्गके तीर्थोमे स्नान करते, आश्रम और मन्दिराका दर्शन करते तथा मुनियोको प्रणाम करते। मन-ही-मन उन सभीसे भगवती सीतासहित श्रीरामभद्रके पादपद्मोमे प्रेम-प्राप्तिका वर माँगते।

मार्गमे भरतलालजी विचार करते हैं कि ससारमे चातक अपनी नेम (नीति)-रूपी विभूतिको नित्य नूतन बनाये रखनेमे निपुणताके कारण यशोलाभ करते हैं तथा मीन अपनी प्रेमरूपी विभूतिको नित्य नूतन बनाये रखनेमे प्रवीण होनेके कारण ससारम सदा कीर्तिलाभ करते हैं। अत लोक और वेदमे अनन्य रसिक ही यश प्राप्त कर पाते हैं—

जग जस भाजन चातक मीना। नेम पेम निज निपुन नबीना॥
(रा०च०मा० २।२३४।३)

जब भरतजी कैकेयीकी करतूतके कारण स्वयको कलकित अनुभव करते तब श्रीरामधामकी ओर उनके कदम उठाये नहीं उठते परतु जब श्रीरामजीके अद्भुत

अन्तर्यामित्व और शील-स्वभावका अनुशीलन करते, तब श्रीरामनिवासकी ओर चरण द्रुतगतिसे बढने लगते। जलमे रहनेवाले अलिगण जिस प्रकार प्रतिपल प्रवाहमे पीछे और आगे होते रहते हैं, वैसे ही भरतजी कभी पीछे तो कभी आगे परिलक्षित होते हैं।

श्रीरामजीके चरणचिह्नोको धरतीमे अङ्कित देखकर भरतजी स्वयको धन्य-धन्य मानते। सलग्न धूलिको सिरसे लगाते तथा हृदय और नत्रोसे स्पर्श कराते। चरणचिह्नित धूलिका स्पर्श कर वे श्रीराममिलनजनित सुख पाते। उनकी अद्भुत गति, मति और स्थिति लखकर खग, मृग तथा स्थावर प्राणी भी प्रेमनिमग्न हो जाते।

पथप्रदर्शक निषादराज भी स्नेहवश मार्ग भूल जाते। तब सुरवृन्द सुगम मार्ग बताकर पुष्प-वृष्टि करने लगते। भरतजीकी यह अद्भुत दशा देखकर साधक और सिद्धवृन्द भी अनुपम अनुरागसे सम्पन्न हो जाते। वे भरतलालके अनुपम स्नेहकी सराहना करते फूले न समाते तथा मुक्तस्वरसे कहने लगते—'यदि भूतलपर भारतवर्षमे श्रीभरतजीका आविर्भाव न हुआ होता तो श्रीराम-प्रेमकी वक्रगतिके प्रभावसे अचर प्राणियोको सचर और सचर प्राणियोको अचर कौन करता'—

होत न भूतल भाउ भरत को। अचर सचर चर अचर करत को॥
(रा०च०मा० २।२३८।८)

क्यो न हो? रसिक महानुभावाने प्रेमकी गतिको स्वभावसे ही कुटिल माना है—'अहेरिव गति प्रेम्ण स्वभावकुटिला भवेत्।' (उज्ज्वलनीलमणि, विप्र० ९३)

भरतजीको हेतु बनाकर रामवनगमनका रहस्य इस प्रकार बताया गया है—

पेम अमिअ मदरु बिरहु भरतु पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिधु रघुबीर॥
(रा०च०मा० २।२३८)

भरतजी प्रेमामृतको सँजोनेवाले अगाध समुद्र हैं। उन्हींको हेतु बनाकर उन्हींके प्राणधनको उन्हींसे वियुक्त किये जानेके कारण प्राप्त विरह मन्दराचल है। प्रेमसिन्धुका मन्थन कृपासिन्धु स्वय श्रीरघुवीरने करके स्वर्गीय अमृतसे भी विरक्त देवर्षिवृन्द और साधुवृन्दको प्रेमामृत प्रदान कर धन्य-धन्य किया है।

ध्यान रहे, घटनाका उतना महत्त्व नहीं होता, जितना कि घटनाके मूलमे सनिहित हेतुका महत्त्व होता है। भरतजीको श्रीरामभद्रका वियोग तो तब भी सुलभ था, जब वे शत्रुघ्नसहित ननिहालम निवास कर रहे थे, परतु उस समयके वियोगके पीछे प्रेमसमुद्र भरतजीके हृदयको उद्वेलित कर प्रेमामृतको प्रकट कर देनेवाला सुपुष्टहेतु सनिहित नहीं था। जब श्रीरामजीने कैकेयीको प्रेरित कर भरतजीको ही हेतु बनाकर स्वयको वनवासी बना लिया, तब भरतजीको प्राप्त श्रीरामवियोगजन्य विरह भरतजीके हृदयको उद्वेलित कर प्रेमामृत प्रकट करनेमे समर्थ सिद्ध हुआ।

ज्ञानसभासदृश मुनिमण्डलीके मध्य भक्तिस्वरूपा सीताजीसहित सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीरघुचन्द्रका चिरप्रतीक्षित दर्शन-लाभ कर सानुज दण्डवत् प्रणाम करते हुए भरतजीने कहा—'हे नाथ! रक्षा कीजिये, हे नाथ! रक्षा कीजिये।'

लक्ष्मणजीने वचन पहचानकर श्रीरामजीको कहा—'हे रघुनाथजी! भरतजी प्रणाम कर रहे हैं।'

यह सुनते ही श्रीरामभद्र प्रेमविह्वल हो गये। कहीं उत्तरीय वस्त्र गिरा, कहीं तरकश, कहीं धनुष और कहीं बाण। श्रीरामजीने बलपूर्वक उठाकर भरतजीको हृदयसे लगा लिया। भरतजी और श्रीरामजीको मिलते देखकर सभी अपान (अहमर्थ) भूल गये—

भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान॥
(रा०च०मा० २।२४०)

मिलन-प्रीतिका वर्णन कैसे किया जाय। वह तो कविकुलके लिये कर्म मन और वाणीसे अगम है। मन बुद्धि, चित्त और अहमिति बिसराकर परस्पर मिलकर भरत तथा श्रीराम परम प्रेमसे पूर्ण होकर स्थित थे।

परम पेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥
(रा०च०मा० २।२४१।२)

अविद्यामें अन्त करणका विलय सुषुप्ति है। अन्त करणका विस्मरण समाधि है। अन्त करणका मिथ्यात्व निश्चयरूप बाध जीवन्मुक्ति है।

प्राकृताका मिलन देहभूमिकापर इन्द्रियात्मवादियाका मिलन इन्द्रियभूमिकापर प्राणात्मवादियोका मिलन

प्राणभूमिकापर होता है। मनोमयात्मवादियोका मिलन मनोभूमिपर, विज्ञानरूप अहमर्थवादिया (विज्ञानात्मवादिया)-का मिलन विज्ञानभूमिपर होता हे। देहात्मवादियो और इन्द्रियात्मवादियाके मिलनका अन्त स्वप्नमे ही हो जाता हे। मनोमयात्म और विज्ञानात्मवादियोके मिलनका अन्त सुषुप्तिमे हो जाता है। जैस घटाकाश घटसे अतीत होकर महाकाशसे मिले तो महाकाशरूप होकर ही अवशिष्ट रहता है वैसे ही भरतजी अन्त करणचतुष्टयरूप जीवत्वतादात्म्यसे ऊपर उठकर श्रीरामजीसे मिलकर श्रीरामरूप-परिपूर्ण प्रेमस्वरूप होकर स्थित हो गये।

अगमस्नेह—भरत और श्रीरामका परस्पर स्नेह अगम है। *'ये यथा मा प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम्'* (गीता ४।११)-के अनुसार भरतजीका श्रीरामभद्रके प्रति विशुद्ध सत्त्वात्मक अप्राकृत दिव्य स्वार्थरहित जो अगम प्रेम है श्रीरामभद्रके हृदयमे वह प्रतिफलित होकर भरतजीके प्रति अगमस्नेहका रूप धारण करता है। रजोगुणके नियामक ब्रह्मा, तमोगुणके रुद्र और सत्त्वगुणके नियामक विष्णुके मनकी गति भी उसमे नहीं हे। विशुद्ध सत्त्वात्मक अतएव निर्गुण मूकास्वादतुल्य अनिर्वचनीय उस प्रेमको श्रीरामजी जानते हुए भी निरूपित नहीं कर सकते—

अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को॥

(रा०च०मा० २।२४१।५)

मधुर अतृप्ति प्रेमकी अद्भुत रीति है। *'दरसन तृपित न आजु लगि पेम पिआसे नैन'* (रा०च०मा० २।२६०) प्रेमके प्यासे मेरे नेत्र आजतक प्रभुदर्शनसे तृप्त नहीं हुए। भरतजीकी श्रीरामभद्रके प्रति यह उक्ति इसी तथ्यको सिद्ध करती है।

श्रीभरतजीके निर्मल प्रेमको परखकर श्रीरामभद्रने अपन 'राम' नामकी महिमाको भरतजीके नाममे सनिहित करते हुए अर्थात् 'शक्तिपात' करते हुए कहा—

मिटिहहिं पाप प्रपच सब अखिल अमगल भार।
लोक सुजसु परलोक सुखु सुमिरत नामु तुम्हार॥

(रा०च०मा० २।२६३)

हे भरत! तुम्हारा नाम स्मरण करते ही सब पाप मिट जायँगे। छल कपट, दम्भादि सब प्रकारके प्रपञ्च (मायाजाल) विनष्ट हो जायँगे। समस्त अमङ्गलाके समूह विनष्ट हो जायँगे तथा धन-वैभव-यशादिकी सुलभतासे लोक सुखद होगा और परलोकमे सुख मिलेगा।

तत्त्वप्रेम—प्रीतिमर्मज्ञ श्रीरामजीके शब्दोमे श्रीरामभद्र और सीताम तत्त्वप्रेम है। दोनाके प्रेमका तत्त्व श्रीरामभद्रका मन ही जानता है। वह मन सदा सीताजीके समीप ही रहता है अर्थात् सीताजीमे ही सनिहित रहता हे। बस, प्रीतिका रस-रहस्य इतनेमे ही समझ लेना चाहिये—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

(रा०च०मा० ५।१५।६-७)

वस्तुस्थिति यह है कि श्यामतेज श्रीराम और गौरतेज सीताजी दोनो ही अचिन्त्यलीलाशक्तिके योगसे सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्माकी उज्ज्वल अभिव्यक्ति हैं। अतएव दोनामे तात्त्विक ऐक्य न होकर दोनो एक ही तत्त्व हैं—

एक ज्योतिरभूद् द्वेधा राधामाधवरूपकम्।

(वेदपरिशिष्ट)

तस्माज्ज्योतिरभूद् द्वेधा राधामाधवरूपकम्।

(सम्मोहनतन्त्र गोपालसहस्रनाम १९)

लक्षणसाम्यसे वस्तुसाम्यके कारण श्रीराधामाधवतुल्य श्रीसीताराम एक ही तत्त्व हैं। श्रीराम अर्थ हैं तो सीता वाणी सीता अर्थ हैं तो श्रीराम वाणी। दोनों ही अर्थ हैं और दोनो ही वाणी। दोनो ही पङ्कज और दोना ही भ्रमर हैं। दोनो ही चन्द्रमा और दोनो ही चकोर हैं। प्राधान्यव्यपदेशन्यायसे श्रीराम नामी और सीता नाम हैं। ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप है। श्रीराम उसकी सदानन्दप्रधान अभिव्यक्ति नामी हैं। सीता उसकी चिदानन्दप्रधान अभिव्यक्ति नाम हैं। 'सीता भगवती ज्ञेया मूलप्रकृतिसञ्ज्ञिता। प्रणवत्वात्प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिन।' (सीतोपनिषद्) आदि श्रुतियोके अनुसार ब्रह्माधिष्ठिता प्रकृतिरूपा सीता शब्दब्रह्मस्वरूपा हैं। यह जगत् ब्रह्माधिष्ठिता शब्दब्रह्मात्मिका प्रकृतिरूपा भगवती सीताका विलास है। भगवान् श्रीरामकी आत्मस्वरूपा अहता, ममतास्पदा सीतामे भगवान् श्रीरामका मन सदा *सनिविष्ट रहता है, यही प्रीतिरसरहस्य है।*

एकतत्त्वरूप श्रीराम-सीताम परस्पर तुल्य प्रेमका होना स्वाभाविक है। परतु **'ये यथा मा प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता ४।११) जो मेरा जिस प्रकार सेवन करते हैं मैं भी उनका उसी प्रकार सेवन करता हूँ—इस न्यायसे सीताजीके हृदयमे प्रतिष्ठित श्रीरामप्रेमके कारण श्रीरामभद्रके हृदयमे सीताजीके प्रति पूर्वप्रतिष्ठित तुल्य प्रेमसे सम्वलित सीताकर्तृक

प्रतिफलित प्रेमके योगसे द्विगुण (दूना) प्रेम सिद्ध है—

जनि जननी मानहु जियँ ऊना। तुम्ह ते प्रेमु राम कें दूना॥
(रा०च०मा० ५।१४।१०)

भक्तप्रवर श्रीहनुमान्‌जीका उक्त वचन तत्त्वप्रेमकी उज्ज्वल मीमासामे विनियुक्त है।

रामकार्य सम्पन्न करके श्रीहनुमान्‌जी जब लङ्कासे लौटे तब श्रीरामजीने कहा—

कहहु तात केहि भाँति जानकी। रहति करति रच्छा स्व प्रान की॥
(रा०च०मा० ५।३०।८)

हे तात! कहो, सीता किस प्रकार रहती है और अपने प्राणाकी रक्षा करती है।

श्रीहनुमान्‌जीने कहा—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहि प्रान केहिं बाट॥
(रा०च०मा० ५।३०)

'आपका नाम रात-दिन पहरा देनेवाला है और ध्यान ही किवाड है। नेत्रोको अपने चरणोमे लगाये रखती हैं, यही ताला लगा है, फिर प्राण जायँ तो किस मार्गसे?' चलते समय उन्होने मुझे चूडामणि दी। श्रीरघुनाथजीने उसे हनुमान्‌जीसे लेकर हृदयसे लगा लिया।

श्रीहनुमान्‌जीने फिर कहा—हे नाथ! दोनो नेत्रोमे जल भरकर जानकीजीने मुझसे कहा—

अनुज समेत गहेहु प्रभु चरना। दीन बंधु प्रनतारति हरना॥
मन क्रम बचन चरन अनुरागी। केहि अपराध नाथ हौं त्यागी॥
अवगुन एक मोर मैं माना। बिछुरत प्रान न कीन्ह पयाना॥
नाथ सो नयनन्हि को अपराधा। निसरत प्रान करहिं हठि बाधा॥
बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माहिं सरीरा॥
नयन स्रवहिं जलु निज हित लागी। जरैं न पाव देह बिरहागी॥
(रा०च०मा० ५।३१।३—८)

छोटे भाईसमेत प्रभुके चरण पकडना और कहना कि आप दीनबन्धु हैं, शरणागतके दु खोको हरनेवाले हैं तथा मैं मन वचन एव कर्मसे आपके चरणोकी अनुरागिणी हूँ। फिर स्वामीने मुझे किस अपराधसे त्याग दिया?

हाँ, एक दोष मैं अपना अवश्य मानती हूँ कि आपका वियोग होते ही मेरे प्राण चले नहीं गये। किंतु हे नाथ! यह तो नेत्रोंका अपराध है, जो प्राणोके निकलनेम हठपूर्वक बाधा देते हैं।

विरह अग्नि है। शरीर रुई है। श्वास पवन है। इस प्रकार अग्नि और पवनका सयोग होनेसे यह शरीर क्षणमात्रमे जल सकता है, परतु नेत्र प्रभुदर्शनसे प्राप्त सुखरूप हितके लिये अश्रु बरसाते हैं, जिससे विरहाग्निसे भी देह जलने नहीं पाती।

बाँसुरीका मन्त्र

गोपिकाआका भगवत्प्रेम तो जगजाहिर रहा है, किंतु भगवान् श्रीकृष्णके बाँसुरी-प्रेमने उनकी नींद चुरा ली थी। आखिर गोपिकाओने इसका रहस्य बाँसुरीसे पूछा—सुभगे! तुम्हे भगवान् श्रीकृष्ण स्वय हर समय ओठोपर लगाये रहते हैं और हम सब उनकी कृपादृष्टि पानेक लिये बहुत प्रयास करती हैं, पर सफल नहीं होतीं, जबकि तुम बिना प्रयास किये ही उनके अधरोपर सदा विराजमान रहती हो?'

'बिना प्रयास किये नहीं गोपियो', बाँसुरी बोली—'मैंने भी प्रयास किये हैं। जानती नहीं हो, मुझे बाँसुरी बननेके लिये अपना मूल अस्तित्व ही खो देना पडा है। मेरा जन्म कहाँसे हुआ, कैसे हुआ और किस प्रकार हुआ। धूप-गरमी और बरसातके थपेडे खाकर मैं बडी हुई। फिर मुझे काटा गया, तपाया गया, तब जाकर मैं बाँससे बाँसुरी बनी हूँ। श्रीकृष्णके अधरोतक पहुँचनेमे मेरा सारा जीवन कठिन तपस्यामय बीता है। गोपिकाओको बाँससे बाँसुरी बनने-तककी बात समझमे आ गयी। बाँसुरी अपने-आपमे खाली थी। उसमे स्वयका कोई स्वर नहीं गूँजता था। बजानेवालेके ही स्वर गूँजते थे। बाँसुरीको देखकर कोई भी यह नहीं कह सकता था कि यह कभी बाँस रह चुकी है क्याकि न तो उसमे कोई गाँठ थी और न ही कोई अवरोध था।

गोपिकाओको भगवान्‌का प्रेम पानेका अनूठा मन्त्र मिल गया और वे श्रीकृष्णप्रेममें ऐसी डूबीं कि सब सुध-बुध खो बैठीं।

(श्रीरामनिश्चयजी मिश्र)

श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायमे प्रेमका दिव्य स्वरूप

(अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु निम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री 'श्रीजी' महाराज)

श्रीसुदर्शनचक्रावतार परमाद्याचार्य जगद्गुरु श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य एव तत्परवर्ती पूर्वाचार्यों तथा सम्प्रदायके रसिक मूर्द्धन्य महामनीषी सत कवीश्वरा रसिक महात्माआने प्रेम (अनुराग— परा भक्ति)-का जा दिव्यतम स्वरूप प्रतिपादित किया है वह अतीव अनुपम श्रुति-स्मृति-सूत्र-तन्त्र-पुराणादि निखिल-शास्त्रसम्मत तथा उत्कृष्टतम रसानुरक्तिका द्योतक है। श्रीनिम्बार्क भगवान्ने अपन गुरुवर्य देवर्षिप्रवर श्रीनारदजीकी सरणिको विशेषरूपसे प्रस्फुटित किया है। आचार्य 'देवर्षि नारदजीने अपने 'भक्तिसूत्र'म —**अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपम्॥ मूकास्वादनवत्॥ प्रकाशते क्वापि पात्रे॥ गुणरहित कामनारहित प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्न सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्॥** *तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति।* **त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी, भक्तिरेव गरीयसी॥** (सूत्र-५१—५५, ८१)—इन सूत्राद्वारा परम प्रेमा-भक्तिका जैसा स्वरूप-निरूपण किया, उसी प्रकार आपने भी अपने '*वेदान्तकामधेनु-दशश्लोकी*' के नवम श्लोकसे प्रेमलक्षणा-भक्तिका अद्भुत अनिर्वचनीय स्वरूप प्रतिपादित किया है—

कृपास्य दैन्यादियुजि प्रजायते
यया भवेत् प्रेमविशेषलक्षणा।
भक्तिर्ह्यनन्याधिपतेर्महात्मन
सा चोत्तमा साधनरूपिकाऽपरा॥
(वेदान्तकामधेनु-दशश्लोकी श्लोक ९)

परम कृपाधाम सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य कृपा दैन्यादिलक्षणपरिपूर्ण प्रपन्न भक्तोपर होती है और जिस अनिर्वचनीय कृपासे उन कृपार्णव श्रीप्रभुके युगलचरणकमलोंम रसमयी भक्ति प्रकट होती है वही फलरूपा एव प्रेमलक्षणा उत्तमा भक्ति वर्णित हे तथा यह प्रेमलक्षणा परा भक्ति अनन्य रसिक-भगवज्जनोंके निर्मल सरम अन्त करणमे स्फुरित होती है। नानाविधजन्मार्जित पुण्य-कर्मोके साधनोंद्वारा प्राप्त की जानेवाली साधनरूपा अपरा भक्ति भी निर्दिष्ट हुई है।

अत जो प्रेमलक्षणा परा भक्ति रसिक साधकके अन्तर्मनमे आविर्भूत होती है, वही फलरूपा उत्तमा-भक्ति है। इसीका निर्वचन आद्याचार्यप्रवर निम्बार्क भगवान्ने उक्त 'दशश्लोकी मे किया है। आपने अपने 'श्रीप्रात स्तवराज' एव 'श्रीराधाष्टकस्तोत्र'म भी वृन्दावननित्यनिकुञ्जविहारी युगलकिशोर श्यामाश्याम भगवान् श्रीराधाकृष्णके परस्पर प्रेम-प्राचुर्यका जो परम ललित सरस वर्णन किया है, वस्तुत वह अतीव अनुपम है—

प्रातर्नमामि वृषभानुसुतापदाब्ज
नेत्रालिभि परिणुत व्रजसुन्दराणाम्।
प्रेमातुरेण हरिणा सुविशारदेन
श्रीमद्व्रजेशतनयेन सदाऽभिवन्द्यम्॥
(प्रात स्तवराज श्लोक ८)

भृङ्गरूपी व्रजाङ्गनाओके नयनाद्वारा जिनका स्तवन हाता है, ऐसे चतुरशिरामणि प्रमसुधारसपूरित व्रजेश्वर श्रीहरि स्वय जिन प्रेमाह्लादिनी सर्वेश्वरी *श्रीराधा प्रियाकी अभिवन्दना* करते हैं, एवविध वृषभानुसुता श्रीराधाके उन दिव्य चरणारविन्दाको मैं प्रभातम अभिनमन करता हूँ।

इसी प्रकार श्रीराधाष्टकस्तोत्रम कहा गया है—

दुराराध्यमाराध्य कृष्ण वशे त महाप्रेमपूरेण राधाऽभिधाऽभू ।
स्वय नामकीर्त्या हरौ प्रेम यच्छ प्रपन्नाय म कृष्णरूपे समक्षम्॥
मुकुन्दस्त्वया प्रेमदोरेण बद्ध पतङ्गो यथा त्वामनुभ्राम्यमाण ।
उपक्रीडयन् हार्दमेवानुगच्छन् कृपा वर्तते कारयातो मयीष्टिम्॥
(श्लोक ३-४)

वृन्दावनाधीश्वरी श्रीराधे! उन परम दुराराध्य सर्वेश्वर रसब्रह्म श्रीकृष्णको अपने महाप्रेम-रससुधासे स्वाधीन करनेसे आप राधारूपसे अतिशय सुशाभित हैं। इसी राधा नामके मङ्गल-सकीर्तनमात्रसे प्रेमस्वरूप श्रीकृष्णदर्शनका दुर्लभ लाभ प्रदान करती हैं। एवविध परम उदारमयी कृपामयी मुझ पपन्नको भी दिव्य दर्शन देकर कृतकृत्य करे।

हे श्रीराधे! आपके अनुगम प्रेमडोरम आबद्ध जगज्जन्मादिहेतु परात्पर परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण आपका पतङ्गवत् अनुगमन करते हैं, ऐसी निकुञ्जेश्वरी श्रीराधे! आपकी अहैतुकी परम कृपा है अत ऐसे प्रेमाबद्ध भगवान् श्रीकृष्णद्वारा दर्शनकृपासे मुझे अभिप्रेत रसानुराग प्रदान कर।

इसी प्रकार श्रीनिम्बार्क भगवान्से परवर्ती पूर्वाचार्य-चरणोके द्वारा प्रणीत 'श्रीकृष्णस्तवराज' के इन श्लोकासे भी प्रेमका उत्कृष्टतम वर्णन परम मननीय है—

ब्रह्मरुद्रसुरराजस्वर्चित चर्चित च रमयाङ्कमालया।
चर्चित च नवगोपबालया प्रेमभक्तिरसशालिमालया॥
त्वय्यणुत्वसुमत्वभागिनि सर्वशक्तिबलयोगशालिनि।
भक्तिरस्तु मम निश्चला हरे कृष्ण केशव महत्तमाश्रये॥

(श्लोक ५ ७)

विधि-रुद्रेन्द्रादि सुरवृन्दाद्वारा समर्चित, दिव्य विशालमालासे सुशोभित श्रीलक्ष्मीजीद्वारा परिसेवित एव प्रेमा-भक्तिरससे सुस्निग्ध श्रीकृष्णरूपी सुकण्ठाहारविभूषित नित्यनवनवायमान व्रजेश्वरी श्रीराधासे परम शोभायमान श्यामसुन्दर भगवान् श्रीकृष्णके सतत समर्चनीय श्रीयुगल-चरणाम्बुजाकी मैं शरण ग्रहण कर रहा हूँ।

सृष्टि-रचयिता श्रीब्रह्मा, सहारकर्ता श्रीशङ्करादि देवोंके भी जो जनक अर्थात् उत्पादक हैं, शरणागतजनोके पापपुञ्जोका परिहार करनेवाले परमानन्दस्वरूप सर्वेश्वर श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण। आप अणुस्वरूपात्मक जीवात्मा और महत्त्व परिमाणरूप आकाशप्रभृति पदार्थोम अन्तर्यामी स्वरूपम अवस्थित हैं। इसीलिये 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' इत्यादि—ये श्रुतिवचन आपको सूक्ष्मातिसूक्ष्म और महान्‌से भी परम महान् अभिव्यक्त करते है तथा आपम ज्ञान, क्रिया, बल आदि सम्पूर्ण शक्ति-वैभव सनिविष्ट है। अतएव सभी उत्तमोत्तम देववृन्द आपका ही समाश्रय ग्रहण करते हैं। ऐसे सर्वाधार, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिसम्पन्न आपके मङ्गल पदाम्बुजाम मेरी अविचल प्रगाढ प्रेमा-भक्ति अवस्थित रहे, यही एकमात्र स्पृहा हे।

आद्याचार्य श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यके आचार्य-परम्परानुवर्ती पूर्वाचार्यप्रवराने अपने हिन्दी-व्रज-वाणी-साहित्यमे जो प्रेमका अनिर्वचनीय निरूपण किया है, वह परम मननीय है। श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीश्रीभट्टाचार्यजी महाराजने अपनी व्रजभाषाकी आदि वाणीमे प्रेमका परमोत्कृष्ट स्वरूप प्रतिपादित किया है वह यथार्थत हृदयम सर्वदा समुपासनीय है—

सेऊँ श्रीवृन्दाविपिन विलास।
जहाँ जुगल मिलि मदिर मूरति करत निरतर बास॥
प्रेम-प्रवाह रसिकजन प्यारे, कबहुँ न छाँडत पास।
कहा कहौ भाग की श्रीभट राधाकृष्ण रस चास॥

(श्रीयुगलशतक-सिद्धान्त सुख पद-स० १०)

मन बच क्रम दुर्गम सदा, ताहि ब चरन छुवात।
राधा तेरे प्रेम की, कहि आवत नहिं बात॥

(श्रीयुगलशतक-सिद्धान्त-सुख दोहा-स० २९)

राधे तेरे प्रेम की का पै कहि आवै।
तेरी-सी गोपाल की, तो पै बनि आवै।
मन बच क्रम दुर्गम किसोर, ताहि चरन छुवावै।
श्रीभट मति वृषभानुजे, परताप जवावै॥

(श्रीयुगलशतक-सिद्धान्त-सुख पद-स० २९)

बसो मेरे नैनन मे दोउ चद।
गौरबरनि वृषभानुनदिनी, स्यामबरन नँदनद॥
गोलकु रहे लुभाय रूप मे, निरपत आनँद-कद।
जै श्रीभट प्रेमरस-बधन, क्यो छूटै दृढ फद॥

(श्रीयुगलशतक-सहज-सुख पद-स० ५३)

परस्पर निरपि थकित भये नैन।
प्रेम कला भरि सुर राधे सौ, बोलत अमृत बैन॥
हार उदार निहार तिहारौ, राधे यह मन लैन।
श्रीभट लटक जानि हितकारिनि, भई स्याम सुप दैन॥

(श्रीयुगलशतक-सहज-सुख पद-स० ५५)

श्रीवृन्दाविपिनेश्वरी, पद-रस सिधु विहारी।
रच्यौ परस्पर प्रेम छेम, बाढ्यौ अति भारी॥
अरप्यौ पिय हिय पाय कै, निज अधर सुधारी।
श्रीभट बड़भागी गोपाल, पीयौ रुचिकारी॥

(श्रीयुगलशतक-सुरत-सुख पद-स० ७७)

श्रीश्रीभट्टाचार्यजी महाराजके परम कृपापात्र पट्टशिष्य जगद्गुरु निम्बार्काचार्य रसिकराजराजेश्वर श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराजने अपने महावाणी वृहद्-वाणी-ग्रन्थमे प्रेमपरक अनेक स्थलोपर जिस अनिर्वचनीय विधासे मञ्जुल विवेचन किया है, वह द्रष्टव्य है—

जयति प्रेमा प्रेम सीमा कोकिला कल बैनिये।
परा भक्ति प्रदायिनी करि कृपा करुणानिधि प्रिये॥

(महावाणी सेवा-सुख पद-स० ५२ पक्ति-स० १)

जयति नवनित्य नागरि निपुन राधिके,
रसिक-सिरमौरि मनमोहनी जू।
चारुछबि चचला चित्त आकर्षनी
वर्षनी प्रेम-घन मोहनी जू॥
सहज सिद्धा प्रसिद्धा प्रकासिका प्रभा,
दिव्य बर कनक-तन मोहनी जू।

स्वामिनी सुखद श्रीहरिप्रिया बिसद
जस पान की परम धन मोहनी जू॥
(महावाणी सुरत-सुख दोहा-स० १)

जलतरग ज्यौ नैन मे, तारे रहे समोय।
प्रेम पयोधि परे दोउ, पल न्यारे नहिं होय॥
(महावाणी सुरत-सुख दोहा स० २४)

प्रेम पयोधि परे दोउ प्यारे निकसत, नाहिंन कबहुँ रैन दिन।
जलतरग नैंनिन तारे ज्यौ, न्यारे होत न जतन करौ किन॥
मिले है भाँवते भाग सुहाग भरे, अनुराग छबीले छिन-छिन।
श्रीहरिप्रिया लगे लग दोऊ निमिष, न रहे ये इन ये इन बिन॥
(महावाणी सुरत-सुख पद-स० २४)

प्यारी जू प्रानन की प्रतिपाल।
जिनकी दया सुदृष्टि वृष्टि करि, पल मे होत निहाल॥
तन मन परम पुष्ट पन पावै, लावै रग रसाल।
श्रीहरिप्रिया प्रेम सर बाढे, काढे दुख ततकाल॥
(महावाणी सहज-सुख पद-स० ३९)

इसी प्रकार जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर आचार्यवर्य श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराजने अपने 'श्रीपरशुराम-सागर' बृहद्ग्रन्थके 'दोहावली' भागमे प्रेमका जो प्रचुर वर्णन किया है, उसके कतिपय उद्धरण यहाँ प्रस्तुत हैं—

बध्यो प्रेम की डोर हरि, 'परशुराम' प्रभु आप।
साधु-साधु मुखि उच्चरै, करै भगत को जाप॥
जन्म मरण ये 'परशुराँ', हरि बिमुखन के होय।
हरि रस पीवे प्रेम सो, जनमे मरे न सोय॥
प्रेम रस अतरि बस्यो, प्राण रह्यो बिरमाइ।
लागी प्रीति अपार सो, 'परसा' तजी न जाइ॥
'परसा' सगति साध की कीयाँ दोष दुरॉहिं।
पीजै अमृत प्रेम रस, रहिये हरि सुख माँहिं॥
हरि सनमुख सिर नाइये जपिये हरि को जाप।
हरि उर तैं न बिसारिये, 'परसा' प्रेम मिलाप॥
'परसा हरि की भगति बिन करिये सोइ हराम।
नर औतार सुफल तबै, भजै प्रेम सो स्याम॥
सर्बस हरि कौं सौंपिये, हरि न मिलै क्यौं आय।
'परसा' तन मन प्राण दै पीजै प्रेम अघाय॥
हरि अमृत रस प्रेम सौं पीवै जो इकतार।
परसा' चढ़ै न ऊतरे लागी रहै खुमार॥

इसी आचार्य-परम्पराम जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य-पीठाधीश्वर श्रीवृन्दावनदेवाचार्यजी महाराजने अपने 'श्रीगीतामृत-गङ्गा-व्रजवाणी' मे प्रेमके दिव्य स्वरूपका जो असमोर्ध्व वर्णन किया है, वह वस्तुत अतीव विलक्षण है। उक्त ग्रन्थके कतिपय मञ्जुल पद्याके अनुशीलनसे स्वत प्रेम-प्राखर्यका बोध हो सकेगा—

प्रेम को रूप सु इहै कहावै।
प्रीतम के सुख सुख अपनो दुख, बाहिर होत न नेक लखावै॥
गुरुजन बरजन तरजन ज्यों-ज्यों, त्यो-त्यों रति नित-नित अधिकावै।
दुरजन घर-घर करत बिनिदन चदन सम सीतल सोउ भावै॥
पलक औटहू कोटि बरस के, छिनक ओटि सुख कोटि जनावै।
बृन्दावन-प्रभु नेही की गति देही त्यागि धरै सोइ पावै॥
(घाट ४ पद ३५)

बसी तुव मूरति नैननि मैरे।
कैसै चैन परै प्यारी अब, भली भाँति बिनु हेरै॥
तनक किर किरी खरकति सो सतो नख-सिख भूपन तैरें।
बृन्दावन प्रभु नेह अजन ते, खरकति और घनैरे॥
(घाट ४ पद ४८)

तुम बिन दृगन सुहात न और।
नींद रैन दिन बसी रहत ही, वाहू को नहीं ठौर॥
अब कैसें फीको जग भावत चाखे रूप सलौनै कौर।
बृन्दावन प्रभु सुरझत नाहीं, परे प्रेम के झोर॥
(घाट ४ पद ५७)

इसी परम्परामे श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर श्रीगोविन्द-शरणदेवाचार्यजी महाराजने अपने परम रसमय 'गोविन्दवाणी' ग्रन्थमे प्रेमरूपा परा भक्तिरूप जिस उत्तम विधाका विवेचन किया है वह अत्यन्त चित्ताकर्षक है—

जग मे हरि के जन बड़भागी।
निस दिन भजन भावना चितवत, चरन कँवल अनुरागी॥
प्रेम मगन गावत माधौ गुन हरि धन भये बिभागी।
धारत तिलक माल तुलसी की, सुधि सो तैं द्रुत जागी॥
दरसन पावन होयँ पतित जन जिनकी मति हरि पागी।
गोबिद सरन बिस्व उपकारी रसना हरि रट लागी॥
(प०-स० १०४)

नेति नेति कहत निगम, एक प्रेम ही तैं सुगम।
गोविंद सरन प्रभुता तजि, भये अति आधीनैं॥
(प०-सं० १०५ पंक्ति १०)

नीके बिहारी-बिहारिनि प्यारे।
कुजमहल राजत रँगभीनै, सखि नैंननि के तारे॥
अद्भुत गौर-साँवरे दपति, पलहू होत न न्यारे।
मन बसी रसी सोहनी मूरति, बिसरत क्यौब बिसारे॥
रूप सुधा रस पिये परसपर, रहत प्रेम मतवारे।
गोबिद सरन जिय कल न परत है, जब ते नैन निहारे॥

(पद-स० १०६)

प्रस्तुत प्रेमोत्कर्षका लोकोत्तर रसपूर्ण भाव अभिव्यक्त कर रहे हैं निम्बार्क-सिद्धान्त-सम्पोषक भक्तप्रवर श्रीनागरीदासजी, जिन्होने पुष्करक्षेत्रान्तर्गत किशनगढ राज्यके सम्पूर्ण विपुल वैभवका परित्याग कर श्रीवृन्दावनके मञ्जुल निकुञ्ज और वीथियोमे कलिन्दजा—श्रीयमुनाके अति सुरमणीय पावन पुलिनपर अवस्थित होकर वृन्दावा-नवनिकुञ्ज-विहारी युगलकिशोर श्यामाश्याम रसपरब्रह्म सर्वेश्वर श्रीराधाकृष्णके परम-प्रेमा-भक्तिरससुधारूप अगाधसिन्धुमे प्रतिपल निमज्जित-समुच्छ्वलित हो जिस परमानन्दरससारका दिव्यतम अनुभव किया है, उसीको अपनी ललित-कलित सरस पद्यमय व्रजवाणीमे आपूरित किया है और जिसका श्रीयुगल-रसरसज्ञ रसिक भगवज्जनोद्वारा अपने अतिशय कमनीय कलकण्ठद्वारा निकुञ्जरसका अनुपम पान किया जाता है—

बिमल जुन्हइया जगमगी, रही बैन धुनि छाय।
प्रेम-नदी तिय रगमगी, बृदा-कानन आय॥
रुकी न कापै तिय गईं, छाँड़ि काज गृह चाह।
मिल्यो स्याम रस सिधु मन, सरिता प्रेम-प्रवाह॥

(श्रीनागरीदास-वाणी रासरसलता दोहा ५-६)

क्यौ नहिं करै प्रेम अभिलाष।
या बिन मिलै न नददुलारौ, परम भागवत साख॥
प्रेम स्वाद अरु आन स्वाद यौ ज्यौ अकडोडी दाख।
नागरिदास हिये मै ऐसै, मन, बच क्रम करि राख॥

(श्रीनागरीदास वाणी छूटक पद-सं० १४)

दीजै प्रेम प्रेमनिधि स्याम।
गदगद कठ नैंन जलधारा, गाऊँ गुन अभिराम॥
या छकि सौं सब छूटि जाय ज्यौं, और सबै कलमष कैं काम।
नागरिया तुव रग रग्यो फिरै, इहिं बृन्दावनधाम॥

(श्रीनागरीदास-वाणी छूटक पद-स० १२४)

देहु प्रेम हरि परम उदार।
बिना प्रेम जे भक्ति है नौधा, भई जात ब्यौहार॥
प्रेमहि कै बस होत स्याम तुम, प्रेमहिं के रिझवार।
प्रम हाथ अपनै नहिं नागर, ताको कहा बिचार॥

(श्रीनागरीदास-वाणी छूटक पद-स० १५२)

वस्तुत प्रेमका स्वरूप ही अनिर्वचनीय है, उसका प्रख्यापन वाणी किवा लेखनीका माध्यम नहीं। वह तो यथार्थमे श्रीसर्वेश्वर-कृपैकलभ्य है। इसी दिव्य भगवत्प्रेमका सुदर्शनचक्रावतार आद्याचार्य जगद्गुरु श्रीभगवन्निम्बार्काचार्य एव तत्परम्परावर्ती पूर्वाचार्य एव रसिक परम भागवत महापुरुषोने विविधरूपसे निरूपण किया है, जो सर्वदा रसिक भगवज्जनोको अपने निर्मल अन्त करणमे अवधारणीय है।

'भगवत्प्रेम'

(श्रीरामलखनजी सिह मयक एम्०ए०)

परम तत्त्व है मानव-जीवनका इस जगम भगवत्प्रेम।
प्रभु अनन्य प्रेमीका करते नित्य निर्वहन योगक्षेम॥
है अनन्यतम एक साधना और साध्य भी भगवत्प्रेम।
हर कर्मोका उत्तम फल है प्राप्य एक बस भगवत्प्रेम॥
सदा हमारी अभिलाषा हो पानेकी बस भगवत्प्रेम।
हरि-प्रीत्यर्थ सभी साधित हा धर्म-कर्मसाधन-व्रत-नेम॥
सत्सुख नित्य प्रदान कर रहा है भक्तोको भगवत्प्रेम।
हरिचरणोक आश्रित जनका दृढाधार है भगवत्प्रेम॥
है विपत्तिनाशक, तापासे त्राणप्रदाता भगवत्प्रेम।
रे मन मूढ! 'मयक' करो अर्जित सन्मनसे भगवत्प्रेम॥

भगवत्प्रेम

(अनन्तश्रीविभूषित श्रीमद्विष्णुस्वामिमतानुयायि श्रीगोपाल वैष्णवपीठाधीश्वर श्री १००८ श्रीविट्ठलेशजी महाराज)

अखिल ब्रह्माण्डनायक, सकलाभीष्टदायक, वेद-गोविप्रसाधुजनसुखदायक, भक्तमनोरथपरिपूरक, लीलानट गोपालजीने लोकके कल्याणके लिये क्रीडाभाण्ड विश्वका निर्माण किया है।

उस विश्वमे भूलोक-भुवर्लोक-स्वर्लोक—इन तीन लोकोकी मर्यादा स्थापित की है। उसमे सप्तद्वीपवती पृथ्वी धन्य है। सात द्वीपामे जम्बूद्वीप श्रेष्ठ है। जम्बूद्वीपके नौ खण्डोमे भारतखण्ड (वर्ष) श्रेष्ठ है। उसमे भी माथुर-मण्डल श्रेष्ठ है, क्योंकि मथुरापुरीमे अवतारी श्रीकृष्णचन्द्र भगवान्ने अवतार लेकर निरुपम प्रेममयी दिव्य लीलाएँ की हैं, जिनका श्रवण-कीर्तन और स्मरण करनेसे जीवाका उद्धार हो जाता है। चौरासी लाख योनियामे मानव-योनि ही भगवत्-प्रेयसी है, क्योकि मनुष्य-योनि ही भगवत्सेवनके लिये उपयुक्त होती है। इसीलिये देवता भी मनुष्य-जन्मके लिये लालायित रहते हैं। ऐसा श्रीमद्भागवतजीमे यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रसिद्ध है—'मुकुन्दसेवौपयिक स्पृहा हि न ॥' (५।१९।२१)। मानव-शरीरमे पञ्च ज्ञानेन्द्रिय पञ्च कर्मेन्द्रिय तथा मन आदि अन्त करणोसे भगवत्सेवन करना ही जीवका परम धर्म है। कर्मेन्द्रियाँ कर्म करती हैं ज्ञानेन्द्रियाँ उनकी सहायता करती हैं और दोनो इन्द्रियोका नायक मन होता है। मनसे ही भगवत्प्राप्ति होती हे—'मनसैवेदमाप्तव्यम्'। अत स्वच्छ मनसे भगवत्सेवन करनेपर ही मनुष्य भगवत्प्रेम-पथका पथिक हो जाता है। जबतक मनमे दुर्वासना रहती है, तबतक भगवच्चरणोमे अनुराग नहीं होता, मनकी स्वच्छताके लिये वर्णाश्रम-धर्मका पालन करना अत्यावश्यक है, अन्यथा भगवत्प्रसादकी प्राप्ति दुर्लभ है। मनु आदि स्मृतियोमे चारो वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्र) तथा चारो आश्रम (ब्रह्मचर्य गृहस्थ, वानप्रस्थ एव सन्यास)-के उपयुक्त धर्मका प्रतिपादन किया गया है। उसका यथाशक्ति पालन करनेसे आचार-विचार, रहन-सहन तथा आहार-विहार शुद्ध हो जाते हैं। ऐसा करनेपर ही मनकी स्वच्छता सम्भव है और तभी भक्तिमार्गमे चलनेका अधिकार प्राप्त होता है। भगवत्प्रेरणासे प्रेरित सज्जनोका समागम पाकर सत्सगद्वारा भगवान्के प्रति प्रीतिभाव जाग्रत् होता है। यह बात श्रीमद्भागवतमे जहाँ-तहाँ सत्सग-प्रसगमे वर्णित है—

'सत्सङ्गलब्धया भक्त्या मयि मा स उपासिता'।

(११।११।२५)

जबतक मानसिक वृत्तियाँ भगवान्की ओर नहीं चलतीं, तबतक भगवत्प्रेमकी प्रवृद्धि नहीं हो सकती है। भगवान्के प्रति अनुरक्त होनेके लिये साधन-भक्तिकी साधना करणीय है। रासमे साधन-सिद्धा गोपियाका बखान है *'साधन सिद्धि राम पग नेहू।'* भक्ति जीवको भगवान्से मिलाती है। अत भक्ति-भक्त-भगवन्त—ये तीनो समन्वित रहनेपर भगवत्साक्षात्कारका अधिकार प्राप्त हो जाता है। भगवान् प्रेमनगरमे वास करते हैं और वह प्रेमनगर अपना हृदय ही है। उसमे अष्टदल कमलकी मञ्जरीमे वासनारहित सुवासित स्थलमे मनसे ही भगवद्दर्शन होते हैं। उनके दर्शनार्थ जानेके लिये नवधा-भक्तिरूपी गन्त्री (गाडी) प्रेम ही है। उस गन्त्रीका फाटक विश्वास है। उसका टिकट साधु-सताका उपदेश-पालन करना है। उन गन्त्रियाके चालकदल निम्नलिखित प्रकारसे हैं—

श्रवण-भक्तिके राजा परीक्षित्, कीर्तनके शुकदेवजी, स्मरणके प्रह्लादजी, पादसेवनकी लक्ष्मीजी, पूजनभक्तिके पृथु महाराज स्तुति-वन्दनके अक्रूरजी दास्यभावके कपीश्वर हनुमान्जी, सख्यके अर्जुनजी एव आत्मनिवेदनके राजा बलि। ये सभी प्रेमी विविध प्रेम-गन्त्रियाके माध्यमसे श्रीकृष्णके चरणारविन्दके निकट पहुँच गये।

उपर्युक्त नवधा-भक्तिरूप प्रेमगाडियोमे हरिनामामृत मालाके सिवा और कुछ सामान ले जाना नहीं पडता और न ही किसी प्रपञ्ची साथीको वहाँ साथ ले जाया जा सकता है, क्योकि प्रपञ्ची व्यक्ति सासारिक कथा-कलापोसे प्रेमगाडीको भ्रष्ट कर देता है। वैराग्य ही उस प्रेमगाडीका सफाई कर्मचारी होता है जो विषयरूप कूडा झाडकर साफ कर देता है तथा ज्ञानरूपी प्रकाशमय बत्तियाँ उसमे सर्वदा प्रकाश करती हुई अज्ञानरूपी अन्धकारको नष्ट करती रहती हैं। इसी कारण वह

प्रेमगाडी निर्विघ्नरूपसे प्रेमनगरमे पहुँच जाती है।

उस गाडीको आगे बढनेमे इन्द्रियाँ सकेतक (सिगनल)-का कार्य करती हैं, उन सिगनलोकी जजीर मन है, वह प्राणसे आबद्ध है। प्राणायामादि योगमार्गसे मनरूपी जजीरको खींचनेपर इन्द्रियरूपी सिगनल नीचा हो जाता है और तभी गाडी आगे बढ पाती है।

इन्द्रियाँ ऐसी बलवान् होती हैं कि बडे-बडे यतियोके मनको भी प्रमथित कर डालती हैं। अत भगवत्प्रीत्यर्थ निष्काम कर्म करना ही उचित है। तभी मन भगवत्प्रेमम मग्न हो सकता है। जैसे व्रजकी सुन्दरियाँ प्रेममग्न हो गयीं—

ता नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्ध-
धिय स्वमात्मानमदस्तथेदम्।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये
नद्य प्रविष्टा इव नामरूपे॥
(श्रीमद्भा० ११।१२।१२)

[भगवान्ने उद्धवजीसे कहा—हे उद्धव!] जेसे बडे-बडे ऋषि-मुनि समाधिमे स्थित होकर तथा गङ्गा आदि बडी-बडी नदियाँ समुद्रमे मिलकर अपने नाम-रूप खो देती हैं, वैसे ही वे गोपियाँ परम प्रेमके द्वारा मुझमे इतनी तन्मय हो गयी थीं कि उन्हे लोक-परलोक शरीर और अपने कहलानेवाले पति-पुत्रादिकी भी सुध-बुध नहीं रह गयी थी।

नारदजीने भक्तिसूत्र (६६, २१)-मे स्पष्ट कर दिया है कि हरिसे ही प्रेम करे। 'प्रेमैव कार्यम्—यथा व्रजगोपिकानाम्'।

पूर्वमे जिस प्रेमगाडीका वर्णन किया गया था, उसमे सूचना-पट्ट लगा रहता है। उस सूचना-पट्टमे बताये हुए नियमाका पालन करना अनिवार्य होता है। नियम-विरुद्ध कार्य करनेपर उस गाडीसे निष्कासित हो जाना पडता है। वह नियमावली इस प्रकार है—

धर्मं भजस्व सतत त्यज लोकधर्मान्
सेवस्व साधुपुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम्।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा
सेवाकथारसमहो नितरा पिब त्वम्॥
(श्रीमद्भा० माहात्म्य ४।८०)

अर्थात् स्वधर्मका पालन करो (भगवद्भजन ही सबसे बडा धर्म है) अन्य सभी लौकिक धर्मोका आश्रय छोड दा साधुजनाकी सेवा करो कामना (भोगोकी लालसा)-का त्याग करा, दूसरेकी बुराई-बडाई छोडकर निरन्तर भगवत्सेवा और भगवान्की कथाआमे प्रेमरसका आस्वादन करो। इनके पालनसे भगवान् शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं और प्रेमनगरकी सहज प्राप्ति भी हो जाती है।

श्रद्धा, भक्ति, दया, सतोष तथा वैराग्यके द्वारा भगवत्प्रेमके प्रवाहसे श्रीहरि सतुष्ट होते हैं। जिनके ऊपर भगवत्कृपा हो जाती है, उनके लिये ऐहलौकिक-पारलौकिक कोई भी विषय दुर्लभ नहीं रहता हे। किंतु अनन्य प्रेमी भक्तजन प्रभुके दिये हुए पारितोषिक स्वीकार नहीं करते हैं, बल्कि वे प्रमसे प्रभुचरणोका सेवन करके अपनेको पूर्ण कृतार्थ मानते हैं—'तथापि तत्परा राजन् नहि वाञ्छन्ति किञ्चन॥'
(श्रीमद्भा० १०। ३९। २)

भगवत्प्रेम मानसिक वृत्ति है। मनसयुक्त सर्वेन्द्रियोसे और अनन्य बुद्धिसे भगवद्रसका आस्वादन करना ही प्रेमम मग्न होना है। विशुद्ध प्रेमसे ही भगवद्दर्शन होते हैं। मन अति सूक्ष्म वस्तु है, वह सूक्ष्म बुद्धिद्वारा भगवान्के स्वरूपमे सलग्न होनेपर तदाकारताको प्राप्त हो जाता है। कपिलदेवजीने माता देवहूतिके प्रति निर्गुण प्रेमरूपा भगवद्भक्तिका लक्षण-इस प्रकारसे कहा है—,

'मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षण भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।'
(श्रीमद्भा० ३।२९।११-१२)

इस लक्षणसे स्वाभाविक ही मनकी सात्त्विकी वृत्ति निष्कारण श्रीकृष्णम लगी हो तो वह प्रेमा-भक्ति कहलाती हे। उस प्रेमरसमे सराबोर होनेपर प्रेमाश्रुकी छलकन, वाणीकी गद्गदता चित्तका पिघल जाना लज्जाविहीनता ऊँचे स्वरसे भगवान्की लीलाके गुणोंका गायन, विरहावस्थापन्न होकर रोदन सयोग होनेपर हास्य आदि चिह्न प्रकट हो जाते हैं। इस अवस्थामे देह-गेहकी सुध नहीं रहती तथा सभी कर्म-धर्म बिछुड जाते हैं। इसमे प्रत्यवाय नहीं बनता। अत प्रायश्चित्तकी कोई आवश्यकता भी नहीं रहती। जो लोग भक्तिके आभासम कार्यका परित्याग करते हैं, उनपर विधि-निषेधात्मक नियम लागू होता है, अत निषिद्ध कर्मका परित्याग करने, विहित निष्काम कर्म करने तथा काम्य कर्मोका परित्याग करनेसे स्वर्ग-नरकमे नहीं जाना पडता है। भगवत्प्रीत्यर्थ समर्पण-बुद्धिसे स्वकर्म करनेसे अन्त करण शुद्ध होता है और तभी भगवत्प्रेम

पानेकी योग्यता होती है। वासनावासित (प्रदूषित) मन भगवान्‌के प्रति नहीं लगता है।

श्रुतियामे इन्द्रिया तथा मनको पराङ्मुख बताया गया है, इसलिये ये अपने-अपने विषयोके प्रति दौडते है। इन दुर्दम्य इन्द्रियादिको शम-दम आदि साधनोसे स्वाधीन करके भगवान्‌की ओर मोडना ही अपना परम कर्तव्य है, क्योकि वे स्वत नहीं मुड सकती हैं।

मन जलके समान नीचे ही चलता है, उसे नाम-मन्त्ररूपी यन्त्रसे अभ्यासद्वारा ऊर्ध्वगामी बनानेपर ही भगवत्प्राप्ति होती है। अतएव जबतक अनन्य अव्यभिचारिणी भक्ति न प्राप्त हो, तबतक हम प्रभुको वशम नहीं कर सकते हैं। प्रभुको तो प्रेमकी डोरीसे ही बाँधकर अपने हृदयरूपी भवनमे बद किया जा सकता है। इस कार्यम भावकी आवश्यकता है। भावानुसार भगवान्‌मे प्रेम सिद्ध होनेपर वे हरिभक्तोसे मिलते हैं तथा सकाम-निष्काम भावके अनुसार फल देते हैं। वे कल्पद्रुमके समान हैं, किंतु कुछ न माँगनेपर अपनेको प्रेमी भक्तके अधीन मानते हैं। जैसा कि राजा अम्बरीषके प्रति दुर्वासाके क्रूरकर्मसे रुष्ट होकर उनकी माँग उन्हाने ठुकरा दी थी और अपनेको भक्तके पराधीन बताया था—

अह भक्तपराधीन ' (श्रीमद्भा० ९। ४। ६३)

सभी कार्य मनकी एकाग्रतासे ही सफल होते हैं, इसलिये मनको निश्चल कर भगवत्स्वरूपम प्रतिष्ठित करक ध्यानमे मग्न होकर प्रेमसे नाम-सुमिरन करे तो कभी-न-कभी भगवत्कृपासे अवश्य भगवत्साक्षात्कार हो सकता है।

उपासनाका यही स्वरूप भगवान्‌ने गीताके दसव अध्यायके ८—१०व श्लोकम कहा है तथा भावनाके उत्थानके लिये साधन बताये हैं, इनम भगवान्‌के निकट पहुँचनका सरल उपाय सुझाया गया है—

अह सर्वस्य प्रभवो मत्त सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मा बुधा भावसमन्विता ॥
मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्त परस्परम्।
कथयन्तश्च मा नित्य तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषा सततयुक्ताना भजता प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोग त येन मामुपयान्ति ते॥

अर्थात् मैं ही सभीकी सृष्टि और सबका पालन आदि करता हूँ। मैं ही प्रवर्तक हूँ। यह जानकर विवेकी लोग भगवद्भावसे युक्त मेरा भजन करते हैं तथा मुझम ही जिनका चित्त लगा हे या में ही जिनके चित्तम बसा हूँ, जिनकी इन्द्रियाँ मेरे प्रति लगी हें, भक्त-मण्डलीमे परस्पर बोधन कराते हुए मेरे नाम-लीला-गुणाका व्याख्यान करते हुए जो सतुष्ट होते हैं तथा मेरे स्वरूपमे रमते हैं—ऐसे निरन्तर सोत्साह प्रेमपूर्वक भजनेवालाको मैं अन्तकालम बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मेरे निकट हो जाते हैं।

अत भगवान्‌से इस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये कि हे प्रभो! अविवेकी जनाकी जैसी अविच्छिन्न प्रीति विषय-भोगाके सेवनमे होती है, वैसी ही मेरी प्रीति आपका स्मरण करते हुए मेरे हृदयसे कभी दूर न हो अर्थात् मेरे हृदयदेशम आपके प्रति अखण्ड प्रीति बनी रहे—

या प्रीतिरविवेकाना विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरत सा मे हृदयान्नापसर्पतु॥
(श्रीविष्णुपुराण १। २०। १९)

दमतक यार निबाहेगे

चाहे कुछ हो जाय उम्र भर तुझीको प्यारे चाहैगे।
सहैगे सब कुछ मुहब्बत दमतक यार निबाहैगे॥

तेरी नजरकी तरह फिरेगी कभी न मेरी यार नजर!
अब तो यो ही निभैगी, यो ही जिंदगी होगी बसर॥
लाख उठाओ कौन उठे है, अब न छुटेगा तेरा दर।
जो गुजरैगी, सहैगे, करैगे यो ही यार गुजर॥
करोगे जो जो जुल्म न उनको दिलवर कभी उलाहैगे।
सहैगे सब कुछ, मुहब्बत दमतक यार निबाहैगे॥

रुख फेरो, मत मिलो, देखनेको भी दूरसे तरसाओ।
इधर न देखो, रकीबाके घरमे प्यारे जाओ॥
गाली दो, कोसो, झिड़की दो, खफा हो घरसे निकलवाओ।
कत्ल करो या नीम-बिस्मिल कर प्यारे तड़पाओ॥
जितना करोगे जुल्म हम उतना उलटा तुम्हे सराहैगे।
सहैगे, सब कुछ, मुहब्बत दमतक यार निबाहैगे॥

—भारतेन्दु

भगवत्प्रेमका स्वरूप और महत्त्व

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

जीवमात्र भगवान्का अंश है। गीतामें भगवान् कहते हैं—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूत सनातन ' (१५।७)। भगवान्का अंश होनेके कारण जीवमें भगवान्के प्रति एक स्वत सिद्ध आकर्षण है। वह आकर्षण भगवान्की तरफ होनेसे 'प्रेम' और नाशवान् पदार्थों तथा व्यक्तियोंके प्रति होनेसे 'राग' (काम, आसक्ति अथवा मोह) हो जाता है। राग तो जन्म-मरणके चक्करमे पड़े हुए सम्पूर्ण जीवामे रहता है, पर प्रेम केवल भगवान् तथा उनके अनन्य भक्तामे ही रहता है*।

रागम सुख लेनेका भाव रहता है, प्रेममे सुख देनेका भाव रहता है। रागमे लेना-ही-लेना होता है, प्रेममे देना-ही-देना हाता है। रागमे जडताकी मुख्यता होती है प्रेममे चिन्मयताकी मुख्यता होती है। रागमे पराधीनता होती है, प्रेममे स्वाधीनता होती है। राग परिणाममे दु ख देता है, प्रेम अनन्त आनन्द देता है। राग नरकोकी तरफ ले जाता है, प्रेम भगवान्की तरफ ले जाता है। रागका भोक्ता जीव है, प्रेमके भोक्ता स्वय भगवान् हैं।

भगवान्में भी प्रेमकी भूख रहती है। इसलिये उपनिषद्मे आता है कि भगवान्का अकेलेमे मन नहीं लगा तो उन्होने सकल्प किया कि 'मैं एक ही अनेक रूपोमे हो जाऊँ।' इस सकल्पसे सृष्टिकी रचना हुई—

'एकाकी न रमते।' (बृहदारण्यक० १।४।३)

'सोऽकामयत। बहु स्या प्रजायेयेति।' (तैत्तिरीय० २।६)

'तदैक्षत बहु स्या प्रजायेयेति।' (छान्दोग्य० ६।२।३)

इससे सिद्ध होता है कि भगवान्ने मनुष्यको अपने लिये अर्थात् प्रेमके लिये ही बनाया है। भगवान्ने मनुष्यकी रचना न तो अपने सुखभोगके लिये की है और न उसपर शासन करनेके लिये की है प्रत्युत इसलिये की है कि वह मेरेसे प्रेम करे और मैं उससे प्रेम करूँ। तात्पर्य है कि भगवान्ने मनुष्यको अपना दास (पराधीन) नहीं बनाया है, प्रत्युत अपने समान (सखा) बनाया है। उपनिषद्मे आया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समान वृक्ष परिषस्वजाते।

(मुण्डक० ३।१।१ श्वेताश्वतर० ४।६)

इसलिये सम्पूर्ण योनियोमे एक मनुष्य ही ऐसा है, जो भगवान्से प्रेम कर सकता है, उनको अपना मान सकता है। जैसे पुत्र मूढतावश अलग हो जाय तो माता-पिता चाहते हैं कि वह हमारे पास लौट आये, ऐसे ही भगवान् चाहते हैं कि ससारम फँसा हुआ जीव मेरी तरफ आ जाय। भगवान्के इस प्रेमकी भूखकी पूर्ति मनुष्यके सिवाय और कोई नहीं कर सकता। देवतालोग भोगोम लगे हुए हैं, नारकीय जीव दु ख पा रहे हैं और चौरासी लाख योनियोके जीव मूढता (अज्ञान मोह)-मे पडे हुए हैं। एक मनुष्य ही ऐसा है जो अपनी मूढता मिटाकर यह मान सकता है कि 'मैं ससारका नहीं हूँ, ससार मेरा नहीं है' और 'मैं भगवान्का हूँ, भगवान् मेरे हैं।'

मनुष्य तो ससारमे राग करके भगवान्से विमुख हो जाता है, पर भगवान् कभी मनुष्यसे विमुख नहीं होते। भगवान्का मनुष्यके प्रति प्रेम ज्यो-का-त्या बना रहता है—*'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'* (मानस उत्तर० ८६।४)। इस प्रेमके कारण ही भगवान् मनुष्यको निरन्तर अपनी ओर खींचते रहते हैं। इसकी पहचान यह है कि कोई भी अवस्था परिस्थिति नित्य-निरन्तर नहीं रहती, बदलती रहती है। मनुष्य भगवान्के सिवाय जिस वस्तु या व्यक्तिको पकडता है, उसको भगवान् छुडा देते हैं। परतु अन्त करणमे ससारका महत्त्व अधिक होनेके कारण मनुष्य भगवान्के इस प्रेमको पहचानता नहीं। अगर वह भगवान्के प्रेमको पहचान ले तो फिर उसका ससारमे आकर्षण हो ही नहीं।

मुक्ति तो उनकी भी हो सकती है, जो ईश्वरको नहीं

---

* 'प्रेम ही भगवान् है'—ऐसा कहना ठीक नहीं है प्रत्युत 'भगवान्में प्रेम है'—ऐसा कहना चाहिये। कारण कि 'प्रेम ही भगवान् है'—ऐसा माननेसे भगवान् सीमित हो जाते हैं जबकि भगवान् असीम हैं। प्रेम भगवान्की विभूति है। दूसरी बात 'प्रेम ही भगवान् है'—ऐसा कहनेसे ज्ञानकी प्रधानता रहेगी और प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान नहीं होगा। अत 'भगवान्मे प्रेम है और उस प्रेमको प्रकट करनेके लिये ही भगवान् एकसे दो होते हैं।

मानते। परन्तु प्रेमकी प्राप्ति सबको नहीं होती। प्रेमकी प्राप्ति भगवान्‌में आत्मीयता (अपनापन) होनेसे होती है। भगवान् मुक्त अथवा ज्ञानी महापुरुषके वशमें नहीं होते, प्रत्युत प्रेमीके वशमें होते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

(श्रीमद्भा० ९।४।६३)

'हे द्विज! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ, स्वतन्त्र नहीं। मुझे भक्तजन बहुत प्रिय हैं। उनका मेरे हृदयपर पूर्ण अधिकार है।'

ज्ञानीको प्रेम प्राप्त हो जाय—यह नियम नहीं है, पर प्रेमीको ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है—यह नियम है। यद्यपि प्रेमी भक्तको ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है, तथापि उसमें किसी प्रकारकी कमी न रहे, इसलिये भगवान् उसको अपनी तरफसे ज्ञान प्रदान करते हैं—

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०।११)

'उन भक्तोंपर कृपा करनेके लिये ही उनके स्वरूप (होनेपन)-में रहनेवाला मैं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारको देदीप्यमान ज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

प्रेम ज्ञानसे भी विलक्षण है। ज्ञानमें उदासीनता है, प्रेममें मिठास है। जैसे, किसी वस्तुका ज्ञान होनेपर केवल अज्ञान मिटता है, मिलता कुछ नहीं। परन्तु 'वस्तु मेरी है'—इस तरह वस्तुमें ममता होनेमें एक रस मिलता है। तात्पर्य यह हुआ कि वस्तुके आकर्षणमें जो आनन्द है, वह वस्तुके ज्ञानमें नहीं है। इसलिये ज्ञानमें तो '*अखण्ड आनन्द*' है, पर प्रेममें 'अनन्त आनन्द' है। मोक्षकी प्राप्ति होनेपर मुमुक्षा अथवा जिज्ञासा तो नहीं रहती, पर प्रेम-पिपासा रह जाती है। भोगेच्छाका अन्त होता है, मुमुक्षा अथवा जिज्ञासाकी पूर्ति होती है, पर प्रेम-पिपासाका न अन्त होता है और न पूर्ति होती है, प्रत्युत वह प्रतिक्षण बढ़ती रहती है—'प्रतिक्षणवर्धमानम्' (नारदभक्ति० ५४)।

जैसे धनी आदमीको सदा धनकी कमी ही दीखती है—'*जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई*' ऐसे ही प्रेमी भक्तको सदा प्रेमकी कमी ही दीखती है। यदि अपनेमें प्रेमकी कमी न दीखे तो प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान कैसे होगा? अपनेमें प्रेमकी कमी मानना ही 'नित्यविरह' है। नित्यविरह और नित्यमिलन—दोनों ही नित्य हैं। इसलिये न तो प्रियतमसे मिलनकी लालसा पूरी होती है और न प्रियतमसे वियोग ही होता है—

अरबरात मिलिबे को निसिदिन,
मिलेइ रहत मनु कबहुँ मिलै ना।
'भगवतरसिक' रसिक की बातें,
रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना॥

ज्ञानमें तो तृप्ति हो जाती है—'आत्मतृप्तश्च मानवः' (गीता ३।१७), पर प्रेममें तृप्ति होती ही नहीं—

राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥

(मानस, उत्तर० ५३।१)

जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे॥

(मानस, अयोध्या० १२८।४-५)

इसलिये मुक्त होनेपर भी स्वयंमें अनन्तरसकी भूख रहती है। भगवान् श्रीरामको देखकर जीवन्मुक्त एवं तत्त्वज्ञानी राजा जनक कहते हैं—

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

(मानस, बाल० २१६।५)

'ब्रह्मसुख' में ज्ञानका अखण्डरस है और 'अति अनुराग' में प्रेमका अनन्तरस है। प्रेमकी जागृतिके बिना स्वयंकी भूखका अत्यन्त अभाव नहीं होता।

मुक्त होनेसे पहले जीव और परमात्मामें भेद होता है, मुक्त होनेपर अभेद होता है और मुक्त होनेके बाद जब प्रेमकी जागृति होती है, तब जीव (प्रेमी) और परमात्मा (प्रेमास्पद)-में अभिन्नता होती है। मुक्त होनेसे पहलेका भेद अहम्‌के कारण बाँधनेवाला होता है, पर मुक्त होनेके बाद अहम्‌का नाश होनेपर जो प्रेमी और प्रेमास्पदका भेद होता है, वह अनन्त आनन्द देनेवाला होता है—

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राग्जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥

(बोधसार, भक्ति० ४२)

'बोधसे पहलेका द्वैत तो मोहमें डाल सकता है, पर बोध होनेके बाद भक्तिके लिये कल्पित अर्थात् स्वीकृत द्वैत अद्वैतसे भी अधिक सुन्दर होता है।'

भक्तियोगमें तो सीधे ही प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है, पर ज्ञानयोगमें मुक्तिके बाद प्रेमकी प्राप्ति होती है—'मद्भक्तिं लभते पराम्' (गीता १८।५४)। ज्ञानयोगके जिस साधकमें भक्तिके संस्कार होते हैं, जो मुक्तिको ही सर्वोपरि नहीं मानता, उस साधकको मुक्ति प्राप्त होनेके बाद भी सन्तोष नहीं होता। अतः भगवान् अपनी अहैतुकी कृपासे उसके मुक्तिके अखण्डरसको फीका कर देते हैं और अपने प्रेमके अनन्तरसकी प्राप्ति करा देते हैं। परंतु जिस साधकमें भक्तिके संस्कार नहीं होते और जो मुक्तिको ही सर्वोपरि मानकर भक्तिका अनादर, तिरस्कार, खण्डन करता है, वह सदा मुक्त ही रहता है। उसको प्रेमकी प्राप्ति नहीं होती।

जिस साधनमें अपने उद्योगकी मुख्यता होती है, वह 'लौकिक' होता है और जिस साधनमें भगवान्‌के आश्रयकी मुख्यता होती है, वह 'अलौकिक' होता है। भगवान्‌ने कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंको 'लौकिक निष्ठा' बताया है—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥
(गीता ३।३)

परंतु भक्तियोग 'अलौकिक निष्ठा' है। कारण कि जो भगवान्‌के आश्रित हो जाता है, वह भगवन्निष्ठ होता है। उसका साधन और साध्य—दोनों भगवान् ही होते हैं। क्षर और अक्षर दोनों लौकिक हैं—'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च' (गीता १५।१६)। परंतु भगवान् अलौकिक हैं—'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' (गीता १५।१७)। कर्मयोग 'क्षर' (जगत्)-को लेकर और ज्ञानयोग 'अक्षर' (जीव)-को लेकर चलता है, पर भक्तियोग भगवान्‌को लेकर चलता है। अतः कर्मयोग और ज्ञानयोग—ये दोनों साधन हैं और भक्तियोग साध्य है। प्रेमलक्षणा भक्ति ही सर्वोपरि प्रापणीय तत्त्व है।

लौकिक साधनावाले जो साधक मोक्षको ही सर्वोपरि मानकर भक्तिका अनादर, उपेक्षा करते हैं, वे प्रेमके तत्त्वको समझ ही नहीं सकते। परंतु अलौकिक साधनावाला भक्त आरम्भसे ही भगवान्‌में अपनापन करके उनके आश्रित हो जाता है तो भगवान् उसको मोक्ष और प्रेम—दोनों प्रदान कर देते हैं।

शरीर तथा संसार 'पर' हैं और स्वयं तथा परमात्मा 'स्व' हैं। 'स्व' के दो अर्थ होते हैं—स्वयं और स्वकीय। परमात्माका अंश होनेसे हम परमात्माके हैं और परमात्मा हमारे हैं, अतः परमात्मा 'स्वकीय' हैं। स्वकीयकी अधीनतामें पराधीनता नहीं है, प्रत्युत असली स्वाधीनता है। जैसे, बालकके लिये माँकी अधीनता पराधीनता नहीं होती, क्योंकि माँ 'पर' नहीं है, प्रत्युत अपनी होनेसे 'स्वकीय' है। इसलिये माँकी अधीनतामें बालकका विशेष हित होता है और अपनेपर कोई जिम्मेवारी न होनेसे बालक निर्भय और निश्चिन्त रहता है।

मुक्ति प्राप्त होनेपर मुक्त महापुरुषमें अहम्‌की एक सूक्ष्म गन्ध रहती है। अहम्‌की यह गन्ध मुक्तिमें बाधक नहीं होती, प्रत्युत मुक्त महापुरुषोंमें मतभेद पैदा करनेवाली होती है। परंतु प्रेमकी प्राप्ति होनेपर अहम्‌का सर्वथा नाश हो जाता है, अहम्‌की सूक्ष्म गन्ध भी नहीं रहती—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥
(मानस उत्तर० ४९।६)

कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनोंका परिणाम एक ही होता है*। दोनोंके परिणाममें मनुष्य मुक्त हो जाता है अर्थात् जन्म-मरणसे सम्पूर्ण दुःखोंसे छूट जाता है और स्वाधीन हो जाता है। मुक्त होनेपर संसारकी निवृत्ति तो हो जाती है, पर प्राप्ति कुछ नहीं होती। परंतु भक्तियोगसे संसारकी निवृत्तिके साथ-साथ परमात्माकी तथा उनके प्रेमकी प्राप्ति भी हो जाती है। मुक्तिमें तो जीव स्वयं जीवन्मुक्तिके रसका आस्वादन करनेवाला होता है, पर प्रेम (परा भक्ति)-की प्राप्ति होनेपर वह रसका दाता हो जाता है। भगवान्‌को भी रस देनेवाला हो जाता है। जैसे कोई मनुष्य गङ्गाजलसे गङ्गाकी पूजा करे तो इसमें गङ्गाकी ही विशेषता हुई, मनुष्यकी नहीं। ऐसे ही भक्त भगवान्‌के दिये हुए प्रेमसे ही उनको रस देता है तो इसमें भगवान्‌की ही विशेषता हुई।

प्रेमकी प्राप्ति अपने बल, योग्यता, विद्या, यज्ञ, तप आदि साधनोंसे नहीं होती, प्रत्युत भगवान्‌को अपना

---

* सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते। एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ (गीता ५।४-५)

माननेसे होती है। बल, योग्यता आदिके बदले जो वस्तु मिलेगी, वह बल, योग्यता आदिसे कम मूल्यकी ही होगी। अगर किसी साधनके बदले साध्य मिलेगा तो वह साधनसे तुच्छ ही होगा और ऐसा साध्य मिलकर भी हमे क्या निहाल करेगा? इसलिये भगवान्‌को अपना माने बिना प्रेम-प्राप्तिका दूसरा कोई साधन हो ही नहीं सकता, क्योंकि भगवान् वास्तवमे अपने हैं। अपना वही होता है, जो कभी हमारेसे बिछुडता नहीं। एक भगवान् ही ऐसे हैं, जो हमारेसे कभी बिछुडते नहीं, सदा हमारे साथ रहते हैं—'सर्वस्य चाह हृदि सन्निविष्ट' (गीता १५।१५)।

भगवान् भक्तके अपनेपन (आत्मीयता)-को देखते हैं, यह नहीं देखते कि यह कैसा है, बद्ध है या मुक्त? जैसे बालक माँको पुकारता है तो वह बालकके बल, योग्यता विद्या आदिको न देखकर उसके अपनेपनको देखती है और उसको गोदमे ले लेती है। ऐसे ही जब भक्त अपनी स्थितिसे असतुष्ट होकर भगवान्‌को पुकारता है, तब भगवान् उसको अपना प्रेम प्रदान कर देते हैं।

जब जीव अपनेसे भी अधिक शरीर-ससारको महत्त्व देता है, तब वह बँध जाता है। जब वह शरीर-ससारसे भी अधिक अपनेको महत्त्व देता है, तब वह मुक्त हो जाता है। जब वह अपनेसे भी अधिक भगवान्‌को महत्त्व देता है, तब वह भक्त (प्रेमी) हो जाता है। प्रेमकी प्राप्ति होनेपर भक्त और भगवान् कभी दो हो जाते हैं, कभी एक हो जाते हैं। जब भक्त अपनी तरफ देखता है, तब 'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं'—ऐसा अनुभव होनेसे भक्त और भगवान् दो हो जाते हैं। जब भक्त भगवान्‌की तरफ देखता है, तब 'एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं है'—ऐसा अनुभव होनेसे भक्त और भगवान् एक हो जाते हैं। इस प्रकार द्वैत और अद्वैत दोनो होनेसे ही प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान होता है अर्थात् उसमे उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहती है, कभी पूर्णता नहीं आती।

प्रेमपन्थ

(पं० श्रीजानकीरामाचार्यजी)

मत मरम किसीसे कहना, जो आय पड़े सो सहना।
पर प्रेम-पन्थ मत तजना, प्रभु प्रेमरूप साकार है॥ १॥
प्रेम के कारण धरे विविध तन, सहे कष्ट प्रभु ने आकर।
विप्र-धेनु-सुर-सत-धर्म की, रक्षा की प्रभु ने आकर॥
मत मन मे जरा हिचकना, विश्वास हृदय मे धरना।
पर प्रेम-पन्थ मत तजना, प्रभु प्रेमरूप-साकार है॥ २॥
प्रेम के कारण शबरी के फल, खाये प्रभु ने बहुत बखान।
दुर्योधन-गृह त्याग सुमेवा, विदुर का केला छिलका पान॥
मत इसको कभी बिसरना, यह महिमा सदा सुमरना।
पर प्रेम-पन्थ मत तजना, प्रभु प्रेमरूप-साकार है॥ ३॥
प्रेम के कारण सखा विभीषण, अर्जुन औ सुग्रीव बने।
रावण-दुर्योधन-बाली को, प्रभु ने इनके हेतु हने॥
मत कभी किसीसे डरना, प्रभु-बलपर निर्भर रहना।
पर प्रेम-पन्थ मत तजना, प्रभु प्रेमरूप-साकार है॥ ४॥
प्रेम के कारण नामदेव-का, छप्पर प्रभु ने आ छाया।
नरसी मेहता की कन्या का, शुभ विवाह भी करवाया॥
मत यह सब झूठ समझना, 'श्रीरमण' प्रेमवश करना।
पर प्रेम-पन्थ मत तजना, प्रभु प्रेमरूप-साकार है॥ ५॥
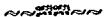
भगवत्प्रेम अर्थात् भक्ति

(महामहिम आचार्य श्रीविष्णुकान्तजी शास्त्री, राज्यपाल उत्तरप्रदेश)

भक्ति अर्थात् भगवान्‌के प्रति परा अनुरक्ति। भगवत्प्रेमकी भावना अत्यन्त प्राचीन कालसे मानव-मनको आप्लावित करती रही है। जिस दिन मानव-मनने इस ससारकी नियामक शक्ति या शक्तियासे भय करनेके स्थानपर प्रेम करना सीखा, उसी दिन उसमे भक्ति-भावका बीजारोपण हुआ जो निरन्तर फलता-फूलता गया। क्रमश उसने अनुभव किया कि अलग-अलग प्रतीत होनेवाली प्राकृतिक शक्तियाँ वस्तुत एक ही महाशक्ति या महासत्ताके विविध रूप हैं। वैदिक ऋषिने उदार घोषणा की—'एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।' सत्ता तो एक ही है, किंतु विद्वान् उसकी भिन्न-भिन्न क्षमताओके कारण उसे अग्नि, इन्द्र, यम मातरिश्वा आदि अनेकानेक नामोसे पुकारते हैं। एक ओर वैदिक ऋषियाने उस सत्ताको ईश कवि परिभू, स्वयम्भू आदि कहकर उसके महत्त्वके प्रति श्रद्धा व्यक्त की। दूसरी ओर उसे माता, पिता सखा पुकारकर उससे अपना प्रेममय सम्बन्ध भी जोडा। भक्तिके मूलमे श्रद्धा और प्रेमका युगपत् अस्तित्व ही है। उस परमतत्त्वको सत्, चित्, आनन्दस्वरूप मानकर कर्मको सत्‌से ज्ञानको चित्‌से और भक्तिको आनन्दसे जोडना भी सहज ही सम्भव हुआ।

कालान्तरमे भक्ति-साधकोने अपनी-अपनी रुचि और प्रीतिके अनुरूप अपने-अपने इष्टदेव चुने। इष्टदेवाकी बहुलताकी ओटमें जो सत्य प्राय अनदेखा रह जाता है वह यह हे कि नाम रूप लीला धामकी विविधताके बावजूद सभी इष्टदेवोम तात्त्विक एकता अन्तर्निहित है। सभी सच्चिदानन्दस्वरूप और सृष्टि स्थिति एव सहारके हेतु माने जाते हैं। इसी सचाईके कारण कहा जाता है कि सभी देवताआके प्रति नमस्कार केशवरूप परमात्मातक पहुँचता है। अत भारतीय भक्ति-साधना सभी देवी-देवताओके प्रति समादर रखते हुए अपने इष्टदेवके प्रति अनन्यताका भाव पोषित करती है, सघर्षका नहीं अपितु समन्वयका पथ प्रशस्त करती है।

भक्ति शब्दके अर्थ भजन, भाग और भजन—ये तीनो होते हैं। प्रस्तुत संदर्भमे पहला अर्थ ही मुख्य है, किंतु आचार्योने अन्य दोना अर्थोंकी उससे सगति बैठाते हुए कहा कि ससारके राग-द्वेष माया-मोहको भगकर अपनेको प्रभुके भागका मानकर भक्त भगवान्‌का प्रेमपूर्वक भजन अर्थात् रसास्वादन करता रहता है। भक्तिको ईश्वरके प्रति परा अनुरक्ति कहनेका अर्थ है—पहले गुरु, सतो या शास्त्रोके द्वारा अपनी क्षमताके अनुरूप प्रभुका बोध होनेके उपरान्त उनके प्रति प्रेम उत्पन्न होना। प्रेम परिचयसे पनपता है, अपरिचयसे नहीं। इसीलिये माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक सुदृढ स्नेहको भक्ति कहा जाता है। प्रेम तो प्रभुके प्रति भी हो सकता है और जगत्‌के किसी व्यक्ति, पदार्थ या क्षेत्रके प्रति भी। अत (लौकिक) प्रेम भी भक्तिका बाह्य रूप ही ठहरा किंतु उसका वास्तविक स्वरूप अमृतत्व है। जो प्रेम अमृत—शाश्वतके प्रति होता है और अमृतत्व प्रदान करता है, उसे ही भक्ति कहा जा सकता है। नश्वरके प्रति प्रेमको भक्ति नहीं माना जा सकता। इस अन्तरको दर्शानेके लिये ही भगवत्प्रेमको 'प्रेमा' पुकारा गया है और उसे ही परम पुरुषार्थ घोषित किया गया है—'प्रेमा पुमर्थो महान्।' भगवान्‌के प्रति सच्चा प्रेम अहैतुक होना चाहिये, उसका लक्ष्य प्रगाढतम भगवत्प्रेम ही हो सकता है, धर्म, अर्थ, कामकी तो बात ही नहीं उठती, मोक्षतक उसके समक्ष तुच्छ है। इसीलिये तुलसीदासजीने कहा है—*'साधन सिद्धि राम पग नेहू।'*

इससे भक्तिके दो रूप उभरते हैं—साधन भक्ति और साध्य भक्ति। भक्तिकी करण व्युत्पत्तिसे साधन भक्तिका अर्थ सकेतित होता है—'भज्यते, सेव्यते भगवदाकारमन्त करण क्रियतेऽनया' अर्थात् जिसके द्वारा भजा जाता है, सेवा की जाती है अन्त करणको भगवदाकार बनाया जाता है, वह साधन भक्ति है। इसीको गौणी भक्ति, वैधी भक्ति नवधा भक्ति आदि भी कहते हैं। भक्तिकी भाव-व्युत्पत्तिसे फलरूपा भक्तिका अर्थ प्राप्त होता है। 'भजनमन्त करणस्य भगवदाकारतारूप भक्तिरिति' अर्थात् भजन—अन्त करणकी भगवदाकारतारूपी भक्ति ही साध्य या फलरूपा भक्ति हे। इसीको परा भक्ति, सिद्धा भक्ति रागात्मिका भक्ति आदि भी कहते हैं। साधनकालमे भक्ति मनकी एक वृत्तिमात्र है जो सदा नहीं रहती अन्य वृत्तियाके प्रबल होनेसे दब जाती है किंतु साध्यरूपम भक्ति पूरे अन्त करणका रूपान्तरण ही कर देती है भक्तको भगवदीय बल्कि भगवान्‌से अभिन्न ही बना देती है, तभी—*'भक्ति, भक्त भगवन्त, गुरु चतुर नाम बपु एक'* की प्रतिज्ञा सिद्ध हो सकती है। परा भक्ति

है।' यह श्रुति सम्पूर्ण जगत्‌का ओंकारस्वरूप ही बतला रही है। उक्त प्रमाणोसे यह स्पष्ट हो जाता है कि परमेश्वरका मुख्य नाम प्रणव—ओंकार ही है।

(१) प्रणवजप-साधना—अब यहाँपर उपनिषद् कथित प्रणवजप-साधनाका वर्णन किया जा रहा है। जैसे कि श्रुतिमे कहा है—

स्वदेहमरणि कृत्वा प्रणव चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देव पश्येन्निगूढवत्॥

(श्वेता० १।१४)

ओंकारके उपासकको चाहिये कि अपने शरीरको तो नीचेकी अरणि और प्रणवको उत्तरारणि अर्थात् ऊपरकी अरणि समझे। फिर ध्यानरूप मथानीमे दीर्घकालतक मन्थन अर्थात् जप और ध्यान करते रहनेसे काष्ठम छिपी हुई अग्नि प्रज्वलित हो उठनेके समान साधकके अन्तर्हृदयमे छिपे हुए चैतन्य ज्योति स्वरूप परमेश्वरका वास्तविक स्वरूप भासमानके रूपमे दृष्टिगोचर होने लगता है अर्थात् प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता है। इससे साधक परमपद मोक्षको प्राप्त कर लेता है।

अभिप्राय यह है कि औपनिषदिक ऋषिने इस मन्त्रमे प्रणव-उपासनाको एक उपमालङ्कारके द्वारा समझानेका प्रयास किया है। जैसे बडे-बडे कर्मकाण्डी याज्ञिकलोग अग्निहोत्रादिक कर्म करनेवाले होते हैं, वे यज्ञकार्य-सम्पादनके लिये दो अरणि लेते हैं, जो विशेषरूपसे निर्मित दो काष्ठखण्ड होते हैं। उनमेंसे एकको नीचे और दूसरेको उसके ऊपर रखते हैं। फिर मन्थनदण्डपर रस्सी लपेटकर दधि-मन्थनके समान काष्ठखण्डका मन्थन करते हैं। मन्थन करते हुए जब उसमे उष्णता बढ जाती है, तब अग्नि प्रज्वलित हो जाती है और उस अग्निसे यज्ञादिक कार्य सम्पन्न करते हैं।

ठीक इसी प्रकारसे अपने शरीरको नीचेकी अरणि और प्रणव—ओंकारको उत्तरारणि समझकर ध्यानरूप मन्थन करे अर्थात् ध्यानाभ्यास ही मन्थन-कार्य है। अत उस प्रणव-मन्त्रका मानसिक जप और ध्यानका अभ्यास दीर्घकालतक करते रहनेसे समय आनेपर जिस प्रकार काष्ठके रगडसे काष्ठमे छिपी हुई अग्नि प्रज्वलित हो जाती है, उसी प्रकार शरीरके भीतर छिपी हुई ईश्वरीय सत्ता—चैतन्य ज्योति चन्द्रभास्करवत् भासमान होकर प्रत्यक्षगोचर होने लगती है और जिस साधकको वह अवस्था प्राप्त हो जाती है उसका जीवन धन्य बन जाता है। अत मुमुक्षु साधकको चाहिये कि प्रणव—ओंकारका जप और जगन्नियन्ता परमेश्वरके दिव्य ज्योतिष्मान् स्वरूपका ध्यान करता रहे। इससे शीघ्र ही ईश्वरदर्शन तथा मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इसलिये शास्त्रमे कहा भी है—

यस्तु द्वादशसाहस्र नित्य प्रणवमभ्यसेत्।
तस्य द्वादशभिर्मासै परब्रह्मप्रकाशते॥

(यतिधर्म-प्रकाश)

जो साधक एक वर्षतक नित्यप्रति बारह हजारकी सख्यामे प्रणव—ओंकार-मन्त्रका जप और ईश्वर-स्वरूपका ध्यान करता है उसे एक वर्षमे ही ब्रह्मदर्शन-लाभ हो जाता है। परतु यह लाभ उत्तम अधिकारीके लिये है। मध्यम तथा कनिष्ठ अधिकारीके लिये विलम्बसे भी हो सकता है।

(२) ब्रह्मत्वलाभकी साधना—यह प्रसग काठक श्रुतिका है। काठक श्रुतिमे धर्मराज (यम)-ने ऋषिकुमार नचिकेताको ब्रह्मानुभूति प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मविद्याका उपदेश करते हुए एक सुन्दर रहस्यपूर्ण मोक्ष-मार्गका दिग्दर्शन कराया है, जो वस्तुत सभीके लिये अनुकरणीय है। ध्यान-साधनाके द्वारा किस प्रकार उस मोक्षमार्गकी साधनामें सफलता प्राप्त की जा सकती है, उसके एक विशेष क्रमबद्ध उपायभूत साधनको प्रस्तुत किया है। आगे इसी विषयपर किञ्चित् चर्चा की जाती है। कठोपनिषद्‌मे कहा है—

इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च पर मन ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् पर ॥
महत परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुष पर ।
पुरुषान्न पर किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गति ॥

(१।३।१०-११)

इन्द्रियाँ दस हैं। दसो इन्द्रियोकी अपेक्षा उनके विषय श्रेष्ठ हैं, विषयोसे मन श्रेष्ठ है, उत्कृष्ट है। मनसे भी बुद्धि पर है, श्रेष्ठ है। बुद्धिसे भी महत्तत्त्व श्रेष्ठ है अर्थात् उत्कृष्ट है। महत्तत्त्वसे भी अव्यक्त मूल प्रकृति या माया पर है श्रेष्ठ है। अव्यक्त प्रकृति या मायासे भी पुरुष (ब्रह्म) पर है। पुरुषसे पर और कुछ नहीं है। वही सूक्ष्मत्वकी पराकाष्ठा है, हद है। परा याने उत्कृष्ट गति भी यही है।

उक्त मन्त्रम इन्द्रिय तथा मन आदिको एककी अपेक्षा सूक्ष्म और पर बताया गया है। परका अभिप्राय सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर है और श्रेष्ठ है। कारण यह है कि प्रतिलोमक्रमसे साधनाके द्वारा इन्हीं तत्त्वोको क्रमश लाँघते हुए अन्तम उस ब्रह्मतत्त्वतक पहुँचना होता है। परतु जिस ब्रह्मतक हमें पहुँचना है, वह ब्रह्म तो अव्यक्त और निराकार बताया गया

है। ऐसी स्थितिमे उसका दर्शन या साक्षात्कार कैसे सम्भव हो सकता है? इस विषयम श्रुति कहती है—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभि ॥

(कठोपनिषद् १।३।१२)

सम्पूर्ण भूतामे छिपा हुआ यह ब्रह्मतत्त्व प्रकाशमान नहीं होता। यह तो सूक्ष्मदर्शी पुरुषाद्वारा अपनी तीव्र और सूक्ष्म बुद्धिसे ही देखा जाता है। गीता (७।२५)-म इसी बातको इस रूपमे कहा गया है—'नाह प्रकाश सर्वस्य योगमायासमावृत ।' अर्थात् योगमायासे आवृत हुआ मैं सबके प्रति प्रकाशित नहीं होता।

इसलिये यमराजने नचिकेताके समक्ष कई स्तरासे युक्त एक सुन्दर ओर सुगम मोक्षमार्गको दर्शाया है, जो मुमुक्षुमात्रके लिये अनुकरणीय हे। वे स्तर इस प्रकार हैं—इन्द्रियमण्डल मनस्तत्त्व बुद्धितत्त्व, महत्तत्त्व ओर अव्यक्त प्रकृति या मायाका स्तर—ये पाँच स्तर हैं, परतु साधनकालम पाँच नहीं अपितु सात स्तर बन जाते हैं। यथा—(१) दस इन्द्रियमण्डल, (२) मनस्तत्त्वमण्डल, (३) बुद्धिमण्डल, (४) अहमण्डल (५) चित्तमण्डल, (६) महत्तत्त्वमण्डल और (७) अव्यक्त प्रकृति या मायाका स्तर। इन तत्त्वोका प्रतिलोमक्रमसे या लयक्रमसे क्रमश उपसहार करते हुए चेतनाके स्तरतक पहुँचना होता हे क्योकि अन्तिम लक्ष्य या ध्येय यही है। अब उपर्युक्त तत्त्वाका किस क्रमसे उपसहार या लय करना चाहिये उसके क्रम-साधनको आगे बतलाते हैं। यथा—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

(कठोपनिषद् १।३।१३)

इस मन्त्रका भाव नितान्त गूढतम हे। फिर भी इस रहस्यको सरल भाषामे व्यक्त करनेका प्रयास किया जा रहा है। प्रथम इस लय-साधनाका या ध्यान-साधनाका अभ्यास करनेके लिये बाह्याभ्यन्तर शुद्ध—पवित्र होकर शान्त एव एकान्त स्थानमे बैठे। ध्यानमे बैठकर सर्वप्रथम अपनी बहिर्मुखी दसो इन्द्रियोका सयमपूर्वक आन्तरिक भावनाके द्वारा मनमे लय अर्थात् उपसहार करे। इन्द्रियाका इस प्रकारसे उपसहार करे कि ये ध्यानाभ्यासकालतक पुन बहिर्मुखी न होने पाये। इन्द्रियाको मनमे लय कर देनेके पश्चात् फिर मनमण्डलको भी बुद्धिमण्डलम लय कर दे अथात् उपसहार करे। उसके बाद बुद्धिमण्डलको भी अहमण्डलमे लय कर दे अर्थात् उपसहार कर दे। उस कालम अहके अतिरिक्त अन्य किसीका भी कार्य-व्यापार आदि न होने पाय। उसके अनन्तर अहमण्डलको भी चित्तमण्डलमे लय कर दे*। फिर उस चित्तमण्डलको भी समष्टि महत्तत्त्वमण्डलम लय कर दे। उस समय केवल समष्टि महत्तत्त्वका ही अनुभव करे, व्यष्टि-चित्तका नहीं। उसके बाद महत्तत्त्वको भी उस अव्यक्त प्रकृति या मायामें लयभावको प्राप्त करा दे अर्थात् उपसहार करे। उसके अनन्तर अव्यक्त प्रकृति अर्थात् मायाको भी उस स्वय प्रकाश ब्रह्मम विलीन करके या लय करके उपसहार करे और ब्रह्माकारवृत्तिमे स्थित हो जानेका प्रयास करे। श्रुतिमे कहा भी है—'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्डक० ३।२।९)। ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है। अत पूर्णरूपेण ब्रह्मत्वभावका अनुभव करे। यही इस साधनाका अन्तिम लक्ष्य या ध्येय है। क्योकि अन्य श्रुतिम स्पष्ट कहा है—'पुरुषान्न पर किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गति ॥' (कठ० १।३।११) अर्थात् पुरुष (ब्रह्म)-से परे और कुछ नहीं हे। वही सूक्ष्मत्वकी पराकाष्ठा है। वही परा-सर्वोत्कृष्ट गति है। गीता (१५।६)-म भी कहा है कि 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परम मम॥' जिस परम पदको प्राप्त करके मनुष्य फिर इस ससारमे पुन लौटकर नहीं आते, वही मेरा (परमात्माका) परम धाम हे अर्थात् मोक्षपद है।

परतु पूर्वोक्त यह मोक्ष-साधन एक बार अभ्यास करनेमात्रसे कुछ नहीं बनेगा, प्रत्युत पुन -पुन दीर्घकालतक इसका अभ्यास करना नितान्त आवश्यक होगा। दीर्घकालके अभ्याससे साधना दृढभूत बन जानेपर साधक स्वय ही अनुभव करेगे कि—

एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादह पश्चादह पुरस्तादह दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदः सर्वमिति॥

(छान्दोग्योपनिषद् ७।२५।१)

मैं ही नीचे ऊपर आगे पीछे, दायीं और बायीं ओर हूँ तथा मैं ही यह सब हूँ। यह इस साधनाकी परिपूर्णता है।

---

* उक्त चित्तमण्डलको भी शान्तात्मामें लय अथवा उपसहार करके प्रत्यगात्मस्वरूपका अनुभव करे। यह व्यष्टि लय-साधना होगी। पर इस प्रकार आत्मानुभूतिसे भी कैवल्य मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

दास्य-प्रेम

(आचार्य श्रीकृपाशंकरजी महाराज, रामायणी)

'विष्णोर्दास्यम्'—'दासस्य भाव दास्यम्।' मैं श्रीहरिका दास हूँ—इस प्रकारकी सुदृढ भावना और उसके अनुकूल आचरण करनेका नाम दास्य-भक्ति है। जो भी कर्म किया है, उसको श्रीहरिके श्रीचरणोमे समर्पित कर देनेका ही नाम दास्य-भक्ति है—'स्वस्मिन् तद् दासत्वभावनया तदनुकूलाचरण कृतस्य कर्मणस्तस्मिन्नर्पण च दास्यम्।' श्रीभगवान्के साथ जुडना ही महान् सौभाग्य है। दास्यभावसे सम्बन्धित होना तो परम दुर्लभ है—'हरेर्दास्य सुदुर्लभम्।' 'मैं श्रीविष्णु-भगवान्का दास हूँ'—इस प्रकारका मन्तव्य अर्थात् भाव रखते हुए भक्तिके अनुष्ठान करनेका नाम 'दास्य-भक्ति' है। सहस्रो जन्मोकी साधनाके परिणामस्वरूप 'श्रीवासुदेवका दास हूँ'—इस प्रकारकी भावना समुत्थ होती है। ऐसा भगवान्का दास सम्पूर्ण लोकोका भलीभाँति उद्धार कर देता है। श्रीनारदजी अपने भक्तिसूत्र (५०)-मे कहते हैं—'स तरति स तरति स लोकास्तारयति॥' अर्थात् भगवान्का दास स्वय तो मायासे पार हो जाता है, दूसरोको भी मायासे पार कर देता है।

इस प्रकार दास्य-भक्तिके लक्षण कहे गये हैं। भजन-साधन करनेकी बात तो दूर रही 'मैं श्रीहरिका दास हूँ'—केवल इस अभिमानसे ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है अर्थात् प्रेमभक्ति प्राप्त हो जाती है। इस अभिप्रायसे ही नवधा भक्तिके वर्णनमें श्रवण, कीर्तन स्मरण पादसेवन, अर्चन तथा वन्दन—इन छ अङ्गोके उल्लेखके पश्चात् दास्य-भक्तिका निर्देश किया गया है। आगे वर्णित 'जन्मान्तर०' श्लोकके अन्तमे यह कहा गया है कि दास्य-अभिमानसे मानव समस्त जीवोका उद्धार करनेमें समर्थ हो जाता है और जो स्वय भगवद्गतप्राण हैं, संयतेन्द्रिय हैं, दास्य-भक्ति उनका उद्धार कर देती है। इस विषयमे तो कहना ही क्या है? अर्थात् उनका उद्धार तो सुनिश्चित ही है।

श्रीप्रह्लादजीके द्वारा की गयी स्तुतिके 'तत् तेऽर्हत्तम' इस पद्यमे तो नमस्कार, स्तुति, सर्वकर्मार्पण परिचर्या-सेवापूजा चरणकमलोका चिन्तन और लीलाकथाका श्रवणरूप दास्य ही सदा कर्तव्य कहा गया है अर्थात् 'मैं दास हूँ' इस अभिमानमे ही समस्त अङ्गोका अनुष्ठान करनेमे कृतकृत्यताका अनुभव होता है—अथ दास्यम्। तच्च श्रीविष्णोर्दास मन्यत्वम्।

जन्मान्तरसहस्रेषु यस्य स्यान्मतिरीदृशी।
दासोऽह वासुदेवस्य सर्वाँल्लोकान् समुद्धरेत्॥

इत्युक्त लक्षणम्। अस्तु, तावद् भजनप्रयास केवल तादृशत्वाभिमानेनापि सिद्धिर्भवतीति अभिप्रेत्यैवोत्तरग्रनिर्देशश्च तस्य। यथोक्त जन्मान्तरेत्येतत्पद्यस्यैवान्ते, किम्पुनस्तद्गतप्राणा पुरुषा सयतेन्द्रिया इति। श्रीप्रह्लादस्तुतौ 'तत् तेऽर्हत्तम' इत्यादि पद्ये तु नम स्तुतिसर्वकर्मार्पणपरिचर्याचरणस्मृति-कथाश्रवणात्मक दास्य टीकाया सम्मतम्। (जीवगोस्वामी)

तत् तेऽर्हत्तम नम स्तुतिकर्मपूजा
कर्म स्मृतिश्चरणयो श्रवण कथायाम्।
ससेवया त्वयि विनेति षडङ्गया कि
भक्ति जन परमहसगतौ लभेत॥

(श्रीमद्भा० ७।९।५०)

जीवमात्रका लक्ष्य श्रीठाकुरजीकी सेवा ही है। श्रीभगवान्के निज भक्तलोग श्रीहरिके दास्यभावकी ही अभिलाषा करते हैं। दासभक्त वृत्रासुर समराङ्गणमे युद्ध करते-करते अपने शत्रु देवराज श्रीइन्द्रसे ही अपने आराध्यकी सत्कृपाकी चर्चा करने लगे। हे इन्द्र! मेरे स्वामीकी मुझपर महती अनुकम्पा है। यदि इन्द्र यह कहे कि कृपा तो मुझपर है, यह प्रत्यक्ष है तो इसके उत्तरमे वृत्रासुर कहते हैं—हे देवेन्द्र! मेरे स्वामीकी अहैतुकी कृपाका अनुभव—भगवत्प्रसादका अनुभव सामान्य जन नहीं कर सकते, उसका अनुभव तो उनके अकिञ्चन भक्त ही कर सकते हैं। अकिञ्चनेतर लोगोंके लिये वह दुर्लभ है—

ततोऽनुमेयो भगवत्प्रसादो
यो दुर्लभोऽकिञ्चनगोचरोऽन्यै ॥

(श्रीमद्भा० ६।११।२३)

निष्ठाका वास्तविक परिचय तो विपत्तिकालमें किंवा विपरीत परिस्थितिमें ही मिलता है। इस परिस्थितिमें वृत्रासुरके इन वचनोको श्रवण करके करुणामय श्रीहरि

इन्द्रजीके वज्रमे ही दर्शन देकर वृत्रको कृतार्थ करत हुए मानो कह रहे हैं—हे वृत्र! तुम्हारी जो भी अभिलाषा हो माँग लो। वृत्रासुर गद्गद हो गये। उन्होने प्रसन्न होकर प्रार्थनापूर्वक याचना की—हे हरे! आपके मङ्गलमय श्रीचरणारविन्द जिनके एकमात्र आश्रय हैं, जो अनन्यभावस आपके श्रीचरणसरसिजोका ही एकमात्र सेवन करते है, आपक उन दासोका अनुदासत्व ही मैं पुन प्राप्त करूँ। यदि प्रभु प्रश्न करे कि समस्त दु खोका अत्यन्ताभाव ही जीवमात्रका लक्ष्य हे, वह मोक्षके बिना सम्भव नहीं है तब तुम दास्यभाव किवा दासानुदासत्वकी क्यो याचना करते हो? तो इसके उत्तरम वह 'हरे' सम्बोधन करते हैं। भाव यह हे कि दास्यभावकी उपासना करनेसे आप स्वय ही अपने दासोके त्रिविध एव विविध दु खोका अपनोदन करते हैं।

फिर दूसरा प्रश्न है कि दास्यभावके स्थानपर तुम दासानुदास क्या बनना चाहते हो? इसका उत्तर यह है—साक्षात् प्रभुके दास्यभावम 'में सर्वोत्तम दास हूँ' इस प्रकारके अभिमान होनेकी सम्भावना हो सकती हे और इस अभिमानसे अन्य भक्तोके तिरस्कारकी—अपमानकी भी सम्भावना सम्भव है। इसके परिणामस्वरूप दासत्व भी समाप्त हो सकता है। इसका अनुभव मैंने पूर्वजन्मम चित्रकेतुके रूपमे किया है एतावता देन्यसिद्धिके लिय दास-दासत्वकी याचना ही उचित हे। निर्दिष्ट श्लोकमे आये हुए 'भूय' पदका भाव यह है कि पूर्वजन्मम भी चित्रकेतुके रूपमे आपका ही दास था अत भविष्यमे भी दासत्व ही प्रदान करे। किवा पूर्वजन्मम चित्रकेतुके रूपम भी मैं दासानुदास ही था। परम वैष्णव भगवान् गौरीनाथ चित्रकेतुकी श्लाघा करते हुए श्रीपार्वतीजीसे कहते हैं—हे गिरिजे! अद्भुतकर्मा श्रीहरिके नि स्पृह और महान् हृदयवाले दासानुदासोकी महती महिमाको तुमने दर्शन किया अनुभव किया?

> दृष्टवत्यसि सुश्रोणि हरेरद्भुतकर्मण ।
> माहात्म्य भृत्यभृत्याना नि स्पृहाणा महात्मनाम्॥
>
> (श्रीमद्भा० ६।१७।२७)

वृत्रासुर कहते हैं—ह प्रभो! भविष्यम भी हम 'दासानुदासत्व' ही प्रदान कर।

इस प्रकार दासानुदासत्वकी प्रार्थना करके दास्यधर्मकी याचना करते हैं—हे स्वामिन्! मेरा मन अपने प्राणनाथका—आपका सदा चिन्तन करे। मेरी वाणी आपके गुणोका सङ्कीर्तन कर। मेरा शरीर आपकी सेवा करे। सेवा उसे कहत हैं—जिस प्रकार स्वामीको सुख मिले, वह कर्म करे, अणुमात्र भी स्वार्थपरत्व न हो अर्थात् अपने सुखकी कामना न हो—

> अह हरे तव पादैकमूल-
> दासानुदासो भवितास्मि भूय ।
> मन स्मरेतासुपतेर्गुणास्ते
> गृणीत वाक् कर्म करोतु काय ॥
>
> (श्रीमद्भा० ६।११।२४)

श्रीहरिका दास्य-कैङ्कर्य किम प्रकार करना चाहिये? इसके लिये आदर्शरूपमे राजर्षि श्रीअम्बरीषका चरित्र एव उनकी केङ्कर्यनिष्ठासे शिक्षा लेनी चाहिये। दास्यभावकी निष्ठाकी सुपरिपक्वताके लिये उनकी केङ्कर्यनिष्ठाका ज्ञान आवश्यक है।

उन्होने सबसे पहले अपने मनको श्रीकृष्णके मधुमय श्रीचरणारविन्दोके मकरन्दरसका समास्वादन करनेवाला मधुप बनाया। भक्तको सर्वप्रथम अपन मनको ही नियन्त्रित करना चाहिये। मन यदि श्रीठाकुरजीके श्रीचरणारविन्दका दास बन गया तो और समस्त इन्द्रियाँ स्वयमव दास्यभावसे प्रतिष्ठित हो जायँगी। श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि राजर्षि अम्बरीषका मन भगवच्चिन्तनपरायण बन गया। उन्होने अपनी वाणीको भगवद्गुण-वर्णनप्रवण कर दिया। अपने हाथोको श्रीहरिके मन्दिरके मार्जन आदि व्यापारमें लगा दिया। 'आदि' शब्दका भाव है—पूजाके पात्रोकी सेवा उनको धोने आदिकी सेवा भी स्वय अपने हाथोसे करते हैं। अपने श्रोत्रोको श्रीभगवान् अच्युतकी—ससारदु खनिवर्तिकी कथामे लगा दिया अर्थात् कानोसे सर्वकाल मनोहर भगवच्चरित्रोको श्रवण करते थे। अपने नेत्रोसे मुक्तिदाता भगवान् श्रीमुकुन्दके मन्दिर और अर्चाविग्रहके दर्शन करते थे। अपने उत्तमाङ्ग—मस्तकसे भगवद्भक्तोके पावन चरणोका अभिवादन करते थे। किसी ससारी व्यक्तिके परिष्वङ्गके लिय शरीरका उपयोग नहीं करते थे, अपितु सेवा करनके लिये भगवद्भक्तोके पावन गात्रका स्पर्श करते थे। नासिकासे भगवच्चरणारविन्दसलग्न दिव्यातिदिव्य तुलसीजीका आघ्राण करते थे। अपनी रसनासे भगवान्को समर्पित नैवेद्य-प्रसाद

ग्रहण करते थे—रसतृष्णासे किसी पदार्थका सेवन नहीं करते थे।

भगवान् श्रीहरिके क्षेत्र—श्रीअयोध्या, वृन्दावन आदिमे अपने चरणोसे बार-बार जाते थे। अपने मस्तकसे इन्द्रियाके नियन्ता भगवान् श्रीहृपीकेशके पावन श्रीचरणाकी वन्दना करत थे। राजर्पि अम्बरीपने माला, चन्दन आदि भोगसामग्रीको श्रीभगवान्‌की सेवामे समर्पित कर दिया था। भागनेकी कामनासे नहीं, अपितु इसलिये कि इससे वह भगवत्प्रेम हम मिल जाय, जो प्रेम उत्तमश्लोक श्रीहरिके भक्ताम ही निवास करता है। आशय यह है कि विषयकी कामनासे पुष्पमाला धारण नहीं किया, अष्टगन्धमिश्रित चन्दनका अनुसेवन नहीं किया। इससे यह निश्चित हुआ कि वे भगवान् श्रीवासुदेवम परम भावको प्राप्त हो गये थे। उनके समस्त अनुष्ठान श्रीहरिके लिये थे। इस प्रकार श्रीहरिके दास्यभाव—कैङ्कर्यके वे मूर्तिमान् स्वरूप थे—

स वै मन कृष्णपदारविन्दयो-
वर्चासि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुति चकाराच्युतसत्कथोदये॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ
तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम् ।
घ्राण च तत्पादसरोजसौरभे
श्रीमत्तुलस्या रसना तदर्पिते॥
पादौ हरे क्षेत्रपदानुसर्पणे
शिरो हृपीकेशपदाभिवन्दने।
काम च दास्य न तु कामकाम्यया
यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रति ॥

(श्रीमद्भा० ९।४।१८—२०)

श्रीहरिके दास होनेके कारण राजर्षि अम्बरीपके गुण महान् थे। स्मरण रहे, ससारके दासत्वसे दापका सग्रह होता है और श्रीहरिके दासत्वसे जीवनम अनन्त गुणाका समावश हा जाता है। इसलिये जीवमात्रको श्रीभगवान्‌का दासत्व स्वीकार करना चाहिये।

महर्पि दुर्वासा जब सब ओरसे निराश हाकर श्रीअम्बरीपकी शरणम गये तब राजाने श्रीहरिक तेजामय चक्रसे प्रार्थना करक उनकी रक्षा की। अत्रिनन्दन दुवासा कृतकृत्य होकर श्रीअम्बरीपसे कहते हैं—अहो! नाम, रूप, गुणसे अनन्त भगवान् श्रीअनन्तके दासाकी अनन्त महिमाका आज मैंने साक्षात् दर्शन किया। हे राजन्! मैंन आपको मार डालनेकी इच्छासे अपराध किया, परतु आपने तो मेरा मङ्गल किया—श्रीहरिके सुदर्शनचक्रसे प्रार्थना करके अपनी साधनाको अर्पण करके मेरे प्राणाकी रक्षा की। यह हरिदासाका महत्त्व हे। धन्य हें, हरिदास!

अहो अनन्तदासाना महत्त्व दृष्टमद्य म।
कृतागसोऽपि यद् राजन् मङ्गलानि समीहसे॥

(श्रीमद्भा० ९।५।१४)

अनसूयानन्दन दुर्वासा पुन कहते हैं—जिन श्रीहरिके मङ्गलमय नामाके श्रवणमात्रसे जीव सर्वथा निर्मल हो जाता है—राग, द्वेष लोभ, काम, क्रोध आदि विकारासे रहित हो जाता हे। जो तीर्थपद हैं—श्रीगङ्गा आदि पुण्य तीर्थोके परम आश्रय जिनके श्रीचरणारविन्द है, ऐसे ही श्रीहरिके चरणसरसिजोके जा दास हैं—निष्ठापूर्वक जिन्होन उनका दासत्व-कैङ्कर्य किया हे उनके लिये कोन-सा कर्तव्य अवशिष्ट रहता हे अर्थात् समस्त कर्तव्य पूर्णतया सम्पन्न हो जाता है—

यन्नामश्रुतिमात्रेण पुमान् भवति निर्मल ।
तस्य तीर्थपद किं वा दासानामवशिष्यते॥

(श्रीमद्भा० ९।५।१६)

श्रीभगवान्‌के अनन्य दास उनकी मायाके ऊपर भी विजय प्राप्त कर लेते हैं। इसका प्रमाण हम श्रीउद्धवजीक गम्भीर वचनोसे प्राप्त होता है।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके परम प्रिय सखा विश्वस्त सलाहकार श्रीउद्धवजी श्रीहरिसे कहते हैं—हे स्वामिन्! आप हमारा परित्याग मत कर। हम आपके प्रेमी भक्त हैं, हम आपके बिना कैसे रहग? हे प्रभा! हम यह भय नहीं है कि आपके न रहनेपर हम माया व्याप्त हो जायगी क्याकि आपकी मायाको जीतनेम हम समर्थ हें। इसका आशय यह है कि तुम्ह अपनी साधनाका महान् अभिमान है? नहीं, नहीं हम अपन बलका अपनी साधनाका अपनी सामथ्यका किञ्चिन्मात्र भी गव नहीं है। हे अच्युत! हम तो आपके जूठनका अभिमान हैं आपके दासत्वका अभिमान है। आपकी माया आपक दासाक ऊपर अपना

पराक्रम नहीं कर सकती है। हे मेरे परमाराध्य! हमने आपकी धारण की हुई माला पहनी, आपके लगाये हुए चन्दन लगाये, आपके उतारे हुए वस्त्र पहने और आपके धारण किये हुए गहनोंसे अपने-आपको सजाते रहे। हम आपकी जूठन खानेवाले दास हैं। इसलिये हम आपकी मायाके ऊपर अवश्य ही विजय प्राप्त कर लेंगे। एतावता हम आपकी मायाका भय नहीं है हम तो एकमात्र आपके दुःसह वियोगका ही भय है। आगेके श्लोकके व्याख्यामें आये हुए 'जयेम' शब्दका भाव यह है कि यदि वह माया हमारे प्रति आक्रमण करनेके लिये आयेगी तो भी आपके दासत्वके अस्त्रसे ही हम प्रबल होकर उसके ऊपर विजय प्राप्त कर लेंगे। ज्ञान-बलसे उसे नहीं पराजित कर सकेंगे—

जयेम इति सा यद्यस्मान् प्रतिविक्राम्यन्ती आयाति तर्हि एतैरावास्त्रैः प्रबलीभूय तां जयेम न तु ज्ञानादिभिरित्यर्थः। (श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती)

त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलङ्कारचर्चिता।
उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि॥
(श्रीमद्भा० ११।६।४६)

जीवमात्रका स्वाभाविक परिचय यह है कि वह श्रीरामजीका दास है। श्रीरामजी अनादिकालसे जीवमात्रके स्वामी हैं सेव्य हैं और सर्वस्व हैं। जीव भी अनन्त कालसे श्रीरामजीका दास तथा सेवक है। श्रीरामजीका दासत्व-सेवा-कैङ्कर्य ही जीवका प्रधान कर्तव्य है। दास्य-भक्तिके परम आदर्श श्रीहनुमान्‌जी शत्रुकी नगरी लङ्कामें जाकर शत्रुओंके कानोंको विदीर्ण करते हुए यह घोषणा करते हैं—मैं अक्लिष्टकर्मा परम समर्थ भगवान् श्रीरामका दास हूँ। श्रीहनुमान्‌जी राक्षसोंको देखकर अपनी विशाल पूँछको भूमिपर पटककर लङ्काको प्रतिध्वनित करते हुए गर्जना करने लगे। उस समय श्रीहनुमान्‌जी उच्चस्वरसे गर्जना करते हुए घोषणा करते हैं—

जयत्यतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबलः।
राजा जयति सुग्रीवो राघवेणाभिपालितः॥
दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
हनूमाञ्शत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः॥
न रावणसहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत्।
शिलाभिश्च प्रहरतः पादपैश्च सहस्रशः॥
अर्दयित्वा पुरीं लङ्कामभिवाद्य च मैथिलीम्।
समृद्धार्थो गमिष्यामि मिषतां सर्वरक्षसाम्॥
(वा०रा० ५।४२।३३—३६)

इस घोषणाका एक-एक शब्द मन्त्रकी भाँति महत्त्वपूर्ण है। भक्तलोग यात्रामें मङ्गल प्राप्त करनेके लिये इन श्लोकोंका स्मरण करते हैं। अनेक लोग श्रीमद्वाल्मीकीय-रामायणका पाठ करते समय सर्गके आद्यन्तमें इन श्लोकोंका सम्पुट लगाते हैं। अनेक लोग अनेक प्रकारके मनोरथोंको सिद्ध करनेके लिये अनेक विधानोंमें जप भी करते हैं। इन श्लोकोंमें श्रीहनुमान्‌जीके सहज स्वरूप दास्यभाव, सहज निष्ठा साहस और भगवत्कृपापर विश्वासका परिचय मिलता है। मैंने मूलरूपसे इन श्लोकोंकि महत्त्वकी व्याख्या की है। श्रीहनुमान्‌जी अत्यन्त निष्ठा उत्साह और स्नेहपूर्वक अपने परमाराध्यका जयघोष कर रहे हैं। इन श्लोकोंका भाव है—

अत्यन्त बलवान् भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी जय हो। महाबलसम्पन्न श्रीलक्ष्मणजीकी जय हो। वालीका वध करके श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा सुरक्षित वानरेन्द्र श्रीसुग्रीवजीकी जय हो। श्रीहनुमान्‌जी मङ्गलाचरण करके सबसे पहले अपना परिचय देते हैं। जीवका सहज परिचय क्या है? श्रीहनुमान्‌जी इसका उत्तर अनायाससे देते हैं—'दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य' अर्थात् अक्लिष्टकर्मा कोसलेन्द्र श्रीरामजीका मैं दास हूँ, मेरा नाम हनुमान् है। मैं पवनदेवका पुत्र हूँ तथा शत्रुसेनाका मस्तक विदीर्ण करनेवाला हूँ। जब मैं हजारों वृक्षों एवं सहस्रों शिलाखण्डोंसे प्रहार करने लगूँगा तब सहस्रों रावण समवेत होकर भी मेरे बलकी समानता नहीं कर सकते। मैं लङ्कापुरीको तहस-नहस कर डालूँगा और सबके देखते-देखते—चोरीसे नहीं श्रीमिथिलेश-नन्दिनीके श्रीचरणोंमें अभिवादन करके जिस कार्यके लिये आया हूँ, उस कार्यको पूर्ण करके—सफलमनोरथ हो करके अपने आराध्य श्रीरामजीके पास चला जाऊँगा। इस प्रकारकी श्रीहनुमान्‌जीकी गर्जना सुन करके समस्त राक्षस भयभीत और आतङ्कित हो गये।

संसार एवं संसारीको दास अपनेको दास कहनेमें नीचताका लज्जाका अनुभव करता है और शीघ्र-से-शीघ्र

दासत्वसे मुक्ति भी चाहता है—किंवा स्वामित्वकी उपलब्धिकी कामना करता है, परंतु श्रीरामजीका दास अपनी दासभावनामें ही संतुष्ट रहता है। श्रीरामजीका दास परवान्—श्रीरामाधीन ही रहना चाहता है। दूसरी बात श्रीरामजीका दास पिता, माता, भ्राता सबकी सेवा स्वयं करना चाहता है अर्थात् कभी कैङ्कर्य करके पिताकी भाँति सुख देता है तो कभी पुत्रकी भाँति।

महर्षि अगस्त्यकी आज्ञासे पञ्चवटी पहुँचकर भगवान् श्रीरघुनन्दन श्रीरामचन्द्रजीने सुमित्रानन्दन श्रीलक्ष्मणसे कहा—हे लक्ष्मण! अब तुम चारों ओर देखकर जहाँ तुम्हें अच्छा लगे वहाँ आश्रम-निर्माणकी व्यवस्था करो। यह सुनकर श्रीलक्ष्मण हाथ जोड़कर श्रीरामजीसे—अपने स्वामीसे बड़ी दैन्यभरी वाणीमें बोले—हे काकुत्स्थकुलभूषण! आपके रहते मैं सदा परतन्त्र हूँ। हे स्वामिन्! मैं अनन्त वर्षपर्यन्त परतन्त्र ही रहना चाहता हूँ। इसलिये कृपा करके स्थानका चयन आप करें और हमें आज्ञा दें कि हे लक्ष्मण! अमुक स्थानपर आश्रम-निर्माण करो।

परवानस्मि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं स्थिते।
स्वयं तु रुचिरे देशे क्रियतामिति मां वद॥

(वा०रा० ३।१५।७)

यह श्लोक दास्यभावका अपूर्व उदाहरण है। इसमें श्रीलक्ष्मणजीका अनोखा भाव यह है कि हम अपने पारतन्त्र्यपर अनेक स्वातन्त्र्यको निछावर करते हैं। पारतन्त्र्य ही मेरा परम धन है और भगवत्पारतन्त्र्य ही मेरा सच्चा स्वरूप है। श्रीलक्ष्मणजीकी भावपूर्ण वाणी सुनकर भगवान् श्रीराम बहुत प्रसन्न हुए तथा स्थानका निर्देश करके आश्रम-निर्माणकी आज्ञा दी—

अयं देशः समः श्रीमान् पुष्पितैस्तरुभिर्वृतः।
इहाश्रमपदं रम्यं यथावत् कर्तुमर्हसि॥

(वा०रा० ३।१५।१०)

'अयं देशः समः श्रीमान्' का भाव यह है—श्रीठाकुरजी स्वयं तो सम और श्रीमान् हैं ही, उनका स्थान भी सम और श्रीमान् है। मैंने मूलरूपमें निर्देश किया है, विद्वान् इस प्रसङ्गका आनन्द मनन करके लें।

श्रीरामजीकी आज्ञा प्राप्त करके श्रीलक्ष्मणने शीघ्रातिशीघ्र आश्रम-निर्माण करके प्रस्तुत कर दिया—

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः परवीरहा।
अचिरेणाश्रमं भ्रातुश्चकार सुमहाबलः॥

(वा०रा० ३।१५।२०)

उस पर्णकुटीको देखकर श्रीठाकुरजी बहुत प्रसन्न हुए और गद्गद होकर बोले—हे परम समर्थ लक्ष्मण! तुमने बहुत सुन्दर पर्णकुटी बनायी है। इस पर्णकुटीमें उच्चकोटिकी शिल्प-कलाका तुमने प्रयोग किया है। इससे ज्ञात होता है कि तुम स्थापत्य-कलामें परम निष्णात हो। हे लक्ष्मण! आज मैं परम प्रसन्न हूँ। हे वत्स! तुम्हारी सेवाके बदलेमें देनेके लिये न मेरे पास वस्तु है और न शब्द हैं। अतः तुम्हें मैं अपने हृदयसे लगाकर अपना हृदय ही समर्पित कर रहा हूँ—

प्रीतोऽस्मि ते महत्कर्म त्वया कृतमिदं प्रभो।
प्रदेयो यन्निमित्तं ते परिष्वङ्गो मया कृतः॥

(वा०रा० ३।१५।२८)

हे सुमित्राकुमार! इस पर्णकुटीके निर्माणमें तुमने मेरे हृदयके भावोंको बिना कहे ही समझ लिया है। एतावता तुम भावज्ञ हो। हे सेवाव्रती! मैं तुमको अपने साथ वनमें लाया, इसका ऋण तुमने अनेक प्रकारकी सेवा करके उतार दिया, क्योंकि तुम कृतज्ञ हो, सेवक-धर्मके परम आदर्श हो। इसलिये अपने लिये सुविधापूर्ण स्थान न बनाकर मेरे लिये हर तरहसे सुन्दर स्थान बनाया है। हे लक्ष्मण! तुम्हारी तरह धर्मात्मा पुत्रके कारण मेरे धर्मात्मा पिता अभी मरे नहीं हैं, तुम्हारे रूपमें वे अब भी जीवित हैं—

भावज्ञेन कृतज्ञेन धर्मज्ञेन च लक्ष्मण।
त्वया पुत्रेण धर्मात्मा न संवृत्तः पिता मम॥

(वा०रा० ३।१५।२९)

श्रीरामजीका दास अपने दासत्वकी भावनासे परम संतुष्ट रहता है। इस प्रकारका भक्त जन्मान्तरमें भी श्रीरामजीके मङ्गलमय दास्यभावकी ही कामना करता है। उसकी तो यह कामना रहती है कि मेरा समस्त परिवार श्रीरामजीका दास बने।

अब नाथ करि करुना बिलोकहु देहु जो बर मागऊँ।
जेहिं जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ॥

यह तनय मम सम बिनय बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिऐ।
गहि बाँह सुर नर नाह आपन दास अगद कीजिऐ॥

(रा० च० मा० ४।१० छ० २)

'अब नाथ करि करुना बिलोकहु'—(क) वाली अतिशय स्नेहमयी वाणीमे कहते हैं—हे नाथ? मैंने मान लिया कि मुझसे भयकर अपराध हो गया था, परतु अब तो हमने आपके द्वारा प्रदत्त दण्ड प्राप्त कर लिया है। अभी-अभी आपने ही तो कहा था कि जो पापी राजाके द्वारा दण्ड प्राप्त कर लेता है, वह निर्मल हो जाता है और पुण्यात्मा साधुकी भाँति स्वर्गकी प्राप्ति कर लेता है—

राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवा ।
निर्मला स्वर्गमायान्ति सन्त सुकृतिनो यथा॥

(वा०रा० ४।१८।३१)

आपके इस वचनके अनुसार तो मैं अब निष्पाप हो गया हूँ, अत *'अब नाथ करि करुना बिलोकहु।'*

(ख) जब प्रेमी-प्रियतम आपसमे किसी कारणसे नाराज हो जाते हैं तो एक-दूसरेसे कहते हैं—'अब बहुत हो गया, अब तो मेरे ऊपर प्रसन्न हो जाओ, अब तो मेरी ओर एक बार प्रसन्न होकर—मुसकराकर देख लो।' इसी भावसे वाली कहते हैं *'अब नाथ करि करुना बिलोकहु।'*

(ग) वाली बडी दीन वाणीमे अपनी अभिलाषा अभिव्यक्त करते हैं—हे नाथ! मरनेवालेपर तो सबके मनमे दयाका सचार होता है। हे प्रभो! अब तो मैं कुछ ही क्षणोका मेहमान हूँ—अब तो कुछ ही क्षणोमे मैं मर जाऊँगा, इसलिये इस म्रियमाणकी ओर अब तो पूर्ण कृपादृष्टिसे एक बार निहार लो—*'अब नाथ करि करुना बिलोकहु।'*

'करुना बिलोकहु' का भाव—यद्यपि मेरे द्वारा अनेक जघन्य अपराध हुए हैं। मैंने आपके दास—भक्त सुग्रीवको मारना चाहा था, मैंने आपके निर्मल वचनोका प्रत्याख्यान किया एव अपनी क्रूर वाणीसे आपको दुर्वचन कहा, मेरे अपराधोका कोई प्रायश्चित्त तो है ही नहीं, फिर भी हे करुणासागर! आपकी करुणापूर्ण अवलोकनिमे बहुत बडी सामर्थ्य है, यह मैंने आज अभी ही अनुभव किया है, अत उसी कृपादृष्टिसे देखकर हमे कृतार्थ करे। मैं निहाल हो जाऊँगा, मेरे नाथ! *'जेहिं जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ'*—हे स्वामिन्! मैं जिस वरकी याचना करना चाहता हूँ, उसका मिलना आपकी कृपाके बिना सम्भव नहीं है। सुतराम् कृपा करके मुझे ये वर दीजिये। *'जेहिं जोनि जन्मौं'*—मैं पुन जन्म धारण करना चाहता हूँ। मुझे मुक्तिकी अपेक्षा नहीं है। मैं जन्म लेकर आपके श्रीचरणोकी निष्ठापूर्वक भक्ति करना चाहता हूँ। इस जन्ममें मुझसे बडी-बडी भूले हो गयी हैं, मैं जन्म लेकर उनको सुधारना चाहता हूँ। यह जन्म मैंने अभिमानी होकर बिताया है। इस जीवनमे मैंने किसी भक्तका साथ भी नहीं किया है। इस दृष्टिसे सुग्रीव मेरी अपेक्षा अधिक भाग्यवान् है। उसकी मित्रता महान् भक्त श्रीहनुमान्से है। यही मित्रता उसके उत्कर्षका कारण बन गयी। इसके विपरीत रावणकी मित्रता मेरे अपकर्षका कारण बन गयी। हे प्रभो! भविष्यके जीवनमे मैं इन त्रुटियोको सुधारना चाहता हूँ। झूमकर श्रीरामभक्तोका साथ—सत्सङ्ग करना चाहता हूँ। कामनारहित होकर आपकी भक्ति करना चाहता हूँ। आपकी भक्तिकी माधुरीका आनन्दमय आस्वादन जो कुछ क्षणोके लिये मिला है, उसका जीभर आस्वादन करना चाहता हूँ। अत मुझे इस देशमे पुन जन्म दे। *'जेहिं जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ'* का भाव कि मेरा किसी विशेष योनिमे जन्म लेनेका दुराग्रह नहीं है। मेरा यह भी आग्रह नहीं है कि आप मुझे मनुष्य बना दे किवा ब्राह्मणकुलमे जन्म दे। मेरे कर्मानुसार जो भी योनि मिलेगी वह मुझे स्वीकार्य है। परतु हे नाथ! मेरी तो बस इतनी ही प्रार्थना है—इस जीवनकी सान्ध्यवेला—अवसानवेलामे आपने अपनी कृपादृष्टिसे जो भक्तिके सस्कार दिये हैं, वे नष्ट न हो। सम्प्रति आपके श्रीचरणारविन्दोमे जो अनुराग उत्पन्न हुआ है, वह दिनोत्तर जन्म-जन्मान्तरमे वृद्धिङ्गत हो उसमे कमी न आने पाये, ऐसे स्थानमे उत्पन्न करे—

जेहिं जोनि जन्मौं कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ॥

(रा०च०मा० ४।१० छ० २)

श्रीरामसखा सुग्रीवके अग्रज वालीकी भावनासे श्रीअवधके श्रीरामसखाओकी भावनामे कितना साम्य है—

जेहिंजेहिं जोनि करम बस भ्रमहीं। तहँ तहँ ईसु देउ यह हमहीं॥
सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात यह ओर निबाहू॥

(रा०च०मा० २।२४।५-६)

अर्थात् हे प्रभो! जीवके मनमे मरणकालकी वेलामे जो भावना होती है उसीके अनुसार उसका पुनर्जन्म होता है। हे स्वामिन्! इस समय मेरे मनम मेरी पत्नी तारा नहीं

है, सुग्रीव नहीं है, शत्रुता नहीं है, मित्रता नहीं है, राग नहीं है, द्वेष नहीं है, राज्यकामना नहीं है, मोक्षकामना नहीं है। मुझे इस समय एक ही राग व्यथित कर रहा है। इतना कहते-कहते वालीका कण्ठ आर्द्र हो गया। वह कीचड—दलदलमे फँसे हुए हाथीकी भाँति आर्तनाद करते हुए करुण स्वरमे श्रीरामजीसे कहने लगा—

बाष्पसरुद्धकण्ठस्तु वाली सार्तरव शनै ।
उवाच राम सम्प्रेक्ष्य पङ्कलग्न इव द्विप ॥

(वा०रा० ४।१८।४९)

जिस समय वाली यह चर्चा कर रहे थे उसी समय रोते हुए अगद आकर वालीके सामने खडे हो गये। इसीलिये वालीने *'यह तनय'* इस शब्दका प्रयोग किया है। *'यह तनय'* मेरा यह पुत्र जो मेरे नेत्राके सामने खडा है, इसीमे मेरा राग है। हे प्रभो! मेरी इच्छा है कि यह पुत्रमोह भी मेरे मनसे निकल जाय तो मैं केवल आपके श्रीचरणारविन्दाका ध्यान करता हुआ सर्वतोभावेन आपके स्वरूपमें अपनी चित्तवृत्ति सनिहित करके प्राण-त्याग करूँ।

'मम सम बिनय बल'—यह अगद बल और विनयमे मेरी समानता करता है, परतु किञ्चित् अन्तर है मेरे बलम उद्दण्डता थी, इसका बल अनुशासित है विनयपूर्ण है, इसीलिये बलके पूर्व *'बिनय'* शब्दका प्रयोग है—*'यह तनय मम सम बिनय बल'*।

'कल्यानप्रद प्रभु लीजिऐ'—वाली कहते हैं—हे प्रभो! आप कल्याणप्रद हैं। आपकी तरह कल्याण कोई नहीं कर सकता है। हे स्वामिन्! आप अगदको अपनी शरणमे स्वीकार करे। इसमे अगदका तो कल्याण होगा ही मेरा भी परम कल्याण सम्पन्न होगा। मेरा अवशिष्ट राग-ममता-मोह सब विनष्ट हो जायगा।

'गहि बाँह'—मुझे तो ऐसा ज्ञात होता है कि रोते हुए अगदको वालीने अपने अत्यन्त निकट बुलाकर और उसकी बाँहको स्नेहसे पकडकर यह कहा—हे पुत्र! अब रुदन समाप्त करो। तुमको ऐसे महान् पिताकी गोदम डालकर जा रहा हूँ, जो अविनाशी हैं, मरणधर्मा नहीं हैं। हे अगद! तुम्हारे इस प्राकृत पिताकी मृत्यु हो रही है, यह मरने जा रहा है, तुमको छोडकर जा रहा हूँ, परतु जाते-जाते अब जिन पिताकी गोदमे डालकर—समर्पित करके जा रहा हूँ, वे तुम्हारे जीवनभरका रुदन समाप्त कर देगे। हे मेरे लाल! अब तुम्हारे रुदनके दिन समाप्त हो गये। यही तो जीवमात्रके अजर-अमर वास्तविक पिता हैं—

ऐसे बर को के बरूँ जो जनमे और मर जाय।
बर बरया गोपालजी म्हारो चुड़लो अमर हो जाय॥

(मीरा)

उत्तरकाण्ड (रा०च०मा० १८।२)-मे श्रीअगदने राजाधिराज महाराज श्रीरामचन्द्रजीमे यही कहा है—

मरती बेर नाथ मोहि बाली। गयउ तुम्हारेहि कोछे घाली॥

इस प्रकार वालीने श्रीरामजीसे कहा—हे अशरणशरण! इस अगदकी भुजा पकड लीजिये। हे प्रभो! जिसकी भुजा आप पकड लेगे, उसका जीवन सुखी हो जायगा।

'आपन दास अगद कीजिऐ'

(१) कुछ लोग कहते हैं—वालीने अगदको श्रीरामजीके श्रीचरणोमे इसलिये समर्पित किया कि सुग्रीव इसके ऊपर अन्याय न करे, किंवा यह किष्किन्धाके राज्यका उत्तराधिकारी हो जाय। सम्भव है यह भी भाव रहा हो, इस भावमे कोई दोष नहीं है, परतु मेरे श्रीमहाराजजी कहा करते थे कि वालीने अगदको युवराज बनानेके लिये नहीं समर्पित किया है, उन्होने तो स्पष्ट कहा है—हे प्रभो! इस अगदको अपना दास बना लीजिये। वैष्णव बना लीजिये। वालीका आभ्यन्तर आशय यह है कि यदि मेरा पुत्र रामदास बन गया—वैष्णव बन गया—शरणागत हो गया—रामाश्रित हो गया तो मेरी अधोगति नहीं हो सकती, क्योकि श्रीभगवान्ने सत्ययुगमे एक विधान बना दिया है कि जिस कुलमे एक रामभक्त उत्पन्न हो जायगा, उसकी इक्कीस पीढियाँ तर जायँगी—

त्रि सप्तभि पिता पूत पितृभि सह तेऽनघ।
यत् साधोऽस्य गृहे जातो भवान्वै कुलपावन ॥

(श्रीमद्भा० ७।१०।१८)

इस प्रकार परम चतुर वालीने अपने माता-पिताका अगदका और अपना भी कल्याण एक ही वरसे कर लिया। इसीलिये वालीने श्रीरामचन्द्रजीको 'कल्यानप्रद'-सम्बोधनसे

सम्बोधित किया है।

(२) वालीने कहा—हे रघुनन्दन! हमे ज्ञात है कि आपके दरबारम दासाका महत्त्व सर्वाधिक है। बडे-बडे राजा-महाराजाआकी भी उतनी महत्ता नहीं है, *'मोरे अधिक दास पर प्रीती'* अत हे प्रभो! आप तो इसे राजा बनानेकी अपेक्षा अपना दास बना लीजिये।

(३) राजाका अपनी चिन्ता स्वय करनी पडती है, प्रजाकी भी चिन्ता करनी पडती है। उसके अनेक प्रकारके शत्रु-मित्र आदि हाते हैं, उनकी भी चिन्ता होती है परतु भगवत्-दासको किसीकी चिन्ता नहीं करनी पडती है। उसे तो मात्र भगवच्चिन्तन करना पडता है। दासकी चिन्ता उसकी सार-सँभार तो स्वय श्रीठाकुरजी अर्थात् आप करते हें, अत वाली कहते हैं कि अगदको अपना दास बना लीजिये।

(४) हे प्रभो! मैंने सुना है कि आप अपने अनन्याश्रय दासकी रक्षा उसी प्रकार करते हैं, जिस प्रकार एक वात्सल्यमयी जननी अपने नन्ह-मुन्ने दुग्धमुख शिशुकी रक्षा करती हे। जसे नन्हा-सा बच्चा चमकीला खिलोना समझकर भयकर सर्पसे खलना चाहता है—मौतसे खेलना चाहता है, किवा सुन्दर समझकर जाज्वल्यमान अग्नि-कणाको उठाकर अपने मुखमे डालना चाहता है ता पुत्र-वत्सला माँ अपनी चिन्ता न करके उस अबोध शिशुको मृत्युके मुखसे निकाल लाती है। उसी प्रकार आप अपने अनन्याश्रय दासोकी रक्षा करते हैं—

सुनु मुनि ताहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥
गह सिसु बच्छ अनल अहिधाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥
(रा०च०मा० ३।४३।४—६)

वालीने कहा—मैं तो मर ही रहा हूँ, अब आप इस बालक अगदको अपना दासत्व प्रदान करके हे भक्तवत्सल! स्वामी और माता दोनोका वात्सल्य स्नेह प्रदान कर।

सवक सुत पति मातु भरोसे। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे॥
(रा०च०मा० ४।३।४)

(५) हमने आपके दरबारमे दासोका महत्त्व अभी-अभी देखा है—आप अपनी परम प्रेमास्पदा, प्राणप्रिया, प्रियतमा प्राणवल्लभा श्रीमिथिलेशनन्दिनीकी स्मृति विस्मृत करके भी अपने दास सुग्रीवका कार्य स्वय सँवारते हैं। हे अपने दासोके सर्वकार्यसाधक स्वामिन्! इस बालक अगदको तो आप अपने श्रीचरणाका मङ्गलमय दासत्व ही प्रदान करे।

(६) हे स्वामिन्! जीवनकी अवसान वेलाम समझ पाया कि सम्राट् स्वराट्की अपेक्षा श्रीराम-दासानुदासका महत्त्व अधिक है। हे अकिञ्चनधन! *'मैं बैरी सुग्रीव पिआरा'*- का आपके द्वारा प्रदत्त उत्तर मेरे मनम जम गया। यद्यपि उत्तरसे तो मैं पूर्ण सतुष्ट हो गया, परतु पश्चात्तापमय असतोष बढ गया। मैंने सोचा था कि आप सुग्रीवकी अपेक्षा मेरी मैत्रीको अधिक महत्त्व देगे, क्योकि मैं रावणको बाँधकर लानेमे सर्वथा समर्थ था मैं सप्तद्वीप-वानराधिपति था, परतु आपके सुग्रीव-प्रेमम तो स्वार्थकी गन्धबिन्दु भी नहीं थी। आपको तो समर्थकी अपेक्षा लौकिक दृष्ट्या असमर्थ अपना दास ही अधिक प्रिय है। जब आपने यह कहा—*'मम भुज बल आश्रित तेहि जानी। मारा चहसि अधम अभिमानी॥'* तब मैं निरुत्तर हो गया और लगा सोचने कि जीवनमे भयकर भूल हो गयी। यदि मैं आपका दास होता तो बात बन जाती, परतु *'का बरषा सब कृषी सुखाने।'* हे भक्तवत्सल! हे दासप्रियरघुनन्दन! अब तो मेरे ममत्वके केन्द्रबिन्दु, इस रुदन करते हुए बालक अगदको अपने श्रीचरणाका दासत्व प्रदान करके मुझे कृतार्थ करे। इसे श्रीरामदास—श्रीवैष्णव हो जानेपर मेरे पश्चात्तापका प्रायश्चित्त हो जायगा— *'आत्मा वै जायते पुत्र'* इस न्यायसे।

'अल अलमिति' अब मुझे कुछ नहीं करना है, आप तो सर्वान्तर्यामी सर्वान्तर्दर्शी हैं। मैं भी तो आपका दास हूँ। अब तो सप्तद्वीप-वानराधिपति और किष्किन्धाके राजा तो आपके भक्त सुग्रीव हैं। मैं तो सम्पूर्ण हृदयसे आपका अकिञ्चनदास हूँ। मुझे तो ऐसा ज्ञात होता है कि इतना कहते-कहते वालीका कण्ठ आर्द्र हो गया और उसके लोचनभ्रमर श्रीराममुखकमलपर मँडराने लगे।

फलरूप (सिद्धि) प्रेम

(प० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)

प्रमरूप भगवान् हमसे प्रेमका खेल खेलनक लिय अपनी बहिरगा शक्ति—माया (प्रकृति)-क द्वारा ब्रह्माण्डरूप विस्तृत खेलका मैदान बना लेते हैं। इस खेलमे भाग लेनेके लिये प्रकृति हमें कारण, सूक्ष्म आर स्थूल शरीररूप तीन आवरण अनादिकालसे देती आ रही है। इसमे स्थूल शरीर तो बहुत ही ठोस आवरण है। यह दवता, गन्धर्व आदि दिव्य योनियाम प्राप्त नहीं होता और प्रेमके खेलम चार चाँद लगा देता हे। चैतन्य महाप्रभुम विरहका सुहावनी आग इतनी उद्दीप्त हो उठी थी कि उनकी अँगुलीके स्पर्शस वह पत्थर भी पिघल गया था जिसक सहारे वे भगवान् जगन्नाथके दर्शनाके लिये खड हाते थे। इसे आज भी देखा जा सकता है।

इस सुहावनी आगने मीराजीके तीना शरीराके कण-कणको बदलकर उसे सन्मय चिन्मय आर आनन्दमय बना दिया था। जैसी कि त्रिपादविभूतिम लीलाकी आयाजिका सन्धिनी-शक्तिके द्वारा आयाजित लीलाक्षेत्रम प्रेमका खेल खेलनेवालाकी स्थिति होती है। यही कारण है कि मीराजी जब रणछोडजीके श्रीविग्रहमे समरस हो गयीं, तब उनके प्रकृतिप्रदत्त शरीरका काई अङ्ग किसीको उपलब्ध न हुआ। इस वास्तविकताको लागाने तब समझा जब देखा कि मीराजीकी साडीका छोर रणछोडजीक मुखमे फँसा है।

जिस समय विरहकी मधुमान लौसे मीराजीके प्रकृतिप्रदत्त तीनो आवरण जलकर चिन्मयरूपम परिणत हो रहे थे उस समय उनके छलकते प्रेमानन्दसे प्रकृतिका कण-कण आप्लावित हा उठा था। इस तरह प्रकृतिके द्वारा आयोजित यह लीलाक्षेत्र सचमुच सन्धिनी-शक्तिके द्वारा लीलाक्षेत्र ही बन गया था। यहा कारण है कि इन प्रेमी भक्तोको भगवान्ने अपनी आत्मा माना है—'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (गीता ७।१८)। इसके पहले १६व श्लोकमे 'ज्ञानी च' कहा गया है। यहाँ 'च' पद सभी निष्काम प्रेमी भक्ताको ज्ञानी भक्तोमे अन्तर्भाव करनेक लिये है—'चकारो यस्य कस्यापि निष्कामप्रेमभक्तस्य ज्ञानिन्यन्तर्भावार्थ ।' (गीता मधुसूदनी ७।१६)

प्रकृति वञ्चना भी करती है

जो लाग भगवान्का विस्मरण करते हुए विहित कर्म करना छोड देते हें उन्हे प्रकृति अपनेमे लिपटाये रहती है। भगवान्की आर बढने नहीं देती और रूप, रस गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि विषयाके क्षणिक सुखके भुलावम डालकर फँसा लेती हे। प्रकृति जब दखती है कि काइ मानव पकडम नहीं आना चाहता ता मायाके तीन गुणाका जादुई छडीकी तरह प्रयाग कर उसे माहित कर लती है ओर हम वञ्चित मानव उसे ही भुला बैठने है, जा हमारा अपना हे। इसीलिये सताने हम चताया है कि माया बहुत बडी ठगिनी ह, इसक चक्करमे मत पडना। *'माया महा ठगिनि हम जानी'* (बीजक ५९)।

मायासे मोहित हो जानेपर मनुष्य विवश हा जाता हे। वह उन्हीं कर्मोका करता है, जिन्ह माया करवाती ह। तब मनुष्य दुष्कर्म-पर-दुष्कर्म करता जाता है, उसका ज्ञानस्वरूप बिलकुल ढक जाता हे और वह आसुरभावग्रस्त होकर इतना अधम बन जाता है कि भगवान्की शरण ग्रहण करनेकी बात भी सोच नहीं सकता (गीता ७।१५)।

फिर भी प्रेमरूप प्रभु हमे गले लगाता हे

भगवान् तो प्रेमरूप हैं। व हमारी अधमतापर कोई ध्यान नहीं देते, प्रत्युत हमारे तीना शरीराके साथ प्रेमका खेल चालू रखते हैं—'पुरत्रय क्रीडति।' (कवल्योपनिषद् १४)

जाग्रदवस्था और स्वप्नावस्थाम हमारा मन अन्यासक्त रहता है, अत स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीरके साथ जो खेल होता है उसका सुख हम नहीं ज्ञात हो पाता, किंतु सुषुप्ति-अवस्थामे हमारा मन पुरीतत नामक नाडीम लीन रहता है, अत इस अवस्थाम भगवान्के मिलनका सुख हमे मिलता है। सुषुप्तिमे अज्ञानके कारण हम यह नहीं जान पाते कि भगवान्से हमारा मिलन हुआ है, किंतु इतना तो अनुभव करत ही है कि खूब सुख मिला है—'सुखमहमस्वाप्सम्।' यही कारण है कि गाढी नींदसे उठनेके बाद हम नयी शक्ति, नयी स्फूर्ति और नयी उमङ्ग पाते हैं।

इसलिये वेदान्तने सुषुप्ति-अवस्थाको 'आनन्दभागावसर' कहा है—'सुषुप्तिकाल'—'आनन्दभोगावसरे।' (कैवल्योपनिषद् १३, स्वामी शङ्करानन्दभाष्य)

यही कारण है कि वेदान्तने सुषुप्ति आर मोक्षमे समता बतायी है। सुखानुभूति सुषुप्तिम भी होती है और मोक्षमे भी। भेद इतना ही है कि सुषुप्ति-अवस्थाम जीव अज्ञानसे

आवृत रहता हे ओर मोक्षमे आवरणरहित अपने ज्ञानस्वरूपमे परिनिष्ठित रहता है—

एतावान् सुषुप्तौ मोक्षे च समो न्याय। को विशेष ? एतावान् तु विशेष (तमोऽभिभूत) अज्ञानावृत (सुखरूपम्) स्वप्रकाशमानमानन्दात्मस्वरूपम् (एति) गच्छति। (केवल्योपनिषद् १३ स्वामी शङ्करानन्दभाष्य)

यह हे हमारे प्रति प्रेमी प्रभुकी प्रेमातुरता और दूसरी ओर हे हमारी लज्जास्पद अधमता।

साधनरूप प्रेम

प्रेमी प्रभुने हम अधमोको अपनानेके लिये भी पहलेसे ही उपाय कर रखा है, उस उपायका नाम है— साधन-प्रेम। इस तरह प्रेम फल है और उसको पानेका साधन भी प्रेम ही है—

'साधन सिद्धि राम पग नेहू।

सदिया पहले बिल्वमगल नामक ब्राह्मण-युवक था। ठगिनी माया—चिन्तामणि वेश्याने उसके मनको ऐसा आसक्त कर लिया कि उसके अतिरिक्त उसे कुछ सुहाता ही न था। पिता सख्त बीमार थे, मर भी गये। अन्धेको कुछ दीखता ही न था। बस, चिन्तामणिकी यादमे खोया रहता। पिताके श्राद्धका दिन आ पहुँचा। परतु बिल्वमगल चिन्तामणिकी यादम ज्यो-का-त्या खोया था। गाँववालाने धर-पकडकर उससे पिताका श्राद्ध कराया, किंतु वे उसके मनको कैसे पकडते ? श्राद्ध पिताका हो रहा है ओर याद चिन्तामणिकी आ रही है। शामको श्राद्धसे उसका पिण्ड छूटा। अब वह लोगाकी केदसे छूटते ही चिन्तामणिके पास दौडा। अँधेरा हो आया था। घनघोर पानी बरसने लगा था। बिजली कौंध रही थी, पर उसे आँधीसे भरे रास्तेका डर नहीं था काँटा-झाडी लाँघते-फाँदते वह भागा जा रहा था। रास्तेम नदी मिली। उस आँधी-पानीवाली रातमे कोई नाका नहीं थी। ढूँढते-ढूँढते उसे कोई उतराया हुआ मुर्दा मिल गया उसीके सहारे उसने नदी पार की और चिन्तामणिके पास पहुँचा। आधी रातमे उसे अपने पास आया देख और आनेका ढग सुन बेचारी चिन्तामणि उस ब्राह्मण-युवकका पतन देखकर आहत हो उठी। उसे सबसे बडा कष्ट यह जानकर हुआ कि वह अपने पिताके श्राद्धको जैसे-तैसे पूरा कर श्राद्धके दिन ही एक वेश्याके पास आ पहुँचा। श्राद्धके दिन वह अपन मृत पिताको रज-वीयके नरकम डुबोनेके लिये उद्यत था। यह सोचकर वेचारी काँप उठी।

चिन्तामणि जिस तरह रूपकी रानी था, उसा तरह सगीतकी भी रानी थी। सगीतने उसे भगवान्‌के सान्दर्य आदि गुणा तथा लीलाआसे परिचित करा दिया था। मन्दिरामे गा-गाकर वह जितना कमाती थी, उतना अपने शरीर-व्यापारमे भी उसको नहीं मिलता था। उसे ग्लानि हो आयी और उसने अपनी वेश्यावृत्ति छोड दी।

अव वह भगवान्‌के नाम-स्मरण श्रवण और गुण-कीर्तनसे भगवान्‌की ओर बढने लगी। आज ब्राह्मण-युवकके उस अध पतनसे अत्यधिक व्यथित हाकर वह रोने लगी और उसके पेरापर गिरकर बोली—तुम ब्राह्मण हो, किंतु हमस भी ज्यादा गिर गये हो। मैं कीतनरूप श्रवण-गायनसे भगवान्‌की ओर बढ रही हूँ, तुम भी यही करो। भगवान्‌से प्रेम करके तुम मुझे आर अपनेको भी बचाओ। सतके सकीर्तनने मुझे सुझाया हे कि भगवान् तो सौन्दर्य-मार्दव आदिके सिन्धु हैं, उन सिन्धुक एक बिन्दुके किसी एक कतरमे सारी दुनियाकी सुन्दरता, मृदुता और मधुरता है। मेरे बिल्वमगल! तुम उधर बढा ओर मेरा तथा अपना भी कल्याण करो। याद रखना अव कभी वेश्या समझकर मरे घरमे कदम मत रखना। तुम अभी जाआ और कभी यहाँ न आनेकी शर्त लेकर जाओ। मे तुम्हार परापर गिरती हूँ अपने साथ-साथ मेरा भी कल्याण करो।

इस श्रवण-साधनसे बिल्वमगल फलरूप प्रमको पा गया और चल दिया तथा उस अमररसम डुबकी लगाकर उसन ऐसा सरस गीत गाया कि लाखाको तार दिया। बिल्वमगलके वे रस आज भी हम रसासिक्त कर रहे हैं। उस सत बिल्वमगलको शत-शत नमन।

प्रकृतिके रसस सरावोर क्रीडास्थली

प्रकृति भगवान्‌के मिलनमे सहयोग भी करती है। यह तो उन्हींको अपनेमे लिपटाये रखना चाहती है, जो भगवान्‌के स्मरण और उनके विहित कर्मको त्याग देते हैं। किंतु यदि ये ही लोग जप आदि साधनस प्रमपूर्वक भगवान्‌की ओर उन्मुख होते हैं तो यह उनका भगवान्‌से मिलनम सहयोग भी करती है।

माया (प्रकृति) ठगती उनको हे जा भगवान्‌का स्मरणतक नहीं करते। जो लाग भगवान्‌की ओर बढते हैं उनका ता यह महयोग ही करती है। अधिक वढ जानेपर

उनके लिये अपनी क्रीडास्थलीको रससे सराबोर कर देती है। सत कबीरन कहा है कि ब्रह्माण्डम इतना रस भरा है कि जहाँसे चाहे वहींसे निचोडकर पीता जाय और छककर प्रमका खेल खेलता जाय। जो महामानव प्रपञ्चसे परे हो गये हैं उन्हे निचोडनेकी भी आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि उनके समक्ष यह रस निरन्तर चूता ही रहता है। जब चाहे तब प्याला-पर-प्याला चढाता चला जाय और खेलका अनिर्वचनाय आनन्द लेता रहे—

अरधे उरधे भाठी रोपिन्हि ले कषाय रस गारी।
मूँदे नयन काटि कर्म कल्मख सतत चुअत अगारी॥

(बीजक १२।२)

लीलामे भाग लेनेके लिये मुक्त भी शरीर धारण करते है

प्रेमका खेल ऐसा सरस होता है कि इसमे भाग लेनेके लिये मुक्तलोग भी विग्रह धारण करते हैं—'मुमुक्षवो मुक्ताश्च विग्रह कृत्वा भजन्ति।' (नृ०पूर्वता०उप० २।४)

'ब्रह्मवादिनो मुक्ताश्च लीलया विग्रह कृत्वा नमन्ति।'

(बृ० पूर्वता० उप० शाङ्करभाष्य)

लीलाके लिये ब्रह्मका विग्रह-धारण

प्रेमका खेल खेलनके लिये जब मुक्तलोग भी विग्रह धारणकर मञ्चपर उतर आते हैं तब प्रेमरूप ब्रह्म जो नित्यलीलानुरागी है, वह सौन्दर्य और मार्दवका सागर जिसके एक बूँदक एक कणसे तीनो लोकोंकी सुन्दरता ओर मृदुलता बनी हे स्वय विग्रह धारणकर इन्हे गलेसे लगा लेता है—

'वर्ष्मणोप स्पृशामि' (ऋग्वेद १०।१२५।७)

मायात्मकेन मदीयेन देहेन उपस्पृशामि। (सायण भाष्य)

स्वय प्रेम जब शरीर धारणकर प्रेमी बन जाता है और अपने सुकोमल अङ्कम भरकर प्रियको गले लगाता एव सहलाता है, तब उस ब्रह्मानन्दम जो उल्लास उठते होगे उसकी कोई सीमा रहती होगी क्या?

भगवान्‌ने प्रेमी भक्त विभीषणसे कहा है कि तुम-सरीखे सत ही मुझे प्रिय हैं। तुमलोगोके लिये ही मैं विग्रह धारण करता हूँ अन्य किसी कारणसे नहीं—

तुम्ह सारिखे सत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे॥

(रा०च०मा० ५।४८।८)

प्रेमी भक्त विभीषण प्रकृतिकी दी हुई अपनी इन्हीं आँखोसे सौन्दर्य-सिन्धुको देखना चाहते थे और जब उन्होने भगवान्‌को देखा तो एकटक देखते ही रह गये, पलकाको गिरने न दिया—

बहुरि राम छबिधाम बिलोकी। रहेउ ठटुकि एकटक पल रोकी॥

(रा०च०मा० ५।४५।३)

वे झट भगवान्‌के चरणोम लोट गये। भगवान्‌ने हर्षित होकर उन्हे अपनी विशाल भुजाओसे उठाकर हृदयसे लगा लिया—

अस कहि करत दडवत देखा। तुरत उठे प्रभु हरष बिसेषा॥
दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदयँ लगावा॥

(रा०च०मा० ५।४६।१-२)

इसके बाद भगवान्‌न उन्हे अपने अधरसुधासिक्त वचनासे इतनी तृप्ति दी कि वे सुनकर अघाते ही नहीं थे।

इस तरह प्रेमी भक्त और प्रेमी बने प्रेमरूप प्रभु दोनो इस प्रकृतिकी क्रीडास्थलीको रस-सराबार करते रहते हैं। जो ऋषि-मुनि प्रकृतिस ऊपर उठकर निर्गुण स्वरूपमे स्थित हैं तथा विधि-निषेधकी मर्यादाको लाँघ चुके हैं वे लोग भी भगवान्‌के रससिक्त गुणगणोके वर्णनमे रमे रहते हैं—

प्रायेण मुनयो राजन्निवृत्ता विधिषेधत ।
नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरे ॥

(श्रीमद्भा० २।१।७)

इस तरह फलरूप-प्रेम ब्रह्मानन्दमे उल्लास-पर-उल्लास उठाता रहता है। भगवान्‌के सौन्दर्य आदि गुण भगवद्रूप ही होते हैं। जनकजी ब्रह्मानन्दम निरन्तर निमग्न रहते थे—'योगिना जनकादय ।' वे जीवन्मुक्त थे। उन्हे अपनी देहका भी भान नहीं होता था, अत विदेह कहे जाते थे। बस ब्रह्मके आनन्दमे डूबे रहत थे। जब श्रीरामजीका सौन्दर्य उनके सामन आया, तब उनके ब्रह्मानन्दम उल्लास-ही-उल्लास उठने लगा। रामके सोन्दर्यने जनकको फलरूप प्रेमसे तर-बतर कर दिया था। तब उनका ब्रह्मानन्द मानो सौ गुना बढ गया—

अवलोकि रामहि अनुभवत मनु ब्रह्मसुख सौगुन किएँ॥

(जानकी-मङ्गल)

प्रेमानन्दमे उनका मन इतना भीग गया कि उसने ब्रह्मसुख त्याग ही दिया—

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

(रा०च०मा० १।२१६।५)

यह है फलरूप प्रेम।

सत्सङ्ग और श्रद्धा—भगवत्प्रेमके मूल आधार

(श्रीनारायणदासजी भक्तमाली)

प्रेम हरी कौ रूप है त्यौं हरि प्रेम सरूप।
एक होइ द्वै यौं लसै ज्यौं सूरज अरु धूप॥

शास्त्र एव अनुभवी मत महानुभावाका कथन है कि भगवान्‌म और प्रेमम कोई भी तात्त्विक अन्तर नहीं। ईश्वर प्रेममय हे। ईश्वर ही प्रेम है तथा प्रेम ही ईश्वर है। यह जीवात्मा उसी ईश्वरका अश हे। अशीका गुण अशम भी सहजभावमे दृष्टिगोचर होता है, यह सवमान्य सिद्धान्त है। चूँकि ईश्वर प्रेममय है अतएव उनका अश होनेके नाते जीवात्मा भी प्रेमस्वरूप है। यथा—'श्रद्धामयोऽय पुरुषो या यच्छ्रद्ध स एव स ॥' (गीता १७।३)

बाह्य जगत्मे इस श्रद्धाकी अभिव्यक्ति विभिन्न स्तरोपर देखी जाती है। 'श्रीकृष्ण-उद्धव-सवाद' म प्रभु श्रीकृष्णचन्द्रजी अपने प्रिय सखा उद्धवको समझाते हुए कहते हैं—

सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी।
तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवाया तु निर्गुणा॥
(श्रीमद्भा० ११।२५।२७)

अर्थात् श्रद्धा सवमे होती है किंतु गुण-भेदसे उसके चार स्तर बताये गये—

१-नहीं करने योग्य कर्मोमे जिसका मन लगता है, उसकी श्रद्धा तमोगुणी कही गयी है।

२-करने योग्य कर्मोमे जिसका मन लगता है किंतु साथ-ही-साथ लौकिक फलाकाङ्क्षा भी जुडी हुई हो तो उस व्यक्तिकी श्रद्धा राजसीकी सज्ञा पाती है।

३-जो लौकिक फलाकाङ्क्षासे उपरत होकर आध्यात्मिक साधनाआमे जुडा हुआ है, किंतु मुक्तिमात्रको अपना लक्ष्य वनाये हुए है, उसकी श्रद्धा सात्त्विकी कही गयी है।

आज हम जिस भगवत्प्रेमपर विचार करने वैठे हैं उसका इन तीनो भूमिकाओसे ऊपरका स्तर है। वह त्रिगुणातीत श्रद्धा (भगवत्प्रेम)-का मूल आधारस्वरूप है। यही त्रिगुणातीत श्रद्धा ही क्रम-क्रमसे परिमार्जित, परिपुष्ट एव परिपक्व होकर भगवत्प्रेमका स्वरूप लेती है।

यथा—

आदौ श्रद्धा तत साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्ति स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्तत ॥
अथासक्तिस्ततो भावस्तत प्रेमाऽभ्युदञ्चति।
साधकानामय प्रेम्ण प्रादुर्भावे भवेत् क्रम ॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु, पू०वि० ४।१५-१६)

जैसे आमक वृक्षम जव फलका अभ्युदय होना होता है तो उसके प्राथमिक स्वरूपको मञ्जरी अथवा बौर कहते हैं। फिर वही क्रम-क्रमसे टिकोरा, अमिया आम तथा परिपक्व होनेपर रसालकी सज्ञा प्राप्त करता है, मञ्जरीसे रसालतकके सभी नाम एक ही तत्त्वके हैं किंतु अवस्था-भेदसे ये सभी नाम अलग-अलग कहे जाते हैं। उसी तरहसे जीवके पास परमात्मासे पैतृक धरोहरके रूपम प्राप्त श्रद्धा नामकी यह सम्पत्ति ही क्रम-क्रमसे श्रद्धा-निष्ठा-रुचि-आसक्तिभाव एव प्रेमकी विभिन्न भूमिकाआको पार करती हुई 'अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपम्' (ना० भ० सू० ५१)-के रूपम उभडकर जीवको धन्यता प्रदान करती है।

प्रेमकी वृत्ति सबमे होती हैं किंतु जब उसकी धारा भौतिकताकी ओर मुडी हुई हो तो उसकी सज्ञा काम हो जाती है और वही धारा जव प्रभुकी ओर मुड जाय तो हृदयकी उस वृत्तिको प्रेम-भक्तिकी सज्ञा प्राप्त होती है। श्रीचैतन्यचरितामृतकार कहते हैं—

आत्मेन्द्रिय प्रीति-इच्छा तार नाम काम।
कृष्णेन्द्रिय प्रीति-इच्छा धरे प्रेम नाम॥
कामेर तात्पर्य निज सभोग केवल।
कृष्ण-सुख तात्पर्य प्रेम तो प्रबल॥

कभीका घोर विषयी कामी भी जब प्रभुकी ओर मुडता हे तो उत्कृष्टतम भगवत्प्रेमीके रूपमें उमडकर जगत्‌के सम्मुख आता हे यथा—चिन्तामणि नामकी वेश्याके प्रति अतिशय आसक्त विल्वमगल एव हेमाम्बा नामकी वेश्याक प्रति अतिशय आसक्त पहलवान 'धनुर्दास' जिनका जीवनवृत्त गीताप्रेसके भक्तचरिताङ्कमे प्रकाशित है।

इसक विपरीत जो व्यक्ति यह दावा करता है कि मुझमे किसीके प्रति राग अनुराग है ही नहीं, वह प्रेमका अधिकारी नहीं माना जाता है। जैसे—श्रीभक्तमाल ग्रन्थम एक प्रसग आता है—गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजीके चरित्रमे—

आयो कोउ शिष्य होन भट लायो।
लाखनकी, माखनकी चातुरी पै मेरी मति रीझिये॥

एक व्यक्ति लाखोकी सम्पत्ति लेकर श्रीवल्लभाचार्यजीके पौत्र गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजीके पास आया और बोला कि मैं आपसे दीक्षा लेना चाहता हूँ और यह सारी सम्पत्ति

दक्षिणाके रूपमें अर्पित करूँगा। दूसरा कोई अर्थलोलुप व्यक्ति होता तो तुरत दीक्षा देनेको उद्यत हो गया होता, किंतु गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजीने पूछा कि आप दीक्षा क्यों लेना चाहते हैं? तो उस व्यक्तिने कहा कि भगवत्प्रेमप्राप्त्यर्थ। श्रीगोस्वामिपादने पूछा कि पहलेसे कहीं प्रेम है क्या? उसने साफ इन्कार किया बोला—कहीं प्रेम नहीं है। श्रीगोस्वामिपादने कहा कि कहीं-न-कहीं तो प्रेम होगा?

देह, गेह पत्नी, पुत्र, पौत्र सम्पत्ति पद, प्रतिष्ठा स्वर्ग मोक्ष आदि किसी-न-किसीके प्रति तो राग अथवा ममत्वकी वृत्ति होगी ही। तथापि उसने अतिशय दृढ़तापूर्वक कहा—कहीं प्रेम नहीं है। श्रीगोस्वामिपादने कहा कि फिर तो मेरे वशकी नहीं है, जो आपके हृदयमें प्रेम उत्पन्न कर सकूँ अतएव आप और कहीं जाकर दीक्षा ले लें। हमारे यहाँ प्रेम उत्पन्न नहीं किया जाता है, बल्कि पहलेसे विद्यमान प्रेमकी धाराको जगत्‌की ओरसे हटाकर जगदीशकी ओर कर दिया जाता है। जब आपमें यह अनुरागकी वृत्ति है ही नहीं तो मैं अथवा कोई और व्यक्ति प्रेम कहाँसे उत्पन्न कर सकेगा? वह व्यक्ति वापस चला गया। किसीने कहा भी है कि—

मुहब्बतके लिये कुछ खास दिल मख्सूस होते हैं।
ये वो नगमा है जो हर साज पै गाया नहीं जाता॥

हाँ, प्रभु सर्वसमर्थ हैं। वे चाहें तो 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' समर्थ होनेके नाते असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य ।' (मुण्डक ३। २। ३)

इस प्रेमदेवके आराधनकी दिशामें मनीषियोंके बड़े-बड़े विलक्षण उद्गार हैं—

प्रेम पन्थ ऐसो कठिन सब कोउ निबहत नाहिं।
चढ़िके मोम तुरंग पर, चलिबो पावक माँहि॥

प्रेममें लेनेकी वृत्ति नहीं होती इसमें तो अपने प्रेमास्पद प्रभुके श्रीचरणोंमें निजसहित अपना सर्वस्व समर्पणकी ही भावना होती है। इस मार्गमें 'मैं' के लिये तो कोई स्थान ही नहीं—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी, ता मैं दो न समाहिं॥

सच पूछा जाय तो मानव-जीवनकी वास्तविक सार्थकता इस भगवत्प्रेमोपलब्धिमें ही है, वैसे धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष भी पुरुषार्थचतुष्टय कहलाते हैं, किंतु प्रेमके सम्मुख ये चारों भी साधन होकर रह जाते हैं, साध्यकी गिनतीमें नहीं आते। साध्य तो पञ्चम पुरुषार्थ कहलाकर—'प्रेमा पुमर्थो महान्' ही सिद्ध होता है।

यह दो तरहका बताया जाता है—एक तो रागात्मक जो किन्हीं-किन्हीं अवतारी महानुभावोंमें सहजरूपसे विद्यमान होता है—यथा—महाभागा व्रजगोपिकाएँ, श्रीभरतलालजी, सुतीक्ष्णजी चैतन्यमहाप्रभुजी, मीराबाई आदिके प्रेममें सहजता परिलक्षित होती है। इसे रागात्मक कहा गया है। दूसरा है रागानुग—इसमें साधक कोटिके महानुभाव साधन करते-करते उस भूमिकातक पहुँचनेका प्रयास करते हैं तथा पहुँचते भी हैं। यथा—देवर्षि नारदजीके शब्दोंमें—'तस्याः साधनानि गायन्त्याचार्याः —

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा॥

(ना०भ०सू० ३८)

श्रीरामचरितमानसके अनुसार सत्सङ्गमें जाते-आते श्रीहरिकथा सुनते-सुनते मोहकी निवृत्ति होगी फिर वही कथा एवं सत्सङ्ग भगवत्प्रेमके जननी-जनक हो जाते हैं। यथा—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

तथा—

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा॥

अतः यदि भगवत्प्रेम-प्राप्तिकी आकाङ्क्षा हो तो निष्कामभावसे केवल प्रभुके प्रसन्नतार्थ सत्सङ्ग और कथा-रसका पान करते रहें, इससे मोहकी निवृत्ति तथा भगवत्पदप्रेमकी प्राप्ति सहजरूपसे हो जायगी।

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥

(श्रीमद्भा० ३।२९।११)

जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते॥

जप जोग धर्म समूह तें नर भगति अनुपम पावई।
सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा॥

अथवा—

साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥

इसके लिये पूर्वके आदर्श प्रेमियोंका जीवनचरित्र पठन, श्रवण, मनन एवं अनुशीलन विशेषरूपसे परम उपयोगी होता है। जैसे—

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु अवसि होइ भव रस बिरति॥

(रा०च०मा० २।३२६)

~~~
~~~

प्रेम-दर्शन

[प्रेम प्रभुका साक्षात् स्वरूप है। जिस प्राणीको विशुद्ध सच्चे प्रेमकी प्राप्ति हो गयी, वास्तवमे उसे भगवत्प्राप्ति हो गयी —यह मानना चाहिये। इस प्रकार प्रेम 'साधन' और साधनका फल—'साध्य' दोनो है। भगवान् स्वय प्रेममय हैं। भगवान् ही प्रेम करनेयोग्य है और भगवान्को प्राप्त करनेका साधन भी प्रेम ही है। अत प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद स्वय प्रभु ही हैं।

प्रेमी भक्तोने प्रेमास्पद प्रभुको किस रूपमे अपना प्रेम प्रदान किया है, इसके साथ ही यहाँ प्रभुकी प्रेम-लीला तथा प्रभुके प्रगाढ प्रेमका निदर्शन प्रस्तुत किया जा रहा है—स०]

प्रेम तथा प्रेम-पुजारियोका दर्शन

प्रेम-प्रसग

प्रेम। प्रेम।। ओहो, कितने कर्णप्रिय श्रुतमधुर शब्द हैं। इन दो अक्षरोपर ससारकी सभी वस्तुएँ वारी जा सकती हैं। वन-वृक्ष, लता-पत्ता और कुञ्ज-निकुञ्ज सर्वत्र प्रेम-ही-प्रेम भरा है। जिस प्रकार दुग्धकी रग-रगमे घृत व्याप्त है, उसी प्रकार ससारके अणु-परमाणुमे सर्वत्र प्रेम रम रहा है। जिस प्रकार युक्तिद्वारा मथकर दुग्धमसे घृत निकाला जाता है, उसी प्रकार भावुकता, सहृदयता और अनुभूतिद्वारा इस प्रेमकी उपलब्धि होती है।

प्रेम एक बडी ही मीठी, मादक, मनोज्ञ और मधुर मदिरा है। जिसने इस आसवका एक भी प्याला चढा लिया, वह निहाल हो गया धन्य हो गया, मस्त हो गया। उस मतवालेकी भला कौन बराबरी कर सकता है? ससारके शाहशाह उसके गुलाम हैं। त्रिलोकीका राज्य उसके लिये तृणके समान है। उसे किसीकी चिन्ता नहीं हर्ष-शोक उसके पासतक नहीं फटकते। वह सदा मस्त रहता है। आनन्द ही उसका घर है वह सदा उसीमे विहार करता रहता है। वह पागल है, सिडी है, मतवाला है, बावला है और है फाँकेमस्त। ऐसे फाँकेमस्तोके दर्शन वडे भाग्यसे होते हैं।

प्रेमकी समता किससे की जाय? जब उसकी बराबरीकी कोई दूसरी वस्तु हो, तभी तो तुलना की जा सकती है। वह अद्वितीय, अनिर्वचनीय और अनुपमेय है। उसके समान ससारमे आजतक कोई वस्तु न हुई न है ओर न आगे होगी ही। वह अनादि अनन्त, अजर और अमर है। आप कहेंगे कि ये सब विशेषण तो हरि भगवान्के ही हो सकते हैं? हम कहेगे—हाँ यह ठीक है, आप बिलकुल ठीक कहते हैं। किंतु प्रेमके प्रचण्ड पागल रसिक रसखानसे भी तो पूछिये। देखिये वे हरिमे और प्रेममे क्या भेद बतलाते हैं—

> प्रेम हरी कौ रूप है, त्यौं हरि प्रेम सरूप।
> एक होइ द्वै यौं लसै ज्यौं सूरज अरु धूप॥

प्रेमका अलग अस्तित्व ही नहीं। प्रेम प्रभुकी परछाईं-मात्र है। परछाईं यथार्थ वस्तुकी ही तो होती है, प्रेम और हरि दो नहीं हो सकते।

प्रेमके पागल बडे ही निर्भीक और निडर होते हैं। उन्हे प्रेमके सिवा और कुछ अच्छा ही नहीं लगता। लोग कहते हैं, जान-बूझकर आगमे कौन कूदे? किंतु ये पागल-लोग पतगको ही अपना गुरु मानते हैं। यह जानते हुए भी कि *'यह प्रेमको पन्थ निरालो महा, तरवारिकी धार पै धावनो है।'* उस धारकी कुछ भी परवा न करके उसके ऊपर चलने लगते हैं। जो जानकी कुछ भी परवा नहीं करेगा, वही तो प्रेमबाटिकाकी ओर अग्रसर हो सकेगा।

महाशय! टेढी खीर है, दुर्गम पथ है बिना डाँडकी नाव है, मदोन्मत्त हाथीसे बाजी लगानी है, विषधर भुजङ्गके दाँत निकालने हैं, मोमके तुरगपर चढकर अनलकी सुरङ्गमे जाना है, ककरीली पथरीली वन-वीथियोम होकर चलना है, पाथेय ले जानेकी मनाही है। धूप और छाँहकी परवा न करनी होगी। भूख और नींदको जलाञ्जलि देनी होगी, कलेजेकी कसक किसीसे कहनी भी न होगी, न मरना ही होगा न भलीभाँति जीना ही होगा। जो प्रेमकी फाँसमे फँसना चाहता हो उसे इन सब बातापर पहले भलीभाँति विचार कर लेना चाहिये। खाली 'प्रेम' कह देनेभरसे ही काम न चलेगा। जवतक तू अपने पुराने मित्रका साथ नहीं

छोडता, तबतक यह तेरा नवीन मित्र तेरी ओर दृष्टि उठाकर भी न देखेगा और बेचारा देखकर करेगा भी क्या? तेरे हृदयकी कोठरी तो इतनी छोटी-सी है कि उसमे दोकी गुंजाइश ही नहीं। उसमे तो एक ही रह सकता है। एक प्रेमीका निजी अनुभव सुन ले—

चाखा चाहे प्रेम रस, राखा चाहे मान।
एक म्यानमे दो खड्ग, देखी सुनी न कान॥

है हिम्मत? यदि हाँ, तो आजा मैदानमे। देर करनेसे काम नहीं चलेगा। यह बाजार दो ही दिनका है, अवसर चूकनेपर फिर कुछ भी हाथ नहीं आनेका। देख ये प्रेमके पागल हैं, इनकी गति निराली है, इनकी ओर खूब ध्यानपूर्वक देखना। अहा! कैसी बेकली है, शरीरकी सुध-बुधतक नहीं, नशेमे चूर हैं—

कहूँ धरत पग परत कहुँ, डिगमिगात सब देह।
दया मगन हरि रूपमें, दिन-दिन अधिक सनेह॥
हँसि, गावत, रोवत उठत, गिरि-गिरि परत अधीर।
पै हरि रस चसको 'दया' सहै कठिन तन पीर॥

इतना ये सब क्यो सहते हैं? इन्हे उस अद्भुत रसका चस्का लग गया है। पुत्र-प्राप्तिके लिये पतिव्रताको भी पीर सहनी पडती है और वह उस पीरको प्रेमपूर्वक सहती है, फिर इनके आनन्दका तो पूछना ही क्या है। भगवान् जाने इसमें इन्हे क्या आनन्द मिलता है? न खाते ही हैं, न सोते ही हैं, ससारके सभी कष्टोको प्रेमपूर्वक सहते हैं, परतु अपने प्रणको नहीं छोडते। ये दुखिया सदा रोया ही करते हैं। इनसे तो ससारी लोग ही अच्छे। वे मौजसे खा-पीकर तान दुपट्टा सोते तो हैं—

सुखिया सब ससार है, खावे और सोवे।
दुखिया दास कबीर है, जागे और रोवे॥

कबीरदासजी! तुम क्या रोते हो? हम तो इस मार्गमे जिसे भी देखते हैं, रोता हुआ ही देखते हैं। सभीको झींखते ही पाया सभी छटपटाते ही नजर आये, सभी खीजकर अपने प्रेमीसे कहते हैं—

कै विरहिनिको मीचु दे कै आपा दिखलाय।
आठ पहरको दाझनो मो पै सहो न जाय॥

नहीं सहा जाता है तो उसकी बलासे। तुमसे कहा ही किसने था कि तुम आठो पहर दहा करो? तुम्हे ही पागलपन सवार हुआ था, अब जब आ बनी है तब रोते क्यो हो? तुम्ह तो मीराबाईने पहले ही सचेत कर दिया था, वह भी इस चक्करमे फँस गयी थी। भेद मालूम पडनेपर उन्होने स्पष्ट ही कह दिया था—

जो मै ऐसा जानती, प्रीति करै दुख होय।
नगर ढिढोरा पीटती, प्रीति करो मति कोय॥

ससारम सैकडो उदाहरण हैं। रोज ही तो देखते हैं कि प्रीति करके आजतक किसीने भी सुख नहीं पाया। सभी दु खी ही देखे गये हैं। इसका भेद सूरदासजीसे तो पूछिये! ये भी बडे चावमे घूमते-फिरते थे। प्रेमके ही चक्करमे फँसकर तो ये आँखोसे हाथ धो बैठे। अन्तमे अक्ल आयी तो सही, परतु *'अब पछिताये होत का जब चिड़िया चुग गई खेत'* इस चक्करमे जो फँस गये सो फँस गये, इसके पास आकर फिर कोई लौटकर थोडे ही जाता है? *'जो आवत एहि ढिग बहुरि जात नहीं रसखानि'* बस, उम्रभरका झींखना ही हाथ रह जाता है। सो झींखा करो, उसे इससे कुछ भी सरोकार नहीं। अन्य प्रेमियोकी भाँति सूरदासजी भी कुढकर कह रहे हैं—

प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।
प्रीति पतङ्ग करी दीपक सो आपै प्राण दह्यो॥
अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सो सम्पति हाथ गह्यो।
सारङ्ग प्रीति करी जो नाद सों सन्मुख बाण सह्यो॥
हम जो प्रीति करी माधव सो, चलत न कछू कह्यो।
सूरदास प्रभु बिन दुख दूनो, नैनन नीर बह्यो॥

यदि नैनन नीर बह्यो है तो बहाते रहो, खूब बहाओ, तुम्हारे नयनोमे नीर बढ भी बहुत गया था, जिसे भी देखते हैं, उसे ही नीर बहाते ही देखते हैं। भगवान् जाने इन प्रेमियोके नयनोम इतना नीर आ कहाँसे जाता है? इनके यहाँ जाडा-गरमीका तो नाम ही नहीं। बारहो महीने वर्षा—निरन्तर पावसकी-सी झडियाँ लगी रहती हैं। एक बात और भी अचरजकी है। जहाँ पानी होता है, वहाँ अग्नि नहीं रहती। यह ससारका नियम है। किंतु इनके यहाँ विचित्र ही दशा देखी। वर्षा होनेपर भी ये लोग सदा जलते ही रहते हैं और ऐसे जलते हैं कि इनकी आँचसे आस-पासके

पेड-पत्तेतक स्वाहा हो जाते हैं। बेचारे पेडकी छाँहतकम भी तो नहीं बैठ सकते। इसी जलनम जलती हुई एक विरहिनि कहती है—

बिरह जलन्दी मैं फिरूँ, मो बिरहिनिको दुक्ख।
छाँह न बैठो डरपती, मति जलि उट्ठै रुक्ख॥

रूख तो जरूर ही जल उठेगा, उस बेचारेको क्या बरबाद करती हो? तुम तो जल ही रही हो तिसपर भी दूसरेकी इतनी चिन्ता? अहा, तुम्हारी ऐसी दयनीय दशा! कलेजा काँप उठता है। कबीरदासजीने तुम्ह ही लक्ष्य करके सम्भवत यह कहा है—

जो जन बिरही नामके, झीना पिंजर तासु।
नैन न आवै नींदड़ी अग न जामे मासु॥

अङ्गमे मास जमे कहाँसे? पापी बिरहा साथ लगा हुआ है न? रक्त-मासको तो यही चट कर जाता हे। यह पिंजर बना हुआ है इसे ही गनीमत समझो। हाड तो शेष हैं? परतु अब हाड भी शेष नहीं रहगे। अबके इनकी भी बारी है। वैरी विरहा इन्हे भी न छोडेगा—

रक्त मास सब भखि गया, नेक न कीन्हीं कान।
अब बिरहा कूकर भया, लागा हाड़ चबान॥

इस कूकरको पहले पाला ही क्यो था? जब इसे खानेको कुछ भी न मिलेगा तो क्या यह भूखा रहेगा? वेचारे बडी विपत्तिमे पडे। एक पल भी चैन नहीं। दयाबाई भी इस चक्करमे फँस गयी थी। उसे भी चैन नहीं मिलता था। उसकी भी करुण-कहानी सुनिये—

प्रेम-पीर अति ही विकल कल न परत दिन-रैन।
सुन्दर श्याम सरूप बिन, दया' लहत नहिं चैन॥

किस-किसकी सुने। एक हो तो उसकी बातपर कुछ विचार भी किया जाय। यहाँ तो जिसे भी देखा उसे ऐसा ही देखा। जिसे पाया उसे रोता ही पाया। इससे तो हमीं अच्छे हैं कि इस झझटसे बरी तो हैं। जब इस मार्गमे इतना दु ख है तो बैठे-ठालेकी कौन मुसीबत मोल ले? परतु कबीरदासजी कुछ और ही अपना तानाबाना पूर रहे हैं। वे कहते हैं—'जिस घटमे प्रेम नहीं वह तो श्मशानके तुल्य है।' क्या खूब? यह भी कोई बात हुई? भला श्मशानकी और हमारी क्या तुलना? श्मशान एक जड पदार्थ ठहरा और हम हैं चैतन्य। श्मशानको तो हमने कहीं साँस लेते नहीं देखा और हम तो सोते-जागते सदा साँस लेते रहते हैं। उस निर्जीवसे हमारी बराबरी कैसी? लीजिये इसका भी उत्तर सुन लीजिये—

जा घट प्रेम न सचरे, सो घट जान मसान।
जैसे खाल लुहार की, साँस लेत बिन प्रान॥

भाई, बात तो बडे पतेकी कही। किंतु प्रेम मिलेगा कहाँ और कितनेमे मिलेगा? इसका भी उत्तर सुन लीजिये—

प्रेम न बाड़ी ऊपजै प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै सीस देइ लै जाय॥

बस एक दाम! जिस दिन तुम इसके दरवाजेपर जाओगे उसी दिन यह पोस्टर चिपका हुआ पाओगे। मतलब समझ गये? सीधे-सादे शब्दोम सुनना चाहते हो तो इसका मतलब या है—'यहाँ उधारका व्यौहार नहीं, तुरत दान महाकल्यान' हिसाब चुकता करो और सौदा लेकर चलते बनो। क्या यहाँ भी तुमने और बाजारोकी-सी बात समझ रखी है? इतनी बात याद रखो—

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुइँ धरै तब पैठे घर माहिं॥

हाँ इतनी हिम्मत हो तभी आगे बढना। आवेशमे आकर दूसरोसे उस मादक द्रव्यकी प्रशसा सुनकर वैसे ही मत कूद पडना। एक प्यालेकी कीमत क्या है जानते हो? ऊँच-नीच, छोटे-बडे, मूर्ख-पण्डित और पाधा-पुरोहित यहाँ किसीका भी भेद-भाव नहीं। खरी मजूरी चोखा काम! अट्टीमेसे टके निकालो और छककर पीओ! जो भी दक्षिणा दे सक वही प्यालेका अधिकारी है। यह देखो सामने दक्षिणाका नोटिस चिपका है। जरा खडे होकर इसे पढ ता लो तब आगे बढना—

प्रेम पियाला जो पिये, सीस दच्छिना देय।
लोभी सीस न दे सकै, नाम प्रेमका लय॥

अहा! वे मनस्वी तपस्वी और अलौकिक महापुरुष धन्य हैं जिन्होन इस प्रमपीयूपका पान करके अपनेको कृतकृत्य बना लिया है। जिन्होने प्रेम-सरोवरमें गाते मार-मारकर स्नान किया है। जिन्हाने प्रेमवाटिकामें भ्रमण किया है

जिन्होने प्रेमको ही अपना आराध्यदेव मानकर उसीकी अर्चा-पूजामे अपना समय विताया है। जो निरन्तर प्रेम-सखाके ही साथ हास-विलास किया करते हैं उनकी पदधूलिसे पापी-से-पापी प्राणी भी परम पावन हो सकता है। उनकी सुधामयी वाणीसे कठार-से-कठोर हृदयमे भी कसक पैदा हो सकती है। क्या न हो? जिन्होंने इतनी वहुमूल्य चीज देकर—अपनी सबसे प्यारी जान देकर उसके बदलेमे जो चीज प्राप्त की है, वह क्या कोई साधारण चीज हो सकती है?

हे प्रेमदेवके पुजारियो! ससारमे तुम धन्य हो। हे त्यागी महानुभावो! प्रेमके ऊपर जान लडा देना तुम्हारा ही काम है। हे प्रियदर्शन! ससारको त्याग और पेमका पाठ तुम्हीं पढा सकते हो। तुम्हारी अनन्य भक्ति, अनुपम त्याग अद्भुत लगन, सच्ची सहनशीलता और नैसर्गिक नम्रता श्लाघनीय ही नहीं, अपितु अनुकरणीय भी है।

हे त्रिविध तापोमे तपे हुए ससारी प्राणियो! यदि तुम्हे लोभने आ घेरा है, यदि तुम जानकी बाजी नहीं लगा सकते हो, यदि तुममे शीश उतारनेकी शक्ति नहीं है, यदि तुम्हे अपनी जान अत्यन्त ही प्यारी लगती है और फिर भी तुम उस ओर जानेके इच्छुक हो तो उन प्रेमके पुनीत पुजारियोकी दो-चार बाते ही सुनते जाओ। इन प्रेमियोके जीवन-सम्बन्धी बातामें भी वह रस भरा हुआ है कि सदाके लिये नहीं तो एक क्षणके लिये तो वे तुम्हे मस्त कर ही देगी। आओ! तुम्हे प्रेम-हाटकी सैर करा दे।

अहा! देखो न, इस हाटमे चारो ओर कैसी वहार है! धीमी-धीमी सुगन्ध मस्तिष्कको मस्त बनाये देती है। अब देर न करो मेरे पीछे ही चले आओ।

प्रेम-हाट

प्रेमके हाटकी सैर करना चाहते हो? किस चक्करमे पड गये? अरे, इसे तुम कहाँतक देखोगे? इसका अन्त थोडे ही है। चलते-चलते थक जाओगे। जिसके आदि-अन्तका ही पता नहीं उसके पीछे व्यर्थमे मगज खपाना पागलपन नहीं तो और क्या है? ओहो! तुम यहाँतक तैयार हो? लोकलाजकी कुछ भी परवाह नहीं? हैं! इतनी निर्भीकता? बस, तब तो ठीक है। अच्छा तो चलो जितना देख सके उतना ही सही। आदि-अन्तसे हमे क्या प्रयोजन? अच्छा तो जहाँ खडे हो, वहींसे आरम्भ कर दो। लो, पहले पूर्वमे ही प्रारम्भ हो। पूर्व दिशाको शास्त्रकारोने भी शुभ कहा है। अहाहा! कैसी मनोहर करतल ध्वनि है? कोमल कण्ठ तो कोकिलाकी कुहू-कुहूको भी लज्जित कर रहा है। जरा क्षणभर ठहरकर इस सुमधुर रागको सुनते तो चलो! सुनो, देखो कैसा कमनीय कण्ठ है। अहा!

चेतोदर्पणमार्जन भवमहादावाग्निनिर्वापण
श्रेय कैरवचन्द्रिका वितरण विद्यावधूजीवनम्।
आनन्दाम्बुधिवर्धन प्रतिपद पूर्णामृतास्वादन
सर्वात्मस्वपन पर विजयते श्रीकृष्णसकीर्तनम्॥

अहा! धन्य! धन्य!! महाशय! ये रतिपतिके अवतार कमनीय कान्तिवाले युवक सन्यासी गायक है कौन? ये तो बडे ही उदार दयालु और समदर्शी मालूम पडते हैं। हरे राम! रे राम! इतना जबर्दस्त त्याग! इतनी उदारता!! किसीसे कुछ मूल्य ही नहीं लेते। बिना किसी भेद-भावके ये तो सबको भर-भर प्याला पिला रहे हैं। न जाने क्यो, हमारे मनको ये हठात् अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं? तुम मुझे जल्दीसे इनका परिचय दो। हैं, क्या कहा? ये ही महाप्रभु गौराङ्गदेव हैं। अहोभाग्य! इनकी दूकानपर तो बडी भीड-भाड है। मालूम पडता है इन्होने कोई नूतन मादक आसव तैयार किया है। तभी तो गरीब, अमीर पण्डित मूर्ख, ब्राह्मण, चाण्डाल, आर्य और यवन—सभी-के-सभी एक ही पक्तिमे बैठकर पान कर रहे हैं। कोई किसीका लिहाज ही नहीं करता। अरे! इनके पास यह मतवालेकी तरह कौन नाच रहा है? कोई विद्वान् पुरुष-सा ही मालूम होता है। नहीं यार! क्या न्याय-वेदान्त-साख्य-मीमासाके दिग्गज विद्वान् आचार्य वासुदेव सार्वभौम इस बेहूदेपनसे नृत्य कर सकते हैं? अरे! हाँ, मालूम तो वे ही पडते हैं, परतु ये बडबडा क्या रहे हैं! जरा कान लगाकर सुने भी तो—

परिवदतु जनो यथातथाय
ननु मुखरो न ततो विचारयाम।
हरिरसमदिरामदेन मत्ता
भुवि विलुठाम नटाम निर्विशाम॥

हाँ, इस हरि-रसमे इतनी मादकता है? अरे! इस

मधुर मादक मदिराके वितरण करनेवाले महापुरुष तू धन्य है। भैया मै इसका एक बूँद भी पान करनेका अधिकारी नहीं हूँ। जब इतने बडे-बडे पण्डित अपने पाण्डित्यके अभिमानको त्यागकर—अमानी होकर पागलाकी भाँति नृत्य करने लगते हैं तो न जाने मुझ अधमकी क्या दशा होगी? भैया, मुझसे तो इस प्रकार खुलकर नहीं नाचा जायगा। तुम जल्दीसे आगे बढो, हमे तो अभी बहुत कुछ देखना है। बिना वासनाओके क्षय हुए कोई भी मनुष्य इस अद्भुत आसवके पान करनेका अधिकारी नहीं हो सकता।

अरे, यह क्या? इतनी ही देरमे कायापलट! ये हैं कौन? तुम इन्हे अब नहीं पहिचान सकते। इन्होने च्यवनप्राशका सेवन कर लिया है। तभी तो इनकी ऐसी कायापलट हो गयी हे। तुमने इन्हे बहुत वडा देखा होगा! पहले तुमने इन्हे हजारो आदमियापर हुकूमत करते पाया होगा फिर भला अब तुम इन्हे कैसे पहिचान सकते हो? अब तो ये '*तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना*' हा गये हैं। ये गौडश्वरके भूतपूर्व मन्त्री ओर सहोदर भाई रूप तथा सनातन हैं। देखत हो न कैसे हो गये हें? इन्हे भी उस प्यालेका चस्का लगा। रूप तो महाप्रभुसे मिलते ही '*नौ दो ग्यारह*' हुए। सनातन कारागारसे छिपकर भागे और वनो-जगलो तथा पर्वताको पार करते हुए '*आमाय गोराचाद डाकि छे*' पुकारते हुए पेदल ही काशी आये और जबतक एक प्याला चढा नहीं लिया तबतक इन्हे चैन नहीं पडा। बस, तभीसे ये वृन्दावनवासी हो गये।

ये इनकी बगलमे कौन हैं? ये इनके भतीजे जीव गोसाईं है। पण्डित होनेपर भी ये भारी भक्त हैं। हैं तो इन लोगाके भतीजे तथा शिष्य ही। इन दोना भाइयाके सदृश इनमे सादगी और सीधापन नहीं है। फिर भी इनके बाँके भक्त होनेम सदेह नहीं। इनके पास ही यह युगल जोडी कैसी? ये दोना भट्ट महोदय हें। एकका नाम है रघुनाथ भट्ट और दूसरेका गोपाल भट्ट। इनकी भागवतकी कथा बडी ही मनोहर होती है।

ठहरो जरा एसी जल्दी क्या करते हो? वह देखो ढीली धोती पहने हाथम जपकी थैली लटकाये ये कौन महोदय आ रहे हें? ये हैं कृष्णपुरके प्रसिद्ध ताल्लुकेदार श्रीगोवर्धनदास मजूमदारके लाडिले लडेते लडके। इनका नाम है रघुनाथदास। घर-द्वार, कुटुम्ब-कबीला और जमीन-जायदाद सबपर लात मारकर ये हरि-भजन करने चले आये हैं। ये जातिके कायस्थ हैं, फिर भी निरामिषभोजी हैं। यह तुमने कैसी बिना सिर-पैरकी वात कह डाली? वैष्णव तो सभी ही निरामिषभोजी होते हैं। तुम समझे नहीं, इनके लिये यह कार्य बहुत ही प्रशसनीय है। कहावत है कि '*गिलोय एक तो वैसे ही कड़वी थी तिसपर नीम चढी।*' एक तो बगाली और तिसपर भी कायस्थ। खैर छोडो इस नीरस प्रसङ्गको। हाँ तो ये बडे भागवत वैष्णव हैं। प्रेमके पीछे इन्हाने सभी ससारी सुखोको तृणवत् समझकर उन्हे सदाके लिये त्याग दिया है। ऐसे ही हरिरस-माते भगवद्भक्तोके सम्बन्धम तो दयाबाईने कहा है—

हरि रस माते जे रहै, तिनको मतो अगाध।
त्रिभुवनकी सम्पति 'दया' तृन सम जानत साध॥

अहा! देखो न, चारो ओर कैसी बहार है। चारा ओर भक्त-ही-भक्त दृष्टिगोचर हो रहे हैं। क्योजी ये इतने उत्कण्ठित-से क्यो हैं? भाई! ये सब सूरके दर्शनाको लालायित हो रहे हें। चलो जल्दीसे चले नहीं हमलोग पिछड जायँगे। वह देखो ये जो सामने अपने सुमधुर गायनसे श्रोताओको चित्रवत् बनाये हुए हें, ये ही व्रज-साहित्य-गगनके सूर्य सूरदासजी हें। हाथमे वीणा लिये प्रेममे पागल होकर कीर्तन कर रहे हैं। यही इनका रात-दिनका काम है। इन्होने आँखे क्यो बद कर ली हैं? अरे भाई! इस असार ससारकी ओरसे विना आँखे बद किये कोई उस अमृतानन्दका पान नहीं कर सकता। आँखे मूँदकर ये उस अनिर्वचनीय आनन्दरूप अमृतत्वकी इच्छा कर रहे हैं।

भगवती श्रुति इनके ही सम्बन्धम तो कह रही हैं 'आवृत्त चक्षुरमृतत्त्वमिच्छन्' इन्हे जरा ध्यानपूर्वक देखो। इनकी परख करनेके लिये हृदय चाहिये हृदय। कैसा हृदय? जलता हुआ विरह-व्यथामे तडपता हुआ वात्सल्य-प्रेमम सना हुआ। अहा इनके वाक्यबाण प्रेमी हृदयामे

कसक पैदा कर देते हैं। भावुक हृदयमे गुदगुदी होने लगती है। विद्वानोका कथन है कि सस्कृत भाषाके दो-एक कवियोको छोडकर ससारम आजतक किसी भी भाषाके कविने शिशु-सौन्दर्य और स्वभावका ऐसा जीता-जागता, बोलता हुआ वर्णन नहीं किया है। इस बातको तो विश्वसाहित्यके विद्यार्थी ही जाने। अपने राम तो इनकी कविता ही सुननेके इच्छुक हैं। सावधान, अब ये गानेहीवाले हैं। बालक कृष्णकी बाल्यावस्थाका कैसा सुन्दर वर्णन करते हैं—

सोभित कर नवनीत लिये।
घुटुअन चलत रेनु तन मडित मुखमे लेप किये॥
चारु कपोल लोल लोचन छवि गौरोचनको तिलक दिये।
लर लटकन मानो मत्त मधुपगन माधुरि मधुर पिये॥
कँठुला कठ वज्र केहरि नख राजत है सखि रुचिर हिये।
धन्य सूर एकौ पल यह सुख कहा भयो सत कल्प जिये॥

(वाह रे, कन्हैयाके रूपके कथक!) तैंने तो कलेजा काढके रख दिया। आँखे तो थीं ही नहीं, ये सब लीला तुम केसे देख रहे थे। बिना प्रत्यक्ष आँखासे दखे कोई ऐसा अद्भुत वर्णन कर सकता है? हाँ, अब समझे। ये अलौकिक भाव हैं। अलौकिक भाव क्या इन लोकिक चर्मचक्षुआसे देखे जा सकते हैं। तुमने दिव्य चक्षुआसे इन सब लीलाओका प्रत्यक्ष किया है।

चलो भाई अव किधर चलना है? सामने ही तो। यह देखो। ये हितजी हैं। अहा क्या ही बहार है! सिवा प्यारी-प्यारेके इन्हे और कुछ भाता ही नहीं। ये अनन्य राधावल्लभीय सम्प्रदायके प्रवर्तक हैं। ये भक्त हैं, प्रेमी हैं रसिक हैं और कवि भी हैं। हाँ, सच्चे कवि हैं। सरस हैं, सहृदय हैं। पागल होकर गा रहे हैं—

ब्रज नव तरुणि कदम्ब मुकुट मणि श्यामा आजु बनी।
नखसिख लौ अँग अग माधुरी मोहे श्याम धनी॥

बडी सुन्दर दुनियामे ले आये यार! परतु इस दूकानमे तो कुछ भी ठाठ-बाट नहीं। यहाँ तो खाली टट्टी-ही-टट्टी गड रही है। परतु फिर भी यहाँ न जाने क्यो इतने ग्राहक खडे हुए हैं? यह बात भी नहीं कि सभी ग्राहक दरिद्री ही हा। इनमे तो राजे-महाराजेतक दिखायी पडते हैं। अरे, इन्हे तुम नहीं जानते! ये परम रसिक श्रीहरिदास स्वामी हैं, जिनकी जूतियापर सम्राट् अकबर एक साधारण सेवककी पोशाकमे आकर बैठा था। जगत् प्रसिद्ध गायनाचार्य तानसेन इन्होंके शिष्य थे। ये टट्टियामे ही निवास करते हैं। करुवेका ही पानी पीते हैं और गुदडी ही ओढकर सोते हें। *'कर करुआ गुदरी गरे'* यही इनका बाना है। आठो पहर इन्ह बिहारी-बिहारिनके साथ विहार करना ही भाता हे। दुनियाके प्रपञ्चोसे इन्हे कोई भी सरोकार नहीं। टट्टी-सम्प्रदायके ये ही आदि आचार्य और सस्थापक हैं। ये ससारमे किसीसे भी भय नहीं मानते, सब घटमे भगवान्को जानकर ये निर्भय हाकर विचरते हैं। सुनिये ये स्वय कह रहे हैं—

अब हौ कासों बैर करौ ?
कहत पुकारत प्रभु निज मुखते, घट घट हौ विहरौ॥
आप समान सबै जग लेखौ, भक्तन अधिक डरौं॥
श्रीहरिदास कृपा ते हरिकी नित निर्भय विचरौ॥

चलिये महाराज, यहाँ हमारी दाल नहीं गलनेकी। हम अभी इतने निर्वैरी नहीं हुए हैं। आगे बढो! अच्छा तो इधर मुँह फेरो!

अरे, क्या बगालमे आ गये! हाँ, यही तो मजा है, इसम यह सब कुछ मालूम नहीं पडता कि कहाँ हैं। हमने तुमसे पहले ही कहा था न कि यह अनादि-अनन्त हाट है। न इसके ओरका ठिकाना है, न छोरका। ये भक्तप्रवर श्रीरामप्रसादजी हैं। कालीमाईके मानसपुत्र हैं। अहा इनके प्रेमका क्या कहना है! मानो कालीमाईका प्रेम साक्षात् शरीर धारण करके नृत्य कर रहा हे। बगदेशम इतने ऊँचे भक्त और कवि विरले ही हुए हैं। ये मातासे सदा यही वरदान माँगा करते हैं *'आमाय पागल करे दे मा'* ये सचमुच पागल हैं। *हाथ कगनको आरसी क्या?* इस बातको ये स्वय ही स्वीकार करते हैं—

सुरा पान करिने आमि, सुधा खाइ जय काली बोले।
मन माताल मेते छे आमाय मद माताले मा! मा! बोले॥

नहीं! चलो भाई, जल्दीसे आगे बढो ऐसा न हो कि इनके ससर्गमे पडकर हम भी नृत्य करने लगें तो सम्पूर्ण प्रतिष्ठा धूलिमे मिल जायगी। ये महाभाग कौन हैं? अष्टछापवाले नन्ददासजी ये ही हैं। धन्यभाग महाशय! ये

तो बडे ही अमानी मालूम पडते हैं! ठीक ही है भाई, बिना अमानी हुए कोई हरिकीर्तनका अधिकारी भी तो नहीं हो सकता। इन्होने अपनी सम्पूर्ण अवस्था व्रजमे रहकर कृष्णकीर्तन करते हुए ही बितायी है। इन्हे प्रतिष्ठाकी तनिक भी इच्छा नहीं। ये प्रतिष्ठाको 'सूकरीविष्ठा' के सदृश समझते हैं। कामिनी काञ्चन और कीर्ति कुछ भी नहीं चाहते। ये तो खाली प्रेमके भूखे हैं। इनके मतसे प्रेमके समान 'ग्यान-जोग' कुछ भी नहीं है—

जो ऐसी मरजाद मेटि मोहनको ध्यावैं।
काहि न परमानन्द प्रेम पद पीको पावै॥
ग्यान जोग सब करमते, प्रेम परे ही माच।
यो यहि पटतर देत हौ हीरा आगे काच॥
विषमता बुद्धि की।

सुना आपने? अरे यार, सुना तो सब कुछ, परतु यह क्या? यहाँ तो स्त्रियाँ भी हैं। तो फिर इसमे आश्चर्यकी ही कौन बात है? यहाँ स्त्री-पुरुष, छोटे-बडे राजा-रक और मूर्ख-पण्डित किसीका भी भेदभाव नहीं है। यहाँ आनेको हिम्मत चाहिये। जिसमे हिम्मत हो वही आ सकता है। मालूम है कैसा बनकर इस बाजारमे कोई आ सकता है। अच्छा तो सुनो—

सीस उतारै भुइँ धरै, ता पर राखै पाँव।
दास कबीरा यो कहै, ऐसा होय तो आव॥

है तुममे सामर्थ्य। भैया, मुझे नहीं चाहिये। तुम यहाँसे आगे चलो। 'भाई इतने क्यो घबडाते हो? यदि तुम सीस नहीं दे सकते तो जिन्होने सीस समर्पित कर दिया है, उनके दर्शन तो कर ही सकते हो। देखो ये चित्तौडकी महारानी हैं। अपने प्यारे गिरिधरलालके पीछे पगली बन गयी हैं। इनका नाम है मीराबाई। इन्होने कलियुगमे भी गोपियोके प्रेमको प्रत्यक्ष करके दिखला दिया है। ये अपनी धुनकी बडी पक्की हैं। अपने प्यारेके पीछे ये परिवारवालाकी कुछ भी परवा न करके देश-परदेशमे मारी-मारी फिरती हैं। इनके प्रेमके प्रभावसे जहर अमृततुल्य हो गया पिटारीका साँप भी शालग्राम बन गया। तो भी ये बडे कष्टमे हैं। इनके दु ख-दर्दको भला कौन जान सकता है। सुनो इनकी मनोव्यथा, ये अपने-आप ही अपना दुखडा रो रही हैं—

हे री मै तो दरद दिवाणी, मेरा दरद न जाणै कोय॥
घायलकी गति घायल जाणै जो कोइ घायल होय।
जौहरिकी गति जौहरी जाणै, की जिन जौहर होय॥
सूली ऊपर सेज हमारी किस विध सोवणा होय।
गगन मँडल पर सेज पियाकी, किस विध मिलणा होय॥
दरदकी मारी बन-बन डोलूँ बैद मिल्या नहिं कोय।
मीराकी प्रभु पीर मिटैगी जब बैद साँवलियाँ होय।

भाई बडा करुण-कण्ठ है। ऐसी करुण-कहानी तो मैंने आजतक नहीं सुनी। हृदयके अन्तस्तलके सजीव उद्गार हैं।

अहा ये तो कोई गुजराती महाशय हैं! हाँ परम भागवत अनन्यवैष्णव स्वनामधन्य श्रीनरसी मेहताजी आप ही हैं। स्वय श्रीहरि इनके सहायक हैं। इनके सभी काम वे अपने ही हाथासे करते हैं। ये परायी पीरको भी जानते हैं। इन्होने वैष्णवकी परिभाषा ही यह की है—

वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीड पराई जाणे रे।

तुम परायी पीर जानते हो? भाई, कैसा बेढगा प्रश्न कर देते हो। चलो आगे बढो। ये तो पगडी बाँधे हुए हैं, कोई महाराष्ट्रके महापुरुष जान पडते है। हाँ भाई, ये महाराष्ट्रके प्रसिद्ध सत हैं। महाराष्ट्रमे कीर्तनके समय जिन सात महापुरुषोका नाम लेकर कीर्तन आरम्भ किया जाता है, उनमे इनका भी नाम है। वे सात कौन-कौन हैं जानते हो? 'निवृत्ति ज्ञानदेव, सोपान, मुक्ताबाई, एकनाथ नामदेव और तुकाराम'। ये तुकारामजी महाराज ही हैं। इन्होने विधिनिषेधका झझट त्याग दिया है। वेदान्तियोका तो कथन है कि सभी नाम-रूप मिथ्या हैं। उनके मतमे 'नाम' कोई सत् पदार्थ ही नहीं किंतु इनकी बात निराली ही है। ये नामके ही पीछे पागल हुए फिरते हैं। जिसे देते हैं, उसे नामका ही उपदेश देते हैं। कुछ दुष्टोने इन्हे गिरानेके लिये एक वेश्याको सिखा-पढाकर इनके पास भेजा। गयी तो थी वह इन्हे रिझाने वहाँ जाकर वह स्वय ही रीझ गयी। इन्हे न गिराकर स्वय ही इनके चरणोपर गिर पडी और फिर ऐसी गिरी कि उठकर फिर नगरमे नहीं आयी। नामके अनन्त सागरमे घुल-मिलकर वह तद्रूप ही

हो गयी।

देखे ये आखिर सब शास्त्रोका निचोड गागरमे सागर भरनेकी तरह थोडेमे क्या बताते हैं?

वेद अनत बोलिला अर्थ तुकाचि साधिला।
विठोबाची शरण जावे, निज निष्ठे नाम गावे॥

बस, विठोबाकी शरण होकर नाम-गान करना सार है? फिर यार ये पोथे-के-पोथे रच क्यो गये हैं? विश्वासके लिये। खाली 'राम' इन दो अक्षरोके ऊपर बुद्धिवादियोका सहसा विश्वास नहीं होता। इसलिये शास्त्रकार पहले बहुत-सी बाते बनाकर अन्तमे घुमा-फिराकर यही बात कह देते हैं 'विश्वास करो। भगवान्का नाम लो'। परतु बिना उसका असली मर्म जाने कोई इस भेदको पा थोडे ही सकता है? तुकारामजीने इस मर्मको जाना था। कैसे? शास्त्र-ज्ञानद्वारा। अजी नहीं, अपने अनुभव-ज्ञानसे, राम-नामके प्रतापसे, तभी तो ये निर्भय होकर कह रहे ह—

अनुभवसे कहता हूँ, मैने उसे कर लिया है बसमे।
जो चाहे सो पिये प्रेमसे, अमृत भरा है इस रसमे॥

भाई इनकी बात तो कुछ-कुछ हमारी समझमे भी आती है। खाली मुखसे राम-राम ही तो कहना है, इसमे लगता ही क्या है? हाँ यह मत समझना। ये भी किसीसे कम नहीं हैं। नामसनेही सत जानके बदलेमे मिलते हैं। ***'तुका ह्मणे मिले जिवाचीये सार्टी'*** लगा सकते हो जीकी बाजी? चलो चलो भाई आगे चलो। यहाँ तो बिना जानके कोई बात ही नहीं करता। इन सबके मतसे मानो जानका कुछ मूल्य ही नहीं। कुँजडेका गल्ला समझ रखा है।

अच्छा इन्हे जानते हो। हाँ यार इन्ह जानना भी कोई कठिन काम है, देखते नहीं हो। गलेम कितनी मालाएँ पडी हैं ठाट-बाटका चन्दन लगा हुआ है, सम्पूर्ण शरीरमे ब्रजरज लिपटी हुई है, कोई परम भागवत वेष्णव हैं। अरे, यह तो कोई भी बता सकता है यह बताओ, ये कौन जातिके हैं? भाई, वैष्णवोकी भी कोई जाति होती है क्या? ***'हरिको भजे सो हरिका होय जाति पाँति पूछे ना कोय'*** हरिजन ही इनकी जाति है परतु देखनेम तो ये कोई उच्च कुलके पुरुष जान पडत हैं। तुमने अभी इन्हे पहिचाना नहीं। ये जातिके सैयद हैं। ये दिल्लीके शाही खानदानी राजवशावतस श्रीरसखानजी हैं। ये साहिबीको व्यर्थ समझकर छिनभरमे ही बादशाही वशकी ठसक छोड व्रजवासी बन गये और प्रेम-निकेतन श्रीकृष्णचन्द्रजीका पल्ला पकडकर अन्ततक उन्हींके साथ हास-विलास करते रहे। ये उस ललाम रूपको देखते ही मियाँसे रसखान हो गये। देखते नहीं कैसे मस्त बैठे गुनगुना रहे हैं? सुने तो क्या गाते हैं?

मानुप हौ तो वही रसखानि,
बसौ ब्रज गोकुल गाँवके ग्वारन।
जो पसु हौ तो कहा बसु मेरो,
चरौ नित नन्दकी धेनु मँझारन॥
पाहन हौ तो वही गिरिकौ
जो धर्यौ कर छत्र पुरन्दर-धारन।
जो खग हौ तो बसेरो करौ,
मिलि कालिदी-कूल-कदबकी डारन॥

यार इनकी वाणीमे तो बडी माधुरी ओर प्रेम भरा है। कुछ पूछो मत। प्रेमका जैसा अद्भुत वर्णन इन्होने किया है, वैसा वर्णन व्रजभापामे बहुत ही कम कवियोने किया हे। लो तुम तो अनेक फूलोका रस चखनेवाले भ्रमर हो न। लो थोडा इनके प्रेमपीयूपका भी स्वाद चखते चलो। अहा क्या ही सुन्दर शब्द-विन्यास है। केसा ऊँचा आदर्श है। कितनी स्वाभाविकता, सरलता तथा सरसता है—

प्रेम अगम अनुपम अमित, सागर-सरिस बखान।
जो आवत एहि ढिग बहुरि जात नाहि रसखान॥

भाई मुझे यहाँसे जल्दीसे हटाओ। यदि में इसमे फँस गया तब ता सभी गुड गोबर हो जायगा। मुझे तो अभी ससारमे बहुत-से काम करने हैं। यदि मैं इस चक्करमे फँस गया तो वे सब ता ज्या-के-त्यो ही रह जायँगे। ***'हे हरि, त्राहि मा! रक्ष मा!'***

अच्छा तो लो आगे चलते हैं। इन्हे पहिचानते हो? खूब, लो इन्हे भी न जानूँगा? ये कृष्णगढाधीश महाराजा जसवन्तसिहजी हैं न? अरे, चुप, चुप। यहाँ भूलकर भी फिर इस नामको न लेना। लोग हँसी करगे। यहाँ इनका नाम है महात्मा नागरीदास। राजा होकर भी ये प्रेमी हैं और सच्चे प्रेमी हैं। अपने प्यारेके ऊपर इन्होने सब कुछ वार दिया है। राजपाट, धन-दौलत तथा स्त्री-बच्चे सभीको

छोड-छाडकर ये वृन्दावनवासी बन गये हैं। *'सर्वसुके मुख धूरि दे सर्वसु कै ब्रज धूरि'* बस, ब्रजकी धूरि ही अब इनका सर्वस्व है। ये भक्त होनेके साथ कवि ही नहीं, सत् कवि भी हैं। वृन्दावन ही इनका सब कुछ है, कृष्ण ही इनका सखा है, उसके गुणगान करना ही इनका व्यापार है। *'नागरिया नन्दलाल सो निशिदिन गाइयै'* बस, यही इनकी टेक है। यह टेक अब टारी नहीं टरती। एक बारकी लगी लगन फिर छुडायेसे भी नहीं छूटती। इन्हे लगन लग गयी है और सच्ची लग गयी है। तभी तो ये वार-पार हो गये हें। कबीरदासजीने इन्हींके सम्बन्धम तो यह कहा है—

लागी लागी सब कहै, लागी बुरी बलाय।
लागी तबही जानिये, जब वार पार ह्वै जाय॥

इधर ये दो बाई कौन हैं ? इन बाइयोकी बात क्या पूछते हो ? ये दोनो बहने हैं। ये दोनो ही महात्मा चरनदासजीकी चेली हैं। इनमेसे एकका नाम तो है सहजोबाई और दूसरीका दयाबाई। इनकी उत्कट भक्ति और सच्ची लगनके सम्बन्धमे अब हम आपसे क्या कहे ? सहजोबाई प्रेमीकी दशाका वर्णन करती हुई कहती हैं—

प्रेम दिवाने जो भये कहै बहकते बैन।
सहजो मुख हाँसी छुटै, कबहूँ टपकै नैन॥

दयाबाईकी दीनता और विरह-वेदना बडी ही मर्मस्पर्शी है। सुनिये किस करुण-कण्ठसे प्रभुसे प्रार्थना कर रही हैं—

जनम जनमके बीछुरे हरि अब रह्यो न जाय।
क्यो मनकूँ दुख देत हौ, बिरह तपाय तपाय॥
बौरी ह्वै चितवत फिरूँ, हरि आवै केहि ओर।
छिन ऊठूँ छिन गिरि परूँ, राम दुखी मन मोर॥

अब यहीं अटके रहोगे, कि आगे भी बढोगे ? अरे, यहाँ कहाँ ले आये ? 'ये गङ्गाजीकी गैलमे मदारके गीत कैसे ?' यहाँ तो सर्वत्र कारखाने-ही-कारखाने दीखते हैं। बाबा! यहाँ मुझे क्यो ले आये ? *'आये थे हरिभजनको ओटन लगे कपास'* क्या भक्तोकी हाट छोडकर अब मिलोम पाट परखने चल रहे हो ? भाई जरा धैर्य धारण करो। जानते हो इस नगरका क्या नाम है ? इसका नाम है कलकत्ता। यही पश्चिमी सभ्यताकी जीती-जागती तसवीर है। परतु तुम इतने घबँरा क्या गये ? कभी पहाडकी यात्रा की है या नहीं ? जहाँ बिच्छूका पेड होता है, ठीक उसके नीचे ही उसकी दवा भी होती है। नगरसे निकल चलो तब तुम्हें पता चलेगा।

न जाने क्या, इस स्थानम मेरा मन स्वत ही शान्त-सा हो रहा है ? वृत्तियाँ अपने-आप ही स्थिर हो रही हैं। अजी, यदि ऐसा हो रहा है तो इसम आश्चर्यकी ही कौन-सी बात है ? अभी थोडे ही दिन हुए यहाँपर एक ऐसे महात्मा हो चुके हैं, जिनकी ख्याति भारतवर्षम ही नहीं दूसरे-दूसरे देशोतकमे फैल गयी है। इस स्थानका नाम है दक्षिणेश्वर। परमहस रामकृष्णदेवने यहीं रहकर सिद्धि प्राप्त की थी और यहींपर रहते हुए अपनी वाक्-सुधाद्वारा वे ससारी तापोसे सतप्त प्राणियोकी परम पिपासाको शान्त करते रहे। वे कुछ पढे-लिखे नहीं थे, कितु तो भी अच्छे-अच्छे पण्डित उनके चरणोमे बैठकर उनके मुख-नि सृत स्वाभाविक ज्ञानका बडी श्रद्धा-भक्तिके साथ पाठ पढते थे। उन्होने व्याख्यान-मञ्चपर खडे होकर न तो कभी व्याख्यान ही दिया और न लेखनी लेकर ग्रन्थोका ही प्रणयन किया फिर भी उन्हांने सम्पूर्ण धर्मशास्त्राका मर्म कह डाला। कबीरदासजीने मानो इन्हे ही लक्ष्य करके यह बात कही थी—

मसि कागज तो छुयो नहिं, कलम गही नहिं हाथ।
चारिहु युग माहात्म्य तेहि कहिकै जनायो नाथ॥

उन्हाने जबानी ही सब शास्त्रोके उपदेश कह डाले। भाई ये माताके प्रेममे सदा मग्न रहते थे, शरीरकी भी सुधि-बुधि नहीं। क्षण-क्षणमे समाधि। माताके साथ बाते करना ही इनका व्यापार था। इन्हे अपनी जननीके ऊपर दृढ विश्वास था। एक बार इन्होने अपनी माताको लक्ष्य करके बडी ही दृढताके साथ कहा था—

आमि दुर्गा दुर्गा बोले मा यदि मरि।
आखेरे से दिने ना तारे केमन जाना जाबेगो शङ्करी॥

ठीक है महाराज मातामे भला इतनी हिम्मत कहाँ जो वह तुम्हारी चुनौती स्वीकार कर ले ? उसे तो तारना ही होगा। परमहसदेवके सदुपदेशोसे पश्चिमीय सभ्यताका घटाटोप

बहुत कुछ छिन्न-भिन्न हो गया। लोग अज्ञानान्धकारकी ओरसे हटकर ज्ञानालोककी ओर अग्रसर हुए। पश्चिमीय सभ्यताके चकाचौंधमे सोते हुए युवकोंने 'प्रभात हुआ' समझकर अँगडाई लेते हुए, अलसायी आँखासे एक बार अपने चारो ओर देखा। उन्हे अन्धकारमे आलोकका आभास होने लगा, वे उसी ओर बढनेको उत्सुक हुए।

अहा! ये तो बडे सुन्दर युवक हैं, इस अवस्थामे इतनी सौम्यता! ऐसी सरसता! इतनी तन्मयता! शरीरका कुछ भान ही नहीं। मस्त हैं, मानो कहीं ससार है ही नहीं। मुझे इनका पूरा परिचय दो। भाई, इनका नाम है जगद्बन्धु। बन्धुभक्त इन्हे साक्षात् गौराङ्गदेवका अवतार बताते हैं। इन्होने चिरकालतक जनससदिसे पृथक् रहकर विकट साधना की है। ये बालब्रह्मचारी हैं, स्त्रियाके दर्शनतक नहीं करते। इन्होने अपनी कीर्तनकी ध्वनिसे बगालके एक प्रान्तमे फिर चैतन्यका समय लाकर उपस्थित कर दिया। देखते हो न? सौन्दर्य इनके चेहरेसे फूट-फूटकर निकल रहा है। ये इस धराधामपर थोडे ही दिन बिराजे, परतु इतने ही दिनमे ये वह कार्य कर गये, जिसे सैकडो मनुष्य चिरकालमे भी न कर पाते। देखते हो न इनके कण्ठमे कितनी करुणा है? लो जल्दीसे भक्तिरसमे पगा हुआ इनके सकीर्तनका एक बँगला पद भी सुनते चलो।

एस हे ओहे वशीधारी।
आमि भजन पूजन नाहि जानि हे, हरि आमि अति पापाचारी॥
हरि अपार भव-जलधि हे ताहे तरङ्ग उठि छे भारी॥
हरि आमार अति जीर्ण तरी हे, हरि त्वराय एसे हओ काण्डारी॥
एक बार जय राधा श्रीराधा बोल हे, हरि बाजाओ मुरली तोमारी॥
जाग जाग राधा दामोदर हे, जाग जाग हृदये आमारि॥

भाई, अब तो मैं थक गया। अब यहीं समाप्त करो। आगे नहीं चला जाता। पैराम पीडा हाती है। बहुत देखा, अब तो थकान आ गयी है। मुझे तो नींद आ रही है अब सोऊँगा। अच्छा भाई, तुम जाकर सोओ। मैं तो अब एकान्तमे बैठकर रोऊँगा! तुम्हे भी पागलपन सवार हुआ क्या? रोनेसे क्या होता है? भाई, रोनेसे ही तो सब कुछ होता है। वह मीत बिना रोये मिलता भी तो नहीं। देखो, कबीरदासजी क्या कहते हैं—

कबीर हँसना दूर कर, रोनेसे कर प्रीति।
बिन रोये क्यो पाइये, प्रेम पियारा मीत॥

रोनेसे ही तो सब कुछ होता है। अपनी-अपनी रुचि ही तो है, उसे रोना ही भाता है। जो उसके लिये जितना ही अधिक व्याकुल होकर रोता है, वह उससे उतना ही अधिक प्रसन्न होता है। आजतक जितने भी उसे चाहनेवाले हुए हैं, सब रोते ही रहे हैं। सुनो—

हँस हँस कत न पाइया, जिन पाया तिन रोय।
हाँसी खेले पिउ मिलै, तो कौन दुहागिनि होय॥

'तुम्हारी इच्छा भाई! जब तुम जान-बूझकर ही आगमे कूदते हो तो हम क्या करे? परतु देखना इतनी बात याद रखना। इस चक्करमे फँसे तो फिर उम्रभर रोना ही हाथमे रह जायगा! तुम भी इन लोगोकी भाँति सदा ताकते ही रहोगे। फिर ससारके सभी सुखोसे हाथ धोना पडेगा।' 'भैया, तुम्हारा मुँह घी-शक्करसे भरे। हा! वह शुभ दिन कब होगा, जब मैं भी इन्हीं प्रेमके पुजारियोकी भाँति इनके चरणोमे बैठकर अपने प्यारेके लिये रोता रहूँगा। मेरी तो अभिलाषा ही यह है। मैं तो अपने प्यारेसे सदा यही भिक्षा माँगा करता हूँ। बताऊँ मैं उससे कैसा जीवन चाहता हूँ?' लो अन्तमे मेरी अभिलाषा भी सुनते जाओ—

बद्धेनाञ्जलिना नतेन शिरसा गात्रै सरोमोद्गमै
कण्ठेन स्वरगद्गदेन नयनेनोद्गीर्णवाष्पाम्बुना।
नित्य त्वच्चरणारविन्दयुगलध्यानामृतास्वादिना-
मस्माक सरसीरुहाक्षसतत सम्पद्यता जीवितम्॥

हे कमलनयन! हे सरसीरुहाक्ष! मेरे दोनो कर बँधे हुए हो, मस्तक नत हो और सम्पूर्ण शरीरमे रोमाञ्च हो रहे हो, करुणकण्ठसे—गद्गद होकर तुम्हारी प्रार्थना करता होऊँ और आखासे अश्रु-वर्षा हो रही हो। नित्य ही तुम्हारे चरणारविन्दाके ध्यानामृतका पान करता होऊँ। बस, नाथ! मेरी यही प्रार्थना है, इस प्रकारका जीवन मुझे निरन्तर प्रदान कीजिये।

लीला-दर्शन—

नित्य-मिलन

श्याम आज बहुत प्रसन्न है। यह आनन्दकन्द है। इसके समीप पहुँचते ही दूसरोका विषाद-खिन्न मुख खिल उठता है। जहाँ जाता है, हर्ष-आह्लादकी वर्षा करता चलता है, किंतु आज तो लगता है जैसे पूर्णिमाके दिन महासमुद्रमे ज्वार उठ रहा हो।

मैयाने शृङ्गार कर दिया है। सिरपर तेल-स्निग्ध घुँघराली काली सघन मृदुल अलकोको थोडा समेटकर उनमे मोतियाकी माला लपेट दी है और तीन मयूरपिच्छ लगा दिये हैं।

भालपर गोरोचनकी खोरके मध्य कुकुमका तिलक है। कुटिल धनुषाकार सघन भौंहोके नीचे अञ्जन-रञ्जित विशाल लोचन प्रसन्नतासे खिले हैं। कर्णोंमे पुष्परागके पीत कुण्डल झलमला रहे हैं। अतसी-कुसुम सुकुमार नासिकाके नीचे लाल-लाल पतले अधर बार-बार हास्योज्ज्वल हो रहे हैं ओर चमक-चमक उठती हे उनके पीछे उज्ज्वल पतली दन्तपङ्क्ति।

कण्ठमे प्रभातकी अरुणिमाका उपहास करनेवाला कौस्तुभ मणि, मुक्तामाल, वैजयन्ती माला और पटुकेके मध्य विकच सरोजके समान खिला है।

वक्षपर तनिक वामपार्श्वमे स्वर्णिम रोमराजिका श्रीवत्स-चिह्न, लहराती वनमालाके अङ्कमे छहर-छहर उठती मुक्तामालकी शोभा और उसके नीचे उदरकी त्रिवलीके मध्य नाभिका गम्भीर नन्हा गड्ढा। पतले चिकने उदरपर क्षीण कटिके सम्मुख यह नाभि लगती है जैसे शोभाकी राशिपर इन्द्रनीलमणि धर दी गयी हो।

भुजाआमे रत्नाङ्गद हैं। कलाइयोमे रत्नकङ्कण हैं। खिले हुए नवीन कमलके समान अरुण करामे पतली लाल-लाल अँगुलियाँ और उनके सिरेपर पाटलारुण ज्योति विखेरते नख।

कटिमे पीत कछनीके ऊपर रत्नकिङ्किणी रुनझुन करती जाती है। चरणामे नूपुर हैं और वीरवधूटी भी क्या इतनी सुकुमार अरुण होगी जितने इस व्रजराजकुमारके पादतल हैं।

अभी न इसने शृङ्ग लिया है, न वेत्र-लकुट। केवल मुरली कटिकी कछनीमे दाहिनी ओर लगी है। अभी तो सखा आनेवाले हैं। सब आ जायँगे तो सबक साथ कलेऊ करेगा और तब शृङ्ग, लकुट लेकर गोचारणके लिये निकलेगा।

वनमालाके अतिरिक्त शरीरपर और कोई पुष्प या पुष्पमाला नहीं है। यह शृङ्गार तो सखा वनम पहुँचकर करेगे। अभी तो अमल सुचिक्कन कपोलोपर भी कोई चन्दन अथवा वनधातुकी पत्र-रचना नहीं है।

दाऊ दादा—नील वसन एक कुण्डलधर दाऊका मैया अभी शृङ्गार कर रही हैं। उनको सम्मुख बैठाकर उनकी अलक समेट रही है कि उनपर मुक्तामाल लगा दे। दाऊ शान्त बैठे हैं मैयाके समीप, मैयाकी ओर मुख करके।

माता रोहिणी कलेऊ सजानेमे लगी हैं। अभी सब बालक आयेगे और सबके साथ ही उनके राम-श्याम कलेऊ करेगे।

भद्रको कहींसे आना तो रहता नहीं। बाबाके समीप रहता है। बाबा ही इसे अपने साथ स्नान कराते हैं। बाबाके साथ गोदोहन करके गोष्ठसे भवनम आ जाता है। आज जैसे ही भवनमे आया कन्हाईने लगभग झपटकर दोनो भुजाएँ कण्ठमे डाल दीं और लिपट गया।

अङ्ग-अङ्ग रोम-रोम आनन्दसे खिला जा रहा है। हर्षोत्फुल्ल लोचन आनन्द-तरङ्गायित सम्पूर्ण देहवल्ली। भद्रने भुजाओमे भर लिया। बडे स्नेहसे पूछा—'आज तू

इतना प्रसन्न है, क्या मिल गया है तुझे?'

'तू मिल गया है!' कन्हाई और अधिक प्रफुल्लित होकर भद्रको भुजाआमे कस लेता है।

'मैं!' भद्र खिलखिलाकर हँसता है—'मैं कब तेरा नहीं था? मैं कब तुझसे अनमिला था? मैं क्या आज तुझे मिला हूँ?'

'तू मिल गया है!' कन्हाई कुछ सुनता नहीं। आज इतना पफुल्लित है कि भद्रकी बात इसकी कर्णपल्लीतक पहुँचती ही नहीं।

'तू मिल गया है!' सखा आ रहे हैं और यह नन्दनन्दन एक-एकके कण्ठसे उल्लसित होकर, कण्ठमे दोनो भुजाएँ डालकर लिपट रहा है।

सुबल, विशाल, अर्जुन, ऋषभ, वरूथप, अंशु, तेजस्वी, देवप्रस्थ, तोक, मधुमङ्गल, श्रीदाम—सबसे यह आज ऐसे ही लिपट-लिपटकर मिल रहा है और यह प्रसन्न है, आनन्दमग्न है तो गोपकुमार सभी आनन्दमग्न हैं। सब हुलसकर इसे भुजाओम भर रहे हैं, सब हँस रहे हैं।

मैयाके आगे बैठे दाऊ तनिक सिर घुमाकर अपने अनुजका सखाओसे मिलना देख रहे हैं। रात्रिके कुछ घण्टे पीछे सखा मिले हैं और यह कनूँ ऐसे मिल रहा है जैसे युग-युग, कल्प-कल्पपर मिले हो इसे। इनके मिलनकी ही प्रतीक्षा करता रहा हो। इसका यह नित्य मिलन।

'सबसो ऊँची प्रेम-सगाई'

प्रेमकी वेदीपर सर्वस्व समर्पण कर देना ही प्रेमीका एकमात्र ध्येय होता है। प्राण देकर भी यदि प्रेमास्पदके किसी काम आया जा सके तो इससे बढकर सौभाग्यकी और बात ही क्या हो सक्ती है? प्रेमी तो रात-दिन इसी चिन्तामें निमग्न रहता है कि उसे ऐसा कोई सुयोग मिले जिससे वह इस सौभाग्यको उपलब्ध कर अपने जीवनको सार्थक बना सके। इसी व्यथाको लेकर वह रात-दिन छटपटाया करता है।

प्रेमास्पदके अमङ्गलकी थोडी-सी भी आशङ्कासे प्रेमी व्याकुल हो उठता है, तभी तो भरतको इतनी भारी सेना साथमे ले जाते देखकर वह भोला निषाद यह सोच बैठा कि अवश्य ही कैकेयी-सुवन भरत श्रीरामको मारनेक विचारसे जा रहे हैं। उसके निर्दोष अन्तस्तलमे तो निष्कपटता और सिधाईका ही एकच्छत्र साम्राज्य था वह भला क्या जानता कि भरतका हृदय कैसा है? उस-सरीखे व्यक्तिसे तो ऐसी ही आशा की जानी चाहिये थी। पर इस विचारमे ही उसका माथा ठनकने लगा। प्रेमास्पदपर सकटकी आशङ्का देखकर ऐसा होना स्वाभाविक ही है। बस, कर्तव्यका निश्चय करनेमे उस क्षणभरकी भी देर न लगी। 'मेरे रहते भरतकी यह हिम्मत कि वे गङ्गापार कर मेरे प्रियतमपर चढाई कर दे। ऐसा नहीं हो सकता।' वह तुरत ही अपने सारे साथियोको एकत्र कर आज्ञा दे देता है—

होहु सँजोइल रोकहु घाटा। ठाटहु सकल मरै के ठाटा॥
सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। जिअत न सुरसरि उतरन देऊँ॥
(रा० च० मा० २। १९०। १-२)

कितने सौभाग्यका विषय है—

समर मरनु पुनि सुरसरि तीरा। राम काजु छनभगु सरीरा॥
भरत भाइ नृपु मै जन नीचू। बड़े भाग असि पाइअ मीचू॥
स्वामि काज करिहउँ रन रारी। जस धवलिहउँ भुवन दस चारी॥
तजउँ प्रान रघुनाथ निहोरे। दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरे॥
(रा०च०मा० २। १९०। ३—६)

अरे, यहाँ तो Head I win tail you lose —चित्त भी मेरी, पट्ट भी मेरी। सभी तरहसे अपने पौ बारह हैं। इस क्षणभङ्गुर शरीरद्वारा प्रियतमकी थोडी-सी सेवाका अवसर मिल गया है—इससे बढकर और क्या सौभाग्य हो सकता है।

आदेशका पालन होनेमे लेशमात्र भी विलम्ब नहीं हुआ। ऐसा था ही कौन, जिसके श्रीराम प्राण-प्रिय न थे? पलभरमे सारो सेना तैयार। पर यहीं पर्दा पलट जाता है।

भरत लडने नहीं जा रहे हैं, भैयासे मिलने जा रहे हैं। उन्हे खबर लगती है कि श्रीरामका एक सखा उनसे मिलने आ रहा है। प्रियतमका एक सखा। हृदय गद्‌गद हो उठता है। गोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोम—

राम सखा सुनि संदनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा॥
गाउँ जाति गुहँ नाउँ सुनाई। कीन्ह जोहारु माथ महि लाई॥
(रा०च०मा० २।१९३।७-८)

पर श्रीरामका सखा और इतनी दूरसे मुझे प्रणाम करे? भरतका प्रेमी हृदय इस बातको कैसे सहन करता? बस, क्या था—

करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदयँ समाइ॥
भेटत भरतु ताहि अति प्रीती। लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती॥
धन्य धन्य धुनि मंगल मूला। सुर सराहि तेहि बरिसहिं फूला॥
(रा०च०मा०२।१९३, १९४।१-२)

क्या?—कारण स्पष्ट है—

लोक बेद सब भाँतिहि नीचा। जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा॥
तेहि भरि अंक राम लघु भ्राता। मिलत पुलक परिपूरित गाता॥
(रा०च०मा० २।१९४।३-४)

पर—प्रेममे सब कुछ क्षम्य है।

× × ×

प्रतीक्षा, प्रतीक्षा और केवल प्रतीक्षा—साधनाका सारा सार तो इन्हीं तीन अक्षराके भीतर समाया हुआ है। प्रभु एक दिन आयेंगे और अवश्य आयगे—यह तो ध्रुव निश्चय है, पर जबतक वे नहीं आते, तबतक उनकी प्रतीक्षा अनिवार्य है। वे जबतक न आये, तबतक उनका पथ देखते रहो, उनकी आशा लगाये रखो और रात-दिन उनकी स्मृतिकी पावन माला गूँथते रहो, यही तो है सारे शास्त्रो और धर्मोका सार। सभी इस विषयमे एकमत हैं।

वह दुबली-पतली भूरे बालावाली बुढिया इस रहस्यको भली प्रकार जानती थी। तभी तो वह प्रतिदिन कुटियाके आस-पासके सारे मार्ग साफ कर डालती। एक भी ककड मार्गमे पडा न रहने देती। ककड यदि रह गया तो उसके परम प्रभुके पावन पदारविन्दोमे चुभ न जायगा? प्रतिदिन वह फूलोका हार गूँथती और इसी कल्पनामे मग्न रहती कि कब वे आये तथा कब मैं इसे उनकी कोमल ग्रीवामे डालकर अपने जीवनको सफल करूँ। वह नित्य जगलसे मीठे-से-मीठे बेर चुन लाती और प्रियतमके लिये रख छोडती। पर, उसके प्रियतम नहीं आते।

हार मलिन पड जाते, हवा बहकर मार्गपर ककडियाँ बिछा जाती, फल सूख जाते—पर उसकी आशा नहीं मिटती। उसकी प्रतीक्षामे निराशाका चिह्नतक न दीख पडता। उदास होना तो मानो वह जानती ही न थी। सारी बाते जो एक दिन पहले करती रही, दूसरे दिन फिर करती। आलस्य तो उसे छू भी नहीं गया था। अहा! कितनी पावन और मनोमुग्धकारी थी उसकी वह सतत साधना!

पत्ता खटकता और वह समझने लगती कि उसके परम कृपालु प्रभु आ रहे हैं, जरा-सा भी कहीं कुछ शब्द सुन पडता कि द्वारपर उसकी आँखें बिछ जातीं—'सम्भवत मेरे श्रीराम आ रहे हैं।' पर उसकी आशा पूरी न होती।

दिन, सप्ताह, मास और वर्ष—सभी एक-एक कर बीतते चले जाते हैं, पर उस वृद्धा शबरीकी साधनामे कोई व्यतिक्रम नहीं पडता। वह सदैवकी भाँति उसी प्रकार अपने मार्गपर चलती जाती है। उसे इस बातका अवकाश ही नहीं कि कुछ सोच-विचार करे। अन्ततोगत्वा एक दिन उसकी साधना—अनन्त जन्मोकी साधना—पूरी हुई। होती क्यो नहीं? प्रेमका कच्चा धागा भी मामूली नहीं होता। किसीके पास हो भी तो। फिर तो कच्चे धागेमे सरकार बँधे चले आते हैं।—

सबरी देखि राम गृहँ आए। मुनि के बचन समुझि जियँ भाए॥
सरसिज लोचन बाहु बिसाला। जटा मुकुट सिर उर बनमाला॥
(रा०च०मा० ३।३४।६-७)

अरे, यही तो है वह रूप, जो उसके गुरु महर्षि मतग उसे बता गये थे। इसी मूर्तिकी तो वह इतने दिनोसे अपने मानस-मन्दिरमे प्रतिष्ठा किये हुए निरन्तर पूजा करती आ रही है। आज उसकी चिरवाञ्छित अभिलाषा पूर्ण हुई—

स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। सबरी परी चरन लपटाई॥
(रा०च०मा० ३।३४।८)

भोली प्रेमिन प्रभुके चरणकमलोमे लोट गयी। आज उसके आनन्दका क्या ठिकाना!—

प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा॥

सादर जल लै चरन पखारे। पुनि सुदर आसन बैठारे॥
कद मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि।
प्रम सहित प्रभु खाए बारबार बखानि॥
(रा०च०मा० ३।३४।९-१० ३।३४)

प्रमके भूखे भगवान् अपनी भोली साधिकाका यह सत्कार देखकर बडे प्रसन्न हुए। होते क्या न? उनका तो वचन है—

मानउँ एक भगति कर नाता॥
(रा०च०मा० ३।३५।४)

ऐसे प्रेमस्वरूप हरि और उनके प्रेमी भक्तोके पावन पादारविन्दोमे कोटिश प्रणाम।

[प० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट]

प्रेम ही परमात्मा है

(डॉ० श्रीअशोककुमारजी पण्ड्या डी-लिट्०)

प्रेम परब्रह्मप्रतीक विविधरूपा सृष्टिका अमृतत्व है। यह सवथा नित नवीन, निर्विकल्प एव अक्षुण्ण है। यह भक्त और भगवान् दोनाके लिये अनुपूरक, समचेष्टी और समानुपाती है। प्रेम ईश्वरकी भूख है। प्रेम ईश्वरके लिये महापाश है। यह प्रेम ही तो है जिससे भगवान् भक्तके पीछे-पीछे घूमते हैं।

भगवान् जगन्नाथ स्वामीके शृगारके वस्त्र रोज फट जाते थ। पीताम्बरी अगिया, दुपट्टा जगह-जगह फटा हुआ मिलता। पुजारीजासहित सभी स्तब्ध। यह क्या हो रहा है? क्या हो रहा है? कैसा वैचित्र्य है यह? लेकिन जब कारणका पता चला ता सभीको आश्चर्य। वाह प्रभु। तू और तेरी माया और तेरा प्रेम। बात यह थी कि एक अष्टवर्षीया बाला जगलमें बकरियाँ चराने जाती थी ओर वहाँ वह नि स्पृह भावमे 'गीतगोविन्द' का पाठ अलापती थी। बस भगवान् जगन्नाथ इसी आलापको सुनने उसक पीछे-पीछे घूमते थे। वह बच्ची बेरकी झाडियासे बेर चुनती, खाती और गाती जाती। भगवान् उसका अनुगमन करते, इसी वजहसे भगवान्के कपडे उन झाडियामे उलझते जाते और फट जाते। यह हे भगवत्प्रेम। न ऊँच न नीच, न छोटा न बडा, न मन्दिर न जगल न धूप न चैन। यह प्रेमकी पीडा है। इसे ता बस भोगनेम ही सुख है, चाहे उसे भक्त भोगे या स्वय भगवान्। दोनाको समान तडपाता है यह प्रेम।

वस्तुत परमात्माका दूसरा नाम ही प्रम है। भक्तकी अधीनता परमात्माका स्वभाव है। कूर्मदास नामदेवजीके समकालीन हाथ-पाँवरहित अपग ब्राह्मण थे। पैठण नामक गाँवमे वे रहते थे। जहाँ-तहाँ पडे रहते और जो कुछ मिल जाता, खा लेते।

एक दिन वहाँ हरिकथा हो रही थी। वे पेटके बल रेगते हुए कथा-स्थल पहुँचे। उन्होने पण्ढरपुरकी आषाढी-कार्तिकी यात्राका माहात्म्य सुना। कार्तिकी एकादशीमे अभी चार माह बाकी थे। उन्होने तत्क्षण ही निश्चय किया और पेटके बल रेंगते हुए चल पडे। यह है भगवत्प्रेम। दिनभरमे वे एक कोससे अधिक नहीं रेग पाते थे। रातको कहीं रुक जाते और जो कुछ अन्न-जल मिल जाता, ग्रहण कर लेते। इस तरह चार माह निरन्तर रेगते हुए वे लहुल नामक स्थानपर पहुँचे। यहाँसे पण्ढरपुर सात कोस पडता है और दूसरे ही दिन एकादशी थी। किसी भी तरह कूर्मदासका वहाँ पहुँचना सम्भव नहीं था। झुण्ड-के-झुण्ड यात्री चले जा रहे हैं। जय विट्ठल, जय विट्ठलकी गूँज ओर अपार जनसमूह। लेकिन कूर्मदास लाचार। 'क्या यह अभागा भगवान्के दर्शनसे वचित रहेगा।' अथाह दर्द! लेकिन दृढता हिमालय-सी अडिग। उन्हे विचार आया—'मैं तो कलतक वहाँ नहीं पहुँच सकता, लेकिन क्या भगवान् यहाँ नहीं आ सकते? वे तो जो चाहे कर सकते हैं। वाह रे प्रेम। तू क्या नहीं कर सकता। उन्हाने एक चिट्ठी लिखी—'हे भगवन्! यह बे-हाथ-पेरका आपका दास यहाँ पडा है। कलतक यह आपतक नहीं पहुँच सकता। इसलिये आप ही दया करके यहाँ आकर मुझे दर्शन देकर कृतार्थ करे।' यह चिट्ठी लिख उन्हाने एक यात्रीके हाथ भगवान्के पास भेज दी। दूसरे दिन एकादशीको भगवान्के दर्शन कर उस

यात्रीने यह चिट्ठी भगवान्के श्रीचरणाम रख दी।

इधर लहुलम कूर्मदास भगवान्की प्रतीक्षा कर रहे थे। जोर-जोरसे बडे आर्तस्वरसे पुकार रहे थे—भगवान्! कब दर्शन देगे? अभीतक क्या नहीं आये। मैं तो आपका हूँ न! इस प्रकार अत्यन्त व्याकुल हो पुकारने लगे। 'नाथ कव आओगे' की पुकार सुन स्वभाववश प्रेमाधीन भगवान् पण्ढरीनाथ श्रीविट्ठल ज्ञानदेव नामदव और सावता मालीके

साथ कूर्मदासके सामने आ खडे हुए। कूर्मदास धन्य हो गये। अपलक विठोबाको निहारते ही रह गये। चेत आनेपर भगवान्के चरण पकड लिये। तबसे भगवान् विट्ठल जबतक कूर्मदास रहे वहीं रहे। वहाँ जो विट्ठलनाथका मन्दिर है वह इन्हीं कूर्मदासपर भगवान्का मूर्त अनुग्रह है। यह हे भगवान्का प्रेमानुवन्ध।

प्रेमका यही स्वाद भक्तिमती जनाबाईने भी चखा है। भगवान् विट्ठलनाथकी अनन्य भक्त जनाको जब भी कामसे फुरसत मिलती मन्दिर चली जाती। रातको सबलोग जब अपने-अपने घर चले जाते जनाबाई मन्दिरमे पहुँचती और एकान्तम भगवान्का भजन करती ध्यान धरती, हँसती गाती तथा भाव-विभोर हो नृत्य करने लगती। एक दिन वडी विपद घटी। भगवान्के गलेका रत्न-पदक चोरी हो गया। मन्दिरके पुजारियोको जनापर सदेह हुआ। इसने भगवान्की शपथ भी ली लेकिन लोगोको विश्वास नहीं हुआ। लोग इसे सूलीपर चढानेके लिये चन्द्रभागा नदीके तटपर ले गये। सूलीकी ओर देखते हुए जनाने एक वार अत्यन्त विकल होकर आर्त स्वरमे भगवान्की गुहार की। देखते-ही-देखते सूली पिघल कर पानी हो गयी। भगवत्कृपा और उसके रसास्वादनका इससे वडा उदाहरण और क्या होगा? तव लोगाको पता चला कि भगवान्के दरवारम जनाका क्या स्थान है। कहते हैं कि नदीसे पानी लाते समय और चक्की चलाते समय स्वय भगवान् मूर्तिमान् होकर जनाका हाथ बँटाते थे। यह है प्रेमाधिकार जहाँ भगवान् स्वय मूर्तिमान् होकर सखत्व स्वीकार करते हैं।

महाभारतका प्रसग है। पितामह भीष्मने प्रतिज्ञा ली है कि कल वे अर्जुनको मारग। भीष्म पितामहकी प्रतिज्ञा व्यर्थ नहीं जा सकती। सर्वत्र हाहाकार मच गया लेकिन अजुन नित्यानुसार भगवच्चिन्तन करते हुए सो गये। निश्चिन्त भगवान् कृष्णको भी चिन्ता हुई—'कल मेरे अर्जुनका क्या होगा?' वे अर्जुनको देखने उनके तम्वूम आये। देखा अर्जुन साये हैं। उन्होने उन्हे जगाया। जनार्दनने पूछा—'तुम्ह नींद कैसे आती है?' अर्जुनने सहज जवाब दिया—केशव! आप मेरे लिये जाग रहे हैं फिर मुझे क्या चिन्ता हो सकती है! वाह र प्रेमाधिकार! जगत्के स्वामीको उसके मित्रको वचानेकी चिन्ताने रातभर सोने न दिया और दूसरे दिन शस्त्र धारणकर अपना वचनतक तुडवा दिया। उन्ह अपनी अपकीर्तितकका भान न रहा। यह है ईश्वरका ईश्वरत्व—प्रेमतत्त्व। इसी तत्त्वने इसी क्रियाके माध्यम अपने भक्त भीष्म पितामहकी भी प्रतिज्ञा पूर्ण करवा दी और प्रतिज्ञा-भगका दोष अपने माथे जड लिया—

स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थ ।

(श्रीमद्भा० १।९।३७)

अर्थात् मैंने प्रतिज्ञा कर ली थी कि मैं श्रीकृष्णको शस्त्र ग्रहण कराकर छोड़ूँगा उसे सत्य एव ऊँची करनेके लिये उन्होने अपनी शस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा तोड दी उस समय वे रथसे नीचे कूद पडे।

ईश्वर प्रेमके विवश हैं। प्रेमवश वह कुछ भी कर सकते हैं। कहीं भी सहज उपलब्ध हो सकते हैं।

प्रेम आत्मपीडक है, परपीडक तो वह हो ही नहीं सकता। आराध्यको कोई कष्ट हो भक्तके लिये सहनीय

नहीं है। यही पुष्टि भक्ति है।

'श्रीकृष्ण हस्तिनापुर आ रहे हैं'—यह बात महात्मा विदुरको ज्ञात होती है। आनन्दका पारावार न रहा। कल उनके आराध्य पधार रहे हैं, जी-भर दर्शन करेंगे। उनका रोम-रोम पुलकित हो रहा है, रोमांचित हो रहा है। भक्तके जीवनका सर्वोत्तम क्षण! सुलभाजीने यह महसूस कर प्रश्न किया—क्या बात है, आज इतने पुलकित हैं! विदुरजी कहते हैं—कल द्वारकानाथ पधार रहे हैं। देवि! आपकी तपश्चर्याका फल कल मिलने जा रहा है। सुलभाजी पुनः प्रश्न करती हैं—स्वामी! भगवान्‌के साथ आपका कोई परिचय है? विदुरजीका रोम-रोम पुलकित हो उठता है—जवाब देते हैं—हाँ देवि! मैं जब उन्हें वन्दन करता हूँ तो वे मुझे काका कहकर सम्बोधित करते हैं। ओह, कितना अपनत्व, कितना सुखकारक! धन्य है विदुरजीका वह रोमाञ्च। यह सुन सुलभाजी कहती हैं—तब तो देव! आप उन्हें अपने यहाँ आनेका आमन्त्रण तो देंगे न? विदुरजी कहते हैं—मैं आमत्रण दूँ तो वे मना नहीं करेंगे लेकिन इस झोपडीमें हम उन्हें बिठायेंगे कहाँ? भगवान् अपने घर पधारेंगे तो हमें तो आनन्द होगा, लेकिन उन्हें कष्ट होगा। वे छप्पन भोग आरोगते हैं। धृतराष्ट्रके यहाँ उनका स्वागत-सत्कार अच्छा होगा। अपने पास तो भाजीके सिवाय है भी क्या जो उन्हें अर्पण कर सकें। देवि! अपने सुखके लिये उन्हें दुःख देना उचित नहीं है। यह है प्रेमका विशुद्ध, निर्विकार रूप।

सुलभाजीने कहा—मेरे घरमें और कुछ हो न हो कोई बात नहीं। मेरे हृदयमें प्रभुके प्रति अथाह प्रेम है। यही प्रेम मैं अपने परमात्माको अर्पित करूँगी। मैं गरीब हूँ तो इसमें मेरा क्या दोष? आपने कितनी ही बार कथामें कहा है कि भगवान् तो प्रेमके भूखे हैं, सुलभाजी विचार रही हैं कि पति संकोचवश आमन्त्रण नहीं दे रहे हैं, लेकिन मैं उन्हें मनसे आमन्त्रित कर रही हूँ। देखें वे कैसे नहीं आते हैं? यह है अनन्य प्रेमाधिकार।

दूसरे दिन प्रातः नित्यानुसार पति-पत्नी बालकृष्णकी सेवा कर रहे हैं। कृष्ण हँस रहे हैं। विदुर-सुलभा प्रार्थना करते हैं—

रथारूढो गच्छन् पथि मिलितभूदेवपटलैः।
स्तुतिप्रादुर्भावं प्रतिपदमुपाकर्ण्य सदयः॥
दयासिन्धुर्बन्धुः सकलजगतां सिन्धु-सदयो।
जगन्नाथः स्वामी नयनपथगामी भवतु मे॥*

(जगन्नाथाष्टक ५)

प्रार्थना फलीभूत होती है। रथारूढ द्वारकानाथने विदुर-सुलभाकी ओर आँख उठाकर देखा—दोनों ओर प्रेम रिसा। आकण्ठ प्रसन्न। भगवान्‌ने हमें आँख दी।

धृतराष्ट्रने आग्रह किया—छप्पन भोग तैयार हैं। श्रीकृष्णने मना किया तो श्रीद्रोणाचार्यने अपने यहाँ आमन्त्रित किया। उन्हें भी भगवान्‌ने मना किया और कहा कि आज तो गङ्गातटपर एक भक्तके यहाँ जिमेंगे। द्रोणाचार्य समझ गये कि हम वेदशास्त्रसम्पन्न ब्राह्मण ही रह गये, धन्य हैं विदुरजी—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

इधर झोंपडी बंदकर विदुर-सुलभा भगवन्नामकीर्तनमें तल्लीन हैं। उन्हें पता नहीं है कि वे जिनका कीर्तन कर रहे हैं, वे ही द्वारकानाथ बाहर खडे द्वार खुलनेकी प्रतीक्षामें थक गये हैं। भगवान्‌ने व्यग्र हो द्वार खटखटाया—काका! मैं आया हूँ। विदुरजीने सुना, बोले—'देवि! लगता है श्रीद्वारकानाथ पधारे हैं। दरवाजा खोला तो हतप्रभ रह गये। चतुर्भुज नारायणके साक्षात् दर्शन हो गये। धन्य है विदुर-सुलभाजीका भगवत्प्रेम। हर्षातिरेकसे दम्पतिभाव-शून्य हो गये। निश्चेष्ट! स्तब्ध!! मूर्तिवत्!!!' वाह रे प्रेम, भगवान्‌ने अपने हाथासे दर्भासन लिया और विदुरजीको हाथ पकडकर झँझोडा। अपने पास बिठाया। बोले—'मैं भूखा हूँ, मुझे कुछ खानेको दो।' यह है प्रेमकी शक्ति जिसने निष्कामको सकाम बना दिया। भगवान्‌को भूख लगती नहीं है, लेकिन भक्तके लिये भगवान्‌को खानेकी इच्छा हुई है। भगवान् आज माँगकर खा रहे हैं। क्या अलौकिक दृश्य होगा वह!

* जो रथयात्राके समय मार्गमें एकत्रित हुए भूसुरवृन्दोंके द्वारा किये हुए स्तवनको सुनकर पद-पदपर दयासे द्रवित होते रहते हैं वे दयासागर निखिल ब्रह्माण्डोंके बन्धु एवं समुद्रपर कृपा करके उसके तटपर निवास करनेवाले श्रीजगन्नाथस्वामी मेरे नयनोंके अतिथि बनें।

वाह परमात्मा तेरा सौख्य!

पति-पत्नीको कुछ सूझता नहीं है। विदुरजीको संकोच होता है, भाजी कैसे परोसूँ? भगवान्‌ने स्वयं अपने हाथोंसे चूल्हेपरसे भाजी उतारी और अनन्य प्रेमसे आरोगी। सच है—वस्तुमें नहीं, मिठास प्रेममें है—*'सबसे ऊँची प्रेमसगाई।'*

परमात्मा प्रेमाधीन हैं। वे प्रेमके अतिरिक्त अन्य साधनासे न रीझते हैं न ही रह पाते हैं। श्रीकृष्ण मथुराके राजा हुए हैं। मथुरामें सर्वत्र ऐश्वर्य है। अनेक दास-दासियाँ हैं, छप्पन भोग हैं, श्रीउद्धवजीकी निजसेवा है। सब प्रकारका सुख है, तथापि श्रीकृष्ण व्रजवासियोंका प्रेम भूल नहीं पाये। रोज शामको महलकी अटारीपर बैठकर गोकुलका स्मरण करते हैं। मेरी माँ आँगनमें बैठ मेरी प्रतीक्षा करती होगी। मथुरासे आनेवाले रास्तेपर टकटकी लगा मेरी राह देखती होगी। वह रोती होगी। मेरी गंगी गाय और अन्य गायोंका क्या हुआ होगा? वे मथुराकी ओर मुँह करके रँभाती होंगी। नन्दबाबा मुझे याद करते होंगे। गोप-बालक, गोपियाँ, वृक्ष और लताएँ सब कुछ याद कर कृष्णकी आँखें रिसती रहती हैं। रोज शामका यही क्रम। वाह रे व्रजका भाग्य! जिसके लिये स्वयं परब्रह्म अश्रुपात करे उसकी और क्या सानी? क्रन्दनके उस आनन्दका थाह कौन पाये!

आज उनतालीसवाँ दिवस है। जगन्नियन्ताने भोजन नहीं किया है। सायंकालका वही समय। प्रेममें सराबोर वृन्दावनकी ओर दृष्टि किये कन्हैया प्रेमाश्रु विसर्जित कर रहे हैं। उद्धवजीसे अब रहा नहीं गया। आत्मीयतासे वन्दन कर कहते हैं—नाथ! एक बात पूछनेकी मेरी इच्छा है। कृष्ण बोले—उद्धव! तुम मेरे अन्तरंग सखा हो, पूछो जो कुछ पूछना है। संकोच न करो। उद्धवजी कहते हैं—मैं अपनी बुद्धिके प्रमाणमें आपकी सेवा करता हूँ, लेकिन इससे आपको आनन्दित होते नहीं देखा। सेवक हैं, दास-दासियाँ हैं, फिर भी आप उदास रहते हैं, दुःखी दिखते हैं। आपका यह दुःख मुझसे देखा नहीं जाता।

उद्धव! मैं दुःखी हूँ, यह जानने और पूछनेवाला मथुरामें तुम्हारे सिवा और कोई नहीं मिला। उद्धव! वृन्दावनकी उस प्रेमभूमिको मैं छोड़कर आया हूँ जहाँ मेरा

हृदय है। मथुरामें सभी मुझे वन्दन करते हैं, सम्मान देते हैं, मथुरानाथ कहते हैं, पर कोई मेरे साथ बात नहीं करता, कोई मुझे प्रेमसे बुलाता नहीं। उद्धव! यह कृष्ण प्रेमका भूखा है उसे और किसी चीजकी जरूरत नहीं है। उद्धव! मुझे मानकी नहीं, प्रेमकी भूख है। परमात्माके ये उद्गार स्वतः ही प्रेमको परिभाषित कर रहे हैं, हम कोई और क्या विशेषण दें।

उद्धव! माँ यशोदाका प्रेम मुझे मथुरामें मिलता नहीं है। मैं न खाऊँ तबतक मेरी माँ खाती नहीं। उद्धव! मथुरा मेरे लिये छप्पन भोग बनाता है पर दरवाजा बन्द कर कहता है—'आरोगिये'। मैं ऐसे नहीं खाता। उद्धव! मैं तुमसे क्या कहूँ? गोकुल छोड़ मथुरा आनेपर मेरा खाना छूट गया है। मुझे कोई प्रेमसे न मनाये, मनुहार न करे तबतक मैं खाता नहीं हूँ। हजार बार मनुहार करनेपर मैं एक कौर ग्रहण करता हूँ। उद्धव! व्रजमें मेरी माँ मुझे हजार बार समझाती, मनाती और खिलाती थी। उद्धव! मथुरामें मैं छप्पन भोग निहारता हूँ बस, खाता नहीं हूँ। यह कृष्ण भोगका नहीं प्रेमका भूखा है। मुझे प्रेम चाहिये, इसलिये मैं उद्विग्न रहता हूँ। उद्धव! मुझसे व्रज भूलता नहीं—*'ऊधो मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।'*

यह है प्रेमकी पराकाष्ठा। इस प्रेमका रसास्वादन वही कर सकता है जिसने प्रेम किया है।

श्रीकृष्ण तो प्रेमकी प्रतिमूर्ति हैं। वस्तुत वे प्रेम ही हैं। उनकी हर लीला प्रेम-लीला है। गोपियोकी शिकायतपर मा यशोदा श्रीकृष्णको बाँधने जाती हैं तो डोरी दो अगुल छोटी पड जाती है। जितनी डोरियाँ जोडीं, उतनी ही कम पडने लगीं। लौकिक बन्धनसे वह लीलाधर बँध भी कैसे सकता था?

लेकिन श्रीकृष्णने जब देखा कि मा थक गयी हैं, उनके मुखमण्डलपर पसीनेकी बूँदे झिलमिला रही हैं तो बालकृष्णसे यह सहन नहीं हो पाता और वे प्रेमसे स्वय बँध गये—'दृष्ट्वा परिश्रम कृष्ण कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने॥' (श्रीमद्भा० १०।९।१८)

यह है व्रजका प्रेम, जिसके बन्धनसे भगवान् कभी छूटना नहीं चाहते। तभी तो भगवान्की प्रतिज्ञाको इस प्रकार कहा गया है—

वृदावन परित्यज्य पादमेक न गच्छति।

धन्य है व्रज-रज, जिसने परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णका अखण्ड सान्निध्य पाया। उस प्रेमका क्या पारावार जिसे श्रीकृष्णने स्वय परोसा।

परमात्माको प्रेम और केवल प्रेम ही प्रिय है। अपनत्व और नैकट्य ही उन्हे भाता है। दूरत्व उन्हे असिधार-सदृश खलता है। चीरहरणके प्रसगमे द्रौपदी श्रीकृष्णको इस सम्बोधनके द्वारा गुहार लगाती हैं—'हे द्वारकावासिन्! पर यह सम्बोधन भगवान्को बहुत बुरा लगता है। कृष्णाने मुझे द्वारकावासी क्यो कहा? मैं तो उसके अन्त करणमें ही था। और जैसे ही 'कि न जानासि केशव' की फटकार (प्रेमकी) दी तो तुरत अम्बरका अम्बार लग गया—

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय॥
कौरवै परिभूता मा कि न जानासि केशव।

यह है प्रेमका रग, जो केवल रँगना ही जानता है छूटना नहीं।

रामायणके एक प्रसगमे त्रिजटाजीने श्रीरामके प्रेमकी जो थाह ली है वह अन्यत्र दुर्लभ है। प्रसग है—लङ्कामे रावणके साथ युद्धका। रावण मर ही नहीं रहा है, माता सीता यह समाचार सुन धीरज खो बैठती हैं, बडी निराश हो जाती हैं। त्रिजटाजी तब उन्हे सँभालती हैं, ढाँढस बँधाती हैं और समझाती हैं—

प्रभु ताते उर हतइ न तेही। एहि के हृदयँ बसति बैदेही॥
(रा०च०मा० ६।९९।१३)

हे सखि! भगवान् उस (रावण)-के हृदयको इसलिये नहीं भेद रहे हैं, क्योकि उसमे वैदेहीका (आपका) वास है। अत धीरज रखो, जैसे ही तुम्हारा ध्यान छूटेगा, श्रीरामका बाण रावणका हृदय सोख लेगा। धन्य है प्रेमका यह औदार्य।

प्रेम न क्षणिक होता है, न अधीर। प्रेम तो जन्म-जन्मान्तरकी साधना है। तभी तो रुक्मिणीजी पत्रमे भगवान्को लिखती हैं—केशव! मैं वरूँगी तो आपको ही। किसी कारण मेरे किसी दोषवश आप इस जन्ममे मुझे नहीं अपना सके तो भी कोई बात नहीं, दूसरे जन्ममे, तीसरे जन्ममे अथवा जितने जन्म लेने पडे, मैं प्रतीक्षा करूँगी, लेकिन वरूँगी तो आपको ही—

यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसाद
जह्यामसून् व्रतकृशाञ्छतजन्मभि स्यात्॥
(श्रीमद्भा० १०।५२।४३)

रुक्मिणीजी कहती हैं—'हे कमलनयन! यदि मैं आपका वह प्रसाद, आपकी वह चरणधूल नहीं प्राप्त कर सकी तो व्रतद्वारा शरीरको सुखाकर प्राण छोड दूँगी। चाहे उसके लिये सैकडा जन्म क्या न लेने पडे, कभी-न-कभी तो आपका वह प्रसाद अवश्य ही मिलेगा।'

यह है प्रेमका विशुद्ध रूप जहाँ अधीरता नहीं, धैर्य है, विचलन नहीं, दृढता है शर्त नहीं, समर्पण है और आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है।

प्रेम स्वय अपनी पराकाष्ठा है। प्रेमके तापमे स्वय जनार्दन भी तपे हैं, तप रहे हैं, तपेगे। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम भी बडी मर्यादाके साथ श्रीजानकीजीको यह मर्मान्तक प्रेमपीडा सदेशित करते हैं—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥
(रा०च०मा० ५।१५।६-७)

प्रेमकी प्रगाढ़तामे प्रेमाश्रुओका महत्त्व

आनन्दकन्द सच्चिदानन्दघन परात्पर पूर्णपरब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णके श्रीचरणामे एक बार किये गये प्रणामकी तुलना दस अश्वमेध-यज्ञासे की तो जा सकती है, परतु कृष्ण-प्रणामकी विशेषता यह है कि दस अश्वमेध-यज्ञाका कर्ता जहाँ पुनर्जन्मोको प्राप्त करता रहता है, वहीं कृष्णके चरणारविन्दामे प्रणति निवेदन करनेवालेकी पुनर्जन्मसे सदाके लिये मुक्ति हो जाती है। अत ऐसे प्रेमी प्रभुको बार-बार नमस्कार है—

एकोऽपि कृष्णस्य कृत प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्य ।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय॥
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्व
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥

ऐसे भगवान्के लिये जिनकी आँखासे अश्रुपात होते हैं, उनके एक अश्रुविन्दुकी भी तुलना नहीं हो सकती। अभिप्राय यह हे कि भगवान्को पानेके लिय जिसके हृदयमे भगवत्प्रेमविरहकी अग्नि धधकती रहती हे, वह दिन-रात रोता रहता हे। उसे खाना-पीनातक नहीं सुहाता नींद भी नहीं आती—नींद उड जाती है। ऐसे भावसे भावान्वित भगवत्प्रेमीके प्रेमकी प्रगाढतामे प्रेमाश्रुआका महत्त्व ओर भगवत्प्रेमी भगवान्को कितना प्यारा होता है—इसका वर्णन तो असम्भव-सा ही है। उसकी तीव्र विरह-वेदनाका किञ्चित् अनुमान उसी विरही भक्तश्रेष्ठकी दर्शनाभिलाषाकी करुण पुकारसे लगाया जा सकता है—

तूँ छलिया छिप छिप बैठ्यो अखियाँ मटकावै रे।
बाला मै थारे बिनु दु खी फिरूँ तूँ मौज उड़ावै र॥

दिन नहीं चैन रात नहीं निदियाँ जरा कह दो साँवरिये से आया करे।
मोर मुकुट मकराकृत कुडल पीताम्बर झलकाया करे॥
यमुना तट पर धेनु चरावै जरा वशी की लटक सुनाया करे।
ललित किसोरी गउएँ लेकर मेरी गली नित आया करे॥

भगवत्-विरह जिसके हृदयमे प्रदीप्त हो उठा उसको यहाँका कुछ भी नहीं सुहाता। भगवान्को पानेके लिये उसकी आँखासे अश्रुपात होता ही रहता है। भगवत्-विरहम व्याकुल महाप्रभु चैतन्यके विषयम कहा जाता है कि वे १८ वर्षोंतक जगन्नाथपुरीम एक छोटी-सी कुटियामें बैठे हुए इतने रोते रहे कि उनके आँसुआके जलस कुण्ड-क-कुण्ड भर जाते। ऐसे ही परमोत्कृष्ट भगवद्भक्तोंके सम्बन्धम कहा गया है कि उन मिलनातुर विरहातुर परमात्माभिलाषियाक लिये सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्डकी किसी भी प्रकारकी दूरी और विघ्न-बाधाएँ उनके मार्गको बाधित नहीं करतीं—

मिलनेको प्रियतमसे जिसके प्राण कर रहे नित हाहाकार।
गिनता नहीं मार्गकी कुछ भी दूरीको वह किसी प्रकार॥
नहीं ताकता किंचित् भी शत शत बाधा-विघ्नाकी ओर।
दौड़ छूटता जहाँ बजाते मधुर बाँसुरी नद किसार॥

अहा! वह भक्त तो प्रेममे बावला हुआ कह ही बैठता है—प्यारे यदि मुझे रुलानेम ही आनन्द आता है तो मत आओ मैं उसीम सुखी हूँ—

तेरे सुखमे सुखिया हूँ मै तरे लिये प्राण रोवे।
पण प्यारा तेरी राजीम है नित राजी मेरो मन।
प्राणाधिक दोनूं लोकाँ को तूँ ही मेरा जीवन धन॥

यह है बावलापन और विरहाग्नि भगवत्प्रेमकी—

इन दुखिया अँखियानु कौ सुखु सिरज्यौई नाँहि।
देखै बनै न देखतै, अनदेख अकुलाँहि॥

इन आँखोके लिये विधाताने सुख रचा ही नहीं। जब वे कभी आते हैं तो ये मेरी निगोडी आँखे इतना अश्रु बहाती हैं कि मैं उन्हे देख भी नहीं पातीं और जब वे चले जाते हैं तब भी विरहाग्निम जलनेवाली आँखे वैसे ही बरसती रहती हैं। यह एकनिष्ठता एव निरन्तरता है—भगवत्प्रेमकी। यहाँ किसी भी प्रकारकी अन्य जागतिक भावनाओ तथा पदार्थोके लिये कोई स्थान भी नहीं क्याकि जैसे ज्ञान अथवा अज्ञान या प्रकाश अथवा अन्धकारका एक ही स्थानपर एक समयमे होना सम्भव नहीं, वैसे ही भगवत्प्रेमी भी कहलाता हो और जगत् भी सुहाता हो—यह द्वैत सम्भव ही नहीं। सताने

कहा है—

प्रेम गली अति साँकरी, ता मैं दो न समाहिं॥

इस अद्वैतको विरहाग्निको व्यक्त करता हुआ भगवत्प्रेमी अपने प्रियतमसे कहता है—

तरसा तरसा कर जी लेव तो भी तनै नहीं छाडूँ।
आकूँ नहीं दूसर मानी तेरे ही मैं जी जोडूँ॥
यदि प्यारे मेरे वियोगम मिलता है तुझे आराम।
कभी नहीं मिलनेका मैं व्रत लूँगा मेरे प्राणाराम॥

ऐसे व्याकुल-व्यथित-हृदय निष्कपट भक्तोके लिये भगवान् भला निष्ठुर कैसे हो सकते हें? वे ता भगवत्प्रेमीकी आँखाके आँसू देखनेके लिये उसके पासम ही छिपे-छिपे रहते हैं बिलकुल पासम ही। परतु उसे भान नहीं कराते कि तूँ क्यो रोता है, मैं तो तेरे सम्मुख ही खडा हूँ।

भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये रोना, आँसू बहाना भक्तका सर्वोपरि आनन्द है। जब भक्तकी ऐसी भावना—विरह-वेदना होगी, तब भगवत्प्रमका मार्ग प्रशस्त होगा क्याकि भगवत्प्रेमरूपी नदीके दो तट हैं—एक मिलन आर दूसरा विरह। इन दानाके मध्य ही प्रेमकी प्रगाढतम प्रेमाश्रुरूपी प्रेमनदीकी धारा बहती रहती है।

गापाङ्गनाआके प्राणप्यार श्यामसुन्दर जब मथुरा चले गय, तब वृन्दावनसे मथुरा अति निकट होनेपर भी प्यारकी इच्छा बिना वे वहाँ नहीं जातीं। नन्दजी जब कन्हैयाको मथुरा पहुँचाकर वापस व्रजम आये, तब यशोदा रानीने उनसे पूछा कि आप जावित ही आ गय (यानी कन्हैयाका छोडते समय आपके प्राण नहीं निकले)? नन्दजीने कहा—यशोदे! मेरे प्राण निकलनेवाले थे कि इतनेमे ही कन्हेया मेरी गोदम आकर बैठ गया और कहने लगा—'बाबा, बाबा, मैं फिर ब्रज आऊँगो। मरे लिये माखन-मिस्रीके लाद तैयार रखियो।' तब मैंने सोचा—कन्हैया कह रहा है 'मैं फिर ब्रज आऊँगो' यदि वह कभी आया और यह सुना कि बाबा ससार छोडकर चले गये हैं तो उसको कितना दु ख होगा। अत उसे जरा भी दु ख न हो, मुझे चाहे जीवनभर क्या न रोना पडे, इसलिये मैंने अपने प्राणाको जाने नहीं दिया।

यह है विशुद्ध भगवत्प्रेम—'तत्सुखे सुखित्वम्'। ऐसे भगवत्प्रेमीके लिये कहा गया है—'मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवता' अर्थात् वसुन्धराके किसी भी भागपर उसके पदार्पणसे पितर प्रसन्न होते हैं और देवता नृत्य करने लगते हैं। यह तो है भगवत्प्रेमीका प्रेम और प्रेमकी प्रगाढतामे प्रेमाश्रुआका महत्त्व। ऐसे भगवत्प्रेमी जितने दिन ससारमे रहते हैं उनके द्वारा लाखा लोगोका उद्धार होता रहता है। एक बार गङ्गाजीने ब्रह्माजीसे कहा—मेरेमे स्नान करके लोग अपने पाप धोकर चले जायँगे तो मैं पापसे भर जाऊँगी। ब्रह्माजी बोले—जब एक भगवत्प्रेमी तुम्हारेमे स्नान करने आयेगा, तब वह तुम्हारे सब पापोको धो डालेगा। अहा! ऐसे प्रेमी भक्तोको सब कुछ त्याग करनेपर क्या मिलता है? प्रेमकी प्रगाढतम प्रेमाश्रुआका प्रवाह! और इसीमे उसकी कृतकृत्यता है तथा इसीम उसके जीवनका साफल्य।

[प्रेषक—श्री डी०एल० सैनी]

'कृष्ण-नाम रसखान'

कृष्ण-नाम अमृत जीवनका,
मधुर नाम है भक्त हृदयका।
दायक भक्ति मुक्ति निर्वान,
भज मन कृष्ण-नाम रसखान॥

अधम अध विष कूप पड़ेको,
पामर पशु अघ कीच पड़ेको।
है तारक मत्र महा बलवान,
भज मन कृष्ण-नाम रसखान॥

भाव भरा प्याला प्रभु नामका,
आनद भवन ऋषि मुनि सताका।
श्रुतियाँ गाती है यह गान,
भज मन कृष्ण-नाम रसखान॥

शकरके मनका मन रजन,
शेष शारदा करते वदन।
नारद करत निरतर गान,
भज मन कृष्ण-नाम रसखान॥

—प० शिवनारायण शर्मा

आँख तरल हो आयीं।

प्रेमकी ऐसी उज्ज्वलता जिसमें न पुण्यका भय है न पापकी आशंका, न नरककी विभीषिकाका डर है, न स्वर्गका लालच, न सुखकी कामना है, न दुःखका दर्द। नारदजीने आगे बढ़कर गोपियोंकी चरणधूलिसे पहले अपनी जटाओंको धूसरित किया और फिर पावन रजकी पोटली लेकर वे द्वारकाकी ओर चल दिये। ऐसा गोपियोंका प्रेम! नारदजी राजप्रासादमें पहुँचकर रज निकालनेके लिये पोटली खोलने लगे तो श्रीकृष्णने अधीर होकर उस पोटलीको उठा लिया और कभी उसे अपने वक्षःस्थलपर, कभी सिरपर, कभी आँखोंपर रखते हुए प्रेमावेशमें निमग्न हो गये। पंखा झलती हुई पटरानियाँ कौतूहलपूर्ण दृष्टिद्वारा नारदजीसे पूछ रही थीं कि बात क्या है? पर नारदजी मौन थे, चलते-चलते उन्होंने केवल इतना ही कहा कि हम सब प्रभुको सुख पहुँचानेकी कोशिश तो करते हैं, किंतु हमारा भाव गोपियोंके सामने अति तुच्छ है। सचमुच गोपियोंका प्रेम ही प्रेम कहलाने योग्य है। आज मैंने प्रेमका वह अद्भुत स्वरूप देखा है जो अपने सुखके बारेमें रत्तीभर भी न सोचकर केवल प्रेमास्पदके सुखकी चिन्तामें ही सतत अचिन्तनीय आनन्दरसकी सृष्टि करता रहता है। श्यामसुन्दर उसी प्रेमामृत रसके स्वरूप हैं। वृन्दावन इस रसकी खान है और गोपिकाएँ इस रसकी महासिन्धु हैं। कृष्ण नित्य-निरन्तर वृन्दावनकी वीथियोंमें यहाँके कुञ्ज-निकुञ्जोंमें, यमुनातटपर वेणु बजाते रहते हैं और गाय चराते अपने रसिक भक्तोंको कृतार्थ करते रहते हैं।

प्रभुसे अपनत्व

[प्रेम-सम्बन्ध]

आपने यह लोकोक्ति सुनी होगी—*'अपना काना-कुरूप लड़का भी माँको सुन्दर लगता है।'*

एक विद्वान्‌ने अपने प्रवचनमें कहा—'चन्द्रमा सबको अच्छा लगता है। सबको सुन्दर और सुखद लगता है, किंतु कोई चन्द्रमासे प्रेम नहीं करता; क्योंकि कोई चन्द्रमाको अपना अनुभव नहीं कर पाता।'

इसका अर्थ हुआ कि प्रेमके लिये अपनत्व होना आवश्यक है। प्रेमके लिये सौन्दर्य, सद्गुण होना उतना आवश्यक नहीं है। प्रतिवर्ष ही प्रायः विश्वसुन्दरीका चुनाव होता है। आप भले ही, उनमें किसीको देखते न हों किंतु चित्र तो देखनेको मिल जाते हैं। वासनात्मक उत्तेजनाकी बात छोड़ दी जाय तो क्या कभी इनमें कोई आपको अपनी पुत्री या बहिनके समान प्रिय लगी? यही बात गुणोंके सम्बन्धमें भी है।

प्रेमकी परिभाषा करते हुए देवर्षि नारदने अपने भक्ति-दर्शनमें कहा है—

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानम्।'

सौन्दर्य और गुण आवश्यक भले न हों, ये प्रेमकी अभिवृद्धिमें सहायक होते हैं—ठीक बात, किंतु कब? जब उनसे अपनत्व हो। आपके शत्रुमें या शत्रुके सहायकमें सौन्दर्य या गुण हो तो प्रेम बढ़ायेंगे या वितृष्णा—असूया उत्पन्न करेंगे?

यह सब न भी कहा जाय तो कुछ हानि नहीं, क्योंकि परम सौन्दर्यैकराशि निखिल सद्गुणगणैकधाम कन्हाईसे अधिक सुन्दर, अधिक गुणवान् तो त्रिभुवनमें कभी कोई न हुआ, न होना सम्भव है। इस सौन्दर्य-सौकुमार्य महासिन्धुके सीकरका प्रसाद ही सृष्टिमें सौन्दर्य बनकर फैला है। इस गुणगणैकधामके गुणोंकी छायामात्रसे त्रिलोकीमें अनादिकालसे प्राणियोंको सद्गुण मिलते रहे हैं।

इतनेपर भी कन्हाईसे प्रेम नहीं है या अल्प है तो इसका कारण होना चाहिये। कारण केवल यह कि इस नन्द-तनयसे अपनत्व नहीं है या शिथिल है, अल्प है।

अपनत्व सहज भी होता है और स्थापित भी किया जाता है। इसमें सहज अपनत्व सुदृढ़ होता है। कदाचित् ही कभी किसीमें सहज अपनत्वके प्रति शैथिल्य दीखता है और जहाँ ऐसा है, वे हीनप्रकृतिके लोग हैं। माता-पुत्र

पिता-पुत्र भाई-भाई, बहिन-भाई आदिका अपनत्व सहज है, नैसर्गिक है। इसमे स्वार्थ या कोई दुर्गुण ही शिथिलता लाता है।

स्थापित अपनत्व सुदृढ नहीं ही होगा, ऐसी कोई बात नहीं है। यदि दोना सत्पुरुष हैं तो स्थापित सम्बन्ध भी सुदृढ अपनत्व उत्पन्न करनेम पूरा समर्थ है। पाश्चात्य सभ्यताका रङ्ग भारतीयोपर चढने लगा है और गाढा ही हाता जा रहा है, यह हमारे समाजका दुर्भाग्य है। अन्यथा भारतम कवल सगाई होनेके पश्चात् भी पतिका शरीर न रहनपर सती हा जानेवाली भुवनपावनी कन्याएँ कम नहीं हुई हैं। अपने देशमे विवाह-सम्बन्ध केवल इसी जीवनतक नहीं माना जाता था अपितु यह सम्बन्ध लोकान्तर-जन्मान्तरम भी बना रहे यह आकाङ्क्षा की जाती थी, अब भी की जाती है और इसके बने रहनका विश्वास किया जाता है।

अनेक नारियाने विपत्तिमे किसीका राखी भज दी और जिसे भेजी, उसने अपना सर्वस्व न्याछावर कर दिया उस बहिनकी रक्षाके लिये। दत्तक पुत्र बनानेका तो शास्त्रीय विधान ही है। इस प्रकार धर्म भाई, धर्म बहिन मित्र, पुत्र या पुत्री बनानेकी—अपनत्व स्थापित करनेकी परम्परा समाजम खूब प्रचलित है। यद्यपि ऐसे सम्बन्धमे आजकल बहुत दोष आने लगे हैं, किंतु यह दोष कुपुरुषोमे आत हैं। सत्पुरुष तो एक बार जिसे पुत्री कह दते हैं, उसके साथ पुत्रीका व्यवहार जीवनभर निभाते हैं।

कन्हाईको सम्बन्ध निभाना बहुत अच्छा आता है। इससे आप आशा नहीं कर सकते कि यह अपने साथ स्थापित सम्बन्धको अस्वीकार करेगा या उसके अनुसार व्यवहारम शिथिलता लायेगा। केवल आपकी ओरस शिथिलता नहीं आनी चाहिये। आपके भीतर सम्बन्धक प्रति उपेक्षा या उदासीनता नहीं होनी चाहिये।

कृत्रिम सम्बन्ध सम्बन्ध ही नहीं होता। अनक लाग कहते हैं—'मैं ता आपका बालक हूँ।' ऐसा केवल मुखसे कहना कोई भी शिष्टाचार ही मानता है। तब कन्हाई ही कैसे उसे स्वीकार कर लेगा?

'कन्हाईसे क्या सम्बन्ध बनाया जाय?'

व्यर्थ प्रश्न है। एसा कोई सम्बन्ध नहीं, जो इससे न बनाया जा सके और जिसे यह स्वीकार न कर। सम्बन्ध सच्चा बने आपके मनम, केवल यह आवश्यक है।

सम्बन्ध सच्चा बननेके लिये आवश्यक है कि आपके मनमे, आपके जीवनम उस सम्बन्धकी माँग हो। सुन-सुनाकर, यह जानकर कि अमुक सम्बन्ध सर्वश्रेष्ठ है, सम्बन्ध बनानेसे बनता नहीं। वह कृत्रिम हाकर रह जाता है।

एक लडकीके कोई भाइ नहीं था। राखी-पूर्णिमाका उसने अपनी माताके कहनेपर गोपालको राखी बाँध दी ओर गोपाल उसका भाई बन गया, क्याकि बहिनको सचमुच भाइकी आवश्यकता अनुभव हो रही थी। उसके एक भी दूसरा भाई होता तो कहा नहीं जा सकता कि कन्हाईमे उसका भ्रातृत्व सुदृढ होता या नहीं।

एक माताका इकलौता पुत्र मर गया। उसके दु खकी सीमा नहीं। किसी सतने कह दिया—'यह कृष्ण तेरा पुत्र है।' उसने सतकी बात पकड ली। उसे तो पुत्र चाहिये ही था। उसने श्रीकृष्णको पुत्र बनाया। श्रीकृष्णम दम है कि उसे मैया नहीं मानेगा? इस प्रकार अनेक स्त्री-पुरुष जो सन्तानहीन थे कन्हाईक मैया-बाबा बन गये। श्यामको किसीका पुत्र बननेम सकोच कहाँ।

अनेक विधवाओने श्यामको पति बना लिया। अनक कुमारियान कन्हाईको पति स्वीकार किया। कृष्णको 'ना' करना नहीं आता। सम्बन्ध जाडनेवाला सच्चा है तो सम्बन्ध सुदृढ। सम्बन्ध सुदृढ तो प्रेमकी प्राप्ति सुनिश्चित।

'मैं व्रजराजकुमारको जीजाजी बनाऊँगा।' ऐसे पुरुष भी मिल ओर कन्याएँ भी मिलीं। श्रीराधाको कोई बहिन बनाना चाहेगा तो वह भी कहाँ अस्वीकार करना जानती हैं।

'मैं इसे देवर बनाऊँगी।' एकने कहा—'इसे और कीर्तिकुमारीको भी मेरा रोब मानना पडेगा।'

किसके मुखम हाथभरकी जीभ है और जा कह दे—'यह सम्बन्ध नही बन सकता।'

कन्हाई पिता भी बननेको प्रस्तुत और पुत्र भी। यह कवल स्वामी ही नहीं बनता आपमे दमखम हो तो इसे सेवक बननेमे भी आपत्ति नहीं है।

तोहिं मोहिं नाते अनेक मानियै जो भावै।

यह बात है गोस्वामी तुलसीदासकी—एक विनम्र

सेवककी। 'जा आपको रुचे सो' यह वात सेवक ही कह सकता हे। आवश्यक नहीं कि आप भी यही कह। आपका जा रुच वह वनाइये इस गोपकुमारको, किंतु पहल देखिय कि आपक हृदयम सचमुच उस सम्बन्धकी माँग है या नहीं। आप उस सम्बन्धके प्रति सच्च रहग तो कन्हाई भी सच्चा रहगा।

आप कन्हाईको पुत्र या छोटा भी कह और मन्दिरमें मत्था टेक, स्तवन कर, आशीवाद देनेम हिचक ता क्या आपका सम्बन्ध सच्चा है? कन्हाइको अपना कुछ वना भी ल और चिन्ता, भय एव लाभ वच रह, सम्भव है?

आपका इससे प्रेम करना है तो इसस सम्बन्ध जाडिये पर वह सम्बन्ध जिस आप जीवनम सच्चा वना सक।

प्रेमनगरका प्रथम दर्शन

'सखी! आज तुम पहल-पहल इस प्रमनगरम आयी हा, इसलिय चला तुम्ह यहाँकी कुछ वात वताऊँ और भगवान्‌की कुछ लीलाएँ दिखाऊँ।'

'भगवान् ता लाडिलाजाके साथ उस कुञ्जम चल गय न? अव लीला क्या दिखाआगी? कुछ उनक प्रमकी वात सुनाआ। मरी वात सुनकर तुम हँसन क्या लगीं? क्या काइ रहस्यकी वात है? यदि है आर मैं उसे जानन, दखनकी अधिकारिणी हूँ ता अवश्य बताआ—और दिखाआ।'

'सखा! भला तुम किस वातकी अधिकारिणी नहीं हा? तुमपर युगल सरकारका अपार कृपा है, अनन्त प्रम ह। इस प्रेमनगरम कवल उनकी प्रेमाधिकारिणी आत्माआका ही प्रवश हा सकता ह। आश्चय मत करा, प्रमस सुना और दख-दखकर आँख सफल करो। भगवान्‌का लीला वडी विलक्षण ह, अद्भुत है। तर्क-युक्तियासे उसका रहस्य नहीं जाना जा सकता। वह तो कवल कृपासाध्य ह, अनुभवगम्य है। परतु ह आर एसी ही ह जा कि अभी में तुम्ह दिखाऊँगी।'

'मुझे वडी उत्सुकता हो रही ह। अव विलम्ब मत करो। जल्दी दिखाओ।'

'हाँ हाँ अव विलम्बकी क्या वात है? चलो, चलती चल और बात भी करती चल। देखा इस प्रमनगरकी वात ही निराली है। इसक विभिन्न भागाम भगवान् विभिन्न प्रकारकी लीलाएँ करते रहते हैं। य लीलाएँ अनादिकालस अनन्तकालतक अथात् सवदा नित्य प्रवाहरूपस चलती ही रहती हैं कभी वद नहीं हातीं। किसी प्रकारका प्रलय इस नगरका स्पश नहीं कर सकता। प्रत्युत ज्ञानक द्वारा प्रकृति और प्राकृत जगत्क प्रलयके पश्चात् किसा-किसी महापुरुषका भगवान् अपनी इस लीलाभूमिम वुला लेते हैं। चलो, दखो, अभी मैं तुम्ह विभिन्न भागाम ल चलकर भगवान्‌का दिव्य लीलाआका दशन कराती हूँ। तुम दखागी कि कहीं रासलीला हो रही है ता कहीं चीरहरण हा रहा ह। कहीं पूवराग तो कहीं मानलीला और कहीं सयाग ता कहीं वियाग हा रहा है। तुम आश्चर्य क्या करती हो? यह भगवान्‌की लीला है न? जैसे अनिवचनीय भगवान् हैं, वैसी ही अनिर्वचनीय उनकी लीला है। यहाँ प्रकृति और प्राकृत गुणाका प्रवेश नहीं, जडताका सञ्चार नहीं, यहाँ तो कवल चिन्मय-ही-चिन्मय हैं। भगवद्विग्रह चिन्मय, लाला चिन्मय और धाम चिन्मय है। या भी कह सकती हो कि सव भगवान्-ही-भगवान् हैं। वे ही लीला धाम रमणाय और रमणके रूपमे हा रहे हैं।'

अच्छा ता अव चला, तुम्ह कुछ कुमारियाके दशन कराऊँ। परतु उसके पहले एक बात और सुन लो। इस प्रमनगरम कालकी गति ता है ही नहीं इसलिये एक ही समय कहीं वसन्त कहीं वर्षा कहीं शरद्, कहीं शिशिर और कहीं हेमन्त-ऋतु रहती है। युगल सरकारके विहारकुण्डमे तो ग्रीष्म-ही-ग्रीष्म चलती है। एक साथ ही कहीं सूर्योदय हा रहा हे तो कहीं सन्ध्या। कहीं रात्रि है ता कहीं दिन। सव भगवान्‌की लीला है न?

और उनका बात क्या सुनाऊँ? वे एक स्थानपर यशोदाकी गोदीम बैठकर मन्द-मन्द मुसकरात हुए दूध पी रह हैं तो दूसरे स्थानपर ग्वालबालाक साथ खल रह हैं और तीसरे स्थानपर गापियाक साथ रास-विलास कर रहे हैं। उनकी लीला अनन्त हे, उनक प्रेमरसके आस्वादनके भाव

अनन्त हैं। चलो, आज कुछ प्रेमभावोका रसास्वादन किया जाय। हाँ, ध्यान रखना, आज पहला दिन है, किसी एक भावके दर्शनमे ही अटक मत जाना। सब कुछ देखती-सुनती मेरे पीछे-पीछे चली आना। समझी न?

'देखो, सायकालका समय है, सूर्यकी रक्तिम रश्मियाँ हरे-भरे लताकुञ्जोपर पडकर दूसरा ही रग ला रहा हैं। कुञ्जोके सामने कुछ नन्ही-नन्हीं-सी सुकुमार कुमारियाँ बैठी हुई हैं। देख रही हो न? उनकी आँखे कितनी उत्सुकताके साथ किसीकी प्रतीक्षामे लगी हुई है। वे बार-बार उचक-उचककर वनकी ओर देख लेती हैं। कितनी लगन है, कितनी आतुरता है, कितनी बेकली है। बात यह हुई कि आज इन्होने पहले-पहल बाँसुरीकी मधुर ध्वनि सुनी है। सुनते ही इनका हृदय वशमे न रहा। ये छटपटाने लगीं। क्या न हो? जिसे सुनकर बडे-बडे मुनियोसे लेकर शिवतक समाधिका परित्याग करके उसीके रसास्वादनमे लगे रहते हैं, भला उसे सुनकर ये भोली-भाली व्रजकुमारियाँ कैसे अपनेको सँभाल सकती हैं? हाँ, फिर इन्होने जाकर अपनी बडी बहिनोसे पूछा, यह किसकी ध्वनि है? जबसे उन्होने श्यामसुन्दरकी रूपमाधुरीका वर्णन करके उनके प्रेमिल स्वभाव, बाँसुरीवादन और नाना प्रकारके विहारोकी बाते इन्हे बतायी हैं, तबसे इन्हे और कहीं चैन हो नहीं पडता। बडी व्याकुलताके साथ गौओको चराकर लौटनेका मार्ग देख रही हैं।'

देखो, उधर देखो, इनकी लालसा पूरी करनेके लिये नन्दनन्दन श्रीकृष्ण ग्वालबालोके साथ बाँसुरी बजाते हुए इधरसे ही निकल रहे हैं। आगे-आगे झुण्ड-की-झुण्ड गौएँ हैं। पीछे-पीछे सखाओकी भीड। उन्हींके स्वर-मे-स्वर मिलाकर गायन करती हुई, उन्हींको देख-देखकर प्रेमकी मस्तीमे छकी हुई चली आ रही है। काले-काले लम्बे घुँघराले बालोसे जङ्गली फूल गिरते जा रहे हैं। कपोलोपर वनमालापर पीतपटपर और बालोपर भी गोरज पड हुए हैं। हाँ वह देखो बाँसुरी बजाते-बजाते एक बार मुसकराकर प्रेमभरी दृष्टिसे उनकी ओर देख लिया। बस अब क्या? ये सदाके लिये उनके हाथो बिक गयीं। उनके हृदयमे प्रेमका बीज बो दिया गया। इसी अवस्थाका नाम 'उप्त' है।

श्रीकृष्ण चले गये। अब नन्दरानी दूरसे ही दौडकर उन्हे गोदीमे उठा ले गयी होगी। न जाने क्या-क्या करके वे अपने लाडिलेलालकी दिनभरकी थकावट मिटाती होगी। ये कुमारियाँ भी अब उन्हे पानेका यत्न करेगी। अब आओ, हम दूसरे प्रदेशमे चले।

देखो अभी यहाँ सूर्योदय नहीं हुआ है। अरुणकी अनुरागभरी रश्मियोसे प्राचीदिशाका मुँह लाल हो उठा है। उधर देखो, हेमन्त-ऋतुकी इस सर्दीमे कुछ छोटी-छोटी लडकियाँ श्रीकृष्णके नामोका मधुर सकीर्तन करती हुई यमुनाकी ओर जा रही हैं। अभी तो इनके सोनेका समय है। परतु जिसे लगन लग गयी उसे नींद कहाँ? उसे भला अपने आत्माके प्राण मनमोहनको पाये बिना कल कैसे पड सकती है? इन्हे ठण्डककी परवा नहीं, शरीरकी सुध नहीं और गुरुजनोकी लाज नहीं ये तो प्रेमकी पगली हैं। जानती हो, ये क्या करती हैं? इस कडाकेकी ठण्डमे घटो यमुनाजलमे स्नान करती हैं और बालूकी मूर्ति बनाकर कात्यायनीदेवीकी पूजा करती हैं। इनका मन्त्र उफ कितना सीधा मन्त्र है? कैसी सरलताके साथ ये अपना मनोरथ देवीके सामने प्रकट करती हैं। जरा भी छल-कपट नहीं। कहती हैं—'देवि! नन्दलाडिले श्यामसुन्दर हमारे पति हो जायँ।' कितना सीधा मन्त्र है।

एक दिन हमारे मनमोहन सरकार इनपर कृपा करेगे इन्हे सर्वदाके लिये अपनायेगे। उन्हे कोई चाहे और वे न मिले, ऐसा तो हो ही नहीं सकता। वे प्रेमपरवश हैं, दयालु हैं और हैं बडे भक्तवत्सल। इस अवस्थाका नाम है—'यत'। इसमे भगवान्‌को प्राप्त करनेकी साधना बडी लगनके साथ चलती है। देखो, वह देखो, कुछ गोपवधूटियाँ एकत्रित होकर आपसमे बातचीत कर रही हैं। चलो, पाससे सुने। इस प्रेमनगरमे भगवत्प्रेमके अतिरिक्त और कोई बात होती ही नहीं। ये गोपियाँ तो श्रीकृष्णप्रेमकी मूर्ति हैं, इनकी बात सुननेमे बडा आनन्द है।

हाँ, सुनो एक क्या कह रही है—

'सखी! यहाँकी हरिनियाँ कितनी भाग्यवती हैं, जो बिना किसी रोक-टोकके अपने पति कृष्णसार मृगोके साथ—श्यामसुन्दरके पास जाती हैं और अपनी प्रेमभरी
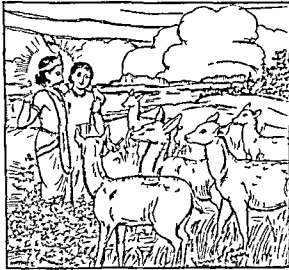
चितवनसे उन्हे निहार-निहारकर अपनी बडी-बडी आँखोका लाभ लेती हें और उनकी पूजा करती हैं। उनका वह जीवन कितना धन्य है। और हम, हम अपने पतियोके साथ नहीं जा सकतीं। काश, हम भी उसी योनिमे होतीं। तब हमें कोई न रोकता। परतु रोकनेसे क्या होता है? हम तो उन्हे निहारेंगी, अवश्य निहारेंगी। अब किसीके रोके नहीं रुकतीं।'

सभी बारी-बारीसे कुछ कह रही हें, कितना प्रेम है। जीवनमे यदि ऐसी लालसा जग जाय तो क्या पूछना है? फिर तो सर्वदाके लिये भगवान्‌का सान्निध्य प्राप्त हो जाय। देखो वह देखो कई गोपियाँ अपने पतियोके साथ विमानपर चढकर दर्शन करने आयी हुई देवाङ्गनाओके सौभाग्यकी प्रशसा करती हुई यमुनाकी ओर बढ रही हें। ये यमुनामे स्नान करने और जल भरने तथा दही-दूध बेचने आदिका बहाना बनाकर प्राय ही इधर आया करती हैं और मोहनकी मोहिनीकी झाँकी किया करती हैं। इनका प्रेम धन्य है इनके हृदयकी दशा अत्यन्त रमणीय है। इसका नाम है 'ललित'।

जब प्राण-प्रियतमके दर्शन होते हैं तब तो आनन्द-ही-आनन्द रहता है परतु यदि एक क्षणके लिये भी वियोग हो जाय तो असीम दु ख भी हो जाता है। कई बार ऐसा होता है कि श्रीकृष्ण कहीं तमालके वृक्षो, लताओ और कुञ्जोमे छिप जाते हें तथा गोपियाँ बिना पानीके मछलियोकी भाँति तडफडाने लगती हैं। देखो हम तो देख ही रही हैं कि वह आडमे खडे होकर मुसकरा रहे है और उधर उस गोपीकी बुरी दशा हो रही है। मुँह पीला पड गया है। सिर झुक गया है। आँसू बहाती हुई आँखे इधर-उधर चकपकाकर देख रही हैं। चुने हुए फूल गिर पडे इसका तो क्या पता होगा, जब उसे अपने तनकी ही सुधि नहीं है। अब वह रोते-रोते मूर्च्छित ही होनेवाली है। पर भगवान् उन्हे मूर्च्छित थोडे ही होने देंगे। आकर अभी-अभी उठा लेंगे। परतु प्रेमकी यह दशा है बडी सुन्दर। इसे 'दलित' कहते हैं। जिसे यह प्राप्त हो जाय, उसीका जीवन सफल है।

जब दलित दशाका सच्चा प्रकाश होता है तभी भगवान् श्यामसुन्दर आकर मिल जाते हैं। उस दिनकी बात है—श्रीकृष्ण रासलीलासे अन्तर्धान हो गये। हम विकल होकर वन-वनमे भटककर उन्हे ढूँढने लगीं। वृक्षो, लताओं और पशु-पक्षियोतकसे पूछने लगीं। परतु कौन बताता है, वह तो हमारा पागलपन था। ढूँढते-ढूँढते हम अपने-आपको भूल गयीं। बस केवल रोना-ही-रोना अवशेष रहा। परतु उसी रोनेके अदर हमारे हृदयेश्वर प्रकट हो गये। कितना सुन्दर था वह क्षण! उन्हे देखते ही मानो मुर्देमे जान आ गयी हो, हम सब उठकर खडी हो गयीं। किसीने पीताम्बर पकड लिया किसीने उनके हाथ कन्धेपर रख लिये और किसीने अपने हाथोको उनके कन्धोपर रखकर अपनी विशेष ममता प्रकट की। उस 'मिलित' दशाका वर्णन करना असम्भव है।

उस मिलनके पश्चात् तो हम सब भूल ही गयीं। विरहका दु ख भूल गया और विरह भी भूल गया। उनकी रूपमाधुरीका पान करके कोई मस्त हो गयी तो दूसरी हृदयके अन्तस्तलमे उनके शीतल स्पर्शसे समाधिस्थ हो गयी, परतु यह समाधि योगियोकी-सी समाधि नहीं थी। इसमे आँखे बद तो थीं, परतु इसलिये बद थीं कि कहीं हृदयमे विहार करनेवाले प्राणवल्लभ इन आँखोके मार्गसे निकल न जायँ। इस सयोगसुखकी मस्तीको ही प्रेमियोने 'कलित' दशा बताया है।

हाँ तो उस दिनकी बात स्मरण करके हमारा हृदय गद्गद हो रहा है। सारा-का-सारा दृश्य आँखोके सामने नाच रहा है। कैसा सुन्दर वह दृश्य था! सुनो सुनो मैं कहे बिना रह नहीं सकती।

श्रीकृष्णके आनेपर सब गोपियाँ तो उनके अनुनय-विनयमे लगी हुई थीं, परतु रासेश्वरी श्रीराधा? अरे उनके प्रेमकी असीमता तो फूटी पडती थी। विशेष ममताके कारण प्रणयरोषका भाव प्रकट करती हुई वे दूर ही खडी

थीं। उनकी भौंहे चढी हुई थीं। अधर दाँततले दबे हुए थे और वे विह्वलता प्रकट कर रही थीं। फिर उनका बडा अनुनय-विनय किया गया। स्वय श्रीकृष्णने अपनी रूठी हुई प्राणेश्वरीको मनाया, तब जाकर कहीं प्रसन्न हुइ। यह प्रेमसरम्भकी (छिलित) दशा हे। यह प्रेमकी बडी ऊँची स्थितिमे ही प्रकट होती ह। हमार जीवनम भला भगवान्से रूठनेकी बात कैसे आ सकती है? हम डरती रहती ह कि कहीं वे न हमसे रूठ जायँ। यद्यपि व तो प्रमस्वरूप हे, भला कभी रूठ सकते हैं? परतु कभी-कभी इसकी वृद्धिके लिये रूठनका-सा अभिनय कर बैठत हैं। उस समय हमे कितनी वेदना होती है, कह नहीं सकतीं। उस दिनकी बात है। उन्हाने रात्रिमे बाँसुरी बजायी ओर हम सव घर-द्वार छोडकर निकल पडीं। हाँ, तो उस समय व रूठ-से बन गये। कहन लग, घर लोट जाआ। सखी! वह बात स्मरण करके आज भी हम व्याकुल हा उठती हैं। उस समय मनमे यही एकमात्र इच्छा थी कि अब इस शरारको रखकर क्या होगा। इसे इसीलिये हम रखती हैं न कि यह प्रियतमके काम आये, परतु जब उन्हाने इस अस्वीकार कर दिया तो इसकी क्या जरूरत? उन्हींका ध्यान करते-करते, उन्हींके विरहकी आगमे जलकर हम मर जायँगी तो अगले जन्मम तो उन्हे पा सकगी। यही सब सोचते-सोचते गापियाँ उस समय विचलित हो गयी थीं। हमारे जीवनमे उस समय प्रेमकी 'चलित' दशाका पूर्णत उदय हो आया था और उसी समय भगवान्ने हम अपनाया। कितने प्रेमी हैं वे!

यह बात तो बीचमे आ गयी थी। भगवान्के मिलनपर, उनकी अनुकूलता प्राप्त करनेपर हमे जिस परमानन्दकी उपलब्धि हुई, कही नहीं जा सकती। यमुनाके कपूरके समान चमकीले विस्तृत पुलिनपर हमने अपनी-अपनी ओढनी बिछा दी। वे मुसकराते हुए उसपर विराजमान हुए। हम उन्हे घेरकर चारो ओर बैठ गयीं। किसीने उनके चरणोको अपनी गोदीम लेकर अपने हृदयसे लगा लिया। किसीने उनकी पूजा की। किसीने प्रश्न पूछे और वे बडे प्रेमसे उत्तर देने लगे। हमारे उस सौभाग्यातिरकको आकाशमण्डलम ठिठके हुए चन्द्रमा निर्निमेष नयनासे देख रहे थे, श्याममयी कालिन्दी अपनी कल-कल ध्वनिद्वारा उसका गायन कर रही थी और हवा अधखिली कलियोका सौरभ लेकर धीरे-धीरे पखा झल रही थी। उस समय हम सब कुछ अतिक्रमण कर गयी थीं। वह प्रेमकी 'क्रान्त' दशा थी।

'मेरी प्यारी सखी! में तुम्हे इसलिय इधर लायी थी कि तुम्हे प्रेमनगरके कुछ दृश्य दिखाऊँ, परतु मैं अपनी ही बाताक कहनेमे इतनी तल्लीन हो गया कि दिखाना ही भूल गयी। अब आओ, आगे चले, तुम्हे विरहलीलाके विभागम ले चल। भगवान्की नित्यसहचरी गोपियोका उनसे कभी वियोग नहा हाता, परतु भगवान्क विरहम किस प्रकारका दु ख होता हे और होना चाहिय, यह बात बतानेके लिये तथा सयागात्मक रसराजकी पुष्टिक लिये वियोगके दृश्य भी होते हैं। आओ, ले चलूँ तुम्हे।'

'देखो, उस गोपीका दिव्य उन्माद ता प्रत्यक्ष हो रहा हे न? एक ओर सन्देश लकर आय हुए उद्धव स्तम्भित-से, चकित-से बठ हुए ह, दूसरा आर वह भ्रमरोकी गुनगुनाहटको ही भगवान्का सन्देश मानकर न जाने क्या-क्या बक रही है। इसके चित्र-विचित्र जल्प सुनते ही बनते हैं। सुनो, सुनो क्या कह रही है? भौंरेका अपन पास फटकनेतक नहीं देती आर उस बार-बार डाँटती है कि तुम जाआ मथुरा, यहाँ तुम्हारी जरूरत नहीं। देखती नहीं हा क्या? चिन्ताके मारे सूखकर काँटा हा गयी है। आँखोकी खुमारीसे साफ जाहिर होता हे कि उद्वगके मारे इसे नींद नहा आती। शरीर ओर कपडाका धानकी याद ही नहीं। बार-बार बेसुध हो जाती है। मर-मरक जीती हे और वह भी केवल इसी आशासे कि कभी-न-कभी प्राणप्यारे श्रीकृष्णके दर्शन हो जायँगे। इसक मनम कवल यही बात हे कि शायद मेर मर जानेक बाद वे आय ओर मुझे न पाकर दु खी हा। बस, केवल उनके सुखके लिये ही जीवित है, नहीं तो न जाने कब यह इस ससारसे उठ गयी होती। इसका नाम है—'विहन दशा'।

अरे देखो देखो अब इसका हृदय न जाने कैसा हो गया! कभी हँसती है, कभी राती है कभी मौन हो जाती है, मानो काई पत्थरका टुकडा पडा हो। सुनो क्या कह रही है—

'प्राणेश्वर! जीवनधन! आआ, एक बार केवल एक बार आओ। देखो यह वही यमुना है न जिसम तुम जलविहार करते थे? नाथ! यह वही कदम्ब वही लताओका कुञ्ज, वही रात, वही वृन्दावन और वही मैं, परतु तुम तुम कहाँ हो आआ आआ—

हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुल वृजिनार्णवात्॥

क्या तुम आओगे? सचमुच आकर मुझे उठा लोगे?

हाँ, तुम अवश्य आओगे, आये विना रह नहीं सकते।'

देखो, कहते-कहते रुक गयी, अब बोला नहीं जाता। इस प्रेमकी 'गलित' दशा कहते हैं, चलो पाससे चलकर देख।

अरे यह क्या? इसका मुँह तो प्रसन्नतासे खिल उठा! एक ही क्षणमें इसकी दशा ही बदल गयी। अब तो यह संयोगसुखसे संतृप्त मालूम पडती है। मस्तीके साथ उठकर तमालको गले लगा रही है। सच है। सच्चे विरहमें भगवान् अलग रह ही नहीं सकते। अब इसके लिये सारा जगत् प्रियमय हो गया है। अब कभी एक क्षणके लिये भी इसे वियोगका अनुभव न होगा। अब 'त्रिभुवनमपि तन्मय विरहे' की सच्ची अनुभूति इसे प्राप्त हो गयी।

'अब चलो, युगल सरकारके उस कुञ्जके पास चलें जहाँ छोडकर हम प्रेमनगर देखने चली आयी थीं। जब युगल सरकार निकलेंगे तब हम उन्हें निहार-निहारकर निहाल होंगी। आओ, गाती हुई चलें'—

इन नयननु छविधाम बिलोकिय।
सखि! चलि वगि प्रिया निकुञ्ज महँ युगलरासरस पाजिय॥
इन नयननु छविधाम बिलोकिय।

लीला-दर्शन—

सखा-सत्कार

कन्हाईकी वर्षगाँठ है। इस जन्मदिनका अधिकांश संस्कार पूर्ण हो चुका है। महर्षि शाण्डिल्य विप्रवर्गके साथ पूजन-यज्ञादि सम्पन्न कराके, सत्कृत होकर जा चुके हैं। गोप एवं गोपियोंने अपने उपहार व्रजनवयुवराजको दे दिये हैं। अब सखाओंकी बारी है।

कन्हाईके सखा भी उपहार देंगे, किंतु ये गोपकुमार तो अपने अनुरूप ही उपहार देनेवाले हैं। रत्नाभरण, मणियाँ, बहुमूल्य वस्त्र, नाना प्रकारके खिलौने तो बडे गोप, गोपियाँ—दूरस्थ गोष्ठोंके गोप भी लाते हैं, किंतु गोपकुमारोंका उपहार इन सबसे भिन्न है।

'कनू! मैं भी तुझे टीका लगाऊँगा।' यह आया भद्र। यह श्यामके जन्मदिनपर सदा ऐसे ही आता है—'मेरे समीप तो कुछ है नहीं, तेरी ही कामदाके गोबरका टीका लगा दूँ तुझे?'

'सच! लगा!' अब यह नन्दनन्दन तो मानो हर्षसे विभोर हो उठा है। इसे लगता है कि इतनी महत्त्वपूर्ण बात महर्षि शाण्डिल्यतकको स्मरण नहीं आयी और उसका भद्र कितना बुद्धिमान् है। भला, गोपकुमारका तिलक गोमयके बिना कैसे सम्पूर्ण हो सकता है?

आज कन्हाई सिरसे चरणोंतक नवीन रत्नाभरणोंसे सज्जित है। अलकोंमें अनेक रंगोंके रत्न-मणियोंकी माला है। रत्न-खचित नन्हा-सा मुकुट है। भालपर केसरकी खौरके मध्य महर्षिके द्वारा लगाया कुंकुम-तिलक है जिसपर अक्षत लगे हैं। भद्रने अक्षतोंके नीचे ठीक भ्रूमध्यमें अपनी अनामिकासे एक छोटा बिन्दु गोबरका लगा दिया।

'बाबा! यह सब भूल ही गये थे।' कृष्ण अब बाबा, ताऊ, चाचा और मैया—सबको दौडा-दौडा दिखला रहा है—भद्रने लगाया है—मेरे भद्रने।

अब यह क्रम तो चल पडा। तोक कहींसे एक तिरंगी गुञ्जा लाया है—श्वेत, कृष्ण और अरुण तीनों रंग समान हैं इसमें तथा कन्हाई उसे करपर रखे सबको दिखलाता घूम रहा है। इसके नेत्र, इसका उल्लासभरा स्वर कहता है—'ऐसी अद्भुत वस्तु है कहीं किसीके समीप? कोई रत्न इसकी तुलना करनेयोग्य है?'

कोई नन्हा मयूरपिच्छ लाया है और कोई तीन-चार छोटे किसलय। सुबल कहींसे पाँच रंगोंसे अङ्कित श्वेत पुण्डरीक पा गया है। सब फल, पुष्प, पत्ते या पिच्छ ही लाये हैं, किंतु कन्हाई तो एक-एक सखाका उपहार पाकर ऐसा उल्लसित होता है, ऐसा उछलता और सबको दिखाने

दौडता है जैसे त्रिभुवनका दुर्लभतम रत्न इसे मिल गया हो।

कृष्णचन्द्र इतना उल्लसित तो किसी भी गोप या गोपीके उपहारको पाकर नहीं हुआ। सब गोप, गोपियाँ, दूरस्थ गोष्ठोसे आये गोपनायक महीनोसे इसी अन्वेषणमे लगे थे नन्दनन्दनको क्या दे इस दिन, जिसे पाकर श्याम प्रसन्न हो, किंतु यह नील-सुन्दर जैसे नाचता कूदता, उल्लासभरा दिखलाता फिर रहा है अपने सखाओको उपहार—कोई अमूल्य मणि या वस्त्र कहाँ इसका सहस्राश भी हर्ष इसमे ला सका।

'लाल! आज मित्रोका सत्कार करते है।' मैयाने बडे स्नेहसे कहा—'तुम अपने सखाओको भी तो उपहार दो।'

'हाँ!' कन्हाई प्रसन्न, दौड आया उस राशिके समीप जो मैयाने सजा रखी है। इस बार मैयाने बाबाको बहुत सावधान किया था कि उनका नीलमणि अपने सखाओको ऐसी-वैसी वस्तु नहीं देना चाहेगा। बाबाने कई महीने लगाये हैं इन वस्तुओके चयनमे। बहुत प्रयत्न करके दूर-दूरसे मँगाया है।

मैया ठिठकी खडी रह गयी। बाबा भी स्तब्ध देखते रह गये। इस बार भी वही हुआ जो पिछली वर्षगाँठोको होता आया है। कोई प्रयत्न सफल नहीं हुआ। कुछ भी तो कृष्णको ऐसा नहीं लगता है, जो वह अपने किसी सखाको दे सके।

कन्हाई कोई चमकता मणि, कोई रत्नाभरण, कोई वस्त्र उठाता है, देखता है और फक देता है। किसी सखाके दिये किसलय, गुजा, पिच्छ फलको देखता है और हाथकी वस्तु इसे तुच्छ लगती है। अनेक बार भालके गोमय-बिन्दुतक कर ले गया और हाथकी वस्तु उपेक्षामे फेक दी इसने।

अबतक हर्षसे उछलता, खिलखिलाता, दौडता श्यामसुन्दर गम्भीर हो गया है। कुछ खिन्न हो उठा है। विशाल अञ्जन-रञ्जित कमललोचन भर आये हैं। अग्रजकी ओर देखा इसने 'दादा!'

प्रत्येक वर्षगाँठपर यही होता है। दाऊ ही अपने अनुजका समाधान करते हैं—'कनूँ! अपने सखाको देकर सन्तुष्ट हो सके, ऐसी कोई वस्तु कैसे हो सकती है?'

सचमुच कोई वस्तु त्रिभुवनमे कैसे हो सकती है, जो सखाको देनेयोग्य प्रतीत हो सके कन्हाईको। तब?

एक क्षण सिर झुकाकर सोचता है और फके-बिखरे रत्नाभरणो, मणियो, वस्त्रोके मध्यसे आगे कूद आता है, 'भद्र!' दोनो भुजाएँ गलेमे डालकर कन्हाई लिपट गया है। वाणी नहीं कह पाती, किंतु इसका रोम-रोम कहता है 'मैं तेरा! मैं तेरा!'

'तोक! सुबल! श्रीदाम! वरूथप! अब एक-एक सखाके कण्ठसे कन्हाई भुजाएँ फैलाकर लिपट रहा है। इसका अङ्ग-अङ्ग मानो पुकार रहा है—'मैं तेरा! मैं तेरा!' चल रहा है यह सखाओका सत्कार!

व्रजाङ्गनाओका भगवत्प्रेम

(डॉ० श्रीउमाकान्तजी कपिध्वज)

परब्रह्मके प्रेमरूपका दर्शन व्रजमे ही सम्भव है। सर्वव्यापक गुणातीत ब्रह्मका स्वरूप ही व्रज है। व्रजमे कृष्णकी आत्म-परमात्ममिलनकी लीला सदासे होती रही है और कबतक होगी—यह कहना सम्भव नहीं है। कृष्णकी आत्मा राधा हैं। राधा कृष्ण हैं और कृष्ण ही राधा हैं तथा इन दोनोका प्रेम वशी है। यहाँ प्रेमकी धारा अनवरत रूपसे प्रवाहित होती रहती है।*

आत्मामे रमण करनेवाले परमात्माकी यह प्रेमलीला कृष्ण और राधाके रूपमे दर्शित होती है। प्रेमी और रसिक ही इस रसका आस्वादन करके आनन्दित होते हैं। प्रेमका रस गूँगेके गुडके समान अकथनीय है। उसका केवल अनुभव किया जा सकता है। पद्मपुराणमे वर्णन है कि इस प्रेमरसको प्राप्त करनेके लिये भगवान् शकरने जब व्रजाधिपति श्रीकृष्णसे प्रार्थना की तब उन्होने उन्हे द्वापरयुगमे व्रज आनेकी सलाह दी तदनुसार गौरीशकर निर्दिष्ट समयपर व्रजमे राधाकृष्णका दर्शन करके प्रेममग्न हुए।

* इसीलिये तो कबीरदासजीने कहा है—

कबिरा धारा प्रेम की सदगुरु दई लखाय। उलटि ताहि जपिये सदा प्रियतम सग मिलाय॥

सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णका सच्चिदानन्दमयी गोपिका-नामधारिणी अपनी ही छायामूर्तियामे जो दिव्य अप्राकृत प्रेम था उसका वर्णन कौन कर सकता है? प्रेमरूपा गोपियाँ ही इस रसको पान करनेकी अधिकारिणी हैं, क्योंकि आत्मा और परमात्माकी एकताका न जाननेके कारण ही जगत्की उत्पत्ति-स्थिति और प्रतीति होती है। स्वरूपमे स्थित होनेपर प्रभुको जीवरूपमे देखा ही नहीं जा सकता। इन्द्रियोके वेगको रोककर ही गोपी बना जा सकता है। सदा अधिष्ठान—चिन्तन और अधिष्ठानरूपमे स्थित रहना ही गोपीभाव है।

गोपियोके प्राण और श्रीकृष्ण तथा श्रीकृष्णके प्राण एव गोपियाम कोई अन्तर नहीं रह जाता। वे परस्पर अपने-आप ही अपनी छायाको देखकर विमुग्ध होते हैं और सबको मोहित करते हैं। गोपियाने अपने मनको श्रीकृष्णके मनमे तथा अपने प्राणाको श्रीकृष्णके प्राणामे विलीन कर दिया था।[1] गोपियाँ इसीलिये जीवन धारण करती थीं कि श्रीकृष्ण वसा चाहते थे। उनका जीवन-मरण लोक-परलोक सब श्रीकृष्णके अधीन था। उन्होने अपनी सारी इच्छाओंको श्रीकृष्णकी इच्छाम मिला दिया था।

व्रजमे श्रीकृष्णका मन और लीला ही सर्वोपरि थी। इसका अनुभव तब होता है जब ब्रह्माजीके द्वारा गाया और ग्वाल-बालोका अपहरण हो जाता है। उस समय '**वासुदेव सर्वम्**' की उद्घोषणाको साकार करके श्रीकृष्ण गाय बछडे, ग्वाल-बाल आदिके रूपमे एक वर्षतक रहकर गोपियोको आनन्दित करते हैं। प्रभुकी इस लीलाको देखकर स्वय बलभद्रजी भी चकित हो जाते हैं।

विषयानुराग काम है तथा भगवदनुराग प्रेम है। यह प्रेम बढते-बढते जब प्रेमीको प्रेमास्पद भगवान्का प्रतिबिम्ब बना देता है, तभी प्रेम पूर्णताके समीप पहुँचता है, क्योंकि समर्पण ही वास्तविक प्रमका रूप है। यही अनन्यता है। अनन्यताकी व्याख्या करते हुए भगवान् श्रीराम कहते हैं—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवत॥

(रा०च०मा० ४।३)

विशुद्ध अन्त करण ही गोपीप्रेम-रसका आस्वादन कर सकता है। भगवान् शकर भगवती सतीस कहते हैं—'विशुद्ध अन्त करणका नाम ही 'वसुदेव' है, क्योंकि उसीम भगवान् वासुदेवका अपरोक्ष अनुभव होता है। उस शुद्ध चित्तम स्थित इन्द्रियातीत भगवान् वासुदेवको ही मैं नमस्कार किया करता हूँ।'[2] परम भक्त उद्धव ज्ञानी थे। उस ज्ञानके रूपको प्रेमसागरम निमग्न करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने उन्हे गोपियाको अपना सन्देश सुनानेके लिये व्रजम भेजा। उद्धवने गोपियोको सन्देश सुनाते हुए कहा—मैं सबका उपादान कारण होनेसे सबका आत्मा हूँ, सबम अनुगत हूँ, इसलिये मुझसे कभी भी तुम्हारा वियोग नहीं हो सकता। जैसे ससारके सभी भौतिक पदार्थोंमे आकाश वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पाँचो भूत व्याप्त हैं इन्हींसे सब वस्तुएँ बनी हैं और ये ही उन वस्तुआके रूपमे हैं वैसे ही मैं मन प्राण, पञ्चभूत, इन्द्रिय और उनके विषयाका आश्रय हूँ। वे मुझमे हैं, मैं उनमे हूँ और सच पूछो तो मैं ही उनके रूपम प्रकट हो रहा हूँ।[3]

गोपियोने भगवान् श्रीकृष्णका सन्देश अपनी बुद्धि और प्रेमके अनुरूप ग्रहण किया पर भ्रमरगीतके रूपमे प्रेमकी अकथनीय प्रेमधारामे ज्ञानको बहाकर उद्धवजीको स्वय अपने प्रेमके रूपमे निमग्न कर गोपीभाव समझनेको बाध्य कर दिया। परिणामस्वरूप उद्धव स्वय गोपी बनकर श्रीकृष्णक पास पहुँचे। भगवान् श्रीकृष्णने उन्हे गोपीके रूपमे देखकर उनके समर्पणके भावको समझ गद्गद होकर तथा गोपीनाथ बनकर उन्हे हृदयसे लगा लिया। जिस तरह माता जानकीके क्षणभरके सत्सगसे जटायु मैया जानकीके समान[4] भगवच्चरणाका चिन्तन[5] करने लगे थे। उसी प्रकार उद्धवजी ज्ञान-वैराग्य भूलकर गोपियाके समान प्रेममग्न हो

---

१ गोपियाने तभी तो उद्धवजीसे कहा है—

ऊधौ मन न भए दस बीस। एक हुतौ सो गयौ स्याम सँग को अवराधै ईस॥

२ श्रीमद्भागवत ४।३।२३

३ श्रीमद्भागवत १०।४७।२९

४ निज पद नयन दिएँ मन राम पद कमल लीन॥ (रा०च०मा० ५।८)

तथा—नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥ (रा०च०मा० ५।३०)

५ आगें परा गीधपति देखा। सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा॥ (रा०च०मा० ३।३०।१८)

गये। जिस तरह काले रगपर कोई दूसरा रग नहीं चढता, उसी तरह श्रीकृष्णप्रेमका नशा जिसे एक बार चढ गया उसे सर्वत्र कृष्ण-ही-कृष्ण दिखायी देते हैं। गोपियाने तभी तो उद्धवजीसे कहा है—

स्याम तन स्याम मन स्याम है हमारो धन,
आठो जाम ऊधौ हम स्याम ही सो काम है।
स्याम हिये स्याम जिये स्याम बिनु नाहिं तिये,
आँधेकी-सी लाकरी अधार स्याम नाम है॥
स्याम गति स्याम मति स्याम ही है प्रानपति
स्याम सुखदाई सो भलाई सोभाधाम है।
ऊधो तुम भए बौर पाती लैके आए दौरे,
जोग कहाँ राखै यहाँ रोम-रोम स्याम है॥

अनात्म प्रेम, भौतिक प्रेम और शारीरिक प्रेम भगवत्प्रेमके आगे फीके पड जाते हैं। कृष्णप्रेमके रगमे रँगी आँखे किसी दूसरेको नहीं निहारतीं। प्रेमी चाहता है कि आँख सर्वत्र उसे ही देखती रहे, परम प्रेमास्पद परमानन्दस्वरूप सर्वात्मा भगवान् ही सदा आँखोके सामने रहे। वे आँख ही न रहे जो तदन्यको देखना चाहे, वह हृदय ही टूक-टूक हो जाय जिसमे तदन्यका भाव, चिन्तन हो। अनन्य प्रेमसे परिपूर्ण हृदय वह है जो भीतरसे आप-ही-आप बोल उठता है—हे आराध्य देव! मुझे केवल तेरी ही अपेक्षा है, अन्यकी नहीं। ज्ञानदृष्टिसे देखनेपर तुझसे अन्य कुछ है भी तो नहीं!

गोपियाँ भी भगवान् श्रीकृष्णके प्रेममे आकण्ठ डूबी हुई थीं। तभी तो भगवान्ने उद्धवजीसे कहा—उद्धव! और तो क्या कहूँ, मैं ही उनकी आत्मा हूँ। वे नित्य-निरन्तर मुझमे ही तन्मय रहती हैं।[1] इतना ही नहीं, भगवान् श्रीकृष्ण तो यहाँतक कहते हैं—उद्धव! मुझे तुम्हारे-जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रियतम हैं उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा आत्मस्वरूप शकर, सगे भाई बलरामजी स्वय अर्धांगिनी लक्ष्मीजी और मेरा अपना आत्मा भी नहीं है।[2]

प्रेमकल्पलता श्रीराधाजीका महाभाव

(श्रीहरनारायण सिहजी सिसोदिया एम्०ए०)

वन्दे राधापदाम्भोज ब्रह्मादिसुरवन्दितम्।
यत्कीर्तिकीर्तनेनैव पुनाति भुवनत्रयम्॥
(ब्र०वै०पु० श्रीकृष्ण० ९२।६३)

मैं श्रीराधाके उन चरणकमलाकी वन्दना करता हूँ जो ब्रह्मा आदि देवताओद्वारा वन्दित हैं तथा जिनकी कीर्तिके कीर्तनसे ही तीनो भुवन पवित्र हो जाते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण अपने आनन्दको प्रेमविग्रहाके रूपमे दर्शाते हैं और स्वय ही उनसे आनन्द प्राप्त करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके उस आनन्दकी प्रतिमूर्ति ही प्रेमविग्रहरूपा श्रीराधाजी हैं। राधाका यह प्रेमविग्रह सम्पूर्ण प्रेमाका एकीभूत समूह है। आनन्दसारका घनीभूत विग्रह श्रीकृष्ण और प्रेमरससारकी घनीभूत मूर्ति श्रीराधाजीका कभी विछोह नहीं होता। वे एक-दूसरके बिना अपूर्ण हैं। श्रीराधाजी श्रीकृष्णजीकी जीवनरूपा हैं और श्रीकृष्णजी श्रीराधाजीके जीवन हैं। दिव्य प्रेमरससार विग्रह होनेसे ही राधिका महाभावरूपा हैं, जो उनके प्रियतम श्रीकृष्णको सदा सुख प्रदान करती रहती हैं।

श्रीश्याम-राधिकाकी बाल्यावस्थाके प्रथम-मिलनका सूरदासजीने अपने एक पदमे कितना मार्मिक एव स्वाभाविक वर्णन किया है—

बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति काकी है बेटी देखी नहीं कहूँ ब्रजखोरी॥
काहे कौं हम ब्रज-तन आवतिं, खलति रहतिं आपनी पौरी।
सुनत रहतिं स्रवननि नँद-ढोटा, करत फिरत माखन-दधि-चोरी॥
तुम्हरौ कहा चोरि हम लैहैं खेलन चलौ सग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक-सिरामनि, यातनि भुरइ राधिका भोरी॥
(सूरसागर पद १२९१)

कृष्णकी ह्लादिनी शक्तिकी लाखा अनुगामिनी शक्तियाँ मूर्तिमती हाकर प्रतिक्षण सखी मजरी, सहचरी, दूती आदि रूपामे श्रीराधा-कृष्णकी सेवा किया करती हैं। उन्हे सुख

---

[1] श्रीमद्भागवत १०।४६।६ [2] श्रीमद्भागवत ११।१४।१५

पहुँचाना तथा प्रसन्न रखना ही इन गोपीजनका मुख्य कार्य होता है। श्रीकृष्णने राधाके लिये कहा है—'जो तुम हो वही में हूँ।'

श्रीकृष्ण तथा राधा दोना एक ही हैं—अभिन्न हैं। श्रीराधाजी नित्य ही भगवान् श्रीकृष्णके सग रहती हैं। अपन विचित्र विभिन्न भाव-तरगरूप अनन्त सुखसमुद्रम श्रीकृष्णको राधाजी नित्य निमग्र रखनेवाली महाशक्ति हैं। वे एकमात्र अपने प्रियतम श्रीश्यामसुन्दरकी सुख-विधाता हैं। वे त्यागमयी, मधुर स्वभाववाली हैं। गुणाकी अनन्त आकर होकर भी अपनेको गुणविहीन मानती हैं। प्रेममूर्ति होकर भी अपनेम प्रेमका अभाव देखती है। सौन्दर्यनिधि होकर भी अपनेको सोन्दर्यरहित मानती हैं अर्थात् निरभिमानी हैं।

राधाजीका समस्त शृगार अपने प्रियतम श्रीकृष्णके लिये ही होता है। उनका खाना-पीना दिव्य गन्ध-सेवन सुन्दरताका दर्शन, सगीत-श्रवण, सुख-स्पर्श, चलना-फिरना ओर सभी व्यवहार अपने लिये नहीं वरन् अपने प्रिय श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेहेतु होता है। उनके प्रेमका लक्ष्य होता है श्रीकृष्णके आनन्दविधानकी ओर। उनका प्रेम अचिन्त्य और अनिर्वचनीय है, परम विशुद्ध तथा उज्ज्वल है। श्रीराधाका प्रेम सहज और परमोच्च शिखरपर आरूढ है। इसी राधा-प्रेमका दूसरा नाम अधिरूढ महाभाव है, जिसम प्रियतमका सुख ही सब कुछ है।

अपने मनकी अति गोपनीय स्थिति दर्शाती हुई श्रीराधा अपनी सखीसे कहती हैं—मेरा जो कुछ भी था सव प्रभुको समर्पित हो गया। सब ओरसे अपनी ममता सिमटकर केवल प्रभुमे ही रह गयी। सभी सम्वन्ध टूट गये, केवल प्रभुसे ही प्रगाढ सम्वन्ध रह गया है। सरस सुगन्धित सुमनासे छद्म रूपसे सदा प्रभुकी पूजा करती हूँ ताकि इसका प्रभुको पता न लगे। जहाँ भी रहूँ, कैसे भी रहूँ, इस पूजाका अन्त न हो। इस पूजाम मैं सदा आनन्दलाभ करूँ इसीम मेरी रुचि है। यह पूजा सदा वढती रहे। इस पूजामे नित्य प्रियतम श्रीकृष्णके मनमोहन रूपका देखती रहूँ। पर मेरे प्रियतम कभी मेरी पूजा देख न पाय। अन्यथा यह एकागी भाव न रह सकेगा। कितने निश्छल भावसे राधा-रानीने अपने ये भाव अपनी प्रिय सखीसे कहे—

रह नहीं पायगा फिर यह एकागी निर्मल भाव।
फिर तो नये नये उपजगे प्रियसे सुख पानेके चाव॥

प्रेमभक्तिका चरम स्वरूप श्रीराधाभाव है। इस भावका यथार्थ स्वरूप श्रीराधिकाजीके अतिरिक्त समस्त विश्वके दर्शनमे कहीं नहीं मिलता। वे शका, सकोच, सशय, सम्भ्रम आदिसे सर्वथा शून्य परम आत्मनिवेदनकी पराकाष्ठा हैं। रति, प्रेम, प्रणय, मान, स्नेह, राग, अनुराग और भाव—इस प्रकार बढता हुआ परम त्यागमय पवित्र प्रेम अन्तम जिस रूपको प्राप्त होता है, वही महाभाव श्रीराधाजीम है।

वे इस महाभावकी प्रत्यक्ष प्रतिमूर्ति हैं। श्रीश्यामसुन्दर ही श्रीराधाके प्रेम-आलम्बन हैं। श्रीराधाजी इस मधुररसकी श्रेष्ठतम आश्रय हैं। वे कभी प्रियतमके सयोगसुखका, कभी वियोगवेदनाका अनुभव करती हैं। उनका मिलनसुख और वियोगव्यथा दोना ही अतुलनीय तथा अनुपम हैं।

जब श्रीकृष्णजी मथुरा जाते हैं तव श्रीराधा, समस्त गोपीमण्डल, सारा व्रज वियोगसे अत्यन्त पीडित हो जाता है पर श्रीश्यामसुन्दर माधुर्यरूपमे सदा श्रीराधाके समीप रहते हैं। श्याम अपने सखा ब्रह्मज्ञानी उद्धवजीको व्रजमें जाकर नन्दबावा, यशोदा मैयाको सान्त्वना देने तथा गोपाङ्गनाओ एव राधारानीको उनका स्नेहसदेश सुनाने भेजते हैं, तव राधाजी उनसे कहती हैं—

उद्धव! तुम मुझको किसका यह सुना रहे कैसा सदेश?
भुला रहे क्यो मिथ्या कहकर? प्रियतम कहाँ गये परदेश?
देखे विना मुझे, पलभर भी कभी नहीं वे रह पाते।
क्षणभरमे व्याकुल हो जाते, कैसे छोड चले जाते?
म भी उनसे ही जीवित हूँ, वे ही है प्राणोके प्राण।
छोड चले जाते तो कैसे तनमे रह पाते ये प्राण?

(पद रत्नाकर ३४३)

श्रीराधा तथा अन्य गोपाङ्गनाओको ब्रह्मज्ञान देकर उद्धव समझानेकी चेष्टा करते हैं पर उनका समस्त ब्रह्मज्ञान उनके निश्छल कृष्णप्रेमके आगे असफल हो जाता है। उनके प्रेम-प्रभावमे उद्धवजीका चित्त आप्लावित हो जाता है। गोपियाँ उद्धवजीसे कहती हैं—

ऊधो मन न भये दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम सँग, को अवराधै ईस॥
इद्री सिथिल भई केसो बिन ज्यो देही बिनु सीस।
आसा लगी रहत तनु स्वासा जीजो कोटि बरीस॥
तुम तो सखा स्यामसुदरके सकल जोगके ईस।

सूरदास या रसकी महिमा जो पूँछै जगदीस॥
(भजन संग्रह १८२)

तथा—

ऊधौ जोग जोग हम नाहीं।
अबला सार ज्ञान कह जानै, कैसैं ध्यान धराहीं॥
तेई मूँदन नैन कहत हौ, हरि मूरति जिन माहीं।
स्रवन फारि सिर जटा बँधावहु ये दुख कौन समाहीं।
ऐसी कथा कपट की मधुकर हम तै सुनी न जाहीं॥
चंदन तजि अँग भस्म बतावत, बिरह अनल अति दाहीं॥
जोगी भ्रमत जाहि लगि भूले सो तो है अप माहीं।
'सूर' स्याम तैं न्यारी न पल छिन ज्यौं घट तैं परछाहीं॥
(सूरसागर प० ४५४१)

तत्पश्चात् राधा बोलीं—देखो नन्दकिशोर तो यहीं हैं।
देखो—यह देखो, कैसे मृदु-मृदु मुसकाते नन्द-किशोर।
खड़े कदम्ब मूल अवलम्ब ये झाँक रहे हैं मेरी ओर॥
देखो, कैसे मत्त हो रहे मेरे मुख को पंकज मान।
प्राण प्रियतम के दृग-मधुकर मधुर कर रहे हैं रस-पान॥
भृकुटि चलाकर, दृग मटकाकर मुझे कर रहे वे संकेत।
अति आतुर एकान्त कुञ्जमें बुला रहे हैं प्राण निकेत॥
कैसे तुम भौंचक-से होकर देख रहे कदम्बकी ओर?
क्या तुम नहीं देख पाते? या देख रहे हो प्रेम विभोर?
(पद-रत्नाकर ३४३)

राधारानी कभी वियोग कभी संयोगका अनुभव करती हुई उद्धवको यह बताती हैं कि उनके घनश्याम तो कहीं नहीं गये। अपने चित्तकी स्थिति कहते-कहते राधाजी स्तब्ध हो जाती हैं। राधाके प्रेमसुधा-रससमुद्रकी विचित्र तरङ्गोंका उद्वेलित देख उद्धव अत्यन्त विमुग्ध हो उठते हैं। उनके सभी अङ्ग विवश हो जाते हैं। उनके हृदयमें भी श्रीकृष्णप्रेमकी बाढ-सी आ जाती है। जिसका कहीं ओर-छोर नहीं, वे आनन्दमग्न हो भूमिमें लोटने लगते हैं। उस भूमिकी धूलमें जिसे राधाजी तथा गोपाङ्गनाओंके चरणोंका स्पर्श प्राप्त हुआ है। पवित्र प्रेमसे परिपूरित व्रजकी धूलि उद्धवके लिये अनुपम हो उठती है—

भू-लुण्ठित तन धूलि-धूसरित शुचि उद्धव आनन्द-विभोर॥
(पद रत्नाकर पद ३४३)

अभिन्नस्वरूपा राधाजीके अनुपम अलौकिक प्रेमका दर्शन पाकर उद्धव सारा ब्रह्मज्ञान भूल गये। राधा और गोपाङ्गनाओंके कृष्णानुरागको देख व्रजकी धूलक
समझकर उन्होंने उसे शिरोधार्य किया। इस
ब्रह्मज्ञानी उद्धव श्रीकृष्णमय होकर मथुरा लौटे।

राधाजीके लिये कहा गया है—

देवी कृष्णमयी प्रोक्ता राधिका परदेवता
सर्वलक्ष्मीमयी सर्वकान्तिः सम्मोहिनी परा

श्रीकृष्णकी सेवारूपा क्रीडाकी नित्य निवा
होनेके कारण या श्रीकृष्णनेत्रोंको अनन्त आनन्द
द्युतिसे समन्वित परमा सुन्दरी होनेके कारण
'देवी' हैं।

जहाँ-कहीं भी दृष्टि जाती है या राधाका म
है, वहाँ राधाजीको श्रीकृष्ण दीखते हैं। इनकी
सदा-सर्वदा श्रीकृष्णका सम्पर्श प्राप्त करती रहती है
ये कृष्णमयी हैं।

श्रीकृष्णकी प्रत्येक इच्छापूर्ति करनेके रूपमें
तन मन तथा वचनसे उनकी आराधनामें अपनेको
रखती हैं, अतः ये 'राधिका' हैं।

सभी देव, ऋषि-मुनियोंकी पूजनीय, सभीका
पालन करनेवाली और अनन्त ब्रह्माण्डोंकी जननी
कारण 'श्रीराधाजी' परदेवता हैं।

श्रीकृष्णकी प्राणस्वरूपा मूलरूपा होनेके का
'सर्वलक्ष्मीमयी' हैं।

सर्वशोभासौन्दर्यकी अनन्त खान समस्त शोभा
देवियोंकी मूल उद्भवरूप एवं नन्द-नन्दन श्रीकृष्ण
समस्त इच्छाओंकी साक्षात् मूर्ति होनेके का
'सर्वकान्ति' हैं।

श्रीश्यामसुन्दरकी भी मनमोहिनी [illegible]
'सम्मोहिनी' हैं तथा श्रीकृष्णकी पर [illegible]
पराशक्ति होनेके कारण राधाजी 'परा' [illegible]
पराशक्तिसे शक्तिमान् होकर श्रीकृष्ण [illegible]
सम्पन्न करते रहते हैं—

अनन्त गुण श्री [illegible]
सेइ गुणर [illegible]

श्रीकृष्णकी [illegible]
श्रीकृष्णको आन [illegible]
जीवपर स्नेह [illegible]
करती हैं [illegible]

होता है। जीवगत विकार मायाशक्तिके द्वारा जीवको सतत खींच रहा है और इसीसे विषयोंके सुखकी आशामें नित्य दु:खोंके भँवरमें पड़ा जीव गोते खाता रहता है। इस मायाशक्तिके आकर्षणसे मुक्त होनेके लिये राधा या उनकी किसी सखी-सहचरीके अनुगत होकर उनसे प्रार्थना करनी चाहिये। जिससे श्रीराधा-माधवके विशुद्ध प्रेमकी ओर वे हमें खींच सकें—

अब बिलम्ब जनि करो लाडिली, कृपा दृष्टि टुक हेरो।
जमुन पुलिन गलिन गहवर की विचरूँ साँझ सवेरो॥
निशि दिन निरखो जुगल माधुरि रसिकन ते भट मेरो।
ललितकिसोरी तन मन व्याकुल श्रीवन चहत बसेरो॥

ललितकिशोरीजीने इस प्रकार राधाजीसे प्रार्थना की है।

श्रीकृष्ण परम देव हैं। उनके छहों ऐश्वर्योंकी मूलरूपा श्रीराधा उनकी सतत आराधना करती रहती हैं। वृन्दावनके एकमात्र स्वामी परमेश्वर श्रीकृष्ण हैं और श्रीराधा भी श्रीकृष्णके द्वारा आराधिता हैं। श्रीराधा और श्रीकृष्ण एक ही शरीर हैं। लीलाहेतु पृथक् बन गये। श्रीराधा भगवान् श्रीकृष्णकी सम्पूर्ण ईश्वरी हैं, सनातनी विद्या हैं। उनके प्राणोंकी अधिष्ठात्री हैं। एकान्तमें चारों वेद उनकी स्तुति करते हैं। उनकी महिमा श्रीब्रह्मा भी वर्णित नहीं कर सकते। श्रुतियाँ राधाजीका इन अट्ठाइस नामोंसे स्तुतिगान करती हैं—राधा, रासेश्वरी, रम्या, कृष्णमन्त्राधिदेवता, सर्वाद्या, सर्ववन्द्या, वृन्दावनविहारिणी, वृन्दाराध्या, रमा अशेषगोपीमण्डलपूजिता सत्या सत्यपरा सत्यभामा, श्रीकृष्णवल्लभा वृषभानुसुता गोपी, मूल प्रकृति, ईश्वरी, गन्धर्वा, राधिका आरम्या रुक्मिणि, परमेश्वरी, परात्परतरा, पूर्णा पूर्णचन्द्रनिभानना भुक्तिमुक्तिप्रदा और भवव्याधिविनाशिनी।

श्रीराधाजीको इन नामोंसे भजनेवाले मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाते हैं, व्रती हो जाते हैं वायुसे भी पवित्र एवं वायुको पवित्र करनेवाले तथा सब ओर पवित्र एवं सबको पवित्र करनेवाले हो जाते हैं। वे राधा-कृष्णके प्रिय हो जाते हैं। जहाँ-जहाँ उनकी दृष्टि पड़ती है, वहाँतक वे सबको पवित्र कर देते हैं।

'अगुन अलेप अमान एकरस। रामु सगुन भए भगत पेम बस'

(डॉ० श्रीराधानन्द सिंह एम्०ए० पी-एच्०डी० एल्-एल्०बी० बी०एड्०)

परब्रह्म परमात्माके प्राकट्यका प्रमुख अधिष्ठान है—प्रेम। श्रीरामजी परात्पर परब्रह्म सच्चिदानन्दघन परमात्मा हैं। वे ब्रह्मा विष्णु और महेशद्वारा सेवित तथा पूजित हैं। वे निर्गुण निराकार, अचिन्त्य अनन्त शक्तिसम्पन्न कल्प-कल्पान्तरमें भक्तप्रेमवश सगुण साकाररूपसे मनुष्यावतार धारण करते हैं। उनके अवतारके हेतु अनेक और एक-से-एक विचित्र होते हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजीने श्रीरामचरितमानसमें अवतार-हेतुओंका उल्लेख करते हुए कहा है—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढहिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥
असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु॥
सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं॥
(रा०च०मा० १।१२१।६—८ दोहा १२१ १।१२२।१)

श्रीरामचरितमानसमें वर्णित अवतार-प्रयोजनके सम्यक् अनुशीलनसे ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मकी स्थापना और राक्षसोंका विनाश—अवतारके केवल बाह्य निमित्त हैं। ये सब प्रभुकी इच्छामात्रसे सहज सम्भव हैं।

अस्तु, अवतार-प्रसंगके उपसंहारकी चौपाई *'कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं'* ही श्रीरामके अवतारका मुख्य हेतु है।

यही कारण है कि श्रीरामचरितमानसमें तुलसीदासजीने आरम्भमें ही निर्गुण ब्रह्मके सगुणरूपमें अवतरणके मुख्य प्रयोजनको स्पष्ट करते हुए कहा है—

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद पर धामा॥
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना॥
सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥
(रा०च०मा० १।१३।३—५)

अर्थात् जो परमेश्वर इच्छारहित, अरूप, अनाम अजन्मा सच्चिदानन्द और परमधाम है तथा जो व्यापक एवं विश्वरूप है, उसी भगवान्‌ने दिव्य शरीर धारण करके नाना प्रकारकी लीला की है। वह लीला केवल भक्तोंके हितके लिये ही है, क्योंकि भगवान् श्रीराम परम कृपालु और

शरणागतके प्रेमी हैं। यहाँ प्रयुक्त शब्द 'भगत-हित' ही अवतार-प्रयोजनको सिद्ध करता है।

मानसमे ही रामावतरणके सन्दर्भमे कहा गया है—

मुनि धीर जोगी सिद्ध सतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।
कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं॥
सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी।
अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी॥
(१।५१ छन्द)

यहाँ भी व्यापक ब्रह्मके *'भगत हित'* अवतरणकी बात कही गयी है।

श्रीरामकथाके आदिवक्ता भगवान् शिव श्रीरामरूपका निरूपण करते हुए कहते हैं कि जो ब्रह्म निर्गुण, निराकार अव्यक्त और अजन्मा है, वही भक्तोंके प्रेमवश होकर सगुणरूप हो जाता है—

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥
(रा०च०मा० १।११६।२)

अन्यत्र भी भगवान् शिवजीकी उक्ति ऐसी ही है—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना॥
अग जगमय सब रहित बिरागी। प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥
(रा०च०मा० १।१८५।५ ७)

ऐसी ही दिव्योक्ति काकभुशुण्डिजीकी है—

जब जब राम मनुज तनु धरहीं। भक्त हेतु लीला बहु करहीं॥
तब तब अवधपुरी मैं जाऊँ। बालचरित बिलोकि हरषाऊँ॥
जब जब अवधपुरीं रघुबीरा। धरहिं भगत हित मनुज सरीरा॥
तब तब जाइ राम पुर रहऊँ। सिसुलीला बिलोकि सुख लहऊँ॥
(रा०च०मा० ७।७५।२-३ ११४।१२-१३)

इस प्रकार दैन्यघाटके वक्ता गोस्वामी तुलसीदासजी कर्मकाण्डघाटके वक्ता याज्ञवल्क्यजी, ज्ञानघाटके वक्ता भगवान् शिवजी तथा उपासनाघाटके वक्ता काकभुशुण्डिजी अपने-अपने श्रोताओकी शंकाको दूर करते हुए एकमतसे उद्घोषित करते हैं कि जो ब्रह्म अगुण अरूप अव्यक्त अज और निराकार है, वह भक्तोके प्रेमके वशीभूत हो निर्गुणसे सगुण अरूपसे रूपवान्, अव्यक्तसे व्यक्त, अजसे देहधारी तथा निराकारसे नराकार हो जाता है।

श्रीरामकथाके आदिरचयिता श्रीवाल्मीकिजी मानसमे ऐसा ही कहते हैं—

नर तनु धरेहु संत सुर काजा।
(रा०च०मा० २।१२७।६)

तीर्थराज प्रयागमे श्रीभरद्वाजजी श्रीभरतजीके सम्मुख श्रीदशरथजीकी सराहना करते हुए कहते हैं कि उनके समान संसारमे कोई दूसरा नहीं है, जिनके प्रेमवश श्रीराम इस धराधामपर प्रकट हुए—

दसरथ गुन गन बरनि न जाहीं। अधिकु कहा जेहि सम जग नाहीं॥
जासु सनेह सकोच बस राम प्रगट भए आइ।
(रा०च०मा० २।२०९।८ दोहा २०९)

श्रीदशरथजीके प्रति ऐसी ही उक्ति कुलगुरु वसिष्ठजीकी भी है—

सुनु नृप जासु बिमुख पछिताहीं। जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं॥
भयउ तुम्हार तनय सोइ स्वामी। रामु पुनीत प्रेम अनुगामी॥
(रा०च०मा० २।४।७-८)

परात्पर श्रीरामको वनमे भूमिशयन करते हुए देख जब निषादराज विषादसे भर गये तो श्रीलक्ष्मणजी ज्ञान विराग और भक्तिपूर्ण वचनोसे श्रीरामके रहस्यको प्रकट करते हुए कहते हैं—

राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल बिकार रहित गतभेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥
भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जग जाल॥
(रा०च०मा० २।९३।७-८ दोहा ९३)

यहाँ भी मनुजतन धारण करनेमे प्रथम हेतु *'भगत'* का हित ही है। इस प्रकार न केवल मानसके चारो दिव्य वक्ता वरन् श्रीवाल्मीकिजी, श्रीभरद्वाजजी श्रीवसिष्ठजी, श्रीलक्ष्मणजी आदि भी ब्रह्म श्रीरामके अवतरणका प्रमुख हेतु 'भक्त-प्रेम' ही मानते हैं।

मानसके इन दिव्य पुरुषोके वचनोकी सम्पुष्टि भगवान् श्रीराम स्वय अपने वचनोसे करते हैं। विभीषणजी जब प्रभु श्रीरामके शरणागत होते हैं तो भगवान् कहते हैं—

तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे॥
(रा०च०मा० ५।४८।८)

यहाँ भगवान् श्रीराम स्पष्ट घोषणा करते हैं कि विभीषण-सरीखे संत जो सगुणोपासक परहितनिरत, नीतिनिरत और द्विजपदप्रेमी हैं, वे मेरे अतिशय प्रिय हैं और मात्र ऐसे

ही सतोके लिये में देह धारण करता हूँ।

मानसके सारे भक्त भक्तवत्सल राघवेन्द्रके प्रति अपनी अभिन्न और विभिन्न प्रेमनिष्ठाका परिचय देते हैं, यथा— श्रीदशरथजीमे 'सत्यप्रेम', श्रीकौसल्याजीमे 'वात्सल्यप्रेम' श्रीअहल्याजीम 'धीरप्रेम', श्रीजनकजीमे 'गूढप्रेम', श्रीसीताजीम 'तत्त्वप्रेम', श्रीभरतजीम 'अगमप्रेम', श्रीलक्ष्मणजीमे 'अनन्य-प्रेम' श्रीकेवटजीमे 'सहजप्रेम', वनवासियोम 'सरलप्रेम', जटायुजीम 'दरसप्रेम', श्रीशबरीजीमे 'परमप्रेम', श्रीविभीषणजीमें 'चरणप्रेम' ओर श्रीहनुमान्‌जीमे 'निर्भरप्रेम' की पूर्ण प्रतिष्ठा है। मानसम ऐसे ही अनेक भक्ताके उद्धारके लिये भगवान् श्रीराम प्रतिबद्ध थे, जिनके कारण वे देह धारण कर धराधामपर आये।

मानसम ब्रह्मके सगुणरूपमे अवतरणकी भूमिका मनु-शतरूपाकी तपस्यामे मिलती है। उनकी भी अभिलापा ऐसी ही है—

सभु बिरचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अस ते नाना॥
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीलातनु गहई॥
जौ यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा॥
(रा०च०मा० १।१४४।६—८)

अर्थात् यह श्रुतिवचन ह कि भगवान् *'भगत हेतु'* दह धारण करते हैं। इसी भावमे उनकी अभिलापा भी पूरी हुई। श्रीराम सगुणरूपमे आये। शाण्डिल्यसूत्र (४९)-म भी कहा गया है—

'मुख्य तस्य हि कारुण्यम्'।

करुणानिधान श्रीरामके अवतारमे उनकी करुणा ही कारणतत्त्व है।

भगवान् शिव मानसके प्रारम्भम श्रीरामस्वरूपका निरूपण करते हुए उनके अवतारणम प्रेमविवशता ही बताते हैं—

सोइ दसरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान॥
(रा०च०मा० १।११८)

यहाँ भी सवसमर्थ सर्वेश्वर *'भगत हित'* दशरथसुत बनकर आते हैं।

श्रीरामचरितमानमके अनेक प्रसगोसे यह सिद्ध होता है कि दशरथनन्दन श्राराम अपने दिव्य चरितसे भक्त-प्रेमके कारण—*'बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना'* (रा०च०मा० १।११८।५) आदिकी निगुण लीला भी करते हैं।

गोस्वामी तुरासीदासजी कहते हैं—

ब्यापक ब्रह्म निरजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद॥
(रा०च०मा० १।१९८)

'प्रेम भगति बस' कोसल्याकी गादम विराजमान श्राराम अद्भुत लीला करते हैं। माता कुलपूज्यकी पूजाके समय बालक श्रीरामको पलनेपर ओर कुलपूज्यके सामने एक साथ देखकर चकित हो गयीं—*'इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा।'* (रा०च०मा० १।२०१।७) यहाँ पलनेके श्रीराम कुलपूज्यके पास पहुँचकर *'बिनु पद चलइ'* की लीला कर रहे हैं। मानसके अन्य अनेक प्रसगासे श्रीरामके *'कर बिनु करम करइ बिधि नाना'* (रा०च०मा० १।११८।५) आदिकी पुष्टि होती है। उत्तरकाण्डमे श्रीकाकभुशुण्डिजी कहते हैं—

भगत हतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप॥
(रा०च०मा० ७।७२ क)

अथात् भगवान् श्रीरामने *'भगत हेतु'* सामान्य नरकी तरह अनेक परम पावन चरित किये। परम पावन चरित वह होता है, जो स्वय पवित्र होता है और दूसरेको पवित्र करता है। भगवान् श्रीरामका यही परम पावन चरित श्रीरामचरितमानसम आद्योपान्त वर्णित है, जिसमे प्रेमकी अद्भुत छटा दिखायी पडती है। भक्तप्रमवश अवतरित ब्रह्म राम वनवासियासे प्रेमपूर्ण सरल-सहजरूपमे मिलते हैं तथा बात करते हैं—

बेद बचन मुनि मन अगम ते प्रभु करुना ऐन।
बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन॥
रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥
(रा०च०मा० २।१३६ २।१३७।१)

अर्थात् भक्तप्रेमके कारण अवतरित श्रीरामके प्रेमपूर्ण परम पावन चरितको प्रेमसे ही जाना जा सकता है, क्योंकि वे प्रेमस्वरूप हैं और उन्ह केवल प्रेम ही प्यारा है। अत ऐस प्रेममय भगवान् श्रीरामके चरणारविन्दोमे प्रेमपूर्ण शरणागतिसे ही जीव परम विश्राम पा सकता है। गोस्वामी तुलसादासजीन श्रीरामके प्राकट्यके बारेमे सच ही कहा है—

अगुन अलेप अमान एकरस। रामु सगुन भए भगत पेम बस॥
(रा०च०मा० ३।२१९।६)

प्रेमकी प्रतिमूर्ति सीताजीका हार्दिक अनुराग

(श्रीसुधाकरजी ठाकुर)

मैथिल-कोकिल विद्यापतिकी अनुवर्तिनी गायिका 'स्नेहलता' का एक विवाहगीत अत्यन्त लोकप्रिय है और अभी भी गाया जाता है—

मोहि लेलकै सजनी मोरा मनुआ पहुनमा राघो।
अब हो पहुनमा राघो सिया के सजनमा राघो॥ मोहि..
नैना मे काजर कारी, ओठो म पान क लाली।
मुस्कैते स्यामल बरनमा, पहुनमा राघो॥ मोहि..
डाड़े बिहौती धोती, चपकन सुन्दर लगनौती।
हाथा म आम के कगनमा पहुनमा राघो॥ मोहि
धन धन किशोरी मोरी, लयलन्हि 'सिनेहिया' जोरी।
तरे तरे तिरछी नजरिया, पहुनमा राघो॥ मोहि

कवयित्री 'स्नेहलता' की कल्पनाम बसी एक सखी दूल्हा श्रीरामकी मोहक छवि देखकर अपनी किशोरीजीको धन्य-धन्य कहकर भावविभोर हो जाती है। किशोरीजी भी अपनी तिरछी नजरासे उनको निहारकर सनाथ हो जाती हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी भी किशोरीजीकी रूपमोहिनी श्यामसुन्दर श्रीरामपर निछावर करते हैं—

ककन किकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन रामु हृदयँ गुनि॥
मानहुँ मदन दुदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही॥

किशोरीजीकी एक सखी श्याम-सलोनेको देखकर पुलकित गात नयनाम जल भरे किशोरीजीके पास आती है। अन्य सखियाने उससे पूछा—

तासु दसा देखी सखिन्ह पुलक गात जलु नैन।
कहु कारनु निज हरष कर पूछहिं सब मृदु बैन॥

तुम इतनी उन्मत्त क्यो? कौन-सी अलौकिक वस्तु प्राप्त हुई है? इसपर सखीने तत्क्षण कहा—

देखन बागु कुअँर दुइ आए। बय किसोर सब भाँति सुहाए॥
स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥

सखीक वचन सुन किशोरीजी साँवरे रूपका सुधापान करन चल पड़ीं, उनके नेत्र अकुला उठे—

तासु बचन अति सियहि सोहाने। दरस लागि लोचन अकुलाने॥
चली अग्र करि प्रिय सखी सोई। प्रीति पुरातन लखइ न कोई॥

नारदजीक वचन स्मरण करके किशोरीजीके मनम पवित्र प्रेम जाग्रत् हो गया—

सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत।
चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत॥

किशोरीजीके रूप-लावण्यसे अभिभूत श्रीराम उनकी सराहना करते हैं—

सुदरता कहुँ सुदर करई। छबिगृहँ दीपसिखा जनु बरई॥
सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहि पटतरौं बिदेहकुमारी॥

किशोरीजीके नेत्र मृगशावककी तरह चचल ही नहीं, सभीत भी है—

देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥
थके नयन रघुपति छबि देखे। पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषे॥
अधिक सनेहँ देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥

किशोरीजी अनन्य अनुरागम डूब जाती हैं, नेत्रमार्गसे उन्हे हृदयमें स्थित करके पलकोको बद कर लेती हैं—

लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी॥

गौरीपूजनको जाते हुए मुड-मुडकर श्याम-सलोनेको बार-बार निहारती हैं—

देखन मिस मृग बिहग तरु फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर छबि बाढइ प्रीति न थोरि॥

धनुष टूटनेपर किशोरीजीकी प्रसन्नताके लिये गोस्वामीजीने दुर्लभ उपमान प्रस्तुत किया—

सीय सुखहि बरनिअ केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जलु स्वाती॥
तन सकोचु मन परम उछाहू। गूढ प्रेमु लखि परइ न काहू॥

विवाहमण्डपमे जानकीजी तथा साँवरे-सलोने कुँअर श्रीरामजीकी छविका अकन गोस्वामीजी नहीं कर पाते। कविकी कल्पना और लेखनी ठहर-सी जाती है—

सिय राम अवलोकनि परसपर प्रेमु काहु न लखि परै।
मन बुद्धि बर बानी अगोचर प्रगट कबि कैसे करै॥

वनगमनके पूर्व जानकीजीकी चिन्ता स्वाभाविक है—

चलन चहत बन जीवननाथू। केहि सुकृती सन होइहि साथू॥
की तनु प्रान कि केवल प्राना। बिधि करतबु कछु जाइ न जाना॥

श्रीराम उन्हे वनके कष्टोको समझाते हुए कहते हैं—
'हसगवनि तुम्ह नहिं बन जोगू' जिसके उत्तरमे सीताजीका

सटीक उत्तर श्रीरामको निरुत्तर कर देता है—

मै पुनि समुझि दीखि मन माहीं। पिय बियोग सम दुखु जग नाहीं॥

प्राननाथ करुनायतन सुदर सुखद सुजान।

तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु सुरपुर नरक समान॥

जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥

तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू॥

पतिकी अनुपस्थितिमे भोग—रोगके समान, गहने भारस्वरूप और ससार नरककी पीडाके समान है। पुरुषके बिना नारी जलविहीन सरिताके समान है—

जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥

नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। सरद बिमल बिधु बदनु निहारे॥

श्रीराम उन्हे अपने सग ले जानेमे हिचक रहे हैं किन्तु वनके कठोर क्लेशो और कुटुम्बके साथ रहनेके नाना प्रलोभनाको सुनकर भी सीता अपने निश्चयपर अडिग रहती हैं। अध्यात्मरामायण (२।४।७८-७९)-के अनुसार सीताजीने स्पष्ट कह दिया—

अतस्त्वया गमिष्यामि सर्वथा त्वत्सहायिनी॥

यदि गच्छसि मा त्यक्त्वा प्राणास्त्यक्ष्यामि तेऽग्रत ।

यदि आप मुझे छोडकर जाते हैं तो में अभी आपके सामने ही अपने प्राणाका त्याग करूँगी—

ऐसेउ बचन कठोर सुनि जौं न हृदउ बिलगान।

तौ प्रभु बिषम बियोग दुख सहिहहिं पावँर प्रान॥

अन्तत सीताजीके प्रेमकी विजय हुई। वे प्रेमकी प्रतिमूर्ति हैं। उन्हे श्रीरामसे अलग रखनेकी कल्पना ही व्यर्थ है। वनमार्गमे थककर वृक्षकी सुखद छायामे श्रीरामको ठहरनेके निवेदनका गोस्वामीजीने प्रीतिपूर्ण शब्दामे इस प्रकार वर्णन किया है—

जलको गए लक्खनु, है लरिका,
परिखौ, पिय! छाहँ घरीक ह्वै ठाढे।
पोंछि पसेउ बयारि करौ,
अरु पाय पखारिहौं भूभुरि-डाढे॥

(कवितावली २।१२)

अपने प्रियतमका पसीना पोंछना विश्राम और गर्म वालुकासे तप्त पैरोंको धानेका आग्रह सीताजीके अतिशय प्रेमका परिचायक है। ग्रामवधुएँ सीताजीसे प्रेमपूर्वक पूछ ही बैठीं—

कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे॥

ग्रामवधुआका इस भाले-भाले प्रश्नका उत्तर—

सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लखनु लघु देवर मोरे॥

—इस प्रकार देकर ग्रामवधुआकी तरह अपना चन्द्रमुख आँचलसे ढककर नारीसुलभ सकेतमात्रसे उन्हें आनन्दित कर दिया—

बहुरि बदनु बिधु अचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥

(रा०च०मा० २।११७।६)

तिरछे करि नैन, दै सैन तिन्है समुझाइ कछू, मुसुकाइ चली।

(कवितावली २।२२)

सीताजीका अपने साँवरे सलोनेके प्रति समर्पण उपर्युक्त कथनमे मुखर हो उठा है। गोस्वामीजीने अद्भुत चित्र प्रस्तुत किया है।

अशोकवाटिकामे सीताजी अपने श्रीरामको क्षणभरके लिये भी भूल नहीं पातीं। विरहविदग्धा श्रीसीताजी दोनों हाथ जोडकर त्रिजटासे अनुनय करती हैं—

तजौं देह करु बेगि उपाई। दुसह बिरहु अब नहिं सहि जाई॥

आनि काठ रचु चिता बनाई। मातु अनल पुनि देहि लगाई॥

अपनी प्रीतिको सत्य करनेके लिये वे आकाशके तारो और अशोकवृक्षसे अग्निकी भिक्षा माँगती हैं—

देखिअत प्रगट गगन अगारा। अवनि न आवत एकउ तारा॥

पावकमय ससि स्रवत न आगी। मानहुँ मोहि जानि हत भागी॥

सुनहि बिनय मम बिटप असोका। सत्य नाम करु हरु मम सोका॥

वे हनुमान्‌जीसे पूछती हैं—

कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदु गाता॥

श्रीहनुमान्‌जीके मुखसे प्रभु श्रीरामका यह सदेश मिलनेपर—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥

श्रीसीताजी प्रेममग्न होकर देहकी सुध-बुध भूल जाती हैं—

प्रभु संदेसु सुनत बैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही॥

लङ्का-दहनके पश्चात् चूडामणि देते हुए हनुमान्‌जीको कहती हैं—

कहेहु तात अस मोर प्रनामा। सब प्रकार प्रभु पूरनकामा॥

दीन दयाल बिरिदु सभारी। हरहु नाथ मम सकट भारी॥

श्रीरामकी प्रियतमा सीताजीका वर्णन वाल्मीकीय रामायणके सुन्दरकाण्डमे अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। रावणके सम्मुख सीताजी केलेके पत्तेकी तरह काँप रही हैं। उनकी देह सूखकर काँटा बन चुकी है। आँखासे अनवरत अश्रुधारा प्रवाहित हो रही

है। मन्त्रमुग्धा सर्पिणीकी तरह उनका शरीर छटपटा रहा है। उपवास, शोक, चिंता और भयके कारण वे मात्र जल ग्रहण कर अपने प्राणोको सजोये हैं। रावणके अनेक प्रलोभनोका उत्तर वे निडर होकर देती हैं—मैं पतिव्रता हूँ, उच्च कुलकी नारी हूँ, सती हूँ। मैं सूर्यकी प्रभाकी भाँति अपने स्वामीसे अलग नहीं हो सकती। श्रीरामजी शरणागतवत्सल हैं, वे तुझे क्षमा कर देंगे—

विदित सर्वधर्मज्ञ शरणागतवत्सल ।
तेन मैत्री भवतु ते यदि जीवितुमिच्छसि॥
प्रसादयस्व त्व चैन शरणागतवत्सलम्।

(वा०रा० ५।२१।२०-२१)

रावण-वधके पश्चात् अग्निपरीक्षाके लिये प्रस्तुत सीताजी प्रज्वलित अग्निका प्रणाम करते हुए कहती हैं—

यथा मे हृदय नित्य नापसर्पति राघवात्।
तथा लोकस्य साक्षी मा सर्वत पातु पावक ॥

(वा०रा० ६।११६।२५)

'यदि मेरा हृदय कभी एक क्षणके लिये भी श्रीरघुनाथजीसे दूर न हुआ हो तो सम्पूर्ण जगत्के साक्षी अग्निदेव मेरी सब ओरसे रक्षा करे।'

करनेपर अग्निदेव स्वय प्रकट हुए। सीताजीको श्रीरामके प्रति अर्पित करते हुए बोले—

राम वैदेही पापमस्या न विद्यते॥
बुद्ध्या न चक्षुषा।
त्वामत्यचरच्छुभा॥

विशुद्धभावा निष्पापा प्रतिगृह्णीष्व मैथिलीम्।

(वा०रा० ६।११८।५-६ १०)

'श्रीराम! यह आपकी धर्मपत्नी विदेहराजकुमारी सीता है। इसमे कोई पाप या दोष नहीं है। उत्तम आचारवाली इस शुभलक्षणा सतीने मन, वाणी, बुद्धि अथवा नत्रोद्वारा भी आपके सिवा किसी दूसरे पुरुषका आश्रय नहीं लिया। इसने सदा सदाचारपरायण आपका ही आराधन किया है। इसका भाव सर्वथा शुद्ध है। यह मिथिलेशनन्दिनी सर्वथा निष्पाप है। आप इसे सादर स्वीकार कर।'

सीताजीको निर्जन वनम छोडकर लक्ष्मणजी जा रहे हैं। श्रीसीताजी फूट-फूटकर रोती हुई अपना सदेश श्रीरामजीको भेजती हैं—

अह तु नानुशोचामि स्वशरीर नरर्षभ॥
यथापवाद पौराणा तथैव रघुनन्दन।
पतिर्हि देवता नार्या पतिर्बन्धु पतिर्गुरु ॥
प्राणैरपि प्रिय तस्माद् भर्तु कार्य विशेषत ।

(वा०रा० ७।४८।१६—१८)

'पुरुषोत्तम! मुझे अपने शरीरके लिये कुछ भी चिन्ता नहीं है। रघुनन्दन! जिस तरह पुरवासियोके अपवादसे बचकर रहा जा सके, उसी तरह आप रह। स्त्रीके लिये तो पति ही देवता है, पति ही बन्धु है, पति ही गुरु है। इसलिये उसे प्राणोंकी बाजी लगाकर भी विशेषरूपसे पतिका प्रिय करना चाहिये।'

पाताल-प्रवेशके पूर्व अश्वमेधयज्ञके प्रसगमें महर्षि वाल्मीकि जनताके समक्ष सीताकी पवित्रताका प्रमाण देते हुए कहते हैं—'मैंने हजारो वर्षोंतक तप किया है, मैं उस तपकी शपथ खाकर कहता हूँ कि यदि सीता अपवित्र है तो मेरे तपके सम्पूर्ण फल नष्ट हो जायँ। मैं अपनी दिव्यदृष्टि और ज्ञानदृष्टिसे विश्वास दिलाता हूँ कि सीता परम शुद्धा है।'

सीताजीकी स्तुति करते हुए गोस्वामीजी नतमस्तक होकर कहते हैं—

उद्भवस्थितिसहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीता नतोऽह रामवल्लभाम्॥

श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की॥

प्रेममूर्ति श्रीभरतजीका भ्रातृ-प्रेम

(स्वामी श्रीनर्मदानन्दजी सरस्वती 'हरिदास)

पुजारीके बिना मूर्तिकी क्या महत्ता? श्रोताके बिना वक्ताका क्या प्रयोजन? शिष्यके बिना गुरुका क्या अर्थ? भक्तके बिना भगवान्‌का क्या विशेषत्व? इसी प्रकार बिना भक्तराज श्रीभरतजीके चरित्रके मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका रामत्व भी पूर्ण तथा प्रकाशित नहीं होता। भरतजीका अबाध समर्पण, अपूर्व निष्ठा एव अनन्य प्रेम किवा भक्तिभाव ही भगवान् श्रीरामके अलौकिक, अद्वितीय और अभिराम रामत्वका पोषक है, उन्हींके पूर्ण समर्पणने जन-जनम रामत्वकी दिव्य भावना जगाकर उन्ह राममय बना दिया। श्रीराम, लक्ष्मण एव जानकीके वनगमनके पश्चात् जिस समय अयोध्याकी प्रजा किंकर्तव्यविमूढ अचेत-सी हो रही थी, भरतजीने आकर उसमें फिरसे एक नयी राम-चेतनाका सञ्चार कर दिया।

परम पूज्य कुलगुरु श्रीवसिष्ठजीके अत्यन्त आग्रह करनेपर भी भरतजीद्वारा सर्वोपरि ऐश्वर्यशालिनी अयोध्याके देदीप्यमान राजसिहासनके परित्याग एव श्रीरामके प्रति असीम अनुरागने जन-जनके मनम राम-प्रेमका विशेष प्रसार कर दिया। सभीके हृदयमें श्रीरामसे मिलनकी तीव्र आकाङ्क्षा जाग उठी। सब-के-सब भक्तराज भरतके नेतृत्वमे चित्रकूट-स्थित श्रीरामजीसे मिलने चल देते हैं, उस समय भरतजी किस तरह जा रहे हैं श्रीगोस्वामीजीके शब्दोमे देखिये—

> चलत पयाद खात फल पिता दीन्ह तजि राजु।
> जात मनावन रघुबरहि भरत सरिस को आजु॥
>
> (रा०च०मा० २।२२२)

—और इस महान् त्यागके पश्चात् अनुपम प्रेमका जो स्वरूप है, उसका दर्शन तीर्थराज प्रयागवासियाको कैसे हुआ? देखिये—

> भरत तीसरे पहर कहँ कीन्ह प्रबेसु प्रयाग।
> कहत राम सिय राम सिय उमगि उमगि अनुराग॥
>
> (रा०च०मा० २।२०३)

प्रेममूर्ति भरतजी *'राम सिय' 'राम सिय'* कहते हुए अनुरागकी उमङ्गमें उमगे पड रहे हैं। यहीं वह प्रसङ्ग आता है, जिससे ज्ञात होता है कि भगवान् श्रीरामके रामत्वकी लोक-प्रतिष्ठाम भैया भरतलालजीका कितना बडा हाथ है, देखिये—

श्रीभरद्वाज मुनिका आश्रम आ गया है। मुनिवर भरद्वाजजी भरतजीका दर्शन प्राप्त करते हैं, तब उनके मुखारविन्दसे सहसा निकल पडता है—

> सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा॥

अनेक योग, साधन, आराधन जप, तप व्रत और स्वाध्यायका यह सुन्दर फल मिला कि श्रीराम-लक्ष्मण-सीताके दर्शन प्राप्त हुए। तत्पश्चात् वे कहते हैं—*'तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥'* (रा०च०मा० २।२१०।६) उसी फलका यह फल हुआ कि तुम्हारा (भरतजीका) दर्शन प्राप्त हुआ। श्रीप्रयागराजके साथ हमारा बडा भारी सौभाग्य है। प्रश्न यह है कि भरतलालजीके दर्शनम श्रीराम-लक्ष्मण-जानकीके दर्शनकी अपेक्षा क्या विलक्षणता है? वस्तुत त्यागी, तपस्वी भरद्वाज मुनिने श्रीराम-लक्ष्मण-जानकीका दर्शन प्राप्त तो किया किंतु उस दर्शनका पूर्ण रस एव आनन्द उन्ह भक्तशिरोमणि परम प्रेमस्वरूप भैया भरतलालजीके दर्शनसे ही प्राप्त हो सका। जिस समय उन्ह श्रीरामक प्रेमम सराबोर नहीं! नहीं!! जिनके रोम-रोमसे श्रीराम प्रेमका अनिर्वचनीय, अलौकिक अनुपम प्रकाश छिटका पड रहा था ऐसे भरतजीके दर्शन हुए उस समय उन्हे उनके श्रीराम-प्रेमकी उच्चतम स्थिति एव आनन्दका ज्ञान हुआ। भरतजीका दिव्य प्रेमभाव उनके निर्मल अन्त करणमे प्रविष्ट होकर वहाँ भी हलचल मचाने लगा और उस भव्य भावोत्कर्षमे उन्हे भैया भरतलालके साथ वह श्रीराम-लक्ष्मण-जानकीकी मधुर मनोहर मूर्ति अद्भुत आनन्द-आभा-आलोक-आवेष्टित दीखने लगी। नि सदेह भरतजीके भव्य भक्ति-प्रेममय स्वरूपने ही एक महान् तपस्वीसे लेकर जन-जनके मनमे राम-चेतनाका सञ्चार किया। आगे कहा गया है कि—

> जड़ चेतन मग जीव घनेरे। जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥
> ते सब भए परम पद जोगू। भरत दरस मेटा भव रोगू॥
>
> (रा०च०मा० २।२१७।१-२)

प्रेमस्वरूप भरतका दर्शन करके ही लोग भव-रोगसे छुटकारा पाकर परम पदके अधिकारी हो गये। 'मानस' मे ही अन्यत्र तुलसीदासजी लिखते हैं—

राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी॥

(रा०च०मा० ७।२१।४)

और यह रामभक्ति मिलती कैसे है? ऐसे कि '*भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥*' (रा०च०मा० ३।१६।४) यही कारण है कि संतशिरोमणि भक्तप्रवर श्रीभरतलालके दर्शनसे जड-चेतन—सभीम तत्काल रामभक्तिकी प्रतिष्ठा हो गयी और उन सभीको परमपदका अधिकार प्राप्त हो गया। इस प्रकार जन-जनके मनमन्दिरम श्रीभरतजीने श्रीरामकी प्रतिष्ठा कर भगवान् श्रीरामके रामत्वको सार्थक किया।

चौदह वर्षकी अवधि बीतनेमे जब एक दिन शेष रह गया तो प्रभु श्रीरामभद्रने अञ्जनीकिशोरको भैया भरतलालका हाल जाननेके लिये अवधम भेजा। हनुमान्‌जीने वहाँ जाकर श्रीभरतजीको जिस रूपमे देखा, उसे देखकर उन्हे लगा कि यह तो ऋषिस्वरूपमे श्रीराम-प्रेम ही मानो मूर्तिमान् होकर विराजमान है। यथा—

बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात॥

(रा०च०मा० ७।१ (ख))

यह पूर्ण भक्तिका स्वरूप श्रीरामानुरागियोको रामभक्तिके उत्कृष्ट रूपका दर्शन कराता हुआ उत्तरोत्तर अपनी भक्ति विवर्धमान करनेकी प्रेरणा प्रदान करता है। श्रीभरतजीको मूर्तिमान् प्रेमस्वरूप बतलाया गया है। भरद्वाजजीके शब्दोमे—'*तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु राम सनेहू॥*' श्रीरामचरितमानसका यह परम पावन भरत-चरित्र-दर्शन भक्त सुजनोको यही प्रेरणा प्रदान करता है—

अष्टयाम यह लगन लगी हो, मिटे चाह अभिराम नहीं।
मधुर मिलन कब होय नाथ का, पाय हृदय विश्राम नहीं।
गद्‌गद कंठ अश्रु दृग बरसे, व्याकुल रटन पपीहा-सी,
छूट जाय सब कुछ पर छूटे, रसना से हरि नाम नहीं॥

—और जब ऐसी राम-लुभावनी लगन लगेगी तो परिणाम भी कितना सुन्दर निकलेगा, देखिये—

पूर्ण होय सुख स्वप्न मिलन का, रह दूर श्रीराम नहीं।
पा पद-पद्म-पराग प्रसादी, मन अलि तजे सुधाम नहीं।
हो नामांकित स्वाँस सुधामय, प्रति पल कहे पुकार यही,
छूट जाय सब कुछ पर छूटे, रसना से हरिनाम नहीं॥

संसारमे रहकर भी निरासक्त, निर्लेप रहनेका आदर्श भरत-चरित्रसे प्राप्त होता है। गोस्वामीजी लिखते हैं—

अवध राजु सुर राजु सिहाई। दसरथ धनु सुनि धनदु लजाई॥
तेहिं पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा॥

(रा०च०मा० २।३२४।६-७)

सुरेन्द्रके राज्य और कुबेरके धनको भी लज्जित करनेवाले राज्य-वैभवके मध्य भी भरतजी ऐसे रहते हैं, जैसे चम्पाक बगीचेम रहकर भी भौंरा चम्पाके पुष्पामे दूर ही रहता है। अयोध्याके अतिशय रम्य राज्य-भोगोसे विरक्त रहकर वे सर्वदा भगवान् श्रीराम राघवेन्द्रके चारु चरणारविन्दोंके चिन्तनमें ही तल्लीन रहते हुए मधुर मनभावन श्रीरामनामामृतका निरन्तर पान करते रहते हैं। इसीलिये भुवन-पावन श्रीभरत-चरित्रके अन्तमे इसकी फलश्रुति इस प्रकार बतायी गयी है—

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु अवसि होइ भव रस बिरति॥

(रा०च०मा० २।३२६)

संत सचिव सुमन्त्रका श्रीरामप्रेम

(डॉ० श्रीदादूरामजी शर्मा एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

सचिव सुमन्त्रजी भगवान् श्रीरामकी नर-लीलाके मुख्य सहचर रहे हैं। ये अयोध्या-सम्राट् महाराज दशरथके बालमित्र सखा तथा निजी सारथि थे। कोसलसाम्राज्यके महामन्त्री भी श्रीसुमन्त्रजी ही थे। ये सभी राज्य-सेवकोंके अध्यक्ष भी थे। महाराज दशरथ राज्यके सभी महत्त्वपूर्ण कार्य इनकी ही सम्मतिसे किया करते थे। श्रीराम तथा महारानियाँ भी सुमन्त्रजीका यथोचित सम्मान करती थीं तथा सुमन्त्रजीका भी श्रीरामके प्रति अत्यन्त प्रेम था। भगवान् श्रीरामके वनगमनके अवसरपर सम्पूर्ण प्रकृति—क्या स्वजन क्या परिजन, क्या प्रजाजन, क्या चेतन-अचेतन प्राणिसमूह—सभी शोकाभिभूत होकर हाहाकार कर उठे थे।

उन्हीं श्रीरामके प्रिय चार अश्वोंको रथमें जोतकर उसपर लक्ष्मण और सीताके साथ पुरजन-प्रियजनोंकी आशा-आकाङ्क्षाओं माताओंके अगाध स्नेह तथा महाराज दशरथके प्राणोंको ही मानो श्रीरामरूपमें आरूढ कर सुमन्त्र वनको लिये जा रहे थे। अयोध्याकी उस विषम परिस्थितिको सँभालनेका गुरुतर उत्तरदायित्व एकमात्र सुमन्त्रपर ही था। वे महाराजके अंतरङ्ग सखा थे और श्रीराम उन्हें पिताकी तरह सम्मान देते थे।

महाराजको आशा थी कि उनके सखा सुमन्त्रकी निरपेक्ष स्नेहासिक्त वाणी उनके प्राणधन श्रीरामको लौटा लानेमें समर्थ हो जायगी, किंतु हाय री विडम्बना! सत्यसन्ध श्रीराम नहीं लौटे नहीं ही लौटे। सुमन्त्रके समस्त प्रयत्न निष्फल हो गये और वे गङ्गाजीके तटपर निश्चेष्ट खड़े-खड़े सजल नेत्रोंसे श्रीराम-लक्ष्मणको बड़के दूधसे मुनियोंकी तरह जटाएँ बनाते तथा नावपर बैठकर गङ्गापार होते देखते रहे। वे सोचने लगे अब उन्हें सूना रथ लेकर लौटना है जिसे देखकर सम्पूर्ण अयोध्यावासी हाहाकार कर उठेंगे, माताएँ मूर्च्छित होकर गिर पड़ेंगी और उनके प्राणप्रिय सखा महाराज दशरथ तो तड़प-तड़पकर अपने प्राण ही त्याग देंगे। परसंतापसे सहज ही द्रवीभूत हो उठनेवाला उनका नवनीतसे भी कोमल संतहृदय व्यग्र हो उठा। अपने प्राणप्रिय मित्रके भावी विनाशकी आशंकासे वे कम्पित हो गये। श्रीरामको लौटा सकनेकी असमर्थता, स्वयं रिक्त रथ लेकर अयोध्या लौट जानेकी विवशता और वहाँके निषादोंके अदर्शनीय दृश्यकी कल्पनामात्रने उन्हें किंकर्तव्यविमूढ कर दिया।

श्रीराम गङ्गा पार कर दृष्टिसे ओझल हो गये। सुमन्त्र उसी दिशामें खोये-से, लुटे-से पाषाणप्रतिमा बने अपलक नेत्रोंसे देखते रहे। उनके हृदयोदधिमें कैसा विक्षोभ हो रहा था, बडवाग्निकी तरह कितना असह्य अन्तर्दाह था वहाँ! वे खाली हाथ लौटने लगे उस वणिक्की तरह जिसने अपनी सारी पूँजी गँवा दी हो—

फिरेउ बनिक जिमि मूर गवाँई॥

रथ हाँकते हैं, किंतु घोड़े पीछे अयोध्याकी ओर खाली रथ लेकर लौटना नहीं चाहते। वे बार-बार श्रीरामकी ओर देखकर हिनहिनाते हैं—

रथु हाँकेउ हय राम तन हेरि हेरि हिहिनाहिं।

जिनके विरहमें पशु भी इतने विकल हो रहे हैं, उनके बिना प्रजाजन और माता-पिता कैसे जियेंगे—

जासु वियोग बिकल पसु ऐसे। प्रजा मातु पितु जिइहहिं कैसे॥

—इसकी कल्पनामात्रसे उनका मन सिहर उठा—

राम राम सिय लखन पुकारी। परेउ धरनितल ब्याकुल भारी॥

श्रीरामवियुक्त अश्वोंकी शोकाकुलता उनकी व्याकुलताको और भी घनीभूत करने लगी—

देखि दखिन दिसि हय हिहिनाहीं। जनु बिनु पंख बिहग अकुलाहीं॥

नहिं तृन चरहिं न पिअहिं जलु मोचहिं लोचन बारि।

निषादने उन्हें किसी तरह रथपर बैठा तो दिया किंतु वे रथ हाँक नहीं पाते। उनके हृदयमें श्रीरामके विरहकी पीर रह-रहकर कसक रही है, इसलिये वे स्वयंको सँभाल नहीं पाते। घोड़े भी श्रीरामके वियोगमें तड़प रहे हैं, रथ लेकर चल नहीं पाते, मानो किसीने वनके हरिणोंको लाकर रथमें जोत दिया हो। वे आगे बढ़नेका प्रयत्न करते हैं, किंतु लड़खड़ाकर गिर पड़ते हैं और पीछे मुड़कर देखते हैं कि कहीं उनके प्राणधन आ तो नहीं रहे हैं! जो श्रीराम लक्ष्मण और सीताके नाम लेता उसकी ओर वे हिकर-हिकर कर आशाभरी अस्फुट ध्वनिके साथ ताकने लगते—

सोक सिथिल रथ सकइ न हाँकी। रघुबर बिरह पीर उर बाँकी॥
चरफराहिं मग चलहिं न घोरे। बन मृग मनहुँ आनि रथ जोरे॥
अढुकि परहिं फिरि हेरहिं पीछे। राम बियोगि बिकल दुख तीछें॥
जो कह रामु लखनु बैदेही। हिंकरि हिंकरि हित हेरहिं तेही॥

(रा०च०मा० २।१४३।४—७)

जब साधारण अनुभूति रखनेवाले तिर्यक्-योनिभूत मूक पशुओंकी श्रीरामके वियोगमें यह दशा हो रही थी, तब अनुभूतिप्रवण सचेतन मानवकी मनोदशाका क्या कहना? विशेषरूपसे उन सरल हृदय संत सुमन्त्रकी मनोदशा तो और भी वर्णनातीत है, जिन्हें इस घटना-चक्रका नियामक तथा सूत्रधार बनाकर भेजा गया हो।

हर्ष-विषादकी अतिशयता हमें निश्चेष्ट और मूक बना देती है। दूसरोंके काम न आ सकने या किसी भी रूपमें उनके विषाद (यहाँ तो विनाशकी ही पूरी आशंका है)-का कारण बननेपर प्रकृति-सुकुमार संतहृदयमें कैसा अनुताप, कितना पश्चात्ताप कैसी ग्लानि होती है उसकी अनुभूति तो अपने हृदयकी निर्मलता, सरलता और उदारतासे उस उच्चतम भाव-भूमिपर प्रतिष्ठित कोई तुलसी-जैसा महामानव ही कर सकता है। सुमन्त्र श्रीरामसे वियुक्त होकर अपने जीवनको धिक्कारने लगे—

अरे! यह निकृष्ट शरीर तो एक दिन कालके गालमें ही जानेवाला है, फिर आज श्रीरामके बिछुड़ते ही निष्प्राण होकर इसने अमर कीर्ति क्यों न प्राप्त की? मेरे प्राण अपयश और पापके भागी बन गये, क्योंकि लोग मुझे देखकर धिक्कारभरे स्वरमें कहेंगे कि यही वह सुमन्त्र है जो हमारे प्राणप्यारे श्रीरामको वनमें छोड़ आया। महाराजकी मृत्युका पाप और कलंक तो मेरे माथेपर होगा ही। फिर ये प्राण निकल क्यों नहीं जाते? किस सुखकी आशामें अटके हैं ये? हाय! यह हृदय टुकड़े-टुकड़े क्यों नहीं हो जाता? अयोध्या जाकर मैं क्या देखूँगा, कौन-सा सुख लूटूँगा? यही न कि जब श्रीरामके वियोगमें व्याकुल अयोध्याके नर-नारी, माताएँ सुमित्रा और कौसल्या दौड़-दौड़कर मुझसे श्रीरामके बारेमें पूछेंगी तो मैं हृदयपर वज्र रखकर उन्हें यह मर्मघाती उत्तर दूँगा कि मैं श्रीराम लक्ष्मण और सीताको वनमें सकुशल पहुँचा आया! और महाराज! उनका जीवन तो श्रीरामपर ही आश्रित है। इस समाचारसे संज्ञाशून्य होकर वे तिनकेके समान अपने शरीरको छोड़ देंगे। आह! मुझ अधमको बार-बार धिक्कार है, जिसका हृदय निकृष्ट-घृणित कीचड़की भी समता नहीं कर पाया, क्योंकि यह भी तो अपने प्रियतम जलके अलग होते ही फट जाता है, खण्ड-खण्ड हो जाता है। मेरा यह शरीर पापी जीवको नरकमें यातना भोगनेके लिये दिये गये यातना-शरीर-सा जान पड़ रहा है, जो असह्य प्राणघाती यातनाएँ तो भोगता है, किंतु निष्प्राण नहीं होता—

हृदउ न बिदरेउ पंक जिमि बिछुरत प्रीतमु नीरु।
जानत हौं मोहि दीन्ह बिधि यहु जातना सरीरु॥

(रा०च०मा० २।१४६)

सुमन्त्रकी शोकातुरता, पश्चात्ताप और ग्लानि इतनी घनीभूत है मानो वे कोई जघन्य कृत्य करके लौट रहे हों। इसीलिये वे किसीको अपना मुँह दिखानेका भी साहस नहीं कर पाते, समाचार सुनानेकी बात तो दूर रही। एक एकान्त वृक्षके नीचे बैठकर वे दिन बिताते हैं और रातके अन्धकारमें अयोध्यामें प्रवेश करते हैं ताकि कोई उन्हें देख न पाये—

बैठि बिटप तर दिवसु गवाँवा। साँझ समय तब अवसरु पावा॥
अवध प्रबेसु कीन्ह अँधिआरें। पैठ भवन रथु राखि दुआरें॥

(रा०च०मा० २।१४७।४-५)

काश! सुमन्त्र श्रीरामको लौटा पाते! काश, वे अपने मित्रके प्राणोंकी रक्षा कर सके होते!

पर दैवकी प्रबलताको कौन रोक सकता है! महाराज दशरथजीने शरीर त्याग दिया। अयोध्या अनाथ हो गयी। ऐसेमें सुमन्त्र धैर्य धारण न करें तो उनके हृदयधन श्रीरामका साम्राज्य व्यवस्थित कैसे रहे? अत्यन्त धैर्यपूर्वक उन्होंने चौदह वर्षतक सम्पूर्ण राज्य-व्यवस्था सँभाली। अन्तमें अयोध्याके स्वामी श्रीराम जब अयोध्या लौटे तब उनका राज्याभिषेक सम्पन्न कराया।

प्रेमी सुमन्त्रजीके भाग्यकी क्या सराहना की जाय! जिन्हें श्रीरामने सदा पिताकी भाँति ही आदर दिया और उन्हींको अपने साम्राज्यके महामन्त्रीपदपर प्रतिष्ठित किया। सुमन्त्रजीका प्रेम अमर है।

लीला-दर्शन—

श्रीकृष्णका प्रथम गोचारण-महोत्सव

उस समयकी बात है जब गोपेन्द्र नन्दका व्रजपुर बृहद्वनमे बसा था। श्रीकृष्णचन्द्र वृन्दाकानन नहीं पधारे थे। कलिन्दकन्याके उस पार ही लीलारसका प्रवाह सीमित था। पुर-सुन्दरियाके प्राङ्गणम ही वे खेला करते थे। स्वभावमे चञ्चलता अवश्य आ चुकी थी।

अचानक एक दिन जब भुवनभास्कर वृक्षास ऊपर उठ आये थे वे खेलते हुए अपने गोष्ठम जा पहुँचे। वहाँ अभी गोदोहन समाप्त नहीं हुआ था। पङ्क्तिबद्ध गायाके थनासे क्षरित दुग्धका 'घर-घर' नाद उन्हे आकर्षित करने लगा। कौतूहलभरी दृष्टिसे देखते हुए वे दूर—बहुत दूरतक चले गये। एक वृद्ध गोप गाय दुह रहा था। साथ ही मन्द-मन्द स्वरम उनके ही बालचरितके गीत उसके कण्ठ-निर्झरसे झर-से रहे थे। पर अब गाय सहसा चिहुँक उठी। नीलसुन्दरको देखकर हम्बारव करने लग गयी। वृद्ध गोपने भी पीछेकी ओर दृष्टि डाली। नन्दनन्दन उसे भी दीख गये। फिर तो गोदोहन हो सके, यह सम्भव ही कहाँ था। बस, निर्निमेष नयनासे वह नन्दनन्दनकी ओर देखता ही रह गया।

यह गोप व्रजराजका बालसखा है। ब्याह इसने किया नहीं। आजीवन नन्दरायके साथ ही इसके दिन बीते तथा व्रजेशने भी आदर्श प्रेम निभाया। मित्रके रूपमे तो क्या, सदा अपने ज्येष्ठ भ्राताके समान ही वे इसे सम्मानका दान करते आये हैं। पर नन्दनन्दनके जन्म-दिनसे ही यह अर्द्धविक्षिप्त-सा रहने लगा था और व्रजेन्द्रको इसकी स्नेहोचित चिन्ता-सी लग गयी थी। गोसेवाकार्य तो इसके द्वारा ज्यो-के-त्यो सम्पन्न हो जाते थे। पर इसके अतिरिक्त उसे अपने शरीरका भान नहीं-सा ही है ऐसा ही लगता था। अस्तु, नन्दनन्दन उसीके पास आकर बैठ गये। इतना ही नहीं, अपने हस्तकमलासे उसके स्कन्ध एव चिबुकका स्पर्श कर बोले—'ताऊ! मुझे भी दुहना सिखा दो।'

वृद्धके कर्णपुटामे पीयूषकी धारा बह चली। श्रीकृष्णचन्द्रके इस मधुभरे कण्ठस्वरका उन्मादी प्रभाव देखन ही योग्य था। दूधसे आधी भरी हुई दाहनी हाथोंसे छूटकर पृथ्वीपर जा गिरी तथा नन्दनन्दनको भुजपाशम बाँधकर वह गाप बेसुध हो गया! और जब चेतना आयी—कहना कठिन है कि बाह्यदृष्टिम दा ही क्षण बीतनेपर भी सचमुच वह कितने समयके पश्चात् जागा—उस समय भी उसकी प्रेमविवश आँख झर रही थीं तथा श्रीकृष्णचन्द्र अपनी छोटी-छोटी अँगुलियासे उसके नेत्र पोछते हुए कह रह थे—'क्यों ताऊ! मुझे नहीं सिखा दोगे?'

किंतु आज तो अबतक सभी गौएँ दुही जा चुकी थीं। गोपक ध्यानमें एक भी गाय दुहनेको अवशिष्ट नहीं। गोदोहनकी शिक्षा आज सम्भव नहीं। गद्गद कण्ठसे गोपने कहा—'मेरे लाल! कल सिखा दूँगा।' अब भला, श्रीकृष्णचन्द्रके उल्लासका कहना ही क्या था! आनन्दविह्वल-स हुए वे बोल उठे—'ताऊ! बाबाकी सौंह है, कल अवश्य सिखला देना भला! मेरे आनतक कम-से-कम एक गाय बिना दुहे अवश्य रखना।' गोपने नीलसुन्दरके इस प्रेमित आदेशका कोई उत्तर न दिया। उसकी वाणी अश्रुके आवेशम रुद्ध थी। स्थिर पलकोंसे वह देख रहा था अपने प्राणधन नन्दनन्दनकी ओर ही। श्रीकृष्णचन्द्र पुन बोले—'ताऊ! अब तो मैं सयाना हो गया! अपनी गायें अपने-आप दुह लूँगा।' गोप प्रस्तरमूर्तिकी भाँति निश्चल रहकर सुनता जा रहा था और श्रीकृष्णचन्द्र तनिक-सा रुककर फिर कहने लगे—'अच्छा, ताऊ! आज सध्याको सिखा दो तो कैसा रहे?' तब तो वृद्ध गोपके प्राण बरबस मचल-से उठे नीलसुन्दरके इस प्रस्तावका उत्तर दे देनेके लिये। किंतु ओह! उमडे हुए स्नेहाश्रुको भेदकर वाणी कण्ठसे बाहर आ जो नहीं पाती थी। विचित्र-सी दशा हो गयी उसकी। इतनेमें व्रजराजनन्दनने चटपट स्वय ही अपना समाधान कर लिया वे बोल उठे—'नहीं ताऊ! सायकाल तो मैया आने नहीं देगी, कल ही सिखा देना। कल तुम गोशाला गाय दुहने जब आओ, तब मुझे पुकार लेना।'—यह कहकर वे कुछ सोचने-से लग गये तथा फिर बोले—'नहीं, पुकारनेकी आवश्यकता नहीं मैं अपने-आप ही आ जाऊँगा, पर तुम भूलना मत ताऊ!'—इस बार अपनी सारी शक्ति बटोरकर गोपने उन्हे पुचकारमात्र दिया। पुचकारके द्वारा ही उसने सिखा देनेकी स्वीकृति दे दी और श्रीकृष्णचन्द्र

अत्यन्त उल्लसित होकर लौट आये—

धेनु दुहत देखत हरि ग्वाल।
आपुनु बैठि गए तिन के ढिग, सिखवौ मोहि कहत गोपाल॥
कालि तुम्हैं गो दुहन सिखावें, आज दुहीं सब गाय।
भोर दुहौ जिन, नंद दुहाई, उन सौं कहत सुनाय॥
बड़ौ भयौ, अब दुहत रहौंगी, अपनी धेनु निबेरि।
सूरदास प्रभु कहत सौंह दै, मोहि लीजियै टेरि॥

इसके दूसरे दिन, जितना शीघ्र सम्भव हो सका, वे उस गोपके समीप पहुँचे। आज उनके साथ बलराम भी थे। आते ही उन्होंने गोपकी दोहनी थाम ली और बड़ी उत्सुकतासे बोले—'चलो, ताऊ! गाय कहाँ है? सिखा दो।'—तथा अग्रज श्रीरोहिणीनन्दन भी अपने अनुजका अनुमोदन करने लगे—'हाँ, हाँ, ताऊ! इसे आज अवश्य सिखा दो।'

वृद्धका रोम-रोम एक अभिनव विशुद्ध स्नेहावेशसे पूरित हो उठा। नीलसुन्दरको अपने स्निग्ध हृदयसे लगा लिया उसने मानो वात्सल्यमसृण हृदयकी प्रथम भेंट समर्पण कर दी। तदनन्तर उसने उनके हस्तकमलामें एक छोटी-सी दोहनी दे दी। नीलसुन्दर भी उसी गोपका अनुकरण करते हुए दुहनेकी मुद्रामें गायके थनके पास जा बैठे। गोपकी शिक्षा आरम्भ हुई। श्रीकृष्णचन्द्रकी अँगुलियोंको अपनी अँगुलियोंमें धारण कर उसने थनको दबाना सिखाया। थनसे दुग्ध तो तभी क्षरित होने लगा था जिस क्षण श्रीकृष्णचन्द्र गायके समीप आकर बैठेमात्र थे और अब तो दूधकी धारा बड़े वेगसे निकलने लगी थी। अवश्य ही वह दोहनीमें न गिरकर गिर रही थी कभी तो नीलसुन्दरके उदर-देशपर और कभी पृथ्वीपर। बड़ी तत्परतासे वे दोहनीको कभी पृथ्वीपर रख देते कभी घुटनोंमें दबा लेते तथा इस चञ्चल प्रयासमें एक-दो धार दोहनीमें गिरती, एक-दो नीलसुन्दरके श्रीअङ्गोंका अभिषेक करती तथा एक-दो धरतीपर बिखर जा रही थी। फिर भी कुछ दूध तो दोहनीमें एकत्र होकर ही रहा। श्रीकृष्णचन्द्रके हर्षका पार नहीं। दोहनी लेकर वे उठ खड़े हुए। नाच-नाचकर वे अपने दाऊ दादाको यह दिखा रहे थे—'देखो, मैं दुहना सीख गया।'

इसके पश्चात् क्रमशः दिवस-रजनीका अवसान होकर पुनः प्रभात हुआ। तीस घड़ीके अनन्तर जब श्रीकृष्णचन्द्रकी दैनन्दिनी लीलाका आरम्भ होने चला, प्रातः समीरका स्पर्श पाकर जननीने उन्हें जगाया और वे जागे, तब वे जननीका अञ्चल धारण कर मचल उठे—

दे मैया री दोहनी, दुहि लाऊँ गैया।
माखन खाएं बल भयौ, तोहि नंद दुहैया॥
सदुरि काजरि धूमरी धौरी मेरी गैया।
दुहि ल्याऊँ तुरतहिं तबै, मोहि कर दै घैया॥
ग्वालन की सँग दुहत हौ, बूझौ बल भैया।
सूर निरखि जननी हँसी, तब लेति बलैया॥

व्रजरानीने समझाया, शत-शत मनुहारके द्वारा अपने नीलमणिको आप्यायित करके इस गोदोहनके प्रस्तावको भुला देनेकी चेष्टा की, 'अरे, मेरा नीलमणि तो अभी निरा अबोध शिशु है, किसी गायने दुहते समय लात मार दी तो?'—इस भावनासे भयभीत हुई जननीने बहुत कुछ कहा, किंतु हठीले मोहन बात पकड़ लेनेपर छोड़ना जानते जो नहीं। बाध्य होकर जननीने अन्तिम निर्णय यह दिया—'मेरे प्राणधन नीलमणि! पहले अच्छी तरह बाबाके पास जाकर दुहना सीख ले, तब मैं दोहनी दूँगी और तू दूध दुह लाना।' ठीक है, बाबाकी शिक्षा भी सही। श्रीकृष्णचन्द्र व्रजेन्द्रके समीप चले आये, उनसे बारम्बार हठ करने लगे—

बाबा जू! मोहि दुहन सिखाऔ।
गाय एक सूधी सी मिलवौ, हौंहुँ दुहौं बलदाउ दुहाऔ॥

महाराज नन्दने किसी शुभ मुहूर्तमें सिखा देनेका वचन दिया। पर इतना धैर्य नन्दलाडिलेमें कहाँ! वे तो गोदोहन करेंगे और इसी दिन, इसी समय करेंगे। आखिर उपनन्दके परामर्शसे यह निश्चित हुआ कि नारायणका स्मरण करके नीलमणिकी साध पूरी कर दी जाय। अस्तु, श्रीकृष्णचन्द्र अतिशय उमंगमें भरकर जननीके पास दोहनी लेने आये—

तनक कनक की दोहनी मोहि दै री, मैया।
तात दुहन सिखवन कह्यौ मोहि धौरी गैया॥

मुखचन्द्रपर स्वेदकण झलमल कर रहे थे एवं

नेत्रसरोजोम भरी थी—दोहनी लेकर गोष्ठम पहुँच जानकी त्वरा। जननीने अञ्चलसे मुख पाछा, हृदयसे लगाया फिर छोटी सुवर्णकी दोहनी हाथम दे दी और स्वय साथ चल पडीं। उनके पीछे यूथ-की-यूथ व्रजपुरसुन्दरियाँ एकत्र हो गयीं—नीलसुन्दरकी गोदोहनलीला देखनेके लिय। जो हो, अपने इष्टदेव नारायणका स्मरण करके व्रजेन्द्रन पुत्रका सिर सूँघा और फिर गोदोहनकी शिक्षा—शिक्षाका अभिनय सम्पन्न हुआ। गोपेन्द्रतनय गौ दुहने बैठे—

हरि बिसमासन बैठि कै मृदु कर थन लीनौ।
धार अटपटी देखि कै ब्रजपति हँसि दीनौ॥
गृह गृह ते आयीं देखन सब ब्रजकी नारी।
सकुचत सब मन हरि लियौ हँसि घोषविहारी॥

उस दिन व्रजेशके आदेशसे नन्दप्रासाद सजाया गया था। मङ्गलगान, मङ्गलवाद्यसे सम्पूर्ण व्रजपुर निनादित होने लगा था। मणिदीपासे उद्‌भासित हुई व्रजपुरकी वह रजनी दिन-सी बन गयी थी।

इस प्रकार चार-पाँच दिनाके लिये बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रकी क्रीडामन्दाकिनीका यह नवीन स्रोत प्रसरित होता रहा। पर सहसा मानो उनके अद्भुत शैशवकी चञ्चल लहरियाने, नवनीत-हरणलीलाके प्रबल प्रवाहने इसे आत्मसात् कर लिया और वे इस गोदोहनके खेलको कुछ समयके लिये भूल-से गये, इस ओर उनका आकर्षण नहीं रहा। अचिन्त्य लीलामहाशक्तिने उद्देश्यविशेषसे—आगे पौगण्ड आ जानेपर उनकी गोचारण-लीलाकी भूमिका प्रस्तुत करनेके लिये—इसपर एक क्षणिक आवरण डाल दिया।

अस्तु, यह हुआ बृहद्‌वनम विराजित रहते हुए व्रजराजकुमारकी उल्लासमयी गोदोहनक्रीडाका एक सक्षिप्त चित्र और अब इस समय तो वे वृन्दावनविहारी हैं। उनकी आयुका प्रवाह भी आगेकी ओर बढकर कौमारकी सीमाको पार कर चुका है, वे पौगण्डवयस्‌मे अवस्थित हैं। तदनुरूप ही मेधा एव बलका विकास हो चुका है। वक्ष स्थल पहलेकी अपेक्षा विस्तीर्ण हो चुका है। नेत्रसरोजोम एव महामरकतश्याम शरीरके समस्त अवयवोम पोगण्डोचित चिह्न स्पष्ट परिलक्षित होने लगे हैं। स्वभावका सूक्ष्म परिवर्तन भी स्वय व्रजमहाराज्ञी यशोदामैयासे छिपा न रह सका। उस दिनकी बात है, श्रीअभिनन्दपत्नी आकर मैयासे बोलीं—

कृष्णमातरद्य सद्य प्रातरेव कुत्र या भवज्जात प्रयात ।

(श्रीगोपालचम्पू)

'कृष्णजननि! आज अत्यन्त प्रात काल ही आपके लाल कहाँ चले गये?'

इसका उत्तर मैयान हँस-हँसकर कह दिया—

हन्त! तदेतद् वर्तमानसमयपर्यन्त तस्योद्वर्तनस्नानपरिधानमयानि कर्माणि मया निर्मीयन्ते स्म। सम्प्रति मदपि लज्जामासज्जन् स्वकसवय सेवकप्रिय पृथगेव कृततत्तत्क्रिय स मा समया समायाति। आगत्य च प्रत्यह मा पितर यथायथमितर च गुरुजन पुरुगौरव नमस्कारेण पुरस्करोति। किंच तदवधि यदा सध्याया मया ध्यायमानागमन सहवत्स समागच्छति तदा तदुपरि वारि वारत्रय भ्रामयित्वा पिबन्ती जीवन्ती भवामि स्म। सम्प्रति तु सशपथमेधमानयत्नवता तत्प्रतिषेधता तेन मम हस्तौ विहस्तौ क्रियेते। एवमेव रौहिणेयश्चेति।

(श्रीगोपालचम्पू)

'अजी! क्या कहूँ, अबतक तो उसके उबटन, स्नान, वस्त्रपरिधान आदि कार्योंको मैं स्वय अपने हाथा किया करती थी, पर इधर वह मुझसे भी लजाने लगा है और इस कारण अपनी आयुके सेवकासे बहुत ही हिल-मिल गया है तथा अलग ही इन नित्यकर्मोका समाधान कर लेनेके अनन्तर निश्चित समयपर मरे पास आता है। आकर प्रतिदिन ही मुझे, अपने बाबाको तथा यथायोग्य अन्य गुरुजनोको अतिशय गम्भीरतापूर्वक प्रणाम करके सम्मानित करता है। इतना ही नहीं, और सुनो पहले तो यह बात थी—सध्या होने लगती, मैं उसके वनसे लौटनेकी प्रतीक्षामें रहती और जब गोवत्साके साथ वह आ जाता तब उसपर तीन बार जल आँछकर पी लेती तथा मुझमें नवजीवनका सचार हो जाता। किंतु अब तो वह मुझे शपथ दे डालता है, उत्तरोत्तर अनेक उपाय रचकर ऐसा करनेसे रोक देता है, उसके द्वारा मेरे दोना हाथ इस क्रियाके लिये अक्षम कर दिये जाते हैं और मैं वह सजीवन जल पी नहीं पाती! तथा ठीक यही दशा रोहिणीनन्दन बलरामकी भी हो गयी है।'

जननीका यह उत्तर सुनकर अभिनन्दपत्नी तथा वहाँ उपस्थित अन्य पुरवनिताएँ हँसने लगीं। इधर व्रजेशकी दृष्टि

भी श्रीकृष्णचन्द्रमे आयी हुई इन अस्फुट सकोचवृत्तियोको भाँप लेती है। एक दिन राजसभामे मन्द-मन्द हँसते हुए वे भी सन्नन्द एव नन्दनसे बोले—

भो! आयुष्मन्तावद्यजात इव युष्मद्भ्रातृजात स यथा सम्प्रति युवा प्रति वर्तते न तथा मामिति लक्ष्यते। यत किंचित्सकुचितविलोचनेन मामवलोकयन्नालोच्यते। युवाभ्या सह तु मधुरवार्त्ता वर्त्तयन्नेव दृश्यते। (श्रीगोपालचम्पू)

'मेरे आयुष्मान् लघु भ्राताओ! तुम्हारे बडे भाईका यह पुत्र (श्रीकृष्णचन्द्र)—सच पूछो तो—ऐसा ही लगता है कि मानो आज ही उत्पन्न हुआ हो। पर देखो सही, आजकल तुम दोनोके प्रति जैसी उसकी निर्बाध चेष्टाएँ होती हैं, वैसी अब मेरे प्रति नहीं—ऐसा प्रतीत हो रहा है, क्योकि जब वह मेरे समक्ष आता है, तब उसके नेत्रोमे कुछ सकोच भरा होता है, किंचित् सकुचित नेत्रोसे ही वह मेरी ओर देखता है। पर तुम दोनोके साथ तो वह अभी भी उसी प्रकार मधुर वार्ता—मीठी बात करता रहता है—मैं ऐसा ही देखता हूँ।'

व्रजेन्द्रकी यह उक्ति गोपसदस्योको हर्षोत्फुल्ल बना देती है। नीलसुन्दरके दोनो पितृव्य (चाचा) तो उनकी भूरि-भूरि प्रशसा करने लगते हैं। सब सुन लेनेके अनन्तर व्रजराजने पुन प्रेमसूण स्वरमे कहना आरम्भ किया—'भैया सन्नन्द एव नन्दन! अहो! परसोकी ही तो बात है। तुम दोनो जा रहे थे एव तुम्हारे पीछे थे राम-श्याम। जब मेरे उन दोनो पुत्रोने यह देख लिया कि अब एकान्त है तब तुमसे प्रार्थना-सी करने लगे। अहो! उनकी सुन्दर आँखोमे दीनता भरी थी और वे दोनो बार-बार—प्रात से आरम्भ कर न जाने कितनी बार—तुमसे कुछ निवेदन-सा कर रहे थे। मै बहुत दूरसे चारो ओर घूम-घूमकर उन दोनोको देख रहा था। वह क्या बात थी हो! बताओ तो सही—

भवन्तावेकान्तमनुभवन्तावनुगम्य तौ रम्यकानराक्षि-प्रान्तावसकृत् प्रातरारभ्य प्रार्थितवन्तावित ह्य पूर्वेऽहनि समन्ताद्भ्रातरावतिदूराददृक्षाताम्, तत्किमुच्यताम्?

(श्रीगोपालचम्पू)

तथा लघुभ्राता श्रीनन्दनगोपने भी व्रजराजकी इस जिज्ञासाका समाधान इस प्रकार किया—

तदानीमेवेति किं वक्तव्यम्। किंतु चिरादेव तयोस्तदभिरुचितमुपचितमस्ति। सकुचितभावाभ्यामावाभ्या तु भवत्सु न श्रावितम्।

'यह केवल उस समयकी ही बात थोडे है, यह तो उन दोनोकी चिरकालीन लालसा है, जो निरन्तर बढकर दृढ-दृढतर हो चुकी है। हम दोनोको ही सकोच घेर लेता है और इसीलिये आपको अबतक सूचित न कर सके।'

फिर तो महाराज नन्दने स्पष्टतया जान लेना चाहा तथा उपयुक्त अवसर देखकर श्रीसन्नन्दने भी मन्द-मन्द मुसकाकर बात खोल दी—

स्वयमेव गवा सेवनमिति यत्।

'और तो क्या, वे दोनों समस्त गायोकी सेवा स्वय ही करना चाहते हैं।'

परम गम्भीर उपनन्दजीके पूछनेपर सन्नन्दने इतना और कह दिया कि राम-श्याम कहते हैं—

आवयो प्रथमवयोऽतीतयोस्तातचरणाना स्वय गोचारणमनाचारतामाचरतीति।

'अब जब हम दोनोकी प्रथम आयु—कौमारका अवसान हो चुका है, तब स्वय पितृचरणोके द्वारा गोचारणका कार्य सम्पादित होते रहना अनुचित है।'

अपने पुत्रोकी यह भावना सुनकर व्रजेशका मुख विस्मयसे पूर्ण हो उठता है। वे कुछ भी प्रत्युत्तर नहीं देते, मौन हो जाते हैं, किंतु उपस्थित गोपसमाज उल्लासमे भरकर कहने लग जाता है—

यद्यप्यद्यजाताविव सुजातावमू तथापि क्रम विना बुद्धिनिष्क्रमस्य बलसवलनस्य च सद्भावादस्माक विस्मापकावेव भवत। इतस्तु न विस्मापकौ भवतस्तप प्रभाव एव खल्वेव भावमावहतीति। न खलु तत्तत्खलाना यत्परिमिलन जात तत्र सहायताना सहायता काचिदपि परिचिता। तस्मान्मङ्गलमेव सगत भविष्यतीति।

'व्रजराज! यद्यपि ये दोनो सुकुमार बालक सचमुच लगते तो ऐसे हैं कि मानो आज ही इनका जन्म हुआ है, फिर भी इनमे—क्रमश नहीं, बिना किसी क्रमके ही—कुछ ऐसी विलक्षण बुद्धि उत्पन्न हो गयी है, इतने बलका

सचार हो गया है कि ये दोना हम सभीको आश्चर्यम भर द रहे हैं। एक दृष्टिसे तो यह बात हे। उधर पुन विचारनेपर इनका लकर कोई आश्चर्य भी नहीं होता, क्याकि निश्चितरूपसे यह तो आपके तपका ही प्रभाव ह, जो ऐसा सम्भव हो गया हे। देखिये न उन-उन दुष्ट राक्षसोका जो सहार हुआ ह उसम इन अगणित साथियाकी काइ भी सहायता ली गयी हा, यह बात भी नहीं ह। इसलिय आग भी मङ्गलके ही दर्शन होगे।'

यह कहकर गोपमण्डलन नीलसुन्दरक प्रस्तावका प्रकारान्तरसे अनुमोदन कर दिया। अवश्य ही गोपराज ता मान ही रहे। इसके दो-तीन दिन पश्चात् महाराजन एकान्तम व्रजरानीस भी इस प्रस्तावपर मन्त्रणा की, पर व्रजदम्पतिका वात्सल्य-रस-यन्त्रित हृदय इसे सहजमे ही स्वीकार कर ल, यह कहाँ सम्भव है। दोनोन मिलकर यही स्थिर किया कि अवसरविशेपकी प्रतीक्षा की जाय—

निजगृहिण्यापि सह रहसि श्रीव्रजराजस्य स एष प्रस्तावविशेष आसीत्। यत्र च तौ पुत्रप्रेमयन्त्रिततया तदेतन्मन्त्रितवन्तो। पश्याम समयविशेपमिति।

किंतु श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य लीलामहाशक्तिको अब इसमे अधिक विलम्ब अपेक्षित नहीं है। अतएव उन्हाने तो उपक्रम कर ही दिया—सर्वथा स्वाभाविक ढगसे ही। जिस असख्य गोवत्सराशिका सचारण आरम्भ हुआ था नन्दलाल वत्सपाल बनकर गोपशिशुआके साथ वनम जिसे ले जाया करते थे, वह वत्सश्रेणी अबतक अधिकाशम नवप्रसूता गाएँ जो बन चुकी हें। उनकी सवा-शुश्रूपा, दोहन आदि कार्य तो राम-श्यामक द्वारा हा सम्पन्न होत हैं। भला, जिसने अपने शेशवम नीलसुन्दरके करपल्लवासे चयन किये हुए हरित सुकोमल तृणराजिका ग्रास पाया है, जिसक अङ्ग सदा सम्मार्जित होते आये हें नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके हस्तकमलासे ही, जिसका अबतक सतत सवर्द्धन हुआ है व्रजशतनयके रसमय सरक्षणम ही मूकवाणी व्यक्त न कर सक, इससे क्या—पर जिसक अन्तस्तलम व्रजराजकुमारके द्वारा पाये हुए प्यारकी असख्य स्मृतियाँ सुरक्षित हें—वह वत्सराशि आज अपने प्रथम यावनके उन्मपम स्वय भी वत्स प्रसव करनेपर श्रीकृष्णचन्द्रक अतिरिक्त किमी अन्य गापकी सेवा स्वीकार कर ले, यह भी कभी सम्भव है? उन-उन नवप्रसूता गायाने किसी गोपसवकका अपने शरीरका स्पशतक करन नहीं दिया है। अपन पार्श्वम किसी भी गापको देखते ही वे बिझुक जातीं तथा जहाँ श्रीकृष्णचन्द्र आय कि 'हम्बारव' से गाष्ठका निनादित करने लगत, उनक थनस दूध बरसन लगता, दाहना नाच रख भर दनकी बात थी क्षणाम वह कण्ठतक पूरित हा जाता आर फिर एक सुन्दर धवल प्रवाह नीचेकी ओर बह चलता। सुरभि-थनम इतना दुग्ध कहाँस सचित हा जाता—इसे कौन बताये और वह अभी-अभी व्रजपुरम भूमिष्ठ हुआ वत्स भी ता भूल जाता अपनी जननीका। वह ता सरल भोली चितवनस कवल नीलसुन्दरकी आर दखता रहता। अपन करपल्लवम वत्सका मुख लकर नन्दलाल उसे थनस सटा दते फिर भी वह दृष्टि फेर लता, नन्दलाडिलके श्यामल अङ्गाम ही उसकी आँख उलझी रहतीं। यदि अघटन-घटनापटीयसी यागमायाके अञ्चलकी छाया यथासमय उनकी स्मृतिको आवृत न कर लेती ता कोई वत्सतर अपनी जननाका स्तनरस पान कर सके यह नवीन धनुसमूह श्रीकृष्णचन्द्रका सङ्ग त्याग सके—यह सर्वथा असम्भव ह। जो हा, इस प्रकार इनकी सवा तो एकमात्र राम-श्यामके द्वारा ही होने लगी ह। इन्ह तृणदान आदिका भार राहणीनन्दन रामपर ह और दोहनकी क्रिया सम्पन्न होती ह नीलसुन्दरक द्वारा। कामारका वह गादाहन-खल—लीलासुरधुनीका वह सुन्दर स्रोत इतने कालतक मूलके विभिन्न प्रवाहाम ही विलीन रहकर अब पुन पृथक् हाकर प्रसरित होने लगा है—व्रजेशका ध्यान आकर्षित करनेके लिय उन्ह सूचित कर देनेके लिये कि 'वजेश्वर! अब विलम्ब मत करो, नीलसुन्दरकी याग्यताका इसस अधिक प्रमाण आर क्या चाहत हो? अपने सरक्षणम अवस्थित इस अपार नवीन गाधनका तनिक-सा भी बिझुक बिना ही दाहनकर्म समाधान कर लेनकी कलाम निज तनय नालमणिकी निपुणता दख लो। अब क्या नहीं इन्ह अपने राजकुलक अधिकृत समस्त गाधनके ही सरक्षणका भार सौंप देते? लालाविहारा श्रीकृष्णचन्द्रकी अभिलापा पूर्ण हो जाती।' पर व्रजराजके श्रीकृष्णरसभावित प्राणाम ता इकृति

है—'पश्याम समयविशेषम्'—अवसरविशेषकी बाट देखे। वे गोपोसे सुनते हैं, स्वय देखते भी हैं, अनुभव करते हैं—'सचमुच मेरे पुत्रकी योग्यता—गोसरक्षणकी कुशलता गोपवशकी परम्परामें अद्वितीय ही है।' फिर भी उनका वात्सल्यपरिभावित हृदय विलम्ब करनेमे ही रस ले रहा है और इसलिये वे इस प्रश्नपर मौन ही रह जाते हैं।

आखिर सीमा आ गयी, लीलाशक्तिका निर्धारित क्रम सामने जो आ गया। अबतक श्रीकृष्णचन्द्र वन जाते थे उन अपने अधिकृत नवीन गोधनको लेकर ही। उनमे कुछ गोवत्स थे, कुछ प्रथम-प्रसवान्मुख गाएँ थीं और अधिकाश थीं नवीन-वत्सवती। गोवत्स इसलिये कि समय-समयपर मुक्तस्तन्य वत्स श्रीकृष्णचन्द्रके सरक्षणमे सम्मिलित होते आये हैं और वत्सवती तो श्रीकृष्णचन्द्रका सरक्षण परित्याग करनेसे रहीं। गोपरक्षकोने अथक चेष्टा की कि भले ही गोष्ठमें इनकी सेवा राम-श्याम कर लें, गोदोहन आदि भी वे ही करें, पर इनका सचारणकार्य तो हम सबोके ही द्वारा हो, ये सब भी वयस्क गोधनकी टोलीमे ही परिगणित हो जायँ। किंतु वे सर्वथा असफल रहे। ये गाये किसी भी परिस्थितिमे श्रीकृष्णचन्द्रके विना वन जानेको प्रस्तुत न हुईं। अतएव सदासे आया हुआ दो विभाग अबतक चलता ही रहा। गोपरक्षक अपने अधिकृत व्रजेशके अपार गोधनका सचारण करते एव श्रीकृष्णचन्द्र उसीके अशभूत अपने अधिकृत गो-गोवत्समिश्रित समूहका। अस्तु, आज सहसा प्रात काल एक विशेष घटना घटी। उपक्रम तो कल ही हुआ था, आज सबोने प्रत्यक्ष देख लिया। वनसे लौटते हुए गोचारकवर्गके दोनो ही दल कल मिल गये। अन्यथा इससे पूर्व रक्षकोका वर्ग तो श्रीकृष्णचन्द्रसे पूर्व ही प्रस्थान कर जाता एव श्रीकृष्णचन्द्र लौटते थे उस वर्गके गोष्ठमें प्रविष्ट होनेके अनन्तर। विगत सध्याके समय गोपरक्षकोने गायोकी उस अभूतपूर्व प्रेमसम्मुदित आर्ति—श्रीकृष्णचन्द्रके प्रति अद्भुत आकर्षणको देखा अवश्य, पर देखकर भी वे रहस्यभेद न कर सके। किंतु आज प्रात काल वह स्पष्ट हो गया—इस अपार समस्त गोधनराशिने वन जाना सर्वथा अस्वीकार कर दिया। वे वनकी ओर तभी चलीं जब श्रीकृष्णचन्द्र उन्हे आगे खडे होकर पुकारने लगे। व्रजेशकी राजसभामे आज चर्चाका विषय बस एकमात्र यही था। गोपवर्गने विस्मयसे पूर्ण होकर यह सूचना व्रजेन्द्रको दे दी—

सर्वं गोजात न तु भवज्जातमन्तरा पदमपि पद प्रददाति। कथचित्तेनैवाग्रावस्थितेनाद्य ता प्रस्थापिता सन्ति॥

'व्रजराज! देख ले, समस्त गायोकी ही यह दशा हो गयी है कि आपके पुत्रके बिना वे अब एक पद भी वनकी ओर अग्रसर नहीं होतीं। आज जब वह स्वय उनके आगे जाकर खडा हो गया, तब कहीं—उसकी सहायतासे ही वे किसी प्रकार वनमे भेजी जा सकी हैं।'

गोपेश सुनकर आश्चर्यमे भर गये। उन्होने इस आकस्मिक परिवर्तनका कारण जानना चाहा। फिर तो समस्त सभासद् एक स्वरसे पुकार उठे—

भवत्पुत्र कुत्रचिद्यत्र स्नेह व्यञ्जयति तत्र सर्वत्र चैव दृश्यते।

'यह तो जानी हुई बात है, व्रजेश्वर! जहाँ कहीं जिसके प्रति भी आपका पुत्र प्रेम प्रदर्शित करता है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र यही परिणाम सामने आता है।'

उस दिन अनेक युक्तियोसे गोपमण्डलने व्रजेशको समझा-बुझाकर नीलसुन्दरपर ही समस्त गोसरक्षणका भार सौंप देनेके लिये उन्हे बाध्य कर दिया। सबकी एक ही राय, एक ही माँग थी—

तस्माद्भवताद्भवतामनुज्ञा।

'अतएव, अब आपकी आज्ञा हो जाय।'

तथा व्रजराजने भी—वाणीसे तो नहीं—अपनी हर्षभरी दृष्टिसे ही प्रस्तावका समर्थन कर दिया। उपनन्दजी तुरत ही ज्योतिर्विदोका परामर्श ले आये। उन सबोने भी सनिकट योगका ही आदेश किया—'पण्डितजनोके कर्णपुटोके लिये सुखप्रद, मङ्गलयशपूर्ण बुधवार श्रवण-नक्षत्र-विशिष्ट कार्तिक शुक्लपक्षकी अष्टमी गोपालनके लिये परम सुन्दर मुहूर्त है।'—

तैरपि बुधश्रवणसुखप्रदमङ्गलश्रवणसगतबुधश्रवण-विशिष्टायामबहुलबाहुलाष्टम्या बहुलापालन लग्नमेतदिष्ट-मित्यादिष्टम्।

अस्तु, अशुमाली जब उस दिन प्राचीको रञ्जित करने आये, क्षितिजकी ओटसे व्रजपुरके आकाशको झाँककर

देखने लगे, उस अष्टमीके दिन व्रजेन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके प्रथमगोचारण-महोत्सवके उपलक्ष्यमे वहाँ क्या-क्या हुआ, इसे कौन बताये। वाग्वादिनी स्वय विथकित जो हो रही हैं। लीलादर्शीकी रसनाके अन्तरालमे हसवाहिनीके प्राणाकी इतनी-सी झकृति कोई भले ही सुन ले—'अरे! इस महा-महोत्सवका वर्णन करना चाहते हो? नहीं, नहीं कर सकोगे। सुनो, एक नहीं इसके लिये अनेक वक्ता चाहिये। उनमे प्रत्येक वक्ताके ही अयुत—दस सहस्र मुख हो, सभीकी आयु सर्वदा बनी रहे, कभी क्षय न हो, वे निरन्तर गाते ही रह—तब वर्णन करनेका विचार करना भला!'

एकस्यैकस्य चेद् वक्तुर्वक्त्राणि स्यु सदायुतम्।
तदा तद् वक्तुमिच्छन्तु यद्यायु सर्वदायुतम्॥

इससे पूर्व नीलसुन्दरकी कौमारवयस्‌म—शिशिर-वसन्तकी सधिपर—होनेवाले वत्सचारण-महोत्सवकी शोभा भी निराली ही थी, प्राय उसके कार्यक्रमका ही अनुसरण आज इस गोचारण-प्रसङ्गम भी हुआ है। अट्टालिका, गृहतोरण गृह-द्वार, अलिन्द, वीथी, चतुष्पथ—इन सबका साज-शृङ्गार एव देवपूजन आदि शास्त्रीय कर्म भी उस पूर्वकी अनुक्रमणीके साँचेम ही ढले हैं, पर आजका रागरग, पारावारविहीन आनन्दसिन्धुका यह अभूतपूर्व उद्वेलन—ओह! किसीके श्रीकृष्णचरणनखचन्द्रसे आलोकित दृगोमे भले ही यह क्षणभरके लिये झलमल कर उठे, पर वाणी तो इसे व्यक्त करनेसे रही। केवल दिग्दर्शनमात्र सम्भव है—'देखो श्रीकृष्णचन्द्र 'गोपाल' बननेके योग्य नवीन वेषभूषासे सुसज्जित हैं, उनका रक्षा-विधान सम्पन्न हुआ है, ब्राह्मण एव गुरुजनाके आशीर्वादसे उनके श्रीअङ्ग सिक्त हो चुके हैं, पुण्याहवाचन कर्म भी साङ्गोपाङ्ग समापित हो चुका है। व्रजरानी श्रीरोहिणी एव असख्य व्रजरामाओंके द्वारा इनका वनगमनोचित नीराजनका मङ्गलकृत्य भी पूरा हो गया। अरे! सुन लो—असख्य पुरसुन्दरियाके कण्ठसे निर्गत मङ्गलगानकी सुमधुर ध्वनि, दुन्दुभि ढक्का पटह मृदङ्ग, मुरज आनक वशी सनहनी, कास्य आदि वाद्यसमूहाका दिग्दिगन्तव्यापी नाद आनन्दमत्त गोपोंके गोपबालाआके नर्तनकी झकार—'नन्दकुलचन्द्रकी जय! रोहिणीनन्दन बलरामकी जय!! राम! राम! श्याम! श्याम! चिर जीव! चिर जीव!' आदिका तुमुल घोष। और अब देखो, अहा! वे चल अपने अग्रज बलरामसे सवलित श्रीमान् गोपमहेन्द्रतनय श्रीकृष्णचन्द्र गायाके पीछे-पीछे। आह! कैसी अनिर्वचनीय शाभा ह!

गोपालाचितनव्यवेषवलनै रक्षाविधानैर्द्विजा-
द्याशीर्भि सुदिनादलभ्यरचनैर्व्रज्याहनीराजनै।
सगानान्वितवाद्यनृत्यनिकरै शश्वज्जयाद्यारवै
श्रीमान् गोपमहेन्द्रसूनुरगमद्रामण धेनूरनु॥

'ओह! बलिहारी है श्रीकृष्णचन्द्रके इस अप्रतिम सौन्दर्यकी।'

सखा साथ, बल भैया साथ। राजत रुचिर मगली माथ।
बीच अछत सु कवन छवि गनौं। मोती जम चद मधि मना॥

'अरे! धेनुसमूहका शृङ्गार चमक-दमक देखा—

गाइन की छबि नहिं कहि परै। रूप अनूप सब के हिय हरै॥
कचन भूषन सब के गरै। घनन घनन घटागन करै॥
उज्जल बरन सु को है हस। कामधेनु सब जिन कौ अस॥
दरपन सम तन अति दुति देत। जिन मधि हरि झाँई झुकि लेत॥

'ओह! केवल दो अक्षिकोणोम अत्यन्त लघु युग्म कर्णरन्ध्रोम एक साथ दिग्दशनमात्र विवरणका भी सम्पूर्णतया कैसे धारण कर सकोगे? इसलिये ऊपर दृष्टि डालो अन्तरिक्षचारी अमरवृन्दक नेत्र-गोलकाम पमाकर दखा वे इस समय क्या देख रहे हैं। अहा, उनके दृगञ्चलम अभी भी वह चित्र वर्तमान हे—श्रीकृष्णचन्द्र उस अपार गोधनके समीप गये हैं। उन्हाने पाद्य आदि अर्पण करक प्रत्येकको ही अर्चना की है। तृण यवस एव मादक आदिक मधुर ग्राससे सबको परितृप्त किया हे। उनका स्तवन किया है, अपने कुञ्चित कुन्तलराशिमण्डित मस्तकसे उनके खुराका स्पर्श करके अभिवन्दना की हे। उनका मानवर्द्धन किया है। अनन्तर ब्राह्मणो एव पुरोहितकुलको अपरिमित दान-दक्षिणा समर्पण करके उन्हे अक्षय आनन्दम निमग्न कर दिया है। पितृचरण एव गुरुजनवर्गको अपन मञ्जु-अञ्जलिपुटोंके सकेतसे उन्हाने पुराभागमे विराजित किया है और स्वय उनकी ओर मुखारविन्द किय अपने अग्रज बलरामके सहित अवस्थित हो रहे हैं। व्रजराजने एक मणिमय लकुटी उनके हस्तकमलम दे दी हे—

'धेनू सनिधाय ताश्च पाद्यादिभिरर्चिता विधाय

मधुरग्रासैस्तासा समग्राणा तृप्तिमाधाय तासु नतिप्रभृतिभिर्मानमुपधाय पुनश्च प्रदानदक्षिणाभि पुगेहितादी रक्षीणानन्दान् सधाय श्रीमत्पितृचरणादीन् मञ्जुलाञ्जलिवलितमग्रतो निधाय स्थितवति साग्रज तस्मिन्नवरज श्रीमास्तत्पिता व्रजराजस्तावन्मणिमयलकुटीं तत्कर घटयामास।'

'अहो! जननी यशादाका प्रमावेश तो देखा! वे पुकार रही हैं—बलराम! बटा! तू नीलमणिक अगे हो जा। अरे सुबल! तू मेरे लालके पीछे हो जा। अरे ओ श्रीदाम! ओ सुदाम! पुत्रो! तुम दोनो इसके दानो पार्श्वमे अवस्थित हो जाओ। अरे शिशुओ! सुनत हो देखो, तुम अपने इस आत्मीय सुहृद् नीलसुन्दरका सब ओरसे आवृत करके चलो! इस भाँति स्नेहविह्वल मैया प्रत्येक शिशुका हाथ पकडकर आदेश दे रही हैं, साथ ही प्रत्येकको यथायोग्य श्रीकृष्ण-सेवासम्बन्धी उन-उन कार्योंका निर्देश कग्के सौभाग्य दान कर रही हैं और यह सब करते समय भी उनकी आँखे निरन्तर झर-झर बरसती रहती है।'

राम! प्रागस्य पश्चाद्भव सुबल! युवा श्रीलदामन्! सुदामन्
दो पार्श्वस्थौ भवेत दिशि विदिशि परे सन्तु चात्मीयबन्धो ।
इत्थ हस्ते विधृत्य प्रतिशिशु दिशती तत्र कृष्णस्य माता
तत्तत्कर्माधिकारश्रियमपि ददती नत्रनीरैरसिक्ता ॥

बस, इससे अधिक वाणीकी सामर्थ्य नहीं जो और कह सके।

इस प्रकार पौगण्डवयस्क बलराम एव नीलसुन्दर वृद्ध गोपोका अनुमोदन पाकर आज वत्सपालसे गोपाल बन गये हैं और अब वे असख्य सखाओके साथ गोचारण करते हुए जा रहे हैं वृन्दाकाननकी ओर। काननके उस भूभाग—वनस्थलीके प्रत्येक अशपर ही अबसे—किसी अन्य पशुपालका नहीं—एकच्छत्र इन अनोखे गोपालका ही साम्राज्य हे। और इसीलिये आज वनभूमि उनके ध्वज, वज्र, अङ्कुश आदि चिह्न-समन्वित पदाङ्कोस पूर्वकी अपेक्षा भी अत्यधिक समलङ्कृत हो रही है—

ततश्च पौगण्डवय श्रितौ व्रजे
बभूवतुस्तौ पशुपालसम्मतौ।
गाश्चारयन्तौ सखिभि सम पदै-
र्वृन्दावन पुण्यमतीव चक्रतु ॥
(श्रीमद्भा० १०।१५।१)

जब पौगण्ड अवस्था आई। पसु पालन समत दोउ भाई॥
निज गोधन लै भ्रात समेता। सखन सग नृप कृपा-निकेता॥
बन-बन धेनु चराइ प्रबीने। बृदाबन भू पावन कीने॥
निज पद अकित करि जदुनदा। महापुन्यतम छिति सुखकदा॥

भगवत्प्रेमकी निवासभूता—वशी

(श्रीसीतारामजी शर्मा)

भगवान् जब धरापर अवतीर्ण होते हैं, तब उनके दिव्य विग्रहमे जितनी भी वस्तुएँ हाती हैं सभी दिव्य एव भगवत्-स्वरूप हाती हैं। इसी कारण प्रभुकी वाणीमे इतनी सरसता होती है कि उमको सुनते मन नहीं अघाता। श्रीकृष्णके साथ नाद या शब्द अथवा ध्वनिका भी पूर्ण अवतरण हुआ था। श्यामकी वशीका मधुर निनाद ही नादावतार था। इसीसे उस वशी-ध्वनिने प्रेममय व्रजधामम जडको चेतन और चेतनको जड बना डाला।

महात्मा सूरदासजी बताते हैं कि जब श्यामसुन्दरने वशी बजायी तब स्थिर पदार्थ द्रवित होने लगे और चेतन स्थिर हो गये। पवनकी गति बद हो गयी, यमुनाजलने प्रवाहित हाना बद कर दिया, पक्षी मोहित हो गये, हिरणोके समूह दौडना छोड वशी-ध्वनिका श्रवण करने लगे। गाये मुग्ध हो दाँतोमे तृण पकडे रह गयीं—

जब हरि मुरली अधर धरत।
थिर चर, चर थिर पवन थकित रहै, जमुना जल न बहत॥
खग मोहैं, मृग जूथ भुलाहीं, निरखि मदन छबि छरत।
पसु मोहै, सुरभी बियकित तृन दतनि टेकि रहत॥
(श्रीकृष्ण-माधुरी १८५)

श्रीकृष्णने जब वृन्दावनम वशीकी तान छेडी तब

उसकी मधुर ध्वनि सुनकर सिद्धाकी समाधि भग हो गयी। देवताआके विमान स्तब्ध रह गये। देवागनाएँ चित्रलिखित-सी हो गयीं। सभी उस ध्वनिको सुन आनन्दस उमग उठे। वशीकी तानसे निकले सगीत-स्वरको सुनकर सभीकी गति उलट गयी। पत्थरासे झरने फूट पडे, गन्धर्व माहित हो गये, पक्षी ओर पशुआने फल तथा तृण-भक्षणकी याद विसरा दी। बछडाने मा (गायो)-का दूध पीना वद कर दिया। वृक्ष एव लताएँ चचल हो उठी, उनम नव पल्लव फूट पडे। वायु थिर हो गयी। विशाल नेत्रावाले श्यामसुन्दरने वशी बजाकर सभीका मन मोहित कर लिया। मन माहनवाले मनमोहनने मोहक रूप धरकर कामदवके अभिमानको गलित कर दिया। व मन्मथमन्मथ कहलाने लगे।

श्रीकृष्णके ओठोका स्पर्श करके वशी अमृत-रसकी वर्षा करती हुई मधुर ध्वनिसे बज रही थी, उस समय मोहनका मुकुट झुक गया। भौंह छविपूर्ण ढगस मटक रही थीं, गदन झुकाये वशीपर ध्यान एकाग्र कर उसे बजाते हुए वे करोडा कामदेवाकी शोभाका भी लजा रहे थे—

स्याम कर मुरली अतिहिं बिराजति।
परसति अधर सुधारस बरसति, मधुर-मधुर सुर बाजति॥
लटकत मुकुट भौह छवि मटकति नैन सैन अति राजति।
ग्रीव नवाइ अटकि वसी पै कोटि मदन छवि लाजति॥

(श्रीकृष्ण-माधुरा १४९)

व्रजकी वनिताएँ गिरधारीका देख रहा हैं उनके एक-एक अङ्गपर वे मुग्ध हें आर वशीधरम उनका चित्त उलझ गया। वे चित्रलिखित-सी खडी श्यामसुन्दरपर माहित हो लाज एव कुलकी मर्यादा भी छोड चुकी हैं—

ब्रज ललना देखत गिरधर कौं।
इक इक अग अग पै रीझीं, उरझीं मुरलीधर कौं॥
मना चित्र की सी लिखि काढीं, सुधि नाहीं मन घर कौं।
लोक लाज कुल कानि भुलानी, लुबधीं स्यामसुंदर कौं॥

(श्रीकृष्ण माधुरी १५१)

वशा-ध्वनि सुनकर शङ्करजोका ध्यान टूट गया। ब्रह्माजा वेद-पाठ करना भूल गये। सरस्वनाजा सुध भूल उनका गुणगान करनम असमर्थ हा गयीं। इन्द्रकी सभा स्तब्ध रह गयी। रम्भाका गर्व नष्ट हो गया, वह नृत्य करना भूल गयी। मोहनकी मुरलीने तीना लोकोको मोह लिया हे—

बाँसुरी बजाई आछे रग सा मुरारी।
सुनि क धुनि छूटि गई सकर की तारी॥
बेद पढन भूलि गए ब्रह्मा ब्रह्मचारी।
रसना गुन कहि न सकै एसि सुधि बिसारी॥
इद्र सभा चकित भई लगी जब करारी।
रभा कौ मान मिट्यौ, भूली नृतकारी॥

(श्रीकृष्ण-माधुरी १५३)

वशीकी ध्वनिने वेकुण्ठम पहुँच लक्ष्मीनारायणके हृदयमें भा रुचि उत्पन्न कर दी। नारायण बोले—लक्ष्मीजी! यह अद्भुत शब्द सुनो और वृन्दावनकी ओर निहारो। उन्हाने धन्य-धन्य कहकर व्रजवासियाके जीवनको सराहा। उन्हाने कहा—'वृन्दावन धाम धन्य है, व्रजभूमि धन्य है—कदाचित् वहाँकी धूलि उडकर हम भी लग जाती तो हम भी धन्य हो जाते'—

मुरली धुनि बैकुठ गई।
नारायन कमला सुनि दपति अति रुचि हृदैं भई॥
सुना प्रिया! यह बानी अद्भुत बृदावन हरि देखौ।
धन्य धन्य श्रीपति मुख कहि कहि जीवन व्रज कौ लेखौ॥
रास बिलास करत नँद नदन सो हम तैं अति दूरि।
धनि बन धाम धन्य व्रज धरनी उड़ि लागै जौ धूरि॥

(श्रीकृष्ण माधुरी १६७)

गोपीभावसे भावित होकर एक गोपीने कहा—सखी सुन! यद्यपि वशी नन्दलालको अनेक प्रकारसे नचाती है तो भी वह गोपालको अतिप्रिय है। उन्हे वह एक पैरपर खडा रखती हे और बहुत अधिकारपूर्वक उन सुकुमार-शरीरसे अपनी आज्ञाका पालन कराती है। इससे उनकी कमर टेढी हो जाती है। इतने चतुर होते हुए भी गिरिधारी वशीके वशमे होकर उसके आगे गर्दन झुकाकर खडे हो जाते हैं। वह उनके अधररूपी पलगपर लेटकर उनके पल्लव-सम कोमल हाथोसे पैर दबवाती हे। टेढी भौह, नेत्र और फडकते नासिका-पुटोसे हमपर क्रोध भी कराती है। एक क्षणके लिये भी मोहनको हमपर प्रसन्न जानकर धडपरसे उनके मस्तकको मोड देती है। सूरदासने इस भावको कितने मार्मिकरूपसे अपने पदमे गाया है—

मुरली तऊ गुपालै भावति।
सुनि री सखी, जदपि नँदलालै नाना भाँति नचावति॥
राखति एक पाइ ठाढौ करि, अति अधिकार जनावति।
कोमल तन आग्या करवावति, कटि टेढौ ह्वै आवति॥
अति आधीन सुजान कनौड़े गिरिधर नार नवावति।
आपुन पौढि अधर सिज्जा पै कर पल्लव पलुटावति॥
भृकुटी कुटिल, नैन, नासा पुट हम पै कोप करावति।
सूर प्रसन्न जानि एकौ छिन धर तै सीस डुलावति॥

(श्रीकृष्ण-माधुरी १५९)

किसी सखीने कहा—

मुरली हम कौ सौति भई।
नैकु न होति अधर तै न्यारी, जैसै तृषा डई॥

(श्रीकृष्ण-माधुरी १९७)

सखी! वशी हमारे लिये सौत हो गयी, जैसे प्याससे पीडित हो उसी प्रकार मोहनके ओठोसे यह पृथक् ही नहीं होती। अन्य गोपी उसे बाँसके साथ बाँसकी बनी बाँसुरीकी तुलना करके उसे वशका नाम डुबानेवाली कहती रही। जब कोई गोपी उस वशीको पूछती हे कि तूने कौन-सा तप किया जिससे मोहनकी इतनी प्रिय हुई? वह उत्तर देता है—मैंने बडे-बडे तप किये हैं। जीवनभर सिरपर जाडा ओर वर्षा सही, ग्रीष्मकी ज्वालामे झुलसी। काटी गयी, शरीरको सात सुरोमे छिदवाया। हृदयको सूना कर दिया। कोई गाँठ अदर नहीं रहने दी। इतना तप करनेपर ही श्यामने मुझे वरा हे, अपनाया है—

तप हम बहुत भाँति करयौ।
हेम बरषा सही सिर पे, घाम तन हि जरयौ।
काटि बेधी सप्त सुर सौं हियो छूछो करयौ।
तुमहि बेगि बुलावे को लाल अधरन धरयौ।
इतने तप मैं किये जबहि लाल गिरधर बरयौ।
'सूर' श्री गोपाल सेवत सकल कारज सरयौ॥

प्रभुके भक्तोको वशीकी इस साधनाका अनुसरण करना चाहिये। जबतक लौकिक सुख-दु खमे समता ओर सहिष्णुता नहीं आती, जबतक ईश-प्राप्तिके लिये इच्छाओ ओर वासनाओका त्याग नहीं किया जाता, जबतक हृदयको सभी प्रकारकी कामनाओसे रहित बनाकर अपनेको पवित्र नहीं किया जाता, तबतक उस परम प्रभुके प्रेमकी प्राप्ति नहीं होती।

श्यामकी मुरलीमे क्या बजता था? उससे ससारको क्या दिया जाता था? उत्तर यही है कि ह्लादिनी सुधाका अवर्णनीय आनन्द ही उस ध्वनिद्वारा सबको दिया जाता रहा। व्रजके सभी लोगोको जो कामविजयी रहे, विशेषरूपसे गोप-गोपियोको भगवान् श्रीकृष्णने तप और वैराग्ययुक्त कर अपनी ओर आकृष्ट किया। उनसे ससारका मोह छुडाकर उन्हे सहसा अपनी ओर आकर्षित किया। मन और इन्द्रियोका दमन कर आत्माके पतन करनेवाले विषयोसे उस समयके सभी जीवोको मुक्त कर उनमे मधुर रसका आस्वादन करनेके लिये वशीनादद्वारा उनके अदर चिन्मय नादका सचार उन्होने किया।

नाद अनादि हे। जबसे सृष्टि है तभीसे नाद है। नाद ही परम ज्योति हे और नाद ही स्वय परमेश्वर हरि है—

'नादरूप पर ज्योतिर्नादरूपी परा हरि।'

यह नादब्रह्म ही शब्दब्रह्मका बीज है। वेदोका प्रादुर्भाव इसी नादद्वारा हुआ बताया गया है। नादका उद्भव परमेश्वरकी सच्चिदानन्दमयी भगवती-स्वरूपा शक्तिसे होता

है। इस नादसे ही बिन्दु उत्पन्न होता है। यह बिन्दु ही प्रणव—ओउम् है और इसीको बीज कहते हैं। बिन्दुनादसे व्यक्त और अव्यक्त शब्द प्रकट हुए। व्यक्त शब्द ही श्रुति-सम्पन्न श्रेष्ठ शब्दब्रह्म बना। आदि नादरूप बीजसे पञ्चतत्त्वकी उत्पत्ति बतायी गयी। पञ्चभूताम सबसे प्रथम महाभूत आकाश गुण शब्द बना। योगी लोग इसी नाद-साधनासे सब प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त करते हैं, परम ब्रह्मको पाते हैं। अनाहत नाद योगियाका परम ध्येय होता है। नादको शास्त्रामे धर्म अर्थ, काम और मोक्षका साधन माना गया है। नादमे सारे ससारकी रचना हुई। शब्द ही परमात्माकी रचनात्मक शक्ति है। शब्द ही परमात्मा है। कबीरने कहा—

कहै कबीर ते सबद को परखि ले, सबद ही आप करतार भाई।

ईश्वरकी तरह नाद या शब्द भी प्रत्येक स्थानपर मौजूद है।

सुरत नाम सुनै जब काना। हसा पावै पद निरबाना॥

नाद या शब्द परमपिता परमात्माकी सर्वव्यापी शक्तिधारा है। इसका अनुभव अभ्यासी अपने अदर एक सुरीली धुनके रूपमे करता है। सताने इसे शब्द, नाद धुन, अनाहत नाद, अनहद नाद, वाणी, हुकुम आदि अनेक नामासे पुकारा है। सभी सताने शब्दके अभ्यासको सब करनीका सार कहा है—नाम या शब्द जिसे सन्तोने अनहद शब्द भी कहा, अपने-आप ध्वनित हो रहा है। इसके उत्पन्न होनेका कोई स्थूल कारण नही। ससार, मन और मायाकी सीमाके परे चेतन-मण्डल धुरधामसे यह आ रहा बताया गया है। यह आत्माको परमात्मासे जोडनवाला तार है। इसके अभ्याससे मन पवित्र होता है। आत्मा सब आवरणासे मुक्त होकर शब्द-धुनमे लीन हो जाता है। शब्द उसे अपने मूल स्रोत परमात्माम मिला देता है। नाम या शब्दका सम्बन्ध आत्मासे होता है। आत्माक सुननेकी शक्तिको सतोने सुरत और देखनेकी शक्तिको निरत कहा है। मीराने कहा—

मैं गिरधर रँग राती, सैयाँ मैं॥
× × ×
मेरा पिया मेरे हीय बसत है ना कहुँ आती जाती॥
× × ×
सुरत निरतको दिवलो जोयो मनसाकी कर ली बाती॥

सत पलटूने भी गाया—

दीपक बारा नाम का महल भया उजियार॥
× × ×
सब्द किया परकास मानसर ऊपर छाजा॥
× × ×
पलटू अँधियारी मिटी बाती दीन्ही टार।

भगवान् श्रीकृष्णने इसी शब्दरूपी नादको, वशी-ध्वनिद्वारा अपनेमे प्रीति रखनेवाले वृन्दावनके प्रत्येक आबाल वृद्ध गाप-गोपियोंमें, पशु-पक्षियोंमें, स्थावर-जगममें पत्र-पत्रम, कण-कणम और अणु-अणुमें भर दिया। श्रीकृष्णके साथ नाद या शब्द अथवा ध्वनिका पूर्ण अवतार उनके वेणुरूपम हुआ था। उसी वेणु-निनाद अथवा वेणु विनिर्गत ब्रह्म-नादामृतका पान करके वृन्दावनके सभी जीव चर-अचर साक्षात् रसराजकी रसधाराम प्लावित हो गये। उस वशी-ध्वनिने धरा लोकको ही नहीं अपितु तीना लोकोको प्रभावित किया। ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी उससे अछूते नहीं रहे। तभी तो कृष्णकी वशी भगवत्प्रेमकी निवासभूता कही गयी।

'जिनको भगवान्से प्रेम हो गया है और जो अपने उस परम प्रेमीके चिन्तनम ही सदा चित्तको लगाये रखते है, वे सारे त्रैलोक्यका वैभव मिलनेपर भी आधे क्षणके लिये भी चित्तको प्रियतमके चिन्तनसे नहीं हटाते।'

'जा भगवान्के प्रेमी है, उन्हे यदि भगवत्प्रेमके लिये नरक-यन्त्रणा भी भोगनी पड़े तो उसम भी उन्हे भगवदिच्छा जानकर आनन्द ही होता है। उन्हे नरक-स्वर्ग या दु ख-सुखके साथ कोई सरोकार नहीं। वे तो जहाँ, जिस अवस्थामे अपने प्रियतम भगवान्की स्मृति रहती है, उसीमे परम सुखी रहते है।'

विरहयोग

विरह एक अति विलक्षण योग है। एक विषकी घूँट है, नीमका चबाना है, कुनैनका फाँकना है। परतु हाय रे! यह विष कितना मधुर है! कितना सरस है! कितना अमरत्व रखता है! जाकर पूछो उन गोपियासे, उद्धवने क्या कुछ कम प्रयत्नोद्वारा ज्ञानामृतकी धाराआसे उनके तप्त अन्त करणको शीतल करना चाहा। परतु गोपियोका विरहरूप विषम ज्वर तो उसमे उलटा उग्र रूप ही धारण करता चला गया। विरहकी वायु बेकाबू होकर भडक उठी। तीनो दोषाका सनिपात हो गया। गोपियाँ आँय-बाँय बकने लगीं। परिणाम यह हुआ कि वह विरहका सक्रामकरोग उद्धवपर भी सवार हो गया। उद्धवको भी अपनी कुछ सुध-बुध न रही। उनके ज्ञान-मिक्सचरकी शीशीकी डॉट न जाने कब निकल गयी! उन विरह-सर्प-दशित गोपियोकी मस्तीकी झूमने उद्धव-जैसे ज्ञान-गारुडीको भी मतवाला बना दिया।

विरह एक जादू है, जो सिरपर सवार होकर बालता है। विरह एक नशा है, जो नेत्रोद्वारा दूसरेके हृदयम प्रवेश कर जाता है। विरह परमात्माकी एक दैन है जा किसी विशिष्ट कृपापात्रपर ही उतरती है। वह श्यामसुन्दर जिसपर विशेष प्रसन्न होता हे, उसीको अपना विरह-पुरस्कार प्रदान करता है—

> जिसपर तुम हो रीझते, क्या देते जदुबीर।
> रोना-धोना सिसकना, आहोकी जागीर॥

वास्तवमे विरह एक अलौकिक जागीर है, जो किसी भाग्यवान्के भाग्यमे बदा होती है। सच्चा विरही अपने प्रेमपात्रको पाकर उतना सतुष्ट नहीं होता, जितना उसके विरहमे व्याकुल होता हुआ रो-रोकर।

> जो मज़ा इतज़ारीमे देखा। न वह मज़ा वस्ले यारीमे देखा॥

उसे रोनेमे जो आनन्द आता है, वह न शुष्क ध्यानके लगानेम आता है और न खाली मालाकी मणियाँ निकालनेमे। उसे जितना आनन्द वाष्पपूर्ण कण्ठसे गद्गद होकर चुप रह जानेमे मिलता है, उतना आनन्द किसी भी सुरीले कण्ठमे स्तोत्रके गानेमे नहीं मिलता। उसे जितना आनन्द परोक्षस्थ अपने प्रियतमको खरी-खोटी सुनानमे मिलता है, उतना उसको अपनी हितकाम्य प्रार्थना करनेमें नहीं।

> जिन्हे है इश्क सादिक़ वे कहाँ फरियाद करते है।
> लबोपर मुहर ख़ामोशी दिलोमे याद करते हैं॥
> मुहब्बतके जो क़ैदी है न छूटेगे वे जीते जी।
> तड़पते है, सिसकते है, उसीको याद करते है॥

विरह एक जजीर है, जो अपने प्रियतमके कण्ठमे पडकर अपने हृदयकी खूँटीसे बँधी रहती है। यह जजीर ज्यो-ज्यो खिचती है, त्यो-त्यो ही उस अलौकिक वेदनाकी हूले उठा करती हैं। जब किसी पुण्यवान् व्यक्तिके महान् जप-तप और यम-नियमादि साधन फलीभूत होते हैं, तब भगवान् उनके फलस्वरूप साधकके हृदयम अपने विरहकी आग भडका देते हैं और आप दूर खडे तमाशा देखा करते हैं। वह तो 'हाय, जला रे जला' पुकारता है और आप खडे-खडे हँसते हैं! उस विरहकी उग्र आगमे पाप-ताप तो कहाँ बचने थे, स्वय जप-तप भी ईंधन बनकर जलने लगते हैं।

मीरा गिरधरलालका नाम लेनेके लिये गि' 'र' ही कह पाती है कि पहले ही आँसू गिर पडते हैं। मुँहके आगे डॉट आ जाती है, मानो स्वय गिरधरने मुँह बद कर दिया हो। यह सब विरहदेवकी करतूत है। जब विरहका पारा रोम-रोममे पसर जाता है तो आँखे अपलक हो जाती हैं और जिह्वा काष्ठजिह्वा! जब यह कच्चा पारा हृदयकी नस-नसमे भर जाता है तो मनमृग भी चौकडी भरना भूल जाता हे। यदि कहीं अधिक परिमाणमे चढ गया तब तो मीराकी भाँति प्राणोका स्पन्दन ही बद हो जाता है। तडप-तडपकर प्राण देना ही तो विरहीका ध्येय होता है। उसे इस तडपमे ही मजा मिलता है। वह मौजी इस मजेकी आगमे जलकर ख़ाक हो जानेमे ही सब कुछ भर पाता है।

विरही तो विरहानलम इतना जल जाता है कि उसे मौत भी नहीं ढूँढ पाती—

> बिरह अगिन तन मै तपै, अग सबै अकुलाय।
> घट सूना जिव पीव महँ, मौत ढूँढ फिरि जाय॥

(कबीर)

विरह किसी पोथीके पढनेसे नहीं प्राप्त हो सकता। विरहयोगका दाता कोई गुरु भी नहीं है। विरह कोई विश्वविद्यालयमें सीखने-सिखानेका विषय भी नहीं है। विरह तो अपना शिक्षक, अपना गुरु और अपना शास्त्र आप ही है। विरहका अर्थ है—अपने प्रियतमके प्रेमपर मर मिटनेकी लगन!

उरमे दाह, प्रवाह दृग, रह-रह निकले आह।
मर मिटनेकी चाह हो, यही विरहकी राह॥

विरहयोग सुगम-से-सुगम और कठिन-से-कठिन है। सुगम तो यों है कि इसमें न तो किसी उपकरणविशेषकी आवश्यकता है और न कोई विधि-विधान ही है। एक लगन ही इसका प्रबल साधन है। कठिन यों है कि यह भगवत्कृपा बिना किसी साधनविशेषसे कदापि प्राप्त होनेयोग्य नहीं। जिस प्रकार मरनेकी क्रिया नकली नहीं हो सकती, उसी प्रकार विरह-दशा भी नकली नहीं हो सकती।

बडे-बडे ऋषि-मुनि उग्र तपस्याएँ कर-कर धूलिमें मिल-से गये। परतु उन भोली-भाली गोपकन्याओंके चरणोंकी धूलिकी भी समता वे नहीं कर सके। ऋषियोंने अनेक नूतन योगोंका आविष्कार किया परतु गोपियोंकी विरहदशाको देखकर वे लज्जित हो गये। वास्तवमें विरहयोगके सामने कोई योग ठहर नहीं सकता। भगवान् एक फौलादका टुकडा है, जो साधारण अग्निसे नहीं गल सकता। उसको पानी बनानेके लिये कितने ही उपाय निकाले गये परतु उन सब उपायों (योगों)-में एक-से-एक बढकर कठिनता पेश आयी। एक विरहयोग ही सुगम-से-सुगम उपाय सूझा, जिसके तापसे भगवान् तत्क्षण पानी-पानी हो चलते हैं। अन्य जितने भी योग हैं उन सबमें किसी-न-किसी अंशमें अहकार लिपटा ही रहता है। एक विरह ही ऐसा योग है कि जिससे अहकार कोसों दूर रहता है और जहाँ अहकार नहीं है, वहीं वह प्यारा यार बसता है।

अनेक भक्त महात्माओंने विरहके नशेको भरपेट पिया है। वे उसकी मस्तीमें जो कुछ बोले हैं वह सुननेकी एक चीज है।

चरनदासजी

महात्मा चरनदासजीने विरहके जो फोटो लिये हैं, वे देखते ही बनते हैं—

मुख पियरो सूख अधर, आँखैं खरी उदास।
आह जो निकसै दुखभरी, गहिरे लेत उसास॥
वह बिरहिन बौरी भई, जानत ना कोइ भेद।
अगिन बरै हियरा जरै, भये कलेजै छेद॥
अपने बस वह ना रही, फँसी विरहके जाल।
चरनदास रोवत रहै, सुमर-सुमर गुन ख्याल॥
बै नहिं बूझै सार ही, बिरहिनि कौन हवाल।
जब सुधि आवै लालकी चुभत कलेजै भाल॥

महात्मा चरनदासजीने विरहयोगपर जो अपना दो टूक फैसला दे दिया है वह रिकार्डकी एक चीज है।

पी पी कहते दिन गया, रैन गई पिय ध्यान।
विरहिनके सहजै सधै भगति जोग तप ग्यान॥

दयाबाई

साध्वी श्रीदयाबाई रो-रोकर अपने मनमोहनसे कहती है—

बिरह ज्वाल उपजी हिय, रामसनेही आय।
मनमोहन! सोहन सरस तुम देखणदा चाव॥
बिरह-बिथासूँ हूँ बिकल दरसन कारण पीव।
दया दया की लहर कर, क्या तलफावो जीव॥

महात्मा कबीरने विरहके बाण सहे हैं, वे इस अग्निसे खेले हैं, इस सर्पसे दंशित हुए हैं। इसका उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे वर्णन किया है। वास्तवमें विरह-वेदनासे निकली हुई जो कबीरजीकी आहें हैं, वे किस पाषाण-हृदयको नहीं पिघला देती हैं?

हौ हिरनी पिया पारधी, मारे शब्दके बान।
जाहि लगै सो जानही और दरद नहिं जान॥
मै प्यासी हौ पीवकी, रटत सदा पिव पीव।
पिया मिलै तो जीव है सहजै त्यागो जीव॥
पिय कारन पियरी भई लोग कहैं तन रोग।
छ छ लघन मै करे पिया मिलनके जोग॥
बिरह बड़ो बैरी भयो हिरदा धरै न धीर।
सुरत सनेही ना मिलै तब लगि मिटे न पीर॥

(कबीर)

आह! विरहका कॉसा हाथमे लेकर ये वैरागी नयन प्यारेकी छविकी भीख पाकर मस्त रहते हैं—

बिरह कमडल कर लिये, बैरागी दोउ नैन।
माँगे दास मधूकरी, छके रहै दिन रैन॥
बिरह भुअगम पैठि कै, किया कलेजै घाव।
बिरही अग न मोड़िहै, ज्यो भावै त्या खाव॥
कै बिरहिनको मीच दै, कै आपा दिखलाय।
आठ पहरका दाझना, मोपै सहा न जाय॥

विरहार्थियोको श्रीकबीरजी उपदेश करते हैं—

बिरहा सेती मत अड़ै, रे मन! मोर सुजान।
हाड मॉस सब खात है, जीवत करै मसान॥
कबीर' हँसना दूर कर, रोनेसे कर चीत।
बिन रोये क्यो पाइये, प्रेमपियारा मीत॥
हँस हँस कत न पाइयाँ, जिन पाया तिन रोय।
हाँसी खेलै पिव मिलै, कौन दुहागिन होय॥
रक्त माँस सब भख गया, नेक न कीन्हीं कान।
अब बिरहा कूकर भया, लागा हाड चबान॥

वाहवा! वाहवा!! क्या यह विरहका कूकर शरीरकी अस्थियोको भी चबा डालता है? परतु कबीरजी महाराज! यहाँ तो हमारे-जैसे विरही कहलानेवाले दिनमे तीन बार तुलते हैं कि कहीं वज़न कम न हो जाय।

विरहकी ज्वालामे जले बिना, उसमे खाक हुए बिना इस हृदयकी फौलादका कुश्ता हो ही नहीं सकता—

बिरह अगिन तन जालिय, ग्यान अगिन दौ लाइ।
'दादू' नख सिख पर जलै, राम बुझावै आइ॥
बिरह जगावै दर्दको दर्द जगावै जीव।
जीव जगावै सुरतिको, पच पुकारै पीव॥
जब बिरहा आया दई कडुवे लागै काम।
काया लागी काल है, मीठा लागा नाम॥
जो कबहूँ बिरहिन मरै, सुरत बिरहनी होय।
'दादू पिव पिव जीवताँ मुआँ भी हेरै सोय॥

(दादूदयालजी)

'सुन्दर' बिरहिनि अधजरी, दुख कहै मुख रोइ।
जरि बरि कै भसमी भई, धुवाँ न निकसै कोइ॥
ज्या ठग मूरी खाइ कै, मुँह नहिं बोलै बैन।
टुगर टुगर देख्यो करै, 'सुन्दर' बिरहा ऐन॥

(सुन्दरदासजी)

एक उर्दू कवि कहता है—

ज़बानी हाल यूँ कहना तू जाकर नामावर पहले।
हमारी आह गिरियाँकी तु कर देना खबर पहले॥
तेरी उल्फतके कूचेमे नफा पीछे ज़रर पहले।
अकल जाती है इस कूचमे ए'जामिन' गुज़र पहले॥

वास्तवमे विरहके कूचेमे अकल नहीं रहती। विरह-जैसी बीमारीको पाकर ही वास्तवमे नीरोग होना है। इस विरहने सब सत-भक्तोको रुला-रुलाकर मारा है और जो इससे वञ्चित रह गया तो समझ लो अमृतके समुद्रमे मुँह बद करके ही उसने गोते लगाये हैं, उसमे गुचकियाँ नहीं खायीं। उसे हिलकियाँ नहीं आयीं और उसने सुबकियोका स्वाद नहीं चखा। दरिया साहब कहते हैं—

'दरिया' हरि किरपा करी, बिरहा दिया पठाय।
यह बिरहा मेरे साधको, सोता लिया जगाय॥
बिरहा ब्यापा देहमे, किया निरन्तर बास।
तालाबेली जीवमे, सिसके साँस उसास॥

अलबला साधु बुल्लेशाह कहता है—

कद मिलसी मै विरहा मताई नूँ॥
आप न आवे न लिखि भेजै भट्ठि अजे ही लाई नूँ।
तौजेहा कोइ होर नाँ जाणा, मैं तनि सूल सवाई नूँ॥
रात-दिने आराम न मैनूँ खावै विरह कसाई नूँ।
बुल्लेशाह' धृग जीवन मेरा जौलग दरस दिखाई नूँ॥

'सौ सयानोका एक मत' इस लोकोक्तिके अनुसार विरहका अनुभव, सब महात्माओका समान उतरता है। वास्तविक वर्णन तो विरहीकी दशा ही कर सकती है।

लीला-दर्शन—

कन्हाईकी तन्मयता

यह कन्हाई अद्भुत है, जहाँ लगेगा, जिससे लगेगा, उसीमे तन्मय हो जायगा और उसे अपनेमे तन्मय कर लेगा।

श्रुति कहती है—'रूपः रूप प्रतिरूपो बभूव।'

(बृहदा० २।५।१९)

वह परमात्मा ही जड-चेतन, पानी-पत्थर, पेड-पौधे, अग्नि-वायु-आकाश, पशु-पक्षी, कीडे-पतगे, सूर्य-चन्द्र-तारे सब बन गया है, किंतु मैं उस किसी अलक्ष्य, अगोचर, अचिन्त्य परमात्माकी बात नहीं करता हूँ। मैं करता हूँ इस अपने नटखट नन्हे नन्द-नन्दनकी बात। यह केवल स्वय तन्मय नहीं हो जाता, दूसरेको भी अपनेमे तन्मय कर लेता है।

ऐसा नहीं है कि यह केवल श्रीकीर्तिकुमारी या दाऊ दादामें तन्मय—एकरूप हो जाता हो। यह क्या अपनी वशी अधरोपर रखता है तो स्वरसे कम एकाकार होता है? अथवा किसी गाय, बछडे-बछडीको दुलराने-पुचकारने लगता है तो इसे अपनी कोई सुध-बुध रहती है। यह सखाओंसे ही नहीं, मयूर-मेढक-कपि, शशकसे भी खेलमें लगता है तो तन्मय। गाने, नाचने, कूदनेमे ही नहीं, चिढानेम भी लगता हे तो तन्मय ही होकर। इसे आधे मनसे कोई काम जैसे करना ही नहीं आता है।

रही दूसराकी बात, सो मैया यशोदाका लाडला सामने हो तो क्या किसीको अपने शरीरका स्मरण रह सकता है? यह तो आते ही सबको अपनेम खींचता है, अपनेसे एक करता है, अन्तत कृष्ण हे न।

अब आजकी ही बात है, कन्हाई यमुनातटपर अकेला बैठा गीली रेतसे कुछ बनानेमे लगा था। बार-बार नन्हे करोसे रेत उठाता था और तनिक-तनिक बहुत सँभाल कर धरता था। पता नहीं कैसी रेत है कि टिकती ही नहीं। गिर-गिर पडती है रेत, किंतु कन्हाई कहीं ऐसे हारनेवाला है, वह लगा है अपने महानिर्माणमें। लगा है—तन्मय है।

पता नहीं, सखा कब चले गये, दाऊ दादा भी चला गया। सबने पुकारा, बुलाया, कहा, किंतु जब यह सुनता ही नहीं तो सब खीझकर चले गये कि अकेला पडेगा तो स्वय दौडा आयेगा, किंतु इसे तो यह भी पता नहीं कि आसपास कोई सखा नहीं है, यह अकेला है।

मैया पुकारती रही, पुकारती रही और अन्तमें समीप आ गयी यह देखने कि उसका लाल कर क्या रहा है। क्यों सुनता नहीं। अन्तत अब आतपमें कुछ प्रखरता आने लगी है। इस धूपमे तो इस सुकुमारको नहीं रहने दिया जा सकता।

कटिम केवल रत्नमेखला और कटिसूत्र है। कछनी तो इसे उत्पात लगती है। उसे आते ही खोलकर फेंक दिया था। कुछ पीछे रेतपर पडी है वह पीतकौशेय कछनी। बार-बार ढीली होनेवाली कछनीको यह कबतक सँभालता?

चरणोमे मणि-नूपुर हैं। करोमें ककण हैं। भुजाओंमें अगद हैं। कण्ठम छोटे मुक्ताओंके मध्य व्याघ्रनख है। कौस्तुभ है गलेमे। भालपर बिखरी अलकोके मध्य कज्जल-बिन्दु है। थोडी अलकोको समेटकर उनमें मैयाने एक मयूरपिच्छ लगा दिया है। बडे-बडे लोचन अञ्जन-मण्डित हैं।

दोनो करोमे गीली रेत लगी है। दोनो चरण आगे अर्धकुञ्चित किये बैठा है। पूरे पदोपर, नितम्बपर गीली रेत चिपकी है। स्थान-स्थान और वक्षपर कपोलपर भी रेतके कण लगे हैं।

पुलिनपर बहुत-से बालकोके पदचिह्न हैं। गीली रेतपर—सूखी रेतमे भी शतश बालकोके खेलनेके चिह्न हैं। रेत कहीं एकत्र है, कहीं कर-पदोसे फैलायी अथवा बिखेरी गयी है। गीली रेतपर कहीं छोटे गड्ढे हैं अथवा रेतकी ढेरियाँ हैं। मैया इनके मध्यसे ही चलती आयी है। उसने समीप आकर कन्धेपर कर रखकर पूछा है—'तू अकेला यहाँ क्या कर रहा है?'

'मैं?' चौंककर कन्हाईने मुख उठाया—नेत्र हर्षसे

चमक उठे—'अरे यह तो मैया है।'

मुख धूपसे कुछ अरुणाभ हो उठा है। भालपर, कपोलापर नन्हे स्वेद-कण झलमला उठे हैं। मैयाको देखकर यह झटपट उठ खडा हुआ है।

'तू अकेला यहाँ कर क्या रहा है ?' मैया किञ्चित् स्मितके साथ पूछती है।

'अकेला ?' श्याम एक बार सिर घुमाकर आसपास देखता है। उसे अब पता लगता है कि वह अकेला है। ये सब सखा—दाऊ दादा भी उसे छोडकर चले गये ? अकेला वह कैसे रह सकता ह, किंतु अब तो मैया समीप आ गयी है। दोनो भुजाएँ मैयाकी गोदमें जानेको उठा देता हे।

'तू कर क्या रहा था ?' मैया हँसती है। कन्हाईको अब कहाँ स्मरण है कि वह क्या बना रहा था। एक बार मुख झुकाकर गीली रेतकी उस नन्ही ढेरीको देखता है और फिर मैयाके मुखकी ओर देखता है दोना भुजाएँ फैलाये।

श्यामके नेत्रोम उलाहना हे, खीझ है—'तू कैसी मैया हे कि स्वय समझ नहीं लेती कि उसका लाल क्या बना रहा था। जब वह इतनी तन्मयनासे इस महानिर्माणमे लगा था तो दुर्ग-ग्राम, गाय-बेल, कपि-गज कुछ तो बना ही रहा था। अब उसे तो स्मरण नहीं। उसे तो मैयाकी गोदमे चढना है और मैया हँसती हे। हँसती है और पूछती है।'

यह भी कोई बात है कि मैया उसे गोदमे नहीं लेती और पूछती है। अब यह खीझनेवाला है। अपनी ही भावनाम तन्मय, अब तो मैयाकी गोद और सम्भवत उसका अमृतपय ही इसे स्मरण है।

भगवान्को प्रेम कैसे दे ?

(डॉ० श्रीभीकमचन्दजी प्रजापति)

प्रेम दनेका आशय—प्रेम देनेका अर्थ है—अपने प्रभुको प्रसन्नता देनेकी भावना रखना। अपने शरीर इन्द्रिय, वाणी, व्यवहार और बाह्य वस्तुआके द्वारा उन्हे भरपूर प्रसन्नता देना। उनकी प्रसन्नताके लिये प्रसन्नतापूर्वक अपने बडे-से-बडे सुखको छोड देना उनकी प्रसन्नताके लिये प्रसन्नतापूर्वक बडे-से-बडे दु खको झेल लेना उनको प्रसन्नता देनेके बदलेम अपने सुखके लिये उनसे कुछ नहीं माँगना। यह मोचनातक नहीं कि मैं उन्हे प्रसन्नता दूँगा तो वे मुझे वापस प्रसन्नता दगे केवल यही सोचना और माँगना कि मुझे एसी शक्ति दीजिये कि मैं आपको प्रसन्नता देता रहूँ, देता रहूँ, देता रहूँ।

प्रेम कितनी देरतक द—आपके पास प्रतिदिन चौबीस घटेका समय रहता है, चौबीसा घटे भगवान्को प्रेम दीजिये। आप अपना समय दो प्रकारसे व्यतीत करते हैं—

१-निवृत्तिमे—कुछ समय आप अकेले बैठकर अपनी साधना करते हैं जैसे भगवान्की पूजा, स्तुति उपासना पाठ, जप, कीर्तन भजन, स्वाध्याय तथा ध्यान आदि। इसे 'निवृत्तिकाल' कहते हैं। इसमे आप सामान्यतया आधा घटेसे तीन-चार घंटेका समय व्यतीत करते हैं।

२-प्रवृत्तिम—कुछ समयतक आप अपने शरीर, घर, परिवार व्यापार, नौकरी ऑफिस समाज आदिके काय करते हैं। इसे 'प्रवृत्तिकाल' कहते हैं। इसम आप

सामान्यतया चोदह-पद्रह घटे व्यतीत करते हैं। शेप समय नींदम व्यतीत हो जाता हे।

निवृत्तिकालम प्रेम देनेकी विधि—इस विधिके मुख्य अङ्ग इस प्रकार हें—

(क) भाव रख—जब आप भगवान्‌की पूजा कर, उन्हे चन्दन लगाये, पुष्प चढाये, जल चढाये, फल चढाय, प्रसाद अर्पित कर, आरती उतार, चरणामृत ल प्रणाम करे, तब अपने मनमे यह साचे कि इन सबसे मेरे प्रभुको प्रसन्नता मिल रही है। ये सब कार्य भगवान्‌की प्रसन्नताक उद्दश्यसे ही कर।

(ख) निर्णय लीजिये—आप अपने लिय निम्नलिखित निर्णय लीजिये—

आपका है—सोचिये, आपके पास क्या है? इस विशाल ससारमे आपको जो 'मेरा' मालूम हाता है, वही आपके पास हे। अपना शरीर, निकट परिवारजन (पति, पत्नी सतान, माता-पिता आदि) ओर निजी वस्तुएँ तथा सम्पत्ति आपको मेरी मालूम होती हैं। इसलिये निर्णय कीजिये कि हे प्रभो! मेरे पास जो कुछ है, वह आपका है, उसके मालिक आप हें। हे प्रभो! शरीर परिवारजन, सम्पत्ति आपकी है। इन तीनाके मालिक आप हें।

सँभालना—हे प्रभो! जबतक आपकी सोंपी हुई वस्तुएँ तथा मम्पत्ति मेरे पास हैं, तबतक मैं आपकी हर वस्तु एव सम्पत्तिको सँभाल कर रखूँगा और हितकी भावनासे शरीर, परिवारजन एव जनसमाजके लिये उनका उपयोग करूँगा।

प्रसन्नता देना—हे प्रभो! जबतक आपद्वारा सोंपा गया शरीर तथा परिवारजन मेरे पास हैं, तबतक इन्हे में आपका मेहमान मानकर इनका हित सोचूँगा, हित करूँगा, हितभावसे इनको सुख सुविधा सम्मान तथा प्रसन्नता दूँगा। इनकी प्रसन्नताके लिये प्रसन्नतापूर्वक अपना सुख छोड दूँगा। इनकी प्रसन्नताके लिये प्रसन्नतापूर्वक बडे-से-बडा दु ख झेल लूँगा।

जा चाहे सो कर—हे प्रभो! मैं अपनी तरफसे आपकी वस्तुआको पूरी सावधानीपूर्वक सँभाल लूँगा। आपने नौकरी व्यापार घर-परिवार आदिका जो श्रीदायित्व मुझे सौंपा है, उसे मैं अपना पूरा समय, शक्ति वल, बुद्धि योग्यता तथा अनुभव लगाकर पूरी सावधानीसे करूँगा। आपके कार्यमे कणमात्र भी लापरवाही नहीं करूँगा और आपके मेहमानाको भरपूर प्रसन्नता दूँगा। आप इनके साथ वही करना जिसम आपकी प्रसन्नता हा। मैं इनके सम्बन्धम आपपर मनसे भी किसी प्रकारकी ऐसी शर्त नहीं लगा रहा हूँ कि आप इन वस्तुआको मरे पास रख ही। मेरी नौकरीको बनाये रखे ही, व्यवसायमे लाभ दे ही, परिवारजना और शरीरको बनाये ही रख आदि। मेरी कोई शर्त नहीं है, आप इनके साथ जो आपकी इच्छा हो वही कर, जिसमे आपकी प्रसन्नता हो, वैसा ही करे। मैं तो आपकी प्रसन्नता चाहता हूँ, बस। आपकी प्रसन्नता ही मेरे जीवनका एकमात्र लक्ष्य है, मेरी केवल एक ही इच्छा है कि आप प्रसन्न रहे। इसके अलावा मेरी कोई इच्छा नहीं है।

आनन्दविभोर हो जाना—हे प्रभो! आप अपनेद्वारा सोंपे गये शरीर परिवारजना और सम्पत्तिको जहाँ-जैसे, जिस अवस्थामे रखगे, मैं उसमे पूर्ण सतुष्ट और अत्यन्त प्रसन्न रहूँगा। जब आप इनको वापस लगे, तब भी मैं आनन्दित रहूँगा। मे यह सोचकर आनन्दविभोर रहूँगा कि मरे प्रभुकी प्रसन्नता इसीमे है।

प्रवृत्तिकालमे प्रेम देनेकी विधि—इस विधिके मुख्य अङ्ग इस प्रकार हें—

प्रवृत्तिकालम प्रभुका स्वरूप—निवृत्तिकालमे आपके प्रभुका स्वरुप वह है, जिनकी आप पूजा करते हैं। आप उनका कोई भी स्वरूप और नाम रख सकते हैं। प्रवृत्तिकालमे आपके प्रभुका स्वरूप है—'जगत् या ससार'। ज्ञानकी दृष्टिसे ससार नाशवान् है। जो जन्मता है, बढता है, बदलता है बिगडता है और अन्तमे मर जाता है उसे ससार कहते हैं। भगवत्प्रेमकी दृष्टिसे जगत् प्रभुका स्वरूप है। जो साधक जगत्‌को प्रभुका स्वरूप मानकर इसे प्रेम देता है उसे जगत्‌के कण-कणमे परमात्माके दर्शन होते रहते हैं। श्रीरामचरितमानस (१। १८४। ५)-मे भगवान् शङ्करकी वाणी है—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं म जाना॥

अर्थात् मैं तो यह जानता हूँ कि भगवान् सब जगह

समानरूपसे व्यापक हैं, प्रेमसे वे प्रकट हो जाते हैं।

माने, बोले एव निश्चय करे—साधनाके आरम्भमे आपको जगत्‌मे प्रभुके दर्शन नहीं होगे। कोई चिन्ताकी बात नहीं। भगवान्‌की वाणीमे विश्वास करके आप मनमे यह सोच ले, मान ले, निश्चय कर ले कि मेरे प्रभुने ही जगत्‌का वेष बनाया है और मुझे इनको प्रेम देना है। प्रेममे मेरे प्रभु प्रकट हो जायँगे अर्थात् दिखने लग जायँगे। अपनी वाणीसे इस वाक्यको दिनम सैकडो-हजारो बार बोले और अपने कानासे सुन—हे प्रभो! जगत्‌के रूपमे आप स्वय पधारे हैं, इसलिय कि मैं प्रवृत्तिकालम आपको प्रेम दे सकूँ।

आरम्भ करे—अपने परिवारके प्रत्येक सदस्यको प्रभुका स्वरूप मानकर मनमे इस प्रकार प्रणाम करे—हे प्रभो! आप ही मेरे पुत्र, पुत्री, पति, पत्नी, माता, पिता, भाई, बहन बनकर पधारे हैं, आपके इस रूपको मेरा प्रणाम। प्रात काल उठत ही आप वाणीसे बोलकर सबको बारी-बारीसे अपने कमरेम बैठे-बैठे ही प्रणाम कर ले। शनै -शनै इस कार्यको बढाये। हर घटे-आधे घटेके बाद प्रणाम करे।

जबतक परिवारजनोम प्रभुके दर्शन न हो, तबतक निम्नलिखित प्रकारसे प्रेमकी साधना करे—

दु ख न दे, क्षमा माँग ल—किसी भी प्रकारसे कभी भी उन्हे दु ख न दे, उनका अपमान न करे। उनका अपमान साक्षात् प्रभुका ही अपमान है, उन्ह दु ख देना साक्षात् अपने प्रभुको ही दु ख देना है। उनकी निन्दा आलोचना तिरस्कार न कर, उन्हे कटु वचन न बोल, उनके साथ मिथ्या न बोले उनपर क्रोध न करे, उनकी निन्दा न सुने उनके दोष दीखनेपर क्रुद्ध न हो, करुणित हो उनके साथ किसी भी प्रकारकी बुराई न कर, उनका बुरा न सोचे अपने मनमे भी उनको बुरा न समझ। अपने व्यवहार अथवा अन्य किसी भी प्रकारसे उनका अपमान न करे।

यदि वे आपको दु ख दे हानि पहुँचाये, अपमानित करे, आपकी निन्दा, निरादर करे तो भी आप उन्ह बदलेम दु ख न दे। आपम उन्हे दु ख न देनेकी शक्ति तब आयेगी जब आप इस सत्यका स्वीकार करग कि मुझे कोई दु ख नहीं दे सकता। मेरे दु खका मूल कारण मेरे अपने ही कर्म ह अथवा मेरी अपनी ही भूल है। वह भूल है—पराधीनता।

प्रतिज्ञा कीजिये कि प्रवृत्तिकालमे आप उन्हे दु ख नहीं देगे। प्रतिज्ञा करनेके बाद भी यदि आप भूलसे उन्हे दु ख दे द तो उनसे क्षमा माँग ले और पुन दु ख न देनेकी प्रतिज्ञा कर ले।

उनके विशुद्ध हित, कल्याण और वास्तविक भलाईके लिये करुणापूर्ण हृदयसे आप उन्ह दु ख देनेका अभिनय कर सकते है। यहाँसे भगवत्प्रेमकी साधना आरम्भ होती है—

सुख-सुविधा, सम्मान एव प्रसन्नता दें—कुल, परिवार, समाज और शास्त्रकी मर्यादाका पालन करते हुए आप अपनी शक्तिके अनुसार परिवारके सदस्याको सुख-सुविधा सम्मान एव प्रसन्नता दीजिये, उनकी आवश्यकताएँ पूरी कीजिये, उनको सब प्रकारका सहयोग दीजिये, उनका हित कीजिये। विभिन्न प्रकारसे उनकी भरपूर सेवा कीजिये।

त्यागकी शक्ति—यदि आप प्रेमकी उपर्युक्त साधना करेगे तो प्रभु आपको ऐसी विचित्र शक्ति दगे कि परिवारजनोकी प्रसन्नताके लिये आप प्रसन्नतापूर्वक अपने सुखका त्याग कर दगे, प्रसन्नतापूर्वक बडे-से-बडा दु ख झेल लेगे। भगवत्कृपासे समाज और ससारको प्रेम देनेकी शक्ति आपम स्वत आ जायगी। स्मरण रहे, समाज और ससारके साथ किसी भी प्रकारकी बुराई न करना ही इनको प्रेम देना है।

कुछ न चाहे—प्रेम देनेके बदले आप कुछ न चाहे—न भोग (सासारिक सुख) न मोक्ष न अभी, न कभी, न परिवारसे न, समाज एव ससारसे और न ससारके मालिक भगवान्‌से। यदि आप अपने लिये कुछ भी चाहेगे तो आपका प्रेम स्वार्थमे बदल जायगा।

शरीरको प्रम द—स्थूल शरीरको 'मैं' और 'मेरा' न माने, इसे प्रभुका मेहमान मानकर श्रमी, सयमी सदाचारी और स्वावलम्बी रखे, प्रभुके द्वारा वापस लेनेपर प्रसन्नतापूर्वक लौटा दे—यही 'स्थूल शरीर' को प्रम देना है। ममता कामना राग-द्वेष दीनता और अभिमानकी भावना न रखे—यही 'सूक्ष्म शरीर' को प्रेम देना है। बुराई न करे

स्वत होनेवाली भलाईके कर्ता न बने, न उसका फल चाहे, 'मैंपन' को मिटा ल—यही 'कारण-शरीर' को प्रेम देना है।

सम्पत्तिको प्रेम दे—आपके पास जो भी चल-अचल सम्पत्ति हे, उसे प्रभुकी दी हुई धरोहर मानकर हितभावनासे शरीर, परिवारजन, निकटवर्ती जनसमाजके लिये उसका उपयोग कर। जब भी प्रभु उन्ह वापस ले तो उन्हे उनकी धरोहर प्रसन्नतापूर्वक लौटा दे। यही सम्पत्तिको प्रेम देना है।

प्रवृत्तिको पूजा बनाये—प्रवृत्तिका अर्थ हे—कार्य। आप दिनभर जो भी कार्य करे जैसे—शौच, स्नान, व्यायाम भोजन विश्राम आदि शरीरके कार्य तथा घर, परिवार, ऑफिस, व्यापार, नौकरी आदि समाजके कार्य—इनको करते समय यह सदैव याद रख कि ये मेरे प्यारे प्रभुके कार्य हैं, इनको पूरी सावधानीसे करना मेरे प्रभुकी पूजा है। इन कार्योको करनेसे मेरे प्रभुको प्रसन्नता मिलेगी। इस भावनासे सब कार्योंको करना ही प्रभुको प्रेम देना है। इस बातका विशेष ध्यान रखे कि आप अपने सुखके उद्देश्यसे कोई भी कार्य न करे, परहितकी भावनासे प्रभुकी प्रसन्नताके लिये ही सब कार्य कर।

इस प्रेमसाधनास प्राणिमात्रम आपको अपने प्रभुके दर्शन होगे, कण-कणम प्रभुकी झाँकी दिखेगी। आपको अनुभव होगा कि कोई और नहीं है कोई गैर नहीं है केवल प्रभु ही हैं, प्रभुके अलावा कुछ नहीं है, कुछ नहीं है, कुछ भी नहीं है। यही इस जीवनकी सर्वोच्च सफलता एव पूर्णता हे।

'रामहि केवल प्रेमु पिआरा'

(डॉ० श्रीजगेशनारायणजा शर्मा मानसमराल)

पूज्यपाद गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजने श्रीरामचरितमानसमे भगवान्‌की प्राप्तिके लिये एक अद्भुत विलक्षण सूत्र दिया है। गोस्वामीजीकी मान्यता हे कि भगवान्‌की प्राप्तिके लिये प्रेमका होना अनिवार्य है। प्रेम ही सम्पूर्ण साधनाआका सार तत्त्व है और यही भक्तिका प्राण भी है—

रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥
(रा०च०मा० २।१३७।१)

जप तप शम दम और नियम चाहे जितने भी साधन कर लिये जायँ लेकिन यदि प्रभुपदमे प्रेम नहीं हो तो उपर्युक्त सारे प्रयास निष्फल चले जायँगे।

भगवान् आशुतोष भोले शकरने भी दु खी देवताओको यही समझाया। ब्रह्माजीने बताया कि हमारी समस्याका एकमात्र समाधान प्रभु श्रीराम है किंतु उनको कहाँ पाया जाय? किसीने कहा कि वैकुण्ठलोकमे जाना होगा, किसीने कहा कि क्षीरसिन्धुमे उनका निवास है। इस प्रकार देवसमूहमे अनिश्चितताकी स्थिति व्याप्त हो गयी। तब ब्रह्माजीने भगवान् शकरसे कहा कि आप उचित समाधान दे। भगवान् शकरने कहा कि कहीं आने-जानेकी जरूरत नही है। सभी प्रेमभावसे यही प्रार्थना कर तो प्रभु यहीं प्रकट हो जायँगे—

बैठे सुर सब करहिं बिचारा। कहँ पाइअ प्रभु करिअ पुकारा॥
पुर बैकुठ जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई॥
तेहि समाज गिरिजा मैं रहेऊँ। अवसर पाइ बचन एक कहेऊँ॥
हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना॥
(रा०च०मा० १।१८५।१-२ ४ ५)

—और हुआ भी यही, सभी देवोने जैसे ही प्रेमपरिपूर्ण होकर आर्तभावसे प्रार्थना की वैसे ही वाणीरूपसे भगवान् प्रकट हो गये। आकाशवाणी हुई—

जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेसा॥
असन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहउँ दिनकर बस उदारा॥
(रा०च०मा० १।१८७।१-२)

शकरजीक कहनेका तात्पर्य यह है कि प्रेममे ही परमात्माको प्रकट करनेकी असीम शक्ति है निराकारको नराकार बनानेकी शक्ति है। प्रेमके अभावम सारी योग्यताएँ धरी-की-धरी रह जाती हैं। भगवती श्रुति भी इसा सिद्धान्तका अनुमोदन करती है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूः स्वाम्॥
(कठोपनिषद् १।२।२३)

यहाँ आत्माका अर्थ परमात्मा लेना चाहिये अथात् परमात्मा न तो प्रवचनसे, न बुद्धिसे और न शास्त्र-श्रवणसे प्राप्त किया जा सकता है। बल्कि जिसको यह स्वीकार कर लेता है, उसीके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और ये स्वीकार उसीको करते हैं, जिसको उनको पानेके लिये उत्कट इच्छा होती है, जो उनके प्रेमके लिये छटपटाते रहते हैं। इसी नि स्वार्थ प्रेमपर वह परमात्मा रीझ जाता है। पुन कृपापूर्वक वह अपने प्रेमी भक्तको अपना लेता है।

सत नानकदेवने भी यही कहा था कि जो उस परमात्मासे प्रेम करता है, वही उसे पा सकता है—

'जिन प्रेम कियो तिनहि हरि पायो।'

कबीर साहब तो ढाई अक्षरके प्रेमका ही ज्ञानकी पराकाष्ठा मानते हैं। उनकी दृष्टिमे प्रेमके बिना शास्त्रका कोरा ज्ञान बोझ ढोनेके समान है—

पोथी पढि पढि जग मुवा, पडित भया न कोइ।
ढाई अक्षर प्रेमका पढै सो पडित होइ॥

प्रेम-जैसा अमूल्य पदार्थ पाकर प्रभु भक्तोके अधीन हो जाते हैं। शबरी, निषाद, गोप-गोपी, वनवासी रीछ, बदर आदिने प्रेमसे ही परमात्माको अपने अधीन कर लिया।

शबरीके प्रेमसे खिंचकर रामजी उसकी कुटियामे आये। अचानक श्रीराम-लक्ष्मणको अपनी कुटियामे देखकर शबरी घबरा गयी अब कैसे इनकी पूजा करूँ, कैसे स्वागत करूँ? मैं तो कुछ भी नहीं जानती। अधम नारीको पूजा करनेका अधिकार भी तो नहीं है। तुलसीदासजीने उसकी भावदशाका बडा ही सुन्दर वर्णन किया है—

पानि जोरि आगें भइ ठाढी। प्रभुहि बिलोकि प्रीति अति बाढी॥
केहि बिधि अस्तुति करौं तुम्हारी। अधम जाति मै जड़मति भारी॥
(रा०च०मा० ३।३५।१-२)

शबरीके घरमे पदार्थोंका नितान्त अभाव है परतु अपने रामका दर्शन करते ही वह प्रेमसे पुलकित हो जाती है। गोस्वामीजीके शब्द ध्यान देने योग्य हैं—

'प्रभुहि बिलोकि प्रीति अति बाढी॥'
(रा०च०मा० ३।३५।१)

प्रीतिकी पराकाष्ठा देखकर स्वय भगवान् ही शबरीकी पूजा करने लगे। भगवान्ने भक्तिका रहस्य शबरीके समक्ष खोलकर रख दिया—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥
भगति हीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिअ जैसा॥
(रा०च०मा०३।३५।४—६)

यहाँ भक्तिको प्रीतिका पर्याय मानना चाहिये। प्रेम जब परमात्माके प्रति समर्पित हो जाता है, तब उसीका नाम भक्ति हो जाता है। शबरी अत्यन्त श्रद्धासे प्रभुको कन्द-मूल-फल आदि समर्पित करती है। प्रभु बडे प्रेमके साथ उन फलोको ग्रहण करते हैं। केवल ग्रहण ही नहीं करते, बल्कि बारम्बार उन फलाके स्वादका बखान भी करते हैं—

कद मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि।
प्रम सहित प्रभु खाए बारबार बखानि॥
(रा०च०मा० ३।३४)

गोस्वामीजी कहते हैं कि उन कन्द-मूल-फलोमे केवल रस ही नहीं भरा है, बल्कि वे 'सुरस' हैं। सासारिक सभी रसोसे जब उपरति (विरति) हो जाती है तब जीवनम 'सुरस' का आधान होता हे। शबरीका जीवन तो केवल 'रामरस' से भरा है। यही कारण है कि शबरीद्वारा अर्पित कन्द-मूल-फल 'सुरस' हैं। उन्ह बारम्वार माँगकर खानेमे भी प्रभुको तृप्ति नहीं मिलती है—

'केहि रुचि केहि छुधा सानुज माँगि माँगि प्रभु खात॥'
(गीतावली ३।१७।६)

ठन सुरस फलोमे प्रभुको इतना अधिक आनन्द आया कि जहाँ-कहीं भी जाते हैं, वहीं शबरीके आतिथ्यकी बडाई करते हैं—

घर गुरुगृह प्रिय मदन सासुरे भइ जय जहँ पहुनाई।
तब तहँ कहि सबरीके फलनिकी रुचि माधुरी न पाई॥
(विनय-पत्रिका १६४।४)

अपने घरमें गुरुगृहमे, मित्रोके घरमे तथा ससुरालमे जहाँ-कहीं भी भोजनका प्रसग आया तो श्रीरामने शबरीके

कन्द-मूल तथा फलोकी बडाई की। किसीने तुलसीदासजीसे पूछा कि भगवान्‌की ऐसी रीति क्यो है? भोजन तो किसी औरके घरमे करे ओर बडाई किसी ओरकी करे तो गोस्वामीजीने बहुत सुन्दर उत्तर दिया—

जानत प्रीति-रीति रघुराई।
नाते सब हाते करि राखत, राम सनेह-सगाई॥
नेह निबाहि देह तजि दसरथ, कीरति अचल चलाई।
ऐसेहु पितु ते अधिक गीधपर ममता गुन गरुआई॥
तिय-बिरही सुग्रीव सखा लखि प्रानप्रिया बिसराई।
रन पर्‍यो बधु बिभीषन ही को, साच हृदय अधिकाई॥
× × ×
तुलसी राम-सनेह-सील लखि, जा न भगति उर आई।
तौ तोहिं जनमि जाय जननी जड तनु-तरुनता गँवाई॥
(विनय-पत्रिका १६४)

वस्तुत भगवान्‌को पुरुषार्थ, प्रभाव अथवा वैभवसे नहीं पाया जा सकता, वल्कि वे तो नि स्वार्थ प्रेमके बन्धनम स्वय वँध जाते हैं—

सबसों ऊँची प्रेम सगाई।
दुरजोधनके मेवा त्यागे, साग बिदुर घर खाई॥
× × ×
प्रेमके बस पारथ रथ हाँक्यो, भूलि गये ठकुराई॥

कहनेका तात्पर्य यह है कि जिन परमात्माका वेदाने 'नेति-नति' कहकर वर्णन किया है तथा जो मुनियाके लिये भी अगम है, उन्ह एकमात्र प्रमक ही बलपर प्राप्त किया जा सकता ह। वे प्रभु प्रेमसे भरे किरात बालकाकी गँवारू बातोको पितृवत्सल-भावसे यदि सुन रहे हें तो इसका प्रमुख कारण ह उनका निश्छल प्रेम—

बेद बचन मुनि मन अगम ते प्रभु करुना ऐन।
बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन॥
(रा०च०मा० २।१३६)

लीला-दर्शन—

कण्व ब्राह्मणपर अद्भुत कृपा

मधुवनके उस शान्त आश्रमकी ओर किसीका भी ध्यान आकर्षित न होता था। सघन वनश्रेणी उसे अपने अन्तर्हृदयम छिपाये रखती थी। अभेद्य कण्टक-जाल क्षीण पगडडियाके द्वार राके सर्वत्र फैले हुए थे, किसीको भी सहसा प्रवेश नहीं करने देते थे। इसीलिये आश्रमके एकमात्र अधिवासी कण्व नामक ब्राह्मणकी तपस्यामे कोई विघ्न उपस्थित न हुआ। पाँच वर्षोंसे ब्राह्मणकी नारायण-अर्चना निर्बाध चल रही थी।

कण्व जब शिशु थे, उस समय भी उनकी शैशव-क्रीडाम नारायण सने हुए थे। जब गृहस्थाभार सँभाला तब वहाँ भी प्रत्येक चेष्टाम नारायण भरे थे और अब तो अवस्था ढल गयी थी। एकमात्र नारायणका ही अवलम्बन किये हुए ब्राह्मणदेव सर्वथा एकान्तसेवी होकर नारायणमे लीन-से हो रहे थे। समीपका अरण्य जो कुछ भी कन्द-मूल-फल उन्हे देता उसीको लेकर वे नारायणको अर्पित कर देते, अर्पित प्रसाद पाकर स्वय भी तृप्त हा जाते। आश्रमसे दस हाथपर ही झर-झर करता हुआ एक जलस्रोत बहता था वह कभी सूखता न था। अत जलके लिये भी उन्हे दूर जानेकी आवश्यकता न थी।

इससे पूर्व कण्व और तो कहीं नहीं केवल व्रजेश्वर नन्दके घर जाया करते थे। व्रजराज एव व्रजरानी—दोनाकी ही कण्वके प्रति बडी श्रद्धा थी। दोना अपने हृदयकी बातें कण्वको वताया करते। कण्वकी गृहस्थीका निर्वाह भी व्रजश्वरके द्वारा दिये हुए अयाचित दानपर ही अवलम्बित था किंतु पाँच वर्ष हो गये भजनानन्दम जगत्‌को भूले हुए कण्व व्रजेश्वरके घर भी न गये। इसीलिये नन्दनन्दनके प्रकट हानेकी बात भी कण्वको ज्ञात नहीं। आज द्वादशीके दिन इष्टदवपूजनके निमित्त पुष्पचयन एव कन्द-मूल आहरण करते हुए वे अचानक कालिन्दी-तटपर—गोकुलके घाटपर आ निकले। वहाँ कुछ ग्वालिन व्रजपुरकी ओरसे आयी हुई थीं, मधुपुरी जा रही थीं परस्पर श्रीकृष्णचन्द्रकी मनोहर वाल्यचेष्टाआकी चर्चा कर रही थीं। ईशप्रेरित उनके कुछ शब्द कण्वके कानाम प्रवेश कर गये। वर्षोंसे कण्वने ग्राम्यचर्चा सर्वथा नहीं सुनी थी। ग्रामवासियाके दर्शनतक उन्हाने इने-गिने बार ही किये थे। पर आज ग्वालिनोके कण्ठसे निकली हुई वह स्फुट ध्वनि कर्णरन्ध्रामे बरबस

चली गयी—नहीं-नहीं, प्राणोके अन्तस्तलमे जाकर गूँजने लगी। कण्व अपनेको संवरण न कर सके। द्रुतगतिसे चलकर गोपसुन्दरियोंके समीप जा पहुँचे और जाकर पूछ ही बैठे—'माताओ! किसके पुत्रकी बात कर रही हो?' उत्तरमे अश्रुपूरित कण्ठसे गोपसुन्दरियोंने—

'पुत्र भयौ री नन्दमहर के बड़ी बस बड़ भाग।'

—यहाँसे आरम्भ कर आजतक श्रीकृष्णचन्द्रकी विविध सुमधुर लीलाओंको गा-गाकर सुना दिया। सुनते-सुनते ब्राह्मण समाधिस्थ-से हो गये। जब ग्वालिन चली गयीं, तब कहीं उन्हे बाह्यज्ञान हुआ। पर वे अब और सब कुछ भूल-से गये थे। नन्दप्राङ्गणमे स्थित ग्वालिनी-वर्णित बालककी मूर्ति ही उनके नेत्रोंके सामने नाच रही थी। कन्द-मूलकी झोली तथा चयन किये हुए पुष्पसमूहको वहीं एक तमालके नीचे रखकर यन्त्रपरिचालित-से वे व्रजपुरकी ओर चल पड़े।

व्रजपुरकी सीमामे प्रवेश करते ही कण्वकी दृष्टि बदल गयी। वह आम्रपङ्क्ति, वह कदम्बश्रेणी—कण्वको प्रतीत हो रहा है, यह तो दिव्य कल्पतरुका वन है, इस पर्वतीय निर्झरसे तो अमृत झर रहा है, ये कूप-तडाग तो परम दिव्य सुधासे परिपूर्ण हैं, यह भूमि नहीं यह तो चिन्तामणिका एक विशाल आस्तरण है। सामने गोपसुन्दरियाँ हैं—नहीं-नहीं, यह तो अगणित महालक्ष्मियोंका अवतरण हुआ है यह देखो—इनकी वाणी सगीतमयी है, इनका गमन नृत्यमय है आकाश चिन्मय आकाशका सूर्य चिदानन्दमय, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध—ओह! व्रजपुरका तो सभी कुछ सच्चिदानन्दमय है! इस प्रकार कण्व एक अनिर्वचनीय अनुभूति करते हुए, विस्फारित नेत्रोंसे गगनचुम्बी मणिसद्मोंको और निहारते हुए धीरे-धीरे चलकर राजसभाके सम्मुख खड़े हो गये। प्रहरीने कण्वको देखते ही पहचान लिया। वह चरणोंमें गिरकर बोला—'देव! व्रजेश्वर इस समय अन्तःपुरमे हैं, आप वहीं पधारें।' कण्व अन्तःपुरमे प्रवेश कर गये।

सहसा अपने चिरपरिचित प्रिय ब्राह्मणको आया देखकर नन्ददम्पतिके आनन्दकी सीमा न रही। दोनो उठ खड़े हुए, दौड़कर आँगनमे चले आये तथा कण्वके चरणोमे लोट गये। फिर अञ्जलि बाँधे हुए आगे-आगे चलकर उन्हे भीतर ले गये। अतिशय उमङ्गसे व्रजेशने ब्राह्मणका चरणप्रक्षालन किया, रत्नसिंहासनपर उन्हे बैठाया, पश्चात् अर्घ्य एवं मधुपर्क आदि समर्पित किये। इधर व्रजरानी दौड़ी गयीं, समीपमे ही खेलते हुए श्रीकृष्णचन्द्रको खेल छुड़ाकर ले आयीं, अञ्चलसे अपने नीलमणिका मुख पोछकर, मुखपर बिखरी हुई अलकावलीको शीघ्रतासे ठीककर ब्राह्मणके चरणोमे नीलमणिको डाल दिया। नीलमणि भोली चितवनसे देख रहे हैं कि यह क्या हो रहा है तथा ब्राह्मणको ऐसा लग रहा है कि मैं मानो स्वप्न देख रहा हूँ, स्वप्नमे ही मेरे यावज्जीवन ध्यानकी मूर्ति आज मूर्त होकर मुझे प्रत्यक्ष इस रूपमे दीख रही है।

व्रजेश्वरने कण्वकी कुशल पूछी। स्वप्नसे जागे हुए-से कण्वने अपनी कुशल बताकर यह कहा—'नन्दराय! आज अचानक सुना कि तुम्हे पुत्र हुआ है, सुनते ही तुम्हारे पुत्रको देखने और आशीर्वाद देने आया हूँ।' ब्राह्मणकी यह बात सुनकर व्रजराजके, व्रजरानीके नेत्रोमे आनन्दाश्रु छल-छल करने लगे। पर श्रीकृष्ण उसी समय खिलखिलाकर हँस पड़े। ठीक उसी क्षण कण्वको मानो यह प्रतीत हुआ, मेरे हृदयमे अवस्थित मेरी इष्टमूर्ति बोल रही है—'कण्व! देखते हो! अरे! देखो, श्रीहरिके अधरोंपर आयी हुई इस हँसीको प्रत्यक्ष देख लो इसमे लीन हो जाओ, ध्यान करते-करते अपनेको विलीन कर देनेका सर्वोत्तम स्थल यही तो है, ओह! इन अरुण अधरोष्ठकी अरुणिम कान्तिसे कुन्दपङ्क्तिसदृश दन्तावलिपर भी कैसी लालिमा-सी छायी हुई है। बाहर हँसते हुए श्रीहरिको देख रहे हो तो? वे ही अन्तर्हृदयमे भी विराजित हैं! इन्हींमे तन्मय हो जाओ। सुनो मनको प्रेमरसमे डुबा दो, डुबा-डुबाकर मसृण कर लो, फिर इस मसृण मनको इन हास्यकिरणोंके सामने कर दो। बस, किरणें इसे आत्मसात् कर लेगी। पर यह तभी सम्भव है जब इनके अतिरिक्त अन्य कुछ भी देखनेकी वासना रहे ही नहीं'—

ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठ-
भासारुणायिततनुद्विजकुन्दपङ्क्ति ।
ध्यायेत्स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णो-
र्भक्त्याऽऽर्द्रयार्पितमना न पृथग्दिदृक्षेत्॥

(श्रीमद्भा० ३।२८।३३)

कण्वका अङ्ग-प्रत्यङ्ग नाच उठा। रत्नसिंहासनसे वे हठात् उठ खडे हुए। व्रजेश एव व्रजरानी ब्राह्मणकी मुखमुद्रा देखकर किञ्चित् आश्चर्यम पड गये हैं, किंतु श्रीकृष्णचन्द्रके मुखारविन्दपर पुन एक मुसकान छा जाती है तथा तत्क्षण ही ब्राह्मणका भाव बदल जाता है। वे पूर्ववत् आसनपर बैठ जाते हैं। यह नन्दपुत्र अप्रतिम सुन्दर है, यह वृत्ति तो अभी भी स्पन्दित हो रही है पर इसके अतिरिक्त कण्वकी अन्य अनुभूतियोपर मानो किसीने यवनिका गिरा दी।

'तो व्रजेश! अब चलता हूँ, मध्याह्न उपस्थित है, ओह! आज बडा ही अतिकाल हो गया', पुन आसनसे उठते-उठते कण्वने कहा। किंतु व्रजरानीने चरण पकड लिये और बोलीं—'देव! आज द्वादशीका पारण यहीं करनेकी कृपा करनी पडेगी। इतने दिनोके पश्चात् तो आप पधारे हैं और इतना विलम्ब हो गया है, आज तो मैं पारण किये बिना कदापि जाने न दूँगी।' यह कहकर व्रजरानीने कण्वके चरणोमे अपना सिर रख दिया। ब्राह्मणने स्वय आहरण किये हुए वन्य कन्द-मूलासे उदरपूर्ति करनेका पाँच वर्षोंसे व्रत ले रखा था, पर विशुद्ध श्रद्धाकी ही जय हुई, उन्होने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया।

यशोदारानीने तुरत अतिशय शीघ्रतासे पहले स्वय स्नान किया, फिर नन्दोद्यानसे सलग्न एक गोशालामे गयीं। गोशालाके एक निर्वात अशमे गोबरका चौका लगाया चूल्हेका निर्माण किया, गोबरसे लीपकर चूल्हेका भी सस्कार किया, फिर स्वर्णकलशीमे यमुनाजल भर ले आयीं, नवीन पवित्र सुन्दर मृत्पात्रमे पद्मगन्धिनी गायका दूध दुहकर रख दिया स्वर्णथालमे शालितण्डुल, रत्नजटित हेम-कटोरेमे शर्करा, मणिनिर्मित कटोरीमे कर्पूर भरकर ले आयीं, घृत, एला लवङ्ग, केसर शुष्क सुगन्धित काष्ठ करछी आदि समस्त रन्धनसामग्री वहाँ एकत्र कर दी। आधी घडी समाप्त होते-न-होते कण्वके सामने हाथ जोडकर खडी हो गयीं और भोजन बनानेके लिये प्रार्थना करने लगीं।

कण्व व्रजरानीके पीछे-पीछे चलकर रन्धनशालाम चले आये। आ तो गये पर मनकी विचित्र दशा है। जितनी देर व्रजेश्वरी रन्धनकी व्यवस्था कर रही थीं उतनी देर वे निर्निमेष नयनोसे श्रीकृष्णचन्द्रका सौन्दर्य उनकी मनोहर बाल्यभङ्गिमा निहारते रहे हैं। उनकी आँखामे नन्दनन्दनका अतुल सौन्दर्य सब ओरसे भर गया है। कण्वको रन्धनशाला नन्दनन्दनमयी प्रतीत हो रही है। उन्हे चूल्हा नहीं दीखता, चूल्हेके स्थानम अधरापर मन्द मुसकान लिये नन्दनन्दन खडे दीखते हैं। स्वर्णकलशी, स्वर्णथाल, दुग्धपात्रमे नन्दनन्दन भरे प्रतीत हो रहे हैं, गोशालाकी भित्तिम अगणित नन्दनन्दन नाचते दीख रहे हैं, द्वारको रुद्ध किये नन्दनन्दन खडे हैं गवाक्षरन्ध्र शतसहस्र नन्दनन्दनसे परिपूरित हैं। कण्वके हृदयमे एक रसमय झझावात चल पडता है। वे सोचने लगते हैं—'मेरी ऐसी दशा क्यो हो गयी? मेरी आँखामे क्या हो गया?'

जबतक श्रीकृष्णजननी रन्धनशालामे उपस्थित थीं तबतक रह-रहकर वे तो दीख जाती थीं। किंतु मर्यादाकी रक्षाके लिये—ऐसे पवित्र ब्राह्मणके भोजनपर मेरी छाया न पडे, इस भावनासे जब वे कण्वको प्रणाम कर चली गयीं, तब केवल नन्दनन्दनकी छबि ही बच रही। यहाँतक कि जब कण्व अपनी तलहथी उठाकर आँखोके सामने करते तो तलहथीमे भी नन्दनन्दनकी छबि अङ्कित दीखती, अपने उत्तरीय एव कटिवस्त्रम भी नन्दनन्दनका सजीव प्रतिचित्र झलमल-झलमल कर रहा था। इसीलिये कुछ देरतक तो कण्व किंकर्तव्यविमूढ-से हुए शान्त जडवत् बैठे रहे। पर उसी समय मानो हृदयकी इष्टमूर्ति एक बार पुन बोल उठी—'कण्व! भोग अर्पण नहीं करोगे? अतिकाल हो रहा है, मुझे क्षुधा लग रही है।' इस प्रकार किसी अचिन्त्य प्रेरणासे जगाये हुए-से कण्वका यह आवेश किंचित् शिथिल हुआ और वे रन्धनमे लगे। अग्नि प्रज्वलित कर, उन्होने उक्त द्रव्योसे सुन्दर स्वादु खीर प्रस्तुत करके खीरको स्वर्णथालमे ढाल दिया। तालवृन्तकी बयार देकर वे उसे शीतल करने लगे। भोजनके योग्य शीतल होते ही उसपर तुलसीमञ्जरी रख दी तथा विधिपूर्वक इष्टदेवको भोग समर्पित कर सामने वस्त्रका आवरण डालकर अपने नेत्र मूँद लिये—

'घृत मिष्टान्न खीर मिस्रित करि परुसि कृष्ण-हित ध्यान लगायो।'

(सूरदास)

किंतु मानसिक भावना समाप्त होनेपर जब कण्वने आँख खोलीं और देखा तो वे अवाक् रह गये—

नैन उघारि विप्र जो देखै, खात कन्हैया देखन पायौ॥

(सूरदास)

कण्वने देखा—अपने इष्टदेवके लिये मैंने जिस आसनकी कल्पना की थी, उसपर नन्दनन्दन बैठे हैं। अपने वङ्किम नेत्रोंको इधर-उधर सचालित करते हुए हाथसे खीर उठा-उठाकर खा रहे हैं। इस झाँकीके सामने आनेपर कण्वके शरीरम, शरीरके अणु-अणुमे एक बार तो अभिनव तडित्-लहरी-सी दौड गयी। उनके नेत्र छल-छल करने लगे। पर दूसरे ही क्षण श्रीकृष्णचन्द्र भीतिविजडित नयनासे ब्राह्मणकी ओर देखते हुए, खीर आरोगना छोडकर, आसनपर उठ खडे हुए। बस, उनका उठना था कि कण्वका भाव बदल गया—'आह! इस चञ्चल नन्दपुत्रने तो मेरे इष्टदेवका भोग भ्रष्ट कर दिया।' ब्राह्मणके हृदयम एक व्यथा-सी हुई, नेत्रोंम भी किंचित् रोषका आभास-सा छा गया। गम्भीर स्वरमे उन्होंने पुकारा—'व्रजेश्वरि! इधर आओ।'

इधर, ब्राह्मणकी व्यवस्था करके व्रजेश्वरी श्रीकृष्णचन्द्रके पास चली गयी थीं। श्रीकृष्णचन्द्र तो खेलमे उन्मत्त हो रहे थे। अत व्रजरानी—जैसा दान व्रजेशने पुत्रके जन्मोत्सवपर प्रति ब्राह्मणको दिया था, उससे अधिक कण्वको देनेका आदेश देने, उन-उन वस्तुओंको स्वय अपने हाथों सहेजने—चली गयीं। यह कार्य करके वे पुन श्रीकृष्णके समीप आयीं। पर श्रीकृष्णचन्द्र वहाँ न मिले। अतिशय शीघ्रतासे पूछकर गोशालाकी ओर अग्रसर हुईं क्योंकि उसी ओर अभी-अभी कुछ क्षण पहले दासियाने श्रीकृष्णचन्द्रको जाते देखा था। इधर वे द्वारपर आयीं और उधर कण्वने पुकारा। कण्वके रूक्ष स्वरको सुनते ही नन्दरानीका हृदय धक्-धक् करने लगा। दौडकर भीतर प्रवेश कर गयीं। उनके आते ही कण्व ग्लानिपूर्ण स्वरमे बोल उठे—'यशोदारानी! तुम्हारे पुत्रने क्या किया है देख लो।'

'नीलमणि! नीलमणि! मेरे लाल! तुमने यह क्या अनर्थ कर डाला'—घटनासे अत्यन्त व्यथित व्रजरानी इससे अधिक बोल न सकीं। पर श्रीकृष्णचन्द्र ऐसी सरल दृष्टिसे जननीकी ओर, ब्राह्मणकी ओर देख रहे हैं जैसे कुछ हुआ ही न हो। उस भोली चितवनसे कण्वका रोषाभास तो उड ही गया, बल्कि वे तो भय करने लगे कि कहीं इस सरलमति सुकुमार बालकको इस छोटी-सी बातके लिये व्रजरानी कुछ दण्ड न दे दे। इसलिये ही वे नीरवता भङ्ग करते हुए बोले—'नन्दगेहिनी! बालकका कोई दोष नहीं, अन्नके कण-कणपर ईशविधानकी छाप रहती है, तुम्हारा पुत्र तो निमित्तमात्र है। नहीं-नहीं, इसने तो मेरे व्रतकी रक्षा की है, आसक्तिवश मैं नीचे गिर रहा था, इसने मुझे गिरनेसे बचा लिया, ग्राम्यजीवनका परित्याग कर चुका था, कन्दमूलाहारी होनेका व्रती था। पर तुम्हारे विशुद्ध आग्रहवश पुन पीछे लौट रहा था प्रभुने इस बालकके द्वारा मेरी रक्षा कर दी, मैं आशीर्वाद देता हूँ, यह बालक चिरजीवी हो, तुम्हारी सुख-समृद्धि निरन्तर बढे पर, अब मैं चलता हूँ, बहुत ही अतिकाल हो गया है।' कण्व चलनेके लिये प्रस्तुत हो गये।

व्रजेश्वरी रो पडीं। कण्वके समक्ष घुटने टेककर, हाथ जोडकर रोती हुई बोलीं—'देव! इस बालकने जो अपराध किया है, उसका यत्किंचित् मार्जन तभी सम्भव है, जब आप पुन खीर बनाकर मेरे घर पारण कर ले। अन्यथा मुझ अभागिनीके भाग्यम न जाने क्या लिखा है ।' व्रजरानीके इस निष्कपट क्रन्दनके आगे परम भागवत कण्व पुन झुक गये। पुन रन्धनव्यवस्था कर देनेकी अनुमति कण्वसे नन्दरानीने ले ही ली।

व्रजेश्वरीने पुन स्नान किया। पार्श्ववर्ती एक अन्य गोशालाका सम्मार्जन कर पुन नवीन स्वर्णकलशीमे वे जल भर लायीं। फिरसे शालितण्डुल, स्वर्णथाल, दुग्ध, शर्करा, केसर, घृत आदि समस्त सामग्री एकत्रित कर ब्राह्मणको वहाँ ले गयीं। कण्व भी खीर प्रस्तुत करनेकी योजनामे लगे। पर उन्हे नन्दनन्दनका खीरसे सना मुखारविन्द भूल नहीं रहा था। कितनी बार कण्वने चेष्टा की कि इस ओरसे वृत्ति समेटकर इष्टचिन्तनमे तन्मय कर दे पर मन इस झाँकीसे बँधा प्रतीत होता था। इसीलिये रन्धनकार्यमे भी व्यतिक्रम हो रहा था। तण्डुल-निक्षेपसे पूर्व उन्होंने दुग्धमे शर्करा डाल दी फिर उसमे घृतपात्र उडेल दिया। अब स्मरण आया कि 'अरे! तण्डुल छोडना तो भूल ही गया खीर बनेगी कैसे। यह सोचकर आवश्यकतासे

अधिक तण्डुल डाल दिये। फिर भी जैसे-तैसे खीर बन ही गयी एव जगन्नियन्ताकी इच्छासे परम सुन्दर—सुस्वादु ही बनी। खीरकी सुवाससे गोशाला सुवासित होने लगी। कण्वने पहलेकी ही भाँति विधिपूर्वक भोग धराया और भोग धरकर वे इष्टचिन्तनमे निमग्न हो गये।'

इधर नीलमणिसे अतिशय शङ्कित होकर जननी यशोदा उन्हे गोशालासे बाहर ले आयी थीं, तोरणद्वारके समीप अलिन्दपर आम्रकी सुशीतल छायामे नीलमणिको गोदम लिये बैठी थीं। निश्चय कर चुकी थीं कि जबतक ब्राह्मणका पारण न हो लेगा, तबतक इसे छोडकर मैं कहीं जाऊँगी ही नहीं। श्रीकृष्णचन्द्र भी जननीकी गोदम शान्त होकर बैठे थे। सामने कुछ मयूर नृत्य कर रहे थे, उन्हींकी ओर वे देख रहे थे। एक-दो बार मयूराको पकडनेके उद्देश्यसे उठ खडे हुए, पर जननीने जाने न दिया। किंतु कुछ ही देर बाद शीतल वायुके स्पशसे वे अलसाङ्ग होने लगे। देखते-ही-देखते जननीकी गोदम निद्रित हो गये। नीलमणिको निद्रित देखकर जननी निश्चिन्त हो गयीं। मैयाने भी रात एकादशीका जागरण किया था तथा अलिन्दपर झुर-झुर करता हुआ सुखद शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन प्रवाहित हो रहा था। अत जननीके नेत्र भी निमीलित होने लगे। जिस क्षण कण्व गोशालाम भोग समर्पित कर इष्टचिन्तनम निमग्न हुए, ठीक उसी क्षण जननी श्रीकृष्णचन्द्रको वक्ष स्थलपर धारण किये तन्द्राम—नहीं, नहीं हृदेशमे नित्य विराजित अपने नीलमणिम—लीन हो गयीं।

विशेष नहीं, कुछ ही क्षणोका अन्तर रहा। पर पहले जागे श्रीकृष्णचन्द्र तथा जबतक जननीकी तन्द्रा टूटी तबतक श्रीकृष्णचन्द्र मैयाकी दृष्टिसे उस पार गोशालाम—कण्वकी रन्धनशालाम पुन प्रविष्ट हो चुके थे। अस्त-व्यस्त हुई जननी दौडी अवश्य पर अब तो विलम्ब हो चुका था।

कण्वने अष्टोत्तरशत जप-सख्या पूर्ण होनेपर इष्टदेवको मानसिक आचमनीय अर्पण करके आँख खोलीं। खोलते ही पूर्वानुभूत दृश्य ही सामने दीख पडा अवश्य ही इस बार शतगुणित माधुर्य लिये। ओह! अरुणाभ नयनाम्बुज हैं, पद्मरागनिबद्ध-व्याघ्रनखभूषित ग्रीवा है मणिकिङ्किणीविभूषित कटिदेश है नूपुर-शोभित चरणारविन्द हैं प्रफुल्ल-नीलोत्पलविनिन्दित अङ्गकान्तिसे रन्धनशालाको उद्भासित करते हुए नन्दनन्दन पहलेकी भाँति ही आसनपर विराजित होकर खीर खा रहे हैं। कण्व मौन रहकर इस शोभाराशिकी ओर एकटक देखते ही रह गये।

यशोदारानीने भी देखा। पर वे किंकर्तव्यविमूढ हो गयीं। एक बार ब्राह्मण-कोपानलसे रक्षा हो गयी, बार-बार थोडे ही होगी—जननीके नेत्रोके सामने अन्धकार-सा छा गया। इतनेमें व्रजेश्वर वहाँ आ पहुँचे। पुत्रके प्रथम अपराधकी बात वे नन्दरानीसे सुन ही चुके थे। इसीलिये भर्त्सना करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर बढे। पर आगे बढकर कण्वने उन्हे रोक दिया, साथ ही अत्यन्त मृदुल स्वरम वे कहने लगे—'व्रजेश! इस बालकको कुछ भी कहनेसे मुझे मार्मिक पीडा होगी। सुनो! विश्वनियन्ताकी रुचि पूर्ण होने दो, वे नहीं चाहते कि तुम्हारे घर मेरा पारण हो। अब मुझे जाने दो क्योकि दिनका चतुर्थ प्रहर आरम्भ हो गया है दिवाकर अस्ताचलगामी हो, इससे पूर्व आश्रमम मुझे पहुँच जाना चाहिये, अन्यथा आज अरण्यम पथ पा लेना असम्भव हो जायगा। तुम जानते ही हो मैं कभी असत्यभाषण नहीं करता मैं किंचित् भी रुष्ट नहीं हूँ। मेरे कारण तुम्हारे पुत्रका कोई भी अमङ्गल न होगा तुम विश्वास करो।'

कहाँ तो मेरे नीलमणिका इतना गुरु अपराध और कहाँ ब्राह्मणदेवकी इतनी उदारवृत्ति—व्रजमहिषीके हृदयमे एक साथ हर्ष एव विषादकी दो धाराएँ फूट निकलीं, वे सिसक-सिसककर रोने लगीं। उन्हे सिसकते देखकर कण्वने फिर कहा—'नन्दगेहिनी! मैं अन्तर्हृदयसे आशीर्वाद देता हूँ, तुम्हारे पुत्रका मङ्गल-ही-मङ्गल होगा और यदि तुम्हारे मनमे कहीं यह ग्लानि हो रही है कि ब्राह्मण बिना पारण किये जा रहे हैं, तो लाओ दहीके किंचित् कण मेरे हाथपर रख दो, आचमन करके प्रभुको निवेदन कर उसीसे मैं व्रतका पारण किये लेता हूँ।'

ब्राह्मणकी बात सुनकर नन्दरानीके मनम साहस आ गया। वे बोलीं—'देव! किस मुँहसे निवेदन करूँ पर आप मेरे स्वभावसे परिचित हैं। मैं जीवनभर इस दु खका भूल न सकूँगी कि आप बिना भोजन किये मेरे घरसे चले गये।' यह कहते-कहते व्रजरानीके नेत्रासे अनर्गल अश्रुप्रवाह बह चलता है। इसी समय कण्वकी दृष्टि मुखम खीर लपेटे

नन्दनन्दनकी ओर चली गयी। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ—बालक जननीको रोते देखकर भयभीत हो रहा है। बस, कण्व तो व्याकुल हो उठे। आकुलकण्ठसे बोले—'नन्दरानी! शान्त होओ, देखो, तुम्हें रोते देखकर तुम्हारा पुत्र भयभीत हो रहा है। बोलो क्या चाहती हो? सकोचरहित होकर बताओ, मैं तुम्हें दु खी करके यहाँसे जाना नहीं चाहता।'

व्रजरानीको आशा हो गयी कि अब ब्राह्मण मेरी प्रार्थना स्वीकार कर लेंगे। वे बोलीं—'देव! बस एक बार आप और रन्धनका परिश्रम स्वीकार करें। मैं तुरत सभी वस्तुएँ लाती हूँ, दूसरे स्थानमें सारी व्यवस्था किये देती हूँ तथा फिर मैं इस चञ्चल बालकको लेकर अन्य व्रजगोपके घर चली जाऊँगी। इतना ही नहीं, गोशालामें जितने द्वार हैं सबपर एक-एक गोप बैठा देती हूँ। एकपर स्वय व्रजेश्वर रहेंगे। जबतक आपका पारण नहीं हो जायगा तबतक प्रत्येक द्वारपर प्रहरी रहेगा। देखती हूँ, यह कैसे आता है।' कण्वने एक बार नन्दनन्दनकी ओर देखा तथा फिर व्रजरानीको स्वीकृति दे दी।

तीसरी गोशालामें पुन ज्यों-के-त्यों वे सारे उपकरण एकत्र हुए। साथ ही मुख्य द्वारपर स्वय व्रजेश द्वारी बने। अन्य द्वारोंपर तथा प्रत्येक गवाक्षके समीप एक-एक गोप सजग होकर बैठे कि कहींसे भी श्रीकृष्णचन्द्र प्रवेश न कर सकें। यह प्रबन्ध करके व्रजरानी श्रीकृष्णचन्द्रको लेकर उपनन्दके घर चली गयीं। उपनन्दके घरके द्वार भी बद कर लिये गये। कण्वने भी पायसका निर्माण किया। अर्पणकी विधि भी सम्पन्न हुई। पर ज्यों ही कण्वने भोजनकी भावना करना आरम्भ किया कि बस, श्रीकृष्णचन्द्र जननीसे हाथ छुडाकर भाग खडे हुए। जननी सारी शक्ति बटोरकर पीछे दौडी, पर न जाने कैसे उपनन्द-गृहका रुद्ध द्वार खुल गया और श्रीकृष्णचन्द्र बाहर निकल आये। जननीने कातर होकर पुकारा—'नारायण! नारायण!! रक्षा करो!!! प्रभो! प्रभो!! व्रजेश्वर या कोई भी गोप मेरे नीलमणिको गोशालाके द्वारपर ही रोक ले!!!' यह पुकार लगाती हुई जब वे गोशालाके द्वारपर पहुँचीं, तब देखा—व्रजेश्वरने नीलमणिको पकड लिया है। फिर तो व्रजरानीके आनन्दकी सीमा नहीं रही। समीप जाकर उन्होने श्रीकृष्णचन्द्रके दोनो हाथ पकड लिये और किंचित् रोषमें भरकर बोलीं—'नीलमणि! अरे, तू इतना दुष्ट कैसे हो गया, प्रात कालसे एक ब्राह्मणको कष्ट दे रहा है—

'वह अपने ठाकुरहि जिवावै, तू ऐसैं उठि धावै।'

(सूरदास)

किंतु नन्दनन्दन भी इस बार—भयभीत होना तो दूर—रोषमें भरकर अविलम्ब बोल उठे—

जननी! दोष देति कत मोको, बहु विधान करि ध्यावै।
नैन मूँदि कर जोरि नाम लै बारहिं बार बुलावै॥

(सूरदास)

व्रजरानी समझ न सकीं कि नीलमणि यह क्या कह रहा है। उनकी वृत्ति इस समय केवलमात्र इतना ही ग्रहण कर रही है कि व्रजेश्वरने नीलमणिको पकड लिया, अन्यथा यह रन्धनशालामें प्रवेश कर गया होता। व्रजरानी यह नहीं जानतीं कि व्रजेशके द्वारा रुद्ध हो जानेपर भी उनका नीलमणि तो रन्धनशालामें कभीका पहुँच चुका है, कण्वका भोग स्वीकार कर अपने योगीन्द्रमुनीन्द्रदुर्लभ दर्शनसे उन्हें कृतार्थ कर रहा है। प्रेमरसभावितमति यशोदारानी यह जान भी नहीं सकतीं क्योंकि उन्हें पता नहीं कि जो अजन्मा है, पुरुषोत्तम है, जो प्रत्येक कल्पमें स्वय अपने-आपमें अपने-आपका ही सृजन करता है पालन करता है और फिर सहार कर लेता है, जो मायालेशशून्य-विशुद्ध है, केवल ज्ञानस्वरूप है, अन्तरात्माके रूपमें एकरस अवस्थित है, जो त्रिकाल सत्य है पूर्ण है, अनादि है, अनन्त है, निर्गुण है, नित्य है अद्वय है—वह मेरा नीलमणि ही तो है। व्रजेन्द्रगेहिनी नहीं जानतीं कि मेरा नीलमणि ही विराट् पुरुष है काल है, स्वभाव है मन है, इन्द्रियाँ है, कार्य है, कारण है, पञ्चभूत है, अहकार है, त्रिगुण है, ब्रह्माण्डशरीर है, ब्रह्माण्डशरीराभिमानी है, अनन्त स्थावर-जङ्गम जीव है, ब्रह्मा है, शकर है, विष्णु है, दक्ष है, नारद है। व्रजरानी कल्पना ही नहीं कर सकतीं कि मेरा नन्हा-सा नीलमणि स्वर्लोकपाल है खगलोकपाल है, नृलोकपाल है, अतल-वितल-सुतलपाल है, गन्धर्व-विद्याधर-चारण-अधिनायक है, यक्ष-राक्षस-सर्प-नागपति है। यशोदारानीके मनमें कभी यह भाव उदय नहीं होता कि महर्षि देवर्षि पितृपति, दैत्येन्द्र, दानवेन्द्र, सिद्धेश्वर तथा प्रेत, पिशाच, भूत, कूष्माण्ड, जल-जन्तु, मृग, विहगम—सबके नायकके रूपमें मेरा नीलमणि ही है। व्रजेन्द्रमहिषी

अधिक तण्डुल डाल दिय। फिर भी जेसे-तैसे खीर बन ही गयी एव जगन्नियन्ताकी इच्छासे परम सुन्दर—सुस्वादु ही बनी। खीरकी सुवाससे गोशाला सुवासित होने लगी। कण्वने पहलेकी ही भाँति विधिपूर्वक भोग धराया और भोग धरकर वे इष्टचिन्तनम निमग्न हो गये।'

इधर नीलमणिसे अतिशय शङ्कित होकर जननी यशोदा उन्हे गोशालासे बाहर ले आयी थीं, तोरणद्वारके समीप अलिन्दपर आम्रकी सुशीतल छायामे नीलमणिको गोदम लिये बैठी थीं। निश्चय कर चुकी थीं कि जबतक ब्राह्मणका पारण न हो लेगा तबतक इसे छोडकर में कहीं जाऊँगी ही नहीं। श्रीकृष्णचन्द्र भी जननीकी गोदम शान्त होकर बैठे थे। सामने कुछ मयूर नृत्य कर रहे थे, उन्हींकी ओर वे देख रहे थे। एक-दो बार मयूराको पकडनेके उद्देश्यसे उठ खडे हुए, पर जननीने जाने न दिया। किंतु कुछ ही देर बाद शीतल वायुके स्पर्शसे वे अलसाङ्ग होने लगे। देखते-ही-देखते जननीकी गोदम निद्रित हो गये। नीलमणिको निद्रित देखकर जननी निश्चिन्त हो गयीं। मैयाने भी रात एकादशीका जागरण किया था तथा अलिन्दपर झुर-झुर करता हुआ सुखद शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन प्रवाहित हा रहा था। अत जननीके नेत्र भी निमीलित होने लगे। जिस क्षण कण्व गोशालाम भोग समर्पित कर इष्टचिन्तनम निमग्न हुए, ठीक उसी क्षण जननी श्रीकृष्णचन्द्रको वक्ष स्थलपर धारण किये तन्द्रामे—नहीं, नहीं हृद्देशम नित्य विराजित अपने नीलमणिम—लीन हो गयीं।

विशेष नहीं कुछ ही क्षणोका अन्तर रहा। पर पहले जागे श्रीकृष्णचन्द्र तथा जबतक जननीकी तन्द्रा टूटी तबतक श्रीकृष्णचन्द्र मैयाकी दृष्टिसे उस पार गाशालाम—कण्वकी रन्धनशालाम पुन प्रविष्ट हो चुके थे। अस्त-व्यस्त हुई जननी दौडी अवश्य पर अब तो विलम्ब हो चुका था।

कण्वने अष्टोत्तरशत जप-सख्या पूर्ण होनेपर इष्टदेवका मानसिक आचमनीय अर्पण करके आँख खोलीं। खालते ही पूर्वानुभूत दृश्य ही सामने दीख पडा, अवश्य ही इस बार शतगुणित माधुर्य लिय। आह! अरुणाभ नयनाम्बुज हैं पद्मरागनिबद्ध-व्याघ्रनखभूषित ग्रीवा है, मणिकिङ्किणीविभूषित कटिदेश है नूपुर-शोभित चरणारविन्द हैं प्रफुल्ल-नीलोत्पलविनिन्दित अङ्गकान्तिसे रन्धनशालाको उद्भासित करते हुए नन्दनन्दन पहलेकी भाँति ही आसनपर विराजित होकर खीर खा रहे हैं। कण्व मौन रहकर इस शोभाराशिकी ओर एकटक देखते ही रह गये।

यशोदारानीने भी देखा। पर वे किंकर्तव्यविमूढ हो गयीं। एक बार ब्राह्मण-कोपानलसे रक्षा हो गयी बार-बार थोडे ही होगी—जननीके नेत्राके सामने अन्धकार-सा छा गया। इतनेमे व्रजेश्वर वहाँ आ पहुँचे। पुत्रके प्रथम अपराधकी बात वे नन्दरानीसे सुन ही चुके थे। इसीलिये भर्त्सना करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रकी ओर बढे। पर आगे बढकर कण्वने उन्ह रोक दिया, साथ ही अत्यन्त मृदुल स्वरमे वे कहने लगे—'व्रजेश! इस बालकको कुछ भी कहनेसे मुझे मार्मिक पीडा होगी। सुनो! विश्वनियन्ताकी रुचि पूर्ण हाने दो, वे नहीं चाहते कि तुम्हारे घर मेरा पारण हो। अब मुझे जाने दो, क्योंकि दिनका चतुर्थ प्रहर आरम्भ हो गया है, दिवाकर अस्ताचलगामी हा इससे पूर्व आश्रमम मुझे पहुँच जाना चहिये, अन्यथा आज अरण्यम पथ पा लेना असम्भव हो जायगा। तुम जानते ही हा, मैं कभी असत्यभाषण नहीं करता मैं किंचित् भी रुष्ट नहीं हूँ। मरे कारण तुम्हारे पुत्रका कोई भी अमङ्गल न होगा तुम विश्वास करा।'

कहाँ ता मेरे नीलमणिका इतना गुरु अपराध और कहाँ ब्राह्मणदेवकी इतनी उदारवृत्ति—व्रजमहिषीके हृदयम एक साथ हर्ष एव विषादकी दो धाराएँ फूट निकलीं वे सिसक-सिसककर रोने लगीं। उन्ह सिसकते देखकर कण्वने फिर कहा—'नन्दगहिनी! मैं अन्तर्हृदयसे आशीर्वाद देता हूँ, तुम्हार पुत्रका मङ्गल-ही-मङ्गल होगा और यदि तुम्हारे मनम कहीं यह ग्लानि हो रही है कि ब्राह्मण बिना पारण किये जा रहे हैं तो लाओ दहीके किंचित् कण मेरे हाथपर रख दो, आचमन करके प्रभुका निवेदन कर उसीसे मैं व्रतका पारण किये लता हूँ।'

ब्राह्मणकी बात सुनकर नन्दरानीके मनम साहस आ गया। वे बोलीं—'देव! किस मुँहसे निवेदन करूँ पर आप मेरे स्वभावसे परिचित हैं। मैं जीवनभर इस दु खको भूल न सकूँगी कि आप बिना भाजन किये मेरे घरसे चले गये।' यह कहत-कहते व्रजरानीके नेत्रासे अनर्गल अश्रुप्रवाह बह चलता है। इसी समय कण्वकी दृष्टि मुखमें खीर लपेटे

नन्दनन्दनकी ओर चली गयी। उन्हे ऐसा प्रतीत हुआ—बालक जननीको रोते देखकर भयभीत हो रहा है। बस, कण्व तो व्याकुल हो उठे। आकुलकण्ठसे बोले—'नन्दरानी! शान्त होओ, देखो तुम्हे रोते देखकर तुम्हारा पुत्र भयभीत हो रहा है। बोलो क्या चाहती हो? सकोचरहित होकर बताओ, मैं तुम्हें दु खी करके यहाँसे जाना नहीं चाहता।'

व्रजरानीको आशा हो गयी कि अब ब्राह्मण मेरी प्रार्थना स्वीकार कर लेगे। वे बोलीं—'देव! बस, एक बार आप और रन्धनका परिश्रम स्वीकार करे। मैं तुरत सभी वस्तुएँ लाती हूँ, दूसरे स्थानम सारी व्यवस्था किये देती हूँ तथा फिर मैं इस चञ्चल बालकको लेकर अन्य व्रजगोपके घर चली जाऊँगी। इतना ही नहीं गोशालामे जितने द्वार हैं सबपर एक-एक गोप बैठा देती हूँ। एकपर स्वय व्रजेश्वर रहेगे। जबतक आपका पारण नहीं हो जायगा तबतक प्रत्येक द्वारपर प्रहरी रहेगा। देखती हूँ, यह कैसे आता है।' कण्वने एक बार नन्दनन्दनकी ओर देखा तथा फिर व्रजरानीको स्वीकृति दे दी।

तीसरी गोशालाम पुन ज्यों-के-त्यों वे सारे उपकरण एकत्र हुए। साथ ही मुख्य द्वारपर स्वय व्रजेश द्वारी बने। अन्य द्वारोपर तथा प्रत्येक गवाक्षके समीप एक-एक गोप सजग होकर बैठे कि कहींसे भी श्रीकृष्णचन्द्र प्रवेश न कर सकें। यह प्रबन्ध करके व्रजरानी श्रीकृष्णचन्द्रको लेकर उपनन्दके घर चली गयीं। उपनन्दके घरके द्वार भी बद कर लिये गये। कण्वने भी पायसका निर्माण किया। अर्पणकी विधि भी सम्पन्न हुई। पर ज्यो ही कण्वने भोजनकी भावना करना आरम्भ किया कि बस, श्रीकृष्णचन्द्र जननीसे हाथ छुडाकर भाग खडे हुए। जननी सारी शक्ति बटोरकर पीछे दौडी, पर न जाने कैसे उपनन्द-गृहका रुद्ध द्वार खुल गया और श्रीकृष्णचन्द्र बाहर निकल आये। जननीने कातर होकर पुकारा—'नारायण! नारायण!! रक्षा करो!!! प्रभो! प्रभो!! व्रजेश्वर या कोई भी गोप मेरे नीलमणिको गोशालाके द्वारपर ही रोक ले!!!' यह पुकार लगाती हुई जब वे गोशालाके द्वारपर पहुँचीं, तब देखा—व्रजेश्वरने नीलमणिको पकड लिया है। फिर तो व्रजरानीके आनन्दकी सीमा नहीं रही। समीप जाकर उन्होने श्रीकृष्णचन्द्रके दोनो हाथ पकड लिये और किंचित् रोषमें भरकर बोलीं—'नीलमणि! अरे, तू इतना दुष्ट कैसे हो गया, प्रात कालसे एक ब्राह्मणको कष्ट दे रहा है—

'वह अपने ठाकुरहि जिवावै, तू ऐसैं उठि धावै।'

(सूरदास)

किंतु नन्दनन्दन भी इस बार—भयभीत होना तो दूर—रोषम भरकर अविलम्ब बोल उठे—

जननी! दोष देति कत मोकौं, बहु बिधान करि ध्यावै।
नैन मूँदि कर जोरि नाम लै बारहिं बार बुलावै॥

(सूरदास)

व्रजरानी समझ न सकीं कि नीलमणि यह क्या कह रहा है। उनकी वृत्ति इस समय केवलमात्र इतना ही ग्रहण कर रही है कि व्रजेश्वरने नीलमणिको पकड लिया, अन्यथा यह रन्धनशालामे प्रवेश कर गया होता। व्रजरानी यह नहीं जानतीं कि व्रजेशके द्वारा रुद्ध हो जानेपर भी उनका नीलमणि तो रन्धनशालामे कभीका पहुँच चुका है कण्वका भोग स्वीकार कर अपने योगीन्द्रमुनीन्द्रदुर्लभ दर्शनसे उन्हे कृतार्थ कर रहा है। प्रेमरसभावितमति यशोदारानी यह जान भी नहीं सकतीं क्योकि उन्हे पता नहीं कि जो अजन्मा है, पुरुषोत्तम है, जो प्रत्येक कल्पम स्वय अपने-आपमे अपने-आपका ही सृजन करता है पालन करता है और फिर सहार कर लेता है, जो मायालेशशून्य-विशुद्ध है, केवल ज्ञानस्वरूप है, अन्तरात्माके रूपमे एकरस अवस्थित है, जो त्रिकाल सत्य है, पूर्ण है, अनादि है, अनन्त है, निर्गुण है, नित्य है अद्वय है—वह मेरा नीलमणि ही तो है। व्रजेन्द्रगेहिनी नहीं जानतीं कि मेरा नीलमणि ही विराट् पुरुष है, काल है, स्वभाव है, मन है, इन्द्रियाँ है, कार्य है, कारण है पञ्चभूत है, अहकार है, त्रिगुण है, ब्रह्माण्डशरीर है, ब्रह्माण्डशरीराभिमानी है, अनन्त स्थावर-जङ्गम जीव है, ब्रह्मा है, शकर है, विष्णु है, दक्ष है, नारद है। व्रजरानी कल्पना ही नहीं कर सकतीं कि मेरा नन्हा-सा नीलमणि स्वर्लोकपाल है, खगलोकपाल है नृलोकपाल है, अतल-वितल-सुतलपाल है, गन्धर्व-विद्याधर-चारण-अधिनायक है, यक्ष-राक्षस-सर्प-नागपति है। यशोदारानीके मनम कभी यह भाव उदय नहीं होता कि महर्षि, देवर्षि पितृपति, दैत्येन्द्र दानवेन्द्र, सिद्धेश्वर तथा प्रेत, पिशाच भूत, कूष्माण्ड जल-जन्तु, मृग, विहगम—सबके नायकके रूपमे मेरा नीलमणि ही है। व्रजेन्द्रमहिषी

यह धारणा ही नहीं कर सकतीं कि जगत्की जितनी वस्तुएँ ऐश्वर्य-तेज-इन्द्रियबल-मनोबल-शरीरबलसे युक्त ह, क्षमासे सम्पन्न हैं, सौन्दर्य-लज्जा-विभूतिसे समन्वित हैं, सुन्दर-असुन्दर अद्भुत वर्णवाली हैं—वे सब-की-सब मेरे नीलमणिके ही रूप हैं।* उन्हे यह भान ही नहीं होता कि मेरी गादम रहते हुए ही ठीक उसी क्षण मेरा यह नीलमणि इन अनन्त रूपोम भी अवस्थित है, क्रीडा कर रहा हे। उनके वात्सल्यरस-सुधासागरके अतल-तलमे डूबे हुए अपरिसीम ऐश्वर्यके रज कण कभी ऊपर आते ही नहीं। आते होते तो भले वे जान पातीं कि व्रजेन्द्रके द्वारा यह निरोध व्यर्थ है, यहाँ निरुद्ध रहकर भी नीलमणि तो भीतर प्रकट है। वे तो सदा इस भावनासे ही भरी रहती ह कि मेरा नीलमणि मेरा गर्भजात शिशु हे अबोध है। इसीलिये आज वे फूली नहीं समा रही हैं, क्योकि उनकी दृष्टिमे अभी-अभी व्रजेन्द्रने चञ्चल नीलमणिको रोक लिया और एक महान् अनर्थ होनेसे रक्षा हो गयी। अस्तु,

इधर इस बार जब कण्वके नेत्र खुले, तब दृश्य तो वही था—नन्दनन्दन भोग आरोग रहे हैं। पर इस बार कण्वके नेत्र, मन, बुद्धिपर लगा हुआ अनादि आवरण सर्वथा छिन्न-भिन्न हो चुका था। वस्तुतत्त्वके सम्बन्धमें अब उन्हें सशय नहीं रहा। कण्व वहीं श्रीकृष्णचन्द्रके चरणोंमें लोट गये। उनके नेत्रोंसे अश्रुका निर्झर झरने लगा इस निर्झरवारिसे श्रीकृष्णचन्द्रके चरणयुगल प्रक्षालित होने लगे।

मानो किसी परम दिव्य वीणाके तार झकृत हो उठे हो इतने मधुर कण्ठसे श्रीकृष्णचन्द्र बोले—'कण्व! तुम मुझे देखनेके लिये अनेक जन्मोसे लालायित हो। इसीलिये इस बार जब मैं यहाँ प्रकट हुआ तब तुम्हारा भी इसी ब्रह्माण्डमे—इस मधुपुरीम जन्म हो गया। मेरी माता, मेरे पिता तुम्हारे दृष्टिपथम आ गये, इसीलिये तुम मेरा यह बाल्यरूप, बाल्यलीला देख सके।' यह कहकर श्रीकृष्णचन्द्रकी वह कमनीय झाँकी अन्तर्हित हो गयी। उसके बाद भी कण्व न जाने कितनी देर स्वेद कम्प स्तम्भ, पुलक आदि दर्शनजन्य सात्त्विक भावाके प्रवाहम बहते रहे। भावावेश जब किंचित् शिथिल हुआ, तब कण्वने श्रीकृष्ण अधरामृतसिक्त उस खीर-प्रसादको पहले अपने सिरसे लगाया, फिर कुछ अश मुखमे रखा। इसके पश्चात् सारे अङ्गामे उस खीरको चुपड लिया। फिर जो अवशिष्ट रहा, उसे अपने उत्तरीय वस्त्रमे बाँध लिया तथा द्वार खोलकर बाहर चले आये।

व्रजेशने देखा—ब्राह्मणके अणु-अणुसे आनन्द झर-सा रहा है। दिव्योन्मादके लक्षण भी उनमे प्रत्यक्ष परिलक्षित हो रह हैं। हाथ जोडकर व्रजेन्द्र पूछते हैं, 'देव! पारण हो गया?' कण्व गद्‌गद कण्ठसे कहते हैं—'हाँ व्रजेश! हो गया, मैं अनन्त कालके लिये परितृप्त हो गया।' यह कहकर फिर वे कुछ बड-बड करने लगते हैं। नन्द-दम्पति कुछ नहीं समझ पाते कि ब्राह्मण क्या कह रहे हैं। हाँ, इतना तो वे जान गये हें कि कण्वको प्रसाद अर्पण करते समय प्रेमावेश हो गया हे उन्हाने इसीलिये अर्पित खीर अङ्गोमे चुपड ली है। जो हो ब्राह्मणकी उन्मत्तता उत्तरोत्तर बढने लगती है। वे वहीं नन्दप्राङ्गणम बारम्बार लोट-लोटकर अस्फुट स्वरमे आवृत्ति करने लगते हैं—

सफल जन्म, प्रभु आजु भयौ।
धनि गोकुल, धनि नन्द-जसोदा, जाकै हरि अवतार लयौ॥
प्रगट भयौ अब पुन्य-सुकृत-फल दीनबधु मोहिं दरस दयौ।
बारबार नद के आँगन, लोटत द्विज आनदमयौ॥
मै अपराध कियौ बिनु जाने को जाने किहिं भेष जयौ।
सूरदास प्रभु भक्त-हेत-बस, जसुमति-गृह आनन्द लयौ॥

---

* स एष आद्य पुरुष कल्पे कल्पे सृजत्यज। आत्माऽऽत्मन्यात्मनाऽऽत्मान सयच्छति च पाति च॥
विशुद्ध केवल ज्ञान प्रत्यक्सम्यगवस्थितम्। सत्य पूर्णमनाद्यन्त निर्गुण नित्यमद्वयम्॥
आद्योऽवतार पुरुष परस्य काल स्वभाव सदसन्मनश्च। द्रव्य विकारो गुण इन्द्रियाणि विराट् स्वराट् स्थास्नु चरिष्णु भूम्न॥
अह भवो यज्ञ इमे प्रजेशा दक्षादयो ये भवदादयश्च। स्वर्लोकपाला खगलोकपाला नृलोकपालास्तललोकपाला॥
गन्धर्वविद्याधरचारणेशा ये यक्षरक्षोरगनागनाथा।
ये वा ऋषीणामृषभा पितॄणा दैत्येन्द्रसिद्धेश्वरदानवेन्द्रा। अन्ये च ये प्रेतपिशाचभूतकूष्माण्डयादोमृगपक्ष्यधीशा॥
यत्किं च लोक भगवन्महस्वदोज सहस्वद्बलवत्क्षमावत्। श्रीह्रीविभूत्यात्मवदद्भुतार्णं तत्त्वं पर रूपवदस्वरूपम्॥
(श्रीमद्भा० २।६।३८-३९ ४१—४४)

'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना'

(आचार्य डॉ० श्रीपवनकुमारजी शास्त्री साहित्याचार्य विद्यावारिधि, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

श्रीरामचरितमानस (१।१८५।५)-मे कथित भगवान् शिवकी निम्न वाणी अत्यन्त गूढ अर्थोवाली है—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मै जाना॥

इस चौपाईमे दो बाते कही गयी हैं। प्रथम तो यह कि ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है और द्वितीय यह कि प्रभु प्रेमसे प्रकट हो जाते हैं। इनमेसे ईश्वरकी सर्वव्यापकताको तो ससार स्वीकार करता है, किंतु प्रेमसे प्रभुका प्राकट्य होता है, इस तथ्यका लोग जल्दी स्वीकार नहीं करते। सभी लोग अपने-अपने प्रेमकी चर्चा करते हुए प्रश्न कर बैठते हैं कि यदि प्रभु प्रेमसे प्रकट होते हैं तो हम उन्हें प्रेमसे बुलाते हैं, फिर भी वे हमारे सम्मुख क्यो नहीं आते? क्या हमारा प्रम प्रेम नहीं है? आखिर वह प्रेम कैसा है, जिसके द्वारा प्रभु प्रकट हो जाते हैं? वे उस प्रेमकी परिभाषा पूछ बैठते हैं, जिसके द्वारा प्रभुका प्राकट्य सम्भव होता है।

विभिन्न आचार्यों और सतोने भक्तोकी इस जिज्ञासाका यथाशक्ति समाधान करनेका प्रयास किया है। प्रेमका शाब्दिक अर्थ जितना आसान है, उसका भावनात्मक अर्थ उतना ही कठिन है। प्रेमको परिभाषित करते हुए कहा गया है कि प्रियका भाव ही प्रेम है। अमरकोषमे—'प्रेमा-प्रियता-हार्दम्' और स्नेह शब्दको प्रेमका पर्यायवाची कहा गया है। मेदिनीकोशमे नर्मको प्रेमका पर्याय कहा गया है।

भावनाके स्तरपर प्रेम अनिर्वचनीय है। जिस प्रकार गूँगा फलके आस्वादका वर्णन नहीं कर सकता, उसी प्रकार प्रेमको भी परिभाषित नहीं किया जा सकता। प्रेमका आस्वाद अनुभवगम्य है। प्रेमभाव वात्सल्य, दास्य तथा सख्य आदि भावासे भिन्न और विलक्षण है। सताने तो यहाँतक कहा है कि प्रेम भगवान्का साक्षात् स्वरूप है। भगवान् स्वय प्रेममय हैं और प्रेम करने योग्य हैं तथा भगवान्को प्राप्त करनेका साधन भी प्रेम ही है। इस प्रकार प्रेम साधन और साध्य दोना ही है। भगवान् ही प्रेम, प्रेमी तथा प्रेमास्पद हैं।

गोस्वामीजीसे भक्त पूछते हैं कि श्रीरामके चरणोमे प्रेम कैसे होगा? इसपर गोस्वामीजी उत्तर देते हैं कि भक्तशिरोमणि श्रीभरतजीके चरित्रका आदरपूर्वक श्रवण करनेमे श्रीराम और श्रीसीताजीके चरणकमलोमे प्रेम हो जाता है तथा ससार-विपयक मिथ्यारसानन्दसे विरति हो जाती है—

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु अवसि होइ भव रस बिरति॥

(रा०च०मा० २।३२६)

यद्यपि प्रेम अनिर्वचनीय है, तथापि प्रेमका स्वरूप क्या है, इसे यत्किञ्चित् समझानेका प्रयास गोस्वामीजीने श्रीरामजीसे श्रीसुतीक्ष्णजीके मिलनके समय प्रस्तुत किया है—

मुनि अगस्ति कर सिष्य सुजाना। नाम सुतीछन रति भगवाना॥
प्रभु आगवनु श्रवन सुनि पावा। करत मनोरथ आतुर धावा॥
निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
दिसि अरु बिदिसि पथ नहिं सूझा। को मै चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछे पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥
अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई। प्रभु देखै तरु ओट लुकाई॥

(रा०च०मा० ३।१०।१ ३ १०—१३)

भगवत्प्रेमके चिह्नोको श्रीमद्भागवतमे भी दर्शाया गया है। भगवान्के परम प्रिय भक्त श्रीप्रह्लादजी अपने साथी असुर बालकोको भगवत्प्रेमका स्वरूप समझाते हुए कहते हैं—'जब भगवान्के लीलाशरीरासे किये हुए अद्भुत पराक्रम, उनके अनुपम एव अद्भुत गुण और चरित्रोको सुन करके अत्यन्त आनन्दके उद्रेकसे मनुष्यका रोम-रोम खिल उठता है, आँसुओके मारे कण्ठ गद्गद हो जाता है और वह सकोच छोडकर जोर-जोरसे गाने-चिल्लाने तथा नाचने लगता है।

जिस समय वह ग्रह-ग्रस्त किसी पागलकी तरह कभी हँसता है, कभी करुण-क्रन्दन करने लगता है, कभी ध्यान करता है तो कभी भगवद्भावसे लोगाकी वन्दना करने लगता है जब वह भगवान्मे ही तन्मय हो जाता है, बार-बार लम्बी साँस खींचता है और सकोच छाडकर हरे! जगत्पते! नारायण! कहकर पुकारने लगता है तब भक्तियोगके महान् प्रभावसे उसके सारे बन्धन कट जाते हैं एव

भगवद्भावकी ही भावना करते-करते उसका हृदय भी तदाकार भगवन्मय हो जाता है। उस समय उसके जन्म-मृत्युके बीजोका खजाना ही जल जाता है और वह पुरुष श्रीभगवान्को प्राप्त कर लेता है। इस अशुभ ससारके दलदलम फँसकर अशुभमय हो जानेवाले जीवके लिये भगवान्की यह प्राप्ति ससारके चक्करको मिटा देनेवाली है। इसी वस्तुको कोई विद्वान् ब्रह्म और कोई निर्वाण-सुखके रूपम पहचानत हैं। इसलिये मित्रो! तुम लाग अपने-अपने हृदयमे हृदयेश्वर भगवान्का स्मरण करो।'*

यह प्रेम कैसे उत्पन्न होता है? इसे समझाते हुए भक्त-शिरोमणि प्रह्लादजी कहते हैं कि गुरुकी प्रेमपूर्वक सेवा अपनेको जो कुछ मिले वह सब प्रेमसे भगवान्को समर्पित कर देना, भगवत्प्रेमी महात्माआका सत्सङ्ग, भगवान्की आराधना, उनकी कथा-वार्तामे श्रद्धा, उनके गुण और लीलाआका कीर्तन, उनके चरणकमलाका ध्यान तथा उनके मन्दिर-मूर्तिका, दर्शन-पूजन आदि साधनासे भगवान्म स्वाभाविक प्रेम हो जाता है—

गुरुशुश्रूषया भक्त्या सर्वलब्धार्पणेन च।
सङ्गेन साधुभक्तानामीश्वराराधनेन च॥
श्रद्धया तत्कथाया च कीर्तनैर्गुणकर्मणाम्।
तत्पादाम्बुरुहध्यानात् तल्लिङ्गेक्षार्हणादिभि ॥

(श्रीमद्भा० ७।७।३०-३१)

प्रेमसे ही भक्ति आती है। गोस्वामीजी कहते हैं कि भक्तिके लिये विश्वास आवश्यक है। बिना विश्वासके भक्ति नहीं होती और बिना भक्तिके श्रीराम द्रवित नहीं होते तथा श्रीरामकी कृपाके बिना जीवको विश्राम (मोक्ष) नहीं मिलता—

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु॥

(रा०च०मा० ७।९० (क))

भक्त काकभुशुण्डिजीसे श्रीरामचन्द्रजी अपने सिद्धान्त बतलाते हैं कि यद्यपि समस्त चराचर जीव मर द्वारा उत्पन्न किय हुए हैं, तथापि मुझे मनुष्य सवाधिक प्रिय हैं और मनुष्याम भी वे अपने दास सर्वप्रिय हैं, जिन्ह मरे सिवाय कोई दूसरी आशा नहीं है—

सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब त अधिक मनुज मोहि भाए॥
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥
भगतिवत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥

(रा०च०मा० ७।८६।४ ७ १०)

भक्ति और प्रेमके भाव तथा अभाव दानाको एक ही स्थानमे उपस्थित करनेवाला प्रसङ्ग महाभारतकालम कौरवाके दरबारम उपस्थित होता है। युद्ध टालनके लिये मध्यस्थरूपसे आये हुए भगवान् श्रीकृष्ण दुर्योधनादिके मधुर पक्वान्नोकी उपेक्षा करते हुए भक्तराज विदुरके घरम शाकका भोजन ग्रहण करत हैं। दुर्योधनके कारण पूछनेपर भगवान्ने कहा—'भोजन दो स्थितियामे किया जाता है या ता जहाँ प्रम हा वहाँ या जब भूखक मारे प्राण जाते हा तब। प्रेम तो आपमे है ही नहीं और भूखा मैं हूँ नहीं'—

सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुन ।
न च सम्प्रीयसे राजन् न चैवापद्गता वयम्॥

(महाभारत उद्यो० ९१।२५)

भगवान् पूर्णकाम होनेके कारण वस्तुके भूखे नहीं हैं, उन्ह तो केवल प्रेमकी ही आवश्यकता है। भगवान् स्वय कहते हैं कि पत्र, पुष्प, फल अथवा जल या जो भी वस्तु साधारण मनुष्योको बिना किसी परिश्रम, हिसा और व्ययके अनायास ही मिल सकती है, वह वस्तु मुझे अर्पण की जा सकती है। कवल उसम प्रेमका भाव होना चाहिये। जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र-पुष्प, फल और जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्ध बुद्धि निष्कामप्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ—

---

* निशम्य कर्माणि गुणानतुल्यान् वीर्याणि लीलातनुभि कृतानि। यदातिहर्षोत्पुलकाश्रुगद्गद प्रोत्कण्ठ उद्गायति रौति नृत्यति॥
यदा ग्रहग्रस्त इव क्वचिद्धसत्याक्रन्दते ध्यायति वन्दते जनम्। मुहु श्वसन् वक्ति हरे जगत्पते नारायणेत्यात्ममतिर्गतत्रप॥
तदा पुमान् मुक्तसमस्तबन्धनस्तद्भावभावानुकृताशयाकृति। निर्दग्धबीजानुशयो महीयसा भक्तिप्रयोगेण समेत्यधोक्षजम्॥
अधोक्षजालम्भमिहाशुभात्मन शरीरिण ससृतिचक्रशातनम्। तद् ब्रह्म निर्वाणसुख विदुर्बुधास्ततो भजध्व हृदये हृदीश्वरम्॥

(श्रीमद्भा० ७।७।३४—३७)

पत्र पुष्प फल तोय यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदह भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन ॥

(गीता ९।२६)

जिसका अन्त करण शुद्ध हो उसे 'प्रयतात्मा' कहते हैं। यदि अर्पण करनेवालेका भाव शुद्ध न हो तो बाहरसे चाहे जितने शिष्टाचारके साथ उत्तम-से-उत्तम वस्तु भगवान्‌को अर्पण की जाय भगवान् उसे स्वीकार नहीं करते। भगवान्‌ने दुर्योधनका निमन्त्रण अस्वीकार कर शुद्धभाववाले विदुरके घरपर जाकर भोजन ग्रहण किया। सुदामाके चिउडाका बडी रुचिके साथ भोग लगाया और कहा कि हे सखे! आपके द्वारा लाया हुआ चिउडाका यह उपहार मुझको अत्यन्त प्रसन्न करनेवाला है। ये चिउडे मुझको और मेरे साथ ही समस्त विश्वको तृप्त कर देंगे—

नन्वेतदुपनीत मे परमप्रीणन सखे।
तर्पयन्त्यङ्ग मा विश्वमेते पृथुकतण्डुला ॥

(श्रीमद्भा० १०।८१।९)

भगवान्‌ने द्रौपदीकी बटलोईमेसे बचे हुए सागके पत्तेको खाकर दुर्वासा एव उनके शिष्योसहित समस्त विश्वको तृप्त कर दिया था।

इसी प्रकार भगवान्‌ने गजेन्द्रद्वारा अर्पण किये गये पुष्पको स्वय वहाँ पहुँचकर स्वीकार किया। रन्तिदेवके जलको ग्रहण करके उसे कृतार्थ किया। शबरीकी कुटियापर जाकर उसके दिये हुए फलोका भोग लगाया। शबरीके फलोकी मिठासका वर्णन करते हुए गोस्वामीजी लिखते हैं कि घरमे, गुरु वसिष्ठके आश्रममे, मित्रोके घरमे और ससुरालमे भी जहाँ-जहाँ मेहमानी हुई, वहाँ-वहाँ भगवान् श्रीरामने शबरीके फलोकी माधुरीको स्मरण करते हुए कहा कि वैसी माधुरी इन व्यञ्जनोमे कहाँ—

घर गुरुगृह प्रिय सदन, सासुरे भइ जब जहँ पहुनाई।
तब तहँ कहि सबरीके फलनिकी रुचि माधुरी न पाई॥

(विनय-पत्रिका पद-स० १६४)

देवी गौरीकी आराधनाहेतु जनकपुरमे सीताजीने अनुरागका ही आश्रय लिया था और उतनेसे ही भगवती पार्वतीने प्रसन्न होकर जानकीजीको मनोभिलषित वर प्राप्त होनेका आशीर्वाद दिया था—*'पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा', 'बिनय प्रेम बस भई भवानी', 'मनु जाहिं राचेउ मिलिहि सो बरु सहज सुदर साँवरो।'* (रा० च० मा० १। २२८ से २४६ तकका प्रसग)

भगवान्‌की सर्वव्यापकता और प्रेमसे प्राकट्यके अनेक उदाहरण पुराणोमे भरे पडे हैं।

इस प्रकार सर्वव्यापक भगवान्‌की प्राप्तिका प्रेम ही एकमात्र सर्वोत्तम उपाय है। प्रेम ही ईश्वर है और ईश्वर ही प्रेम है। प्रेममे समर्पण है उत्सर्ग है। प्रेमका रास्ता जितना सुगम जान पडता है, वास्तवमे उतना सुगम है नहीं। यह अत्यन्त कठिन मार्ग है। प्रेमकी साधनासे अनन्त जन्मोके पापोका समूल विनाश हो जाता है। गीताके अनुसार निष्काम कर्म ही भगवत्प्रेमका मूलाधार है।

लीला-दर्शन—

कन्हाईका पक्षी

आज एक पक्षीवाला आ गया नन्दग्राममे। एक ही पक्षी था इसके पास किंतु इतना सुन्दर पक्षी तो इधर दीखता नहीं। मयूरकी कलँगीसे भी अत्यन्त सुन्दर कलँगी और सुरग पक्षी। बालकोके समान मधुर भाषामे छोटे-छोटे शब्द मानवभाषाके बोल लेता है। पक्षीवाला कहता था—'यह बहुत शुभ पक्षी है और अनेक बार इसकी भविष्यवाणियाँ सर्वथा सत्य होती हैं। यह *आगम-ज्ञानी* पक्षी है।'

पक्षीवाला ही कहता था कि यह हिमालयके बहुत ऊपरी भागमे—हिमक्षेत्रमे होता है। इसने भी यह पक्षी किसी दूसरेसे क्रय ही किया है। पक्षीके पतले छोटे पदोमे पक्षीवालेने पतली कौशेयकी काली रज्जु बाँध रखी थी। पक्षी उसके करपर शान्त बैठा था। सम्भवत उसे अपने बन्धनका आभास था। वह जानता था कि उडनेका प्रयास व्यर्थ है।

शिशिरमे आज पर्वका दिन है। बालक आज गोचारणको नहीं गये हैं। सब गोप भी प्राय एकत्र हो गये हैं व्रजराजके चौपालमे पक्षीको देखने तो फिर बालक घरोमे कैसे रह सकते हैं।

कन्हाई अभी-अभी दौडा-दौडा आया है भवनमेसे और बाबाके अङ्कमे बैठ गया है। दाऊ और भद्र बाबाके दाहिने-बाये सटे बैठे हैं। दूसरे भी शतश बालक व्रजराजके ही समीप हैं।

'आप जो पूछेगे, यह उसका उत्तर देगा।' पक्षीवालेने अपना दाहिना हाथ लम्बा किया, जिसपर पक्षी बैठा है।

'कनूँ! बेचारा पक्षी बँधा है।' देवप्रस्थने कन्हाईके कानोके समीप मुख ले जाकर कहा—'दु ख पाता होगा।'

'बाबा! मैं पक्षी लूँगा।' कन्हाईने बाबाके मुखकी ओर मुख किया ओर उनकी दाढीम अपने दाहिने करकी अँगुलियाँ नचाता हुआ वडे आग्रहसे बोला।

'तुम व्रजराजकुमारको अपना पक्षी दे दो।' बाबाके बोलनेमे पहले ही नन्दन चाचाने विचित्र अटपटे वेशवाले पक्षीवालेसे कहा—'तुम जितना चाहो, इसका मूल्य ले लो।'

'यह हिमप्रदेशका पक्षी है।' पक्षीवाला बोला—'यहाँ वसन्तमे ही मर जायगा।'

'नहीं मरूँगा।' पक्षी बोल उठा—'जिऊँगा, खूब जिऊँगा। मुझे विक्रय करो।'

'यह आगम-ज्ञानी है।' पक्षीकी ओर देखकर पक्षीवाला बोला—'यही जाना चाहता है ता कुमार इसे ले।'

कन्हाई बाबाकी गोदसे कूदकर दौड गया पक्षीवालेके पास। पक्षी उडकर श्यामके करपर आ बैठा। पक्षीवालेने रज्जु पकडा दी। पक्षीवाला स्वप्नमे भी न सोच सकता हो इतने रत्न नन्दन चाचा भर लाये गायको चारा देनेको जैस लाये हों, उसी बडे टोकरेभर चमकते रत्न। पक्षीवाला तो आँख फाडे देखता रह गया। उसकी तो कई पीढी बैठी खायँ इतना धन—व्रजराज-पौरिपर आकर भी कोई कगाल रहा करता है!

'आप इसे छोडोगे तो उड जायगा।' पक्षीवालने कन्हाईकी ओर देखकर कहा। श्यामने दाऊ दादाके करपर पक्षी बैठा दिया है और स्वय उसके पैरकी रज्जु खालने लगा है। बालक सब कन्हाईको घेरे खडे हैं।

'नहीं भागूँगा।' पक्षी ही बोला—'ये बाँधे रहे तो, और खोल द तो, मैं इनके पास ही रहूँगा। कइयोके बन्धनम पता नहीं कबसे हूँ। अब ये बाँधे रहे तो मुझे सुख ही है।'

'नहीं, बाँधूँगा नहीं तुझे।' कन्हाईने कहा। कृष्णका स्वभाव बाँधना नहीं है। यह बन्धन खोलता ही है—'तू रोटी खायगा?'

'यह केवल फल खाता है।' पक्षीवालेने बतलाया। 'खाऊँगा, तुम जो खिलाओ वही खाऊँगा।' पक्षीने पक्षीवालेको डाँट दिया—'अब तुम चुप रहो। जाओ! मैं इनका पक्षी हूँ।'

पक्षी रज्जु खुलते ही दाऊके करपरसे उडकर श्यामके वाम स्कन्धपर बैठ गया। तोक दौडकर रोटीका टुकडा लाया तो उसके हाथपर बैठकर नन्हीं चाचसे तनिक-तनिक रोटी खाने लगा।

'मैया तेरे लिये स्वर्णपिजरा लटका देगी। रातमे उसमे सो जाना और दिनम मेरे साथ वनमे चलना।' कन्हाई पक्षी पाकर उसीमे तल्लीन है—'वनमे बहुत फल हैं—खूब मधुर फल। तू बच्चा देगा?'

'बच्चा!' पक्षी चौंका—'वह तो मेरी चिरैया अण्डा देती है। उसमें बच्चा निकलता है बहुत दूर हिमालयमें कहीं होगी?'

'तू उसको बुला ला!' कन्हाईने कह दिया—'हम उसको भी रोटी दगे, फल देगे।'

'मैं जाऊँ?' पक्षीका स्वर उदास लगा—'मार्गमें पता नहीं कितने व्याध जाल बिछायेगे। पता नहीं कितने लकडियोम गोद लगाकर मुझे पकडनेकी घात लगायेगे। तुम मेरा ध्यान रखोगे? मैं तुम्हारा हूँ।'

'हाँ रखूँगा!' कन्हाईके नेत्र भी गम्भीर हो गये—'तू जा! अपनी चिरैयाको बुला ला।'

पक्षीने पख फैलाये, फिर समेट लिये। फिर फैलाये, फिर समेट लिये। बारम्बार पख फैलाता-समेटता रहा। उसका जी यहाँसे उडकर कहीं अन्यत्र जानेका नहीं, किंतु इन व्रजराजकुमारका आदेश—इसे टाला भी तो नहीं जा सकता।

पक्षी उडा—बहुत देरतक वहीं फुर्र-फुर्र उडता रहा। दाऊ कन्हाई, भद्र—सभी बालकोंके बाबाके गोपोंके सिरोके पास उडता रहा। बडी देरम वह ऊपर उठा और गगनमे जाकर सीधे उत्तर उड चला। उसे कोई फँसा पायेगा। वह कन्हाईका पक्षी है। कनूँ तो उसके अदृश्य होनेपर भी उसी दिशामें देख रहा है।

'साधन सिद्धि राम पग नेहू'

(डॉ० श्रीअवधेशकुमारजी तिवारी)

भौतिक दृष्टिसे भाग्यशाली उस व्यक्तिको कहा जाता है जिसे पद, प्रतिष्ठा, उत्तम स्वास्थ्य, प्रचुर धन-सम्पत्ति, भरा-पूरा परिवार तथा अन्य मनचाही भौतिक सुविधाएँ सुलभ हैं। किंतु विचार करनेपर ज्ञात होता है कि लौकिक सुखकी सारी सामग्री हमेशाके लिये नहीं होती और उससे प्राप्त सुख भी अल्पकालिक होता है। मानव-जीवन तो वस्तुतः स्थायी सुखकी प्राप्तिके लिये मिला है। अनेक योनियोंमें भ्रमण करनेके बाद ईश्वरकी अहैतुकी कृपासे प्राप्त ऐसे दुर्लभ मानव-शरीरका उपयोग यदि भौतिक सुखोंकी प्राप्तिके लिये किया जाय तो अन्ततः दुःख ही मिलता है—

जतन अनेक किये सुख-कारन, हरिपद-विमुख सदा दुख पायो।

(विनय-पत्रिका २४३।४)

नित्य रहनेवाला वास्तविक सुख तो प्रभु-चरणोंमें अनुराग रखनेसे ही मिलेगा। यही मानव-जीवनका परम लाभ है, जैसा कि गोस्वामी तुलसीदासजीने बताया भी है—

पावन प्रेम राम-चरन-कमल जनम लाहु परम।

(विनय-पत्रिका १३१।१)

प्रभुके ऐसे कृपापात्र भक्तोंको जिनका एकमात्र लक्ष्य प्रभु-चरणोंमें प्रेमकी प्राप्ति है और इसीके लिये जिनकी साधना है तथा जिनके लिये *'साधन सिद्धि राम पग नेहू'* ही सर्वोपरि साधन है, उन्हें श्रीरामचरितमानस (४।२३।७)-में बड़भागी कहा गया है। यथा—

सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी।

रामकथाकी फलश्रुतिके सम्बन्धमें गोस्वामीजीकी उक्ति है—

जे एहि कथहि सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥
होइहहिं राम चरन अनुरागी। कलि मल रहित सुमंगल भागी॥

(रा०च०मा० १।१५।१०-११)

रघुकुलगुरु महर्षि वसिष्ठके अनुसार मानव-जीवनका परम लक्ष्य प्रभुपद-प्रीतिकी प्राप्ति है—

तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर॥

(रा०च०मा० ७।४९।४)

इसीलिये वे श्रीरामसे यही एक वर माँगते हैं—

नाथ एक बर मागउँ राम कृपा करि देहु।
जन्म जन्म प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥

(रा०च०मा० ७।४९)

'प्रेम लपेटे अटपटे' वचन कहनेवाले केवटसे जब श्रीराम नाव लानेकी याचना करते हैं तो वह इसी तथ्यको उजागर करते हुए कहता है कि आपके चरणोंकी धूलि *'मानुष करनि मूरि'* है जो मनुष्यको सही मानेमें मनुष्यता प्रदान करनेमें सक्षम है। इसीलिये जब वह अत्यन्त प्रेमसे श्रीरामके चरणोंका प्रक्षालन करता है तो देवगण भी पुष्प-वर्षा कर उसे अप्रतिम बड़भागीकी संज्ञा देते हैं—

अति आनंद उमगि अनुरागा। चरन सरोज पखारन लागा॥
बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं। एहि सम पुन्यपुंज कोउ नाहीं॥

(रा०च०मा० २।१०१।७-८)

ऐसे ही भक्तोंके सम्बन्धमें भगवान् शिव जगत्-जननी पार्वतीसे कहते हैं—

धर्म परायन सोइ कुल त्राता। राम चरन जा कर मन राता॥

(रा०च०मा० ७।१२७।२)

रामपदानुरागी मुनिश्रेष्ठ भरद्वाज भी इसी प्रकारकी प्रार्थना प्रभुसे करते हैं—

अब करि कृपा देहु बर एहू। निज पद सरसिज सहज सनेहू॥

(रा०च०मा० २।१०७-८)

गोस्वामीजीकी दृष्टिमें एक ओर प्रभु-चरणोंमें स्नेह सकल सुमङ्गलोंका मूल है तो दूसरी ओर रामपद-प्रेमके अभावमें दारुण भवजन्य विपत्तिसे छुटकारा भी सम्भव नहीं—

सकल सुमंगल मूल जग रघुबर चरन सनेहु॥
देखु बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ॥

(रा०च०मा० २।१८२ २०७)

तुलसिदास भव-रोग रामपद-प्रेम-हीन नहिं जाई॥

(विनय-पत्रिका ८१)

पुण्यपुञ्ज महाराज दशरथको भगवान् रामके पिता होनेका गौरव प्राप्त हुआ। उन्होंने अपने पूर्वजन्ममें मनुरूपमें प्रभुसे *'सुत बिषइक तव पद रति होऊ'* के साथ *'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना॥'*—का वरदान माँगा था। परिणामस्वरूप दशरथरूपमें

'सत्य प्रेम जेहि राम पद' की उपलब्धि हुई और एतदर्थ उन्हे *'सब प्रकार भूपति बड़भागी'* कहा गया। श्रीराम-चरणासे बिछुडनेपर उन्होने तृणवत् अपना प्रिय तन त्याग दिया—*'प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ'*। इस प्रकार उन्होने *'नेह निबाहि देह तजि'* द्वारा अचल कीर्ति प्राप्त की। ऐसे धर्मपरायण प्रेमी पितासे भी अधिक ममता और पितृभावका प्रदर्शन प्रभुने अपने प्राणसहित स्वयको प्रभु-चरणोमे उत्सर्ग करनेवाले जटायुके लिये किया—

ऐसहु पितु त अधिक गीध पर ममता गुन गरुआई॥
बिहँग जोनि आमिष अहार पर, गीध कौन ब्रतधारी।
जनक-समान क्रिया ताकी निज कर सब भाँति सँवारी॥

(विनय-पत्रिका १६४ १६६)

महान् भाग्यशाली दशरथका देह-त्याग तो पुत्र-वियोगम हुआ पर महान् भक्त जटायुने अपने शरीरको रामकार्यके लिये नि स्वार्थभावसे त्याग दिया। इसलिये अगदके शब्दामे यह बडभागियोमे परम श्रेष्ठ हो गया—

राम काज कारन तनु त्यागी। हरि पुर गयउ परम बड़ भागी॥

(रा०च०मा० ४।२७।८)

युवराज अगद श्रीराम-चरणोके अनन्य प्रेमी थे। अयोध्याम राज्याभिषेकके बाद जब भगवान् अपने सखाओको विदा करने लगे तो प्रभुपादपद्मासे बिछुडनेकी भावी आशकासे अगद प्रभु-चरणोमे ही बैठे रहे—

अगद बैठ रहा नहिं डोला। प्रीति देखि प्रभु ताहि न बोला॥

(रा०च०मा० ७।१७।८)

सभीके प्रस्थानोपरान्त अगदने प्रभुसे विनती की—

मोरे तुम्ह प्रभु गुर पितु माता। जाउँ कहाँ तजि पद जलजाता॥

(रा०च०मा० ७।१८।४)

नि सदेह वालितनय श्रीअगद बडभागी हैं—

बड़भागी अगद हनुमाना। चरन कमल चापत बिधि नाना॥

(रा०च०मा० ६।११।७)

प्रभु श्रीरामके चरणाकी सेवामे सतत लीन, प्रभुके श्रेष्ठ दूत और अनन्य सेवक तथा बडभागी हनुमान्‌जीका स्थान रामपदानुरागी भक्ताम सर्वोपरि है—

हनूमान सम नहिं बड़भागी। नहिं कोउ राम चरन अनुरागी॥

(रा०च०मा० ७।५०।८)

सताने और स्वय श्रीहरिने मुक्तकण्ठसे उनकी भूरि-भूरि प्रशसा की है—

गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निज मुख गाई॥
जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर॥

(रा०च०मा० ७। ५०। ९ १।१७)

किमि बरनउँ हनुमान की काय काति कमनीय।
रोम रोम म रमि रहा, राम नाम रमनीय॥

हनुमान्‌जी प्रभुको अपने हृदयसे एक क्षणके लिये भी विस्मृत नहीं होने देते थे। प्रभुमे उन्हाने कहा था—*'कह हनुमत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥'* एतदर्थ वे सदैव सावधान और सचेष्ट रहते थे। श्रीरामक आदेशानुसार जब वे सीताजीकी खोजक लिये चले तो उन्हाने प्रभुको अपने हृदयमे बिठा लिया—*'चलेउ हरषि हियँ धरि रघुनाथा॥'* मार्गम अनेक विघ्न-बाधाआसे जूझते हुए अपने हृदयम रामको सँभालकर रखा—*'बार बार रघुबीर सँभारी'*। लङ्कासे लौटनेपर प्रभुने न केवल उन्ह पुत्ररूपमे स्वीकार किया बल्कि उनके ऋणी भी हो गये—*'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं।'* हनुमान्‌जीकी नि स्वार्थ सेवापर रीझकर श्रीरघुनाथजी अपने श्रीमुखसे उनके यशका बखान करते हैं—

महाबीर बिनवउँ हनुमाना। राम जासु जस आप बखाना॥

(रा०च०मा० १।१७।१०)

श्रीरामचरितमानसमे गोस्वामीजीने बडभागी भक्तोकी जो शृखला प्रस्तुत की है उनमे सर्वाधिक अग्रणी श्रीभरतजी एव श्रीलक्ष्मणजी हैं। जहाँ श्रीलक्ष्मण प्रभुके नित्यसान्निध्यमे रहकर श्रीरामपादारविन्दाकी सेवा करते हैं—

अहह धन्य लछिमन बड़भागी। राम पदारबिंदु अनुरागी॥
बोरेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी॥
जीवन लाहु लखन भल पावा। सबु तजि राम चरन मनु लावा॥

और एकमात्र प्रभुके आश्रयपर ही भरोसा करते हैं—

मै सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला। मदरु मेरु कि लेहिं मराला॥
गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबधु उर अतरजामी॥

(रा०च०मा० २।७२।३—६)

वहीं श्रीभरतलालजी प्रभुसे अलग रहते हुए भी उनके चरणकमलाको नित्य हृदयमे धारण कर उनकी सेवामें सतत सलग्न रहते हैं। भगवान्‌का स्वभाव तो कल्पवृक्षकी तरह है। वे भक्तकी इच्छाके अनुरूप उसके मनोरथको उसी रूपमे पूर्ण करते हैं।

श्रीभरतजीके जीवनका एकमात्र लक्ष्य राजर्षि जनकके मतानुसार रामपदम अविच्छिन्न स्नेह है—

साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥

प्रयागमे त्रिवेणीजीकी प्रार्थनामे भी वे इसी पदरतिकी याचना उत्कटरूपमे करते हैं—

सीता राम चरन रति मोरे। अनुदिन बढउ अनुग्रह तोरे॥

और अपने हृदयकी पुकारके अनुरूप ही उन्हे साधुवाद मिलता है—

तात भरत तुम्ह सब बिधि साधू। राम चरन अनुराग अगाधू॥

गोस्वामीजी भरत-स्तुति करते हुए उन्हे बडभागी कहते हैं—

प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना। जासु नेम ब्रत जाइ न बरना॥
राम चरन पकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥

जयति भूमिजा-रमण-पदकज-मकरद-रस-
रसिक-मधुकर भरत भूरिभागी॥

और इसीका समर्थन महर्षि भरद्वाजके शब्दोमे मिलता है—

सकल सुमगल मूल जग रघुबर चरन सनेहु॥
सो तुम्हार धनु जीवनु प्राना। भूरिभाग को तुम्हहि समाना॥

ऐसे श्रेष्ठतम भाग्यशाली भक्तके दर्शनसे प्रेम-विभोर हो मुनि कह उठते हैं—

सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥

श्रीरामचरणोम अनुराग और तदर्थ खड्गधाराव्रतका निर्वाह भरतचरित्रमे जैसा मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। विनय-पत्रिका (पद ३९)-मे आता है—

जयति विबुधेश-धनदादि-दुर्लभ-महा-
राज-सम्राज-सुख-पद-विरागी ।
खड्ग-धाराव्रती-प्रथमरेखा प्रकट
शुद्धमति-युवति पति-प्रेमपागी॥

ऐसे आदर्श भगवच्चरणानुरक्त विरक्त भक्तके पावन चरित्रको नियमपूर्वक सादर सुननेवाले प्राणीको सीय-रामपद-प्रेमकी प्राप्ति अवश्य होगी और भवरससे विरक्ति भी अवश्य होगी ऐसी उद्घोषणा गोस्वामीजी करते हैं—

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु अवसि होइ भव रस बिरति॥

(रा०च०मा० २।३२६)

श्रीरामचरितमानसमे जगदम्बा सीताकी वन्दनामें गोस्वामीजीने उनके लिये दो विशेषताओ—क्लेशहारिणी और सर्वश्रेयस्करीका उल्लेख कर यह सकेत दिया है कि उनके अवतारका मुख्य उद्देश्य सबको क्लेशमुक्त और सबका कल्याण करना है। श्रीहनुमान्‌जीके कथनानुसार प्रभुका स्मरण और भजन छूट जाना ही विपत्ति (क्लेश) है तथा कल्याणका मूल प्रभु-चरणोमे प्रीति है। भगवती सीताने अपने आचरणद्वारा इन दोनो बातोको स्वय सिद्ध करके जगत्‌के जीवाको क्लेशमुक्त और कल्याणयुक्त जीवन जीनेकी सीख दी है—

जासु कृपा कटाच्छु सुर चाहत चितव न सोइ।
राम पदारबिद रति करति सुभावहि खोइ॥
जेहि बिधि कपट कुरग सँग धाइ चले श्रीराम।
सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरिनाम॥

(रा०च०मा० ७।२४ ३।२९ (ख))

प्रभु श्रीरामके जिन चरणकमलोकी धूलके स्पर्शसे पाषाणमूर्ति अहल्या छविमय देह धारण कर अतिशय बडभागिनी हो गयी—

रामपद-पदुम-पराग परी।
ऋषितिय तुरत त्यागि पाहन-तनु छबिमय देह धरी॥

(गीतावली १।५७)

अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी जुगल नयन जलधार बही॥

(रा०च०मा० १।२११ छ०)

—वे ही परम पावन श्रीहरिचरण हम जीवोकी जडता दूर कर हमे चैतन्य प्रदान कर। इस निमित्त हम सतशिरामणि तुलसीदासजीके स्वर-मे-स्वर मिलाकर श्रीरघुनाथजीसे प्राथना कर—

यह बिनती रघुबीर गुसाईं।
और आस-बिस्वास-भरोसो, हरो जीव-जडताई॥
चहा न सुगति सुमति सपति कछु रिधि-सिधि बिपुल बडाई।
हेतु-रहित अनुराग राम-पद बढै अनुदिन अधिकाई॥

(विनय-पत्रिका १०३)

प्रेमी जादूगर

एक विचित्र जादूगर है। सुना है, वह अन्य जादूगरासे भिन्न विलक्षण खेल दिखाता है। बडा मनोरम, अतीव आकर्षक। और शुल्क क्या लेता है उसका? बस, प्रेम। रुपये-पैसे तो वह पहचानता ही नहीं। इसीलिये कोई जादू-कम्पनी भी वह नहीं चलाता। वह ढूँढ-ढूँढकर केवल अपने प्रेमियाको ही जादू दिखाता है। बडा प्रेमी है वह, बडा सुन्दर है। मोह लेता है अपने प्रेमस, अपने सौन्दर्यसे।

जी हाँ, उसम सौन्दर्य है और प्रेम है। यही उसका मन्त्र है। इसीसे वह जादूका खेल करता है। सौन्दर्य ऐसा कि उसकी कल्पना भी आप न कर सकेंगे। और प्रेम? प्रेम तो ऐसा कि विषसे भी दाहक, किंतु अमृत-तुल्य।

विषसे आपको डर लगता है क्या? डरिये नहीं। इससे आपके प्राणोको भय नहीं। बहुत हुआ तो आपको उस क्रीडा-प्रेमीके प्रेमम उन्मत्त हो नाचना पडेगा या सब कुछ रहते हुए भी उसके वियोगम तडपना पडेगा। किंतु इससे क्या? यह तो आपके लाभके लिये ही करेगा वह। इससे आप उसे अधिक-से-अधिक चाहेगे और वह भी आपको अधिकाधिक अपनायगा।

यह सब जादूका खेल क्या खेलता है वह? जानते हैं? आपको अपनानेके लिये और अपनोकी सँभाल करनेके लिये। वह हर आदमीको अपनाना चाहता है। इसके लिये उसका सान्त्वनापूर्ण आमन्त्रण भी है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेक शरण व्रज।
अह त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच ॥

(गीता १८।६६)

और उसकी शरण भी बडी ही सुखदायिनी है—

सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकउ बाधा॥

(रा०च०मा० ४।१७।१)

तो क्या आप भी उसकी शरण जाना चाहते हैं? बता दूँ? उसके नाम लिख लीजिये, कागजपर या हृदयपर। बहुत-से नाम हैं उसके। बहुत ही छोटे-छोटे। सभी-के-सभी एकशब्दी। याद करनेकी भी सुविधा। लीजिये, तो नोट कर लीजिये—दो-चार नाम—राम कृष्ण हरि विष्णु, शिव। जी हाँ यही उसके नाम और यही उसक पूरे पते हैं। चाहे जिस नाम-पतेसे आप उसके पास जा सकते हैं या उसे खुद अपने ही पास बुला सकते हैं।

और हाँ, एक बात याद रख। जादू देखनेकी अभिलाषासे आप उसके पास न जायँ। इससे तो आपको जादूसे प्रेम होगा, उस जादूगरसे नहीं। फिर, जबतक आप उस जादूगरसे प्रेम नहीं करेगे, तबतक वह आपसे मिलेगा ही नहीं। जादूके प्रेमियाको वह नहीं मिलता परंतु अपने प्रेमियाको तो वह सदासे दर्शन देता आया है—उनसे बडे प्रेमसे मिलता आया है, उन्हे रग-बिरगे खेल दिखलाता आया है। कभी धन्नाके खेतम बिना बीज गेहूँ उगाया, तो कभी दुर्वासाके शिष्योकी बिना भोजन किये ही उदर-पूर्ति की। कभी सुदामाकी मडैयाको महल बनाया, तो कभी पत्थर-शिलाको सुन्दरी अहल्या बनाया। उधर प्रह्लादके लिये अग्निको हिम बना दिया, तो इधर मीराके लिये विषको भी अमृत कर दिया।

जी, तो बडे ही मनोरम खेल हैं उसके। किंतु देखनेको मिलेगे ये खेल उसको ही, जो खेलसे प्रेम नहीं करता उस खिलाडीसे ही प्रेम करता है। वह अपने प्रेमियाको तो प्रेमानुरूप खेल दिखाता ही रहता है।

वह बालक-रूपमे था। माता कौसल्याने उसे पालनेमें सुला दिया और खुद कुलदेवकी पूजामे लग गयी। किंतु यह क्या? कुलदेवके लिये बनाया गया पकवान तो बैठकर 'राम' उडा रहा था। माने दौडकर देखा तो उसका राम पालनेमे हो सो रहा था। वह आश्चर्यम पडकर सोचने लगी—

इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मतिभ्रम मोर कि आन बिसेषा॥

(रा०च०मा० १।२०१।७)

किंतु यह तो उस जादूगरका साधारण खेल था। इसी तरह माता यशोदाने भी उसे शान्त रखनेके लिये ऊखलसे बाँधना चाहा पर वह कब शान्त रहा है? क्रीडाके बिना उसे चैन कहाँ? उसने ऊखलको लुढकाकर वृक्षासे टकरा दिया जिसस वृक्ष भी धराशायी हो गये और उनमसे दो देवता निकल आय!

अपने प्रेमीका कौन नहीं रिझाना चाहता? सभी चाहते हैं वह भी चाहता है। एक दिन शृङ्गार-सुसज्जित राधिका

भी उसे रिझाने निकली थी, किंतु उस नटवरने सौन्दर्यका कैसा जादू किया?—भिखारीदास लिखते हैं—

जेहिं मोहिबे काज सिंगार सज्यो
तेहि देखत मोह मे आइ गई।
न चितौनि चलाइ सकी, उनहीं की
चितौनि के घाय अघाइ गई॥
वृषभानु-लली की दसा सुनो दास जू
देत ठगौरी ठगाइ गई।
बरसाने चली दधि बेचिबे को
तहँ आपु हि आपु बिकाइ गई॥

इसमे आश्चर्य ही क्या है? जादूगर तो जादूगर ही है। विश्वविमोहन कामदेव भी मात खाता है उसकी सुन्दरतापर। वह बहुरूपिया भी है। सुन्दरताका स्वाँग क्या वह नहीं रच सकता? अरे, वह क्या-क्या रूप नहीं बना सकता! वह सब कुछ बना सकता है, सब कुछ बन सकता है। तुलसीका चौकीदार, विद्यापतिका कमकर, नरसीके लिये सेठ और भगवानप्रसादके लिये डिप्टीसाहब बननमे उसे जरा भी देर नहीं लगती। एक साथ अनेक रूप भी बना सकता है, उससे मिलनेके लिये प्रेमियोका भीड चाहिये।

अयोध्याकी प्रजा प्रेमोन्मत्त होकर उससे मिलनेके लिये दौडी तो उसने सबमें मिलनोत्कण्ठा देखकर एक खेल किया—

अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथाजोग मिले सबहि कृपाला॥
कृपा दृष्टि रघुबीर बिलोकी। किए सकल नर नारि बिसोकी॥

अपने प्रेमियाकी भीडमे हर एकसे मिलनेके लिये, हर एक प्रेमीकी प्रेम-पीडा शान्त करनेके लिये वह अमितरूपमें प्रकट होकर एक ही साथ सबस मिल लिया। सबके मनम एक ही समान प्रेम जो उमड रहा था। और उसकी तो प्रतिज्ञा ही ठहरी—

ये यथा मा प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम्।

वह भी सबसे मिलनेके लिये उतावला हो उठा। अत जितने प्रेमी, उतने ही वह।

प्रेमी कब किस जगह पुकार देगा उसे—इसके लिये वह चौकन्ना रहता है, प्रकट होनेके लिये तैयार रहता है। नामदेवजीने जो कुत्तेके पीछे उसकी पुकार लगायी तो कुत्ता भी भगवान् बन गया। पर कुत्ता तो सजीव था, वह तो काठ-पत्थरके खम्भेसे भी निकल आता है। और यह भी क्या, वह तो आपके शरीरके वस्त्रसे भी प्रकट हो सकता है। द्रौपदीका चीरहरण हो रहा था। उसने अपने पतियाको पुकारा सम्बन्धियासे सहायता माँगी, परतु उन सबसे निराशा मिली। अन्तमे उसने करुणानिधान द्वारकाधीशको पुकारा और करुणानिधानका तो यह व्रत ही ठहरा—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभय सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रत मम॥

करुणासागरने शीघ्र ही जादूका खेल किया। साडीका ढेर लग गया और दु शासनकी दस हजार हाथियोकी ताकतवाली बाँहें पस्त पड गयीं, पर न साडीका अन्तिम छोर मिला, न चीरहरण हो सका!

तो देखा आपने? कैसा है वह जादूगर! वह प्रेमी है, 'प्रेम' ही है वह, प्रेम ही उसका जीवन है। चाहे जिस बहाने, जिस नाते प्रेम चाहिये उसे। आप भी उससे प्रेम कर, वह आपका बन जायगा। बस, मात्र आपका प्रेम पाकर ही वह अपनी जादुई बाँसुरी अपने होठोंपर रख लेगा। फिर तो आपका जीवन ही धन्य कर देगा वह अपने जादूसे, किंतु इसके लिये आप उससे प्रेम कीजिये, कोई नाता जोडिये। गोस्वामीजीने कितने नाते जोडे थे—उस प्रेमी जादूगरसे!—

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी तू पाप-पुंज-हारी॥
नाथ तू अनाथको, अनाथ कौन मोसो।
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो॥
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू है ठाकुर हौं चेरो।
तात-मात, गुरु-सखा, तू सब बिधि हितु मेरो॥
तोहिं मोहिं नाते अनेक, मानियै जो भावै।
ज्यो त्यो तुलसी कृपालु! चरन-सरन पावै॥

(विनय-पत्रिका ७९)

[प्रेषक—श्रीप्रशान्तकुमारजी सैनी]

रामु पुनीत प्रेम अनुगामी

(डॉ० श्रीवीरेन्द्रजी शर्मा)

भक्तप्रवर गोस्वामी तुलसीदासके दिव्य ग्रन्थ श्रीरामचरितमानसमे भगवती पार्वतीको परब्रह्म परमेश्वरके अवतार श्रीरामकी कृपा प्राप्त करनेके लिये अनन्य प्रेमकी महिमा बताते हुए भगवान् शकर कहते हैं कि नाना प्रकारके योग, जप दान, तप यज्ञ, व्रत और नियम करनेपर भी श्रीरामजी वैसी कृपा नहीं करते जैसी कि वे निश्छल प्रेमसे द्रवित होकर करते है—

उमा जोग जप दान तप नाना मख ब्रत नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निष्केवल प्रेम॥

(रा०च०मा० ६। ११७ ख)

इसी बातको प्रकारान्तरसे सम्पुष्ट करते हुए उन्हाने कहा है—

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा॥

(रा०च०मा० ७।६२।१)

रघुकुलगुरु वसिष्ठ मुनिने अयोध्यानरेश दशरथको यही रहस्य समझाते हुए बताया हे कि अखिल ब्रह्माण्डनायक श्रीराम पवित्र प्रेमके अनुगामी है। इसीलिये तो वे प्रेमके वशीभूत होकर दशरथनन्दनके रूपमे अवतरित हुए हैं—

सुनु नृप जासु बिमुख पछिताहीं। जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं॥
भयउ तुम्हार तनय सोइ स्वामी। रामु पुनीत प्रेम अनुगामी॥

(रा०च०मा० २।४।७ ८)

महाराज जनकने श्रीरामके स्वरूपका गुणगान करते हुए कहा हे—हे रघुनाथजी। सुनिये, मेरे सौभाग्य और आपके गुणोकी कथा कितनी ही कही जाय समाप्त नहीं हो सकती। में जो कुछ कह रहा हूँ, वह केवल अपने इस विश्वास-बलपर कि आप थोडे प्रेमसे ही प्रसन्न हो जाते हैं—

राम करौं केहि भाँति प्रससा। मुनि महेस मन मानस हसा॥
करहिं जोग जागी जेहि लागी। कोहु मोहु ममता मदु त्यागी॥
ब्यापकु ब्रह्मु अलखु अबिनासी। चिदानदु निरगुन गुनरासी॥
मन समेत जहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥
महिमा निगमु नेति कहि कहई। जो तिहुँ काल एकरस रहई॥
नयन बिषय मो कहुँ भयउ सो समस्त सुख मूल।
सबइ लाभु जग जीव कहँ भएँ ईसु अनुकूल॥
सबहि भाँति मोहि दीन्हि बड़ाई। निज जन जानि लीन्ह अपनाई॥
होहि सहस दस सारद सेषा। करहिं कलप कोटिक भरि लेखा॥
मोर भाग्य राउर गुन गाथा। कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा॥
मैं कछु कहउँ एक बल मोरें। तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरें॥

(रा०च०मा० १।३४१।४ से ३४२।४ तक)

श्रीरामने स्वय अपने श्रीमुखसे कहा है कि जिस क्षण भी प्राणीका मन मेरी ओर आकर्षित हो जाता है, उसी क्षण उसके जन्म-जन्मान्तराके समस्त पापाका नाश हो जाता है। मुझे मनकी पवित्रता और निश्छल प्रेम प्रिय हैं—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥
पापवत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ॥
जौं पै दुष्टहदय सोइ होई। मोरें सनमुख आव कि सोई॥
निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

(रा०च०मा० ५।४४।२—५)

जब भक्तके हृदयमे सात्त्विक पवित्र भावाका उदय होता है, उसके मनमे इष्टदेवके प्रति निश्छल प्रेमका पारावार उमडता है, तब वह मनसा, वाचा, कर्मणा प्रेममय हो जाता है। उसका शरीर पुलकित और रोमाञ्चित हो उठता है वाणी अवरुद्ध हो जाती है, नेत्र सजल हो जाते हैं तथा अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है। भक्तकी पूरी देह शिथिल हो जाती है उसे अपनी सुधि नहीं रहती, पूर्ण आत्म-विस्मृति हो जाती है।

यहाँ श्रीरामचरितमानसके कतिपय उन सदर्भोंका सक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा हे जिनमे अनुरागी भक्तोकी ऐसी ही भावपूर्ण स्थितिका चित्रण हे—

(१) **अहल्याजीका प्रभुप्रेम**—श्रीरामजीके पावन चरण-कमलोका स्पर्श पाते ही शापवश शिला बनी हुई ऋषि गौतमकी पत्नी अहल्या तत्काल अपने वास्तविक रूपमे प्रकट हो गयी। अतिशय प्रेम और आनन्दके कारण वह अधीर हो गयी। उसका शरीर पुलकित हो उठा। कण्ठ भर आया मुखसे शब्द नहीं निकले और दोना नेत्रासे जलधारा बहने लगी—

परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तपपुंज सही।
देखत रघुनायक जन सुख दायक सनमुख होइ कर जोरि रही॥
अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा मुख नहिं आवइ बचन कही।
अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी जुगल नयन जलधार बही॥

(रा०च०मा० १।२११।छन्द १-२)

(२) प्रभुदर्शनसे राजा जनककी विदेहावस्था—जनकपुरीके निवासियोंने जब श्रीराम और लक्ष्मणको देखा तो वे बहुत आनन्दित हुए। उनके नेत्रोंमें प्रेमके अश्रु उमड़ पड़े। श्रीरामके मोहक स्वरूपको देखकर राजा जनक अपनी देहकी सुध-बुध भूल गये। राजा बार-बार प्रभुको देखते हैं—दृष्टि वहाँसे हटती ही नहीं। प्रेमसे उनका शरीर पुलकित हो रहा है—

भए सब सुखी देखि दोउ भ्राता। बारि बिलोचन पुलकित गाता॥
मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥
पुनि पुनि प्रभुहि चितव नरनाहू। पुलक गात उर अधिक उछाहू॥

(रा०च०मा० १।२१५।७-८ २१६।५ २१७।५)

(३) जनकपुरीके बालकोंका प्रेमभरा कौतुक—जनकपुरीमें ही जब बालकोंने श्रीरामको देखा तो प्रेमानन्दमें मग्न होकर वे धनुषयज्ञशाला दिखानेके बहानेसे बार-बार प्रभुजीके अङ्गोंका स्पर्श करने लगे। उनके शरीरमें रोमाञ्च और मनमें प्रीतिभाव समा गया—

पुर बालक कहि कहि मृदु बचना। सादर प्रभुहि देखावहिं रचना॥
सब सिसु एहि मिस प्रेमबस परसि मनोहर गात।
तन पुलकहिं अति हरषु हियँ देखि देखि दोउ भ्रात॥
सिसु सब राम प्रेमबस जाने। प्रीति समेत निकेत बखाने॥
निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई। सहित सनेह जाहिं दोउ भाई॥

(रा०च०मा० १।२२४।८ से २२५।१-२ तक)

(४) ग्रामवासियोंका प्रेममें अधीर होना—वनगमनके समय सीताजी और लक्ष्मणजीसहित श्रीरघुनाथ जब किसी गाँवके निकट पहुँचते हैं तब उनके आगमनकी बात सुनकर सभी ग्रामवासी—बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष—अपने-अपने कार्योंको छोड़कर उनके दर्शनके लिये दौड़ पड़ते हैं। श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजीके स्वरूपको देखकर सभीके मनमें हर्षोल्लास भर जाता है। उनके नेत्रोंमें आँसू छलक आते हैं और शरीर रोमाञ्चित हो जाता है। वे सभी प्रेममें इतने अधीर हो जाते हैं कि उनके तन, मन, वाणी—सभी शिथिल हो जाते हैं—

सीता लखन सहित रघुराई। गाँव निकट जब निकसहिं जाई॥
सुनि सब बाल बृद्ध नर नारी। चलहिं तुरत गृहकाजु बिसारी॥
राम लखन सिय रूप निहारी। पाइ नयनफलु होहिं सुखारी॥
सजल बिलोचन पुलक सरीरा। सब भए मगन देखि दोउ बीरा॥
बरनि न जाइ दसा तिन्ह केरी। लहि जनु रंकन्ह सुरमनि ढेरी॥
एकन्ह एक बोलि सिख देहीं। लोचन लाहु लेहु छन एहीं॥
रामहि देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं सँग लागे॥
एक नयन मग छबि उर आनी। होहिं सिथिल तन मन बर बानी॥

(रा०च०मा० २।११४।१—८)

भरतजीके साथ जब पूरा समाज श्रीरामजीसे मिलनेके लिये चित्रकूटकी ओर जा रहा था तब सभी स्नेह-सुरामें छककर शिथिल हो रहे थे, चलते हुए उनके पग डगमगा रहे थे। वे प्रेमसे अधीर हुए विह्वल वचन बोल रहे थे—

भरतहि सहित समाज उछाहू। मिलिहहिं रामु मिटिहि दुख दाहू॥
करत मनोरथ जस जियँ जाके। जाहिं सनेह सुराँ सब छाके॥
सिथिल अंग पग मग डगि डोलहिं। बिहबल बचन पेम बस बोलहिं॥

(रा०च०मा० २।२२५।२—४)

(५) भरतजीके नेत्रोंसे अश्रुधाराका प्रवाह—जब केवटने भरतजीको उस स्थानकी ओर संकेत किया जहाँ श्रीरामजीकी कुटिया थी और जहाँ सीताजी तथा लक्ष्मणजीद्वारा लगाये गये तुलसीके पौधे सुशोभित थे तब भरतजीके नेत्रोंमें जल उमड़ आया। उनके अनिर्वचनीय प्रेमको देखकर सभी जड़ और चेतन प्रेममग्न हो गये। स्वयं केवट भी प्रेममें अधीर होकर मार्ग भूल गया। ऐसा था भरतजीके हृदयमें श्रीरघुनाथजीके प्रति निर्भर और निश्छल प्रेम—

सखा बचन सुनि बिटप निहारी। उमगे भरत बिलोचन बारी॥
करत प्रनाम चले दोउ भाई। कहत प्रीति सारद सकुचाई॥
हरषहिं निरखि राम पद अंका। मानहुँ पारसु पायउ रंका॥
रज सिर धरि हियँ नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥
देखि भरत गति अकथ अतीवा। प्रेम मगन मृग खग जड़ जीवा॥
सखहि सनेह बिबस मग भूला। कहि सुपथ सुर बरषहिं फूला॥
निरखि सिद्ध साधक अनुरागे। सहज सनेहु सराहन लागे॥

होत न भूतल भाउ भरत को। अचर सचर चर अचर करत को॥

(रा०च०मा० २।२३८।१—८)

(६) सुतीक्ष्णमुनिका प्रेममय सात्त्विक भाव—ऋषि अगस्त्यके शिष्य सुतीक्ष्णमुनिको जब यह समाचार मिलता है कि उनके इष्टदेव श्रीराम वनमे आनेवाले हैं तो वे प्रेमानन्दम ऐसे मग्न हो जाते हैं कि उनकी उस भावमय दशाका वर्णन नहीं किया जा सकता। उन्हे न तो दिशाएँ सूझ रही हैं और न ही उनको मार्गका कोई ज्ञान है—उन्ह यह भी ध्यान नहीं रहा कि मैं कौन हूँ, कहाँ जा रहा हूँ। वे कभी पीछेकी ओर चल देते हैं, फिर तुरत लौटकर आगे बढने लगते हैं, कभी प्रभुजीके गुण गा-गाकर नाचने लगते हैं, कभी शान्त हो जाते हैं—

निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी। कहि न जाइ सो दसा भवानी॥
दिसि अरु बिदिसि पथ नहिं सूझा। को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा॥
कबहुँक फिरि पाछ पुनि जाई। कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई॥

(रा०च०मा० ३।१०।१०—१२)

(७) शबरीका प्रभुप्रेम—सीताजीकी खोज करते हुए जब श्रीराम और लक्ष्मणजी तपस्विनी शबरीके आश्रममे पहुँचे तब वह दोनो भाइयोको देखकर उनके चरणोम लिपट गयी। उसके हृदयम प्रेमका सागर उमड पडा। वह आनन्दमग्न हो गयी। उसके मुखसे वचन नहीं निकल सके—

स्याम गौर सुदर दोउ भाई। सबरी परी चरन लपटाई॥
प्रेम मगन मुख बचन न आवा। पुनि पुनि पद सरोज सिर नावा॥
सादर जल लै चरन पखारे। पुनि सुदर आसन बैठारे॥

कद मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाए बारबार बखानि॥

पानि जोरि आगे भइ ठाढी। प्रभुहि बिलोकि प्रीति अति बाढी॥

(रा०च०मा० ३।३४।८ से ३५।१ तक)

(८) हनुमान्‌जीकी प्रेमनिष्ठा—हनुमान्‌जी पहली बार विप्रवेषम दोनो भाइयोसे मिले थे। बादमे उनका परिचय पाकर वे अपने इष्टदेवको पहचान गये। फिर तो उनका हृदय गद्‌गद हो गया। वे प्रभुजीके चरणोमे गिर पडे, शरीर पुलकित हो गया, मुखसे वचन नहीं निकल पाये फिर किसी प्रकार धैर्य धारण करके हनुमान्‌जीने प्रभुजीकी स्तुति की—

प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना। सो सुख उमा जाइ नहिं बरना॥
पुलकित तन मुख आव न बचना। देखत रुचिर बेष कै रचना॥
पुनि धीरजु धरि अस्तुति कीन्ही। हरष हृदयँ निज नाथहि चान्ही॥

(रा०च०मा० ४।२।५—७)

रावण-वधके पश्चात् हनुमान्‌जीने जब भरतजीको श्रीरामजीके अयोध्या लौटनेका शुभ समाचार सुनाया, तब भरतजीन तत्काल उठकर हनुमान्‌जीको आदर और प्रेमपूर्वक हृदयसे लगा लिया। भरतजीके मनम इतना आनन्दोल्लास था कि वह हृदयमे नहीं समा सका। नेत्रोसे अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी, शरीर पुलकायमान हो गया। धैर्य धारण करके वे कहने लगे—पवनसुत! तुम्हारे दर्शनसे मेरे समस्त दुःखोका अन्त हो गया। तुम्हारे समाचारकी सजीवनीसे मुझे ऐसा लग रहा है मानो श्रीरामजीके ही दर्शन हो गये—भरतजी बार-बार श्रीरामजी, सीताजी और लक्ष्मणजीके बारेमे पूछने लगे। वे बार-बार हनुमान्‌जीसे गले मिलकर भावविह्वल हो रहे थे—

मिलत प्रेम नहि हृदयँ समाता। नयन स्रवत जल पुलकित गाता॥
कपि तव दरस सकल दुख बीते। मिले आजु मोहि राम पिरीते॥
बार बार बूझी कुसलाता। तो कहुँ देउँ काह सुनु भ्राता॥
एहि सदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥
नाहिन तात उरिन मै तोही। अब प्रभु चरित सुनावहु मोही॥
तब हनुमत नाइ पद माथा। कहे सकल रघुपति गुन गाथा॥

(रा०च०मा० ७।२।१०—१५)

(९) सनकादि मुनियोद्वारा प्रभुकी प्रेममय छविका दर्शन—सनकादि मुनियोने अयोध्यामे आकर जब श्रीरामकी अनुपम छविके दर्शन किये तब वे निर्भर प्रेममे आत्म-विस्मृत हो गये। वे (मुनिलोग) निर्निमेष देखते ही रह गये और प्रभुजी हाथ जोडे हुए नमन करते रहे—

मुनि रघुपति छबि अतुल बिलोकी। भए मगन मन सके न रोकी॥
स्यामल गात सरोरुह लोचन। सुदरता मदिर भव मोचन॥
एकटक रहे निमेष न लावहिं। प्रभु कर जोर सीस नवावहिं॥

(रा०च०मा० ७।३३।२—४)

प्रेमास्पद प्रभु श्रीरामका प्रेम-दान

भक्तवत्सल करुणानिधान भगवान् श्रीराम प्रीतिकी रीतिको भलीभाँति जानते हैं। वे अन्य सम्बन्धोंको छोड़कर केवल प्रेम और भक्तिका ही सम्बन्ध मानते हैं—

जानत प्रीति रीति रघुराई।
नाते सब हाते करि राखत राम सनेह-सगाई॥

(विनय पत्रिका १६४)

भला संसारमें श्रीरघुनाथजीके समान शील और स्नेहका निर्वाह करनेवाला और कौन है—

को रघुबीर सरिस संसारा। सीलु सनेहु निबाहनिहारा॥

(रा०च०मा० २।२४।४)

श्रीरघुनाथजी सहज स्नेह और करुणाकी मूर्ति हैं। दूसरोंका दुःख देखकर वे स्वयं द्रवित हो जाते हैं—

करुनामय रघुनाथ गोसाँई। बेगि पाइअहिं पीर पराई॥

(रा०च०मा० २।८५।२)

हनुमान्‌जीके अनन्य प्रेम और उनकी भक्तिभावनाको देखकर श्रीरामजीने उन्हें तुरंत हृदयसे लगा लिया। प्रभु श्रीराम ऐसे भावविभोर हो गये कि हनुमान्‌जीको प्रेमाश्रुद्वारा पूरी तरह भिगा दिया—

तब रघुपति उठाइ उर लावा। निज लोचन जल सींचि जुड़ावा॥

(रा०च०मा० ४।३।६)

इसीलिये सनकादि मुनियोंकी प्रेमविह्वल दशा देखकर श्रीरघुनाथजीके नेत्रोंसे भी प्रेमाश्रु प्रवाहित होने लगे। उनका शरीर पुलकित हो गया। प्रभुजीने हाथ पकड़कर मुनियोंको बैठाया और अपनी हार्दिक प्रसन्नता प्रकट की—

मुनि कै दसा देखि रघुबीरा। स्रवत नयन जल पुलक सरीरा॥
कर गहि प्रभु मुनिबर बैठारे। परम मनोहर बचन उचारे॥
आजु धन्य मैं सुनहु मुनीसा। तुम्हरें दरस जाहिं अघ खीसा॥

(रा०च०मा० ७।३२।५—७)

इसी प्रकार सुग्रीव, जाम्बवन्त, नल, नील, अंगद, हनुमान्, विभीषण आदिके निश्छल प्रेमको देखकर श्रीरामने अयोध्या जाते हुए उन सभीको भी पुष्पकविमानमें बैठा लिया—

अतिसय प्रीति देखि रघुराई। लीन्हे सकल बिमान चढ़ाई॥

(रा०च०मा० ६।११९।१)

चित्रकूटमें वास करते हुए श्रीरघुनाथजीको जब यह संकेत मिला कि भरतजी मिलने आये हैं और प्रणाम कर रहे हैं। बस, श्रीरघुनाथजी ऐसे प्रेमनिमग्न हो गये कि तुरंत उठ खड़े हुए। उन्हें इस बातका भी ध्यान नहीं रहा कि वस्त्र कहाँ गिर गया, तरकस कहाँ गिरा, बाण कहाँ गिरे, धनुष किधर जा पड़ा—वे अधीर हो गये। उन्होंने जोरपूर्वक भरतजीको उठाकर हृदयसे लगा लिया। भरतजी और श्रीरामजीकी इस भेंटको देखकर सभी अपनी सुध-बुध भूल गये—

उठे रामु सुनि पेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥
बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान॥

(रा०च०मा० २।२।२४०।८ दोहा २४०)

स्वयं भगवान् श्रीरामने अपने श्रीमुखसे अपने सहज स्नेही, करुणानिधान स्वभावके सम्बन्धमें बताया है कि उन्हें अपने सेवक परमप्रिय हैं—

अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥
सब मम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना॥
सब कें प्रिय सेवक यह नीती। मोरें अधिक दास पर प्रीती॥

(रा०च०मा० ७।१६।६—८)

परम कृपालु, भक्तवत्सल श्रीरामके प्रति निश्छल प्रेम एवं पूर्ण समर्पण समस्त कल्याणराशिका आगार है। अतः जीवनमें सच्ची सुख-शान्ति एवं परमार्थप्राप्तिके लिये अनन्य प्रेमका आश्रय लेकर उनका सतत स्मरण करते रहना चाहिये। अनन्य भाव, अनन्य गतिका निहितार्थ है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

(रा०च०मा० ४। ३)

श्रीराम हनुमान्‌जीसे कहते हैं—अनन्य वही है जिसकी ऐसी अटल बुद्धि है कि मैं सेवक हूँ और यह चराचर जगत् मेरे स्वामीका ही रूप है। अतः सभीके प्रति सादर सविनय प्रणाम—

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि।
बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥

(रा०च०मा० १। ७ ग)

श्रीचैतन्योपदिष्ट प्रेमदर्शन

(डॉ० आचार्य श्रीगौरकृष्णजी गोस्वामी शास्त्री काव्यपुराणदर्शनतीर्थ आयुर्वेदशिरोमणि)

जिस समय भारतीय भूभागका विस्तृत अश विदेशी आक्रान्ताआके निरन्तर आक्रमणासे ग्रस्त हो रहा था, धर्मोन्मत्तता दिनोदिन वढती ही जा रही थी, निर्दोप मानवाकी हत्याएँ सामान्य बात हो गयी थीं, वर्णाश्रम-व्यवस्था छिन्न-भिन्न होती जा रही थी, प्रतिष्ठित जन अपमानित हो रहे थे, उस समय प्रेमावताररूपमे भागीरथीके सुरम्य तटस्थ नवद्वीपम श्रीचेतन्यदेवका आविर्भाव हुआ। उस समय हिन्दू जाति जातिगत अनेक वर्ग-भेदोमे विभाजित थी, उसके एकत्रीकरणके लिये श्रीचेतन्यदेवने श्रीहरिनाम-कीर्तनकी योजना प्रारम्भ की। वे घर-घर जाकर बिना किसी वर्गभेदके हरिनामका प्रचार-प्रसार करने लगे। इसके प्रभावसे ब्राह्मण और चाण्डाल एक-दूसरको गले लगाकर हरिनाम-कीर्तन करने लगे थे। यद्यपि श्रीचेतन्यदेव चोबीस वर्षकी अल्पावस्थाम ही सासारिक माया-वन्धनका परित्याग कर पारमार्थिक पथके पथिक बन गये तो भी उन्हाने अपने लक्ष्य—सकीर्तनके माध्यमसे जागतिक जनोको प्रेम-सदेश दिया। जिनके मुखसे कभी श्रीकृष्णनाम नहीं निकला था उनको भी उन्हाने कृष्णनाम-सुधारस पिलाकर उन्मत्त कर दिया। नामके प्रभावसे पर्वतोम स्पन्दन, लताआमे मधु-निर्झरण ओर हिसक पशु-पक्षियामे जातिगत वैरभाव समाप्त हो गया तथा वे हरि-हरि कहकर नाचने लगे। यह था श्रीचैतन्यका प्रेम-प्रसाद। श्रीचैतन्यदेवने साधकाको इस साध्य-सार प्रेमकी वास्तविक उपलब्धिके अनक साधन बतलानेका अनुग्रह किया।

साध्य तत्त्व

साध्य वह तत्त्व है जिसकी प्राप्ति होनेके वाद किसी अन्य वस्तुकी अभिलाषा नहीं रहती। साध्यात्मक ज्ञान शास्त्राके प्रमाणके बिना सर्वथा असम्भव है। साधारणत जीवकी काम्य वस्तु ही साध्य है। अभिलापाके अनुसार यह पुरुपार्थ-चतुष्टय—धर्म अर्थ काम और मोक्ष—इन चार भागाम विभाजित है। इनमसे यद्यपि मोक्षमें वास्तविक सुखका अनुभव होता है और दु खसे निवृत्ति भी हाती है तथापि यह भी परम पुरुपार्थ नहीं है। कारण मोक्षप्राप्त जीवाके हृदयम भगवद्भजनकी उत्कण्ठा दिखायी दती है। अत भजनद्वारा उत्पन्न भगवत्प्रेम ही साध्य तत्त्व है। जिसके द्वारा नित्य सुखकी प्राप्ति तथा दु खाकी निवृत्ति होती हे।

प्रेमका स्वरूप

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कित ।
भाव स एव सान्द्रात्मा वुधै प्रेमा निगद्यते॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु पूर्व० ४। १)

अर्थात् भाव अथवा रति जब प्रगाढता प्राप्त करती है और उसके कारण चित्त भलीभाँति द्रवित होकर श्रीकृष्णके प्रति अतिशय ममतासम्पन्न होता है तब उसे प्रेम कहते हैं।

इसीलिये श्रीमन्महाप्रभुने प्रेमको परम पुरुपार्थके रूपमे परिगणित किया है—'प्रेमा पुमर्थो महान्'।

प्रेमके साधन

आदौ श्रद्धा तत साधुसङ्गाऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्ति स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्तत ॥
अथासक्तिस्ततो भावस्तत प्रेमाऽभ्युदञ्चति।
साधकानामय प्रेम्ण प्रादुर्भावे भवेत् क्रम ॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु पूर्व० ४।६ ७)

उपर्युक्त श्लाकोमे प्रेमके साधन-क्रमको दर्शाया गया हे जो इस प्रकार है—

श्रद्धा—शास्त्रानुमोदित वाक्याम श्रद्धा।

साधुसङ्ग—सर्वार्थसिद्धिप्रदायक साधुसङ्ग।

भजन—श्रवण-कीर्तनाका अनुष्ठान।

अनर्थनिवृत्ति—भजन सम्पन्न होनेपर अनर्थोंकी निवृत्ति स्वत हो जाती है।

निष्ठा—भक्तिकी दृढता होनेपर निष्ठा होती है।

रुचि—निरन्तर आराधनासे रुचि उत्पन्न होती है।

आसक्ति—भक्तिकी प्रगाढतासे आसक्ति उत्पन्न होती है।

भाव—आसक्तिकी प्रगाढतासे भाव उत्पन्न होता है।

प्रेम—भावकी परिपक्वतासे आस्वादनीय प्रमरस उत्पन्न

होता है।

हृदयम प्रेमकी उत्पत्तिके लिये साधकाके प्रयोजनार्थ ये क्रम निर्धारित किये गये हैं।

प्रेमभावका पाँच भागोमे विभाजन

यह प्रेम-तत्त्व दास्य, सख्य, वात्सल्य, शान्त और मधुर—इन पाँच रूपोमे विभाजित है। श्रीचैतन्यदेवन मधुर रसक अन्तर्गत कान्ताभावको सर्वोत्तम प्रेमका उद्भवस्थान माना है।

कान्ताभाव—इसम व्रजगोपियाका सर्वोत्तम स्थान है। व्रजगोपियोको अपने सुखकी कामना नहीं रहती, अपितु उनका सुख श्रीकृष्णके सुखम निहित है—

निजेन्द्रिय सुखवाछा नहि गोपिकार।
कृष्णसुख दिने करे सगम विहार॥

यह कान्ताप्रेम सुख-साध्यकी चरम सीमा है—

सम्पूर्ण कृष्ण प्राप्ति एई प्रेम हइते।
एई प्रेमवश कृष्ण कहे भागवते॥

श्रीमद्भागवतक अनुसार इसी प्रेमके द्वारा जीव श्रीकृष्णचरणाश्रय प्राप्त करता है और भगवान् सदाके लिये भक्तके प्रेमवन्धनमे बँध जाते हैं।

श्रीराधाप्रेम

इहार मध्य राधार प्रेम सर्वसाध्य शिरोमणि।

किंतु इसस भी अधिक सर्वश्रेष्ठ प्रेम आह्लादिनी शक्तिस्वरूपा महाभावमयी श्रीराधाका है। श्रीमहाप्रभुन श्रीराधाके प्रेमकी मुक्तकण्ठसे प्रशसा की है। यदि श्रीचैतन्यदेव अवतरित न होते तो हम पामराकी क्या गति होती? श्रीमती राधिकाकी माधुर्य-सीमाको ससारमे कौन बतलाता?

गौरागना हइत के मन हइत केमन राखि ताम देहरे।
राधार महिमा प्रेम रससीमा जगते जानातो के हरे॥

श्रीप्रबोधानन्द सरस्वतीके शब्दामे—प्रेमका परम पुरुषार्थ रूप क्या किसीने सुना है? नाममहिमाको क्या कभी किसीने जाना है? श्रीवृन्दावनमाधुरीमे क्या किसीका प्रवेश कभी सुना है? महाभावस्वरूपा श्रीराधाकी महिमाको क्या कोई जानता था? यह सब श्रीचैतन्यदेवकी कृपासे सासारिक जीवोको उपलब्ध हुआ है।

सर्वश्रेष्ठ भक्तिके पाँच अङ्ग

श्रीमन्महाप्रभुने साधन-भक्तिके चौंसठ अङ्गोमेसे साधु-सग, नाम-कीर्तन, भागवत-श्रवण, मथुरामण्डलमे वास और श्रीमूर्ति-सेवनको सर्वश्रेष्ठ साधन माना है—

साधुसग, नाम कीर्तन, भागवतश्रवण,
मथुरा वास, श्रीमूर्ति श्रद्धाय सेवन।
सकल साधन श्रेष्ठ एई पाँच अग,
कृष्ण प्रेम जन्माय, ऐई, पाँचेर अल्पसग॥

मथुरामण्डलमे श्रीवृन्दावनको सर्वोत्तम कहा गया है। राय रामानन्दसे श्रीमन्महाप्रभुने पूछा कि सब त्यागकर जीवको कहाँ रहना चाहये—'सर्वत्यजि जीवेर कर्तव्य कहाँ वास?'

तब उन्हाने उत्तर दिया—'श्रीवृन्दावन भूमि जहाँ लीलारास।'

सारे माया-बन्धनोको त्यागकर जीवको सच्चिदानन्द-घनस्वरूप माया एव कालसे अतीत, श्रीकृष्णका नित्य विहारस्थल, जहाँ नित्य रास-विहार चलता रहता है, उस श्रीवृन्दावनमे निवास करना चाहिये और वहाँ जीव सकल साधनोमे सर्वोत्तम इन पाँच अङ्गाकी अल्पकालीन आराधनासे सहज ही रागानुगारीतिमार्गद्वारा श्रीराधाकृष्णका श्रीचरणाश्रय प्राप्त कर लेता है।

सोइ रसना जो हरिगुन गावै।
नैननकी छवि यहै चतुरता, ज्या मकरद मुकुदहि ध्यावै॥
निर्मल चित तौ सोई साँचो, कृष्ण बिना जिय और न भावै।
स्रवननकी जु यहै अधिकाई, सुनि हरि-कथा सुधारस प्यावै॥
कर तेई जे स्यामहि सवे चरननि चलि बृदाबन जावै।
सूरदास जैये बलि ताके, जो हरिजू सो प्रीति बढावै॥
(भजन-सग्रह पद १९८)

लीला-दर्शन—

माखन-चोरी

उमड-घुमडकर काले मेघ बरस चुके हैं। इन्द्रधनुप उदित हो आया है, मानो वर्षा-सुन्दरीने व्रजपुरके क्षितिजपर रत्नाकी वदनवार बाँधी हो। ग्रीष्म एव पावसकी सधिपर श्रीकृष्णचन्द्रकी मणिस्तम्भलीला—प्रथम नवनीतहरण-लीलाकी झाँकीसे उन्मादिनी हुई वर्षा-सुन्दरी व्रजम घूम रही है, वन-उपवन, नद-नदी, ह्रद-सरोवर—जहाँ जाती है वहीं हृदय उमड पडता है, नाचने लगती है, परिधानका कृष्णवर्ण अञ्चल उडने लगता है। नृत्यके आवेशमे वह सुदूर आकाशमे उड गयी, अशुमालीकी किरणाने उसके गलमे रत्नोका हार पहना दिया, किंतु अब आभूषण धारण करनेकी उसे लालसा जो नहीं है। अब तो वह श्रीकृष्णचन्द्र-चरणाङ्कित व्रजपुरका आभूपण स्वय बन जाना चाहती है, अपने अङ्गका अणु-अणु व्रजपुरमे विलीन कर देना चाहती हे, इसीलिये उसन किरणाके उपहार—रत्नाके हारको तोड डाला तथा उन सात रगोके रत्नाके द्वारा व्रजेन्द्रकी पुरीको सजानेक उद्देश्यसे क्षितिजको छूती हुई वदनवार वाँध दी। श्रीकृष्णचन्द्र इसी वदन्वार—आकाशम उदित इन्द्रचापकी ओर देख रहे हें। नन्दोद्यानकी तमालवेदिकापर अपने सखा वरूथपकी गोदम सिर रखकर अर्धशायित हुए उस रत्न-धनुपकी शाभा निहार रहे ह, इन्द्रचापका सोन्दर्य-वर्णन करके सखाआको सुना रहे ह पर स्वय उनके श्रीअङ्गोका सौन्दय कितना मोहक हे, इसे व स्वय नहीं अनुभव करते। ओह। वह सघन कुन्तलराशि मुखचन्द्रपर विखरी हुई अलकावलीकी लट वे विशाल नेत्र वह मृदु बोलन, वह मधुस्त्रावी अधरयुग्म ललित वदनारविन्द, व चञ्चल चेष्टाएँ—इन्ह जा निहार सके उसे ही भान होता है कि इस सौन्दर्यमे कितनी मादकता भरी है—ऐसी मादकता जो मन-प्राण-इन्द्रियाको विमाहित कर दे श्रीकृष्णचन्द्रके प्रत्यक्ष वर्तमान रहनेपर भी उनकी रूपसुधाम नेत्राक नित्य निमग्न रहनेपर भी चित्त हाहाकार कर उठे कि हाय। श्रीकृष्णचन्द्रके दशन मुझे कब हागे—

चिकुर बहुल विरल भ्रमर मृदुल वचन विपुल नयनम्।
अधर मधुर ललित वदन चपल चरित च कदानुभवे॥

(श्रीकृष्णकर्णामृतम्)

अस्तु, इसी समय एक व्रजसुन्दरी यहाँ आयी। आकर बोली—'नीलमणि! व्रजश्वरी तुम्ह बुला रही हैं, मेरे साथ घर चलो।'

किंतु श्रीकृष्णचन्द्रका अवकाश कहाँ कि जननीके आह्वानका उत्तर भी दे सके। वे तो उस सुन्दर धनुपके अरुण, नारङ्ग, पीत, हरित, उज्ज्वल, नील और अरुणिम नीलवर्णोका विश्लेषण करके सखाओको दिखा रहे हैं, रगाकी गणना कर रहे हैं, व्रजसुन्दरी भी मुग्धभावसे श्रीकृष्णचन्द्रकी इस बाल्यमाधुरीका रस लेने लगती है। कुछ क्षण पश्चात् श्रीकृष्णचन्द्र उसकी ओर देखते हैं, तब उसे यह ज्ञान होता हे कि 'में केवल देखने नहीं, मैं ता बुलाने भी आयी हूँ।' अत स्मरण होनेपर वह पुन श्रीकृष्णचन्द्रसे चलनेके लिये कहती है। इस बार श्रीकृष्णचन्द्रने उत्तर द दिया—'अभी तो मै खेल रहा हूँ, नहीं जाऊँगा।'

यह गापसुन्दरी नन्दभवनम आयी थी। इसने अन्य पुर-रमणियाके मुखसे श्रीकृष्णचन्द्रके मणिस्तम्भमे अपने प्रतिबिम्बसे भमित होनेकी लीला तथा—

प्रथम करी हरि माखन चोरी।
ग्वालिनि मन इच्छा करि पूरन आपु भजे ब्रज खोरी॥

—इसका विस्तृत वर्णन सुना। सुनकर प्रेमम डूब गयी, उसी क्षण व्रजेश्वरीके पास पहुँची। गद्‌गदकण्ठसे पूछा—'व्रजरानी! नीलमणि किधर है?' उत्तरम यशोदारानीने उद्यानकी ओर सकेत कर दिया तथा बोली—'बहिन! तू उधर जाय तो उसे कह देना कि मैया बुला रही है और अपने साथ ही लेती आना।' बस वह मन्त्रमुग्धा-सी अविलम्ब उद्यानकी ओर दौड पडी। तमालवेदीपर गोपशिशुआके कोलाहलने उसे श्रीकृष्णचन्द्रका पता बता दिया और यह वहाँ जा पहुँची।

जब श्रीकृष्णचन्द्रने घर लौटना अस्वीकार कर दिया तब वह वहीं बैठ गयी। उसके नेत्र छल-छल करने लगे। इसलिये नहीं कि श्रीकृष्णचन्द्र घर क्या नहीं चल रह हैं, उसके हृदयकी तो वेदना ही दूसरी है। वह सोच रही है—'हाय। मैं अभागिनी नन्दभवनस इतनी दूर क्या बसी जैसे श्रीकृष्णचन्द्र उस ग्वालिनके घर गये माखन खाया वैसे इतनी दूर मरे घर आनेकी मरा माखन आरोगनेकी तो सम्भावना ही नहीं है।' य भाव गापसुन्दरीके प्राणामें टीस उत्पन्न कर रहे थे। इसीलिय उसक नेत्र भर आये। वह अपन भावाको सवरण करना चाहती है किंतु कर नहीं

पाती। श्रीकृष्णचन्द्रके सलोने मुखकी ओर जितना देखती है, उतनी ही यह लालसा प्रबल होती जा रही है। यहाँतक कि उसे अनुभव होने लगा कि 'यदि कुछ क्षण मैं यहाँ और रुकी रही तो इस लालसाके भारसे चेतनाशून्य हो जाऊँगी। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रकी इस स्वच्छन्द आनन्दमयी क्रीडामे विघ्न हो जायगा।' इसीलिये वह अपना सारा साहस धैर्य बटोरकर उठ खडी हुई और नन्दभवनकी ओर लौट पडी। उसे पथ नहीं दीख रहा है, नेत्रासे अश्रुधारा दोनो कपोलोपर बह रही है। किसी तरह अपनेको सँभाल और नेत्राम, हृदयम श्रीकृष्णचन्द्रकी झाँकी लिये वह चली जा रही है। व्रजेश्वरीक निकट पहुँची, किंचित् धैर्य हो आया, नीलमणिन आना स्वीकार नहीं किया, यह बात व्रजरानीको बताकर वह अपने घर चली गयी।

गोपसुन्दरीके मनोगत भावाका और किसीको तो पता नहीं, पर व्रजेन्द्रनन्दन स्वय भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी अचिन्त्य लीलामहाशक्तिको सब कुछ ज्ञात है। वे ही तो यशादाके वात्सल्य-सुधा-सागरपर सतरण करते हुए श्रीकृष्णचन्द्रकी चेष्टाआका नियन्त्रण करती हैं। वात्सल्यकी कौन-सी पयस्विनी इस सागरम मिली है, कहाँपर सगम है, कौन-सी वात्सल्यधारा मिलने आ रही है, कहाँ सगमित होगी किस सगमपर किस वात्सल्यतीर्थपर श्रीव्रजशापुत्रको आज स्नान कराना है—इन सबकी पूरी सूची उन्हींके पास ता है। अपने इच्छानुसार, अपन निर्दिष्ट क्रमसे वे श्रीकृष्णचन्द्रको लहरापर बहाती हुइ किसी सगमपर ल जाती हैं। श्रीकृष्णचन्द्र वहाँ स्नान करते हैं अञ्जलिम भरकर वात्सल्यसुधारसका पान करते हैं एक-दो छींटे किनारेपर बिखेर देते हैं इन्हीं बिन्दुआसे प्रपञ्च-जगत्‌के वात्सल्य-स्रोतमे रसका सचार सदा होता रहता है, स्रोत कभी सूखता नहीं। अत लीलामहाशक्तिको व्रजसुन्दरीके हृदयका धाराका पूरा पता है। वे जानती हैं कि यह धारा भी इसी सागरसे मिलन आ रही है। इन्हे तो प्रत्यकके सगमपर श्रीकृष्णचन्द्रको अवगाहन—प्रत्येककी पवित्र सुधाका मुक्त आस्वादन कराना है। इसीलिये ये क्रमश सबके लिये द्वार खोलती रहती हैं। अत इसके लिये भी कपाट उन्मुक्त करने चलीं।

श्रीकृष्णचन्द्र उसी प्रकार वरूथपके अङ्कमे विराजित हैं। परस्पर पावसके अनुरूप विविध क्रीडाकी चर्चा चल रहा है। अब सुबल क्रीडाकी नयी याजना रख रहा है तथा श्रीकृष्णचन्द्र एव अन्य सखा सुन रहे हैं। सहसा श्रीकृष्णचन्द्रके नेत्र निमीलित हो गये। ठीक इसी समय लीलाशक्तिका सकेत पाकर सर्वज्ञताने उनके हृदयका किंचित् स्पर्श किया और धीरेसे बोली—'बाल्यलीला-विहारिन्! नाथ! मेरे स्वामिन्! वात्सल्यवती गोपसुन्दरियाके कुछ हृदय-चित्र लिखकर ले आयी हूँ। यह देखो, जो गोपसुन्दरी अभी तुम्हे बुलाने आयी थी उसके हृदयका यह चित्र है। इसके पश्चात् देव! इन अगणित व्रजाङ्गनाओके हृदयाको देख लो, सबकी उत्कण्ठा परख ला। विभो! यह देखो, सभीने कितने स्नेहसे तुम्हारे लिये नवनीत सजाया है, आकुल प्राणोसे किस प्रकार तुम्हारी पल-पल प्रतीक्षा कर रही हैं कि श्रीकृष्णचन्द्र हमारे घर आयें, छिपकर हमारा माखन आरोगें। गोलोकविहारिन्! सवथा अमर्यादित स्वरूपभूत परमानन्दरस-वितरण परमानन्दरसास्वादनके लिये ही तो तुम्हारा अवतरण हुआ है। उस रसकी उपयुक्त पात्रा ये व्रजवासिनी गोपिकाएँ भी तुम्हारा दान लेने, तुम्हे रस देनेके लिये प्रस्तुत बैठी हैं। नाथ! व्रजके अतिरिक्त अन्य सभी लीलाओम तुम्हारा ऐश्वर्य तुम्हारे परिकराको आवृत किये रहता है सम्भ्रमरहित विशुद्ध रसका आस्वादन तुम्हे कहीं प्राप्त नहीं होता। पर यह तो तुम्हारा अपना व्रज है। व्रजवासी तुम्हारे निजजन हैं। यहाँ तुम यशादाके लिये उनके गर्भजात नीलमणि हो गोपसुन्दरियोंके लिये भी यशोदानन्दन श्रीकृष्णचन्द्रमात्र हो। ऐसा जानक अन्यत्र कहाँ। वाञ्छाकल्पतरो! इन सबके मनोरथ पूर्ण करो। रस देकर, रसास्वादन कर इन वात्सल्यवती गोपसुन्दरियोंको वात्सल्यपयोनिधिमे डुबा दो नाथ! ।' श्रीकृष्णचन्द्रके अरुण अधरापर मन्द मुसकान छा गयी। उन्होने लीलाशक्तिकी इस प्रार्थनाका अनुमोदन ही किया—

मन मे यहै बिचार करत हरि, ब्रज घर-घर सब जाउँ।
गोकुल जनम लियौ सुख-कारन, सब के माखन खाउँ॥
बालरूप जसुमति मोहि जानै गोपिनि मिलि सुख भोग।
सूरदास प्रभु कहत प्रेम सौं ये मेरे ब्रज-लोग॥

नन्दनन्दन उठ बैठे। हँसकर सखाओसे बोले—'भैयाओ! माखन खानका खेल खेलोगे?' 'माखनका खेल!!' दो-चारने एक साथ आश्चर्यमे भरकर कहा। फिर तो श्रीकृष्णचन्द्रने नवनीतहरणलीलाकी अपनी विस्तृत योजना सखाआके समक्ष रख दी। किस प्रकार हमलोग छिपकर प्रत्येक गोपीके घरमे जायँ, मैं माखनकी मटकी

उठा लाऊँ और फिर हम सब मिलकर खायँ, दूसर पशु-पक्षियाको खिलाय, गिराय, माखनकी कीच मचाय—य सारे विचार श्रीकृष्णचन्द्रने गोप-सखाआको समझाये। सुनकर गोप-शिशुआक आनन्दका पार नहीं। ताली पीट-पीटकर व उस तमालवेदीपर नाचन लगे। व्रजेश्वरकी सौंह खाकर सभी श्रीकृष्णचन्द्रकी बुद्धिकी प्रशसा करने लगे—

कर हरि ग्वाल सग विचार।
चोरि माखन खाहु सब मिलि, करहु बाल-बिहार॥
यह सुनत सब सखा हरषे, भली कही कन्हाइ।
हँसि परस्पर देत तारी, साह करि नँदराइ॥
कहाँ तुम यह बुद्धि पाई, स्याम चतुर सुजान।
सूर प्रभु मिलि ग्वाल-बालक, करत हैं अनुमान॥

अब भुवनभास्कर अस्ताचलकी ओर जा रह थे। व्रजश्वरी अपने नीलमणिको लेने आ गयी थीं। अत श्रीकृष्णचन्द्र नन्दभवनकी ओर चल पडे। जाते समय अपनी माहिनी चितवनके सकेतस सखाआका कार्यक्रमकी बात बताते गये। भवनमे जाकर जननीके परम ललित लाडसे सिक्त होकर शीघ्र ही वे सो गये। जब दूसरे दिन प्रभातके समय जागे तो सखामण्डली उन्हे घेरे खडी थी।

यशोदारानीने विधिवत् उबटन-स्नान-शृङ्गार आदिसे श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीअङ्गाको सजाया, सखाआको साथ बैठाकर सबका समानभावसे कलेवा कराया जल पिलाया ताम्बूल खिलाया। फिर खेलने जानेकी अनुमति द दी। तुमुल आनन्दनाद करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र एव गापशिशु बाहरकी ओर दोड पडे। आगे-आगे श्रीकृष्णचन्द्र हें, उनके पीछे गोपबालक। गोपशिशु नहीं जानते कि कहाँ जाना हे व ता नन्दनन्दनका अनुसरण कर रहे ह, तथा नन्दनन्दन बिना रुके, सीधे उस गोपसुन्दरीके घर जा रहे हैं जो उन्ह कल तमालवेदीपर बुलाने गयी थी। देखते-ही-देखते उसके गृहक निकट जा भी पहुँच।

गोपसुन्दरी उस समय दधिमन्थन कर रही थी। पर उसे अपने शरीरकी सुध-बुध नहीं है किसी और ही भावम वह तन्मय हो रही है—मन्थनक्रियास यह स्पष्ट झलक रहा था। सखासहित श्यामसुन्दर उपयुक्त अवसरपर ही नवनीतहरण—माखन-चोरीके लिये पधारे हें तथा गवाक्ष-रन्ध्रसे व्रजसुन्दरीका दधिमन्थन देख रहे हैं—

सखा सहित गए माखन-चोरी।
देख्यौ स्याम गवाच्छ-पथ ह्वै, मथति एक दधि भोरी॥

आकाशपथसे अमर, किनर, विद्याधर, गन्धर्व आदि इस परम मनोहारिणी माहिनी लीलाके दर्शन कर कृतार्थ हा रहे हैं। नवनीतहरण करने—माखन चुराने कौन आया है? वे आय हैं, जिनके प्रत्यक रोमकूपम—जैसे आकाशम वायुसचारित क्षुद्र रज कण उडते रहते हैं, वैसे उत्तरोत्तर दसगुणित सप्तावरणसमन्वित असख्य ब्रह्माण्ड एक साथ घूमत रहते हैं, जिनका अन्त स्वर्गादि-लोकाधिपति ब्रह्मा, इन्द्रप्रभृति नहीं जानते नहीं जान सकते, जो इतने अनन्त हैं कि अपना अन्त स्वय नहीं जानत, जिनके स्वरूपका साक्षात् वर्णन श्रुतियाँ भी नहीं कर सकतीं, स्वरूपसे अतिरिक्त वस्तुआका निषेध करते-करते—

अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यम्।*

वह न स्थूल है, न अणु है, न क्षुद्र है, न विशाल ह, न अरुण है, न द्रव है, न छाया है, न तम है, न वायु हे, न आकाश है, न सङ्ग है न रस है, न गन्ध है न नेत्र है, न कर्ण है, न वाणी है न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है न माप हे, उसम न अन्तर हे, न बाहर है—इस प्रकार निरसन करते-करते श्रुतियाँ जिनम जाकर समाप्त हो जाती हें, अपनी सत्ता विलीन कर सफल हो जाती हैं—

द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया
त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणा।
ख इव रजासि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतय-
स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधना॥

(श्रीमद्भा० १०।८७।४१)

जो इस विश्वका सकल्प करते हें जो विश्वके आदि, मध्य तथा अन्तम स्थित हैं जो प्रकृति-पुरुपके स्वामी हैं जो विश्वका सृजन करके जीवके साथ इसमे प्रविष्ट हो गये हैं जिन्होने जीवभोगायतन शरीरसमूहकी रचना की है, जो इन शरीराका नियन्त्रण करते हैं, जिन्हे प्राप्तकर जीव—जैसे सुषुप्तिम निमग्न पुरुष अपने शरीरका अनुसधान छोड देता है वेसे—मायापाशसे मुक्त हो जाता है, जो नित्य अच्युतस्वरूपमें अवस्थित हैं जिन्ह माया तिलमात्र भी स्पर्श नहीं कर

* बृहदारण्यकोपनिषद् ३।८।८

सकती, जो सर्वथा विशुद्ध हैं, जो अभयपद हैं, जिनका निरन्तर चिन्तन ही जीवका एकमात्र कर्तव्य है—

योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो
य सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुर शास्ति ता ।
य सम्पद्य जहात्यजामनुशयी सुप्त कुलाय यथा
त कैवल्यनिरस्तयोनिमभय ध्यायेदजस्र हरिम्॥

(श्रीमद्भा० १०।८७।५०)

—वह नराकृति ब्रह्म, वे प्रकृति-पुरुषके स्वामी पुरुषोत्तम ही तो आप गोपसुन्दरीके घर नवनीत-हरण करने माखन चुराने आये हैं। श्रीकृष्णचन्द्र! जय हो तुम्हारी इस विश्वचमत्कारिणी लीलाकी।

किंतु वास्तवमे श्रीकृष्णचन्द्रकी यह चेष्टा क्या चोरीमे परिगणित हो सकती है? नहीं, चोरी तो उसे कहते हैं कि परायी वस्तुको, उसकी इच्छाके बिना, उसकी अनुपस्थितिमे कोई अपने अधिकारमे कर ले—उपयोगमे ले ले। पर श्रीकृष्णचन्द्रसे अतिरिक्त कौन-सी वस्तु है, जिसे वे अपने अधिकारमें करे? उनके अतिरिक्त कौन है, जिसकी इच्छाके बिना, जिसकी अनुपस्थितिमे वे वस्तु ग्रहण करे? जब—

नान्यद् भगवत किंचिद् भाव्य सदसदात्मकम्॥

(श्रीमद्भा० २।६।३२)

—भाव या अभाव, कार्य या कारणरूपमे कोई वस्तु नहीं जो श्रीकृष्णसे भिन्न हो, तब वे कब कहाँ, किसकी, किसलिये, कौन-सी वस्तु चोरी करेगे? तो फिर यह क्या है? यह है वात्सल्य-रस-वितरणकी एक प्रकृष्ट प्रक्रिया वात्सल्य-रसास्वादनकी एक पवित्र प्रणाली, भक्तमनोरथपूर्तिकी एक मधुर मनोहर सुन्दर योजना, बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्णचन्द्रके बाल्यावेशकी एक अप्रतिम झाँकी। इस झाँकीकी जय हो! जय हो!! जय हो!!!

अस्तु, दधिमन्थन करनेवाली उस गोपसुन्दरीके गृहके समीप जाकर सखाओंके सहित श्रीकृष्णचन्द्र छिप रहे। उसने भी बिलोना स्थगित कर दिया। उसे अब दीख रहा था कि नवनीत ऊपर आ गया है। नवनीत कभीका ऊपर आ गया था पहरभर रात्रि शेष थी तभी उसने मन्थन आरम्भ किया था। तबसे बिलो रही है पर उसका चित्त यहाँ हो तब तो। वह तो मन-ही-मन नन्दभवनमे जा पहुँची थी, श्रीकृष्णचन्द्रको नवनीत आरोगनेका मूक निमन्त्रण दे रही थी। उसने भले न जाना, पर उसका यह मूक निमन्त्रण स्वीकार करके जब श्रीकृष्णचन्द्र उसके घरपर वास्तवमे पधार गये तब माखन उतारनेका भान उसे हुआ है। पर यह देखो, आज घरकी कमोरी भी कोई उठा ले गया है। गोपसुन्दरी कमोरी माँगने बाहर गयी। इधर श्यामसुन्दरको अवसर मिल गया। सखाओके साथ वे तत्क्षण अन्तर्गृहमे प्रविष्ट हो गये। वहाँ जो कुछ भी दही-माखन था, सबका भोग लगाकर रीती मटुकी वहीं छोडकर हँसते हुए शीघ्र ही बाहर चले आये।

हेरि मथानी धरी माट तैं, माखन हौ उतरात।
आपुन गई कमोरी माँगन, हरि पाई ह्याँ घात॥
पैठे सखनि सहित घर सूने, दधि-माखन सब खाए।
छूछी छाँडि मटुकिया दधिकी, हँसि सब बाहिर आए॥

उधरसे गोपसुन्दरी हाथमे कमोरी लिये आ पहुँची। देखा—बहुत-से गोपशिशु मेरे घरसे बाहर निकल रहे हैं और यशोदाके नीलमणि उनके पीछे है। नीलमणिके अरुण अधरोपर उज्ज्वल नवनीत लग रहा है हस्तकमल माखनसे सन रहे हैं।

आइ गई कर लिऐ कमोरी, घर ते निकसे ग्वाल।
माखन कर, दधि मुख लपटानौ, देखि रही नँदलाल॥

गोपसुन्दरी मनोरथपूर्तिके महान् आनन्दसे विह्वल हो गयी। उसे ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो वह स्वप्न देख रही है। किंतु सहसा उसके स्मृतिपटलपर किसीने तूलिका फेर दी वह यह बात सर्वथा भूल गयी कि उसने कभी यह इच्छा की थी कि नीलमणि मेरे घर आकर मेरा माखन आरोगे। अतीतके उत्कण्ठामय सस्मरण सर्वथा विलुप्त हो गये। अब उसे इतना ही भान है कि सखाओको साथ लिये नीलमणि मेरे गृहतोरणके पास खडे हैं, उनका मनोहर मुखारविन्द माखनसे सना है। सरलतासे वह पूछ बैठी—

कहँ आए ब्रज-बालक सँग लै माखन मुख लपटान्यौ।

उत्तरमे श्यामसुन्दर कुछ कहने लगे, पर उन्होने क्या कहा, ग्वालिन सुनकर भी कुछ सुन न सकी। उनके सलोने माखनसने मुखकी मन्द हँसीमे उसकी चेतना सहसा विलुप्त होने लगी। इतनेमे श्यामसुन्दरने अपने सखा एक गोपशिशुकी भुजा पकड ली तथा वे व्रजकी गलीमे चल पडे। ग्वालिन निर्निमेष नयनोसे उनकी ओर देख रही है। अन्धकार होता तो दूसरी बात थी। दिनके उज्ज्वल प्रकाशमे हरि—श्रीकृष्णचन्द्र गोपसुन्दरीका मन हरणकर—चित्त चुराकर

चले गये और वह ठगी-सी खडी रह गयी—

भुज गहि लियौ कान्ह इक बालक, निकसे ब्रज कौं खोरि।
सूरदास ठगि रही ग्वालिनी, मन हरि लियौ अँजोरि॥

अपने द्वारपर स्वर्णपुतली-सी खडी वह उस ओर देखती रहती है जिधर श्रीकृष्णचन्द्र गये हैं। जब मध्याह्न होने लगता है तब कहीं वह अन्तर्गृहमे प्रवेश करती है। नवनीतकी रिक्त मटकी देखकर सोचती है कि माखनभरे पात्रको मैं सम्भवत कहीं अन्यत्र रख आयी हूँ, इधर-उधर उसे ढूँढती फिरती है। इतनेमे दीख पडता है—घरके जितने स्वर्ण, रौप्य, काँस्य, मृण्मयपात्र थे, वे सभी छिन्न-भिन्न, अस्त-व्यस्त हो रहे हैं। श्यामसुन्दरकी चञ्चल चेष्टाओसे वह परिचित अवश्य है, पर अब उसके पास मन जो नहीं रहा। निर्णय कौन करे? मनके स्थानपर तो श्यामसुन्दरका रस भरा है—

देखै जाइ मटुकिया रीती, मै राख्यौ कहुँ हेरि।
चकित भई ग्वालिनि मन अपने, ढूँढति घर फिरि फेरि॥
देखति पुनि-पुनि घर के बासन, मन हरि लियौ गोपाल।
सूरदास रस भरी ग्वालिनी जानै हरि कौ ख्याल॥
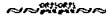
प्रेम-साधन

(प० श्रीनरहरिशास्त्री खरशीकर)

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक त्रिभुवनसुन्दर श्रीभगवान्‌की प्राप्ति ही मनुष्य-जन्मका इतिकर्तव्य है, यही सब शास्त्र और सत बतलाते है। परतु भगवान्‌की प्राप्ति कोई हँसी-खेल नहीं है। अनेक जन्मोके अनेक साधनोसे भी भगवान्‌का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। जप, तप, उपासना, यज्ञ-याग नित्य-नैमित्तिक कर्म अष्टाङ्गयोग, तीर्थयात्रा दानधर्म आदि नानाविध साधनाको निष्कामभावसे करते चलो कभी-न-कभी तो भगवान् मिलेगे ही—इसी प्रकारका आशावाद प्राय देख पडता है। इन सब साधनाको करके भी यदि अनेक जन्मोके बाद भी भगवान् न मिलें तो अपने सञ्चितको कारण जानकर आगे प्रयत्न करते रहो—यही तो बतलाया जाता है। परतु यह साधन-क्रम बतलानेवाले लोग यह भी तो जानते ही हैं कि ब्रह्म पूर्ण है—'**पूर्णमद पूर्णमिद पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।**' चराचर जगत्‌मे उस ब्रह्मके सिवा और कुछ भी नहीं है। इस प्रकार जब सवत्र भगवान् ही हैं, तब साधनाके द्वारा उन्हे प्राप्त करना भी तो एक बडा विकट प्रश्न है। इस प्रश्नका ही उत्तर इस छोटे-से लेखमे देनेका प्रयत्न किया जायगा।

'**अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपम्।**' (नारदभक्तिसूत्र) प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है। यह प्रेम ही भगवान् है और यह दृश्य जगत् उन्हीं अव्यक्त भगवान्‌का व्यक्त रूप है। प्रेम सब प्राणियाम सहजभावसे है। पशु-पक्षियाम ही क्या वृक्षादि योनियाम भी जो सहज प्रेम है उसे अनुभव किया जा सकता है। फिर मनुष्यो और देवताओकी तो बात ही क्या है!

गेहूँका एक दाना जमीनमे बोया जाता है। वर्षाके होते ही वह स्वय गायब हो जाता है—गायब हो जाता है यानी अङ्कुरित होकर हजारो दानोके रूपमे प्रकट होता है। ऐसे ही अव्यक्त परमात्मा अपनी आत्यन्तिक रुचिसे प्रियतम आते हैं। उस आनन्दसागरम आनन्दके ही कल्लोल उठते हैं। उन्हींको प्रेम कहते हैं। ये अनेक देख पडनेपर भी परमात्मसिन्धुरूपसे एक ही, अखण्ड और पूर्ण हैं। ये अनेक कल्लोल ही अनेक जीव हैं। सोनेके गहने बनते हैं। गहने बननेपर भी सोनेका सोनापन नष्ट नहीं होता, बल्कि सोना सोना रहकर ही गहने बनता है। वैसे ही परमात्मा परमात्मा रहते हुए स्वय ही नाम-रूपात्मक जगत् बनते हैं, पर इससे उनके परमात्मत्वमे रचमात्र भी न्यूनता नहीं आती। परमात्मा और जगत् शब्द दो हैं पर वस्तुत वे एक ही हैं। यही श्रीज्ञानेश्वरादि सब सताने कहा है और अन्य सिद्धान्ती भी इसे स्वीकार करते हैं।

अब प्रश्न यह है कि यदि परमात्मा ही चराचर विश्व हैं तो किसकी प्राप्तिके लिये किसको साधन करना है?

देवदत्त नामक एक मनुष्यको यह भ्रम हो गया कि 'मैं खो गया हूँ।' इस खो जानपर वह बहुत रोया चिल्लाया और खोये हुए अपने-आपको जहाँ-तहाँ जिस-तिससे पूछता हुआ भटकता रहा। पर इस तरह इसे देवदत्त

कितने जन्मोंमे मिलता? वास्तवमे जो खोया ही नहीं, वह किसी साधनसे मिल भी कैसे सकता है? 'मैं खो गया हूँ' इस भ्रममें भी देवदत्त खोया नहीं था। वैसे ही भगवान्‌की सत्ताका भान न होनेमे भी उनकी भगवत्ता खो नहीं जाती, पूर्ण ही होती है। तब इस पूर्णकी प्राप्तिका साधन पूर्ण क्या करे? साधन भगवान्‌से नहीं मिलाते, दूर ही ले जाते हैं—यही श्रीज्ञानेश्वर महाराजने अपने अनुभवसे कह रखा है।

तपस्विनो दानपरा यशस्विनो
मनस्विनो मन्त्रविद सुमङ्गला।
क्षेम न विन्दन्ति विना यदर्पण
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नम॥
(श्रीमद्भा० २।४।१७)

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रै।
एवरूप शक्य अह नृलोके
द्रष्टु त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥
(गीता ११।४८)

अर्थात् इन तप, यज्ञ अथवा वेदाध्ययनादि साधनोंसे भगवान् नहीं मिराते, प्रत्युत भगवत्कृपासे ही मिलते हैं—'मुख्यतस्तु भगवत्कृपयैव।' सर्वत्र श्रीहरि ही प्रेमकल्लोल कर रहे हैं वे ही रम रहे हैं—यह भावना जब गुरुकृपासे उदय हो जाती है, तब किसी साधनकी आवश्यकता नहीं रहती।

माता अपनी सतानके कारण ही माता कहलाती है। सन्तान अपनी माँको जब माँ कहकर पुकारती है, तब उसे अपने माता होनेकी पतीति होती है। सतानके कारण ही उसका मनोगत अव्यक्त वात्सल्य व्यक्त होता है और इसका सुख भी उसे ही मिलता है। सतानसे माताका मातृत्व पूर्ण है, अन्यथा वह अपूर्ण है। सतान माताका जो स्तनपान करती है उससे माताको ही अत्यन्त सुख होता है। बच्चा जब भूखसे रोता है, तब माताका हृदय स्तनको भेदकर दूधके रूपमे बाहर निकलता है और बच्चेको तृप्त करनेके कारण माताको वह सतोष होता है, जिसकी कोई उपमा नहीं। यह सही है कि बच्चेके रोनेसे माताके दूध निकल पडता है, पर रोना कहाँसे आता है? माताके हृदयमे अपने बच्चेको अपना सार-सर्वस्वरूप दूध पिलाकर परम सुखी होनेकी जो लालसा रहती है उसीका जो सस्कार बच्चेके मनपर होता है वही रुदनरूपसे प्रकट होता है अर्थात् बच्चेकी इस क्रियाका उद्‌गमस्थान माताका हृदय ही है। माताके हृदयकी इस लालसाके कारण ही माता और सतान दोनो परम सुखी होते हैं। माता ही सतानरूप प्रेमको प्राप्त हुई और सतानके कारण ही अपने प्रेमको अनुभव कर सकी। सतान न होती तो उसे प्रेमसुखका मिलना कदापि सम्भव न था। प्रेमसुखकी अनुभूतिके लिये ही माता सतान हुई, इसके लिये माताने कितने-कितने कष्ट उठाये। सतान जनन-मरणके कष्ट भोगनेके लिये माँकी कोखमे नहीं आयी, बल्कि इसलिये आयी कि माताको वात्सल्य-सुख प्राप्त हो।

बात जब ऐसी है, तब माता अपनी सतानसे क्या कभी यह कह सकती है कि मैं अपने जीवनका सार निकालकर तुझे पिलाती हूँ, इसलिये तू भी इसकी कुछ कीमत दे, इसके लिये कुछ साधन कर कोई माता ऐसा नही कह सकती। यदि कहे तो बच्चा भी उसे यह उत्तर दे सकता है कि 'तूने मुझे जन्म दिया, यही तो मेरे अनन्त साधनोंका फल है। अब यदि बिना साधन कराये तू मुझे दूध नहीं पिलाना चाहती तो रहने दे। तेरा दूध तेरे ही पास। इससे मेरा जो होना होगा, होगा। मैं मर जाऊँगा तेरे दूधके बिना, पर इससे क्या तुझे सुख होगा? तब यह दूध तू किसे देगी? तेरी देहमे यह जमकर तुझे ऐसी पीडा देगा जो तुझसे नहीं सही जायगी और मुझे न देखकर तेरी क्या अवस्था होगी? मेरे बिना तू कैसे जीयेगी? तेरे दूधका अधिकारी तो मैं ही हूँ।' बच्चेके ये शब्द सुनकर माँकी आँखोसे आँसू छलक-छलक कर गिरने लगेगे। माँ-बेटेका सम्बन्ध साधनपर नहीं निर्भर करता। माँ ही तो सतान बनकर वात्सल्यको अनुभव कर रही है।

आनन्दको आनन्दका स्वानुभव न होनेसे उसने द्विधा होनेकी इच्छा की, 'एकोऽहं बहु स्याम्'। इस द्विधा होनेको ही प्रेमविकास कहते हैं। इस प्रेमरूपका ही नाम जीव है। यह जीव मूल आनन्दसे कभी पृथक् नहीं रहता। जीवके नेत्रेन्द्रियमे सारा विश्व समाया रहता है। उसके मस्तिष्कमे अखिल ब्रह्माण्डकी कल्पनाएँ भरी रहती हैं। ब्रह्माण्ड उसकी इन्द्रियोमे लीन होता है। इन्द्रियाँ ज्ञानमे ज्ञान आनन्दमे, आनन्द जीवत्वमे और जीवत्व प्रियत्वमे मिल जाता है अर्थात् प्रियत्व ही अखिल विश्वका कर्ता, स्वामी है। यह प्रिय कल्लोल परमात्मसिन्धुसे मिलनके लिये तब कौन-सा साधन करे? तरङ्ग किस साधनसे जलको पा ले?

अलङ्कार किस साधनसे सुवर्ण बने? सूर्य-किरण किस साधनाके द्वारा सूर्यको प्राप्त हो? परमात्ममय जीव भी उसी प्रकार परमात्माको पानेके लिये किस साधनका आश्रय ग्रहण करे?

कर्मदृष्टिसे देख तो भगवान् और भक्त भिन्न हैं, गुरु और शिष्य भिन्न हैं, पर प्रभुके प्रिय प्रकाशमे दोनो अभिन्न हैं।

इस प्रकार प्रियत्वरूप प्रभुके कल्लोल-तरङ्गरूप जीवके लिये परमात्माकी प्राप्तिके अर्थ किसी साधनके करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। परतु इस प्रकारकी धारणाका होना श्रीसद्गुरु-कृपाके विना असम्भव है। जबतक ऐसी धारणा न हो ले, तबतक त्रिविध कर्म, तीन अवस्था, त्रिगुण—इन सबकी प्रतीति होती ही है। सूर्यके प्रकाशसे मृगजल भासता है, सूर्यास्त होनेपर मृगजलको भगानेका कोई यत्न नहीं करना पडता, सूर्यास्तके साथ वह अपने-आप ही हट जाता है। पर सूर्यके रहते भी जो मृगजल देख पडता है, वह भी सूर्यप्रकाश ही होता है, मृगजल नहीं। इसी प्रकार जीवके कर्म, अविद्या, अज्ञान आदिको मान ले तो उनसे भी पूर्णता अपगत नहीं होती और इन अवस्थाओसे निकलनेके लिये यदि साधन किये जायँ और उसी प्रकारकी विपरीत धारणा न हो तो वे साधन भी साधन नहीं, बल्कि भगवत्प्रेमके दिव्य रूप ही प्रतीत होंगे।

जीवकी प्रत्येक सत्तामे, उसकी नस-नसमे भगवान्‌की ही सत्ता है। ऐसा होते हुए भी जीव उसे भूलकर भगवान्‌को साधनाके द्वारा प्राप्त करनेका प्रयास करता है। परतु परमात्मा प्रयाससाध्य नहीं हैं। परमात्मा तो सर्वत्र परिपूर्ण हैं, फिर भी वह नहीं हैं—यह जो धारणा हो जाती है, इसीको हटाना है। इसे भगवान् ही हटा सकते हैं, इसलिये हम उन्हींसे प्रार्थना करे—भगवन्! आप सर्वत्र होते हुए भी क्यो अपने-आपको विस्मृतिका परदा डालकर छिपाये हुए हैं? आप हैं तो यहाँ-वहाँ सर्वत्र, सब अवस्थाओमे, सब प्रकारसे तब जैसे भी आप हैं, मुझे दर्शन दीजिये। प्रार्थनासे अनुकम्पित होकर भगवान् सर्वाङ्गमे उदय होने लगते हैं। उनके उदय होनेका लक्षण यही है कि सारा तन-मन-प्राण उन्हींके प्रेममे डूब जाता है शरीरपर अष्ट सात्त्विक भाव उदय होते हैं, नेत्रोसे अश्रु गिरने लगते हैं और मुखसे 'राम' या 'राम कृष्ण, हरि' अथवा 'माँ, माँ' की पुकार होने लगती है। अव्यक्त परमात्माके व्यक्त होने अथवा दर्शन-साक्षात्कार होनेके लिये ही भगवत्कृपासे ऐसी अवस्था हुआ करती है। इससे भक्त और भगवान् दोना ही प्रसन्न होते हैं और दोनाका द्वयभाव नष्ट होकर केवल प्रेम ही रह जाता है।

माता ही सतान बनकर यह प्रेमसुख लाभ करती है, भगवान् ही भक्त होकर अपने प्रेमका आनन्द उठाते हैं। सतानसे ही मातृत्वकी सिद्धि होती है और भक्तसे ही भगवान्‌की भगवत्ता प्रकट होती है। भगवान् भक्तकी अवस्थामे यदि न आये तो वे अपनी भगवत्ताको नहीं अनुभव कर सकते।

बालकके लिये माँको 'माँ' पुकारनेके अतिरिक्त और किसी साधनकी जरूरत नहीं। माँ बच्चेकी पुकार सुनकर आप ही दौड आती है। भक्त भी भगवान्‌को माता समझकर 'माँ' कहकर पुकारे तो सही, फिर देखिये करुणामय भगवान् अपने मङ्गलमय स्वरूपसे कैसे भक्तके समीप चले आते हैं। माहुरवासी, देवी रेणुकाके परम भक्त, भगवतीके गलेके हार श्रीविष्णुदास महाराज कहते हैं—'किसी साधन-धनका काम नहीं स्तवन-गानका कुछ दाम नहीं, सच्ची पुकार 'माँ' की है तो बेडा पार है।' भगवान्‌को 'माँ' कहकर सभी सतोने पुकारा है। माताकी अपने हृदयगत स्तन्य-अमृतका पान करानेकी इच्छा ही बच्चेको रुलाती है और जब माता इस अमृतका पान कराती है तब माता और बच्चा दोना ही एक-दूसरेकी ओर अनिर्वचनीय प्रेमभरी दृष्टिसे देखते हुए परम सुखी होते हैं। यही भक्त और भगवान्‌की बात है।

विस्मरणका कारण

पैठणके परम भगवद्भक्त श्रीएकनाथ महाराज सब भूतामे भगवान्‌को देखा करते थे। परतु इनके घर श्रीखण्डिया नामक जो ब्राह्मण पानी भरा करता था, उसमे इन्हे कभी भगवद्बुद्धि नहीं हुई। पर किसी अन्य भक्तको यह स्वप्न हुआ कि पैठणमे जाओ वहाँ श्रीएकनाथ महाराजके यहाँ श्रीखण्डियाको देखनेसे तुम्हे भगवत्साक्षात्कार होगा। वह भक्त पैठण पहुँचा श्रीएकनाथ महाराजके घर आया श्रीखण्डियाके उसने भक्तिभावसे दर्शन किये और श्रीकृष्ण उसके सामने प्रकट हुए। पर उसी क्षण श्रीखण्डियाका रूप अन्तर्धान हो गया। एकनाथ महाराजको तब यह ध्यान हुआ कि श्रीखण्डिया मेरा नौकर नहीं, उसके रूपमे मेरे नाथ श्रीकृष्ण ही थे। मुझसे उन्होने यह कपट क्यो किया? एकनाथ महाराजको इस बातका बडा अनुताप हुआ कि मैं

उन्हे क्यो न पहचान सका। भगवान्‌से उन्होने बडी करुण प्रार्थना की। भगवान् प्रकट हुए और उन्होने कहा, 'एकनाथ! मैं सत-सङ्गके अपार सुखको लूटना चाहता था, सतकी सेवाका जो आनन्द है, उसमे में अपने-आपको भुलाना चाहता था। इसीलिये मैंने ही तुम्हारी स्मृतिपटलपर जान-बूझकर परदा डाल रखा था। यदि ऐसा विस्मरण तुम्हे न कराया जाता तो मुझे तुम्हारे सङ्ग और सेवाका लाभ कैसे मिलता? तुम्हे विस्मरण तो हुआ, पर उस विस्मरणमे में ही तो था।' एकनाथ महाराजने देखा, 'स्मरण ज्ञान है और विस्मरण प्रेम।'

असीमकी सुखप्रतीतिके लिये असीमको सीमित होना पडता है तथा सीमित होनेपर उसके मनका सहज भाव स्मरण-विस्मरणात्मक होता है और ऐसा होता है, इसीलिये तो अपरिच्छिन्नका प्रेमानन्द परिच्छिन्न जीवके लिये प्राप्त करना सम्भव होता है।

तात्पर्य, विस्मरणमे भी भगवान् परिपूर्ण हैं—यह भावना जब दृढ हो जाती है, तब सब साधन समाप्त हो जाते हैं। मातृरूपसे भगवान्‌को सहजभावसे पुकार उठना ही इस अवस्थाकी पहचान है। 'माँ', 'माँ' कहकर भक्तका भगवान्‌को पुकारना भगवान्‌की वात्सल्य-रतिके लिये आवश्यक होता है। उससे भक्तको वात्सल्यामृत पान करानेके लिये माताके समान ही भगवान् दौड पडते हैं और भक्तके उस सुधापानसे भक्त तथा भगवान् दोनो परमानन्दमे निमग्न हो जाते हैं। यह सामर्थ्य केवल माताकी कृपामे है और किसी भी साधनमे नहीं। यह मातृकृपा माताको पुकारनेकी सहजवृत्तिसे अनुकम्पित होकर ही प्रकट होती है, यही सताका बोध और प्रेमभोग है। इस प्रकारका बोध सब जीवोको प्राप्त हो, यही श्रीजगन्मातासे प्रार्थना है।

हृदयके प्रेमसे भगवान्‌को पूजिये

चातुर्मासका आरम्भ हो गया है। प्रत्येक घर और मन्दिरमे पूजार्चना और व्रतोपवासका पवित्र कार्य हो रहा है, परतु यह कार्य हृदयसे होना चाहिये। प्राय कई जगह ऐसा देखा जाता है कि सडी सुपारी, खराब चावल और पान तथा दुर्गन्धियुक्त घृत तो पूजार्चना और यज्ञ-हवनके काममे लाया जाता है और बहुत बढिया सुपारी, काश्मीरका चावल, महोबेका पान तथा ताजे स्वादिष्ठ मक्खनसे निकाला हुआ शुद्ध घी अपने खानेके लिये बरता जाता है। इस कृत्रिमता और ओछेपनमे मनुष्य भगवान्‌को ठगना चाहता है पर भगवान् ठगाते नहीं। सडा भोग लगानेवालको भगवान्‌की ओरसे आशीर्वादमे फल भी सडा ही मिला करता है। मनुष्य इस बातको भूल जाता है कि बुद्धिके अनुसार फल प्राप्त होता है। नीचता और असत्य जडसे ही बुरे हैं, फिर अन्तर्यामी भगवान्‌के साथ असत्य व्यवहार करनेकी बुराईमे तो आश्चर्य ही क्या है?

एक अधिकारीको जँवाईको या मित्रको दावत देते समय जो मनोभाव प्रकट किया जाता है, कम-से-कम उतना प्रेमभाव तो भगवान्‌को दिखलाना ही चाहिये। मनुष्यके साथ व्यवहार करनेमे जो सचाई दिखायी जाती है, कम-से-कम उतनी सचाई तो भगवान्‌के प्रति किये जानेवाले आचरणमे दिखलाइये। भगवान् तो भावके भूखे हैं। उन्हे ऊपरका ढाग नहीं सुहाता। जैसा भाव होता है, फल भी वैसा ही मिलता है। भाव मिथ्या तो फल भी मिथ्या। शुद्धभावसे अर्पित किया हुआ एक शाकका पत्ता भी भगवान्‌को बडा प्रिय है। समर्थ गुरु रामदासजी कहते हैं—

'जिसके पास जैसा भाव है, उसके लिये भगवान् भी वैसे ही हैं। वे अन्तर्यामी प्राणिमात्रके हृदयके भावोको जानते हैं। उनके साथ छलका भाव होगा तो वे भी महाछली होगे। जिसका शुद्धभाव होगा उसके साथ वे भी प्रेम करेगे, क्योकि वे तो 'जैसे-को-तैसे' हैं। जो जिस प्रकार भजन करेगा, उसका वह वैसा ही समाधान करेगा। भावमे जरा-सी भी न्यूनता होगी तो वे दूर रहेगे। जिस भावका प्रतिबिम्ब हृदयमे है, भगवान् वैसे ही बन जाते हैं। जो उनका जैसा भजन करता है, भगवान् उसे वैसा ही फल देते हैं।' (दासबोध द० ३।१०)

'जैसा भाव वैसा भगवान्' सताकी यह उक्ति सत्य है। भगवान्‌के साथ झूठा व्यवहार करनेवाला मनुष्यके साथ सचाईका वर्ताव क्या करेगा? अतएव सारी कृत्रिमताको त्यागकर सचाईसे—हृदयके प्रेमभावसे भगवान्‌को भजना चाहिये। अन्तस्तलकी भावनासे भगवान्‌का कर्म करना

चाहिये। श्रुति कहती है—

देवपितृकार्याभ्या न प्रमदितव्यम्।

(तैत्तिरीयोपनिषद् १।११)

बाहरी उपचारसे बहिरग भजनसे भगवान् कभी नहीं प्रसन्न होते। श्रीज्ञानेश्वरजी कहत हैं—'हे अर्जुन! मुझम अपनापन किये बिना सुरसता नहीं है, मैं किसी भी बाह्य आडम्वरसे नहीं ठगाता।' (ज्ञानेश्वरी अ० ९)

सत तुकारामजी भी इसीका समर्थन करत हैं—

'मनमे कुछ भाव होगा तो वहाँ भगवान् अवश्य आयगे। जनाबाई साधारण स्त्री थी परतु भगवान् उसके घर पानी भरते थे। शुद्धभाव देखकर ही भगवान् हृदयम वास करते है। तुकारामजी कहते है—हे भगवन्! मुझे अपने चरणोमे शरण दो।'

ढाग, पाखण्ड, मिथ्या व्यवहार और दिखावटी प्रेमसे मनुष्य भी नहीं ठगाता, पशु-पक्षी भी नहीं फँसते फिर वह अन्तर्यामी प्रभु कैस फँस सकता है? अतएव भगवान्के सभी काय मन लगाकर सद्भावसे करने चाहिये, जिससे भगवान् प्रसन्न होकर उचित पुरस्कार देगे।

अब भगवान्की पूजार्चनाका समय है, अत सव कार्य एसे लगनसे करने चाहिये, जिसम भगवान्को सतोप हो। बेगार चुकानेके भावसे नहीं करना चाहिये। उसमे अर्थ-स्वार्थ कुछ भी नहीं है। जो वस्तु हमे हृदयस अच्छी लगे वही भगवान्के अर्पण करनी चाहिये। झूठसे तो एक बच्चा भी सतुष्ट नहीं होता, फिर प्रेममूर्ति आत्माराम परमात्मा कैसे सतुष्ट होगा? उसको तो प्रेम चाहिये। एक ही फूल या एक ही तुलसीपत्र हो, परतु सुगन्धित पत्र-पुष्प ही चढाना चाहिये निर्मल हृदयसे। फूलको 'सुमन' कहते है, सुमन यानी मनको शुद्ध करके भगवान्को अर्पण करना चाहिये। समर्थ श्रीरामदासजीने कहा है—

'भगवान्से परम सख्य स्थापित करक उन्हे प्रेमके वन्धनसे बाँधना चाहिये यही सख्य-भक्तिका लक्षण है।' (दासबोध ४।८)

भगवान्को जो वात प्रिय हो, हमे वही करनी चाहिये इसीसे हमारी भगवान्के साथ सख्यता हो जायगी। उनको प्रिय क्या है? 'भक्तिभाव और भजन उनका निरूपण तथा उनके कथा-कीर्तनका प्रेमसे भक्तिपूर्वक गान करना।'

भगवान् सत्यस्वरूप हैं इसलिये उनको सत्य ही प्रिय है। मन वाणी और कर्मम पूर्ण सत्य होना ही भगवान्को प्यारा लगता है। असत्यके अन्धकारम भगवान्के दर्शन नहीं होग। भगवान्के कर्म निर्मल सत्यतापूर्वक करनेका अभ्यास हो जायगा तो फिर व्यवहारम मनुष्यसे असत्यका आचरण नहीं हो सकगा। व्यवहारका सत्य अलग, राजनीतिका सत्य अलग और परमार्थका सत्य अलग इस तरह सत्यके नानाविध रूप नहीं है। सत्य सत्य ही है। त्रिकालाबाधित सत्य, सभी काल, सभी देश और सभी अवस्थाआम एक ही शाश्वत सत्य है। 'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' इस प्रकार परमात्माका स्वरूप सत्य है, ज्ञानमय और अनन्त है, ऐसा श्रुति कहती है। भगवान् सत्य हैं तो भक्त भी निश्चय सत्य है। सत्य नहीं होगा तो भक्त ही कहाँसे होगा? भक्त सच्चा प्रेम करता है, इसीलिये उसके निकट असत्य, कृत्रिमता और ढाग नहीं होते, वहाँ तो एक लगन होती है।

हम भगवान्के साथ सचाईका व्यवहार करनेकी आदत डालनी चाहिये। जब हम हृदयसे अपने भगवान्की पूजा करने लगगे, तब भगवान् भी हमारा ध्यान रखगे। वह तो हृदयकी लगन देखते हैं इसके अतिरिक्त उन्हे कोई वस्तु प्रिय नहीं है। आजकल 'भावका अकाल' पडता जा रहा ह। अतएव भाग्यवान् पुरुपको चाहिय कि वह अपन भावकी रक्षा करे उसे वढाये ओर इस लोक तथा परलोकको साधकर कृतकृत्य हो जाय।

व्यर्थ तर्क-वितर्क करनेकी आदत बहुत बुरी है। ऐसी आदत कभी न पडने दे। भगवान्के मार्गम तर्कको स्थान नहीं है। गीताम भगवान् कहते हैं—श्रद्धावान्को ज्ञानकी प्राप्ति हाती है (श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्, ४।३९)। तार्किकके भाग्यमे भक्तिभावका मधुर सुख नहीं है। तर्क वाद-विवाद और सशय—इन तीन दैत्योने परमार्थके मार्गको रोक रखा है, अतएव इनको तनिक-सा भी मनमे न रहने देकर जिस भक्तिभावसे मनमे सदा उल्लास बना रहे उसीको ग्रहण करना चाहिये। भगवान्को जो अनुकूल हो उसका स्वीकार और उनके जो प्रतिकूल हो उसका त्याग कर देना चाहिये। भगवान् मधुर हैं भगवान् दयालु हे, भगवान् वत्सल हैं, भगवान् अपने जनाकी सब प्रकारसे रक्षा करते ह, ऐसी बढनेवाली श्रद्धा ओर बढनेवाले प्रेमको ही सर्वथा अपनाना चाहिये।

['अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपम्'—प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है। प्रेम वाणीद्वारा पूरी तरह प्रकट नहीं किया जा सकता। यह गूँगेके स्वादकी तरह है—'मूकास्वादनवत्'।

जैसे गूँगा गुड़ खाकर प्रसन्न होता है, हँसता है, पर गुड़का स्वाद नहीं बता सकता। इसी प्रकार प्रेमी महात्मा प्रेमका अनुभव कर आनन्दम निमग्न तो हो जाते है पर अपने उस अनुभवका स्वरूप दूसराको बताना उनके लिये कठिन है, परतु उसके साथ ही नारदभक्तिसूत्रम नारदजीने कहा है—'प्रकाशते क्वापि पात्रे' किसी योग्य प्रेमी भक्त—पात्रमे यह प्रकट भी होता है।

प्रेमके तत्त्व एव स्वरूपका निरूपण करना यद्यपि सामान्य बात नहीं है, फिर भी प्रेमी भक्त प्रेमको प्राप्त कर इस प्रेमको ही देखता है, प्रेमको ही सुनता है, प्रेमका ही वर्णन करता है और प्रेमका ही चिन्तन करता है—तत्प्राप्य तदेवावलोकयति, तदेव शृणोति तदेव भाषयति, तदेव चिन्तयति। (ना०भ०सू० ५५)

यहाँ प्रेमी भक्ताने प्रेमका स्वरूप, तत्त्व और इसकी मीमासा प्रस्तुत करनेका यत्किञ्चित् प्रयास किया है, आशा है भक्तजन इससे लाभान्वित होगे—स०]

प्रेम और भक्तिका स्वरूप

(डॉ० श्रीवेदप्रकाशजा शास्त्री, एम्० ए०, पी एच्० डी० डी० लिट्०, डी एस्० सी०)

गोस्वामी तुलसीदासजीने जिस प्रकार ज्ञान और भक्ति—दोनाका ही भौतिक दु खासे विरत करनेवाला उपाय माना है,[1] ठीक उसी प्रकारकी स्थिति प्रेम और भक्तिकी है। शाण्डिल्य भक्तिसूत्रम ईश्वरके प्रति परानुरक्ति (उत्कट अनुरक्ति, अनुराग या प्रेम)-को ही भक्ति कहा गया है।[2]

निष्पत्तिके अनुसार भी 'भज-सेवायाम्' धातुम 'क्तिन्' (प्रेम) प्रत्ययके योगस 'भक्ति' शब्द बनता है। सामान्य नियमके अनुसार धातु और प्रत्ययके योगसे बननवाले शब्दके अर्थमें प्रत्ययार्थ ही प्रधान रहता है। परतु यहाँ उसका अर्थ है—सप्रेम-सेवा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बिना प्रेमके प्रेष्ठ अथवा आराध्यकी सेवा किसी प्रकार सम्भव नहीं। बिना प्रेमके की जानेवाली भक्ति या सेवा मात्र बेगार है। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' म भक्तिकी परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—'अध्यात्मज्ञानकी प्राप्ति वैराग्यका मोह तथा अन्यान्य स्वार्थोंको वैयक्तिक जीवनमे स्थान न देते हुए उत्कट प्रेमभावसे भगवच्चिन्तन करना ही श्रेष्ठ भक्ति है।[3] जबतक साधक भोग और मोक्षके मोहसे मुक्त नहीं होता तबतक उसमे भक्तिभाव उत्पन्न ही नहीं हो सकता।[4] ज्ञान-कर्मकी वासनाओंको सर्वथा निर्मूल कर देनेपर ही भक्तिवल्लरी लहलहा सकती है। भक्तिका प्रभाव अमित है। यह सब दु खाको मिटानेवाली सब प्रकारके कल्याणको देनेवाली, मोक्षकी कामनाको दूर भगानेवाली, घनीभूत आनन्दरूपा, दुर्लभा तथा श्रीकृष्णको आकृष्ट करनेवाली है।[5]

भक्ति स्वय मोक्षरूपा मानी गयी है। आध्यात्मिक ज्ञान भक्तिका आनुषगिक फल है। स्वरूपाशक्ति, तटस्थाशक्ति तथा मायाशक्तिसे उपलक्षित ईश्वरके त्रिविध स्वरूपका साक्षात्कार ही यथार्थ तत्त्वज्ञान है। ईश्वर इन शक्तियासे भिन्न और अभिन्न दोना है। भक्तिद्वारा ईश्वरके इन रूपोका साक्षात्कार सम्भव है।

भक्तिका उद्रेक महापुरुषाके उपदेश, उपनिषद्, पुराणादि-श्रवणद्वारा होता है, परतु प्रेम ईश्वरीय देन अथवा नैसर्गिकरूपम स्वय स्फूर्त होता है। इसीलिये सत कवियाने लिखा है—

प्रेम न बाड़ी ऊपजै प्रेम न हाट बिकाय।
राजा-परजा जेहि रुचै सीस देइ लै जाय॥

देवर्षि नारदके उपदेशने प्रह्लाद तथा ध्रुव आदिके मनमे भगवद्भक्तिका बीज अङ्कुरित किया परतु गोपियोके, बाबा नन्दके, मा यशोदा आदिके मनमे स्वभावत ही प्रेम प्रस्फुटित हुआ।

श्रीचैतन्यमहाप्रभुके अनुसार भक्ति दो प्रकारकी होती

---

१ भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा । उभय हरहिं भव सभव खेदा॥ (रा०च०मा० ७।११५।१३)
२ सा परानुरक्तिरीश्वरे। (शा०भ०सू० २)
३ अन्याभिलाषिताशून्य ज्ञानकर्माद्यनावृतम् । आनुकूल्येन कृष्णानुशीलन भक्तिरुत्तमा॥ (भ०र०सि०पू० १।११)
४ भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते। तावद् भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥ (भ०र०सि०पू० २।११)
५ क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा। सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षणी च सा॥ (भ०र०सि०पू० १।१३)

है—पहली वैधी और दूसरी रागानुगा। पहलीको वैधी इसलिये कहा जाता है कि उसम प्रवृत्तिको प्रेरणा शास्त्रसे मिलती है जिसे 'विधि' कहते हैं। शास्त्रज्ञ, दृढ विश्वासयुक्त, तर्कशीलबुद्धिसम्पन्न और निष्ठावान् साधक ही वैधी भक्तिका अधिकारी है। दूसरी भक्ति रागातिशयके कारण ही उत्पन्न होती है। वस्तुत रागात्मिका भक्ति और कुछ नहीं स्वाभाविक आसक्तिका नाम है। इस आसक्तिको आदर्श मानकर जो भक्ति की जाती है, उसे 'रागानुगा' (राग—आसक्तिका अनुगमन करनेवाली) कहते हैं। रागात्मक भाव प्रगाढ हो जानेपर प्रेम कहलाने लगता है।

'भक्तिरसामृतसिन्धु' के रचयिता श्रीरूपगोस्वामीजीने भक्तिको तीन प्रकारका माना है—१-साधनभक्ति, २-भावभक्ति (साध्य भक्ति या नैसर्गिक भावावेशकी स्थिति) तथा ३-प्रेमाभक्ति। साधनभक्तिकी अपेक्षा भक्तिके अवान्तर दोना भेद अधिक प्रशस्त माने जाते हैं।

भक्ति कर्म और ज्ञानसे मूलत भिन्न है। प्रेमके शाश्वत बन्धनद्वारा भक्त आदिसे अन्ततक निज व्यक्तित्वको स्वतन्त्र बनाये रखता है अर्थात् वह एकात्माकी कल्पनासे दूर रहकर अपने प्रेमीक प्रेमम निमग्न रहनेको ही जीवनकी सार्थकता मानता है।

प्रेमाभक्ति पाँच प्रकारकी है—१-शान्त, २-दास्य ३-सख्य, ४-माधुर्य तथा ५-वात्सल्य। दूसरे शब्दाम कहा जा सकता है कि प्रेमी भक्त सम्पूर्ण कामनाओ, अर्चा-विधिया तथा ज्ञान और कर्मको त्यागकर जब पूर्णत ईश्वर अथवा श्रीकृष्णमे अनुरक्त हो जाता है तभी वास्तविक भक्तिभावना प्रकट होती है। जिसका आश्रय पूर्वोक्त दास्यादि रूप होते हैं।

प्रेमाभक्तिको मोक्षसे भी बढकर तथा रसरूपा कहा गया है। परमपुरुषकी रसरूपता श्रुतियामे प्रसिद्ध है।[६] लौकिक आनन्द अथवा रसमे भी उन्हीं रसस्वरूप प्रभुकी आंशिक अभिव्यक्ति होती है।[७] रसके विषय एव आश्रयकी मलिनतासे शुद्ध रसम भी मालिन्यकी प्रतीति होती है। परतु भगवद्विषयिणी रति (भगवत्परक प्रेम) पूर्णत रसरूप होनेके कारण तुच्छ कान्तादि विषयक रतिस उसी प्रकार बलवत्तर है, जिस प्रकार खद्योतजनित प्रकाशस आदित्यप्रभा।[८] विषय (भक्ति) और आश्रय (भगवान्) दोना अथवा दोनामस कोई एक भी रसात्मक हो तो रति (प्रेम) भी विशुद्ध रसरूपा होती है। समष्टिरूपम कहा जा सकता है कि भक्ति उस रसमय रससिन्धुकी परिचायिका होनेके कारण न केवल रसरूपा है, अपितु रागात्मक रूप धारण कर प्रेमरूपमे प्रकट हो प्रेमकी महत्ताकी परिचायिका बन जाती है।

नारदभक्तिसूत्रम भक्तिको ईश्वरके प्रति परम प्रमरूपा प्रतिपादित करते हुए प्रेम और भक्तिम अभेद दर्शनका प्रयास किया गया है।[९] दूसरे शब्दाम भगवान्‌म अनन्य प्रेम हो जाना ही भक्ति है। श्रीमद्भगवद्गीताामे मन और बुद्धिको भगवदर्पण कर अर्थात् चतना और चिन्तनक स्रोताको भगवदभिमुखी बना देनेवालाको भगवान्‌ने अपना प्रिय या प्रेमास्पद माना है।[१०] यह प्रेमाभक्ति अमृतस्वरूपा कही गयी है।[११] इसे पाकर मानव सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है तृप्त (पूर्णकाम) हो जाता है।[१२] इसकी उपलब्धि हो जानेपर मानव न किसी वस्तुकी इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी पदार्थ-विशेषमे आसक्त होता हे और न विषयादिके प्रति आसक्ति ही उसके मनमे उत्पन्न होती है।[१३] इसे पाकर व्यक्ति उन्मत हो जाता है, स्तब्ध हो जाता है शान्त हो जाता है और आत्माराम बन जाता है।[१४]

वस्तुत प्रेमाभक्तिकी महिमा अपूर्व है। यद्यपि इसके भक्त किसी वस्तुकी कामना नहीं करते, तथापि विभिन्न सिद्धियाँ तथा मुक्तियाँ इस भक्तिका दास्य स्वीकार कर इस

---

६ रसो वै स (तै० उ० २।७।२)

७ किञ्चिन्न्यूना च रसता याति जाड्यविमिश्रणात्॥ (भक्तिरसायन १।१३)

८ परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रति । खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा॥ (भक्तिरसायन २।७६)

९ सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा॥ (ना० भ० सू० २)

१० मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्त स मे प्रिय ॥ (गीता १२।१४)

११ अमृतस्वरूपा च॥ (ना० भ० सू० ३)

१२ यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति॥ (ना० भ० सू० ४)

१३ यत्प्राप्य न किञ्चिद् वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति॥ (ना० भ० सू० ५)

१४ यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति। (ना० भ० सू० ६)

भक्तिके आश्रयकी सेवाके लिये आतुर रहती ह। परतु भक्त इन सबको तुच्छ मानकर इनपर दृष्टिपाततक नहीं करता, क्याकि वह जानता हे कि हर्ष शोक और द्वेष आदिसे रहित, शुभाशुभका त्यागी, प्रेमरूपा भक्तिमे ही सतत प्रव्रजन करनेवाला भक्त ही भगवान्‌को प्रिय होता है।

भगवत्प्रेम हृदयमे प्रकट होते ही मनुष्यको उन्मत्त बना देता है। अत प्रेमी भक्त सदैव प्रेमकी मादकता (नशे)-मे चूर होकर प्रभुके गुणगान करने-सुनने तथा उसीके चिन्तनमे निमग्न रहता है। उसे इसके अतिरिक्त अन्य बात अच्छी ही नहीं लगतीं। वह पूर्णत शान्त होकर आत्माराम बन जाता है और अपने प्रियसे इस प्रकार तादात्म्य स्थापित कर लेता है कि भौतिक मृगतृष्णा उसे भ्रमित ही नहीं कर पाती।[१५]

प्रेम अथवा प्रेमाभक्तिमे अनन्यता सर्वोपरि है। अनन्यता क्या है? इस सम्बन्धमे देवर्षि नारदका कथन है कि अपने प्रिय (भगवान्)-को छोडकर दूसरे आश्रयोके त्यागका नाम ही अनन्यता है।[१६]

प्रेमपूर्ण अथवा प्रेमाभक्तिको सर्वाधिक समादृत किया गया है। अतएव उसके लक्षणोका परिज्ञान भी आवश्यक है। भगवान् वेदव्यास भगवान्‌के अर्चन तथा पूजन आदिमे अनुस्यूत अनुराग अथवा प्रेमको ही वास्तविक प्रेमाभक्ति मानते हैं।[१७] विष्णुरहस्यमे भी इसी कथनकी पुष्टि है।[१८] श्रीगर्गाचार्यने भगवत्कथादिम अनुरागको ही भक्ति माना है।[१९] महर्षि शाण्डिल्यके अनुसार आत्मरतिके अविरोधी विषयमे अनुराग ही प्रेमाभक्ति है।[२०] श्रीशकराचार्यजीने भी इसी मतकी पुष्टि की है।[२१] देवर्षि नारदके अनुसार अपने सब कर्मोंको भगवदर्पण करना और भगवान्‌का किञ्चित्-सा भी विस्मरण होनेपर परम व्याकुल हो जाना ही प्रेम अथवा प्रेमाभक्ति है।[२२]

नारदोक्त इन्हीं लक्षणोको भक्तियोगीमे घटित कर भगवान् कृष्णने उसे सर्वोत्कृष्ट बताया है।[२३] वास्तवमे व्रजगोपिकाओकी प्रेमातिशयता ही प्रेमाभक्तिका सर्वोत्तम रूप है। उनके प्रेममे अनन्यता, वियोगकी असहनीयता, आकुलता और प्रियविरहकातरता तथा विरहकी समस्त दशाओका जो उन्मेष है, वह अन्यत्र नहीं उपलब्ध होता। माहात्म्यज्ञान बिना स्त्रियाके द्वारा किसी पुरुषके प्रति किया जानेवाला प्रेम जारोका-सा प्रेम होता है।[२४] परतु सर्वार्पणकी भावना तथा स्वार्थहीनता केवल भगवत्प्रेममे ही होती है और वह गोपियोके पूरे जीवनपर छायी हुई है। इसके अतिरिक्त जार-प्रेमम प्रियके सुखसे सुखी होना भी सम्भव नहीं। परतु सच्चा प्रेमी स्वय दु ख सहकर भी प्रियके सुखम सुखका ही अनुभव करता है।[२५]

प्रेमरूपा भक्ति तो कर्म, ज्ञान और योगसे श्रेष्ठतर एव फलरूपा है।[२६] प्रेमरूपा भक्ति सब साधनोका फल है।[२७] इसकी सिद्धिके लिये अभिमानसे द्वेष और दैन्यसे प्रेम आवश्यक है, क्योकि भगवान्‌को स्वय अभिमानसे द्वेष और दैन्यसे प्रेम है।[२८] मोक्षकामियाको भक्तिका आश्रय ही सर्वात्मना ग्रहण करना चाहिये।[२९] परतु प्रेमी भक्त मुक्तिकी

१५ न हि स्वात्माराम विषयमृगतृष्णा भ्रमयति॥ (श्रीशिवमहिम्न स्तोत्र ८)

१६ (अ) अन्याश्रयाणा त्यागोऽनन्यता॥ (ना० भ० सू० १०)

(ब) उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥ (रा०च०मा० ३।५।१२)

(स) प्रीतम-छबि नैनन बसी पर छबि कहाँ समाय।
भरी सराय 'रहीम' लखि पथिक आप फिरि जाय॥ (रहीम)

१७ पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्य ॥ (ना० भ० सू० १६)

१८ श्रीविष्णोरर्चन ये तु प्रकुर्वन्ति नरा भुवि। ते यान्ति शाश्वत विष्णोरानन्द परम पदम्॥ (विष्णुरहस्य)

१९ कथादिष्विति गर्ग । (ना० भ० सू० १७)

२० आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्य ॥ (ना० भ० सू० १८)

२१ मोक्षकारणसामग्र्या भक्तिरेव गरीयसी। स्वस्वरूपानुसन्धान भक्तिरित्यभिधीयत॥ (तत्त्वबोध १८)

२२ नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति॥ (ना० भ० सू० १९)

२३ तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिक । कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
योगिनामपि सर्वेषा मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान्भजते यो मा स मे युक्ततमो मत ॥ (गीता ६।४६-४७)

२४ तद्विहीन जाराणामिव॥ (ना० भ० सू० २३)

२५ नास्त्येव तस्मिंस्तत्सुखसुखित्वम्। (ना० भ० सू० २४)

२६ सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्याऽप्यधिकतरा॥ फलरूपत्वात्॥ (ना० भ० सू० २५-२६)

२७ जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥ (रा०च०मा० ७।१२६।७)

२८ ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च॥ (ना० भ० सू० २७)

२९ तस्मात् सैव ग्राह्या मुमुक्षुभि ॥ (ना० भ० सू० ३३)

ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता।[30]

यह तो हुई प्रेमाभक्तिकी बात, अब लिया जाय प्रेमको। भक्तिसे पहले जुडकर अर्थात् प्रेमाभक्तिको सर्वश्रेष्ठ भक्तिका रूप प्रदान कराते हुए और स्वय अपनी महत्ता भी उसके साथ ख्यापित करते हुए यद्यपि प्रेम अपने सम्बन्धमे बहुत कुछ बता जाता है, तथापि उसके स्वरूप ज्ञानकी पिपासा शमित करनेके लिये इतना ही कहा जा सकता है कि प्रेमका स्वरूप गूँगेके लिये गुडके स्वादकी भाँति अनिर्वचनीय होता है।[31] वह प्रेम किसी विरल पात्रमे ही प्रकट होता है।[32]

प्रेम गुणरहित, कामनारहित, सतत वर्धमान, विच्छेदरहित, सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अनुभवरूप होता है अर्थात् प्रेमको केवल अनुभवद्वारा ही जाना जा सकता है। अन्य कोई उपाय उसे जाननेका नहीं है।[33] इस प्रमको पाकर प्रेमी प्रेमको ही देखता है, प्रेमको ही सुनता है, प्रेमका ही वर्णन ओर चिन्तन करता है।[34] इस प्रकार परिणाम यह होता है कि प्रेमी और प्रिय (भक्त और भगवान्) दोना एक-दूसरेके लिये प्रत्यक्ष हो जाते हैं।[35]

गौणी भक्ति गुणभेदसे अथवा आर्तादिके भेदसे तीन प्रकारकी मानी जाती है। प्रमाभक्तिको परा अथवा मुख्या कहा गया हे और इसे गौणीकी अपेक्षा श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है। इसके साथ ही उसक सम्बन्धम कहा गया है कि अन्य सभी भगवत्प्राप्तिपरक उपायोकी अपक्षा प्रेमाभक्ति अधिक सुलभ है। वह स्वय न केवल प्रमाणस्वरूपा है, अपितु शान्ति तथा परमानन्दरूपा है।[36]

देवर्षि नारदके अनुसार प्रेमाभक्ति एक होकर भी ग्यारह प्रकारकी होती है—१-गुणमाहात्म्यासक्ति, २-रूपासक्ति, ३-पूजासक्ति, ४-स्मरणासक्ति, ५-दास्यासक्ति ६-सख्यासक्ति, ७-कान्तासक्ति ८-वात्सल्यासक्ति, ९-आत्मनिवेदनासक्ति, १०-तन्मयतासक्ति तथा ११-परम विरहासक्ति।[37] आसक्ति किसी भी प्रकारकी और किसी भी रूपमे क्यो न हो, उसमे अनन्यता और उत्कटता होगी तो परमेश्वरको रीझना ही पडेगा।

चैतन्यमतम तो प्रेमिकाकी रागमयी आसक्तिको ही भक्त-हृदयमे सँजोनेका सदेश दिया गया है, जिसकी स्वल्पतम अनुगूँज वृत्रासुरके कथनम उपलब्ध होती है।[38]

---

३० अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। सत पुरान निगम आगम बद॥
राम भजत सोइ मुकुति गासाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥
मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥ (रा०च०मा० ७।११९।३-४ ७)

३१ (अ) अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपम् ॥ मूकास्वादनवत्॥ (ना० भ० सू० ५१-५२)
(ब) तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥ (रा०च०मा० ५।१५।६-७)
(स) डूबै सो बोलै नहीं बोलै सो अनजान। गहरौ प्रेम-समुद्र कोउ डूबै चतुर सुजान॥
(द) गिरि तैं ऊँचे रसिक-मन बूडे जहाँ हजारु। वहै सदा पसु नरनु कौं प्रेम-पयोधि पगारु॥

३२ प्रकाशते क्वापि पात्रे॥ (ना० भ० सू० ५३)

३३ (अ) गुणरहित कामनारहित प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्न सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्॥ (ना० भ० सू० ५४)
(ब) बिनु जोबन गुन रूप धन बिनु स्वारथ हित जानि। सुद्ध कामना ते रहित प्रेम सकल रसखानि॥ (रसखान)

३४ (अ) तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति॥ (ना० भ० सू० ५५)
(ब) लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल। (कबीर)
(स) यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्प यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्प तन्मर्त्यम्॥ (छान्दोग्य० ७।२४।१)

३५ यो मा पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याह न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ (गीता ६।३०)

३६ (अ) गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा॥ (ब) उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति॥ (स) अन्यस्मात् सौलभ्य भक्तौ।
(द) प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयप्रमाणत्वात्॥ (इ) शान्तिरूपात् परमानन्दरूपाच्च॥ (ना० भ० सू० ५६—६०)

३७ गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्तिदास्यासक्तिसख्यासक्तिकान्तासक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्तितन्मयतासक्तिपरम-विरहासक्तिरूपा एकधाप्येकादशधा भवति। (ना० भ० सू० ८२)

३८ अजातपक्षा इव मातर खगा स्तन्य यथा वत्सतरा क्षुधार्ता।
प्रिय प्रियेव व्युषित विषण्णा मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम्।(श्रीमद्भा० ६।११।२६)

वस्तुत प्रेम अलौकिक महिमान्वित पदार्थ है। विश्वका सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु भी उससे विरहित नहीं है। विश्वके प्राच्य और अवाच्य सभी विद्वानोने इसके महत्त्वके सामने नतमस्तक हो इसका गुणगान किया है। सस्कृतम श्रीमद्भागवतके अतिरिक्त इस (प्रेम)-का गुणानुवाद करनेवालामे देवर्षि नारद भवभूति और रूपगोस्वामी आदि सुप्रसिद्ध हैं।[३९] हिन्दीम कबीर, उस्मान, रसखान, सत्यनारायण कविरत्न तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि,[४०] उर्दूम गालिब एव रेहाना तैयबजी आदि[४१] तथा अग्रेजीमे टैपर, किंग्सफोर्ड और हर्बर्ट स्पेंसर आदि प्रसिद्ध हैं। इन सबने प्रेमको केन्द्रीय शक्ति तथा ईश्वरकी प्रथम सृष्टि आदि उत्कृष्ट रूपोम प्रतिपादित किया है, परतु प्रेमकी उपलब्धि सहज नहीं उसके लिये बलिदान आवश्यक है और वह भी स्वयके प्रियतम प्राणका ही।[४२] इस बलिदानके पश्चात् ही प्रेम अथवा मधुरा या प्रेमाभक्तिकी सिद्धि होती है। यह सिद्धि होनेपर प्रियका सर्वाङ्गीण स्वरूप ही माधुर्यम परिसिक्त होकर साधकके सामने आ जाता है और उसे अनिर्वचनीय ब्रह्मानन्दकी अनुभूति करा देता है।[४३]

प्रेम हृदयका विषय है। जहाँ हृदय आकर्षित हुआ, प्रेम हुआ।[४४] सूरने प्रेमके इसी रूपको प्रस्तुत कर प्रेमकी अनन्यता और असाधारणताका परिचय दिया है।[४५] महाकवि सूरने स्पष्टरूपसे प्रतिपादित किया है कि प्रेमी भक्त प्रेमोपलब्धिके पश्चात् न अन्य किसी वस्तुकी अपेक्षा रखता है न कामना।[४६] महाकवि सूरने अपने काव्यमे प्रेमक जिस रूपका प्रतिपादन किया है, वह वेदान्तियोका शुष्क प्रेम नहीं, अपितु ऐसा प्रम है जो माधुर्य रससे परिप्लावित है। यही कारण है कि सूरसागर रस-सागर बन गया है। इतना ही नहीं सूरदासजीका प्रेम क्रमश विकसित होकर विश्वप्रेमम पर्यवसित हुआ है। सूरदासजीके द्वारा वर्णित प्रेमम जो अनन्यता अधीरता, मधुर वेदना और नि स्वार्थता अनुस्यूत है वह अन्यत्र सर्वथा दुर्लभ है। समष्टिरूपमे सूरदासजीद्वारा प्रतिपादित-पोषित प्रेमके सम्बन्धम यही कहा जा सकता है कि विश्वकी विभिन्न प्रेमानुभूतियोका सार ही सूरदासजीमे सरस रस बनकर आ समाया है।

प्रेमाभक्तिका आधार तो प्रेम है ही, मधुर रसका

---

३९ (अ) अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपम्॥ (ना० भ० सू० ५१)

(ब) सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कित । भाव स एव सान्द्रात्मा बुधै प्रेमा निगद्यते॥ (भ०र०सि० १।४।१)

(द) अद्वैत सुखदु खयोरनुगुण सर्वास्ववस्थासु यद् विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्न हार्यो रस ।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत् स्नेहसारे स्थितं भद्र प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येक हि तत्प्राप्यते॥ (उत्तररामचरितम् १।३९)

४० (क) जा घट प्रेम न सचरै सो घट जान मसान॥—कबीर

(ख) आदि प्रेम बिधिने उपराजा। प्रेमहि लागि जगत सब साजा॥—उस्मान-चित्रावली।

(ग) प्रेम हरी कौ रूप है त्यो हरि प्रेम-स्वरूप। एक होय द्वै यो लसैं ज्यो सूरज अरु धूप॥ (रसखान)

(घ) उलटा-पलटी करहु निखिल जग की सब भाषा। मिलहि न पै कहुँ एक प्रेमपूरन-परिभाषा॥ (कविरत्न सत्यनारायण)

(ङ) जाको लहि कछु लहनकी चाह न हियम होय। जयति जगत-पावन-करन प्रेम बरन यह दोय॥ (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र)

४१ (अ) शायद इसीका नाम मुहब्बत है शफता। एक आग-सी है दिलमे हमारे लगी हुई॥ (गालिब)

(ब) हिन्दी-कवि घनानन्दजीने इसी भावको इस रूपमे व्यक्त किया है—
जबत निहारे घन आनँद सुजान प्यारे तबते अनोखी आगि लागी रही चाहकी॥

४२ (क) यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहिं। सीस उतारै भुइँ धरै तब पैठे घर माहि॥

(ख) पेम न बाडी ऊपजै प्रेम न हाट बिकाय। राजा परजा जेहि रुचै सीस देइ लै जाय॥ (कबीर)

४३ अधर मधुर वदन मधुर नयन मधुर हसित मधुरम्। हृदय मधुर गमन मधुर मधुराधिपतेरखिल मधुरम्॥ (मधुराष्टकम्)

४४ दधि मधुर मधु मधुर द्राक्षा मधुरा सितापि मधुरैव। तस्य तु तदव मधुर यस्य मनो यत्र सलग्नम्॥

४५ ऊधौ। मन माने की बात।

× × ×

'सूरदास' जाकौ मन जासौं सोई ताहि सुहात॥

४६ भक्त वृत्रासुरने भी यही बात कही है—न नाकपृष्ठ न च पारमेष्ठ्य न सार्वभौम न रसाधिपत्यम् । न योगसिद्धीरपुनर्भव वा समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे॥ (श्रीमद्भा० ६।११।२५)

(भगवान्को प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए वृत्रासुरने प्रार्थना की—) सर्वसौभाग्यनिधे! मैं आपको छोडकर स्वर्ग ब्रह्मलोक भूमण्डलका साम्राज्य रसातलका एकच्छत्र राज्य और योगकी सिद्धियाँ—यहाँतक कि मोक्ष भी नहीं चाहता।

आधार भी प्रेम ही है। दूसरे शब्दोम कह सकते हैं जिस प्रकार ऋग्वेदमे 'स ब्रह्मा, स विष्णु, स रुद्र' कहकर त्रिदेवोमे अभेद स्थापित करते हुए प्रकारान्तरसे एक ही ईश्वरकी सत्ता सिद्ध की गयी है। ठीक उसी प्रकार प्रेमाभक्ति, मधुर रस तथा प्रेम—तीनाको पृथक् बताकर भी प्रेमको आधाररूप अथवा आत्मतत्त्वके रूपम निरूपित कर 'प्रेमैव कार्यम्' उद्घोषद्वारा उसीको महत्ता दी गयी है।

प्रेमाभक्तिके सम्बन्धम पहले कहा जा चुका है। यहाँ मधुर रसका यत्किञ्चित् परिचय प्रस्तुत करनेका प्रयास किया जा रहा है। प्रेमी सत्पुरुषाके हृदयमे भगवान्‌के प्रति जो मधुर रति होती है, वही विभावानुभावादिद्वारा परिपुष्ट होकर मधुर रसका रूप ग्रहण करती है। श्रीमद्भागवतम इस रसका अगाध पयोधि उर्मिल होता परिलक्षित होता है। वहाँ इस रसके आलम्बन हैं श्रुतियाके रसरूप प्रेमात्मा श्रीकृष्ण और उनकी वल्लभाएँ। इस रसमे सात्त्विक भावका चरमोत्कर्ष उपलब्ध होता है। वस्तुत मधुर रति ही विकसित होकर क्रमश प्रेम, स्नेह, मान प्रणय, राग, अनुराग और भावरूपमे परिणत होती है। प्रेम सर्वाधिक व्यापक होनेसे इस रसका मुख्य प्रतिपाद्य है।

यद्यपि प्रेमकी सभी अवस्थाएँ अनिर्वचनीय हैं तथापि भागवतोक्त अवस्थाएँ तो इतनी अलौकिक हैं कि उनकी समता कठिनतासे ही अन्यत्र मिल सकती हैं। प्रेमको अमृतस्वरूप, श्रेष्ठरस और आनन्द-रसकी चरम सीमा बताते हुए भागवतमे इसे 'महाभाव' के रूपमे अभिहित किया गया है। इसम प्रेमी प्रियरूप दर्शनमे बाधक पलकोको कोसता है।[४७] प्रियको किसी भी चेष्टासे कष्ट न हो इस विचारसे शकाकुल रहता है[४८] तथा प्रिय-दर्शन बिना उसका एक-एक पल युग-सा बीतता है।[४९] इस अवस्थामे पहुँचा हुआ प्रेमी सासारिक समस्त सुखो, लोकोत्तर भोगा और मुक्तिको भी सर्वथा नगण्य समझता है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें इसकी उत्कृष्टता प्रतिपादित हुई है।[५०]

यह मधुरभावरूपा परिपुष्ट मधुर रति ही मधुररस, उज्ज्वलरस अथवा दिव्य शृगाररसके नामसे अभिहित की जाती है। शृगारके अन्तर्गत सयोग-वियोग दोनाका वर्णन होता है, परतु श्रीमद्भागवतके अनुसार इस अवस्थाम प्रिया-प्रियतमका वियोग सम्भव नहीं।

भगवान्‌का सयोग-सुख अवणनीय है। वास्तवम मधुर रसकी यही चरम परिणति है। प्रणय-परिणयकी यही मधुयामिनी है। रतिका नाम यहीं आकर सार्थक होता है। सयोग ही रसराजकी सरस अवस्था है। यह शृगार श्रीमद्भागवतके रास-प्रसङ्गमे जैसा अभिव्यक्त हुआ है, वैसा अन्यत्र नहीं।

दूसरे शब्दामे लोकपक्षका शृगार ही भक्तिपक्षमे मधुर रस (भाव) कहलाता है। गोस्वामी विट्ठलनाथजीने 'शृगार-मण्डन' नामक ग्रन्थमे इस रसका प्रतिपादन किया है। उन्हाने इस ग्रन्थमे भक्त (प्रेमी)-मनको ऐन्द्रिय विषयासे हटानेका शृगार या मधुर रस (भक्ति)-को अमोघ उपाय माना है एव आत्मसमर्पण तथा अनन्यभावको मधुर रसकी अनुभूतिके लिये अनिवार्य माना है। महाकवि सूरने अपने सूरसागरम इसे सर्वोत्कृष्टरूपमे तरङ्गायित किया है। सूरकी 'दानलीला' मधुर रतिकी परम परिणति कही गयी है।

समष्टिरूपमे भगवत्परक प्रेम अथवा प्रेमाभक्ति वह साधन है जो प्रेमीको प्रियसे न केवल मिलाता है अपितु द्वैतको तिरोहित कर उस रस-सागरमे इस प्रकार निमज्जित कर देता है कि सत कबीरका कथन सार्थक हो उठता है—

बूँद समानी समद मैं सो कत हेरी जाइ॥

४७ यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्ष्मकृत शपन्ति। (भा० १०।८२।४०) ४८ भीता शनै प्रिय दधीमहि कर्कशेषु। (भा० १०।३१।१९)

४९ त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्। (भा० १०।३१।१५)

५० हलदि नीर सार अशतार प्रेमनाम। आनन्द चिन्मय रस प्रेमेर आख्यान॥
प्रेमेर परभुसार महाभाव जानि। सेइ महाभाव रूपा राधा ठाकुरानी॥
प्रेमेर स्वरूप देह प्रेमे विभावित। कृष्णेर प्रेयसी श्रेष्ठा जगते विदित॥
सेइ महाभावह्य चिन्तामणि सार। कृष्ण वाँछापूर्ण अरे एइकार्य यार॥
महाभाव चिन्तामणि राधार स्वरूप। ललितादि सखीयार कायव्यूह रूप॥ (पृ० १३२)

प्रेमाभक्तिका स्वरूप और उसके लक्षण

(श्री जय जय बाबा)

ससारमे प्रेममय भगवान्‌के जन्मकी और लीलाकी बहुत-सी मङ्गलमयी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। उनको सुनते रहना चाहिये। उन गुणो और लीलाओका स्मरण दिलानेवाले भगवान्‌के बहुत-से नाम भी प्रसिद्ध हैं। लाज-सकोच छाडकर उनका गान करते रहना चाहिये। इस प्रकार किमी भी व्यक्ति, वस्तु और स्थानम आसक्ति न करके विचरण करते रहना चाहिये।

जो इस प्रकार विशुद्ध व्रत--नियम ले लेता है, उसके हृदयमे अपने परम प्रियतम प्रभुके नाम-सकीर्तनमे अनुरागका--प्रेमका अङ्कुर जाग उठता है। उसका चित्त द्रवित हो जाता है। वह सामान्य लोगोकी स्थितिसे ऊपर उठ जाता है। लोगाकी मान्यताओ, धारणाओसे परे हो जाता है और दम्भसे नहीं, स्वभावसे ही मतवाला-सा होकर कभी खिलखिलाकर हँसन लगता है, कभी फूट-फूटकर रोने लगता है, कभी ऊँचे स्वरसे भगवान्‌को पुकारने लगता है, कभी मधुर स्वरसे उनके गुणोका गान करने लगता है और कभी-कभी जब वह अपने प्रियतमको अपने नेत्राके सामने अनुभव करता है तो उन्हें रिझानेके लिये नृत्य भी करने लगता है। यह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र प्राणी दिशाएँ, वृक्ष, वनस्पति, नदी और समुद्र सब-के-सब भगवान्‌के ही शरीर हैं सभी रूपोमे स्वय भगवान् ही प्रकट हो रहे हैं—ऐसा समझकर वह जो कोई भी उसके सामने आ जाता है, चाहे वह प्राणी हा या अप्राणी उसे अनन्यभावसे--भगवद्भावसे प्रणाम करता है।*

ऐसा प्रेमी भक्त सर्वत्र और सर्वदा अपने प्रेमास्पद प्रभुके दर्शन करता है। ऐसे ही भक्तके लिये भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

यो मा पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याह न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६।३०)

अर्थात् जो सम्पूर्ण भूताम मुझ वासुदेवको व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं कभी ओझल नहीं होता तथा मेरे लिये वह कभी अदृश्य नहीं होता। मेरी कृपादृष्टिसे वह सर्वदा सुरक्षित रहता है।

सुप्रसिद्ध महात्मा दादूदयालजीके शिष्य भक्त-कवि सुन्दरदासजीने प्रेमाभक्तिका अत्यन्त सुन्दर और सजीव वर्णन करते हुए कहा है—

प्रेम लग्यो परमेस्वर सौ, तब भूलि गयो सब ही घरबारा।
ज्यौं उनमत्त फिरै जित ही तित, नैकु रही न सरीर सँभारा॥
साँस उसास उठै सब रोम, चलै दृग नीर अखडित धारा।
'सुदर' कौन करै नवधा बिधि, छाकि पर्‌यौ रस पी मतवारा॥

न लाज काँनि लोक की, न बेद को कह्यो करे।
न सक भूत प्रेत की, न देव यक्ष त डरे॥
सुनै न कौन और की, द्रसै न और इच्छना।
कहै न कछू और बात, भक्ति प्रेम लच्छना॥

यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और विलक्षण बात है कि प्रेमी भक्तका भगवान्‌के साथ दुतरफा रिश्ता है इकतरफा नहीं। भक्ति किस प्रकार की जाय, उसमे क्या विधि-निषेध पालन करन पडते हैं, इस विषयमे शास्त्रामे जितने विस्तारसे चर्चा की गयी है, भगवान्‌की तरफसे इसकी क्या प्रतिक्रिया होती है, उसका शास्त्रामे उतने विस्तारसे वर्णन नहीं मिलता है।

भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवजीसे कहा—

निरपेक्ष मुनि शान्त निर्वैर समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यह नित्य पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभि ॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।१६)

जिसे किसीकी अपेक्षा नहीं जो जगत्‌के चिन्तनसे सर्वथा उपरत होकर मेरे ही चिन्तन-मननमे तल्लीन रहता है और जो राग-द्वेष छोडकर सबके प्रति समान दृष्टि रखता है, उस महात्माके पीछे-पीछे मैं यह सोचकर निरन्तर घूमा करता हूँ कि उसके चरणोकी धूलि उडकर मेरे शरीरपर पडे और मैं पवित्र हो जाऊँ।

तीनो लोकोके स्वामी परब्रह्म परमात्माने अपने भक्तको कितना आदर दिया है, कितना प्यार और सम्मान दिया है यह सोचा भी नहीं जा सकता। वाह रे प्रभु!

---

* एवव्रत स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चै । हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्य ॥
ख वायुमग्नि सलिल महीं च ज्योतींपि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्। सरित्समुद्राश्च हरे शरीर यत् किञ्च भूत प्रणमेदनन्य ॥

(श्रीमद्भा० ११।२।४०-४१)

आपके प्रेमकी लीला अचिन्तनीय है—

चेष्टा विभूम्न खलु दुर्विभाव्या।

(श्रीमद्भा० ४। ११। १८)

कभी-कभी भक्त समझता है कि मैं ही भगवान्‌का ध्यान करता हूँ, परतु सच बात तो यह है कि भगवान् भी भक्तका ध्यान करते हैं। एक बार राजा युधिष्ठिरने देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण ध्यानम बैठे हुए हे। भगवान् जब ध्यानसे उठे तो युधिष्ठिरने उनसे पूछा—भगवन्! सारा ससार तो आपका ध्यान करता हे, परतु आप किसका ध्यान कर रहे थे? भगवान्‌ने उत्तर दिया—युधिष्ठिर! मैं शर-शय्यापर पडे हुए अपने भक्त भीष्मका ध्यान कर रहा था कि वे कैसे हैं?

इसलिये यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि भगवान्‌से हमारा रिश्ता दुतरफा है। हम उनका जिस प्रकार और जैसा ध्यान-भजन करते हैं, वैसा ही वे भी हमारा ध्यान-भजन करते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामे श्रीभगवान्‌ने कहा है—

ये यथा मा प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्या पार्थ सर्वश ॥

(४।११)

जो भक्त मुझे जिस प्रकारसे भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकारसे भजता हूँ (फल देता हूँ)। हे अर्जुन! किसी भी ओरसे मनुष्य अन्तमे मर ही मार्गमे आ मिलते हैं।

श्रीमद्भागवतके प्रारम्भम ही कहा गया है—

सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभि शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्॥

(१।१।२)

पुण्यात्मा पुरुप यदि इस श्रीमद्भागवतमहापुराणकी कथा सुननेकी इच्छा करे तो उसकी इस इच्छामात्रसे भगवान् श्रीकृष्ण उसके हृदयम बदी बनकर बैठ जाते हैं।

महान् प्रेमी भक्त, ज्ञानी सत कबीरदासजीने अपने स्वयके अनुभवको कितनी दृढतासे कहा है—

'आगे पीछे हरि फिरे कहत कबीर कबीर।'

जैसे कोई पिता अपने अत्यन्त प्रिय पुत्रके साथ आगे-पीछे चलकर उसको अत्यन्त प्यारसे पुकारता है वैसे ही कबीर साहब कहते हैं—मेरे 'पिव' मेरे साथ आगे-पीछे चलते रहते हैं और अत्यन्त प्रेमसे पुकारते हैं—बेटा कबीर! बेटा कबीर!

वस्तुत भगवान् तो भक्तके प्रेमके वशमे रहते हैं। बस, प्रेमसे उन्हे पुकारने उनका नित्य स्मरण रखने और उनके वियोगमे विकल रहनकी आवश्यकता है, उन्ह रीझते देर नहीं लगती, कोई पुकार करके तो देखे!

प्रेमतत्त्व-मीमांसा

(डॉ० श्रीकैलाशनाथजी द्विवेदी एम्०ए०, साहित्याचार्य साहित्यरत्न, पी-एच्०डी० डी०लिट्०)

पृथ्वीके प्रत्येक प्राणीम प्रेम प्रकृत्यैव परिलक्षित है। 'प्रेम' शब्दका अर्थ है—प्रीति, स्नेह अनुराग एव अनुग्रह आदि। वस्तुत प्रेम हृदयका एक मधुर भाव है जिसकी अभिव्यक्ति ओर प्रतीति जीवनमे हम प्राय पाते रहते हैं। जब कोई प्राणी किसीके विलक्षण लक्षणो गुणा या विशेपताओसे आकृष्ट अथवा प्रभावित होता है तो उसके प्रति प्रीति स्नेह अथवा आदरपूर्ण अनुरागकी स्वाभाविक उत्पत्ति हृदयमे हो जाती है।

आचार्य रूपगोस्वामीने इस प्रेम अथवा प्रीतिका लक्षण विविध रूपाम इस प्रकार निरूपित किया है—

(१) सम्भ्रमप्रेम—जब प्रभुताके ज्ञानके कारण चित्तमे आदरपूर्ण कम्प उत्पन्न होता है, तब इससे ऐक्यभावको प्राप्त प्रीति 'सम्भ्रम' कही जाती है—

सम्भ्रम प्रभुताज्ञानात्कम्पश्चेतसि सादर ।
अनेनैक्य गता प्रीति सम्भ्रमप्रीतिरुच्यते॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु पश्चिम २।४०)

(२) गौरवप्रेम—जब देह-सम्बन्धी मात्राओसे गुरुबुद्धि प्रेमपात्रसे तन्मय होकर गौरवमय प्रीतिका अनुभव करती है, तब उसे 'गौरवप्रीति' कहा जाता है—

देहसम्बन्धितामात्राद् गुरुधीरत्र गौरवम्॥
तन्मयी लालके प्रीतिर्गौरवप्रीतिरुच्यते।

(भक्तिरसामृतसिन्धु पश्चिम २।७६ ७७)

(३) प्रेमवैचित्त्य—जब प्रियके समीप रहते हुए प्रेमके उत्कपसे अपनेम वियोगबुद्धिद्वारा भ्रमसे पीडा होने लगती है तो उसे 'प्रेमवैचित्त्य' कहा जाता है—

प्रियस्य सन्निकर्षेऽपि प्रेमोत्कर्पस्वभावत ।
या विश्लेपधियार्तिस्तत् प्रेमवैचित्त्यमुच्यते॥

(उज्ज्वलनीलमणि शृङ्गारभेद १३४)

प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव क्रमश विकसित और परिपूर्ण होकर 'प्रेमाभक्ति'-कोटिम पहुँच जाते हैं। प्रेमके प्रादुर्भावके लिये साधकमे क्रमश श्रद्धा, सत्सग, भजनक्रिया, अनर्थनिवृत्ति, निष्ठा, रुचि, आसक्ति और भाव (श्रीकृष्णविषयक रति)-का परिपक्व होना परमावश्यक है। जैसा कि कहा गया है—

आदौ श्रद्धा तत साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया।
ततोऽनर्थनिवृत्ति स्यात् ततो निष्ठा रुचिस्तत ॥
अथासक्तिस्ततो भावस्तत प्रमाऽभ्युदञ्चति।
साधकानामय प्रेम्ण प्रादुर्भावे भवेत् क्रम ॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु पूर्व० ४।६-७)

प्रेमकी अभिव्यक्तिम स्तम्भ, कम्प, स्वेद, वैवर्ण्य अश्रु, स्वरभङ्ग, पुलक और प्रलय-जेसे सात्त्विक विकार स्वाभाविकरूपसे प्राय परिलक्षित होते हैं—

स्तम्भ स्वेदोऽथ रोमाञ्च स्वरभङ्गोऽथ वेपथु ॥
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका स्मृता ।

(साहित्यदर्पण ३।१३५-१३६)

प्रेमसम्पुटकारने प्रेमतत्त्वको कामतत्त्वसे अभिन्न माना है, क्याकि इसकी प्रतीति कभी-कभी बाह्य विकारोसे ही परिलक्षित हाती है। कलावान् श्रीकृष्ण इससे आनन्दित होते हैं। किसी-किसी जनमे यह प्रेम-सा ही दृष्टिगत होता है। जैसा कि कहा गया है—

प्रेमा हि काम इव भाति बहि कदाचि-
त्तेनामित प्रियतम सुखमेव विन्देत्।
प्रेमैव कुत्रचिद् वेक्ष्यत एव काम
कृष्णस्तु तत् परिचिनोति बलात् कलावान्॥

(प्रेमसम्पुट ५८)

कविकुलगुरु कालिदासने प्रेमको भावरूपमे स्थिर जन्म-जन्मान्तरका सौहार्द बताया है, जो अनजाने ही कभी रम्यरूप और मधुर शब्दो (सगीत)-को सुनकर जाग्रत् हो जाता है तथा उसकी स्मृति आ जाती है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुराश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तु ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्व
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥

(अभिज्ञानशाकुन्तलम् ५।२)

वस्तुत चित्त ही प्राणियोके जन्मान्तरके अर्जित प्रेमको जानता है और पहचान लेता है। जैसा कि 'कथासरित्सागर' मे कहा गया है—'चित्त जानाति जन्तूना प्रेम जन्मान्तरार्जितम्॥'

इस लेखकको इस तथ्यका साक्षात् दृष्ट अनुभव है, जिसने पडियासहित एक नयी दुधारू भैंस जिस गाँवसे खरीदी, वहाँसे भैंसक साथ एक कुतिया भी सहेली-सी चली आयी। बद बाडमे दिनमे खुले किवाड पाकर कुतिया भैंसके पास नित्य आकर बैठती, सूँघती, चाटती और प्रेम प्रकट करती। प्राय भगानेपर भी वहाँसे नहीं भागती। वह उस गाँवको भी नहीं लौटी, जहाँसे भैंसके साथ आयी थी। कुछ मासके बाद रातमे किसीने चारेमे विष डालकर भैंसको मार डाला। सद्य प्रसूता कुतिया अपने पिल्लोको छोडकर भैंसके शवविच्छदन-स्थलतक करुण चीत्कार करती गयी और उसने खाना-पीना भी बद कर दिया। दो दिन बाद प्रेमव्याकुल वह स्वय भी दिवगत हो गयी। इन दो भिन्न वर्गोके पशुओम परस्पर पूर्वजन्मका अनुराग भावरूपम स्थिर अवश्य रहा होगा, जिसमे स्वार्थ वासना लिप्सा आदि विकार हम नहीं पाते।

श्रीसीतारामके आदर्श अद्वैत दाम्पत्यप्रेमके माध्यमसे प्रेमकी अनिर्वचनीयता, व्यापकता और विलक्षणता भवभूति इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

अद्वैत सुखदु खयोरनुगुण सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रस ।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थित
भद्र प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येक हि तत्प्राप्यते॥

(उत्तररामचरितम् १।३९)

अर्थात् सुख-दु खमे, सभी अवस्थाओमे जो सच्चा प्रेम अद्वैत—एक-सा रहता है, जो हृदयका विश्राम है और वृद्धावस्थामें भी जो अनुराग कम नहीं होता, जिसका रस नष्ट नहीं होता। समय बीत जानेपर सकोच आदि आवरणके हट जानेसे प्रगाढ ओर प्रबल प्रेम स्थिर रहता है। ऐसे कल्याणकारी दाम्पत्य-प्रेमकी प्राप्ति सौभाग्यसे ही किसीको होती है।

हिन्दीके मध्ययुगीन भक्त कवियोने प्रेमतत्त्वकी स्वानुभूतिमयी सुन्दर मीमासा अपनी सीधी-सपाट भाषामे की है जिनम गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास, सत कबीर दादूदयाल, रैदास मीरा, रज्जबके अतिरिक्त प्रेममार्गी (सूफी) सत कवि जायसी कुतुबन, मझन आदि विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं। इन भक्त कवियोने प्रेमको परमात्मस्वरूप,

अतिव्यापक, अलौकिक ओर अद्वैत बताया। यथा—

प्रेम हरी कौ रूप है, त्यो हरि प्रेम सरूप।
एक होइ द्वै यौ लसै ज्यौं सूरज अरु धूप॥

प्रेम सहज (स्वाभाविक), अमूल्य और सर्वव्यापी है। स्वार्थरहित होकर त्याग (स्वत्व समर्पण)-की विशुद्ध भावनासे जो इसे ग्रहण करना चाहता है, वह इसे पा लेता है। जैसा कि कबीरने कहा है—

प्रेम न खेतौ नींपजै, प्रेम न हाट विकाइ।
राजा परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाइ॥

जिसे पाकर प्राणीको अन्य प्राप्तव्य अथवा काम्य नहीं रहता, वह परम पावन दो अक्षरोका प्रेम (प्रीति) ससारमे सर्वातिशायी होकर परम श्रेयस्कर हे—

जाको लहि कुछ लहन की चाह न हिय म होय।
जयति जगत पावा करन 'प्रेम' बरन यह दोय॥

वस्तुत *'ढाई अक्षर प्रेमका, पढै सुपडित होइ'* उक्तिके माध्यमसे ज्ञानकी अपेक्षा प्रेम और भक्तिकी श्रेष्ठता सभी सत कवियोने स्वीकार की है। इस निश्छल प्रेममार्गमे द्वैत नही, कुटिलता और विषमता नही है। द्विविधा छोडकर अकेले चलकर वृन्दावनकी साँकरी प्रेमगलीमे काँकरी गडनेका भी भय नही रहता, क्योकि *'प्रेम गली अति साँकरी, ता मै दो न समाहि॥'* हिन्दीके सुकवि घनानन्दने इस अद्वैतभावको इस प्रकार प्रभावीरूपम प्रकट किया हे—

अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलै तजि आपनपौ, झझकैं कपटी जे निसाँक नहीं॥
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ यहाँ एक तें दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन धौ पाटी पढे हौ कहौ मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥
(घनानँदकवित ८२)

मीन-जैसे जलचराम भी प्रेम प्रेरणामय प्राणाधाररूपमे परिलक्षित है। अटपटे प्रेमकी रीति एव चित्त-मनकी दशा सर्वथा अनिर्वचनीय है जिसमे अप्राप्ति और अतृप्तिसे अकुलाहट एव निपट निराशा है। घनानन्दके ही शब्दाम इस तथ्यको देखे—

हीन भएँ जल मीन अधीन कहा कछु मो अकुलानि-समानै।
नीर-सनेही कों लाय कलक, निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै॥
प्रीति की रीति सु क्यौं समुझै जड़ मीत के पानैं परे को प्रमानै।
या मन की जु दसा घनआनँद जीव की जीवनि जान ही जानै॥

पावन प्रेममग्न प्राणीका हृदय अपने प्रियतमके वियोगके कारण चिन्ता, उद्वेग, सताप, अश्रु, अनिद्रा आदिके द्वारा सरलतासे पहचाना जा सकता है। विरहव्यथित उस प्रेमिककी जीवनदशा बडी विचित्र और विषादजनक हो जाती है। यथा—

अतर उदेग-दाह, आँखिन प्रवाह-आँसू,
देखी अटपटी चाह भीजनि दहनि है।
सोइबो न जागिबो हो, हँसिबो न रोइबो हू,
खोय खोय आप ही मैं चेटक-लहनि है।
जान प्यारे प्राननि बसत पै अनदघन,
विरह विषम दसा मूक लौं कहनि है।
जीवन मरन जीव मीच बिना बन्यौ आय,
हाय कौन बिधि रची नेही की रहनि है॥

श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धम वर्णित लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके प्रति गोपियाका निश्छल प्रेम अलौकिक है। सखा उद्धवके माध्यमसे अपना प्रेमसन्देश भेजनेवाले श्रीकृष्णके प्रति प्रेम प्रकट करती विरहाकुल गोपियोंकी व्याकुलतापूर्ण अव्यक्त अभिव्यक्ति कवि 'रत्नाकर'के शब्दाम कितनी सशक्त एव सजीव लगती है—

बिरह बिथा की कथा अकथ अथाह महा,
कहत बनै न जो प्रवीन सुकवीन सौं।
कहै 'रत्नाकर' बुझावन लगे ज्यौं कान्ह
ऊधौ कौ कहन-हेत ब्रज-जुवतीन सौं।
गहबरि आयौ गरौ भभरि अचानक त्यौं,
प्रेम परयो चपल चुचाइ पुतरीन सौं।
नैकु कही बैननि अनेक कही नैननि सौं,
रही-सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं॥
(उद्धवशतक)

रासेश्वरी श्रीराधाका नि स्वार्थ त्यागमय पावन प्रेम विश्वबन्धुत्वके व्यापक विराट् क्षितिजको छू लेता है। व्रजसे चले जानेपर पुन प्रेमिक व्रजेश्वरके न लौटनेपर राधा अपना अनन्य अनुराग प्रियतम श्रीकृष्णके प्रति 'हरिऔध'के शब्दाम इस प्रकार व्यक्त करती हैं—

प्यारे जीवे जग हित करे गेह चाहे न आवे।
(प्रियप्रवास)

आज भौतिकताकी आँधीम हमारा अनास्थामय जीवन परस्पर अविश्वास, घृणा स्वार्थ असहिष्णुता आदि दुर्गुणासे

परिपूर्ण हो गया है। फलस्वरूप समाजम सर्वत्र हिसा और अशान्तिमय वातारण व्याप्त है। सामाजिक सम्बन्धामे सहजता, निश्छलता और मृदुलता लुप्तप्राय-सी हो गयी है। पूज्य गुरुजनाके प्रति श्रद्धा सम्मान, समवयस्क एव छाटाके प्रति प्रेम-स्नेह शनै -शनै समाप्त होता जा रहा है। सयुक्त परिवार विघटित होकर बिखर रहे हें। नित्यके कलह, लोभ और लिप्साने मधुर दाम्पत्यजीवन कटुतापूर्ण क्रोधरूपी सर्पदशसे विषाक्त होकर विच्छिन्न हो रहा है। ऐसी परिस्थितिमे लोकजीवनको पावन भगवद्भक्ति और प्रेमक प्रति आकर्षित करना, प्रीतिकी प्रतीति बढाना तथा अलौकिक अनुरागकी आस्था जाग्रत् करना अत्यन्त आवश्यक है।

वस्तुत व्यापक प्रेम धर्म, जाति, क्षेत्र, सम्प्रदाय आदिकी सकीर्ण सीमाआसे परे है। परस्परकी उदारता, त्याग, सहिष्णुता और समर्पणकी उदात्त मानवीय भावनासे ही जन-जनम प्रीति-प्रतीतिका प्रादुर्भाव होगा तथा नि स्वार्थ स्नेह-सद्भावसे परस्पर अविश्वास, अशान्ति एव वैमनस्य समाप्त होगा।

विश्वमैत्री, विश्वबन्धुत्व 'वसुधैव कुटुम्बकम्' एव 'विश्वमेक भवेन्नीडम्'—स्वरूपको पानेक लिये आतकवाद और उग्रवाद-जेसे हिस्र दुर्भावाको समाप्त करनेक लिये भगवद्भक्तिके साथ ही प्रेमतत्त्वको भी हमे हृदयङ्गम करते हुए इसका आचरण अवश्य करना चाहिये।

'प्रेम हरी कौ रूप है, त्यो हरि प्रेम सरूप'

(श्रीकृष्णानन्दजी जायसवाल)

भक्ति-काव्यका केन्द्रीय तत्त्व है—प्रेम।

प्रेम ही ईश्वर है और ईश्वर ही प्रेम है। यह प्रेम अवर्णनीय है तथा अपने अद्भुत आकर्षणम सबको बाँधे रहता है। जीवनको चमत्कृत किये रहता है। अपनी रहस्यमयतामे सबको मुग्ध करनेवाला यह प्रेमतत्त्व जिस प्राप्त है समझो उसे सब कुछ मिल गया है।

प्रेम अत्यन्त व्यापक वस्तु है—मनुष्यम ही नहीं, अपितु समस्त प्राणियाम इसका वास है। अच्छा लगना, आकर्षण महसूस करना निकटताकी कामना करना तथा वियोगमे और अधिक घनीभूत होना—प्रेमकी पहचान है।

मनुष्यके लिये आनन्दप्राप्तिके जितने भी साधन हैं, उनमे प्रेम श्रेष्ठतम है। इस आनन्दम चरम सतोष और तृप्ति होती है। प्रेम जीवनके उन क्षणाकी उपलब्धि है जहाँ सुख या आनन्द ही सब कुछ है। यह प्रेम वहाँ लालामय स्वरूप धारण कर लेता है और तत्र वह लीला साधन एव सिद्धि दोनो बन जाती है। वहाँ वियोगभाव भी उसी लीलाके अन्तर्गत होनेके कारण दु खद नहीं होता। वैसे भी सयोग और वियाग उसी प्रेम-आनन्दके अन्तर्गत हैं—प्रेम-लीलाके अश हैं।

कबीरदासजी बताते हैं कि मैं धूपम जल रहा था तो छायाके लिये मैंने पेडकी तरफ देखा। पेडसे छाह माँगी, पर पेडसे निकली ज्वाला। यह ज्वाला कहाँ, कैसे बुझेगी? जगलमे लगी आग बुझानेके लिये शीतल जलकी तलाशमे दौडता हूँ, किंतु जलसे भी आग ही निकले तो फिर कहाँ जाऊँ?

धूप दाह्य तें छाँह तकाई, मति तरवर सच पाऊँ।
तरवर माहै ज्वाला निकसै, तो क्या लेइ बुझाऊँ॥
जे बन जलै तो जलकू धावै मति सीतल जल होई।
जल ही माँहि अगनि जब निकसै और न दूजा कोई॥

सच तो यह है कि प्रेम और भक्तिकी प्राप्ति सहजता-उदारता तथा सात्त्विक विचाराके समन्वयसे ही सम्भव है। जब भगवान्‌के सहज स्वभाव और सभी प्राणियोमे भगवान्‌के अलोकिक गुणोकी अनुभूति तथा *'ईस्वर अस जीव अबिनासी'* का लक्ष्य रखा जाता है, तभी प्रेमका प्रादुर्भाव हो सकता है। नि सदह भक्ति और प्रेमकी एकरूपता प्रेममे ही पर्यवसित है।

अतिव्यापक, अलौकिक और अद्वैत बताया। यथा—

प्रेम हरी कौ रूप है, त्या हरि प्रेम सरूप।
एक होइ द्वै यौं लसैं ज्यौं सूरज अरु धूप॥

प्रेम सहज (स्वाभाविक), अमूल्य और सर्वव्यापी है। स्वार्थरहित होकर त्याग (स्वत्व समर्पण)-की विशुद्ध भावनासे जो इसे ग्रहण करना चाहता है, वह इसे पा लेता है। जैसा कि कबीरने कहा है—

प्रेम न खेता नींपजै प्रेम न हाट बिकाइ।
राजा परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाइ॥

जिसे पाकर प्राणीको अन्य प्राप्तव्य अथवा काम्य नहीं रहता, वह परम पावन दो अक्षराका प्रेम (प्रीति) ससारम सर्वातिशायी होकर परम श्रेयस्कर है—

जाको लहि कुछ लहन की चाह न हिय म होय।
जयति जगत पावन करन 'प्रेम' बरन यह दोय॥

वस्तुत *'ढाई अक्षर प्रेमका, पढ़ै सुपडित होइ'* उक्तिके माध्यमसे ज्ञानकी अपेक्षा प्रेम और भक्तिकी श्रेष्ठता सभी सत कवियोने स्वीकार की है। इस निश्छल प्रेममार्गमे द्वैत नही, कुटिलता और विषमता नही है। द्विविधा छोडकर अकेले चलकर वृन्दावनकी साँकरी प्रेमगलीमे काँकरी गडनेका भी भय नही रहता, क्योंकि *'प्रेम गली अति साँकरी, ता मै दो न समाहि॥'* हिन्दीके सुकवि घनानन्दने इस अद्वैतभावको इस प्रकार प्रभावीरूपम प्रकट किया है—

अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलै तजि आपनपौ, झझकैं कपटी जे निसाँक नहीं॥
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ यहाँ एक तेँ दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन धौ पाटी पढे हौ कहौ मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥
(घनानँदकवित्त ८२)

मीन-जैसे जलचराम भी प्रेम प्रेरणामय प्राणाधाररूपमे परिलक्षित है। अटपटे प्रेमकी रीति एव चित्त-मनकी दशा सर्वथा अनिर्वचनीय है, जिसमे अप्राप्ति और अतृप्तिसे अकुलाहट एव निपट निराशा है। घनानन्दके ही शब्दामे इस तथ्यको देखे—

हीन भएँ जल मीन अधीन कहा कछु मो अकुलानि-समानै।
नीर-सनेही कौं लाय कलक, निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै॥
प्रीति की रीति सु क्यौं समुझै जड़ मीत के पानैं परे को प्रमानै।
या की जु दसा घनआनँद जीव की जीवनि जान ही जानै॥

पावन प्रेममग्न प्राणीका हृदय अपने प्रियतमके वियोगके कारण चिन्ता, उद्वेग, सताप, अश्रु, अनिद्रा आदिके द्वारा सरलतासे पहचाना जा सकता है। विरहव्यथित उस प्रेमिककी जीवनदशा बडी विचित्र और विषादजनक हो जाती है। यथा—

अतर उदेग-दाह, आँखिन प्रवाह-आँसू,
देखी अटपटी चाह भीजनि दहनि है।
सोइया न जागियो हो, हँसियो न रोइयो हू,
खोय खोय आप ही मैं चेटक-लहनि है।
जान प्यारे प्राननि बसत पै अनदघन,
विरह विषम दसा मूक लौं कहनि है।
जीवन मरन, जीव मीच बिना बन्यौ आय,
हाय कौन *विधि* रची नेही की रहनि है॥

श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धम वर्णित लीलापुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके प्रति गोपियाका निश्छल प्रेम अलौकिक है। सखा उद्धवके माध्यमसे अपना प्रेमसन्देश भेजनेवाले श्रीकृष्णके प्रति प्रेम प्रकट करती विरहाकुल गोपियोकी व्याकुलतापूर्ण अव्यक्त अभिव्यक्ति कवि 'रत्नाकर'के शब्दोमे कितनी सशक्त एव सजीव लगती है—

बिरह बिथा की कथा अकथ अथाह महा,
कहत बनै न जो प्रवीन सुकबीन सौं।
कहै 'रत्नाकर' बुझावन लगे ज्यौं कान्ह
ऊधौ कौ कहन-हेत ब्रज-जुवतीन सौं।
गहबरि आयौ गरौ भभरि अचानक त्यौं,
प्रेम परयो चपल चुचाइ पुतरीन सौं।
नैकु कही बैननि, अनेक कही नैननि सौं,
रही-सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं॥
(उद्धवशतक)

रासेश्वरी श्रीराधाका नि स्वार्थ त्यागमय पावन प्रेम विश्वबन्धुत्वके व्यापक, विराट् क्षितिजको छू लेता है। व्रजसे चले जानेपर पुन प्रेमिक व्रजेश्वरके न लौटनेपर राधा अपना अनन्य अनुराग प्रियतम श्रीकृष्णके प्रति 'हरिऔध'के शब्दाम इस प्रकार व्यक्त करती हैं—

'प्यारे जीवे जग हित कर गेह चाहे न आवे।'
(प्रियप्रवास)

आज भौतिकताकी आँधीम हमारा अनास्थामय जीवन परस्पर अविश्वास घृणा स्वार्थ असहिष्णुता आदि दुर्गुणासे

परिपूर्ण हो गया है। फलस्वरूप समाजम सर्वत्र हिसा और अशान्तिमय वातारण व्याप्त है। सामाजिक सम्बन्धोमे सहजता, निश्छलता और मृदुलता लुप्तप्राय-सी हो गयी है। पूज्य गुरुजनाक प्रति श्रद्धा, सम्मान, समवयस्क एव छोटाके प्रति प्रेम-स्नह शनै -शनै समाप्त होता जा रहा है। सयुक्त परिवार विघटित होकर बिखर रहे हैं। नित्यके कलह, लोभ और लिप्सासे मधुर दाम्पत्यजीवन कटुतापूर्ण क्रोधरूपी सर्पदशसे विषाक्त होकर विच्छिन्न हो रहा है। ऐसी परिस्थितिम लोकजीवनको पावन भगवद्भक्ति और प्रेमके प्रति आकर्षित करना, प्रीतिकी प्रतीति बढाना तथा अलौकिक अनुरागकी आस्था जाग्रत् करना अत्यन्त आवश्यक है।

वस्तुत व्यापक प्रेम धर्म, जाति, क्षेत्र, सम्प्रदाय आदिकी सकीर्ण सीमाआसे परे है। परस्परकी उदारता त्याग, सहिष्णुता और समर्पणकी उदात्त मानवीय भावनासे ही जन-जनम प्रीति-प्रतीतिका प्रादुर्भाव हागा तथा नि स्वार्थ स्नेह-सद्भावसे परस्पर अविश्वास, अशान्ति एव वैमनस्य समाप्त होगा।

विश्वमैत्री, विश्वबन्धुत्व 'वसुधैव कुटुम्बकम्' एव 'विश्वमेक भवेन्नीडम्'—स्वरूपको पानेके लिये, आतकवाद और उग्रवाद-जैसे हिस्र दुर्भावाको समाप्त करनेके लिये भगवद्भक्तिके साथ ही प्रेमतत्त्वको भी हम हृदयङ्गम करते हुए इसका आचरण अवश्य करना चाहिये।

'प्रेम हरी कौ रूप है, त्यों हरि प्रेम सरूप'

(श्रीकृष्णानन्दजी जायसवाल)

भक्ति-काव्यका केन्द्रीय तत्त्व है—प्रेम।

प्रेम ही ईश्वर है और ईश्वर ही प्रेम है। यह प्रेम अवर्णनीय है तथा अपने अद्भुत आकर्षणमे सबको बाँधे रहता है। जीवनको चमत्कृत किये रहता है। अपनी रहस्यमयतासे सबको मुग्ध करनेवाला यह प्रेमतत्त्व जिसे प्राप्त है समझो उसे सब कुछ मिल गया है।

प्रेम अत्यन्त व्यापक वस्तु है—मनुष्यमे ही नहीं, अपितु समस्त प्राणियाम इसका वास है। अच्छा लगना, आकर्षण महसूस करना, निकटताकी कामना करना तथा वियोगमे और अधिक घनीभूत होना—प्रेमकी पहचान है।

मनुष्यके लिये आनन्दप्राप्तिके जितने भी साधन हैं, उनमे प्रेम श्रेष्ठतम है। इस आनन्दम चरम सतोष और तृप्ति होती है। प्रेम जीवनके उन क्षणोकी उपलब्धि है, जहाँ सुख या आनन्द ही सब कुछ है। यह प्रेम वहाँ लीलामय स्वरूप धारण कर लेता है और तब वह लीला साधन एव सिद्धि दोनो बन जाती है। वहाँ वियोगभाव भी उसी लीलाके अन्तर्गत होनेके कारण दु खद नहीं होता। वैसे भी सयोग और वियोग उसी प्रेम-आनन्दके अन्तर्गत हैं—प्रेम-लीलाके अश हैं।

कबीरदासजी बताते हैं कि मैं धूपम जल रहा था तो छायाके लिये मैंने पेडकी तरफ देखा। पेडसे छाह माँगी पर पेडसे निकली ज्वाला। यह ज्वाला कहाँ, कैसे बुझेगी? जगलमे लगी आग बुझानेके लिये शीतल जलकी तलाशमे दौडता हूँ, किंतु जलसे भी आग ही निकले तो फिर कहाँ जाऊँ?

धूप दाझ्या तें छाँह तकाई, मति तरवर सच पाऊँ।
तरवर माहे ज्वाला निकसै, तो क्या लेइ बुझाऊँ॥
जे बन जलै तो जलकूं धावै मति सीतल जल होई।
जल ही माँहि अगनि जब निकसै और न दूजा कोई॥

सच तो यह है कि प्रेम और भक्तिकी प्राप्ति सहजता-उदारता तथा सात्त्विक विचाराके समन्वयसे ही सम्भव है। जब भगवान्के सहज स्वभाव और सभी प्राणियामे भगवान्के अलौकिक गुणोकी अनुभूति तथा *'ईस्वर अस जीव अबिनासी'* का लक्ष्य रखा जाता है, तभी प्रेमका प्रादुर्भाव हो सकता है। नि सदेह भक्ति और प्रेमकी एकरूपता प्रेममे ही पर्यवसित है।

पञ्चम पुरुषार्थ भगवत्प्रेमकी अनिवार्यता

(महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीबजरङ्गबलीजी ब्रह्मचारी)

यह भारत-वसुन्धरा वह ऋतम्भरा एव विश्वम्भरा है जहाँ धनसे अधिक धर्मको, भोगसे अधिक योगको तथा साधना, आराधना ओर उपासनाके क्षेत्रमे भगवत्प्रेमको सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता है। यह भारतभूमि वह ज्ञानभूमि हे, जहाँके आप्तकाम, पूर्णकाम, परम निष्काम, अमलात्मा, शुद्धात्मा, महात्मा महामनीषियान अपने भगवत्प्रेम-समन्वित तत्त्वज्ञानसे सम्पूर्ण ससारका मार्गदर्शन, पथप्रदर्शन एव दिशा-निर्देशन किया है। इतना ही नहीं, यह वह धर्मभूमि ओर कर्मभूमि है, जहाँ भगवत्प्रेममय धर्म तथा भगवत्प्रेममय कर्मकी रक्षाके लिये अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक, परात्पर परब्रह्म, परमात्मा सर्वात्मा विश्वात्मा स्वय विविध रूप धारण कर इस भगवत्प्रेमके पथको प्रशस्त करनेके लिये उपस्थित होता है।

शास्त्राम सुख-शान्ति, गति-प्रगति-उन्नति, रति और विरति (निर्वेद)—इन सबके स्फुरण ओर जागरणका मूल कारण भगवत्प्रेमको ही माना गया है। इसीलिये अद्वैतवादी भगवान् आद्यशङ्कराचार्यने भी भगवत्प्रेमकी सार्थकता आर अनिवार्यताका पक्षपोषण करते हुए 'मोक्षकारणसामग्र्या भक्तिरेव गरीयसी' कहकर भगवत्प्रेमकी गरिमा-महिमा, सत्ता-महत्ता, उपयोगिता एव आवश्यकताको विशेषरूपसे स्वीकारा हे।

उनके मतानुसार इस भगवत्प्रेमका ऐसा प्रभाव हे कि मुक्तपुरुष भी भगवत्प्रेमका रसास्वादन और समास्वादन करनेके लिये लीलामात्रसे मनुष्यरूप धारण कर परमात्माका भजन करते हैं—'मुक्ता अपि लीलया विग्रह कृत्वा त भजन्ते'।

यही निर्मल विमल धवल और उज्ज्वल भगवत्प्रेम सबको भक्ति मुक्ति, शक्ति तथा शान्तिके सहित अक्षय आनन्दप्राप्तिकी राह दिखाता है। यह सत्य प्रेम ही लोगाको अनाचार, अत्याचार पापाचार और दुराचारसे दूर हटाकर सदाचार, सद्विचार समता तथा मानवताका पाठ पढाता है। यह दिव्य प्रेम ही हमे कर्मठता और कार्यकुशलताका मन्त्र सिखाता है। यह पावन प्रेम ही हमे देश, राष्ट्र और समाजके सर्वतोमुखी अभ्युदयके लिये सर्वस्व समर्पणकी प्रेरणा प्रदान करता है तथा यह अलौकिक प्रेम ही हमारे रहन-सहन आचार-विचार सयम-साधना भाषा-भाव सभ्यता-सस्कृतिको ऊर्ध्वमुखी एव ऊर्जावान् बनाता है।

सच्चे भगवत्प्रेमीको वडे-से-वडा प्रलोभन भी पथच्युत नहीं कर पाता। मृत्युकी भयावह विभीषिका भी उसे उसके लक्ष्यसे विचलित नहीं कर पाती। वह अपनी शास्त्रसम्मत भगवत्प्रेममयी रीति-नीति और विचार-व्यवहारम पूर्ण आस्थावान् बनकर अचल, अटल और आरूढ रहता है।

यह पञ्चम पुरुषार्थ भगवत्प्रेम ही धर्म अर्थ, काम और मोक्षरूपी पुरुषार्थ-चतुष्टयकी उपलब्धि और सिद्धिका हेतु है। इसलिये इसकी अनिवार्यता स्वत सिद्ध है।

अजन्माका जन्म लेना अव्यक्तका व्यक्तीकरण और निर्गुण-निराकार-निर्विकारका सगुण-साकार विग्रह धारण करना—ये सब इस भगवत्प्रेमके ऐसे चमत्कार हैं, जिन्हे श्रुतिया, स्मृतिया, पुराणा तथा काव्यग्रन्थाम अनेक प्रकारसे सविस्तार वताया गया हे।

यह भगवत्प्रेम ही भोगीको योगी, स्वार्थीको परमार्थी कृपणको उदार और नीरसको सरस बनाकर मानव-जीवनके चरम लक्ष्यका भी बोध बडी सरलता, सरसता और सुगमतासे करा देता है।

भगवत्प्रेमके अभावम न तो भगवत्कथाओका ही समुचितरूपसे रसास्वादन या समास्वादन किया जा सकता है और न इस मानव-जीवनको ही उन कोटि-काटि कन्दपदर्प-दलन नवजलधर श्यामसुन्दर अनन्त सौन्दर्यमाधुर्यामृतसार-सर्वस्व भुवनविमोहन भगवान्‌की रूपमाधुरीकी सरिताम अवगाहन कराकर सफल एव सार्थक बनाया जा सकता है।

यह भगवत्प्रेम ही द्वैती अद्वैती विशिष्टाद्वैती, विशुद्धाद्वैती द्वैताद्वैती आदि सभी पन्थानुयायियोको पुलकित प्रफुल्लित, हर्षित और आनन्दित कर उन सभीके जीवनको रसाप्लावित भावाप्लावित तथा करुणाप्लावित करके कृतकृत्यता, ज्ञातनातव्यता एव प्राप्तप्राप्तव्यताके शिखरपर पहुँचा देता है। इसीलिये शैव, शाक्त वेष्णव , कबीर, दादू, नानक आदि सभी पन्थावलम्बी इस भगवत्प्रेममे अहर्निश आकण्ठ समाहित रहनेकी कामना करते हैं।

उस अनन्तका अन्त कौन जान सकता है? उस अवाङ्मनसगाचरका वर्णन कैसे किया जा सकता है? उस 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' सर्वसमर्थको सर्वसुलभ और सर्वग्राह्य कैसे वनाया जा सकता है?

ये सभी प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाते, यह अद्भुत पहेली अज्ञात और अनबूझी ही बनी रहती यदि शास्त्रों और आचार्योंके द्वारा भगवत्प्रेमके रहस्यका समाधान प्रस्तुत न किया गया होता।

इस भगवत्प्रेमका सौन्दर्य-माधुर्य इतना अधिक है कि उस आनन्दका अनुभव बड़े-बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्र त्यागी-विरागी-वीतरागी सनकादि शुकादि नारदादिके लिये भी दुर्लभ माना जाता है।

जो सुख-सौभाग्य इन्द्रादिक, ब्रह्मादिक तथा सब प्रकारके अर्थ-अधिकारोंसे सम्पन्न देवताओंको भी सुलभ नहीं हो पाता, वह सुख शान्ति, भक्ति, अनुरक्ति, दिव्यानन्द और परमानन्द भगवत्प्रेमसे ओत-प्रोत प्रेमरसरसिक भगवत्प्रेम-पथके पथिकको सहजमें ही प्राप्त हो जाता है। तभी तो रसखान-जैसे भगवत्प्रेमियाने आठों सिद्धियों और नवों निधियोंका परित्याग करके भी भगवत्प्रेममें सदा-सर्वदा निमग्न रहनेका अपना अन्तर्भाव प्रकट किया है।

तत्त्वनिष्ठा और भगवत्प्रेमके सामञ्जस्यका अद्भुत उदाहरण हम अद्वैतसिद्धिके रचयिता श्रीमधुसूदन सरस्वतीके जीवनमें देखनेको मिलता है। भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनोंसे उनमें ऐसे अलौकिक तथा अद्वितीय भगवत्प्रेमका प्रादुर्भाव—प्राकट्य हुआ, जिसका वे स्वयं बड़ा मार्मिक चित्र प्रस्तुत करते हैं। यथा—

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्या
स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षा ।
शठेन केनापि वयं हठेन
दासीकृता गोपवधूविटेन॥

अर्थात् अद्वैत-मार्गपर चलनेवाले पथिकोंके आराध्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्र स्वाराज्यसिंहासनारूढ हम-जैसे आत्मज्ञानी तत्त्वज्ञानीको व्रजाङ्गनाओं एवं गोपाङ्गनाओंके प्रेमी किसी शठने बलात्-हठात् अपना दास बना लिया है अर्थात् हमें 'सोऽहम्' से 'दासोऽहम्' कहनेके लिये बाध्य कर दिया है।

इसके पश्चात् वे वेदान्तकेसरी भक्तिरसायनकी रचना करके श्रीकृष्णके भगवत्प्रेममें इतना ओत-प्रोत और रच-पच जाते हैं कि अब उनके मुखसे विवश होकर निम्नलिखित श्लोक बाहर आ जाता है—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभा-
त्पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रा-
त्कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

अर्थात् जिसके हाथोंमें वंशी सुशोभित है, जो नव-नील-नीरद सुन्दर है, पीताम्बर पहने है, जिसके ओठ बिम्बफलके समान लाल-लाल हैं। जिसका मुखमण्डल पूर्णचन्द्रके सदृश और जिसके नेत्र कमलवत् हैं, उस श्रीकृष्णसे परे कोई तत्त्व हो तो मैं उसे नहीं जानता।

प्रायः सभी प्रकारके ज्ञान-विज्ञान साधनाएँ-उपासनाएँ तथा सभी सत्कर्म एवं धर्मानुष्ठान इसी भगवत्प्रेमकी गलीसे होकर ही अपने गन्तव्यकी ओर आगे बढ़ते हैं। इसीलिये मानव-जीवनके सर्वतोमुखी त्राण-कल्याण अभ्युदय-उत्थान तथा विकास-प्रकाशका आधार इस भगवत्प्रेमको ही माना जाता है।

भगवत्प्रेमीका जीवन गङ्गाजलवत् पवित्र होता है। उसके रग-रगसे, रोम-रोमसे, अणु-परमाणुसे और श्वास-प्रश्वाससे दिग्दिगन्त सुवासित हो जाते हैं। उसके दिव्य जीवनसे लोकको एक नयी शिक्षा, नयी दीक्षा, नया उपदेश, नया आदेश, नया संदेश, नयी स्फुरणा, नयी प्रेरणा तथा नयी चेतना प्राप्त होती है।

जैसे अपार जलराशिवाला सिन्धु बिन्दु बनकर ही लोगोंकी पिपासा शान्त कर पाता है, जैसे सर्वव्यापी महाकाश घटाकाश या मठाकाश बनकर ही लोगोंको सुख-सुविधाएँ प्रदान करता है, उसी प्रकार वह सर्वाधिष्ठान, सर्वशक्तिमान्, स्वयं प्रकाशमान सर्वव्यापी, सर्वाधार, अनादि और अनन्त शुद्धबुद्ध-मुक्तस्वरूप परब्रह्म भी इस प्रेमसे प्रभावित होकर ही अपनी अघटित-घटनापटीयसी मायाशक्तिके द्वारा अनेक लोक-कल्याणकारी रूप धारण कर सबका योगक्षेम वहन करता है।

धन्य है वह देश, धन्य है वह प्रदेश, धन्य है वह धरती और धन्य है वह संस्कृति, जहाँ भगवत्प्रेमको ब्रह्मानन्द-सहोदर माना जाता है तथा पञ्चम पुरुषार्थके रूपमें आदरसहित जिसके सम्बन्धमें निम्नलिखित उद्गार प्रकट किया जाता है—

अहो चित्रमहो चित्रं वन्दे तत्प्रेमबन्धनम्।
यद्बद्धं मुक्तिदं मुक्तं ब्रह्मक्रीडामृगीकृतम्॥

तात्पर्य है कि कोई निर्गुण-निराकार-निर्विकार ब्रह्मको और कोई सगुण-साकार ब्रह्मको भजते हैं, किंतु मैं तो भगवत्प्रेमबन्धनको भजता हूँ, जिससे बँधकर अनन्त प्राणियोंको मुक्ति देनेवाला नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म स्वयं भगवत्प्रेमियोंके हाथका खिलौना बन जाता है।

भगवत्प्रेमका स्वरूप

(शास्त्रार्थ पञ्चानन पं० श्रीप्रेमाचार्यजी शास्त्री)

प्रेम भौतिक हो अथवा अभौतिक, उसे अनुभवैक-वेद्य ही माना गया है। उसे शब्दोंमें समेटकर व्यक्त कर पाना वैसा ही दुरूह कार्य है जैसा किसी गूँगेके लिये मधुर पदार्थको चख लेनेके बाद अपने अनुभूत आनन्दको वाणीद्वारा व्यक्त कर पाना। भक्ति एवं प्रेमके परमाचार्य महाभागवत देवर्षि नारदके—

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।

तथा

मूकास्वादनवत्।

—इन भक्तिसूत्रोंका यही स्वारस्य है। तथापि कतिपय बाह्य लक्षणों एवं आन्तर परिवर्तनोंको, अथ च प्रेमियोंके व्यवहारोंको आधार बनाकर सुधी आचार्योंने भौतिक तथा अभौतिक प्रेम-स्वरूपका विश्लेषण किया है और दोनोंका तारतम्य भी स्पष्ट किया है। यहाँ अभौतिक प्रेमसे हमारा अभिप्राय भगवत्प्रेम है और तदतिरिक्त वस्तुओंसे प्रेम भौतिक प्रेम-शब्दवाच्य समझना चाहिये।

हम कामिनी और काञ्चन आदि जागतिक पदार्थोंके प्रति उनके बाह्य आकार-प्रकार अथवा उनके अनुपम रूप किंवा उनकी व्यावहारिक उपयोगिताके आधारपर उनके प्रति आकर्षणका अनुभव करने लगते हैं और अहर्निश उन्हींके चिन्तनमें व्यग्र रहने लगते हैं। यह आकर्षण प्रारम्भमें इतना दुर्निवार होता है कि हमारा हृदय प्रबल मोहावेशसे भर जाता है। उस मोहपाशकी जकड़नसे स्वयंको मुक्त कर पाना हमारे लिये यदि असम्भव नहीं तो अशक्य अवश्य हो जाता है।

परंतु समस्त सांसारिक पदार्थ प्रकृतिजन्य होनेसे परिवर्तनशील एवं परिणामतः विनाशशील होते हैं तो फिर उनके प्रति हमारा प्रेम भी चिरस्थायी किंवा विकाररहित कैसे हो सकता है? अतः अपने प्रेमास्पद पदार्थमें परिवर्तनका आभास मिलते ही शारीरिक किंवा मानसिक स्तरपर पहुँचा हुआ भौतिकप्रेम आवेगशून्य होकर शनैः-शनैः क्षीण होने लग जाता है। अब पारस्परिक आत्मतुष्टिकी वह पहलेवाली गम्भीर भावना भी विलीन होने लगती है। भौतिक प्रेम अन्ततः अरुचिकर होते हुए अन्यमनस्कता एवं उपालम्भोंकी धूप-छाँवमें अपना वास्तविक स्वरूप विकृत कर लेता है। कारण बहुत स्पष्ट है, इस स्तरका प्रेम प्रायः प्रतिदानकी आकाङ्क्षा रखता है और समुचित प्रतिदान न मिलनेपर उसका कपूरकी भाँति शून्यमें विलीन हो जाना स्वाभाविक ही है।

भगवत्प्रेमका वैलक्षण्य

कामनाकी गन्धके सम्मिश्रणसे भौतिक प्रेम स्थायी आत्मतुष्टिका हेतु नहीं बन पाता है। ऐसी स्थितिमें परिच्छिन्न एवं नश्वर सांसारिक पदार्थोंसे विरत होकर अथवा कहिये एक सीमातक खिन्न होकर, भावुक साधक *'अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल'* की बारम्बार गुहार लगाता हुआ अपने परम आदर्श-आराध्य श्रीभगवान्‌की ओर उन्मुख होता है। प्राणोंके सम्पूर्ण वेगके साथ जीवात्माका परमात्माके प्रति यह सहज आकर्षण ही जो अवर्णनीय रूपमें मधुर, सूक्ष्म आनन्दोद्रेकसम्पन्न अथ च परम आत्मतृप्तिका मूल होता है, भगवत्प्रेमका द्योतक है। शुद्ध निरपेक्ष आत्मदान इसकी शैली है और एकत्व उसका ध्येय है। इसमें प्रतिदानकी कामनाका लेश भी नहीं रहता है। सर्वात्मभावेन श्रीभगवान्‌के प्रति सम्पूर्ण समर्पण ही इसमें लक्ष्य होता है।

भगवत्प्रेममें प्रत्यक्षतया आराध्य एवं आराधकका द्वैत दृष्टिगत होता है, परंतु जब वह प्रेम पराकोटिमें पहुँच जाता है तब दोनोंका भावाद्वैतमें अवस्थित हो जाना सहज हो जाता है। द्वैताद्वैतकी इस विलक्षण स्थितिको सर्वथा अनिर्वचनीय एवं स्वानुभवैकवेद्य कहा गया है। निर्विकार भावसे एकरसता तथा शाश्वतता भगवत्प्रेमके महनीय गुण हैं इसमें प्रायः सभी तत्त्वज्ञ एकमत हैं। इतना ही नहीं, इस अनिर्वचनीय परम प्रेमसे समुज्जृम्भित भक्तिके समक्ष ब्रह्मानन्द भी कोई मूल्य नहीं रखता ऐसा भी अनेक भावुक आचार्योंका अभिमत है—

ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत्परार्धगुणीकृतः॥
नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणुतुलामपि।

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

अथात् यदि ब्रह्मानन्दको परार्धगुणा कर लिया जाय तब भी वह भक्ति (प्रेम)-रसके सागरके एक परमाणुके बराबर भी आनन्ददायक नहीं हो पायगा।

भाव ओर प्रेम

कहा गया है कि सासारिक विषयाम आसक्त चञ्चल मनका निग्रह वैसा ही दुष्कर कर्म है जैसा वायुको रोक पाना। अनुभवशील आचार्योंका इस सदर्भम यह मत है कि मनको बलात् नहीं रोका जा सकता, प्रेमके बन्धनम बँधकर वह स्वय रुक जाता है। भमरको देखिये, सूखे काष्ठको भी काट देनेकी सामर्थ्य रखनेवाला वह अपने-आपको कमलकी कोमल पखुडियाके भीतर कैद किय रहता है। क्या भला? कवल प्रेमबन्धनके कारण। अन्यथा पखुडियाको काटकर वह कभी भी बाहर जा सकता है—

बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि प्रेमरज्जुकृतबन्धनमन्यत्।
दारुभेदनिपुणो हि षडङ्घ्रिर्निष्क्रियो भवति पङ्कजकोशे॥

इसलिय परमानन्दकन्द भगवान्‌के प्रेमका आस्वाद यदि मनको दे दिया जाय तो वह निश्चितरूपसे रुक जायगा और रुककर वहीं लीन भी हो जायगा, ऐसा बडे-बडे अनुभवी आचार्योंका अभिमत है। परतु किसीको बिना जाने उससे प्रेम हो ही नहीं सकता, इसलिय भगवान्‌का माहात्म्य जाने बिना उनसे भी प्रेम कैसे हो पायेगा? तो सर्वप्रथम भगवान्‌के माहात्म्यका ज्ञान नितान्त आवश्यक है। महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यजी-ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्यको इस प्रकार स्पष्ट किया है—

माहात्म्यज्ञानयुक्तस्तु सुदृढ सर्वतोऽधिक।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया साष्टर्यादि चान्यथा॥

अर्थात् भगवान्‌का माहात्म्य जानकर उनम सबसे अधिक दृढ प्रेम होना ही भक्ति है और उसीसे मुक्ति होती है। मुक्तिका इसके अतिरिक्त कोई और उपाय नहीं है।

इस जन्मम अथवा किसी पूर्व जन्मम भगवदनुरागी भक्तोके सगके फलस्वरूप सर्वप्रथम हृदयमे भगवन्निष्ठाका उदय होता है। निष्ठाका उदय होनेपर फिर शनै-शनै रुचिका आविर्भाव होता है। यह रुचि ही क्रमश आसक्तिम परिणत हो जाती है। गाढ आसक्तिका नाम ही भाव है, जिसे प्रेमकी प्रथमावस्था माना गया है। निष्कर्ष यह है कि भगवान्‌के दिव्य स्वरूप, अलौकिक सामर्थ्य, अप्रतिम सौन्दर्य, अनन्यसदृश ऐश्वर्य प्रभृति अनन्त गुणगणनिलयका माहात्म्य जान लेनेपर परमानन्दपरिप्लुत शुद्ध सत्वात्मिका चित्तवृत्ति ही भाव है। भगवान्‌को प्राप्त करनेकी तीव्र अभिलाषा उनकी सेवाकी उत्कट लालसा एव उनके सौहार्द-लाभकी प्रबल उत्कण्ठासे समुत्पन्न भाव चित्तको मसृण कर देते हैं। चित्तके सम्यक्‌रूपसे मसृण (द्रवीभावसम्पन्न) हो जानेपर आनन्दोद्रेकसे घनीभूत भाव ही परिणामत फिर प्रेमरूपम परिणत हो जाता है—

सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कित।
भाव स एव सान्द्रात्मा बुधै प्रेमा निगद्यते॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

यद्यपि भावुक साधकके मनके अनुसार भावोदयमे तारतम्यका होना स्वाभाविक ही है, परतु भगवत्प्रेममे सासारिक पदार्थोंसे विरति किवा नि स्पृहताकी भावना भावुक साधकमे निरन्तर जाग्रत् रहती है।

भगवत्प्रेमीका जीवन धन्य है

कभी पराई वस्तुपर मत ललचाओ चित्त। सोचो कभी न हरणकी बात अशुचि पर-वित्त॥
सदा पराई वस्तुको भारी विष-सम जान। बचे रहो उससे, सदा मृत्युदायिनी मान॥
नित्य तुम्हारे सुहृद जो सर्वेश्वर भगवान। स्वाभाविक सर्वज्ञ जो सर्वशक्ति-बलवान॥
उन प्रभूने कर दिया जो उचित समझ, सु-विधान। समुद करो स्वीकार सो मान सुमगल-खान॥
सस्पर्शज सब भोग है नहीं सिर्फ निस्सार। दु खयोनि बधन-जनक नरक-कष्ट-आगार॥
रहते इनसे, इसीसे, बुधजन सदा विरक्त। मधुकर ज्यो हरि-पद-कमल रहते जो अनुरक्त॥
भगवत्पद-रति-रँग रँगे मानव नित्य अनन्य। सहज भोग-उपरति-हृदय उनके जीवन धन्य॥

प्रेमकी भगवदीयता और भक्तनिष्ठता

(आचार्य श्रीरामनाथजी सुमन)

राष्ट्रकवि बाबू मैथिलीशरणजी गुप्तके शब्दोंमें—

दोनों ओर प्रेम पलता है।
सखि, पतंग भी जलता है हा! दीपक भी जलता है॥

प्रेमका सम्बन्ध भगवान् और भक्त दोनोंसे है। भगवान्का भक्तसे और भक्तका भगवान्से अटूट प्रेम होता है। अन्तर केवल इतना है कि भक्तके प्रति भगवान्का प्रेम आशीर्वादात्मक अथवा वरप्रदानात्मक होता है। जबकि भगवान्के प्रति भक्तका प्रेम श्रद्धामूलक अथवा भक्तिपरक रहता है। इस सम्बन्धमें कठोपनिषद्का कहना है—परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति लच्छेदार भाषामें प्रवचन करनेवाले, तर्कशक्तिका प्रयोग करके अपनी बुद्धिमत्ता प्रदर्शित करनेवाले अथवा बहुश्रुत होनेका दम्भ भरनेवाले प्रेमविहीन प्राणीको नहीं होती, प्रत्युत उस प्रेमीका वरण करके परमात्मा उसे ही अपने दर्शनोंसे लाभान्वित करते हैं जिसका प्रेम अनन्य होता है तथा प्रभुको पानेकी जिसमें उत्कट लालसा होती है। उपनिषद्के मूल वचन इस प्रकार हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥
(कठोपनिषद् १।२।२३)

ऐसे ही नररूप अर्जुनके प्रति नारायणस्वरूप श्रीकृष्णने अपने प्रेमका प्रदर्शन करते हुए कहा—'अर्जुन! तू मुझे बहुत अधिक प्रिय है। मैं तुझे गोपनीय-से-गोपनीय बात बता रहा हूँ। तेरे हितकी बात तुझसे मैं कहूँगा। तू मुझमें मन लगा, मेरा भक्त हो जा, मेरी पूजा कर और मुझे ही नमस्कार कर। ऐसा करके तू मुझे ही प्राप्त कर लेगा। तू मुझे बहुत प्रिय है इसलिये मैं सत्यप्रतिज्ञा कर रहा हूँ'—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
(गीता १८।६४-६५)

'इष्टोऽसि मे दृढम्' तथा 'प्रियोऽसि मे' भगवान्के ये वचन जहाँ अपने भक्तके प्रति प्रेमका परिचय दे रहे हैं वहीं भक्त अर्जुन भी विनम्रभावसे अपनी श्रद्धा-भक्तिमयी प्रेमभावनाका परिचय देनेमें पीछे नहीं रहता। श्रीमद्भगवद्गीताके एकादश अध्यायके ३८—४४ श्लोकोंमें जहाँ उसने पुराणपुरुष परमेश्वरकी आदिदेव, विश्वके परम निधान, वेत्ता, वेद्य, अनन्तरूप आदि शब्दोंमें महनीय महिमाका अद्भुत वर्णन किया है, वहीं मित्र मानकर की गयी अपनी धृष्टताकी भी क्षमा माँगनेमें कोई चूक नहीं की है। इतना ही क्या? जैसे कोई पिता पुत्रकी, मित्र मित्रकी और प्रेमी अपने प्रियकी त्रुटियोंकी ओर ध्यान न देकर उन्हें क्षमा कर देता है, वैसे ही आप भी मुझे क्षमा कर दें। यह कहकर भक्त अर्जुन भक्तिकी पराकाष्ठापर पहुँच जाता है। यह है प्रेमकी प्रकृष्ट भक्तनिष्ठता।

भक्तवत्सल भगवान् नृसिंह और भक्तप्रवर प्रह्लादके प्रेमका दिव्य वर्णन श्रीमद्भागवतमें देखनेको मिलता है। अनेकविध विपत्तियोंको सहकर भी भगवान्में अगाध श्रद्धाभक्तिमय प्रेम रखनेवाला प्रह्लाद अपने पिता हिरण्यकशिपुसे जब यह सुनता है कि मूढ! जिस मेरे क्रुद्ध होनेपर तीनों लोक अपने स्वामियोंसहित काँप जाते हैं, उस मेरी आज्ञाको किसके बलपर तू नहीं मान रहा? तो प्रह्लाद निःसंकोच कह देता है कि राजन्! मेरा और आपका ही वह बल नहीं संसारभरके बलशालियोंका भी वह परमेश्वर बल है, जिसका मुझे भरोसा है। यह पूछनेपर कि वह कहाँ रहता है, प्रह्लाद कहता है—वह सर्वत्र विद्यमान है। वह तेरा परमात्मा इस स्तम्भमें क्या नहीं दिखायी देता? अपने भक्तके कथनकी सत्यता और सर्वभूताधिवासको सिद्ध करनेके लिये सभामें ही स्तम्भमेंसे परमात्माका नृसिंहरूपमें अवतार भक्तके भगवत्प्रेमका ही परिचायक है—यह कहनेकी प्रेमी समाजके समक्ष कोई आवश्यकता नहीं—

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं
व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन्
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥
(श्रीमद्भा० ७।८।१८)

भक्त प्रह्लादकी निःस्वार्थ प्रेमप्रधान भगवद्भक्तिका उस समय विशेषरूपसे प्राकट्य होता है, जब भगवान् अपने कामपूरक रूपका परिचय देकर उससे वर माँगनेको कहते

हैं। प्रह्लाद स्पष्ट कह देता है कि भगवन्! अपनी भक्तिके बदले आपसे जो वर माँगता है वह भक्त नहीं, व्यापारी है—

यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्य स वै वणिक्॥

(श्रीमद्भा० ७।१०।४)

फिर भी हे वरप्रदान करनेवालोमें श्रेष्ठ प्रभो! यदि आप कामनाओंकी पूर्तिके हेतु वर देना ही चाहते हैं तो कृपया ऐसा वर दीजिये, जिससे हृदयमे कामनाओका उदय ही न हो—

यदि रासीश मे कामान् वरास्त्व वरदर्षभ।
कामाना हृद्यसरोह भवतस्तु वृणे वरम्॥

(श्रीमद्भा० ७।१०।७)

अपने प्रभुको किसी प्रकारका भी कष्ट न देना प्रेमी भक्तका ही लक्षण है।

निशाचरवशमे जन्म लेकर भी भगवान् श्रीरामको अपना आराध्य माननेवाला प्रभु-प्रेमी भक्त विभीषण भगवान्के उन वरेण्य भक्ताम उत्तम श्रेणीमे गिना जाता है, जिन्हे प्रेमी भक्तसमाज अपना आदर्श मानता है। भक्तप्रवर गोस्वामी तुलसीदासजीने—*'नाम बिभीषन जेहि जग जाना। बिष्नुभगत बिग्यान निधाना॥'* विभीषणको विष्णुभक्त कहकर उसके जन्मका वर्णन किया है। इतना ही नहीं, बडे भाई रावणको कल्याणका मार्ग बताते हुए वह श्रीरामकी भगवत्तासे भलीभाँति परिचित रहकर कहता है—

तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेस्वर कालहु कर काला॥
ब्रह्म अनामय अज भगवता। ब्यापक अजित अनादि अनता॥

(रा०च०मा० ५।३९।१-२)

यही कारण है कि वह अपने कुलकी रक्षा तथा बडे भाईकी मङ्गलकामनाके लिये विनम्र होकर प्रार्थना करता है—

देहु नाथ प्रभु कहुँ बैदेही। भजहु राम बिनु हेतु सनेही॥

(रा०च०मा० ५।३९।६)

रावणसे अपमानित होकर विभीषण प्रभुप्रेमपराधीन होकर श्रीरामकी ही शरणमे जाकर अपनी दीनता और उनकी दयालुताका बखान करने लगता है—

नाथ दसानन कर मैं भ्राता। निसिचर बस जनम सुरत्राता॥
सहज पापप्रिय तामस देहा। जथा उलूकहि तम पर नेहा॥
श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥

(रा०च०मा० ५।४५।७-८ ५।४५)

भक्तकी भगवान्के प्रति ऐसी प्रेमभावना अन्यत्र कहाँ मिलेगी? कहीं नहीं। भगवान् श्रीराम भी विभीषणके दीनवचन सुनकर उसे हृदयसे लगाकर लङ्केश्वर कहकर, सपरिवार-कुशलमङ्गल पूछकर अपनी प्रेमभावनाका परिचय-देनेमे सकोच नहीं करते। इतना ही नहीं, किसी कविने तो भगवान् श्रीरामकी भगवत्ता और प्रेमपरिपूर्णताका परिचय देते समय लक्ष्मण-मूर्च्छाके समय श्रीरामके मुखसे कहलाया है कि मुझे तातकी, माताकी, सीताकी तथा अयोध्याके राज्यपरित्यागकी इतनी चिन्ता नहीं जितनी विभीषणको दिये गये राजतिलककी है। लक्ष्मण! तुम्हारे बिना यह चिन्ता कैसे दूर होगी?

ह्वैहै कहा बिभीषन की गति रही सोच भरि छाती॥

भगवान् एव भक्तके इस अनूठे प्रेमका उदाहरण भारतीय सस्कृतिके अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं मिल पायेगा। धन्य है यह सस्कृति!

वैवस्वत मनुके पुत्र नभगके पुत्र नाभागके आत्मज प्रभुप्रेमी भक्त अम्बरीषका आख्यान भगवान् और भक्तके आत्यन्तिक प्रेमका अनूठा उदाहरण है। सप्तद्वीपा पृथ्वीका एकच्छत्र शासन, अक्षय राजलक्ष्मी, अनुपम वैभव तथा सर्वाङ्गसम्पन्न परिवारसुख पाकर भी अम्बरीष दारा-सुतबन्धुयुक्त कुटुम्ब ही नहीं, अक्षयरत्नराशिमण्डित कोषागारको भी स्वप्नकी भाँति मिथ्या मानकर प्रभुके प्रेममे ही आस्था बना लेता है। प्रेमभावसे प्रसन्न होकर भगवान् उसे अपना सुदर्शनचक्र सभी बाधाओके शमनहेतु प्रदान करते हैं। साधु-महात्माओ तथा पुण्यशील ब्राह्मणोकी सेवा-शुश्रूषा करनेवाला प्रेमी भक्त एकादशीव्रतके उपरान्त पारणाके लिये प्रवृत्त होनेवाला ही है कि स्वभावसे नितान्त क्रोधी मुनि दुर्वासा अतिथिरूपमे वहाँ उपस्थित हो जाते हैं। वे स्नानादि नित्यकर्मसे निवृत्त होनेके लिये यमुना चले जाते हैं। पारणाका समय बीतता जानकर अम्बरीष जल पीकर पारणा कर लेते हैं। यमुनासे लौटनेपर मुनिराजको जब अम्बरीषके जल पी लेनेका पता चलता है तो वे क्रुद्ध होकर अपनी एक जटा उखाडकर कालाग्निसदृश कृत्याका निर्माण करते हैं। भक्तवत्सल भगवान्का सुदर्शनचक्र उस कृत्याका सहार कर देता है। अपने प्रयत्नको निष्फल देखकर दुर्वासामुनि वहाँसे भाग निकलते हैं। ब्रह्माजी एव शकरभगवान्के पास जानेपर

भी चक्र उनका पीछा नहीं छोडता। अन्तम भगवान् विष्णुके समीप जाकर वे अपनी रक्षाकी प्रार्थना करते हैं। भगवान्‌के ये शब्द कितने मर्मस्पर्शी तथा प्रभावोत्पादक हैं—

अह भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रिय ॥
साधवो हृदय मह्य साधूना हृदय त्वहम्।
मदन्यत् ते न जानन्ति नाह तेभ्यो मनागपि॥

(श्रीमद्भा० ९।४।६३ ६८)

अर्थात् 'हे मुनिवर! मैं भक्तोके अधीन होनेसे स्वतन्त्र नहीं हूँ। प्रेमी भक्तजन मुझसे इतना प्यार करते हैं कि मेरा हृदय उनके अधीन हे। साधु पुरुष अपना हृदय मरे लिये और में अपना हृदय उनके लिये दिये हुए हूँ। वे मेरे अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं जानते और मैं उनके अतिरिक्त तनिक भी कुछ नहीं जानता। इसलिये तुम प्रेमी भक्त अम्बरीषके पास ही जाओ, वहीं तुम्हे शान्ति मिलेगी।' सब ओरसे निराश होकर दुर्वासाजी वापस लौटकर भक्तराज अम्बरीषके चरण पकड लेते है। प्रार्थना किये जानेपर सुदशनचक्र शान्त होता है। दुर्वासामुनि भक्त अम्बरीषकी प्रशसा करते हुए ब्रह्मलोकको प्रस्थान करते है। धन्य है भगवान् और भक्तकी परस्पर प्रेमभावना तथा प्रीतिका अनुपम निदर्शन।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका एक दोहा बहुत प्रसिद्ध है—

जेहि सरीर रति राम सा सोइ आदरहिं सुजान।
रुद्रदेह तजि नेहबस बानर भे हनुमान॥

(दोहावली १४२)

अर्थात् जिस शरीरका श्रीरामसे प्रेम होता है सज्जन उस शरीरका बहुत आदर करते हैं। यही कारण है कि भगवान् शङ्करजीने अपना शरीर छोडकर हनुमान्—वानरका रूप धारण कर लिया। श्रीरामसे प्रेम करनेवाले वानररूप हनुमान्‌का आज भी बडा आदर होता है। वस्तुत भगवान् श्रीराम और उनके प्रिय भक्त हनुमान्‌के इस युगलमे जो परस्पर प्रीति है, उसकी ससारमे कोई तुलना नहीं। हनुमान्‌जीके उपकारको भगवान् नहीं भूलते और हनुमान्‌जी अपने सभी दिव्य भव्य क्रियाकलापका एकमात्र कारण प्रभुके प्रतापको मानते हैं। प्रेमकी भगवदीयता एव भक्तनिष्ठाका एक उदाहरण देखिये—लङ्कादहनके उपरान्त भगवती जानकीजीकी वेदनाका वृत्त सुनकर प्रभु कह रहे हैं—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन म नाहीं। देखउँ करि विचार मन माहीं॥
पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता॥

(रा०च०मा० ५।३२।५–८)

आदिकवि वाल्मीकिन भी भगवान् श्रीरामके मुखसे कहलाया है—

मदङ्गे जीर्णता यातु यत्त्वयापकृत कपे।
नर प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥

हे हनुमन्! जो उपकार तुमने मुझपर किया है, मैं उसे अपने शरीरके साथ ले जाना चाहता हूँ, क्योकि आपत्ति आनेपर ही प्रत्युपकाराकी पात्रता प्राप्त हाती है। मैं नहीं चाहूँगा कि तुमपर कभी काई आपत्ति पडे।

प्रेमकी भगवदीयताके उपरान्त प्रेमकी भक्तनिष्ठा देखे—भगवान्‌के यह पूछनेपर कि रावणपालित लङ्काका तुमने कैसे जलाया?

हनुमान्‌जी कहते हैं कि प्रभो—

नाघि सिधु हाटकपुर जारा। निसिचर गन बधि बिपिन उजारा॥
सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछू मोरि प्रभुताई॥

(रा०च०मा० ५।३३।८-९)

समुद्रका लाँघना, लङ्काका जलाना, राक्षसोका मारना और अशोकवाटिका उजाडना आदि कर्म मैंने अपनी शक्तिके सहार नहीं किय। यह सब आपका ही प्रताप है। यह है प्रेमकी भक्तनिष्ठाका अनुपम आदर्श।

इस प्रकार विविध दृष्टान्ताके माध्यमस हम नि सकोच यह कह सकते हैं कि भगवान्‌का प्रेम भक्तमे अटूट रूपसे रहता हे। भगवान् भक्तके अधीन रहकर *'हम भगतनके भगत हमारे'* सूक्तिको सदा चरितार्थ करते हैं और भक्त भी भगवान्‌को ही अपना जीवन-सर्वस्व मानकर अनन्यभावसे उनकी आराधना करनेम अपनी इतिकर्तव्यता मानता है। भक्तकी दीनता और भगवान्‌की दयालुता सदा-सर्वदा बनी रहती है। प्रेमकी भगवदीयता और भक्तनिष्ठा सर्वथा अक्षुण्ण है।

भगवत्प्रेमकी महत्ता

(डॉ० श्रीराजीवजी प्रचण्डिया, बी०एस्-सी० एल्-एल्०बी०, एम्०ए०, पी-एच्० डी०)

प्रेम मानव-जीवनका स्वभाव है। यह स्वभाव जबतक अविद्यासे आवृत है, तबतक घृणा और द्वेषसे व्याप्त रहता है। आज सम्पूर्ण विश्वम द्वन्द्व तथा द्वेषकी जो अग्नि प्रज्वलित है उसका मूल कारण है कि मनुष्य स्वसुखवाञ्छाम निमग्न है और अपने शुद्ध प्रेमरूपको भूल गया है, किंतु सैद्धान्तिकरूपसे यह सत्य है कि मानव-जीवनमे प्रेमकी सत्ता शाश्वत है। जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त मानव प्रेमपाशम बँधा हुआ है। मनुष्य जब जन्म लेता है तो सर्वप्रथम वह माके सम्पर्कमे आता है, तदुपरान्त शनै -शनै अवस्थाके साथ-साथ वह ससारके अन्य लोगोसे भी जुडता जाता है। उसका यह जुडाव (लगाव) या रागात्मक सम्बन्ध एक प्रकारसे इन लोगोके प्रति प्रेम ही है, किंतु जब उसम ज्ञान-विवेकके अङ्कुर फूटने लगते हैं, सत्-असत्, हित-अहित और सार-नि सारका नीर-क्षीरवत् विवेक उद्भूत होने लगता है तो अन्तत जगत् उसे नश्वर प्रतीत होने लगता है तथा ईश्वर-प्रेमके प्रति उसकी आस्था जग उठती है। उसका लगाव जगत्के व्यामोहसे हटकर ईश्वरपर केन्द्रित हो जाता है।

इस प्रकार प्रेमके दो रूप होते हैं—१-लौकिक प्रेम और २-अलौकिक प्रेम। लौकिक प्रेम ससारी मनुष्योका परस्पर-प्रेम है, अहकार एव स्वार्थसे आबद्ध आकर्षण है, जबकि अलाकिक प्रेम भक्तद्वारा ईश्वरस किया गया परिष्कृत, निर्मल तथा विशुद्ध प्रेम हे, दिव्य आकर्षण है। यानी भक्त अपने आराध्य या भगवान्से प्रेम करनेमे जब प्रवृत्त होता है, तब उसका प्रेम अलोकिक या दिव्य हो जाता है। अलौकिक या दिव्य प्रेम ही भगवत्प्रेम है। इस भगवत्प्रेममे भगवान्के प्रति जो अनुरक्ति है उसमे पूज्य भावना होती है। उसम लौकिक प्रेमकी तरह क्षुद्र वासना नहीं, परिष्कृत साधनाकी प्रधानता रहती है। चेतनाके शुद्ध एव अपरिवर्तित भाव विद्यमान रहते हैं। उसम श्रद्धा, प्रेम इत्यादि कई चित्तवृत्तियोका सयोग होता है। वास्तवम भगवत्प्रेम परम प्रेमरूप ओर अमृतस्वरूप है, जिसे प्राप्तकर मनुष्य सिद्ध अमर तथा तृप्त हो जाता है। यथा—

'यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति॥' (नारदभक्तिसूत्र ४)।

भगवत्प्रेममे मनुष्य भगवान्के साथ तादात्म्य अर्थात् व्यक्तिगत प्रिय सम्बन्ध स्थापित करनेका परम पुरुषार्थ करता है। वह भगवान्के प्रेमम इतना सराबोर हो जाता है कि जगत्के सारे क्रिया-कलाप उसे सुहाते ही नहीं। उसकी चित्तवृत्तियाँ प्रभुके प्रेममे समा जाती हें। उसे ऐसा प्रतीत होन लगता है कि प्रभु मेरे रोम-रोमम समा गये हैं, घट-घट, कण-कणमे बसे हुए हें। ईशावास्योपनिषद्का वह मन्त्र उसे अनुभूत होने लगता है, जिसमे कहा गया है कि जगत्म जो भी है, सब ईश्वरसे भरा हुआ है। कोई चीज ईश्वरसे रिक्त नहीं हे। ससारमे केवल उसीकी सत्ता है, वही एक मालिक है। मेरा तो कुछ भी नहीं है, जो कुछ है वह सब ईश्वरका ही है। यथा—

ईशा वास्यमिदः सर्वं यत् किञ्च जगत्या जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्य स्विद् धनम्॥

भगवत्प्रेममे लीन रहनेवालेकी स्थिति तो मीराबाईकी तरह हो जाती है। मीरा भगवान् श्रीकृष्णके प्रेममे इतनी डूब जाती है कि वह जगत्के प्रत्येक पदार्थमे, चर-अचर समस्त प्राणियाम भगवान्की ही छवि निहारती हे। वह केवल एक ही राग अलापती हुई दिखायी देती है—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई॥

प्रभुके प्रति उसका विश्वास, श्रद्धा, समर्पण और प्रेम-भक्ति-साधना इतनी सघन तथा अटूट है कि विष भी अमृत बन जाता है। जो निश्छल, नि स्वार्थ और निष्कामभावसे सहजरूपमे अपना तन, मन धन एव बुद्धि अर्थात् सर्वस्व प्रभुपर न्योछावर कर देता है, प्रभु भी अपनी लीलाओसे दर्शन देकर उसे भावविभोर कर देते हैं। भक्त प्रभुकी असीम अलौकिक शक्तियो और चमत्कारिक लीलाओसे ज्यो-ज्यो प्रभावित होता जाता है, त्यो-त्या भक्तका प्रभुके प्रति आकर्षण बढता जाता हे। उसका यह बढता हुआ आकर्षण भगवत्प्रेममे प्रगाढता लाता है। श्रीमद्भागवत

(३।२९।१५—१९)-मे यह स्पष्ट उल्लेख है कि 'निष्काम-भावसे अपने नित्य-नैमित्तिक कर्मोका पालन कर हिसारहित पूजा-अर्चा आदि अनुष्ठान करनेवाले भक्त पुरुषका चित्त अत्यन्त शुद्ध होकर मेरे गुणाके श्रवणमात्रसे ही मुझमे लीन हो जाता है।'

भगवत्प्रेम कोई साधारण प्रेम नहीं है। वह एक प्रकारका अलोकिक प्रेम हे, क्योकि उस प्रेममे मनुष्यके मनका मैल पूर्णत मिट जाता है, चित्तकी शुद्धि हो जाती है। उसके सारे राग, आकर्षण तथा विकर्षण सब ओरसे खिचकर प्रभुपर ही केन्द्रित हो जाते हैं। भक्तकी दृष्टि विराट् हो जाती है। उसे यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रभु-ही-प्रभु दृष्टिगोचर होने लगते हैं। उसमे भावात्मक शक्ति इतनी प्रबल और जटिल हो जाती है कि वह अपने आराध्यपर अपना अधिकार समझने लगता है। इसी भावावेशमे वह अपने प्रभुको अनेक उलाहने भी देने लगता है, पर उसके उलाहनोमे भी प्रेम समाया रहता है। प्रभु-प्रेममें कोई किसी भी प्रकारका न स्वार्थ होता है ओर न लाग-लपेट। सारी वक्रताएँ विलीन हो जाती हैं और सरलता-सहजता विस्तार पा जाती है। मन और वाणी कर्मणा एकरूप हो जाते हें। भक्तका अन्तरङ्ग निर्मल हो जाता है। निर्मल मनवाला ही प्रभुसे शुद्ध प्रेम कर सकता है तथा प्रभुका सानिध्य पा सकता है। प्रभुसे किया गया प्रेम भक्तको परम शान्ति एव विश्रान्ति तो दिलाता ही है, साथ-ही-साथ गूँगेके स्वादकी भाँति अनिर्वचनीय आनन्दकी अनुभूति भी कराता है।

भगवत्प्रेमकी साधना जितनी सरल है उतनी ही कठिन हे। कठिन इसलिये कि भगवान् और भक्तके बीचमे जो दीवार है वह दीवार मायाकी है। मनुष्य जगत्से इतना सश्लिष्ट हे कि मायाको त्यागना उसके लिये सहज और सरल नहीं है तथा मायाको त्यागे बिना वह प्रभुतक केसे पहुँचे? इसलिये भगवत्प्रेमकी साधना जीवनसे मायाको हटानेकी एक प्रक्रिया है। मायाके हटते ही सारे भेद अभेदमय हो जाते हें। जब सारे भेद अभेदमे परिणत हो जाते हें तब भक्तमे श्रद्धा एव समर्पणकी स्थिति बनती है। कुम्भके बाहर और भीतरका जल तभीतक भिन्नता लिये हुए है, जबतक कुम्भकी दीवार टूट नहीं जाती। इसके टूटते ही सारा जल एक हो जाता है, फिर कहीं कोई भिन्नता नहीं दिखायी देती।

मनुष्य-मनुष्यमे जो भिन्नता आज दिखायी दे रही है, उसका मूल कारण है मायाका जीवनसे जुडना। माया जीवनसे कैसे हटे? इसके लिये कहा गया है कि मनुष्य सबसे पहले अहका त्याग करे। यही भक्तको भगवत्प्रेमसे रोकता है। यह उसके प्रेममे सबसे बडी बाधा उत्पन्न करता है। समस्त विकारो और अज्ञानताकी जड यह अहकार ही है। इसके वशीभूत मनुष्यको 'मैं' की प्रतीति तो रहती है, किंतु भगवान्‌के यथार्थरूपसे वह सर्वथा वञ्चित रहता है। जिसके कारण उसे भगवान्‌का साक्षात्कार, सानिध्य तथा तादात्म्यकी अनुभूति नहीं हो पाती।

अहकारके विसर्जनसे मनुष्यमे मार्दव परिव्याप्त हो जाता है। मार्दवकी प्रकृष्टता ही भक्तको भगवत्प्रेमकी ओर आकृष्ट करती हे। भगवत्प्रेमकी साधनामे मनुष्य सर्वप्रथम मोह-मायासे मुख मोडता है। सहज स्थितिमे आनेका उपक्रम करता है, क्योकि जो जितना सहज—ऋजु होता है, वह उतना ही प्रभुके सन्निकट होता है। भगवत्प्रेममे सहजता है सरलता है और आर्जव-मार्दवकी चरम स्थिति है। कहीं कोई बाँकपन नहीं कपट नहीं छल नहीं और काम क्रोध घृणा द्वेष, लोभ मोह एव अहकार आदि विकार भी नहीं हैं।

भगवत्प्रेमकी साधनासे मनुष्य एक ओर जहाँ अपनी आत्माका उत्थान कर प्रभुका अभिदर्शन करते हुए सामीप्य पाता है तो दूसरी ओर उसे अनगिनत लोकिक, अलौकिक, मानसिक शारीरिक, ऋद्धियाँ सिद्धियाँ और शक्तियाँ स्वत प्राप्त हो जाती हें जिसकी उसे किञ्चित् भी चाह नहीं होती ये सब उसके लिये निष्प्रयोजन ही होती हें।

वास्तवमे भगवत्प्रेमकी साधनासे बढकर और कोई साधना नहीं है। यह जीवनकी सबसे बडी साधना है, जो भक्तको ससाररूपी अरण्यमे भटकनेसे रोकती है। यह वह ज्योतिष्पुञ्ज है जो भक्तको भव्यता और दिव्यता प्रदान करता है।

भगवत्प्रेमका वास्तविक रूप

(श्रीरघुनन्दनप्रसाद सिंह)

यथार्थ प्रेमका स्वरूप, अपने प्रेमपात्रकी निर्हेतुक सेवामे प्रवृत्त हा जाना है, जैसे उसके निमित्त कष्ट सहना, परम इष्ट पदार्थका भी त्याग करना और सतत परिश्रम करना आदि। किंतु ये सब इस भावसे करना कि कष्टके बदले परम आनन्दका अनुभव हो। इस परम त्यागका उद्देश्य प्रेमपात्रकी तुष्टि अथवा प्रीति प्राप्त करना भी नहीं रहता, क्योकि ऐसा होनेसे भी स्वार्थ आ जाता है। वस्तुत प्रेम-यज्ञम प्रमिकको दनमे ही प्रसन्नता होती है, वह प्रेमपात्रसे बदलेमे कदापि कुछ नहीं चाहता। प्रेमपात्रसे कुछ भी मिलनेकी आशा रखनेपर प्रेमका लोप हो जाता हे ओर वह खरीद-बिक्रीका व्यापार बन जाता है। श्रीशङ्कराचार्यजीने गीताके भाष्यम ठीक लिखा है कि भक्तको केवल ईश्वरार्थ ही कर्म करना चाहिये, स्व-प्रीत्यर्थ नहीं।

युधिष्ठिरने द्रौपदीसे वनवासम ठीक ही कहा था कि मैं भगवान्से कोई प्रार्थना करना नहीं चाहता, क्याकि ऐसा करना वाणिज्यपन है। 'तत्त्वचिन्तामणि'* के श्रद्धेय लेखकने ठीक लिखा है कि 'यदि श्रीभगवान् कुछ देना चाह तो उसको भी स्वीकार नहीं करना चाहिये' और यदि यह बोध भी हो जाय कि न स्वीकार करनेसे श्रीभगवान् अप्रसन्न हो जायँगे तथापि स्वीकार करना ठीक नहीं। क्योकि प्रमका उद्देश्य भगवान्की प्रसन्नता प्राप्त करना नहीं, बल्कि नि स्वार्थ सेवा करना है और प्रेमम नि स्वार्थ सेवाका सम्पादन ही परम फल है, अन्य कुछ नहीं। नि स्वार्थ सेवाके निमित्त त्याग करनेसे ही भगवान्की प्रसन्नता और उसके उद्देश्यकी पूर्ति हो जाती है उसे इस सेवाके सिवा अन्य कुछ भी गरज नहीं रहती।

सासारिक व्यवहारमे भी देखा जाता हे कि प्राय माता अपने पुत्रके लिये मित्र मित्रके लिये तथा पतिव्रता स्त्री अपने पतिके कारण ऐसा त्याग करती हे, जिससे त्यागकर्ताका सिवा त्यागके कोई लाभ नहीं तथापि ऐसा त्याग, प्रेमके कारण सहर्ष किया जाता है। इस प्रकार सासारिक भावाम भी नि स्वार्थ त्याग कवल शुद्ध तथा निर्हेतुक प्रेमके कारण देखा जाता है, तब जगदाधार जगत्पालक श्रीभगवान्क निमित्त नि स्वार्थ प्रेम करना ता प्रत्येक जीवात्माका परम कतव्य ओर धर्म है। श्रीभगवान् अपने आदि सकल्प 'एकोऽह बहु स्याम्' की पूर्तिके लिये अपनी अपरिच्छिन्नताको मायासे बद्ध करके परिच्छिन्न बन नामरूपात्मक जगत्में आविर्भूत होकर उसके आधार और पालक बनते हैं तथा अपनेको नाना अशोंमें विभक्त कर जीवात्माका उद्भव करते हैं।

ऐसा करनेका मुख्य उद्देश्य यह है कि जीवात्मा उनके दिव्य गुण ऐश्वर्य शक्ति और सामर्थ्यको प्रकृतिका पराभव करके अपनेमे प्रकाशित करे। श्रीभगवान्को प्रकृतिके साथ युद्धम जीवात्माको विजयी बनानेके लिय—सिवा लोक-हितके इस ससारके उद्भवके अतिरिक्त कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं करना है। श्रीभगवान् प्रत्येक मनुष्यके हृदयमे बन्दीकी भाँति वास करते हैं, जिसम जीवात्मा उनकी अनुमतिको जानकर उनकी शक्तिके द्वारा जीवनम युद्ध करे और मायाके बन्धनसे मुक्त होकर ईश्वरीय दिव्य गुणोकी प्राप्ति करे। इस लोकहित सकल्पकी पूर्तिम जब बहुत बडी बाधा आ पडती है तो श्रीभगवान् अवतार लेकर इस मर्त्यलोकमे प्रकट होनेका कष्ट और त्याग सहर्ष स्वीकार करते हैं, ऐसे परम दयालु परमात्माके निमित्त यदि नि स्वार्थ प्रेम-यज्ञ नहीं किया जाय और उलटा उनके सकल्पकी पूर्तिमे बाधा डालनेका कार्य किया जाय ता इससे अधिक निन्दनीय और जघन्य दूसरा कौन-सा कर्म हो सकता है? श्रीभगवान्के इस आदि सकल्पकी पूर्तिम स्वार्थ-साधन, अहङ्कार, ममत्व और विषय-लिप्साका व्यवहार परम बाधक है। श्रीभगवान्के परम त्याग एव कारुणिकताका विचार कर उनपर प्रेम रखते हुए उनके निमित्त नि स्वार्थ त्याग ही सबके लिये परम श्रेयस्कर है।

अब विचारणीय यह है कि जीवात्मा यदि मोक्षके समान उत्तम स्वार्थभाव भी नहीं रखे तो उसके जीवन और कर्मका क्या उद्देश्य होना चाहिय? उत्तर यह है कि प्रेमके नाते श्रीभगवान्की सेवा करना ही उसका एकमात्र उद्देश्य होना चाहिये तथा वह सेवा भी नि स्वार्थ और निरहङ्कार होनी चाहिय क्योंकि किसी उच्चस्वार्थका भी लश होनेसे वह प्रेम-सेवा न होकर स्वार्थ-सेवा हो जायगी। ऐसे प्रमिकको प्रत्येक भावना वचन और कमका उद्देश्य अपने निमित्त कुछ भी पानेका न होकर केवल श्रीभगवान्के

* तत्त्वचिन्तामणि' गीताप्रेस गोरखपुरसे प्राप्य है।

निमित्त सेवा करना रहता है।

जिस कर्मका उद्देश्य अपने निमित्त कुछ पाना है चाहे वह प्राप्ति परम शुद्ध ही क्या न हो, वह कर्म उसका अपना हो जाता है। उस कर्मको ईश्वरकी सेवा कदापि नहीं कह सकते। इस प्रकार सिद्धिकी इच्छा, पुण्य-प्राप्तिकी इच्छा वैकुण्ठवासकी इच्छा और भगवान्के दर्शनकी इच्छातकका स्वार्थ—कामनाके अन्तर्गत है तथा इनके निमित्त जो कर्म किये जाते हैं, वे बहुत ही उच्च और उत्तम होनेपर भी जीवात्माके अपने निमित्त कर्म हैं, वे भगवान्के निमित्त नहीं कहे जा सकते और न इस प्रकारकी सेवा ही भगवत्सेवा कहला सकती है। उपर्युक्त उद्देश्यसे जो त्याग किये जाते हैं, कष्ट सहे जाते हैं एव अध्यवसाय किये जाते हैं वे सब परमोच्च स्वार्थ हैं, पर निर्हेतुक भगवत्सेवा नहीं। इनके फलस्वरूप सिद्धि, यश और पार्थिव ऐश्वर्य मिलगे, भगवद्दर्शन भी होगे, किंतु भगवत्प्रेम या यथार्थ भक्तिका प्राप्त होना कठिन है। जब यथार्थ भक्ति ही नहीं तो यथार्थ भगवत्प्राप्ति कहाँ? भक्ति बाजारमे बिकनेवाली वस्तु नहीं है, जिसको साधनारूपी कीमत देकर खरीद लिया जाय।

अतएव साधनाका एक उद्देश्य यह है कि साधक साधना करते-करते थककर जब समझ जाय कि उसकी साधनाद्वारा—चाहे वह परम कठिन और दीर्घव्यापी ही क्यो न हो—भगवत्प्राप्ति न होगी तथा ऐसा समझकर जब एकमात्र श्रीभगवान्पर भरोसा कर नि स्वार्थ सेवा करना प्रारम्भ करे एव किसी बातकी इच्छा न रखे, तभी श्रीभगवान्की कृपा होती है, जिससे वह कृतकृत्य हो जाता है। अतएव ऐसा सोचकर जप करना कि इतने जपसे और इस प्रकारकी साधनासे भगवद्दर्शन होगे, यथार्थ भगवत्सेवा नहीं है तथा उसके कारण यदि कोई दर्शन भी मिले तो वह साधनाकी कीमत है, भगवत्प्रसाद नहीं। इसमे न वास्तविक भक्ति है न प्रेम, क्योकि जिस साधनके फलस्वरूप दर्शन मिले उसका उद्देश्य स्वार्थ था, वह भगवदर्थ नहीं किया गया था। श्रीमद्भागवतमहापुराणका वचन है—

> सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
> दीयमान न गृह्णन्ति बिना मत्सेवन जना ॥
> (३।२९।१३)

श्रीभगवान्का वचन है कि 'मैं सालोक्य-मुक्ति, सार्ष्टि-मुक्ति, सामीप्य-मुक्ति, सारूप्य-मुक्ति तथा एकत्व-मुक्ति भी देता हूँ, तथापि मेरे प्रियजन मेरी सेवाको छोडकर मेरी दी हुई किसी मुक्तिको भी अङ्गीकार नहीं करते।' जब बिना माँगे एकत्व-मुक्ति मिलनेपर भी भक्त उसको स्वीकार नहीं करते तो वे अपनी सेवाका उद्देश्य भगवद्दर्शन ही क्या रखेगे? एक यथार्थ भक्तकी उक्ति है कि 'श्रीभगवान् यह भी नहीं जान कि मैं उनकी सेवा-भक्ति करता हूँ।' भाव बहुत ठीक है।

अर्जुन तो प्राय श्रीभगवान्के साथ ही रहते थे, किंतु एक सङ्ग रहनेपर भी गीतोपदेशके पहले उनको यथार्थ ज्ञान और भक्तिकी प्राप्ति नहीं हुई। अब प्रश्न यह है कि कौन-सी यथार्थ भगवत्सेवा है? इसका उत्तर स्पष्ट है कि जिस कार्यमे प्रभु नियुक्त हो उसी कार्यमे सेवकको भी योग देना यथार्थ सेवा है। श्रीभगवान् ससारके हितके निमित्त धर्मके प्रचार और अधर्मके ह्रास करनेके कार्यमे नियुक्त हैं (गीता ४।७-८)। क्योंकि सर्वात्मा होनेके कारण प्राणियोका दु ख उनका दु ख और सुख उनका सुख है, अतएव जो पराये दु ख-सुखको अपना मान (गीता ६।३२) भगवन्नाम-प्रचार आदिद्वारा धर्म-प्रचार तथा अधर्मके ह्रासमे भगवत्सेवाकी भाँति श्रीभगवान्की शक्तिका आश्रय करके निरहङ्कार होकर नियुक्त हैं वे ही यथार्थ सेवक हैं। भक्तको अपने लिये तो कुछ नहीं चाहिये, किंतु उन्हे ससारके दु सह कष्टको अपना मान उसके ह्रासके यत्नमे सदा प्रवृत्त रहना चाहिये। इस भावका परमोत्तम प्रमाण श्रीप्रह्लादजीकी उक्ति है—

> 'नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्या-
> स्त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्त ।
> शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ-
> मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान्॥
> प्रायेण देव मुनय स्वविमुक्तिकामा
> मौन चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठा ।
> नैतान्विहाय कृपणान्विमुमुक्ष एको
> नान्य त्वदस्य शरण भ्रमतोऽनुपश्ये॥
> (श्रीमद्भा० ७।९।४३ ४४)

हे भगवन्! मुझे वैतरणी आदि नरककी यातनाका भय नहीं है, क्योकि मेरा चित्त तुम्हारे परम चरित्रके अनुशीलनमे मग्न है, किंतु मुझको उन अज्ञानी लोगोके लिये सोच है जो तुमसे विमुख होकर इन्द्रियोके सुखमे लिप्त रहनेके कारण पापका बोझा ढोते हैं। बडे-बडे देवता और मुनि लोग प्राय अपनी मुक्तिकी चिन्तामे निमग्न रहते हैं, दूसरेकी भलाईकी परवा नहीं करते। जगलमे चले जाते हैं और किसीसे नहीं बोलते। किंतु जो तुमसे विमुख दीन हैं, उनको त्यागकर मैं केवल अपनी मुक्ति नहीं चाहता, क्योकि तुम्हारी शरण आये बिना ससृतिमे भ्रमण करनेवालोके कल्याणका कोई अन्य उपाय नहीं है।

श्रीभगवान्की सेवाका ठीक आदर्श श्रीप्रह्लादके वचनमे है। श्रीप्रह्लादजीके कथनानुसार यथार्थ भक्त वही है, जो अपनी मुक्तिकी इच्छा अथवा अपने लिये कुछ पानेकी इच्छा कदापि न रखकर ससारके दीनजनोके दु खको अपना दु ख मान स्तुति, जप स्मरण ध्यान, योग, यज्ञ और व्रत आदि जो कुछ भी करे, उनका उद्देश्य केवल यही हो कि जनसमूह भगवद्विमुख होनेके बदले ईश्वरोन्मुख हो जाय जिससे उनका दु ख छूटे और यथार्थ कल्याण हो। यही भक्तके जीवनका एकमात्र मुख्य उद्देश्य है और यही नि स्वार्थ प्रेम-सेवा है जो स्वय श्रीभगवान्का कार्य है।
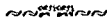
प्रेमतत्त्व-मीमांसा

(आचार्य श्रीआद्याचरणजी झा)

प्रेमैव माऽस्तु यदि चेत् पथिकेन नैव
तत्रापि चेद् गुणवता न सम कदापि।
तत्रापि चेद् भवतु माऽस्तु कदापि भङ्ग
भङ्गश्च चेद् भवतु वश्यमवश्यमायु ॥

उपर्युक्त श्लोकमे रहस्यमय 'प्रेम' की चरमोत्कर्षता व्यक्त की गयी है। कवि कहता है कि 'प्रेम' करो ही नहीं—हो ही नहीं। यदि हो ही जाय तो पथिकसे प्रेम मत करो और यदि यह भी हो जाय तो गुणी पथिकसे प्रेम मत करो तथा यदि गुणवान् पथिकसे प्रेम हो जाय तो वह कदापि टूटे नहीं भङ्ग नहीं हो एव यदि भङ्ग होनेकी स्थिति आ जाय तो आपकी अपनी आयु आपकी वशवर्तिनी (मुट्ठीमे) हो।

तात्पर्य यह है कि प्रेम तो केवल एकपक्षीय भगवान्से ही होता है, किया जाता है और किया जाना चाहिये। यही परिपूर्ण प्रेम है। लौकिक प्रेम तो लोकवत् क्षणभङ्गुर है, अशाश्वत है अनित्य है। भगवत्प्रेम नित्य, शाश्वत अनुदिन प्रवर्धमान है। फिर भी यदि सयोगवश किसीसे लौकिक प्रेम हो ही जाय तो पथिकसे मत करो क्योकि हम सभी पथिक हैं और अपनी ट्रेनकी प्रतीक्षामे ससाररूपी प्रतीक्षालयमे बैठे हुए हैं। जिसके आवागमनमे क्षणमात्र भी आगे-पीछे नहीं होता है।

यदि गुणवान्, पथिक और प्रेम—ये तीनो एकत्र हो ही जायँ तो वह भङ्ग नहीं हो, टूटे नहीं। यदि भङ्ग होने, टूटनेकी स्थिति आ ही जाय तो अपनी आयु आपके वश (मुट्ठी)-मे होनी चाहिये। रहस्य यह कि प्रेम टूटनेसे पहले आप स्वत स्वेच्छासे प्राण-त्याग कर ले।

प्रेमकी व्युत्पत्ति—'प्रियस्य भाव प्रेम' (पुँल्लिङ्ग, नपुसक) उभय लिङ्गी। प्रिय शब्दसे 'पृथ्वादिभ्य इमनिच्' (पाणिनि सूत्र ५।१।१२२)-मे 'इमनिच्' प्रत्यय तथा 'प्रिय स्थिरेति ' (पा० सूत्र ६।४।१५७)-से प्रियको 'प्र' आदेश और आद्गुण (पा० सू०)-से गुण करके 'प्रेम' शब्द बनता है। इसका अर्थ है सौहार्द, स्नेह भक्ति तथा सर्वस्व समर्पण आदि। इसीका पर्यायवाची शब्द है 'प्रेमा'। यह 'इमनिच्' या 'मनिन्' प्रत्ययसे बनता है। इसका प्रयोग प्रधानत पुँल्लिङ्गमे 'प्रेमा' 'प्रेमाणौ' 'प्रेमाण ' रूप बनता है।

'प्रेम' शब्दका प्रयोग—रस-सिद्धान्तके विलक्षण ग्रन्थ 'उज्ज्वलनीलमणि' मे प्रेमाभक्तिके आचार्य रूपगोस्वामी भक्तिरसको ही रसराज सिद्ध करते हुए स्थायिभाव-प्रकरणमे 'प्रेमा' का परिभाषित करते हुए कहते हैं—

सर्वथा ध्वसरहित सत्यपि ध्वसकारणे।
यद्भावबन्धन यूनो स प्रेमा परिकीर्तित ॥
विलम्बादिभिरज्ञातचित्तवृत्तौ प्रिये जन॥
इतर क्लेशकारी य स प्रेमा प्रौढ उच्यते।

(५७ ६०-६१)

तात्पर्य यह है कि प्रेमके ध्वस होनेके कारणोके रहते हुए भी जो ध्वस—नष्ट नहीं हो, वही प्रेम (प्रमा) अविनाशी है तथा प्रियजनके विलम्ब आदिसे अज्ञात चित्तम अन्य कोई बात क्लेशदायी हो, उसे 'प्रौढ-प्रेमा' अर्थात् प्रगाढ प्रेम कहा जाता है। उस तादात्म्यचित्त-वृत्तिम विषयान्तरका प्रवेश भी सम्भव नहीं है, क्योकि वहाँ तो प्रेम-प्रेमी-प्रेमास्पदाम साधारणीकरण हो चुका है।

शब्दब्रह्म—इसी प्रेमस्वरूप ब्रह्म-विद्या-क्रमम महावैयाकरण भर्तृहरिने 'वाक्यपदीयम्' म कहा है—

इदमाद्य पदस्थान सिद्धिसोपानपर्वणाम्।
इय सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धति ॥

अर्थात् यह शब्द ब्रह्म ॐकार ही सिद्धमार्गक सोपानकी पहली सीढी है और यही वाक्-वाणी-ब्राह्मी मोक्षकामियोका सरल राजमार्ग है।

हिन्दी-व्रजभाषा आदिमें प्रेम-प्रयोग—चन्द्र-चकोर, चाँद-कुमुदिनी सूर्य-कमल आदि प्रेमके शतश उदाहरण प्रत्यक्ष हैं। सूफी कवियासे लेकर भक्तिकालीन तथा आधुनिक हिन्दीक कवियो और अन्य मैथिली, बँगला तमिल तेलुगु प्रभृति भाषाओके लेखकोने प्रेमको अलौकिक सिद्ध किया है। प्रेमका प्रतिदान शीश—मस्तकदान है। सोना-हीरा उसका मूल्य नहीं है। यहाँ कुछ उद्धरण दिये जा रहे हैं—

(१) यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुइँ धरै, तब पैठे घर माहिं॥

(२) अलौकिक प्रेमके सम्बन्धमे रसखानजीकी इस एक पक्तिकी तुलना तथा व्याख्या क्या सम्भव है?

ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछियाभरि छाछ पै नाच नचावैं॥

(३) भक्तशिरोमणि बिन्दुजी महाराजका कहना है—

परम प्रेम के पाले पड़कर प्रभु का नियम बदलते देखा।

(४) मैथिलकोकिल महाकवि विद्यापतिके गोपी-कृष्णके प्रेम-सम्बन्धी शृङ्गार कितने रहस्यपूर्ण और प्रेममय हैं, इसके उदाहरणक रूपम केवल दो पद्यारा इस प्रकार हैं—

(१) लोचन धाए फधायेल हरि नहिं आयल रे।
शिव शिव जिवओ न जाए आस अरुझाएल रे॥

[राधाजी कहतीं हैं]—अपलक नेत्रास देखते-देखते आँख चौंधिया गयीं हरि आय नहीं, हे शिव! हे शिव!! मैं तो जिऊँगी नहीं, परतु मेरा प्रम कहाँ जायगा?

(२) सुतलि छलहुँ हम घरवा रे गरवा मोतिहार।
राति जखनि भिनुसरुवा रे पिया आएल हमार॥
कर कौसल कर कपइत रे हरवा उर टार।
कर पकज उर थपइत रे मुख घद निहार॥
केहिन अभागिलि बैरिन रे भागलि मोर निन्द।
भल कए नहिं देख पाओल रे गुनमय गोबिन्द॥
विद्यापति कवि गाओल रे धनि मन धरु धीर।
समय पाए तरुवर फर रे कतबो सिचु नीर॥

उक्त शृङ्गाररस-परिपूर्ण पदका अन्तिमाश मोक्षमार्गका प्रदर्शक है, क्योकि मेरे प्रिय भोर होनेके समय स्वप्नम आये और भोरका स्वप्न सच होता है, ऐसा शास्त्रीय विचार है। सहसा उस प्रेमिका गोपीकी अभागिनी वैरिन नींद टूट गयी और अच्छी तरह गुण परिपूरित 'गोविन्द' परमात्माको वह देख नहीं सकी। यहाँ विद्यापतिजी कहते हैं कि हे धन्ये! मनम धैर्य रखो कितना भी सिञ्चन करो वृक्षमे फल समयपर ही होगा।

यहाँ रहस्य यह है कि आत्मा-परमात्माके मिलनरूपी मोक्षके अवसरम कुछ देर है। धैर्य रखो और प्रेम-रससे सींचते रहो। समय आ रहा है, फल मिलेगा।

(५) श्रीमद्भगवद्गीताक अध्याय दसके प्रथम श्लोकमे—

'यत्तेऽह प्रीयमाणाय' तथा इसी अध्यायक दसवे श्लोकमे 'भजता प्रीतिपूर्वकम्' 'प्रीयमाणाय'—'प्रेमास्पदाय' तथा 'प्रीतिपूर्वकम्',—'प्रेमपूर्वकम्' कहकर प्रेमाभक्तिका स्पष्ट दिग्दर्शन किया गया है।

(६) समग्र श्रीमद्भागवत प्रेमभावाभिव्यक्तिमय है। उसम भी 'दशम स्कन्ध' विश्ववाङ्मयका अद्वितीय कथानक है, उसम भी 'भ्रमरगीत' अद्वितीय है। उसीमसे केवल दो दिव्य प्रेमप्रसूनोंको उद्धृत किया जा रहा है—

अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनाऽऽस्ते
स्मरति स पितृगेहान् सौम्य बन्धूंश्च गोपान्।
क्वचिदपि स कथा न किङ्करीणां गृणीते
भुजमगुरुसुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु॥
क उत्सहेत सन्त्यक्तुमुत्तमश्लोकसंविदम्।
अनिच्छतोऽपि यस्य श्रीरङ्गान्न च्यवते क्वचित्॥*

(श्रीमद्भा० १०।४७।२१ ४८)

प्रेमके वशीभूत गोपियाँ कृष्णके समान काले रंगवाले और उनके पीत उत्तरीय वस्त्रके समान चिह्नवाले भौंरेसे पूछती हैं कि आर्यपुत्र कृष्ण क्या अभी मधुपुरमें हैं? क्या अपने पैतृक गृह गोकुल और अपने प्रिय बन्धु गोपगणोंका स्मरण करते हैं? क्या वे कभी अपनी दासियों (हमलोगों)-का स्मरण करते हैं? वे अपनी भुजाओंके अगरकी सुगन्ध हमारे मस्तकोंपर कब रखेंगे, इन सबकी याद उन्हें आती है क्या?

रोम-रोममें कृष्णसे रमी कृष्णमय गोपियाँ यह भूल गयी हैं कि वे एक कीट-पतंग—भ्रमरसे बात कर रही हैं। यहाँ एकान्त वेद्यान्तर स्पर्शशून्य ब्रह्मस्वादमय भगवत्प्रेमकी चरमोत्कृष्टता प्रदर्शित है।

अन्तमें गोपियाँ कहती हैं कि उस उत्तम श्लोक अत्युत्कृष्ट-गुणयुक्त व्यक्तिकी एकान्त-वार्ताको कौन छोड़ सकता है? जिनके हृदय—उरसे श्रीशोभा कभी च्युत नहीं होती है।

परिणामत प्रेम-भगवत्प्रेम छूटता नहीं है। प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद—ये तीनों एकाकार हो जाते हैं। यही 'सायुज्य'-मुक्ति है।

भगवत्प्रेमका स्वरूप

(डॉ० श्रीभीष्मदत्तजी शर्मा, पूर्व रीडर)

प्रेम मनकी अत्यन्त पवित्र वृत्ति है। जहाँ जितनी ही अधिक समीपता जितनी ही अधिक अन्तरङ्गता और जितनी ही अधिक प्रत्यक्षता होती है, इस प्रेमका वहाँ उतना ही अधिक प्राकट्य होता है। इसीलिये अत्यन्त समीप अत्यन्त अन्तरङ्ग और अत्यन्त प्रत्यक्ष प्रत्यगात्मा (परमात्मा)-में ही सर्वाधिक प्रेम होना स्वाभाविक है परंतु मनुष्य सांसारिक वस्तुओंमें आसक्त होकर उनसे प्रेम करने लगता है। यह सब अज्ञान और मोहके कारण होता है, अन्यथा परमात्मासे ही सर्वाधिक प्रेम होना चाहिये, क्योंकि वही सबसे अधिक समीप, अन्तरङ्ग तथा प्रत्यक्ष हैं। वास्तवमें भगवान्‌के प्रति प्रेम ही सच्चा प्रेम है। इसके लिये मनुष्यको सभी प्रकारके विकारों—अहंकार आदिका त्याग करना पड़ता है, तभी भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होती है। संत कबीरने इस सम्बन्धमें ठीक ही कहा है—

यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुइँ धरै, तब पैठे घर माहिं॥

प्रेमकी विलक्षणता

प्रेम बड़ी विलक्षण वस्तु है। जब यह परिपक्व हो जाता है तब प्रेमीको प्रेमास्पदके अतिरिक्त अन्य किसीका स्मरण नहीं रहता। हर क्षण उसे प्रियतमकी याद बनी रहती है। शास्त्रोंके अनुसार हमारी अन्तरात्मा अत्यन्त अभिन्न-स्वरूप होनेके कारण निरतिशय प्रेमकी पात्र है। अत हमें सबसे अधिक अपनी अन्तरात्मासे प्रेम होता है। इस बातको समझनेके लिये हमें श्रीमद्भागवतके इस प्रकरणपर विचार करना चाहिये—जब ब्रह्माजीने भगवान् श्रीकृष्णके गाय-बछड़ों और ग्वालोंका अपहरण कर लिया, तब श्रीकृष्ण ही सब कुछ बनकर उन-उन घरोंमें चले गये। इस प्रकार सभी गोप-गोपियों और गायोंको श्रीकृष्णका संस्पर्श-सुख

* अच्छा हमारे प्रियतमके प्यारे दूत मधुकर! हमें यह बतलाओ कि आर्यपुत्र भगवान् श्रीकृष्ण गुरुकुलसे लौटकर मधुपुरीमें अब सुखसे तो हैं न? क्या वे कभी नन्दबाबा यशोदारानी यहाँके घर सगे-सम्बन्धी और ग्वाल-बालोंकी भी याद करते हैं? और क्या हम दासियोंकी भी कोई बात कभी चलाते हैं? प्यारे भ्रमर! हम यह भी बतलाओ कि कभी वे अपनी अगरके समान दिव्य सुगन्धसे युक्त भुजा हमारे सिरोंपर रखेंगे? क्या हमारे जीवनमें कभी ऐसा शुभ अवसर भी आयेगा? हमारे प्यारे श्यामसुन्दरने जिनकी कीर्तिका गान बड़े-बड़े महात्मा करते रहते हैं हमसे एकान्तमें जो मीठी-मीठी प्रेमकी बातें की हैं उन्हें छोड़नेका भुलानेका उत्साह भी हम कैसे कर सकती हैं? देखो तो उनकी इच्छा न होनेपर भी स्वयं लक्ष्मीजी उनके चरणोंसे लिपटी रहती हैं एक क्षणके लिये भी उनका अङ्ग-सङ्ग छोड़कर कहीं नहीं जातीं।

स्वत ही मिल गया, जिससे उनका प्रेमभाव असीम हा गया। उस स्थितिमे सभी गाया और गोपियाको श्रीकृष्ण ही पुत्रके रूपमे प्राप्त थे। फिर तो उनक प्रेमम नि सीम वृद्धि होना स्वाभाविक ही था। राजा परीक्षितद्वारा इसका कारण पूछ जानेपर श्रीशुकदेवजीने कहा कि 'हे राजन्! ससारमे प्राणिमात्रको अपनी आत्माम सर्वाधिक प्रेम हाता ह, स्त्री, पुत्र, क्षेत्र, धन आर मित्र आदिम इतना प्रम नहीं हाता। देहात्मवादी भी जितना प्रेम देहम करते हैं, उतना देहानुगामी वस्तुम नहीं करत। पुत्र, धन, स्त्री आदिम जो प्रम हाता है, वह कवल आत्मप्रेमकी अभिव्यक्तिमात्र है।' उपनिषदाका भी यही उद्घाप है—'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।' (वृहदारण्यकोपनिषद् २।४।५) अर्थात् आत्माके लिय ही सम्पूर्ण वस्तुआम प्राणिमात्रका प्रेम होता हे। यही प्रमकी विलक्षणता है।

आत्मप्रेम ही भगवत्प्रेम

दार्शनिकाक अनुसार आत्माके सुखके लिये ही ससारकी सभी वस्तुएँ प्रिय हाती हें। अत प्रत्यक व्यक्तिम आत्मासम्बन्धी प्रम हानेके कारण भगवत्प्रेम होना स्वाभाविक है, क्याकि आत्मा ओर भगवान् भिन्न न होकर अभिन्न ही हें। इसीलिय श्रीराम-श्रीकृष्णम सब लोगाको अधिक प्रम हुआ, क्याकि य दोनो प्राणिमात्रके अन्तरात्मा थे। दोना ही अपनी अचिन्त्य एव दिव्य लीला-शक्तिसे सगुण, साकार और अनन्तकल्याणगुणयुक्त होकर मनोहररूपम प्रकट हुए थे। रामायणम भगवान् श्रीरामकी जो दिव्य लीलाएँ वर्णित हैं, उनसे भक्तजनाका जो निरतिशय आनन्द प्राप्त हुआ उन सवकी अभिव्यक्ति उनके प्रति लागाके सर्वाधिक प्रेमम हुई। इसी प्रकार श्रीकृष्ण ही परम तत्त्व हैं व ही सबकी अन्तरात्मा हैं एव व ही सभी वस्तुआम आत-प्रात हैं। अत उनसे सहज स्वाभाविक एव उत्कट प्रेम किये बिना नहीं रहा जा सकता। वस्तुत जब मनुष्यकी भगवान्से प्रेमकी लौ लग जाती है तव उसे अन्य कुछ नहीं सुहाता। वह हर समय उसीका चिन्तन करता रहता है। किसी कविन ठीक ही कहा है—

लव लागि तव जानिये छूटहि कवहु न जाये।
मिठो कहा अगारमे जाहि चकोर चवाये॥

जाने-अनजाने भगवत्प्रेम

क्योकि भगवान् ही निरतिशय निरुपाधिक एव सर्वोत्कृष्ट प्रेमके आस्पद होनेसे सबकी अन्तरात्मा हैं, अत उन्हींसे सभीको सच्चा प्रेम करना चाहिये, परतु अज्ञान माह और आसक्तिके कारण कभी-कभी प्रेमकी सहजता स्वाभाविकता तथा उत्कटता प्रकट नहीं होती है। वास्तवम सभी प्राणी जाने-अनजाने भगवत्प्रमकी ओर अग्रसर हैं। सभी ज्ञान अथवा अज्ञानपूर्वक अपने जीवन-धन भगवान्के ही प्रमी हैं। इसलिये स्वामी विवेकानन्दका कहना है कि 'हम ज्ञानपूर्वक ही भगवान्से प्रेम करना चाहिये, जिससे शीघ्रातिशीघ्र भगवत्प्राप्ति हो सके।' प्रेमीके लिये धन, ऐश्वर्य और बल आदिका कुछ भी महत्त्व नहीं होता। भगवती जनकनन्दिनी सीताजीने लङ्कामे रहते हुए कभी रावणके एश्वर्यकी ओर नहीं देखा बल्कि रावणके दुष्कर्मके लिये वे उसे बराबर फटकारती रहीं। व्रजबालाआके सामने जब अनन्त ऐश्वर्यपूर्ण श्रीमन्नारायण प्रकट हुए तो उन्हाने प्रणाम करक उनसे यही माँगा कि हमारे प्राणेश्वर मनमोहन श्रीकृष्णचन्द्रसे हमे मिला दो। वे उन नारायणकी ओर तनिक भी आकर्षित नहीं हुईं। इसीलिये गोपियोका श्रीकृष्ण-प्रेम आदर्श प्रेम माना जाता है। ऐसा ही अनन्य प्रेम हम सबका भगवान्के प्रति हाना चाहिये।

प्रेमका स्वरूप

प्रेम अनन्य होना चाहिये। प्रेमास्पदका कोई विकल्प नहीं होता। प्रेम परिपक्व होकर भक्तिम परिणत हो जाता है। धर्मसम्राट् स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजने अपन प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भक्तिसुधा' मे 'भगवान् ओर प्रेम' विषयपर विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि प्रेम स्वाभाविक होता है। उसका निषेध करने या उसम रुकावट डालनेसे वह उत्कट रूप धारण कर लेता हे। अत भगवत्प्रेममे विधि-निषेधका प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है। यही कारण है कि गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने प्रेमीकी दशाको इस रूपम व्यक्त किया है—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरतर प्रिय लागहु मोहि राम॥
(रा०च०मा० ७।१३० ख)

अर्थात् हे रघुनाथ श्रीराम! जैसे कामुक व्यक्तिकी स्त्रीमे और लोभी व्यक्तिकी धनमे प्रीति होती है उसी प्रकारकी मेरी प्रीति सदा आपम वनी रहे। वस्तुत भगवान् और प्रेम दोना एक ही वस्तु हैं। कुछ विचारकाके अनुसार

तो प्रेम भगवान्‌का ही नाम है। इसीलिये जगत्‌मे भगवत्प्रेमके अतिरिक्त सब कुछ मिथ्या है, असत् है, नि सार है। यही कारण है कि अमलात्मा परमहस महामुनीन्द्र भी भगवान्‌से प्रेम करते हैं। उन्हींके लिये भक्तियोगका विधान करनहेतु अदृश्य अग्राह्य, अचिन्त्य एव अलक्षण भगवान् सगुण-साकार होकर अपने प्रेमी भक्तोको उच्च कोटिका ज्ञान प्रदान करते हैं, जिससे उन्हे भगवत्प्राप्ति होती है। गीता कहती है—

तेषा सततयुक्ताना भजता प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोग त येन मामुपयान्ति ते॥
(१०।१०)

अर्थात् जो भक्त सतत युक्त होकर प्रेमपूर्वक मरा भजन करते हैं, में उनको वह ज्ञानयोग प्रदान करता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं।

निष्काम प्रेम

भगवान्‌मे हमारा निष्काम प्रेम होना चाहिये। प्रेमीको प्रेमास्पदको देना ही होता है, उससे कुछ भी लेना नहीं होता। प्रेमी भक्तको भगवान्‌को सम्पूर्ण समर्पण करना होता है। जैसे ही उसका सम्पूर्ण समर्पण होता है, वैसे ही भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। भगवत्प्राप्ति ही तो जीवनका परम लक्ष्य है और इसके लिये ही आचार्यों, सत-महात्माओ तथा भक्तोने निष्काम प्रेमका मार्ग बताया है। हमारा मन जैसे ही प्रेम करते हुए भगवान्‌से जुडता है, वे ही हमें भगवद्भाव प्राप्त होने लगता है, परतु इसमे बाधा है—सासारिक भोगोके प्रति हमारे मनका आकर्षित होन हमारे सकाम मनका निष्काम न होना। मनके निष्का होनेपर ही निष्काम प्रेमका प्राकट्य होता है। इसीलि भक्तलोग लौकिक रूपसे भगवान्‌को भजते हैं और उनव मधुर लीलाओका दर्शन-श्रवण करते हैं। इसी बातव गीतामे इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मा ये जना पर्युपासते।
तेषा नित्याभियुक्ताना योगक्षेम वहाम्यहम्॥
(९।२२

अर्थात् जो प्रेमी भक्तजन मेरा अनन्य चिन्तन कर हुए मेरी उपासना करते हैं, मेरेमे लग हुए उन पुरुषोक योगक्षेम मैं स्वय चलाता हूँ।

साराश यह है कि ससारमे भगवान्‌से अधिक को भी वस्तु प्रिय नहीं है, क्योंकि सभी सासारिक पदार्थ नश्वर, असत् और मिथ्या हैं, मात्र परमात्मा तथा उसक प्रेम ही सत्य एव अनश्वर है। अत हमे भगवान्‌से अनन्य निष्काम तथा सच्चा प्रेम करना चाहिये। किसी कवि ठीक ही कहा है—

झूठा यह ससार है, झूठा इसका प्यार है।
केवल सच्चा नाम तेरा, हे मेरे करतार है॥

व्रजरसमें प्रेम-वैचित्त्य

(श्रीश्यामजी भाई)

सघन वनोमे भटकती श्रीमीराजी नयनाभ प्राणसखा श्यामसुन्दरकी खोज वर्षाके दिन और यह मदहोश मदमस्त भटकन—निर्जन स्थानोमे, बीहड वनामे तथा वही कण्टकाकीर्ण मार्ग—वही उन्मादिनी मीरा।

कितना कष्ट होता होगा इन्हे ? क्या कृष्ण-प्रेमका यह अर्थ होना चाहिये ?

एक बार प्रणय-प्रवण श्रीकृष्णने अपने किसी कोमल-हृदय स्वजनको इसका उत्तर दिया था—'मैं पीछे-पीछे रहकर मीराका पथ प्रशस्त करता हूँ, उसका अनुगमन करता हूँ, उसके यात्रा-पथपर दृष्टि डालता हूँ तो उस पथके ककड-काँटे सुकोमल पुष्प बन जाते हैं, किसी भी मार्गमे मीराके पाँवोमे एक काँटा भी नहीं चुभने देता कहीं भी कोई कष्ट नहीं होने देता—न वन-पर्वतोमे न पथ-प्रान्तामे।

उनकी वार्ता ठीक निकली। सचमुच आज वे ऐसा ही कर रहे थे। मीराजीके पीछे कभी दायसे, कभी बायसे स्नेहासिक्त नयनोसे उन्हे निहारते चल रहे थे। अद्भुत चमत्कार है उनकी दृष्टिमे। मार्गके कठोर कण्टक कोमल पुष्पोमे परिणत होते जाते हैं। मीराजीके यात्रामार्गमे फूल खिलते जाते हैं और मीराजीका पता नहीं होश नहीं। ओह, व्रजके रसीले ठाकुर! तुम्हारी दृष्टिका यह प्रभाव है जड-

पदार्थोंपर! तो चेतन प्रेमियोपर कैसा होता होगा? साँवरे-सलोने! नेक सोचो तो सही।

पर एक बात है—मीराजीकी विरह-वेदना तो वही बनी रही।

'नहीं', आश्वासनके स्वरमे वे स्वरकुशल बोले—'यह वैसी विरह-वेदना नहीं है। यह तो सर्वथा भिन्न प्रकारकी है मधुर हे, मधुरातिमधुर है। इसमे मिलनकी सुखद अनुभूति बनी रहती है, हिय—प्राणोमे दिव्यानन्द सचरित रहता है। 'मैं साथ रहता हूँ, साथ होता हूँ'—यह प्रतीति उसे बनी रहती है, यह प्रतीति ही तो उसकी जीवनदायिनी शक्ति है, तभी तो इतना पर्यटन, इतना परिभ्रमण कर पाती है मेरी मीरा।'

कहीं यह सब आश्वासनमात्र ही तो नहीं?

(उत्तरम) दृश्य-परिवर्तन—मेघमालाआके मध्यसे झाँकता नील नभ, प्रकृतिका परम मनोहर सुन्दर दृश्य स्वत निविड निभृत निकुञ्जका निर्माण, सघन वृक्षोके मध्य झूमता एक हिडोला—

अकस्मात् मीराजीके पीछेसे आते हैं उनके प्राण-प्रियतम—अङ्कमे, अङ्गमे, समाहित कर लेते हैं उन्हे। बरजोरी अपने साथ उस हिडोलेमे बिठाते हैं। इस सम्मिलन-सुखमे शेष सब अशेष हो जाता है, विस्मृत हो जाता है। युगोकी तृषाका शमन हुआ, एक बार फिर प्राण सुशीतल रससे सिचित हुए।

तो फिर—

लाडली किशोरी श्रीराधाको भी विरहमे मिलन-सुख प्रतीत होता है और मिलनमे विरह-वेदनाका दु ख भी शून्य—न्यून नहीं होता।

कैसा मोहक है यह प्रेम-वैचित्त्य।

अहैतुक बन्धो! क्या कभी हमे इसकी छायाका भी स्पर्श प्राप्त होगा? [प्रेषिका—अरुणिमा]
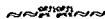
अव्यक्त प्रेम

(श्रीवियोगी हरिजी)

हिरदै भीतर दव बलै, धुआँ न परगट होय।
जाके लागी सो लखै, की जिन लाई सोय॥
(कबीर)

लगनकी आगका धुआँ कौन देख सकता है। उसे या तो वह देखता है, जिसके अदर वह जल रही है या फिर वह देखता है, जिसने वह आग सुलगायी है। भाई, प्रेम तो वही जो प्रकट न किया जाय। सीनेके अदर ही एक आग-सी सुलगती रहे, उसका धुआँ बाहर न निकले। प्रीति प्रकाशमे न लायी जाय। यह दूसरी बात है कि कोई दिलवाला जौहरी उस प्रेम-रत्नके जोहरको किसी तरह जान जाय। वही तो सच्ची लगन है जो गलकर, घुलकर हृदयके भीतर पैठ जाय प्यारेका नाम मुँहसे न निकलने पाये, रोम-रोमसे उसका स्मरण किया जाय। कबीरदासजीकी एक साखी है—

प्रीति जो लागी घुल गई, पैठि गई मन माहिं।
रोम-रोम पिउ-पिउ करै, मुखकी सरधा नाहिं॥

प्रेम-रसके गोपनमे ही पवित्रता है। जो प्रेम प्रकट हो चुका बाजारम जिसका विज्ञापन कर दिया गया, उसमे पवित्रता कहाँ रही? वह तो फिर मोल-तोलकी चीज हो गयी। कोविद-वर कारलाइल कहता है—

Love unexpressed is sacred

अर्थात् अव्यक्त प्रेम ही पवित्र होता है। जिसके जिगरमे कोई कसक है, वह दुनियाम गली-गली चिल्लाता नहीं फिरता। जहाँ-तहाँ पुकारते तो वे ही फिरा करते हैं, जिनके दिलमे प्रेमकी वह रस-भरी हूक नहीं उठा करती। ऐसे बने हुए प्रेमियोको प्रेमदेवका दर्शन कैसे हो सकता है? महात्मा दादूदयालजी कहते हैं—

अदर पीर न ऊभरै बाहर करै पुकार।
'दादू' सो क्या करि लहै, साहिबका दीदार॥

किसीको यह सुनानेसे क्या लाभ कि मैं तुम्हे चाहता हूँ, तुमपर मेरा प्रेम है? सच्चे प्रेमियोको ऐसी विज्ञापनबाजीसे क्या मिलेगा? तुम्हारा यदि किसीपर प्रेम है तो उस अपनी हृदय-वाटिकाम ही अकुरित पल्लवित प्रफुल्लित और परिफलित होने दो। जितना ही तुम अपने प्रियको

छिपाओगे, उतना ही वह प्रगल्भ और पवित्र होता जायगा। बाहरका दरवाजा बद करके तुम तो भीतरका द्वार खोल दो। तुम्हारा प्यारा तुम्हारे प्रेमको जानता हो तो अच्छा और उससे बेखबर हो तो भी अच्छा। तुम्हारे बाहरके शोर-गुलको वह कभी पसद न करेगा। तुम तो दिलका दरवाजा खोलकर बेखबर हो बैठ जाओ। तुम्हारा प्यारा राम जरूर तुम्हे मिलेगा—

सुमिरन सुरत लगाइकै, मुखते कछू न बोल।
बाहरके पट देइकै, अन्तरके पट खोल॥
(कबीर)

प्रीतिका ढिढोरा पीटनेसे कोइ लाभ?

जो तेरे घट प्रेम है, तौ कहि कहि न सुनाव।
अतरजामी जानिहैं, अतरगत का भाव॥
(मलूकदास)

तुम तो प्रेमको इस भाँति छिपा लो, जैसे माता अपने गर्भस्थ बालकको बडे यत्नसे छिपाये रहती है, जरा भी उसे ठस लगी कि वह क्षीण हुआ—

जैसे माता गर्भको राखै जतन बनाइ।
ठेस लगै तौ छीन हो, ऐसे प्रेम बुराइ॥
(गरीबदास)

प्रेमका वास्तविक रूप तुम प्रकाशित भी तो नहीं कर सकते। हाँ उसे किस प्रकार प्रकाशमे लाओगे? प्रम तो गूँगा होता है। इश्कको बजुबान ही पाओगे। ऊँचे प्रेमियोकी तो मस्तानी आँखे बोलती हैं, जुबान नहीं। कहा भी है—

Loves tongue is in the eyes

अर्थात् प्रेमकी जिह्वा नेत्रोमे होती है। क्या रघूत्तम रामका विदेह-नन्दिनीपर कुछ कम प्रेम था? क्या वे मारुतिके द्वारा जनकतनयाको यह प्रेमाकुल सदेश न भेज सकते थे कि 'प्राणप्रिये! तुम्हारे असह्य वियोगमे मेरे प्राण-पक्षी अब ठहरेगे नहीं हृदयेश्वरी! तुम्हारे विरहने मुझे आज प्राणहीन-सा कर दिया है।' क्या वे आजकलके विरह-विह्वल नवल नायककी भाँति दस-पाँच लम्बे-चौडे प्रेम-पत्र अपनी प्रेयसीको न भज सकते थे? सब कुछ कर सकते थे पर उनका प्रेम दिखाऊ तो था नहीं। उन्हे क्या पडी थी जो प्रेमका रोना राते फिरते। उनकी प्रीति तो एक सत्य, अनन्त और अव्यक्त प्रीति थी, हृदयमे धधकती हुई प्रीतिकी एक ज्वाला थी। इससे उनका सँदेसा तो इतनेमे ही समाप्त हो गया—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥
(रा० च० मा० ५। १५। ६-७)

इस 'इतनेमे' ही उतना सब भरा हुआ है, जितनेका कि किसी प्रीति-रसके चखनेहारेको अपने अन्तस्तलमें अनुभव हो सकता है। सो, बस—

'जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥'

प्रीतिकी गीति कौन गाता है, प्रेमका बाजा कहाँ बजना है और कौन सुनता है, इन सब भेदाको या तो अपना चाह-भरा चित्त जानता है या फिर अपना वह प्रियतम। इस रहस्यको और कौन जानेगा?

सब रग ताँत, रबाब तन, बिरह बजावै नित्त।
और न कोई सुनि सकै कै साईं कै चित्त॥
(कबीर)

जायसीने भी खूब कहा है—

हाड़ भये सब किंगरी, नसे भईं सब ताँति।
रोम-रोम ते धुनि उठै कहौ बिथा केहि भाँति॥

प्रेम-गोपनपर किसी सस्कृत कविकी एक सूक्ति है—

प्रेमा द्वयो रसिकयोरपि दीप एव
हृद्व्योम भासयति निश्चलमेव भाति।
द्वारादय वदनतस्तु बहिर्गतश्चेत्
निर्वाति दीपमथवा लघुतामुपैति॥

दो प्रेमियोका प्रेम तभीतक निश्चल समझो, जबतक वह उनके हृदयके भीतर है। ज्यो ही वह मुखद्वारसे बाहर हुआ अर्थात् यह कहा गया कि 'मैं तुम्हे प्यार करता हूँ', त्यो ही वह या तो नष्ट हो गया या क्षीण ही हो गया। दीपक गृहके भीतर ही निष्कम्प और निश्चल रहता है। द्वारके बाहर आनेपर या तो वह क्षीणज्योति हो जाता हे या बुझ ही जाता है। वास्तवम पवित्र प्रेम एक दीपकके समान है। इसलिये चिरागेइश्कको भाई, जिगरके अदर ही जलने दो। उस अँधेरे घरमे ही तो आज उँजेलेकी जरूरत है।

उस प्रियतमको पलकोके भीतर क्यो नहीं छुपा लेते?

उसे भला एक बार धीरेसे यह कहकर बुलाओ तो—

आओ प्यारे मोहना! पलक झाँपि तोहि लेउँ।
ना मै देखौ और को, ना तोहि देखन देउँ॥

आँखोकी तो एक सुन्दर कोठरी बनाओ और पुतलियाका वहाँ पलग बिछा दो। द्वारपर पलकाकी चिक भी डाल दना। इतनेपर भी क्या वह हठीले हजरत न रीझगे? क्या न रीझगे—

नैनोकी करि कोठरी, पुतली-पलँग बिछाय।
पलकोकी चिक डारिके, छिनम लिया रिझाय॥

(कबीर)

जब वह प्यारा दिलवर इस तरह तुम्हारे दर्दभरे दिलके अदर अपना घर बना लेगा तब तुम्हे न तो उसे कहीं खोजना ही होगा ओर न चिल्ला-चिल्लाकर अपने प्रेमका ढिढोरा ही पीटना होगा। तब उस हृदय-विहारीके प्रति तुम्हारा प्रम नीरव होगा। वह तुम्हारी मतवाली आँखोकी प्यारी-प्यारी पुतलियोमे जब छुपे-छुपे अपना डेरा जमा लेगा तब उसका प्यारा दीदार तुम्हे जर्रे-जर्रेमे मिलेगा। घट-घटम उसकी झलक दिखायी देगी। प्रेमोन्मत्त कवीन्द्र रवीन्द्र सुनो, क्या गा रहे हे—

My beloved is ever in my heart
That is why I see him everywhere
He is in the pupils of my eyes
That is why I see him everywhere

अर्थात्—

जीवन-धन मम प्रान-पियारो सदा बसतु हिय मेरे
जहाँ बिलोकै ताकै ताका कहा दूरि कह नेरे।
आँखिनकी पुतरिनम सोई सदा रहै छवि घेरे
जहाँ बिलोकै ताकै ताका कहा दूरि कह नेरे॥

(कृष्णविहारी मिश्र)

अपने चित्तको चुरानेवालेका ध्यान तुम भी एक चोरकी ही तरह दिलक भीतर किया करो। चोरकी चोरके ही साथ बना करती है। जैसेके साथ तैसा ही बनना पडता है। कविवर बिहारीका एक दोहा है—

करौ कुवत जगु कुटिलता तजौं न दीनदयाल।
दुखी होहुगे सरल हिय बसत, त्रिभगी लाल॥

ससार निन्दा करता है ता किया करे, पर मैं अपनी कुटिलता तो न छोड़ूँगा। अपने हृदयको सरल न बनाऊँगा क्याकि हे त्रिभगी लाल! तुम सरल (सीधे) हृदयम बसते हुए कष्ट पाओगे। टेढी वस्तु सीधी वस्तुके भीतर कैस रह सकती है? सीधे मियानम कहीं टेढी तलवार रह सकती है? मैं सीधा हो गया तो तीन टेढवाले तुम मुझम कैसे बसोगे? इससे मैं अब कुटिल ही अच्छा! हाँ, तो अपनी प्रम-साधनाका या अपने प्यारेके ध्यानका कभी किसीका पता भी न चलने दो, यहाँकी बात जाहिर कर दो यहाँके पट खोल दो, पर वहाँका सब कुछ गुप्त ही रहने दा, वहाँके पट बद ही किये रहो। यह दूसरी बात है कि तुम्हारी ये लाचार आँखे किसीके आगे वहाँका कभी कोई भेद खोलकर रख दे।

प्रेमको प्रकट कर देनेसे क्षुद्र अहङ्कार ओर भी अधिक फूलने-फलने *लगता है।* 'मैं प्रेमी हूँ'—बस, *इतना ही तो* अहङ्कार चाहता है। 'मैं तुम्हे चाहता हूँ'—बस यही खुदी ता प्रेमका मीठा मजा नहीं लूटने देती। ब्रह्मात्मैक्यके पूण अनुभवीको 'सोऽहम् सोऽहम्' की रट लगानेस कोई लाभ? महाकवि गालिबने क्या अच्छा कहा है—

क़तरा अपना भी हक़ीक़त म है दरिया लकिन
हमको तकलीदे तुनक ज़र्फ़िये मसूर नहीं।

मैं भी बूँद नहीं हूँ, समुद्र ही हूँ—जीव नहीं ब्रह्म ही हूँ—पर मुझे मसूरके ऐसा हलकापन पसद नहीं। मैं 'अनलहक' कह-कहकर अपना और ईश्वरका अभेदत्व प्रकट नहीं करना चाहता। जो हूँ सो हूँ, कहनेसे क्या लाभ! सच बात तो यह हे कि सच्चा प्रेम प्रकट किया ही नहीं जा सकता। जिसने उस प्यारेको देख लिया, वह कुछ कहता नहीं और जो उसके बारेम कहता-फिरता है समझ लो, उसे उसका दर्शन अभी मिला ही नहीं। कबीरकी एक साखी है—

जो देखै सो कहै नहिं कहै सो देखै नाहिं।
सुनै सो समझावै नहीं रसना दृग श्रुति काहिं॥

इसलिये प्रेम तो प्यारे गोपनीय ही है।

अथातः प्रेम-मीमासा

(आचार्य डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र, एम्०ए०, पी-एच्०डी० व्याकरण-साहित्याचार्य पूर्वकुलपति)

प्रेम प्रेमा[१] तथा प्रियता—इन समानार्थक शब्दोके मूलमे एक ही 'प्रिय' भाव है। 'प्रीणातीति प्रिय '[२], इस व्युत्पत्तिके अनुसार जो प्रीति-आमोदको दे, उसे 'प्रिय' कहते हैं। 'प्रियस्य भाव प्रेम'[३]। प्रेमा, प्रियत्व[४], प्रियता आदि शब्द प्रियके उस भाव अर्थात् अस्तित्व-निष्पादक धर्मको बतलाते हैं, जिसके विद्यमान रहनेपर ही 'प्रिय' प्रिय हो सकता है और उसे प्रिय कहा जा सकता है। प्रेमकी विद्यमानतामे ही 'प्रिय' शब्दका अर्थ चरितार्थ होता है।

निष्कर्षत प्रेम वह तत्त्व है जो प्रिय-प्रेमाश्रयको असाधारण सुख देता है। 'प्रेमसे प्रियको असाधारण सुख मिलता है।' इस तथ्यके मुख्यत चार रहस्य हैं—

(क) 'प्रियसुखसुखित्वम्'—प्रेम केवल प्रियतमके सुखके लिये ही होता है।

(ख) 'प्रियानुकूलाचरणम्'—प्रेमम केवल प्रियके ही अनुकूल आचरण होता है।

(ग) 'प्रियसुखकामातिरिक्तकामराहित्यम्'—प्रिय-सुख-कामनाके अतिरिक्त प्रेममे स्व-काम बिलकुल नहीं होता है।

(घ) 'वाचामगोचरत्वम्'—प्रेम वाणीके द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता है, वह मूकास्वादवत् अनिर्वचनीय होता है।

'यह मेरा है, मैं उसका हूँ', इस प्रकारका पक्षपात—विशेष प्रेममे हो जाता है। उपर्युक्त चाराके अभावमे प्रेम प्रेम न होकर 'काम' हो जाता है। उदाहरणके द्वारा इसे स्पष्ट करनेके पूर्व प्रेमकी तरह व्यवहृत 'प्रणय', 'परिचय' तथा 'राग' आदि शब्दोके अर्थोंको स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है।

प्रणय—परस्पर अवलोकन आदिसे जो प्रेम प्रकर्षको प्राप्त हो जाता है, जिसमे किसी एकके अनेक अपराध करनेपर भी प्रेमम कभी नहीं आती है, उस प्रकारके अविरल प्रेमको 'प्रणय[५]' कहते हैं।

परिचय—अधिक समयतक साथ रहनेसे जो प्रणयकी दृढता होती है, उसे 'परिचय[६]' कहते हैं।

राग—प्रिय वस्तुके प्रति मनम होनेवाला अनुकूल भाव 'राग[७]' कहलाता है।

मल्लीनाथने शिशुपालवध महाकाव्य (४।५६)-की व्याख्याम कहा है—'अभिमतविषयाभिलाष राग ।' अर्थात् मनोऽनुकूल विषयको प्राप्त करनेकी अभिलाषा राग है।

वैष्णवाचार्य रूपगोस्वामी अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'उज्ज्वलनीलमणि' मे लिखते हैं—

दु खमप्यधिक चित्ते सुखत्वेनैव व्यज्यते।
यतस्तु प्रणयोत्कर्षात् स राग इति कीर्त्यते॥

अर्थात् दु ख भी सुखरूपमे ही चित्तको अधिक भासता है। चूँकि प्रणयका उत्कर्ष भी रागसे होता है इसलिय इसे राग कहते हैं। इस तरह प्रणयको सुदृढ करनेके कारण राग या अनुराग प्रेम प्रणय एव परिचयसे भी एक सोपान और ऊपर चढ जाता है। इस भावको व्यक्त करते हुए महाकवि भवभूतिने 'मालतीमाधव' नाटकमे मालतीकी प्राप्तिके लिये श्मशान-साधना करनेवाले माधवके पूर्वरागको निम्न प्रकारसे प्रस्तुत किया है—

प्रेमार्द्रा प्रणयस्पृश परिचयादुद्गाढरागोदया-
स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि।

---

१ प्रेमा ना प्रियता हार्द प्रेम स्नेह । (अमरकोश १।७।२७)

२ 'प्री तर्पण धातुसे 'इगुपधज्ञाप्रीकिर क ' (पा०सू० ३।१।१३५)-से 'क' प्रत्यय होनेपर 'प्रिय शब्द निष्पन्न होता है।

३ पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' (पा०सू० ५।१।१२२) प्रिय+इमनिच् प्रत्यय 'प्रिय स्थिर' इत्यादि सूत्र (पा०सू० ६।४।१५७)-से प्रियके स्थानमें 'प्र' आदेश होनेसे 'प्रेमन्' शब्द बनता है जिससे प्रेम प्रेमा आदि रूप होते हैं।

४ तस्य भावस्त्वतलौ (पा०सू० ५।१।११९)-से 'त्व और 'तल्' प्रत्यय होता है।

५ प्र+णीप्रापणे धातुसे 'एरच्' (पा० सू० ३।३।५६)-से 'अच्' 'प्रत्यय करनेसे 'प्रणय शब्द निष्पन्न होता है।

६ परि+चि+अप्=परिचय।

७ रञ्जनम् राग रञ्जसे भावे घञ्। रज्यते अनेन इति राग । करणे घञ्।

यास्वन्त करणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधी क्षणा-
दाशसापरिकल्पितास्वपि भयत्यानन्दसान्द्रो लय ॥

अर्थात् उस सुन्दर नयनावाली मालतीकी प्रेमसे सनी हुई, प्रणयका स्पर्श करनेवाली तथा परिचयके कारण उद्गाढ अनुराग भरी हुई इस प्रकारकी ये भावपूर्ण चेष्टाएँ मेरे प्रति हो जिनकी कल्पना करनेपर भी तत्क्षण बाह्य इन्द्रियाको व्यापारशून्य बना देनेवाला अन्त करणका आनन्दमें लय-सा हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जिन चेष्टाओकी कल्पनामात्रसे सुध-बुध भूलकर मन आनन्दसागरम निमग्न हो जाता है, उसे राग या अनुराग कहते हैं।

इस तरह प्रेमसे प्रणयम, प्रणयसे अधिक परिचयम और परिचयस अधिक अनुरागमें प्रीतिका उत्कर्ष दिखलाया गया है।

इसी प्रसगमे यह भी जान लेना आवश्यक है कि राग या अनुरागका एक दूसरा पक्ष भी है, जिसमें फँसनेपर सुख-मरीचिकाम पश्चात्ताप होता है। जब सासारिक विषयोंके उपभोगमें राग होता है तो उसका परिणाम 'शोक' होता है जो जन्म-मृत्युका कारण बनता है। इसी रागसे विनिर्मुक्त तथा राग-जन्य भय क्रोधसे रहित महात्माको 'स्थितधी' कहा गया है—

'वीतरागभयक्रोध स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥' (गीता २।५६)

जब अनुराग भगवच्चरणारविन्दम होता है तब उस रागका फल अमृत होता है और जब सासारिक अनित्य विषयोम होता है तो उसका फल शोक होता है।

मिथिलाकी हृदय-स्थली मङ्गरौनी (मधुवनी) ग्राम निवासी सर्वतन्त्रस्वतन्त्र म० म० प० गोकुलनाथ उपाध्याय महाभागने इस विषयका विश्लेषण करते हुए अपनी पुस्तक 'शिवस्तुतिमाला'मे सुन्दर वर्णन किया है—

प्रसरति विषयेषु येषु राग
परिणमते विरतेषु तेषु शोक ।
त्वयि रुचिरुचिता नितान्तकान्ते
रुचिपरिपाकशुचामगोचरोऽसि ॥

जिन सासारिक विषयोम राग होता है, उन विषयाका विनाश अवश्यम्भावी होनेसे विषयानुरागका परिणाम शोक ही होता है। अत निरतिशय सौन्दर्यशाली सच्चिदानन्द परमात्मामें ही राग समुचित है, क्योंकि केवल भगवद्-विषयक रागका ही परिणाम शोक नहीं होता है। फलत कवल परमेश्वर-विषयक प्रेमानुराग सुखप्रद है और जगद्विषयक राग दु खप्रद है। इसी सासारिक रागका योगदर्शनके—'अविद्यास्मिता-रागद्वेषाभिनिवेशा क्लेशा '—इस सूत्रम निर्दिष्ट पाँच क्लेशामें भी परिगणन है।

प्रणय, परिचय और अनुराग—इन सबका मूल आधार प्रेम ही है, अत प्रेमका अत्यन्त महत्त्व है।

प्रेम और भक्ति—प्रेम और भक्तिक तारतम्य-विवेचनमें कहीं प्रेमका भक्तिका कारण माना गया है और कहीं भक्तिको प्रेमका फल कहा गया है—

अनन्य ममता विष्णौ ममताप्रेमसम्प्लुता।
भक्तिरित्युच्यते भीष्म प्रह्लादोद्धवनारदै ॥
(नारदपञ्चरात्र)

प्रह्लाद उद्धव और नारद भगवान्के परम भक्त हैं। इनके कथनानुसार भक्तकी आत्मीयता भगवान्के प्रति जब प्रेम-रससे ओत-प्रोत होती है तब उस भक्ति कहते हैं। यहाँ प्रेमको भक्तिका उत्कर्षक माना गया है। इसीलिये श्रवण-कीर्तन आदि नवधा-भक्तिसे प्रेमाभक्तिका माहात्म्य अधिक है। वस्तुत प्रेम और प्रेमाभक्ति दोनाम तत्त्वत तारतम्य नहीं है। अतएव इस प्रसगम निश्चित मत है—

प्रेमभक्तेश्च माहात्म्य भक्तेर्माहात्म्यत परम्।
सिद्धमेव यतो भक्ते फल प्रेमैव निश्चितम्॥
(नारदपाञ्चरात्र)

वस्तुत भक्ति और प्रेमम प्रेम भक्तिसे अधिक प्रेयस्कर और श्रेयस्कर है। भक्तिम उपास्य-उपासक भाव होनेसे भक्त और भगवान्मे दूरी बनी रहती है। किंतु प्रेमम तादात्म्य हो जानेसे दोनोमे ऐक्य हो जाता है। प्रियका सुख-दु ख प्रेमीका अपना ही सुख-दु ख बन जाता है। इसीलिये प्रेमी जो कुछ भी करता है वह केवल प्रियके लिये ही करता है। प्रिय और प्रेमीका भाव-बन्धन जब अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियोमे अटूट रहता है तब उस भाव-बन्धनको प्रेम कहते हैं।

उज्ज्वलनीलमणिकार लिखते हैं—

सर्वथा ध्वसरहित सत्यपि ध्वसकारणे।
यद्भावबन्धन यूनो स प्रेमा परिकीर्तित ॥

उपर्युक्त मीमासाके निष्कर्षसे सिद्ध होता है कि प्रेमीका वह असाधारण हार्दिक भाव प्रेम है, जिसम प्रियतमका सुख ही प्रेमीका अपना सुख है। प्रियतमके लिये अनुकूल परिस्थिति ही प्रेमीकी अनुकूल परिस्थिति है। प्रेमीका निजी—अपना कोई 'काम' है ही नहीं।

निष्काम भावनासे प्रियतमकी सुख-कामनामात्रसे ही प्रेम 'सकाम' माना जाता है। इसी दृष्टिसे प्रेम 'निष्काम काम' है।

इसी निष्कामरूप सकाम अनिर्वचनीय प्रेमका दृष्टान्त यहाँ एक रोचक कथाके रूपमे प्रस्तुत किया जाता है—

व्रज और मथुराकी लीला प्रकट कर द्वारकाधीश आनन्दकन्द देवकीनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र द्वारावतीम विराजमान हैं। विश्वकर्माके विशेष कौशलसे द्वारावतीम भव्य हर्म्य बनाये गये हैं। अमरावतीसे पारिजात यहाँ आकर स्वाभीष्ट फल दे रहा है। इन्द्रादि देव अपनी-अपनी समृद्धिके द्वारा द्वारावतीको समृद्ध करनेमे अपना सौभाग्य मान रहे हैं। इच्छामात्रसे सभी पदार्थ 'आत्माराम' को आराम देनेमे अहमहमिकया प्रयास कर रहे हैं। महादेवी रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्ववती, कालिन्दी, मित्रविन्दा नाग्नजिती (सत्या), भद्रा और लक्ष्मणा—सभी आठो पटरानियाँ अहर्निश महाप्रभुकी सेवामे आनन्दविभोर हैं। सर्वत्र आनन्दका साम्राज्य है। लीलापुरुष अनिर्वचनीय प्रेम-दर्शन-लीला करना चाहते हैं। गोपिकावल्लभ व्रजराज अकस्मात् अस्वस्थ-से दीखते हैं। मानसिक और शारीरिक पीडाएँ होने लगती हैं। अन्यमनस्क-से प्रियतमको देख सभी पटरानियाँ व्याकुल हो उठती हैं और जिज्ञासा करती हैं। महाप्रभु मौन हैं, पीडित हैं। सभी राजवैद्य आते हैं, परस्पर परामर्श भी करते हैं, परतु कोई निदान नहीं निकल पाता। सभी उदास लौट जाते हैं। महादेवी रुक्मिणी साश्रुनयन विह्वल हो बोलती हैं—नाथ! क्या हो रहा है? कुछ तो बतलाइये। आपकी यह पीडा हमलोगोके लिये असहनीय हो रही है।

आह भरते हुए महाप्रभुने कहा—इस रोगकी दवा तो मेरे पास है, परतु इसका 'अनुपान' मेरे पास नहीं है। उस अनुपानके बिना यह दवा कारगर नहीं होती। अनुपान मिल जाय तो रोग दूर हो जाय। पटरानियाने कुछ प्रसन्नताकी मुद्रामे उत्सुकतासे कहा—आप कृपया कह तो, आदेश तो दे। लीलाधर बोले—कोई मेरा प्रेमी अपना थोडा-सा चरण-रज इस दवामे मिलाकर मुझे दे तो मैं तुरत स्वस्थ हो जाऊँ। सभी महादेवियाँ एक-दूसरेकी ओर देखने लगीं। मैं जगन्नियन्ता द्वारकाधीश महाप्रभुको चरण-रज कैसे खिला सकती हूँ। मैं अपना नरक-मार्ग भला कैसे प्रशस्त करूँ—सभी किंकर्तव्यविमूढ हो गयीं।

उसी समय परम भक्त देवर्षि नारद वहाँ अचानक आ पहुँचे। सभी देवियाँ अपलक उनकी ओर देख इस विकट समस्याके समाधानके लिये 'अनुपान' मिलाकर दवा खिलानेकी उनसे प्रार्थना करने लगीं। 'नारायण! नारायण!! ऐसा अपराध भला मैं कैसे कर सकता हूँ' कहकर देवर्षि खडे हो गये। इस तरह सबाको चिन्तित देख प्रभुने कहा—देवर्षि! आप मनोजव हैं। शीघ्र व्रज जाकर व्रजबालाओसे चरण-रजकी याचना करे और मेरी व्यथाको स्पष्ट कर दे। देवर्षिने उसी क्षण व्रज पहुँचकर गोपिकाओस प्रार्थना की। सुनते ही, प्रियतमकी पीडासे आहत, भोली-भाली व्रजबालाओने अपना-अपना चरण-रज देकर उनसे अतिशीघ्र द्वारका जानेका आग्रह किया। देवर्षि उस विशिष्ट अनुपानको पाकर द्वारावती पहुँचे। उन्होने प्रभुको दवा दी। महाप्रभु स्वस्थ एव प्रसन्न हो गये हँसने लगे। प्रेमतत्त्वको सबोने समझा।

देवर्षि नारदने 'भक्तिसूत्र' की रचना की। 'अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपम्॥' 'यथा व्रजगोपिकानाम्॥' आदि सूत्राके द्वारा प्रेम-तत्त्वको सुस्पष्ट किया। निष्कर्षत निष्काम भावनासे केवल प्रिय-सुखकी कामना तथा तदनुकूल आचरण ही सच्चा प्रेम है।

प्रेम ही ईश्वर है

(डॉ० श्रीगणेशदत्तजी सारस्वत)

'शैतानसे घृणा करो' एक दूसरे फकीरने राबियासे कहा।

'मैं घृणा कर ही नहीं सकती क्याकि घृणा मेरे पास है ही नहीं। जबसे प्रभुसे प्यार हुआ है, तबसे अन्य सब वृत्तियाँ समाप्त हो गयी है—केवल प्यार ही बच रहा है। अब तो मैं प्यार ही कर सकती हूँ।' राबियाने उत्तर दिया।

सच तो यह है कि यदि जीवका 'साधन-धाम' प्रियतमके 'नितनव-रस' से ओत-प्रोत है तो प्रेमाद्वैतकी अवस्थामे आनेमे देर नहीं है। इस 'नितनव-रस' का स्वाद लेनेके लिये ही तो भरत *'जनम जनम रति राम पद'* (रा०च०मा० २। २०४)-की याचना करते हैं। उनका यह रूप तो प्रेमकी पराकाष्ठा ही है—

पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू। जीह नामु जप लोचन नीरू॥

(रा०च०मा० २। ३२६। १)

तुलसी इस प्रेमाभक्तिको 'निर्भरा भक्ति' कहते हैं तथा भगवान् श्रीरामसे इसीकी कामना भी करते हैं—

भक्ति प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरा मे
कामादिदोषरहित कुरु मानस च॥

(रा०च०मा० ५ श्लोक २)

महापुरुष ईसाका कथन है कि 'प्रेम ही ईश्वर है।' सत इमर्सनकी वाणी है—'परमात्माका सारतत्त्व प्रेम है।' महात्मा कबीरका कहना है—जो इस *'ढाई आखर'* को समझ लेता है वही पण्डित है—*'ढाई आखर प्रेम का पढै सो पडित होय।'* शास्त्रकारका कथन है—

ख वायुमग्नि सलिल महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्राश्च हरे शरीर
यत्किञ्च भूत प्रणमेदनन्य ॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ४१)

अर्थात् आकाश वायु, अग्नि जल पृथ्वी, नक्षत्र जीवजन्तु, दिशाएँ, वृक्ष नदियाँ समुद्र तथा जो कुछ भूतजात है, वह सब परमात्माका ही शरीर है। अतएव सबको अनन्यभावसे प्रणाम करे। तुलसीदासजी कहते हैं—

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

(रा०च०मा० १।८।२)

अथवा—*'जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि। बदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥'* (रा०च०मा० १। ७ ग)-मे भी उपर्युक्त भावका ही विस्तार है। यह अनुभव करते हुए हमे विराट् ब्रह्मकी असीम चेतना अपने चारा ओर फैली देखनी चाहिये तथा सबके साथ सहृदयतापूर्ण प्रीतिका व्यवहार करना चाहिये और सबम प्रेमरूप भगवान्का दर्शन करना चाहिये।

महात्मा कबीर कहते हैं—

साईं के सब जीव हैं, कीरी कुजर दोय।
का पर दाया कीजिये का पर निर्दय होय॥

जब सभी उसी ईश्वरके अश हैं तब कौन अपना, कौन पराया—सभी करुणा, ममता तथा स्नेहके पात्र हैं। इस रहस्यको जो जान लेता है, वही श्रेष्ठ है। करुणा सहृदयता तथा सद्भावनाकी त्रिवेणीमे अवगाहन करके ही व्यक्ति प्रेमी ईश्वरकी निकटताका अधिकारी होता है।

वस्तुत लोकाराधन ईश्वरकी सच्ची आराधना है। दुखियोपर दया करना, सबसे मैत्रीका व्यवहार करना मीठी वाणी बोलना तथा दूसरोका दु ख दूर करना भगवान्की परम आराधना है।

भगवान्की घोषणा है कि जो सब कालमे सब प्राणियोपर दया करता है और अहकारसे रहित है, उसपर मैं सदा प्रसन्न रहता हूँ—

यो दयावान् द्विजश्रेष्ठ सर्वभूतेषु सर्वदा।
अहकारविहीनश्च तस्य तुष्टोऽस्म्यह सदा॥

(पद्मपुराण ७। १९। ८७)

सबके प्रति दयाका भाव रखा जाय, प्रेमका भाव रखा जाय सबके साथ उदारताका व्यवहार किया जाय तथा वाणीमे कटुताका लेश भी समावेश न होने पाये तो इससे भगवत्प्रीति प्राप्त होती है। सच तो यह है कि असली सुख-शान्ति दूसरेके सुखमे ही सुखी होनेम है—

जो तू चाहे शान्ति-सुख पर दुख कभी न चाह।

पर सुख से नित रह सुखी, निज सुख बेपरवाह॥

अहिसा, इन्द्रियनिग्रह, सब प्राणियोपर दया, क्षमा शम (शान्ति), दम (मनका निग्रह), ध्यान तथा सत्य-- ये भगवान्‌की पूजाके पुष्प हैं।* इसलिये हमारा यह प्रयत्न होना चाहिये कि हम अपनेमें इन गुणोको विकसित करे तथा इनके माध्यमसे अपने प्रभुको प्रसन्न करनेका प्रयत्न करे। हमारा यह प्रयत्न ही सच्ची उपासना है।

उपासना वैदिकी, गौणी तथा अनुरागात्मिका—ये तीन प्रकारकी होती हैं। 'वैदिकी' मे भक्त वेद-शास्त्रकी विधिके अनुसार अपनी कुल-परम्पराका स्मरण करते हुए इष्टदेव या कुलदेवका पूजन करता है। 'गौणी' मे प्रधानतया भगवान्‌के गुण और प्रभावपर दृष्टि रहती है तथा 'अनुरागात्मिका' भक्ति भगवान्‌की माधुर्य भक्ति है, जो भगवान्‌मे अत्यन्त अनुराग—प्रेम होनेपर सबसे पीछे आती है। बडी विचित्र रीति है इस 'अनुरागात्मिका' भक्ति की। इस मार्गके पथिक तो 'बद' आँखोसे प्रियके दर्शन करते हैं—

उलटी ही चलते है दीवानगाने इश्क,
करते है बन्द आँखो को दीदार के लिये।

अपने सुख-दु खमे तो सभी लोग रोते हैं, किंतु प्रेम-भरी आँखोसे जो आँसू निकलते हैं, अन्तमे वही मोती बनते हैं—

यूँ अश्क तो बहते है आँखा से सुबहो-शाम
उस आँख मे जो आए वही मोती होता है।

सच तो यह है कि उपासनाकी तभीतक आवश्यकता है जबतक हरिका नाम लेते ही आनन्दाश्रु न बहने लगे। ये आनन्दाश्रु ही भगवान्‌के विश्व-उद्यानको अधिकाधिक सुरम्य, समुन्नत तथा सुसस्कृत बनानेकी प्रेरणा प्रदान करते हैं।

प्रेम ससारका सर्वोपरि आकर्षण है। यही ससारका स्थायी सत्य है। प्रेमका ग्रहण ही परमात्माकी प्राप्ति है। इसीलिये महात्मा ईसाने कहा है—'हमे एक-दूसरेसे प्रेम करना चाहिये क्योकि प्रेम ही परमात्मा है। ईश्वरको वही जानता है, जो प्रेम करता है।' प्रेम परमात्माकी उपासनाका भावनात्मक रूप है।

प्रेमका स्वस्थ स्वरूप समर्पणमे है, त्यागमे है। प्रियसे प्रतिदानकी आशा उसे दूषित कर देती है। प्रेम करनेका उद्देश्य अपनी आत्माको प्रेम-रससे सराबोर करना है। उसका और कोई प्रतिफल नहीं। इस मार्गका अनुसरण जहाँ एक ओर *'तरवारि की धार पै धावनो है'*, वहीं *'अति सूधो'* भी है। यहाँ रचमात्र भी कपटाचरणके लिये गुजाइश नहीं है। इस मार्गपर तो वे ही चल सकते हैं, जो सर्वथा नि शक हैं तथा जिन्होने अपनेपन-तकका परित्याग कर दिया है। इसमे तो सर्वस्वार्पणमे ही कृतार्थता है—

अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साचे चलै तजि आपनपौ, झझकै कपटी जे निसाँक नही॥

(घनानन्द)

तुलसी जिस प्रेमपर बल देते हैं, उसकी परिधि सीमित नहीं है। उसका परिपाक आध्यात्मिक प्रेममे होता है। इसीसे भगवान् प्रकट होते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना॥

(रा०च०मा० १।१८५।५)

प्रेमका यह प्रभाव था कि मीराको जब यमुनामे फेका गया तो उसकी साँवली धारा उसे श्यामकी गोद लगी पिटारीमे उसके पास साँप भेजा गया तो वह उसे शालिग्रामके रूपमे दिखाया दिया तथा हलाहल प्याला पीनेको दिया गया तो उस हलाहलके श्याम रगमे उसे साक्षात् श्यामसलोनेके दर्शन हो गये।

ऐसे ही प्रेम-साधककी सज्ञा प्रेमयोगी है, जो विराट् जगत्‌मे फैली आत्माकी एकताको हृदयङ्गम कर सकनेमे सक्षम है। गीताकी वाणी है—

सर्वभूतस्थमात्मान सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन ॥

(६।२९)

वह योगी सभी भूत प्राणियोमे अपनी ही आत्मा समायी हुई देखता है, इसीलिये सभीको समभावसे देखता हुआ सभीके साथ प्रेम करता है। इसी ममत्वभावका आचरणका विषय बनानेपर बल देनेके उद्देश्यसे ही शास्त्रने निर्देश दिया है—'आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न

---

* अहिसा प्रथम पुष्प द्वितीय करणग्रह ।
तृतीयक भूतदया चतुर्थं क्षान्तिरेव च। शमस्तु पञ्चम पुष्प दम षष्ठ च सप्तमम्॥
ध्यान सत्य चाष्टम च ह्येतैस्तुष्यति केशव ॥

(पद्मपुराण ५।८४।४६—४८)

समाचरेत्' अर्थात् जो कार्य हम अच्छा नहीं लगता है, वह दूसराको भी अच्छा नहीं लगता। इसलिये कोई ऐसा कार्य न किया जाय जो दूसराको अन्यथा प्रतीत हो। वास्तवमे यही विचार-सम्पदा भारतीय संस्कृतिका बीज-मन्त्र है।

प्रेम-साधनाके द्वारा मनुष्य लौकिक जीवनका पूर्ण रसास्वादन करता हुआ पारमार्थिक लक्ष्यकी सिद्धि करता है। इसलिये मनुष्य-जीवनमें प्रेमसे बड़ी और कोई उपलब्धि नहीं। प्रेमीको प्रियके दोष भी गुणसदृश प्रतीत होते हैं। चातक तथा स्वाति नक्षत्रके मेघके उदाहरणद्वारा तुलसी प्रम-पयोधिको अमाप सिद्ध करते हुए कहते हैं—

> चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष।
> तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोख॥
> उपल बरसि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर।
> चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर॥
> पबि पाहन दामिनि गरज झरि झकोर खरि खीझि।
> रोष न प्रीतम दोष लखि तुलसी रागहि रीझि॥
> (दोहावली २८१ २८३ २८४)

प्रेमपूर्वक व्यवहारका ही दूसरा नाम प्रार्थना है, भगवत्प्रेममे ही वह घटित होती है। इसलिये भक्तका अर्थ हुआ जगत्को जिसने व्यक्तित्व दिया, जगत्को जिसने भगवान् कहा। वह अपने लिये नहीं वरन् सबके लिये जीता है। सबके हितमे अपना हित सबके सुखमे अपना सुख—यदि इन उदार भावनाओके द्वारा चरित्रका गठन न हुआ तो आत्मसमर्पण अधूरा है। समर्पणका अर्थ है—पूर्णरूपेण प्रभुको हृदयमे स्वीकार करना उनकी प्रेरणाओके प्रति सदैव जागरूक रहना और जीवनके प्रत्येक क्षणमे उसे परिणत करते रहना। जीवनमे हर साँस हर धड़कनमे हम प्रभुकी इच्छाको ही प्रधान समझे। भगवान्के निरन्तर चिन्तनमे दो बातें सहायक हैं—१-भगवान्के नामका जप तथा २-सत्सङ्ग। जप तथा सत्सङ्गका ही यह प्रभाव है कि भगवच्चर्चा चलनेपर मन उसमे रम जाता है कण्ठ गद्गद हो जाता है तथा नेत्रोसे अश्रु प्रवाहित होने लगते हैं। ऐसे भक्तोके लिये ही भगवान् कहते हैं कि *'तात निरंतर बस मैं ताकें॥'* उद्धवको सम्बोधित करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—*'क्रीतोऽहं तेन उद्धव'* मैं तो आत्मसमर्पण करनेवाले भक्तोके हाथ बिक जाता हूँ, उनका क्रीतदास हो जाता हूँ। तुलसीकी इस प्रतिज्ञाके मूलमें भी यही समर्पण-भाव है—

> श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहौं।
> रोकिहौं नयन बिलोकत औरहिं सीस ईस ही नैहौं॥
> नातो-नेह नाथसों करि सब नातो-नेह बहैहौं।
> (विनय पत्रिका १०४)

मीराकी भी यही प्रतिज्ञा है—

> मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई॥
> जाके सिर मोर मुगट मेरो पति सोई।

जिन आँखोमे भगवान्की छवि बस जाती है, उनमें अन्य वस्तुओके लिये स्थान ही कहाँ? संत रहीमका विश्वास है—

> जिन नैनन प्रीतम बस्यौ, तहँ किमि और समाय।
> भरी सराय रहीम लखि पथिक आपु फिरि जाय॥

इसीलिये हम चारो ओर बिखरी हुई अपनी सांसारिक वृत्तियोंको समेटकर प्रेममय भगवान्मे लगा देना चाहिये।

प्रेम जब जड जगत्तकको प्रभावित करता है, तब फिर चेतनजगत् उसका अपवाद कैसे हो सकता है? बस आवश्यकता है जन-जनतक उसके आलोकको विकीर्ण करने की।

> जिव जबते हरित बिलगान्यो। तबते देह गेह निज जान्यो॥
> मायाबस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रमत दारुन दुख पायो॥
> पायो जो दारुन दुसह दुख, सुख-लेस सपनेहुँ नहिं मिल्यो।
> भव-सूल सोक अनेक जेहि, तेहि पथ तू हठि हठि चल्यो॥
> बहु जोनि जनम, जरा, बिपति, मतिमंद! हरि जान्यो नहीं।
> श्रीराम बिनु बिश्राम मूढ! बिचारु, लखि पायो कहीं॥
> (विनय-पत्रिका)

प्रेमयोग और भावतत्त्व

(डॉ० श्रीभवदेवजी झा एम्० ए० (द्वय) पी-एच्०डी०)

योगकी विशेषता विशुद्ध प्रेममे ही है। यह प्रेम वर्णनातीत होता है—'अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपम्॥' जीव स्वभावत किसी वस्तुकी अपेक्षा न करके जब आनन्द-सागरमे मग्न होना चाहता है और जब अपने प्रेमास्पदके लिये व्याकुल हो उठता है, तभी सच्चे प्रेमका उदय होता है। इस प्रेमका उदय हो जाना प्रेमयोग कहलाता है। प्रेमम इन्द्रिय-सुखकी इच्छाओका नितान्त अभाव रहता है। विशुद्ध प्रेम इन्द्रिय और उनक धर्मोसे परेकी वस्तु है। प्रेमको रागके नामसे भी जाना जाता है। उसके तीन भेद माने गये हैं—१-पूर्वराग, २-मिलन और ३-विरह। रागमार्गके उपासक वैष्णवाने इस सम्बन्धमे आठ विकाराकी चर्चा की है। वे इस प्रकार हैं—१-स्तम्भ, २-कम्प, ३-स्वेद, ४-वैवर्ण्य ५-अश्रु, ६-स्वरभङ्ग, ७-पुलक और ८-प्रलय। प्रेमके लिये इन भावाको 'सात्त्विक विकार' कहा गया है। चिन्ता, जागरण, उद्वेग कृशता मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि मोह और मृत्यु—ये विरहकी दस दशाएँ हैं।

अनुरागको शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति नित्य वर्धमान कहा गया है। अनुराग जब बढते-बढते अपनी अन्तिम सीमातक पहुँच जाता है ता उसे 'भाव' कहते हैं। भावकी अन्तिम परिणतिको ही 'महाभाव' कहते हैं। महाभावके दो भेद बताये गये हैं—(१) रूढ महाभाव तथा (२) अधिरूढ महाभाव। अधिरूढ महाभावके भी दो रूप हैं—१-मोहन (मोदन) और २-मादन। मादन महाभाव ही मोहनके रूपमे परिणत हाकर दिव्योन्मादको प्रकट करता है। दिव्योन्माद ही प्रेमयोगकी अन्तिम अवस्थाको प्रकट करता हे। यह दिव्योन्मादका महाभाव राधिकाजीके शरीरमे सम्यग्रूपसे उत्पन्न हुआ था।

भावोंकी चार दशाएँ मानी गयी हैं—(१) भावोदय (२) भाव-सन्धि, (३) भावशाबल्य तथा (४) भावशान्ति।

विशुद्ध प्रेमयोगकी दशा बडी विलक्षण होती है। जब एक बार अपने प्रियतमसे लगन लग जाती है और जब वह हृदयमे बस जाता है तो नित्य-निरन्तर उसीके भाव प्रेमीके मनको बाँधे रहते हैं। फिर तो सभी प्रकारके भाव और सात्त्विक विकार एव विरह-दशाएँ स्वत उदित होने लगती हैं।

प्रेमीको अपने प्रेमास्पदके विरहमे रोने-धोनेके अतिरिक्त कुछ सुहाता ही नहीं। महाप्रभु चैतन्यदेव भी अपने श्यामसुन्दरके विरहमे रोते-रोते यही कहा करते थे—

नयन गलदश्रुधारया वदन गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचित वपु कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥

(शिक्षाष्टक ६)

अर्थात् 'हे प्रभा! तुम्हारा नाम लेते-लेते कब मेरे दोनो नेत्रोसे अश्रुधारा बह चलेगी? कब हम गद्गद कण्ठसे तुम्हारा प्यारा नाम रटते हुए पुलकित हो उठेगे?'

वस्तुत श्रीचैतन्यमहाप्रभुने तो नाम-सकीर्तनके साथ अपनी सारी साध पूरी कर ली और प्रेमतत्त्वके सभी भावों एव विभिन्न स्थितियोके साथ ही अखण्ड प्रेमानन्द भी प्राप्त कर लिया।

प्रेमीके विरहमे ही उसके प्रेमकी परिपक्वता होती है। विरह प्रेमकी जाग्रत्-गति और सुषुप्ति मिलन है। विरहके बिना प्रेमका असली स्वाद कहाँ? अपने प्रियतम श्यामसुन्दरके विरहमे तडपनेवाली गोपियाकी दशापर जरा विचार करे, जो प्रेम-बावरी बनकर कहती हैं—

बिनु गुपाल बैरिन भई कुजै।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भई बिषम ज्वालकी पुजै॥
बृथा बहत जमुना खग बोलत बृथा कमल फूलै अलि गुजै।

परमज्ञानी उद्धवजीने अपने निर्गुण ज्ञानकी गठरी प्रेमयोगिनी—गोपिकाओंके समक्ष खोल तो दी पर उनका विरह-विषमज्वर शान्त होनेके बदले और भडक उठा। उनके विरहका सक्रामकरोग उद्धवपर भी सवार हो गया।

विरह तो परमात्माकी एक विलक्षण देन है, जो किसी विरले भाग्यवान् कृपापात्रको ही प्राप्त हो पाता है। एक कविने तभी तो कहा है—

जिसपर तुम हो रीझते, क्या देते यदुवीर।
रोना-धोना सिसकना, आहो की जागीर॥

सचमुच विरह तो एक अनोखी जागीर है जो किसी

भाग्यशालीको ही नसीब होती है। सच्चा प्रेमी अपने प्रेमास्पदको पाकर उतना संतुष्ट नहीं होता, जितना उसके वियोग—बिछोहमें आँसू बहाकर होता है।

विशुद्ध भगवत्प्रेमकी विरहाग्निमें तो सारे जप-तप ईंधन बनकर राख हो जाते हैं। विरही उस विरहानलमें जलकर ऐसा राख बन जाता है कि उसे मौत भी नहीं ढूँढ़ पाती। इसीलिये तो कबीरजीने कहा—

बिरह अगिन तनमें तपै, अंग सबै अकुलाय।
घट सूना जिय पीव महँ, मौत ढूँढ़ फिरि जाय॥

ऋषियोंने अनेकानेक योग-साधनाका मार्ग प्रशस्त किया किंतु नटनागरके प्रेममें अपनी सुध-बुध खो बैठनेवाली गोपियोंके प्रेमके समक्ष उन्हें भी लज्जित होना पड़ा। चरनदासजीने तो विरहकी महिमाके सामने सारे योग जप, तप तथा ध्यानको भी नगण्य माना है—

पी पी कहत दिन गया, रैन गयी पिय ध्यान।
बिरहिन के सहजै सधै भगति जोग तप ज्ञान॥

परानुरक्ति और परम प्रेम

(आचार्य श्रीप्रतापादित्यजी)

महर्षि शाण्डिल्य भक्तिकी परिभाषा करते हुए कहते हैं—'सा परानुरक्तिरीश्वरे'। रक्ति शब्दका अर्थ है 'राग' या 'आकर्षण'। अनुरक्तिका अर्थ है किसी सत्ताको समझकर उसके प्रति राग रखना या आकर्षण-बोध। ईश्वर-प्रेम परानुरक्तिका विषय है। साधककी अनुरक्ति जब ईश्वरमें हो जाती है तो उसे भक्ति कहते हैं।

इस संसारमें सबका अस्तित्व आकर्षणके नियमपर ही टिका हुआ है चाहे वह जड सत्ता हो अथवा चेतन। फूलकी ओर भ्रमर और ग्रह-उपग्रह अपने केन्द्रीय ग्रहकी ओर उसी नियमके अनुसार आकर्षित होकर अपने अस्तित्वको सुरक्षित रखते हैं। विज्ञान आकर्षण-शक्तिके आधारपर ही जगत्की मर्यादा स्थापित करता है। मनुष्य सर्वोच्च चेतन सत्ता है। अतः उस प्रेमरूप परब्रह्मकी ओर उस परम केन्द्रकी ओर उसका आकर्षित होना सहज स्वाभाविक है। ज्ञात अथवा अज्ञातरूपमें मनुष्य उस अनन्त सत्ताको ही पाना चाहता है। उसे सीमित धन सीमित शक्ति या सीमित यशसे संतोष नहीं होता। वह अधिक और अधिकको खोज तथा प्राप्तिकी प्रचेष्टामें आजीवन रत रहता है। उसकी यह प्रचेष्टा ही परम केन्द्रीय सत्ता ईश्वरीय आकर्षणका प्रतीक है।

प्रश्न तब यह उठता है कि यदि उसके अंदर अनन्तकी प्यास है और उसके प्रति वह सर्वदा चेष्टावान् भी है तो आजीवन प्रयासके बावजूद उसकी यह प्यास मिटती क्यों नहीं? वास्तवमें इसी प्रश्नके उत्तरमें ईश्वरको जाननेकी इच्छा और प्रयासका जन्म होता है।

मनुष्य जन्म-जन्मान्तरसे जड जगत्के जड उपादानोंसे ही सम्पर्कित होता रहा है। उसकी इन्द्रियाँ भी बहिर्मुखी गति रखती हैं। इसलिये उसे इन्द्रियगम्य ज्ञान और अनुभवपर ही भरोसा होता है। उसे इन्द्रियातीत बोध प्रायः अविश्वसनीय ही लगता है। ईश्वर-सम्बन्धी अनुभूतियोंके लिये इन्द्रियातीत बोध ही आधार होता है। कृत्कर्मोंके सुफल—सुख और कुफल—दुःखके घात-प्रतिघातके परिणामस्वरूप चित्तकी कठोरता समाप्त होनेके उपरान्त वह मसृणताकी अवस्था प्राप्त करता है। यह मसृणता किंवा सूक्ष्मता ही 'भाव' नामसे जानी जाती है। श्रीरूपगोस्वामीने इसी तथ्यकी ओर संकेत करते हुए कहा है—

शुद्धसत्त्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते॥

अर्थात् जिसके द्वारा चित्त शुद्ध और सत्त्वगुण प्रधान होता है, प्रेमरूपी सूर्यके प्रकाशसे अंदर और बाहर सर्वत्र ज्योति फैल उठती है, ईश्वरके प्रति रुचि किंवा 'अनुरक्ति' उग्ररूपमें जनमती है चित्तकी वह मसृणता ही भाव है। जब यह भावावस्था प्राप्त होती है तो मनुष्यके अंदर जो आकर्षिणी शक्ति काम करती है वह उसे ईश्वरोन्मुख बना देती है। वही आकर्षण अज्ञानकी अवस्थामें मनुष्यको विषयोन्मुख बनाता है और जब जीवनके अनुभवों तथा जन्म-जन्मान्तरके घात-प्रतिघातसे ज्ञान उत्पन्न हो जाता है तो उसे वैराग्यका अनुभव होता है। तब उसके मनमें उस अनन्त सत्ताको जानने और पानेकी प्यास उत्पन्न होती है।

वह समझने लगता है कि विषयके प्रति आकर्षण—'वासना' और ईश्वरके प्रति आकर्षण—'प्रेम' कहा जाता है। अध्यात्मविद् जब उसे सकेत देता है अर्थात् जब वह साधना प्रारम्भ करता है, तब उस अज्ञात या अल्पज्ञात तत्त्व ईश्वरके प्रति प्रेमका जन्म होता है। यह प्रेम ईश्वर-प्राप्तिकी साधना या पयासमे रूपान्तरित हो जाता है।

यह ईश्वरोन्मुखी प्रयास भी प्रथमत बहिर्मुखी होता है। मनुष्य ईश्वरको या उस अज्ञात सत्ताको अपनेसे बाहरकी सत्ताआमे ढूँढता है, किंतु उसकी यह बहिर्मुखी गति एक बार फिर उसमे सघर्षकी स्थिति पैदा कर देती है। सत्सङ्ग, स्वाध्याय और विवेक-बलसे एक दिन उसे लगता है कि मैं जिस सत्ताको बाहर खोज रहा था वह तो मुझमे ही छिपी हुई है। जिस क्षण ऐसा अवबोध होता है वह उसके जीवनके परम सौभाग्यका क्षण है। फिर कभी अदर, कभी बाहरके इस प्रयोग और परीक्षणम वह उस अवस्थामे पहुँच जाता है जिसे 'वासुदेव सर्वमिति' या 'सर्व खल्विद ब्रह्म' कहा गया है। अनुरक्तिके अदर निहित भाव इन्हीं प्रयासाके प्रथम चरणकी ओर सकेत करते हैं, जिसके परिणामस्वरूप प्राप्त प्रेम-प्रवाहमे अपना सब कुछ खा जाता है और वह कह उठता है—*'लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल। लाली देखन मै गई, मे भी हो गइ लाल॥'* यह 'वासुदेव सर्वमिति' की अवस्था भी दो प्रकारके अभ्यास किवा साधनासे उपलब्ध होती है। पहला अभ्यास है सबमे प्रेमरूप ईश्वरका अनुभव और दूसरा है अपनेमे ईश्वरका अनुभव। अपनेमे ईश्वरके अनुभवके प्रयासका सकेत है, 'अह ब्रह्मास्मि' अथवा 'सोऽहम्' और सबम ईश्वरके अनुभवके प्रयासका सकेत है 'सर्व ब्रह्ममय जगत्।' सम्पूर्ण साधनामे इन दोनो प्रयासोका उपयोग एक साथ ही किया जाता हे।

इस प्रकार अपरासे परा और परासे परात्पराकी यह गति मनुष्यके अदर स्वत स्फूर्त आकपणका ही परिणाम है। अदर और बाहर—रूप और रूपातीतकी सतुलित अवस्था ही उस 'साम्यावस्था' के नामसे जानी जाती है जिसे योगम समाधि या तैलधारावत् ध्यानकी सतत अवस्था कहा जाता है। इस अवस्थाका प्राप्त साधक या सिद्ध जब देखता है कि एक कुत्ता उसकी थालीमसे सूखी रोटी लेकर भाग रहा है तो वह कुत्तेके पीछे-पीछे यह कहता हुआ दौड पडता है कि 'हे मेरे इष्ट! म ता रोटीमे घी लगाकर खाता-खिलाता हूँ। ठहरो मुझे उस रोटीमे घी तो लगा लेने दो।' स्वत स्फूर्त यह भाव ही भक्तिकी चरमावस्था हे और इसी अवस्थामे भक्ति 'साधन'स 'साध्य'मे बदल जाती है, 'जीव-प्रेम' 'ईश्वर-प्रेम' म बदल जाता हे, 'करुणा' 'कृपा'मे बदल जाती है।

भावकी यह यात्रा, आकर्षणका यह प्रवाह और प्रेमका यह पथ प्रधानरूपसे दो प्रकारकी भक्तिके रूपमे जाना जाता है, प्रेमरूपासक्ति तथा गौणीभक्ति। गौणीभक्तिमे गुण-भेद अथवा आर्तादिभेदसे तामसिक भक्ति, राजसिक भक्ति और सात्त्विकी भक्ति अन्तर्हित है। इसके अतिरिक्त भक्तिका दूसरा रूप है—ज्ञानमिश्रा अथवा केवला या प्रेमाभक्ति। यह केवला भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ भक्ति-भावका, सर्वश्रेष्ठ भगवत्प्रेमका रूप है। इसे ही देवर्षि नारदजी 'परमप्रेमरूपा' कहते हैं। तामसिक राजसिक और सात्त्विक—यह त्रिविधा भक्ति वैधी या गाणी भक्ति कही जाती हे क्याकि इसमे सेव्य-सेवक भाव, कुछ देने-लेनेका भाव रह ही जाता है। शुद्ध रूपमे ईश्वर-प्राप्ति या ईश्वर-प्रेम लक्ष्य नहीं रहता। जब शुद्ध रूपम मात्र ईश्वरके लिये व्याकुलता होने लगती हे तभी होता है 'परम प्रेम' अर्थात् 'भगवत्प्रेम'।

श्रीमद्भागवत (३।२९।८—१०)-के अनुसार—

हिसा, दम्भ या मात्सर्य आदिकी प्रेरणासे जो लोग भगवदुपासना करते हैं उनकी वह भक्ति 'तामसी' है। जो जागतिक वस्तुओ या मान-प्रतिष्ठा-जैसी मानसिक तृप्तिके लिये भक्ति करते हैं, उनकी वह भक्ति 'राजसी' कही जायगी और जो भक्ति पापनाशके उद्देश्यस सब कर्मफलाको भगवान्‌मे समर्पण करनेके रूपमे अथवा जिसमे पूजन करना कर्तव्य यह समझकर भेद-दृष्टिसे पूजा की जाती है वह भक्ति 'सात्त्विक' भक्ति कही जाती है।* इनम प्रत्यक प्रकारकी भक्ति साधनामे तात्कालिक कामनाकी पूर्ति

* अभिसन्धाय यो हिसा दम्भ मात्सर्यमेव वा। सरम्भी भिन्नदृग्भाव मयि कुर्यात् स तामस॥
विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा। अर्चादावर्चयेद्यो मा पृथग्भाव स राजस॥
कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम्। यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भाव स सात्त्विक॥

होनेके बावजूद यदि साधक अपने इष्टको न भूलकर उनकी उपासना करता रहता है तो उसे क्रमश उच्चसे उच्चतर भाव प्राप्त होते रहते हैं और वह तामसिकसे राजसिक तथा राजसिकसे सात्त्विक भावकी यात्राम बढता रहता है। अन्तत उसमे जब केवल प्रभुस्वरूप भगवान्को पानेकी प्यास रह जाती है तब उस भावावस्थाको 'मुख्याभक्ति'—'निर्गुणाभक्ति' कहत हैं, क्योंकि उसमे प्रकृतिके तीनो गुणाका प्रभाव नहीं रह जाता रह जाता है मात्र शुद्ध भगवत्प्रेम।

निर्गुणाभक्तिमे प्रतिष्ठित साधकसे यदि पूछा जाय कि वह ईश्वरमे प्रेम क्या करता है, उसका उद्देश्य क्या है ? तो वह कहेगा—'मैं नहीं जानता कि मैं उन्हे क्यो और किसलिये प्रेम करता हूँ। बस, यही जानता हूँ कि उनको प्रेम किये बिना रहा नहीं जाता।' इस अवस्थाकी चरम परिणति होती है उस भाव-दशामे, जिसम फिर उस इष्टके अतिरिक्त अन्य किसीकी चर्चा या परिचर्याम मन लगता ही नहीं।

सात्त्विक भक्ति इष्टके प्रति अनुराग बने रहनेके परिणामस्वरूप ज्ञानमिश्राभक्तिमे परिणत हो जाती है। गौणीभक्ति तव प्रधानाभक्तिमे परिणत हो जाती है। किंतु इस ज्ञानमिश्राभक्तिम साधकको ज्ञानका अहकार प्रच्छन्नरूपमे रह जाता है। यद्यपि यह गौणीभक्तिकी पूर्णावस्था है फिर भी यह केवलाभक्ति नहीं है। केवलाभक्ति निर्गुण भक्तिकी परिपक्वावस्था है। वह ज्ञानात्मिका हो सकती है, किंतु ज्ञानमिश्रा नहीं।

सामान्यरूपसे भावके विकास-क्रममे इस निर्गुणाभक्ति या केवलाभक्तिको प्राप्त करनेमे अनेक जन्म लग जाते हैं किंतु भगवत्कृपाका लेशमात्र प्राप्त होनेसे यह अवस्था सहज ही मिल जाती है। इसीलिये कहा गया है, 'महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा॥' (नारदभक्ति० ३८) अर्थात् वह प्रेमाभक्ति महापुरुषाकी कृपा अथवा भगवत्कृपाके लेशमात्रसे प्राप्त हो जाती है। जिसकी कृपासे हम मनुष्य-शरीर पाते हैं, उनके कृपाकणको प्राप्त करके क्षणभरम हम भगवत्प्रेमकी सर्वोच्च भावभूमिमे प्रतिष्ठित हो जाते हैं। यह भगवत्स्वरूपकी प्रकट सत्ता दुर्लभ अवश्य हो सकती है किंतु अलभ्य नहीं। गोस्वामीजी स्पष्ट शब्दाम कहते हैं—*'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना॥'* मैं *जाना'* शब्द विशेषत द्रष्टव्य है, क्याकि यह एक प्रतीति है, विश्वास है।

वैष्णवतन्त्रम केवलाभक्तिको रागात्मिकाभक्ति किंवा राधाभाव और उसकी पूर्वावस्था अर्थात् रागानुगाभक्तिको गोपीभाव कहते हैं। वैष्णवतन्त्र इस अवस्था-क्रमको तीन भागाम बाँटते हैं—व्रजभाव गोपीभाव और राधाभाव। ये तीना स्थितियाँ उसकी अन्तर्यात्राके तीन चरण हैं। उसमें योग और शैवतन्त्रकी कुण्डलिनीको ही 'राधा' कहते हैं। यह राधा-शक्ति प्रत्येक मनुष्यकी जीव-चेतनाका प्रोज्ज्वल स्वरूप है, जो मूलाधार-चक्रसे लेकर मणिपूरचक्रतक उठने-गिरनेपर व्रजभाव, मणिपूरसे आज्ञाचक्रतककी अवस्थामें गोपीभाव और आज्ञाचक्रसे ऊपर उठनेपर राधाभाव नामसे अभिहित है। आज्ञाचक्रसे ऊपर उठनेपर प्रत्येक मनुष्यके सहस्रारम वशी बजाते भगवान् श्रीकृष्णसे उस जीव-चेतनाकी चरमावस्था राधाका मिलन हो जाता है—शिव और शक्ति एक हो जाते हैं—राधा और कृष्ण एक हो जाते हैं। तब अनुभव होता है—*'राधा भई कृष्ण'* और *'कृष्ण भये राधा।'* सृष्टिकी यह सम्पूर्ण यात्रा ही वृन्दावनमे चल रही रासलीलाका आभ्यन्तरिक स्वरूप है।

यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि कोई भी पथ हो—ज्ञान हो, कर्म हो योग हो तन्त्र हो या भक्ति हो 'परम प्रेम' के बिना ईश्वर-प्राप्ति मात्र आकाश-कुसुम है। इसका कारण यह है कि भाव-साधना किंवा प्रेममार्गसे ही अहकार विसर्जित होता है और अहकारके पूर्ण विसर्जन अथवा समर्पणके बिना भगवत्प्राप्तिकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। साधना और सद्गुरु इस अहकारको तोडनेम सहायक होते हैं। एकमात्र भगवान् ही जीवोके प्रेमास्पद हैं, क्योकि उन्होने ही दुर्लभ मानव-शरीर दिया है और वे ही समय-समयपर विभिन्न नाम-रूपाके माध्यमसे मनुष्यका परित्राण करनेके लिये आविर्भूत होते हैं तथा वे ही हमम भक्ति-भाव एव परम प्रेमकी सरिता प्रवाहित करते है। उनकी कृपा-वर्षा आज भी उसी प्रकार हो रही है जिस प्रकार पूर्वकालम होती थी और भविष्यम भी होती रहेगी। हम केवल अहकारकी छतरी अपने सिरसे उतारनेकी साधना करनी है। जिस क्षण यह छतरी उतर जायगी, उसी क्षण कृपावारिसे

भीगकर हम कृतकृत्य हो जायँगे और हमारे रोम-रोमसे प्रेम-बिन्दुओका अजस्र प्रवाह प्रवाहित हो उठेगा।

मनुष्य-जीवनकी सार्थकता है शीघ्रातिशीघ्र जगद्बन्धु कृष्णसे मिलकर एकाकार हो जाना। वशीकी पुकार हम सुन रहे हैं, बस उनकी ओर दौड पडना है, वे बाँहे फैलाये हैं। हमे उनकी गोदमे सिमट जाना है। मेघके गर्जनमे, समुद्रके तूफानमे, आकाशके चन्द्रमामे, विद्युत्‌की चमकमे, पक्षियाके कलरवमे, नदियोकी कल-कलमे, वृक्षोकी हरियालीम फूलोके सौन्दर्यम तथा प्रात की सुरभिपूर्ण हवामे—कहाँ नहीं है वशीकी पुकार! हमारा थोडा-सा ध्यान इनकी ओर जाय तो हम अवश्य ही अपने प्रियतमके स्वरूपको देख और उनके आवाहनको सुन सकेगे। इसीलिये उपनिषद् कहते हैं—उठो, जागो और अपना अभीष्ट प्राप्त करो। ईश्वरकी प्राप्ति—भगवत्प्रेमकी प्राप्ति करना तुम्हारा परम प्रयोजन है। इस प्रयोजनकी सिद्धिके लिये अवसर चूको मत, कलकी प्रतीक्षा मत करो। आज, अभी और इसी क्षणसे साधनाके अनुष्ठानम लग जाओ। अगले क्षण क्या हो जायगा पता नहीं, इसीलिये प्राप्त क्षणका सदुपयोग कर लो।

प्रेमका प्रभाव

(आचार्य श्रीगगारामजी शास्त्री)

प्रेममे अपरिमित शक्तियाँ निहित रहती हैं। इसका प्रभाव भी विलक्षण होता है। हम जिसे चाहते हैं, जिससे प्रेम करते हैं, उसमे हमे केवल गुण-ही-गुण दिखायी देते हैं। दूसरी ओर जिसे हम नहीं चाहते, जिसके प्रति मनम किसी प्रकारकी घृणा अथवा द्वेषका भाव रहता है, उसम केवल दोष ही दिखायी देते हैं। इतना ही नहीं हमारी मानसिकता उसके गुणोको भी दोष मान बैठती है।

राग और द्वेष दोनो ही सक्रमणशील हैं। रागकी प्रतिक्रिया रागात्मक और द्वेषकी द्वेपात्मक होती है। कुत्ता एक सामान्य जीव है, किंतु वह हमारे व्यवहारके अनुसार पूँछ हिला सकता है और भूँक भी सकता है। एक अपरिचित शिशु प्यारसे लिपट सकता है ओर हमारी मुखमुद्रा देखकर रोते हुए भाग भी सकता है। प्रेम मनकी रागात्मिका वृत्ति है। इसके अनक रूप हैं। भगवान्‌के लिये कहा गया है—'अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे॥' (विष्णुसहस्रनाम)। उसी प्रकार प्रेमके अनेक रूप होनेके साथ ही यह प्रभविष्णु—प्रभावी भी है। ऊपर कहा गया है कि मनकी रागात्मिका वृत्तिका ही नाम प्रेम है। तदनुसार प्रेमका जो आधार होता है उसके अनुसार ही इसके नाम बदलते जाते हैं। अपनेसे छोटेके प्रति प्रमको स्नेह नाम दिया गया है। बडोके प्रति यही प्रेम श्रद्धा कहलाता है। पति-पत्नीके प्रेमको प्रणय कहा जाता है। मित्रोके परस्पर प्रेमका सौहार्द तो बन्धु-बान्धवोके प्रति उत्कण्ठाको हार्द नाम दिया गया है। 'श्रीदुर्गासप्तशती'म समाधि वैश्य और राजा सुरथ अपने विरक्त बान्धवाके प्रति भी हार्दी ही नहीं अतिहार्दी हैं। यही रागात्मिका वृत्ति रागसे अनुराग और अनुरक्ति भी कहलाती है। ईश्वरके प्रति यही चरम और परम अनुरक्ति भक्ति कही जाती हे। कहा भी गया है—'सा परानुरक्तिरीश्वरे' (शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र २)।

रागका विलोम द्वेष है। मनमें जिसके प्रति द्वेषका भाव होता है उससे हम वैरभाव पाल लेते हैं। उसके अनिष्टके उपाय सोचने लगते हैं। यदि किसीने हम हानि पहुँचायी तो उससे बदला लेने और कहीं अधिक हानि पहुँचानेका विचार मनमे आने लगता है। इस क्रिया-प्रतिक्रियाके क्रमसे शत्रुका ही नहीं हमारा स्वयका भी अहित होता है। कर्मवादका सिद्धान्त यहाँ हमारी सहायता कर सकता है, प्रतिहिंसासे जलते हुए मनको शान्ति दे सकता है। हमे सोचना चाहिये कि पूर्वजन्ममे हमने जिसका अहित किया हो, वह इस जन्मम कर्मफलके अनुसार यदि हमारा अपकार करता है तो हिसाब बराबर हो गया। हमे उस अपकार करनेवालेका हृदयसे कृतज्ञ होना चाहिये कि उसने इस प्रकार अपने ऋणसे मुक्त होनेका अवसर दिया। कहने-सुननेम यह बात कुछ अटपटी लग सकती है अव्यावहारिक लग सकती है। किंतु प्रयोग

करके अपनानेपर बडी ही सुखद और शान्तिदायक होनेके साथ ही ऊँचा उठानेवाली है।

सृष्टिकी सुरक्षा और सुचारुरूपसे सचालनके लिये प्रेमका बन्धन मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षियामे भी समानरूपसे पाया जाता है। चिडिया स्वय भूखी रहकर भी अपने शावकके लिये दाना लाती है। कौआ भोजनकी टोह पाते ही काँव-काँव करते हुए अपने सजातियाको बुलाने लगता है। गाय और सूकर किसी एकको विपत्तिम पडा देखकर एकजुट होकर उसे उस विपत्तिसे छुटकारा दिलानेके लिये प्रयत्न करते हैं। माँ अपनी सतानकी सुरक्षाके लिये प्राणोकी बाजी लगा देती है। यह सब प्रेमके कारण ही तो है। इसे आप ममता भी कह सकते हैं। वैसे यह प्रेमका सकुचित क्षेत्र है। हमारा अपनेपनका दायरा जितना विस्तृत होता जाता है प्रेमका व्यापकत्व भी उतना ही बढते हुए 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तक हो जाता है। कहना न होगा कि यही विश्वप्रेम गीता(६।३२)-मे भगवत्प्रेममें परिणत होते हुए इस प्रकार बताया गया है—

'आत्मौपम्येन सर्वत्र सम पश्यति योऽर्जुन।'

जो अपनी आत्माके समान ही सब प्राणियोमे सर्वव्यापक आत्माका ही अश देखता और—

'सर्वभूतस्थमात्मान सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते'—सभी भूतोमे स्वयको तथा स्वयमे सभी भूताको देखता है।

साथ ही यह मानता है कि सभी प्राणियोमे परमात्माका वही अश विद्यमान है जो मुझमे है। इस प्रकार सर्वभूतात्मभूतात्मा होकर **'सर्वभूतस्थित यो मा भजत्येकत्वमास्थित ।'** जो सभी प्राणियोमे निवास करनेवाले भगवान्‌का ही अनन्यभावसे चिन्तन—भजन करता है वह स्वय ब्रह्ममय हो जाता है। यही भगवत्प्रेम और विश्वप्रेमकी पराकाष्ठा है। 'श्रीदुर्गासप्तशती' मे मेधा ऋषि सकुचित परिवार-प्रेमके दायरेसे उच्चतर स्तरपर ले जाते हुए शक्तिके—जगन्माताके आँचलतक सुरथको पहुँचाकर उसे मन्वन्तराधिप और समाधि वैश्यको मोक्षका अधिकारी बना देते हैं। डिण्डिमभाष्यकार रामकविके अनुसार मधु, कैटभ महिषासुर रक्तबीज, शुम्भ और निशुम्भ जो कि क्रमश काम, क्रोध लाभ मोह, मद और मत्सर—, इन अरिषड्वर्गके प्रतीक हैं उनपर विजय प्राप्त करके ही ता मुक्तिका—भगवत्कृपाका पात्र बनना सम्भव होता है।

पातञ्जलयोगके अनुसार साधनाका प्रथम सोपान पाँच यमासे प्रारम्भ होता है जिसमें कहा गया है—'अहिंसासत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा ॥' (योगसूत्र २।३०)। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं। इनमें सर्वप्रथम अहिसाका नाम आया है। हिसाका अर्थ किसीको मारना ही नहीं होता। उसके तीन प्रकार हैं—कायिक, वाचिक और मानसिक। किसीके शरीरको चोट पहुँचाना कायिक हिसा है। कठोर वचन कहकर किसीको मर्माहत करना वाचिक हिसा है। जैसे कि द्रौपदीके द्वारा 'अन्धाके अन्धे ही होते हैं'—दुर्योधनसे इस प्रकार कहना महाभारत युद्धका एक कारण बन गया। मानसिक हिसा सबसे भयकर और हानिकारक है। मनसे किसीके प्रति बुरा सोचनेसे अपना मन दूषित होनेके साथ ही वातावरणम मनकी दूषित तरङ्गाका प्रभाव द्वेषका प्रचार-प्रसार करता है। जैन और बौद्ध धर्ममे अहिसाको प्रमुखता दी गयी है। उसका लक्षण जीव-हिसासे बचना मात्र नहीं है। हृदयमे अपने और पराये सभीके प्रति प्रेम, दया ममता तथा दु खियोके प्रति करुणाका भाव रखना भी अहिसाके अन्तर्गत आता है। जहाँतक योगसाधनाका प्रश्न है तो उसके लिये यह भी बता दिया गया है कि अहिसाकी साधनाकी कसौटी क्या है। कहा गया है—

'अहिंसाप्रतिष्ठाया तत्सन्निधौ वैरत्याग ॥'

(योगसूत्र २।३५)

अर्थात् साधक जब अहिसाका सच्चा आचरण करने लगता है तो उसके निकट परस्पर वैरभाव रखनेवाले प्राणी भी निर्भय होकर वैरका त्याग करके रहने लगते हैं। प्राचीन कालमे ऋषि-मुनियाके आश्रमाम हिरण और हिस्र-जन्तु एक साथ रहते आये हैं। कविवर बिहारीने क्या ही अच्छा कहा है—

कहलाने एकत बसत अहि मयूर, मृग बाघ।
जगतु तपोबन सौ कियौ दीरघ-दाघ निदाघ॥

विश्व त्रिगुणात्मक है। यहाँ सदासे तीनो प्रकारके—सात्त्विक प्रकृति-प्रधान राजसी और तामसी प्रकृतिवाले रहते आये हैं और रहेंगे। प्रमके प्रभावसे ही उनमें परस्पर सहिष्णुता और सहनशीलता एव सवेदनाका सचार सम्भव है।

अनन्य प्रेम और शाश्वत आनन्द

(डॉ० श्रीवागीशजी शास्त्री वाग्योगाचार्य)

सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका अश होनेपर भी जीवात्मा माया-यवनिकाके कारण अज्ञानवश स्वयको माया-परिच्छिन्न मानता हुआ अपने स्वरूपका विस्मरण कर बैठता है। यद्यपि जीवात्मा परब्रह्म परमात्माकी भाँति पिण्डविशिष्ट स्वयकी चिरकालिक सत्ताको अनुभवगम्य नहीं बना पाता, तथापि 'आत्मा वै जायते पुत्र' इस श्रुतिवचन तथा 'पूर्वेषामपि गुरु कालेनानवच्छेदात्॥' इस योगसूत्र (१। २६)-के प्रमाणानुसार परम्परया उसे अपने चिरकालिक सत्स्वरूपका भान तो हो ही जाता है। जीवात्माकी चेतनता उसे आजीवन आप्यायित करती रहती है। परमात्मा परब्रह्मक चिद्घनत्वका साक्षात्कार जीवात्माको होता रहता है। वह 'अस्ति' एव 'भाति' के त्रिकालाबाधितत्वको परम्परया अनुभूत करता रहता है। जीवात्मा जिसे अनुभूतिपथका निरन्तर, निरवच्छिन्न पथिक नहीं बना पाता है, वह है अनन्य प्रेम और शाश्वत आनन्द। कभी-कभी झलकभर मिल जाती है इनकी उसे। 'सजू' प्रिय या अनुरक्त नहीं बन पाता है यह चेतनाकी भाँति।

प्रकृतिमे अनवरतरूपसे जायमान षड्भाव विकारोके चक्रपरिवर्तनकी भाँति एक व्याक्रिया रहती है। जीवात्माका जिसके प्रति सासारिक राग, आसक्ति या प्रेम प्रकाशित होता है, रागी या प्रेमीमे उसके अपायकी आशकास ही द्वेष आविर्भूत हो जाता है। राग और द्वेष एक ही सिक्केके दो पटल हैं। इन्हींका नाम द्वन्द्व है। जीवात्मा राग या प्रेमसे सुख तथा द्वेपसे दु खकी अनुभूति करता है। ये दोनो ही स्थिर नहीं हैं। दु ख सुखम और सुख दु खमे परिवर्तित होता रहता है। न चिरस्थायी दु ख है और न चिरस्थायी सुख। जीवात्मा जिस पक्षसे सुखप्राप्तिकी मान्यता निर्धारित करता है, उसके प्रति मित्रभाव या प्रेमभाव और जिस पक्षमे दु खप्राप्तिकी मान्यता निर्धारित करता है, उसके प्रति इसका शत्रुभाव बन जाता है। इसी प्रकार जीवात्माको प्रकृति जय-पराजय, हानि-लाभ इत्यादि द्वन्द्वोकी चपेटमें धर दबाती है। फलत बेचारा जीवात्मा सुखकी अजस्र अनुभूतिसे वञ्चित रह जाता हे। यद्यपि राजा-महाराजाओके निकट सुख प्रदान करनेवाले साधनोका प्राचुर्य रहता है, तथापि त्रिकालाबाधित सुख तो उनके लिये भी खपुष्पायित बनकर रह जाता है। इसी त्रिकालाबाधित सुखका नाम है अनन्य प्रेम और शाश्वत आनन्द। इसे प्राप्तकर जीवात्मा धन्य-धन्य हो जाय, किंतु वह तो भ्रान्तिवश द्वन्द्वात्मक सुखके अन्वेषणद्वारा आत्मतृप्ति करना चाहता है। फलत कालान्तरम सुखका प्रतिद्वन्द्वी भाव दु ख उसके सम्मुख उपस्थित हो जाता ह। महाकवि कालिदासने दु ख एव सुखके निरन्तर परिवर्तनकी उपमा चक्रके अराकी गतिके साथ दी है, जो समानभावसे ऊपर या नीचे स्थिर नहीं रह पाते—'चक्रवत् परिवर्तन्ते दु खानि च सुखानि च।' परब्रह्म परमात्मा परम प्रेममय और आनन्दमय हैं। आनन्दका कोई प्रतिद्वन्द्वी भाव नहीं बनता। यह त्रिकालाबाधित है। यह प्राकृतिक सम्पदाओसे अप्राप्य है। यह इन्द्रियानुभव-गम्य नहीं है। कोई क्षण ऐसा आता है जब जीवात्मा इसकी अनुभूति सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मासे जुडकर कर लेता है। दोनोके मध्य माध्यम बनती है उसकी आह्लादिनी शक्ति परा चेतना कुण्डलिनी।

इसी अनन्य प्रेम और शाश्वत आनन्दको पानेके लिय जीवात्मामे बाल्यावस्थासे लेकर मरणपर्यन्त व्याकुलता बनी रहती है। इसकी प्राप्तिके लिये वह सुन्दर क्रीडनक रूपवती भार्या एव अतुल सम्पत्तिमे अनन्य प्रेम और आनन्दानुसन्धान करता फिरता है। अनेक जन्म-ससिद्ध साधकोको ही अनन्य प्रेम ओर शाश्वत आनन्दप्राप्तिका सत्य मार्ग दृष्टिपथम आता है। प्रत्येक जीवात्मा अपनेमे किसी अज्ञात न्यूनता एव असतोषका निरन्तर अनुभव करता रहता है। यही कारण है कि वह एक श्रेष्ठ-सी लगनेवाला वस्तुको छोड श्रेष्ठतर दूसरी वस्तुका अवलम्बन लेनेहेतु युग-युगासे प्रयत्नशील रहता आया है। शिशुपीडाकी भाँति उसे विदित नहीं हो पाता कि उसकी तडप कहाँ और किसके लिये है। वह कौन-सा तत्त्व है जिसे वह पाना चाहता है, जिसे पाकर उसका सभी अपूर्णताएँ समाप्त हागी और वह पूर्णताका सस्पर्श कर आप्यायित हो सकेगा।

जीवात्मा परमात्माका ही अश है। आनन्दाम्बुधि परमात्माका विछोह ही उसकी तडपन या अनन्य प्रेमप्राप्तिका हेतु है। योगीजन आनन्दमय परमात्माके साक्षात्कारके लिये ध्यानावस्थित होते हैं। ऋषि-मुनिजन तपस्याद्वारा उसका दर्शन करना चाहते हैं किंतु वह इन्द्रियातीत, निर्गुण, निराकार परमात्मा उनको दृष्टिगोचर कैसे हो सकता है? द्वन्द्वावस्थामे उस आनन्द-विग्रहका साक्षात्कार कैसे सम्भव है?

त्रेतायुगमें ऋषियोंने अनन्त सौन्दर्यधाम भगवान् श्रीरामका दर्शन किया था। ऐहिक जीवनमे प्राकृतिक इन्द्रियोद्वारा ही सौन्दर्य-विग्रह भगवान् श्रीरामका सानिध्य पानेकी ललक जाग उठी उनक अन्त करणोम। द्वापरयुगम वे अवतीर्ण हुए—गोपिकाआके रूपम, त्रिकालाबाधित आनन्दपारावारम निमज्जनोत्कण्ठित। मानो सोलह हजार श्रुतियाँ ही साक्षात् विग्रह धारण कर आनन्दकन्दकी सेवामे उपस्थित हो गयी हो वेणु-माधुरी रसपानके निमित्त। नाभिजन्मा परमेष्ठीका मुखभूषण भले ही वे बन गयी हा, पर अनाहत नाद-श्रवणसे नितान्त वञ्चित रह गयी थीं। भले ही वे उस आनन्दधामका स्वाभाविक नि श्वसित रह आयी हा, किंतु हिरण्यगर्भके समीप पहुँचकर चिर विरहाग्निके सतापसे सतप्त थीं। अस्तु, श्रुतिरूपी गोपियाने हृदयेशके चरणारविन्दमे स्वकीय प्राण समर्पित कर दिये और अनन्तशक्ति-माधुर्यम समाविष्ट हो गयीं।

परमात्माके अनुग्रहसे उनके जागतिक क्रियाकलाप निपुणतापूर्वक सम्पन्न होते थे, तन्मनस्क जो हो गयी थीं वे। जगन्मोहनके मनमे उन्होने अपना मन मिला दिया था। प्राणवल्लभके चरितालापके अतिरिक्त उनकी वाणीका कोई व्यापार ही शेष नहीं रह गया था। उनकी चेष्टाआकी अनुकृति किया करती थीं वे। अधिक क्या कह, अपने प्राणाधिक प्रियतमकी आत्माम अपनी आत्मा ही मिला दी थी उन्हाने। वे 'तदात्मिका' बन गयी थीं। बस हो गया पूर्ण भावसे समर्पण परमात्मामे जीवात्माका। तब क्यो नहीं वरण कर लेते उस शरणापन्नका वे परम करुणावरुणालय श्यामसुन्दर मदनमोहन। कठोपनिषद् (१।२।२३)-म बताया गया है कि परमात्माकी कृपाप्राप्तिके लिये प्रवचन मेधा ओर वेदविद्यामे निष्णात होना आवश्यक कल्प नहीं है। परमात्माका अनन्य प्रेम तो उसे ही मिलता है जिसे वे स्वय वरण कर लेते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूः स्वाम्॥

यह परमात्मा षड्रसोसे विलक्षण सर्वोत्कृष्ट रस है। गोपियोने इसे सर्वसन्यासपूर्वक अनन्यप्रेमके द्वारा पाया था। भगवान् श्रीकृष्णने धर्मका पक्ष लेकर परीक्षाके लिये अपने निकट गोपियाके आगमनका निषेध किया था किंतु गोपियाँ तो अनन्यप्रेमके शाश्वत आनन्दकी उस द्वन्द्वातीत भावभूमिपर पहुँच चुकी थीं, जो प्राकृतिक धर्म एव मर्यादाके नियमाको पकडसे सर्वथा बाह्य थी। आत्माराम नन्दनन्दनने गोपियाका प्रस्ताव अङ्गीकृत कर सामूहिक रासकी व्यवस्था की किंतु परमात्म-साहचर्यके कारण वे सासारिक वनिताआकी भाँति आत्मीय श्रेष्ठताको कूतने (मापने) लगीं। परमात्माको छोड 'अहम्' और 'इदम्' पर दृष्टिक्षेप करना अनन्यप्रेम या परानुरक्तिम बाधक बनता है।

गोपियाँ जब परमात्माके साथ विहार करते-करते अपने 'अहम्' का स्मरण करन लगीं तब रास (रससमूह)-म विघ्न उपस्थित हो गया। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेक शरण व्रज' के पूर्व योगेश्वरने 'मच्चित्त सतत भव' तथा 'अथ चेत् त्वमहकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि' का प्रतिपादन किया है कि मच्चित्तका पूर्ण अभ्यास होनेपर अहकारभावसे मुक्ति मिलती है। जीवोद्धारक भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोंके गर्व एव मानका परिमार्जन करनेके लिये उनके मध्यसे अन्तर्हित हो गये।

ऐसी स्थितिम भगवद्विरहव्याकुला गोपियाँ श्रीकृष्णकी लीलाआका अभिनय करने लगीं—'तद्विचेष्टा'। तरु-गुल्मलताआसे अपन हृदयेश्वरका पता पूछती फिरीं। किंतु श्रीराधारानीके कहनेपर उन्हाने हृदयेश्वरके अन्वेषणका प्रयत्न छोड दिया कि जैसे-जैसे हम उनकी ओर जायँगी वे भागगे और हमारे प्रियतमको कष्ट होगा। प्रियतमको सुख प्रदान करनेके लिये आत्मीय सुखका विसर्जन अनन्य प्रीतिकी कसौटी है। वे यमुनातटपर एकत्र हो गीत गाने लगीं—'जयति तेऽधिक जन्मना व्रज।' उनका यह गीत 'श्रीमद्भागवतमहापुराण'का प्रसिद्ध गोपीगीत है जो कनकमञ्जरी छन्दम निबद्ध है। गोपियोके विलाप करनेपर दयार्द्र भगवान् प्रकट हो गये—'तीव्रसवेगानामासन्न' (अधिमात्र उपायवाले योगियोके लिये समाधि-लाभ निकटतम होता है)। वे तो गोपियोके मध्य ही अवस्थित थे, अहकी यवनिकासे आच्छन्नभर हा गये थे। अह विगलित होते ही प्रकाशित हो गये। गोपियाकी ओढनी (यवनिका)-निकरसे निष्पन्न आसनपर विराजमान कला-निकेतन नन्दनन्दनने उन्हे परमानन्दमय रससे सतृप्त कर दिया। 'श्रीमद्भागवतमहापुराण'के अन्तर्गत पाँच अध्यायामे वर्णित जीव-विश्वात्मा-मिलनके अनन्यप्रेममय शाश्वत आनन्दका यह अपूर्व वर्णन 'रासपञ्चाध्यायी'के रूपमे प्रसिद्ध है।

भगवान्‌की प्रेमपरवशता

(धर्मरत्न डॉ० श्रीपुरुषोत्तमदासजी कानुगो)

तेषा ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमह स च मम प्रिय ॥

(गीता ७।१७)

नित्य मुझमे एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे भी अत्यन्त प्रिय है।

आचार्य श्रीरामानुजजी गीताके ७वे अध्यायपर प्रवचन कर रहे थे तो एक नवयुवक आया और उनसे दीक्षा लेकर ईश्वरप्राप्तिका मार्ग पूछने लगा। आचार्यजीने उससे सीधा-सा प्रश्न किया कि तुमने किसीसे प्रम किया है? युवकने उत्तर दिया कि मेरा किसीसे प्रेम नहीं है, ससारसे कोई राग नहीं है, मैं किससे प्रेम करूँ? मैं तो भगवान्‌को पाना चाहता हूँ। तब मधुर वाणीसे आचार्यजीने समझाया कि भगवत्प्राप्तिकी एक ही कसौटी है, वह है प्रेम। जिसके हृदयमें प्रेमकी प्यास नहीं कसक नहीं वह परमात्माको नहीं पा सकता।

'मै तो प्रेम दीवानी' कहकर मीरा नाचती थीं। मीराकी सखियाँ कहतीं—अरी साँवरी! अरी बाँवरी! तू तो बेसुध होकर गा रही है। पर वह तेरा साँवरा कितना निष्ठुर है, जो कभी तेरे पास आता ही नहीं। सखियोसे मीरा कहती, अरी सखिया! मेरे गोपाल तो मेरे साथ ही नाचते हैं। *'सखी री मेरे सग सग नाचे गोपाल'*। भला सखियाँ मीराके अन्त स्थ-प्रेमकी दिव्यताको कैसे समझ सकतीं! लौकिक दृष्टिसे अलौकिक परमात्माके दर्शन हो नहीं सकते। उस सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी और सर्वशक्तिमान् प्रेममय प्रभुका तो प्रेमकी भाषा ही समझमे आती है तथा वह प्रेमसे ही रीझता है। यह दिव्य प्रेम न तो किसी वैभवसे खरीदा जा सकता है और न प्रेमके विना इसका मूल्य ही समझमे आ सकता है। यह भगवत्प्रम मिट्टी, कण-कण और परमाणुमे छिपा हुआ स्पन्दन है, अमृतत्वकी प्रेरणा है, जडमे चेतनताकी अनुभूति करानेवाला परम तत्त्व है।

प्रेम अलौकिक एव अनुभवगम्य है। भक्तिमय प्रेम तो शर्करावगुण्ठित होता है। इसकी मिठास अनुदिन बढती जाती है। प्रेम मानव-जीवनकी सर्वोच्च प्रेरणा है, आत्मानन्दका आधार है। मानवको महामानव और पुरुषको पुरुषोत्तम बनानेकी शक्ति भगवत्प्रेममे ही है। प्रेममे आत्मसाक्षात्कारकी, हृदयमे निष्काम निष्ठा जाग्रत् करनेकी और आत्मासे परमात्माकी अनुभूति करानेकी एक महान् शक्ति होती है। सत्यरूपसे प्रकट हुआ प्रेम ईश्वरीय प्रकाश है। ऐसे पावन प्रेमका रसास्वादन जिसने नहीं किया उसका जीवन व्यर्थ है। इसीलिये इस दिव्य प्रेमकी सर्वत्र भावना करनेका सदेश हमे गीता देती है और बताती है कि सभी प्राणियोमे एक ही प्रेमरूप आत्मा समायी हुई है, अत सभीको समभावसे देखते हुए सभीके साथ प्रेम करना चाहिये—

सर्वभूतस्थमात्मान सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन ॥

(गीता ६।२९)

जिसके हृदयमें प्रेमका प्रवाह हिलोरे लेता है, उसके कण्ठसे प्रेमके गीत फूट पडते हैं और उसका सहज गान प्रभुके लिये ही होता है तथा उसका प्रभाव भी विलक्षण ही होता है। एक बार सम्राट् अकबरने तानसेनसे पूछा कि तुमसे अधिक श्रेष्ठ सगीतका आनन्द स्वामी श्रीहरिदासजीके गायनमे क्यो मिलता है? तानसेनने अकबरसे कहा—जहाँपनाह! मैं आपको खुश करनेके लिये गाता हूँ और मेरे गुरुदेव उन परमात्माको रिझानेके लिये गाते हैं।

परमात्मा सुन्दर है और प्रेमरूप है—ऐसा जिसको विश्वास हो गया वह भक्ति करता है तथा ससार सुन्दर है—ऐसा जो समझता है वह भक्तिसे विमुख रहता है, विषय-भोगाकी अतृप्त पिपासाम डूबता-उतराता रहता है। उसे भगवत्प्रेमका आभासतक भी नहीं हा पाता। वह राग-द्वेष छल-छद्मके आवरणासे आबद्ध हो जाता है। निष्कपट हृदय ही परमात्माको पा सकता है—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

(रा०च०मा० ५।४४।५)

प्रभुको केवल भक्तका पेम ही प्यारा है, उसका शरणागत भाव ही प्यारा है—

सबसो ऊँची प्रेम सगाई।
दुरजोधनके मेवा त्यागे, साग बिदुर घर खाई॥

× × ×

प्रेमके बस पारथ रथ हाँक्यो, भूलि गये ठकुराई॥

परमात्मा प्रेम चाहते हैं। प्रेममे पागल बने विना वे मिल नहीं सकते। जिन भक्तोका जीवन प्रभुमय हो, रोम-रोमम भगवान्‌का प्रेम बहता हो, वे भक्त प्रेममय प्रभुकी माधुर्यमयी, वात्सल्यमयी, करुणामयी और कृपामयी गोदम बैठनेके अधिकारी बनते हैं।

चैतन्य महाप्रभु प्रेमसे कृष्ण-नाम लेते हुए तदाकार हो गये। रामके नामसे कई जीव भवसागर तर गये।

सकेतमें, उपहासमे, अवमाननामें या व्यर्थ प्रलापमें अर्थात् किसी भी प्रकार उस प्रभु श्रीरामका या बाँकेबिहारी श्यामका नाम मुखसे निकल जाय तो सभी प्रकारके पापोंका नाश हो जाता है। भगवान् तन नहीं मन देखते हैं। वे सचमुच दीनदयाल हैं—

तुलसी अपने राम को रीझ भजो या खीझ।
भूमि पड़े उपजेगे ही उलटे सीधे बीज॥

भगवान्‌की प्रेमपरवशताको बताते हुए प्रेमी बिल्वमङ्गलजी कहते हैं—

हाथ छुड़ाये जात हौ, नियल जानि कै मोहि।
हिरदै ते जय जाहुगे, सयल यदौंगो ताहि॥

और कबीर भी प्रेमी भगवान्‌को अपने पीछे-पीछे दौडाने लगते हैं—

कबीर मन निर्मल भया जैसा गगा नार।
पाछै लागो हरि फिरहि कहत कबीर कबीर॥

अत हम भी उन करुणानिधान प्रेमास्पद भगवान् श्रीरामसे उनका प्रेम प्राप्त करनेकी प्रार्थना कर—

चाहे जितनी भी पीड़ा हो मन म भी हो व्यथा अपार।
सकटपर सकट भी आवे, टूट नहीं धैर्यका तार॥
यही प्रार्थना है, प्रभो! तुमपर ही है मेरा भार अपार।
छूटे नाते रिश्ते सारे छूटे कुल, छूटे परिवार॥
सब छूटे तो छूटे प्रभुवर! तुम ना छाड़ना प्राणाधार।
नहीं चाहिए धन या वैभव नहीं चाहिए पद अधिकार॥
यही चाह है पाऊँ प्रभुवर! सदा तुम्हारा अनुपम प्यार॥

प्रेमतत्त्व और प्रिय

(चक्रवर्ती श्रीरामाधीनजी चतुर्वेदी)

मनके राग या अनुरागरूप भावका नाम प्रेम है, जिसका व्यापक रूप प्रेमतत्त्व है। प्राणिमात्रका स्वभाव है कि वह किसी-न-किसीसे प्रेम करता है। हिसक सिह आदि जन्तु भी अपने बच्चेसे प्रेम करते ही हैं। लौकिक रागकी भावना अपनी अनुकूलतापर निर्भर रहती हे। अत तन-धन-जनमे राग होना स्वाभाविक है, कितु परमात्मामे अनुरागात्मक प्रेम होता है, जिससे नित्य आनन्दकी अनुभूति होती रहती है। यद्यपि परिवर्तनशील लौकिक विषयोका प्रेम चिरस्थायी नहीं होता, फिर भी क्षणिक तृप्तिके लिये लोग उनसे प्रेम करते हैं।

प्रेम और प्रियका सम्बन्ध सहज है। प्रेमके लिये प्रिय और प्रियके लिये प्रेम अपेक्षित है। एकके बिना दूसरा रह नहीं सकता। बात यह है कि दोनोकी प्रकृति एक ही है। प्रेमरूप साधनका प्रयोजन प्रियकी प्राप्ति है क्योकि प्रिय वस्तुकी प्राप्तिसे प्रेमी तृप्त होता है। अत तृप्ति प्रदान करनेवाला प्रिय है। किसकी अपेक्षा कौन अधिक प्रिय होता है, इसका निर्देश स्वामी श्रीविद्यारण्यजीने अपने 'पञ्चदशी' ग्रन्थमे इस प्रकार किया है—वित्तात् पुत्र प्रिय पुत्रात् पिण्ड पिण्डात् तथेन्द्रियम्। इन्द्रियाच्च प्रिय प्राण प्राणादात्मा प्रिय पर॥ (आत्मानन्द प्रक० ६०)

अर्थात् धनकी अपेक्षा पुत्र प्रिय होता है पुत्रसे प्रिय अपना शरीर और शरीरसे प्रिय इन्द्रिय इन्द्रियसे प्रिय प्राण तथा प्राणसे भी परमप्रिय आत्मा होता है, जिसकी प्रियताके कारण ही सभी लौकिक वस्तुएँ प्रिय होती हैं। जिसका उद्घोष बृहदारण्यकोपनिषद् (२।४।५)-मे भी श्रीयाज्ञवल्क्यजीने—'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवति' के रूपमे किया है। अत अत्यन्त प्रिय होनेके नाते आत्मा प्रेयान् है और शेष वस्तुएँ प्रिय हैं—'आत्मा प्रेयान् प्रिय शेष ।' (पञ्चदशी)

प्रेष्ठ प्रेयान् तथा प्रियतम—ये पद अत्यन्त प्रियक लिये प्रयुक्त होते हैं, जैसा कि गोपियाने भगवान् श्रीकृष्णको—'प्रेष्ठो भवास्तनुभृता किल बन्धुरात्मा (श्रीमद्भा० १०।२९।३२) कहा है। अर्थात् पति, पुत्र भाई-बन्धु आदि सभी शरीरधारियाके सुहृद् आत्मा—परम प्रिय आप ही हैं। अत केवल आपकी अनुरक्तिसे सबका प्रेम सार्थक हो जाता है। इसीलिये श्रीशुकदेवजीने राजा परीक्षित्‌जीसे

कहा है—

दहोऽपि ममताभाक् चेत्तर्ह्यसौ नात्मयत् प्रिय ।
यज्जीयत्यपि दहऽस्मिञ्जीविताशा बलीयसी॥
तस्मात् प्रियतम स्वात्मा सर्वेषामपि दहिनाम्।
तदर्थमेव सकल जगदेतच्चराचरम्॥
(श्रीमद्भा० १०।१४।५३-५४)

भाव यह है कि दहके गलित हानेपर भी जीनेकी जो आशा बनी रहती है, वह आत्माकी प्रियताक कारण ही है, क्याकि चराचर जगत्का प्रिय आत्मा ही है।

प्रमक द्वारा प्रियतम—परमात्माकी उपलब्धि होनेपर प्रमी भी प्रियम मिल जाता हैं। उसकी स्वत सत्ता नहीं रहती। तभी तो कहा गया है—

जब मैं था तब हरि नहीं अब हरि हैं मैं नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी, ता मैं दो न समाहिं॥

तात्पर्य यह है कि स्वार्थहीन प्रेमकी अति ऊँची अवस्थामे देह-गेह तथा मनका अलग भान नहीं होता। जैसा कि श्रीरामजीके प्रेम-सदेशको सुनाते हुए श्रीहनुमान्‌जीन कहा है—

जनि जननी मानहु जियँ ऊना। तुम्ह ते प्रेमु राम क दूना॥
(रा०च०मा० ५।१४।१०)

क्याकि उन्हाने यही कहा है—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥
(रा०च०मा० ५।१५।६-७)

निष्कर्ष यह है कि परमप्रिय परमात्माकी अनुभूतिका परम सरस साधन प्रेम ही है। अत स्वार्थरहित प्रेमसे प्रियकी उपलब्धिके लिये सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये।

प्रेममे आदान नहीं, प्रदान है

(श्रीजगदीशप्रसादजी एम्०ए० (द्वय) साहित्यरत्न)

प्रेम न बाड़ी ऊपजै प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै सीस देइ लै जाय॥
अथवा
यह तो घर है प्रम का, खाला का घर नाहिं।
सास उतारै भुइँ धरै, तब पैठे घर माहिं॥

—एस अनेक उदाहरण दिय जा सकते हैं, जिनसे पता चलता है कि प्रेमकी दुनियाम प्रेमीको अपने प्रेमास्पदक आगे अपने सभी मान-सम्मान गर्व-अहकारको तिलाञ्जलि देकर सर्वतोभावेन अपने-आपको अकिञ्चनके रूपम प्रस्तुत करना होता हैं। शीश उतारने या शीश देकर सौदा करनका मतलब अपने-आपको परम विनीत और निरीह बनाना हाता है। एसा करनेपर ही प्रेमका प्रसाद मिल सकता है।

दूसरे शब्दोम प्रेम बलिदानकी भूमि है, उत्सगकी भूमि है तथा न्योछावरकी भूमि है। इसमें सिर्फ दान है। यहाँ ग्रहणकी कोई गुजाइश नहीं है। प्रेम केवल नि स्वार्थ होता है। जहाँ स्वार्थकी बात आयी, वहाँ सच्चा प्रेम नहीं रहता। वह तो सौदेबाजी हो जाती है। माताका शिशुके प्रति वात्सल्य बहनका भाईक प्रति प्रेम या एक सच्चे देशभक्तका अपनी मातृभूमिके प्रति जो प्रेम होता है, वह नितान्त निष्कपट और स्वार्थहीन होता है। यहाँ सिर्फ देनेकी बात होती है, कुछ लेनेकी नहीं।

ऐसे नि स्वार्थ प्रेमकी उत्पत्ति किसी व्यक्ति-विशेषके रूप गुण और व्यवहारके प्रति आकृष्ट होनेपर होती है यह बात नहीं है। यह प्रेम तो अहेतुक होता है, अन्तरङ्ग हाता है।

प्रेमके आविर्भावम इन पाँच अवस्थाओका विशेष महत्त्व है—१-आकर्षण २-रुचि ३-ममत्व, ४-लगाव और ५-प्रेम। आचार्योंने प्रेमकी तीन विशेष स्थितियाँ बतायी हैं—१-पूर्वराग, २-मिलन और ३-विछोह।

(१) पूर्वराग—इसमे अपने प्रेमास्पदके रूप गुण, शौर्य औदार्य आदि सद्गुणोके बारेमे जानकर या सुनकर उसम रुचि उत्पन्न होती है। इसे प्रेमकी प्रथम स्थिति अर्थात् पूर्वराग कहते हैं। पूर्वरागकी इस स्थितिमे प्रेमी अपने प्रेमास्पदके विषयमे सोचते हैं। उसका सानिध्य प्राप्त करना चाहते हैं। अपने मनश्चक्षुओसे उसके दर्शन करते हैं, उससे सम्भाषण करते हैं आदि।

(२) मिलन—मिलनको आचार्योंने प्रेमकी स्थितियामे तीसरे स्थानपर रखा है। हालाँकि विकास-क्रममे मिलनका

दूसरा स्थान है, पर महत्त्व और तीव्रताकी दृष्टिसे यह तीसरे दर्जेका है। मिलनमे प्रेमकी तीव्रता नहीं होती है। इसमे अविच्छिन्नरूपम निरन्तर बढना नहीं होता है। यहाँ ता मानो उफनती नदियाका समुद्रमे समा जानेपर अपना अस्तित्व गँवा देने-जैसी वात होती है।

(३) विछोह—विछोहकी स्थितिको आचार्योंने प्रेमका पहला स्थान प्रदान किया है। इस विरहम मिलनकी जो तीव्र इच्छा होती है, वही प्रेमकी वास्तविक स्थिति होती है। यह उत्कट अभिलापा दिन-प्रतिदिन बढती जाती है। यह मिलनकी इच्छाकी तीव्रता बढते-बढते व्याकुलताकी स्थितिम बदल जाती है और इस विछोहके आनन्दम प्रेमी-भक्त डूबता-उतराता रहता है।

महाकवि सूरदासने 'भ्रमरगीत' मे, नन्ददासने 'भ्रमरगीत' मे और जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने अपने 'उद्धवशतक' म भगवान् श्रीकृष्णके विरहमे गोपियाकी मन स्थितिका जैसा निरूपण किया है, वैसा शायद अन्यत्र उपलब्ध नहीं हे। सूरदासकी गोपियाँ तो विरह-तापसे इतनी अधिक उत्तप्त हैं कि कृष्णद्वारा भेजे पत्रको जल जानेके डरसे छूती भी नहीं—

नैन सजल कागद अति कोमल कर अगुरी अति ताती।
परसत जरत बिलोकत भीजत दुहुन भाँति दुख छाती॥

अन्यत्र सूरदासने राधाकी विरह-दशाका वर्णन करते हुए लिखा है कि राधाने श्रीकृष्णके विरहम अपनी सुध-बुध ही खो दी है—

अति मलीन बृषभानु कुमारी।
हरि स्त्रम जल भींज्यौ उर अचल, तिहि लालच न धुवावति सारी॥
अध मुख रहति अनत नहिं चितवति ज्यौं गथ हारे थकित जुवारी।
छूटे चिकुर बदन कुम्हिलाने, ज्यौं नलिनी हिमकर की मारी॥
हरि-सँदेस सुनि सहज मृतक भइ, इक बिरहिनि दूजे अलि जारी।

जब श्रीराम सीता-हरणके बाद तरुओ, लताओ तथा वनके पशु-पक्षियासे सीताका पता पूछते हैं तब उनके हृदयकी व्याकुलता सीताके प्रति उनके प्रेमको ही प्रकट करती है—

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम्ह देखी सीता मृगनैनी॥

प्रेमका स्वरूप

प्रेमकी इदमित्थ कोई परिभाषा नहीं है। इस किसीको समझाया-बुझाया नहीं जा सकता। इसका अनुभव तो उसीको होता है जो इसम पडा हो। इसीलिये प्रेमको अनिर्वचनीय कहा गया है—**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्॥ मूकास्वादनवत्॥** (ना०भ०सू० ५१-५२) जैसे गूँगा गुड खाकर उसके मिठासका अनुभव स्वय करता है। उसे किसीको बता नहीं सकता, ठीक उसी तरह प्रेमकी भी कोई व्याख्या या परिभाषा नहीं हो सकती है। सच्चे, निश्छल और नि स्वार्थ प्रेममें न तो प्रमास्पदमें किसी विशेष गुणकी अपेक्षा होती है तथा न ही प्रेमी अपने प्रेमास्पदसे किसी वस्तुकी कामना करता है। यदि गुणकी अपेक्षा और किसी वस्तुकी कामना की गयी तो वहाँ प्रेममें स्वार्थ आ जायगा। तव तो प्रेम सापेक्ष हो जायगा कि प्रमास्पदमें यह या वह गुण होगा तभी उसस प्रेम होगा। इसीलिये तो प्रेमको—'**गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्**' (ना०भ०सू० ५४) कहा गया है। परम रसिक कवि रसखानने इसका क्या ही काव्यमय अनुवाद किया है। वे कहते हैं—

बिनु गुन जोबन रूप धन, बिनु स्वारथ हित जानि।
सुद्ध कामना ते रहित, प्रेम सकल रसखानि॥
अति सूच्छम कोमल अतिहि, अति पतरौ अति दूर।
प्रेम कठिन सबत सदा, नित इकरस भरपूर॥
रसमय स्वाभाविक बिना स्वारथ अचल महान।
सदा एकरस सुद्ध सोइ, प्रेम अहै रसखान॥

प्रेमके बीजके हृदयमे अङ्कुरित होनेके बाद वह दिना-दिन बढता जाता है। यहाँतक कि विरहकी चरमावस्थाको प्राप्त करनेपर भी पिया-मिलनकी प्यास लगी रह जाती है—

कागा चुनि चुनि खाइयो, सब अगन कौ मास।
दो नैना मत खाइयो, पिया मिलन की आस॥

प्रेममे परितृप्ति नहीं होती। यहाँ प्रेमीका हृदय अपने प्रेमास्पदके लिये दिन-रात तडपता रहता है। यह तडप ही प्रेम है। यह विरह ही प्रेमको जीवित रखता है। जहाँ यह तडप नहीं, प्रभुमिलनकी तीव्र इच्छा नहीं वहाँ प्रेम कहाँ?

'साधो! प्रेम बिना सब झूठा'

(श्रीभगवन्नामलीन पूज्यपाद स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी सरस्वती)

हमलोग 'प्रेम' शब्दका अपभ्रशम उपयोग किया करते हैं। बोलचालकी भाषामें बोल दिया करते हैं कि मुझको अमुक व्यक्तिसे, अमुक वस्तुसे और अमुक स्थानसे बहुत प्रेम है। मिष्टान्नप्रिय व्यक्ति कहा करते हैं—मुझे तो लड्डूसे बडा प्रेम है, पर लड्डू खाते-खाते पेट भरनेपर स्वय कहते हैं कि अब नहीं खायेगे—यहाँसे हटाओ, यह प्रेम कहाँ हुआ? परिवारप्रिय कहा करते हैं कि मुझको स्त्रीसे बडा प्रेम है, पर यदि उसी स्त्रीने मनके प्रतिकूल कार्य कर दिया भोजन अनुकूल नहीं बनाया तथा विपरीत बाते कह दीं तो उसपर बरस पडेंगे यह प्रेम कहाँ हुआ? 'प्रेम' शब्दका उपयोग तो हमलोग खूब करते हैं, पर उसका अर्थ नहीं जानते, उसका भाव नहीं जानते। सामान्यरूपसे प्रेमका भाव है—जिस चीजका प्रारम्भ तो हो, पर उसका अन्त न हो।

प्रेम खरीद-बिक्री या लेन-देनकी चीज नहीं है, यह तो भगवत्प्रदत्त है। कारण कि हमको ससारसे कभी भी प्रेम नहीं हो सकता और न ही ससार हमसे कभी प्रेम कर सकता है।

जो ससारसे विमुख हो गये, जिनकी ससारसे सर्वथा आसक्ति हट गयी ममता हट गयी है वही प्रेम पानेका पवित्र पात्र हो सकता है।

प्रेमका श्रीगणेश तो दोसे होता है, पर उसकी इतिश्री एकपर ही होती है। प्रारम्भम 'मैं' और 'तू' रहता है परतु अन्तम केवल तू-ही-तू रहता है।

परमात्मप्राप्तिके लिये, परम शान्तिके लिये तथा परमानन्दके लिये मुख्यत तीन साधन या मार्ग ही हमारे धर्मग्रन्थाम बताये गये हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। उसमे भी इस कलिकालके लिये प्रमाणित प्रस्थानत्रयी ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत और श्रीरामचरितमानस—ये तीनों कर्म, ज्ञान तथा भक्तिसे परिपूर्ण हैं। परतु ये तीनो ग्रन्थ भक्तिकी पराकाष्ठा हैं, प्रेमके द्योतक हैं एव हमलोगाको भक्तिमार्गपर चलनेकी आज्ञा देते हैं। इसलिये भक्तियोग ही हमलोगोके लिये उपयुक्त और आवश्यक है। तभी हम प्रेमलीलाकी अनुभूति कर सकते हैं प्रेमयोगी हो सकते हैं।

कर्म, ज्ञान और भक्तिको सरलतासे समझे तो सेवा, त्याग तथा प्रेम। कर्मयोगमे सेवा प्रधान है, ज्ञानयोगमे त्याग प्रधान है और भक्तियोगमे प्रेम प्रधान है। यदि तीनाको गहराईसे लें तो तीनोंमे अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। तीनो एक-दूसरेके पूरक हैं। इन तीनोंके बिना कोई रह नहीं सकता। यदि हम तीनामेसे किसी एक साधनको लेकर चले तो आगे चलकर शेष दोनों साधन अपने-आप आ जायँगे।

सेवा—बिना त्यागके सम्भव नहीं है और प्रेमके बिना सेवा क्यो करेगा?

त्याग—जबतक हममे सेवाभाव नहीं होगा, तबतक हम उसके प्रति त्याग कैसे कर सकते हैं। सेवामे त्याग करना ही पडता है और त्याग हम तभी कर सकते हैं, जब उसके प्रति प्रेम हो।

प्रेम—सेवा तभी हो सकती है जब उसके प्रति प्रेम हो और प्रेममे त्याग करना पडता हैं, अपने-आपको न्योछावर करना ही पडता है।

अब तीनोंमें अर्थ तो सरल लगता है, पर प्रयोगमे सेवा और त्याग अत्यन्त ही कठिन हैं। सेवाको लेगे तो शारीरिक बल चाहिये धन चाहिये, पुरुषार्थ चाहिये। सेवामे मेरा कुछ नहीं है सब ससारका है, यहाँतक कि मेरा शरीर भी अपना नहीं है ससारका ही है। सेवामे अपने-आपको तन मन और धनसे पूर्णरूपेण समर्पित कर देना पडता है, जो कि अत्यन्त कठिन है।

ज्ञानयोगमे त्यागकी प्रधानता है, शरीरको भी ब्रह्मके लिये त्याग करना पडता है। यहाँतक कि कर्मका भी त्याग करना पडता है। मैं शरीर नहीं हूँ, यह ज्ञान परिपक्व मस्तिष्कवालोके लिये ही सम्भव है। जब ऐसा दृढ ज्ञान हो जायगा, तब उस ज्ञानरूपी अग्निमे सम्पूर्ण कर्म भस्म हो जायँगे।

कर्म और ज्ञानका मार्ग हम अल्पबुद्धि एव अल्पायुवाले मनुष्योके लिये कठिन है। तभी तो भगवान्ने श्रीगीताजीमे सबसे सरल, सरस सुलभ समझम आनेवाला तथा सस्ता मार्ग भक्तियोगको ही कहा है और भक्तियोगमे प्रेमकी प्रधानता है। भक्तिकी पराकाष्ठा प्रेम है। प्रेम प्रेमास्पदको

दीवाना बना देता है—

> देह गेह को सुधि नहीं छुट गयी जग प्रीत।
> नारायण गावत फिरे प्रेम भरे सगीत॥
> मन म लागी चटपटी कब निरखउँ घनस्याम।
> नारायण भूल्यो सभी खान-पान विश्राम॥

तुलसीदासजी, कबीरजी, रसखानजी, रहीमजी, तुकारामजी, नरसीजी एव कर्माबाई, सुखुबाई मीराबाई आदि सभी प्रेमदीवाने ही तो थे। भक्तियोगम परमात्माको छोडकर दूसरा कोई है ही नहीं। अपना मन, बुद्धि चित, अहकार, दसा इन्द्रियाँ और शरीरतक परमात्माका ही है। ससार और ब्रह्माण्ड भी परमात्माका ही है—*'रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मड॥'* जब सब कुछ परमात्माका है तो इसमे करना क्या है? वह जो करायेगा वही करना है अर्थात् उसको करवाना होगा करा लेगा जो खिलाना होगा खिला देगा जहाँ सुलाना होगा वहाँ सुला देगा और जहाँ घुमाना होगा वहाँ-वहाँ घुमाता रहेगा। उसकी इच्छा ही अपनी इच्छा हो जायगी। हम उसकी मर्जीम अपनी मर्जी मिला दे बस फिर बाकी कुछ नहीं करना। पूज्यपाद स्वामी रामतीर्थजी कहा करते थे—

> गर यार की मर्जी हुई सर जोड़ के बैठे
> घर-बार छुड़ाया तो वहीं छाड़ के बैठे।
> मोरा जिधर मुँह वहीं मुँह मोर के बैठे,
> गुदरी ओढा दी तो वही ओढ के बैठे।
> साल ओढा दी तो उसी साल म खुस है,
> पूरे है वे मर्द जो हर हाल मे खुस हैं।

परमात्माकी प्रत्येक लीलाम हम प्रसन्न रहे, प्रत्येक विधानको हम मङ्गलमय ही मान ऐसा विचार दृढ करना पडेगा।

परम शान्तिकी प्राप्ति न कर्म करनेसे, न ज्ञानसे और न ही भक्ति करनेसे मिलेगी। जबतक करना लगा रहेगा परमात्मा हमसे दूर रहेगा और जब करना समाप्त हो जायगा तब परमात्मा सामने खडा मिलेगा। परमात्मा साधन-साध्य नहीं है साधनसे परे हे वह तो स्वयसिद्ध है।

भगवत्प्रेम पानेके लिये हम अबोध बच्चा बनना पडेगा। में कुछ नहीं हूँ, मेरा कुछ नहीं है और में कुछ भी जानता नहीं हूँ अर्थात् *'में'*, *'मेरा'* को सदाके लिये भूल जाना होगा। जेसे बिल्लीका बच्चा बिल्लीको देखते ही आँख बद कर लेता है और बिल्ली बच्चको मुँहसे पकडकर सुरक्षित स्थानम ले जाकर रख देती है। बिल्ली मुँहसे चूहको पकडती है ता वह मर जाता है, परतु बच्चेका बाल भी बाँका नहीं होता। इसी प्रकारस हमलोगाको परमात्माकी हाँ-म-हाँ मिला दना है। बिल्लाके बच्चेकी तरह आँख बद कर ल, अज्ञानी हो जायँ, गरीब हो जायँ ता पूरी तरहस जिस प्रकार मा अपन बच्चकी रखवाली करती है, उसी प्रकार वे हमारी रक्षा करग एव हर आवश्यकताकी पूर्ति करते रहगे—*'जिमि बालक राखइ महतारी॥'*

कर्मयोगी ससारको अपना मानता है, ज्ञानयागी 'मैं ब्रह्म हूँ' यह कहता है पर भक्तियोगी भगवान्‌को ही सब कुछ मानता है। कर्मम—करना प्रधान है, ज्ञानम—जानना प्रधान है पर भक्तिम मानना प्रधान है जो कि सबसे सुलभ है। तभी तो गास्वामीजीने कहा है—*'सीय राममय सब जग जानी।'* इसम तो मानना ही है कि ससार नहीं है परमात्माका विराट् रूप है सब परमात्माक अश हैं—*'ईस्वर अस जीव अबिनासी।' 'ईश्वर सर्वभूतानाम्'* (गीता १८। ६१) सबम वही है सब कुछ वही है, सब वहा है, सब जगह वही है एव सबका भी वही है, सबम भगवान्‌का दर्शन करते हैं तब कहते हैं—*'करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी'* परमात्माके नतमस्तक होते हैं अपने-आपको समर्पित कर देते हैं, शरणागत हो जाते हैं।

परमात्मा प्रेमके भूखे हैं। जो क्षीरसागरम सोते हैं, *जिनके पादपद्मोको लक्ष्मीमहारानी करकमलासे चाँपती रहती* हैं उनके यहाँ क्या कमी है? हमलोग सेवा, त्याग आर प्रेमका सही उपयोग करते ही नहीं हें। हमलोग भगवान्‌की सेवा करते हैं और प्रेम ससारसे करते हैं, यह गलत है। ससारसे प्रेम न करके उसकी सेवा करनी (कर्म करना) चाहिये। ससारकी सेवा अपने शरीरकी तरह करनी चाहिय।

त्याग वस्तु एव व्यक्तिका न करके आसक्तिका करना चाहिये, में और मेरेका त्याग ही त्याग है। मोह ममतासे रहित होकर प्रेम ससारसे न करके परमात्मासे करना चाहिये, क्योकि—*'रामहि केवल प्रेमु पिआरा।'* परमात्माको वस्तु या अन्य सामग्री नहीं चाहिये उन्हे प्रेम चाहिये। *हे परमात्मन्! मैं आपका ही हूँ। इसम लगना कुछ नहीं* है पर लाभ पूरे-के-पूरे है। जब हम कह देते हैं कि मैं

आपका हूँ, तब यह क्या है, कैसा है, क्या करता है, कुछ नहीं देखते—*'कोटि विप्र बध लागहिं जाहू। आए सरन तजौं नहिं ताहू॥'* हमारे अपराधको, अच्छाई-बुराईको वे नहीं देखते, क्योंकि प्रेममे यह सब नहीं होता है। जैसे शबरीके जूठे बेर जूठे नहीं थे बल्कि उनमे प्रेम भरा था। कर्माबाईकी जूठी खिचडी जूठी नहीं थी वह प्रेमपूरित थी। मीराबाईको दिया गया जहरका प्याला उनके लिये जहर नहीं था प्रेम था। गुरु अर्जुनसिहजीको लोहेके गर्म तवेपर बैठा दिया गया वह उनके लिये गर्म तवा नहीं था बल्कि धर्म-प्रेम था। शहीद भगतसिहजी हँसते हुए फाँसीपर चढ गये उनके लिये वह देशप्रेम था। राजा हरिश्चन्द्र डोमके हाथ बिक गये यह उनका बिकना नहीं था, बल्कि उनका सत्य-प्रेम था। प्रेमम देना ही होता है लेना नहीं—

जाका लहि कछु लहन की चाह न हिय मे होय।
जयति जगत पावन करन 'प्रेम' बरन यह दोय॥

प्रेम आदान नहीं बल्कि प्रदान है।

भगवत्प्रेम ढूँढने तथा तीर्थोंमे घूमनेसे नहीं मिलता, व्रत-उपवास करनेसे भी कुछ नहीं होता प्रत्युत वह तो भगवान्‌को सवस्व माननेसे मिलता है—

मक्का मदीना द्वारका बद्री और केदार।
बिना प्रेम सब झूठ है कहे मलूक बिचार॥

हमम और परमात्माम सिर्फ दो अगुलकी दूरी है। जैसे यशोदा मैया कन्हैयाके कमरमे ऊखलसे रस्सी बाँधतीं हैं पर कई हाथाकी लम्बी रस्सी दो अगुल छोटी हो जाती थी, परतु जब बरसानेके गोपियोके प्रेमकी दो अगुलकी रस्सी आयी तो कन्हैया ऊखलसे बँध गये। वही दो अगुल 'मैं' और 'मेरा' है। मैं विद्वान् हूँ, धनवान् हूँ, गुणवान् हूँ, बलवान् हूँ, मेरा मकान है, मेरी सम्पत्ति है और मेरी गाडी है—ये सब प्रेमके बाधक हैं। प्रेममे अपना रहता ही नहीं—

ढूँढा सकल जहान मे पाया पता तेरा नहीं।
जब पता तेरा मिला तो अब पता मेरा नहीं॥
तूँ तूँ करता तू भया, मुझमे रही न हूँ।
वारी तेरे प्रेम पर जित देखूँ तित तूँ॥

इसलिये परमात्मप्राप्तिके लिये कोई भी साधन नहीं करना है, कहीं जाना नहीं है, केवल परमात्माका हो जाना है। तब वह अपनी अहैतुकी कृपासे प्रेम प्रदान करेगा, अपनी ओर आकर्षित कर लेगा, अपनी मधुर लीलाओंको अनुभूत कराता रहेगा—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥

तभी कबीरदासजीने कहा—*'साधो! प्रेम बिना सब झूठा॥'*

[प्रेषक—वैद्यराज श्रीकुन्दनकुमारजी 'रामलला']

प्रेम ही परमात्मा है

('मानसरत्न सत श्रीसीतारामदासजी)

प्रेम हरी कौ रूप है त्यौं हरि प्रेम सरूप।
एक होइ द्वै यौं लसै ज्यौं सूरज अरु धूप॥

भगवान् प्रमस्वरूप हैं, प्रेमकी निधि हैं, प्रेमियाके साथ रहते हैं, प्रेमियोको सुख देने तथा उनके साथ प्रेममयी लीलाएँ करनेम ही उनको आनन्द मिलता है। भगवान् सवत्र व्यापक हैं, कण-कणमे उनकी स्थिति है, किंतु प्रेमसे ही वे प्रकट होते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
अग जगमय सब रहित बिरागी। प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥

× × ×

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

× × ×

अगुन अलेप अमान एकरस। रामु सगुन भए भगत पेम बस॥

जो निर्गुण, अखण्ड, अनन्त और अनादि हैं तथा जिनका चिन्तन ब्रह्मज्ञानी किया करते हैं वेद जिन्हे 'नेति-नेति' कहकर निरूपित करते हैं, जो आनन्दस्वरूप, उपाधिरहित एव अनुपम हैं और जिनके अशसे अनेक शिव, ब्रह्मा तथा विष्णु प्रकट होते हैं, ऐसे महान् प्रभु भी भक्तोके प्रमके वशीभूत होकर दिव्य लीलाविग्रह धारण करते हैं—

ब्यापक ब्रह्म निरजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या क गोद॥

जो परमार्थस्वरूप परब्रह्म हैं, अविगत अलख, अनादि अनुपम आदि सब विकारोसे रहित और भेदशून्य हैं, उन श्रीरामजीको केवल प्रेम ही प्यारा है—

रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥
(रा०च०मा० २।१३६।१)

तभी तो भक्तोके प्रेमवश ही सगुणरूप धारण करनेवाले श्रीरामजीने *'लोक बेद सब भाँतिहि नीचा। जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा॥'*, इस प्रकारके निषादराज गुहको अपने हृदयसे लगाया—*'यह तौ राम लाइ उर लीन्हा।'* (रा०च०मा० २।१९४।३) और 'हीनजातिसमुद्भवा' (अ०रा० ३।१०।१७) *'अधम ते अधम अधम अति नारी।'* इस प्रकारकी शबरीके द्वारा दिये गये कन्द-मूल-फलोको बडे ही प्रेमसे स्वीकार किया और उनके मधुमय आस्वादका बार-बार वखान किया—

प्रेम सहित प्रभु खाए बारबार बखानि॥
(रा०च०मा० ३।३४)

अनेक प्रकारके योग जप दान, तप, यज्ञ व्रत और नियम करनेपर भी भगवान् श्रीरामजी वैसी कृपा नहीं करते, जैसी प्रेम होनेपर करते हैं—

उमा जोग जप दान तप नाना मख ब्रत नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निष्केवल प्रेम॥
(रा०च०मा० ६।११७ (ख)

मानव-जीवनकी सार्थकता और जीवनका प्राप्य शिखर ह—भगवत्प्राप्ति, जो केवल प्रेमसे ही सम्भव है—

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान विरागा॥
(रा०च०मा० ७।६२।१)

अनेक जप, तप यज्ञ शम (मनको रोकना), दम (इन्द्रियाको रोकना), व्रत, दान वैराग्य, विवेक योग-विज्ञान आदि सबका फल भगवान्‌के चरणकमलोमे प्रेम होना है, इसके बिना कोई कल्याण नहीं पा सकता—

जप तप मख सम दम ब्रत नाना। बिरति बिबेक जोग बिग्याना॥
सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा॥
(रा०च०मा० ७।९५।५ ६)

वेदोने जगत्‌म (१) विषयी (२) साधक और (३) सिद्ध—ये तीन प्रकारके मनुष्य बताये हैं, इन तीनामे जिसका चित्त भगवान्‌के प्रेममे सराबोर रहता है, साधु-सभामे उसीका बडा आदर होता है—

बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥
राम सनेह सरस मन जासू। साधु सभाँ बड़ आदर तासू॥
(रा०च०मा० २।२७७।३ ४)

भगवान्‌के प्रेमके बिना ज्ञान भी शोभायमान नहीं होता—

सोह न राम पेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥
(रा०च०मा० १।२७७।५)

जीवके लिये सच्चा स्वार्थ यही है कि वह मन वचन और कर्मसे भगवान्‌के श्रीचरणोम प्रेम करे—

स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा। मन क्रम बचन राम पद नेहा॥
(रा०च०मा० ७।९६ (क) १)

सब साधनाका भी एक सुन्दर फल यही है कि भगवान् श्रीरामके चरणकमलोमे सदा-सर्वदा प्रेम हो।

अत गुरुप्रवर श्रीवसिष्ठजीके स्वर-म-स्वर मिलाकर प्रभुसे इस तुच्छ दासका विनम्र निवेदन है कि 'हे नाथ! हे श्रीरामजी! आपके चरणकमलाम मेरा प्रेम जन्म-जन्मान्तरमे भी कभी न घटे'—

नाथ एक बर मागउँ राम कृपा करि देहु।
जन्म जन्म प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥
(रा०च०मा० ७।४९)

श्रीद्वारकाधीशके उद्‌गार

दिन रैन चैन मन है न सुधि पाय ऊधौ
जसुमति मैया मेरे काज दुख पावै है।
अति सकुचाय नद बाबा ढिग जाय बूझै,
साँवरो सलोनो स्याम मेरो कब आवै है।
गुजै भरि अँजुरी सहेजै, चुनै मोरपख,
मुरली को चूमै, जल लोचन चुवावै है।
धेनु धूरि बेला धाय द्वार पै अधीर भई
दूरि लौं निहारै पथ, पथिक बतावै है।

(कुमारी अम्बिका सिह)

'है प्रेम जगतमे सार और कछु सार नही'

(स्वामी श्रीअच्युतानन्दजी महाराज)

ईश्वरकी भक्तिमे प्रेमकी प्रधानता है। आर्य-ग्रन्थो एव सतोकी वाणीमे प्रेमको भक्तिका पूरक बताया गया है—

प्रम बिना जो भक्ति है, सो निज डिभ विचार।
उद्र भरन के कारने जन्म गँवायो सार॥

अर्थात् प्रेमके बिना जो भक्ति है, वह मात्र पाखण्ड है। पट भरनेके लिये जो भक्ति होती है, उसमे मानव-जीवन निष्फल ही होता है। ईश्वर-भक्ति सभी सुखाकी खानि है। जो कोई ईश्वरसे प्रेम करेगे, उनको सर्वसुखदायिनी भक्ति मिलेगी। इसीलिये गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा—

भाव सहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी॥

भक्तिकी महिमा तो यह है कि जिनके हृदयमे यह भक्तिरूपी मणि बसती है, उन्हे सपनेम भी लवलेशमात्र दु ख नहीं होता। यथा—

राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताके॥

काकभुशुण्डिजी गरुडजीसे कहते हैं—

निज अनुभव अब कहउँ खगसा। बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा॥

भक्तिम ईश्वरकृपा अत्यन्त आवश्यक है। ईश्वरकृपासे उनकी प्रभुताकी महिमा जान सकते हैं। यदि ईश्वरकी प्रभुताको नहीं जानग तो उनम विश्वास नहीं होगा और विश्वासरहित भक्तिमे प्रेम नहीं होगा तथा प्रेमके बिना उसम दृढता नहीं आ सकेगी। इसीलिये काकभुशुण्डिजी कहते हैं—

राम कृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई॥
जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दिढाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥

जैसे जलकी चिकनाई स्थिर नहीं हाती। उसी तरह प्रेमके बिना भक्तिमे स्थिरता नहीं आती अर्थात् बिना प्रेमके अविरल भक्ति नहीं हो पाती। प्रेमम प्रभु-मिलनकी विकलता होती है।

गोस्वामी तुलसीदासजीने दोहावलीम प्रेमका महत्त्व बहुत उत्तम ढगसे दिखाया है। मकर, साँप मेढक और कछुआ—ये सभी जलमे रहते हैं जल ही इन सबोका घर है परतु पानीसे सच्चा प्रेम केवल मछलीको है। मकर, साँप, मेढक और कछुए जलको छोडकर भी रह सकते हैं, परतु मछली जलके बिना किसी प्रकार भी नहीं रह सकती। वह पानीके लिये छटपटाकर प्राण दे देती है। मुख्यतया जलसे प्रेम केवल मछलीको ही है। इसलिये कहा—

मकर उरग दादुर कमठ जल जीवन जल गेह।
तुलसी एकै मीन को है साँचिलो सनेह॥
(दोहावली ३१८)

प्रेमका एक अन्य उदाहरण दूध और पानीसे भी ले सकते हैं। जब कोई दूधको किसी बर्तनमे डालकर आगपर रखकर औंटना चाहते हैं ता आगकी गरमीसे दूधके अदरका पानी भाप बनकर उडने लगता है। दूध प्रेमवश उस पानीको पकडनेके लिये उफानके रूपमे ऊपर उठता है। जैसे ही दूधके उफानपर पानी डालते हैं, दूध पानीको पाकर शान्त हो जाता है। इसी तरह भक्त भगवन्तके विरहमे तबतक व्याकुल रहते हैं, जबतक उन्हे प्रभु-प्राप्ति न हो जाय। प्रभु-प्राप्तिसे आवागमनका दु ख मिट जाता है। शान्तिस्वरूप सर्वेश्वरको प्राप्तकर वे सत हो जाते हैं।

इसलिये गुरुदेव ब्रह्मलीन पूज्यपाद महर्षि मेँहीँ परमहसजी महाराज भक्तोसे कहते हैं—

आहो प्रेमी करु प्रेम प्रभु से हो।
बिना प्रभु दु ख सहु भव म भ्रमत रहु, करु प्रेम प्रभु से हो।
आहो प्रेमी त्यागी देहु जग प्रेम हो,
जगप्रेम फाँसी आत्मसुखनासी प्रभुप्रेम मुक्तिप्रद हो।

तात्पर्य यह है कि परम प्रभु परमात्मासे प्रेम करनेवालेको ससारके सारे बन्धनोसे मुक्ति मिल जाती है। इसीलिये भक्तिमे प्रेमकी प्रधानता है। इस सम्बन्धमे निम्न दोहेमे बडी सुन्दर बात कही गयी है—

परिवा प्रथम प्रेम बिनु, राम मिलन अति दूर।
यदपि निकट हृदय निज, रहै सकल भरपूर॥

अर्थात् ईश्वर-भक्तिम यदि प्रेम नहीं है तो रामका मिलना अत्यन्त दूर है। यद्यपि वे राम अपने हृदयम सदा वर्तमान हैं।

भक्तवर सूरदासजीने बताया है कि भक्तिकी श्रेष्ठता

केवल प्रेमसे है। प्रेमके ही कारण दुर्योधनके राजसी भोगको त्यागकर भगवान् श्रीकृष्णने भक्त विदुरजीके यहाँ सागका भोग लगाया, शबरीके प्रेमके कारण ही श्रीरामने बहुत प्रेमसे उसके बेर खाये। प्रेमवश ही भगवान् श्रीकृष्णने नाई बनकर राजाकी सेवा की। राजा युधिष्ठिरके यज्ञमे भगवान् श्रीकृष्ण जूठे पत्तलाको उठाकर फेकते थे। प्रेमके वशमे ही भगवान् अर्जुनका रथ हाँकनेवाले सारथि बने तथा प्रेमके कारण ही उन्होने वृन्दावनमे गोपियाके साथ रासलीला की थी। सूरदासजी कहते हैं कि इस प्रेमका वर्णन करनेमे मैं एकदम असमर्थ हूँ, प्रेमकी बडाई मैं कहाँतक कर सकता हूँ। यथा—

सबसो ऊँची प्रेम सगाई।
दुरजोधनके मेवा त्यागे, साग विदुर घर खाई॥
जूठे फल सबरीके खाये, बहु बिधि स्वाद बताई।
प्रेमके बस नृप सेवा कीन्हीं आप बने हरि नाई॥
राजसु-जग्य जुधिष्ठिर कीन्हो तामे जूँठ उठाई।
प्रेमके बस पारथ रथ हाँक्यो, भूलि गये ठकुराई॥
ऐसी प्रीति बढी बृदावन, गोपिन नाच नचाई।
सूर कूर इहि लायक नाहीं, कहँ लगि करौं बड़ाई॥

इसलिये एक भक्त कविने कहा—

'है प्रेम जगतमे सार और कछु सार नहीं।'

भगवत्प्रेम—आनन्दघनकी प्राप्तिका श्रेष्ठतम उपाय

(शिवाश्रयानन्दी श्रीरामप्रसादजी प्रजापति)

इस सृष्टि और ससारमे प्रेमकी अद्भुत महिमा है, भगवत्प्रेमकी तो विलक्षण लीला है। विश्वात्मा परम पिता परमात्मा प्रत्येक जीव, जड-चेतन और कण-कणमे प्रेमरूपसे व्याप्त हैं। जिस प्रकार *'हरि अनत हरिकथा अनता।'* (रा०च०मा० १।१४०।५) उसी प्रकार *'हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना॥'* (रा०च०मा० १।१८५।५)-के अनुसार प्रभुका प्राकट्य भी भक्तके प्रेमके वशीभूत होकर ही होता है।

चैतन्य महाप्रभु अपनी भक्तमण्डलीके साथ वृन्दावन-पथपर थे तब वे प्रेमपूर्वक हरिका कीर्तन करते हुए चलते थे। वे विश्वके ऐसे प्रेमी हरिकीर्तनकार थे ऐसे प्रेमीभक्त थे कि जब वे जगलसे गुजरते थे तो रास्तेमे हिंसक जीव मिलते थे वे सभी अपना स्वाभाविक वैरभाव भुलाकर प्रेममयी अमृतधाराम उन महाप्रभुके साथ अपनी सुध-बुध भूलकर प्रेमलीलामे झूमते हुए चलते थे।

प्रेम एक ऐसा भगवद्भाव है जिसे पाकर मनुष्यका जीवन धन्य हो जाता है। प्रेम अन्त करणकी भाव वस्तु है आनन्दकन्द ब्रह्माण्डनायक परमात्मप्रभुकी जब विशेष कृपा होती है तब वह प्रेम हृदयमे प्रकट होता है। प्रेमरसके उद्घाटनके लिये प्रेमरहस्याकी माधुर्यताके लिये प्रेम-लीलाओके सम्यक् दर्शनके लिये परमात्मप्रभुने यह मानव-देह एव मनुष्य-जीवन ही उपयुक्त चुना है। अत हमे परमात्मप्रभुके आशयको समझकर प्रेम-भावमे निमग्न रहनेकी सतत चेष्टा करनी चाहिये।

प्रेम कोई कर्मजन्य वस्तु नहीं है, कठिन परिश्रम कर लेगे कर्म कर लेगे तब हमे प्रेम नामकी वस्तु मिलेगी ऐसी बात नहीं है क्योकि प्रेमका सम्बन्ध अन्तरङ्गभावसे है। प्रेम न तो खेतमे उपजता है और न ही प्रेम नामकी वस्तु बाजारमे बिकती है—

प्रेम न बाड़ी ऊपजै प्रेम न हाट बिकाय।'

यह तो आध्यात्मिक जगत्की अमूल्य चीज है, इसका कोई मूल्य नहीं होता बल्कि यह तो बिना मूल्यके प्रेमी भक्तो सत-महात्माओके पास उपलब्ध है।

प्रेम भगवान्का सत्यस्वरूप है। इसे किसी बाहरी प्रचार-प्रसारकी तनिक-सी भी आवश्यकता नहीं है और न कोई बाह्यरूप—दिखावा ही चाहिये। प्रेम तो अन्त करणसे प्रकट होकर भावरथपर सवार हो निकलता है—तब श्रद्धा भक्ति विश्वास ज्ञान-विज्ञान, वैराग्य प्रेरणा और सदाचारके रसमे सराबोर होकर वीणाकी मादकतामे प्रेमी गाने लगता है—

'हे री मैं तो दरद दिवाणी मेरो दरद न जाणै कोय॥

ससारकी अपार सम्पत्ति, उच्चाधिकार विशाल वैभव तथा श्रेष्ठकुलोत्पन्नता—सब कुछ पीछे छूट जाता है रह जाती है सिर्फ दीवानगी।

दीवानगीका यह अगम पन्थ ससारी और भौतिकवादी समझ नहीं सकते हैं। विशुद्ध प्रेम, निष्काम प्रेम, नि स्वार्थ प्रेम—यही तो वशीवादनका मूल मन्त्र है। श्रीकृष्णप्रेमका माधुर्य इतना मर्मस्पर्शी, हृदयस्पर्शी है कि उसे प्रेमी भक्तका अनुभव ही समझ सकता है।

इस नश्वर ससारमे सभी कुछ मिथ्या है, सिर्फ प्रभुका स्मरण, कीर्तन और भगवत्प्रेम ही सत्य है।

श्रीभगवान्से प्रेम, प्रभुसे प्रेम जन्म-जन्मान्तरकी पावन डोरी बन जाती है। जब प्रेम-लगन लग जाती है तब फिर वह टूटती भी नहीं है और वह पवित्रपावन प्रेमका आकर्षण—बन्धन छूटता भी नहीं है।

लौकिक प्रेम—शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रिय, परिवार, कुटुम्ब, समाज—मोह, ममता, स्नेह और अपने सुख-आरामको लेकर बनता है। जड वस्तु-पदार्थमें सुख खोजना लौकिक प्रेम है।

'मैं और मेरा' प्रेम नहीं है, पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा भी प्रेम नहीं है, यह तो तथाकथित प्रेमका खेल है—
सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥

यदि व्यापक प्रभुके स्वरूपभूत प्राणिमात्रमे भगवद्भाव रखकर प्रेमपूर्वक अनासक्तभावसे सबकी सेवा कर सको तो यही लौकिक प्रेम प्रेममय प्रभुकी परम प्रीतिका साधन बन जायगा।

अलौकिक प्रेम—भगवान् श्रीकृष्णने गीता (१०। १०)-मे कहा है—'जो भक्त मुझे नित्य-निरन्तर प्रेमपूर्वक भजते हैं—'भजता प्रीतिपूर्वकम्' उनको मैं बुद्धियोग (समताका याग) प्रदान करता हूँ।' ऐसा योग प्राप्त होनेपर जीवन शाश्वत स्थितिको प्राप्त हो जाता है। जहाँ न कोई विषाद है, न हर्ष है, न नफा और न नुकसान है, निन्दा-स्तुति, स्वस्थ-अस्वस्थका कोई भी स्थान नहीं है, कोई सयोग-वियोग भी नहीं अर्थात् अन्त करणमे समताका भाव रहता है। परमात्मप्रेमम शान्ति है, अलौकिक प्रेमकी प्रेमवाटिकामे जिन प्रेमी आत्माओने आनन्द लिया है वे युगो-युगोसे स्मरणीय हैं—

प्रह्लाद, ध्रुव, मीरा, गोप-गोपियाँ, द्रौपदी, शबरी सूरदास, तुलसीदास, उद्धव, अक्रूरजी आदि सब-के-सब आज भी प्रात स्मरणीय, पूजनीय, अलौकिक प्रेमरसको आत्मसात् करनेवाली पुण्यात्माएँ हैं। ऐसेमे लोक भी सुधरता है और परलोक भी। अलौकिक प्रेमगाथा और अलौकिक प्रेम (ईश्वरप्रेम) कभी क्षीण नहीं होता, सदैव नित्य नवीन रहता है।

'प्रेम गली अति साँकरी, ता मैं दो न समाहिं॥'

ये भगवत्प्रेमी आत्माएँ उसी गलीसे गुजरीं जहाँसे, जिसमसे कोई दूसरा (अन्य भाव) गुजर ही नहीं सका। यह भगवत्प्रेमकी अलौकिक महिमा आनन्दघनकी महिमा है।

जीवनमे सभी शाश्वत सुख-शान्ति और आनन्दकी अनुभूति चाहते हैं, परतु इसकी सच्ची अनुभूति हमे तभी हो सकती है जब हम प्रेम-पथपर अग्रसर हो, हम प्रभुसे प्रार्थना करे कि 'हे प्रभो! आप हम शीघ्र अपना भगवत्प्रेम प्रदान करे।' जो प्रेमरूपस भगवान्की भक्ति करता है, उस व्यक्तिका शीघ्र उद्धार हो जाता है। भगवान्की शरणागति और अपने कर्तव्य-कर्मोंका करना उत्तम मार्ग है। कल्याणका एकमात्र उपाय है—गीता, रामायण आदि सद्ग्रन्थोका अध्ययन, अलौकिक प्रेमके अनुभवसिद्ध भक्तोका स्मरण, ध्यान और सत्सग।

प्रभु-आश्रयी बने, ससारके बाह्याडम्बरोसे बच और भगवच्चरणारविन्दोके ध्यानम परम अनुराग रखे—इसीमे जीवनकी सार्थकता है।

रामप्रेम ही सार है

सियराम-सरूपु अगाध अनूप बिलोचन-मीननको जलु है।
श्रुति रामकथा, मुख रामको नामु, हिएँ पुनि रामहिको थलु है॥
मति रामहि सों, गति रामहि सो, रति रामसा, रामहि को बलु है।
सबकी न कहै, तुलसीके मते इतनो जग जीवनको फलु है॥
(कवितावली)

भगवत्प्रेम

(श्रीहरिजी 'हरिबाबा)

जीवन प्रेमकी पूँजी है। जिसके जीवनम प्रेम नहीं है उसका जीवन मरुभूमिमे नाव चलाने-जैसा ही है अर्थात् उसका जीवन व्यर्थ ही हे। प्रेम ही जीवनका सार है। आनन्द प्रेमका प्रकाश है। प्रेमकी झलकमात्र आनन्दसे परिपूर्ण कर देती है। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—सब तृप्त, शान्त, सुखमय हो जाते हैं तथा प्रकृति, प्रकृतिकार्य, गुण, स्वभाव—सब कुछ आनन्दमय हो जाता है। जब झलकमात्रसे आनन्दसुधामय झरना फूट पडता है तो यदि प्रेममे तल्लीनता हो जाय, तब फिर उसका क्या वर्णन हो सकता है? इसीलिये प्रेमाचार्य देवर्षि नारदने बताया है कि प्रेम अनिर्वचनीय है—

'अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपम्॥' (ना०भ०सू० ५१)

प्रेम मूर्तिमान् ईश्वर है एव प्रेम परमात्माका मूल स्वरूप है। प्रेमसे उत्पन्न हुई प्रत्येक किरण आनन्द-ही-आनन्द बिखेरती है। जिसके जीवनमे प्रेमानन्द नहीं, वह जीव नहीं वरन् मरुभूमिका मृग ही है जो अतृप्त ही समाप्त हो जाता है। जब प्रेममे अवगाहन होगा तो प्रेम प्रकट होगा। प्रेमके बीच सूईके नोक-जितनी कामना, चाहना और इच्छा न हो तो प्रेम स्वत ही प्रकट होगा। कामना चाहना और वासना—ये प्रेममे बाधक हैं। प्रेम स्वच्छन्द है, उन्मुक्त है इसमे स्वार्थकी झलक भी नहीं होती। जहाँ स्वार्थका सम्बन्ध है, वहाँ यथार्थरूप 'स्व'की अनुभूति नहीं होती। स्वार्थका सम्बन्ध मिटते ही स्वानुभूति स्वत सिद्ध हो जाती है। जेसे सागर एव सागरकी लहर, सागरका स्वरूप उसका रग, गुण-स्वभाव—सब सागर ही हैं फिर चाहे सागर शान्त हो उसमे लहरे उठ रही हो अथवा उछाल मारे, सब अपने-आप ही होता है, करता नहीं—यह सागरका स्वभाव है। ऐसे ही प्रेमका होना, शान्त, उछाल, लहर आदि क्रियाएँ भी सब प्रेमका ही प्रतिपादन करती हैं।

कदाचित् प्रेम भूलसे विपरीत दशाको प्राप्त हो जाय अर्थात् भगवान्‌की ओरसे हट जाय सासारिक आसक्तिका रूप धारण कर ले तो परम सुखके बजाय परम दु खरूप हो जाता है। सच्चे प्रेममे दु खका लेश भी नहीं और जहाँ दु ख है, वहाँ प्रेम नहीं।

प्रेम कोई व्यक्ति, वस्तु, पदार्थ, स्थान, गुण, धर्म या क्रिया नहीं वरन् ये सभी प्रेमसे ही पोषित एव पल्लवित होते हैं प्रमके अभावमे इनका अस्तित्व मिट जाता है। प्रेम ही परमात्मा हे ओर प्रेमासक्ति ही साधककी साधना है। प्रेममे अत्यन्त विलक्षण शक्ति है सामर्थ्य है। प्रेम सृष्टिका मूल तत्त्व है इसलिये जगत्‌म प्रेमकी ही सत्ता है। जैसे जलमे तरग, फेन, बुलबुले आदि जो भी विकार उठते हैं उन सबकी परिणति जलमे ही है। वैसे ही सृष्टिके जो भी क्रिया-कलाप हैं, सबकी परिणति प्रेमतत्त्वमे विलीन होना ही है। अन्य किसीका भी स्थायित्व—सत्ता नहीं है। मात्र केवल एक प्रेम ही स्थिर रहनेवाला है। जीवका मूलस्वरूप प्रेम ही है। बिना प्रमके जीव मूर्च्छित, उदास, हताश और निराश होने लगता है। उसका जीवपना ठहरता नहीं है। उसे अपने मूलस्वरूप—प्रेममे परिणत होनेपर ही परम सुख, परम शान्ति परम तत्त्व तथा परम धामकी प्राप्ति होती है। प्रेमतत्त्व ही परमात्मा है या परमात्मा ही प्रेमतत्त्व है। प्रेम (परमात्मा) निर्विकार तत्त्व है इसलिये निर्विकार होनेपर ही प्रेमकी प्राप्ति है, बिना निर्विकार हुए निश्चिन्त निर्भय ओर निर्द्वन्द्व नहीं हो सकते प्रेमकी प्राप्ति केवल प्रेम है।

कृष्ण प्रेम वर दीजै

राधे कृष्ण प्रेम वर दीजै।
परम प्रेम की रसमय प्रीति, सहज भाव भर दीजै॥
निज प्रियतम माधव के सग म मनसा रमण करीजै।
हृदय कमल खिले कञ्जसा रासरति नित कीजै॥
बृजराज विहारी वृषभानु दुलारी चरणन चित्त करीजै।
राधा गोविन्द 'स्वरूप' दास का सुख कृपा कर दीजै॥

(प० श्रीरामस्वरूपजी गौड)

जपयज्ञ और प्रेमयज्ञ

(पण्डित श्रीमगलजी उद्धवजी शास्त्री सद्विद्यालङ्कार)

आज हम विश्वभरके बडे विलक्षण एव महान् दो यज्ञाकी यहाँ चर्चा करेगे। उनमसे एक यज्ञका नाम है—'प्रेमयज्ञ' और दूसरे महायज्ञका नाम है—'जपयज्ञ'। इन दोनो महायज्ञोका एक ही सकल्प है। इष्टके प्राप्तिस्वरूप दोनोंका आराध्य भी एक ही है—'प्रेमास्पद'। दोनो महायज्ञाका फल और कार्य एक होनेसे हम इन दोनो महायज्ञोको एकमे भी समाविष्ट कर सकते हैं।

हाँ, प्रेम किसी सासारिक व्यक्तिके प्रति किया जाता हो तो उसमे कुछ अन्तर अवश्य पड जाता है। यदि वही प्रेम आत्मा या भगवान्‌के प्रति है तो दोनो महायज्ञ एक ही हैं।

दूसरी बात यह है कि स्वार्थके लिये किसी व्यक्तिके शरीरकी उपासनाको यदि 'प्रेम' कहा जाय तो वह 'प्रेम' शब्दकी अवहेलना या अनर्थ-कल्पना ही होगी। ऐसे प्रेमको 'प्रेम' नहीं, 'वासना' ही कहना उचित है।

जपयज्ञकी प्रारम्भिक भूमिकामे भी क्वचित् दम्भका प्राधान्य बढ जाता है। ऐमे साधक 'भक्त' के नामसे प्रसिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। परतु जो अनर्थ प्रेमकी विपरीततामे होता है, वह अनर्थ इस जपयज्ञमें नहीं होता, क्योंकि दम्भसे, अभिमानसे या द्वेषसे भी भगवन्नामका उच्चारण करनेवालेका भी परिणाममे मङ्गल होता है।

'नाम जपत मगल दिसि दसहूँ॥' यह स्वय श्रीगोस्वामीजीकी घोषणा है।

इसलिये तो 'मरा'-'मरा' जपनेवाला डाकू श्रीरामरूप बन जाता है। द्वेषपूर्वक अनेक गालियाँ देनेवाले शिशुपालकी आत्मज्योति भगवान् श्रीकृष्णके तेजम विलीन हो जाती है और कपटपूर्वक चतुर्भुज श्रीकृष्णका कृत्रिम रूप धारण करनेवाला पौण्ड्रक सचमुच भगवत्स्वरूप बन जाता है। यह 'जपयज्ञ' की ही महत्ता है।

उदाहरणार्थ—गुड या शक्करको गालियाँ देकर भी खाते जाइये, खारे समुद्रके अन्तस्तलमे या अँधेरेमें भी खाइये, मीठे ही लगेगे। इसी प्रकार भगवन्नाम-जपकी यह अलौकिक चमत्कृति है। नाम-जप करते-करते तदाकार बन जाना—यही नाम-जपकी महत्ता है।

आजका तथाकथित नकली प्रेम तो रिकॉर्डके दो-चार गाने सुनकर भी हो जाता है, किंतु जिस त्वरासे ऐसा प्रेम बनता है, उसी त्वरासे वह मिट भी जाता है। ऐसी वासनाको—इस आसक्तिको 'प्रेम' शब्दसे पुकारना तो पवित्र 'प्रेम' का भयकर अपमान करना है।

प्रेमके भौतिक उदाहरणमे हम लैला-मजनूको ले सकते हैं। यद्यपि उन दोनोमे परस्पर शारीरिक वासना नहीं थी, पर दैहिक मिलनकी उत्कण्ठा तो थी ही, किंतु उस प्रेममिलनमे ससारकी अभेद्य दीवार बाधारूप बन चुकी थी। मजनूके प्रेममें पगली-सी बनी हुई लैलाको एक सुवर्णमुद्रा दिखलाकर किसी एक विनोदप्रिय व्यक्तिने पूछा—

यह सोनेकी मुहर मैं तुझे या तेरे मजनूको देना चाहता हूँ। तू ही बता, यह तुझे दी जाय या मजनूको?

'मुझे नहीं चाहिये'—लैलाने तत्काल उत्तर दिया—'मजनूको ही दे दो मेरा सुख तो उसीके सुखमे सनिहित है।'

उसी व्यक्तिने मजनूके पास जाकर उसके सामने भी यही प्रश्न रखा—'यह स्वर्णमुद्रा तुझे दी जाय या लैलाको?'

'मुझे नहीं'—एक उष्ण नि श्वासपूर्वक मजनूने कह दिया—'लैलाको ही दे दो, उसके सुखमे ही मेरा सुख है।'

उसी व्यक्तिने अपने हाथमे एक पत्थर लेकर लैलासे पूछा—'तुझे या मजनूको यह पत्थर मारनेका मेरा निश्चय है। अब तू ही बता, तुझे मारूँ या मजनूको?'

हाथ जोडकर रोते हुए लैलाने कहा—'कृपा करके मुझे ही मार दीजिये, ताकि मेरा मजनू बच जाय।'

वही पत्थर दिखलाकर उसने मजनूसे पूछा तो मजनूने हाथ जोडकर कहा—'लैलाके भागका और मेरे भागका—दोनो ही पत्थर मुझे ही मारो। मेरे और लैलाके प्रेममे मैं ही अपराधी हूँ। लैलाका कोई दोष नहीं है।'

यही है—प्रेमयज्ञका इहलौकिक भव्य दृष्टान्त। बस, इसी स्थानपर प्रेमयज्ञ और जपयज्ञ दोनों एक बन जाते हैं। ऐसे प्रेमी या ऐसे जापक अपने प्रियतमके साथ तद्रूप बन जाते हैं।

यदि आपको जपयज्ञका यजमान बनना है तो आपका

मन—आपका चित्त केवल इष्टनाममे ही जुडा रहे, अनिष्टका चिन्तन ही न करे।

—और प्रेमयज्ञके होता बननेके लिये तो हम नीचे लिखे पवित्र शब्दोका ही उपयोग करेगे—

सीस उतारै भुइँ धरै, ता पर राखै पाँव।
दास कबीरा यो कहै, ऐसा होय तो आव॥

प्रेमयज्ञ हो या नामयज्ञ—दोनोमे ही अहता और ममताकी आहुति देना आवश्यक है। इस दुर्भेद्य अन्तरायके दूर हो जानेके बाद प्रेमी-प्रेमास्पदके बीचमे अन्य कोई व्यवधान नहीं रह जाता। जपयज्ञमे भी उपास्य और उपासकके बीचका वह दुर्भेद्य अन्तराय दूर होते ही अद्वैत सुखकी प्राप्ति होती है। अतएव प्रेमयज्ञ और जपयज्ञ दोनो महायज्ञ अन्तिम परिणाममे तो एक ही हैं। मीराको आप प्रेमयोगिनी कहिये या जपयोगिनी—दोनो एक ही है। इसी तरह भगवान् चैतन्यको आप जपमूर्ति भी कह सकते हैं और प्रेममूर्ति भी। ऐसे प्रेमियाका ध्यान, चिन्तन या स्मरण स्वय ही जप बन जाता है।

प्रेमोन्मादिनी गोपीजनोको आप प्रेमीकी उपमा दीजिये या विप्रयोगी जापक भक्तकी श्रेणीमे रख दीजिये—दोनों ही बराबर हैं। उनका श्वास-प्रश्वास उनके प्राण और उनकी समस्त शारीरिक क्रियाएँ अपने लिये नहीं, बल्कि अपने प्रियतमके लिये हैं। प्रेमके सिवा अन्य वस्तुमात्र उन्हे अग्राह्य है। इसीसे वे जप, तप, यम, नियम, वैराग्य, ध्यान, समाधि आदि क्रियाआसे पर बन जाती हैं। इस विषयमे मैं एक उदाहरण देकर लेखको समाप्त करूँगा—

बगालके महात्मा श्रीशिशिरकुमार घोषने 'कालाचाँद (कृष्णचन्द्र)-गीता' नामक एक सुन्दर ग्रन्थ लिखा है। उसीके एक अशका यह भाषान्तर है—

'श्रीकृष्णके प्रेमकी भिखारिणी पाँच सखियाँ निकुञ्जमे बैठी थीं। इसी समय एक महान् तपस्वी साधु उस मार्गसे निकले। उन्होने कौपीन पहन रखी थी सिर मुँडा था। अङ्गोंपर 'श्रीकृष्ण-हरि' नाम लिखे थे। साधुने देखा अपने रूपसे आभा फैलाती हुई सब बालाएँ निकुञ्जमे बैठी हैं। उनके मुखकमल सरल और निर्मल हैं। आँखासे प्रेम छलक रहा है। साधुको देखते ही उन सबने उठकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया और कहा—'हम अपने कृष्ण-धनको खोकर वनमें भटक रही हैं। कोई उपाय बताओ जिससे वे मिल जायँ।' उन सखियोंके भावपूर्ण मुखोंका निरीक्षण कर साधुकी आँखें भर आयीं। साधुने दु खी होकर कहा—'अरी बेसमझ! सुनो। (तुम्हे या) कृष्ण कहाँ मिलेगे! हजारों वर्ष तप करनेपर भी ध्यानम भी जिनकी झाँकी नहीं होती, तुमलोग निकुञ्जमें बैठकर फूल गूँथती हुई उन्हे कैसे पा लोगी?'

इसपर कुलकामिनीने कहा—'साधुबाबा! हम यह भलीभाँति जानती हैं, कृष्ण-जैसा धन यो ही नहीं मिल जाता। अत तुम जो कहोगे, हम वही सब करगी। कृष्णके लिये प्राण तक दे दगी।'

साधुने कहा—'उपवास करके शरीरको सुखाओ, तब कृष्ण-कृपा प्राप्त होगी। जितना ही तुम्हारा शरीर शीर्ण होगा, क्रमश उतनी ही श्रीकृष्णकी करुणा बढेगी।'

साधुकी यह बात सुनकर वे सब नव-तरुणियाँ सन्न रह गयीं और एक-दूसरीके मुखकी ओर देखने लगीं। उन्हाने कहा—'हम दु ख पायगी और श्रीकृष्ण सुखी होंगे, यह तो कभी हो नहीं सकता। हमारे दु खकी बात सुनते ही वे रो-रोकर अपनेको खो देते हैं। हम दु ख उठाकर उनको रुलावे—यह कैसा भजन है?'

साधुने हँसकर कहा—'केशोकी ममता छोडनी होगी और सिर मुँडाना होगा। फिर तुलसीके नीचे सिर रगडना होगा—तब कृष्ण प्रसन्न होगे।'

इतना सुनते ही वे सब नवबालाएँ चौंककर एक-दूसरीकी ओर देखने लगीं। तदनन्तर रगिणीने कहा—'साधुबाबा, सुनो! यह तुमने क्या बात सुनायी? केश मुँडवा देगी और वेणी न बाँधेगी तो जूडेमे चम्पा कैसे लगायेगी और कैसे मालतीकी मनोहर माला गूँथकर जूडेपर लपेटेगी? उस हमारी बाँकी वेणीको देखकर रसिकशेखर श्रीकृष्ण कितने प्रसन्न होते हैं, हम उनके मनकी बात जानती हैं। वे इससे कितने सुखी होते हैं, हमारे उपवास आदिसे वे सुखी नहीं होगे।'

कङ्कालिनी बोली—'साधुबाबा! जब हम अश्रुजलसे उनके अरुण चरणयुगलको धोती हैं तब इन केशोसे ही उन्हे पोछती हैं। जब केश मुँडवा देगी तब प्रियतमके पैर धोकर हम किससे पोंछेगी।'

कुलकामिनीने कहा—'हम योग-त्याग करके उनको क्यो फुसलायगी? वे तो हमारे पराये नहीं हैं अपने ही हैं। वे हमारे स्वामी होते हैं हम स्नेह-सेवा करके ही उन्हे

सतुष्ट करेगी।'

प्रेमतरङ्गिणी बोली—'उनके विरहमे जब हम अत्यन्त दु खी हो जाती हैं, तब इन केशाको खोलकर देखती हैं। ये काले केश हमे श्रीकृष्णकी स्मृति कराते हैं। अतएव इन्ह, हे सखी। मैं तो नहीं मुँडवा सकूँगी।'

सजलनयनाने कहा—'जब हम केश मुँडवाकर कौपीन पहनकर दु खिनीका वेश बना लेंगी, तब तो हमारे वे श्रीकृष्णचन्द्र रो-रोकर व्याकुल हा जायँगे। मैं उनको अच्छी तरह जानती हूँ।'

तब रसरङ्गिणीने साधुसे पूछा—'साधुबाबा। सुनो-सुनो हम सदेह हो रहा है, तुम किसे 'कृष्ण' कहते हो? वह कृष्ण है कौन और उसके साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध है?' (वह तुम्हारा क्या लगता है?)

इसके उत्तरमे साधुने कहा—'अरी बेसमझ लडकियो। कृष्ण दो नहीं हैं। वे सबके ईश्वर हैं। वे जब सतुष्ट होते हैं तब सम्पत्ति और रुष्ट होते हैं तब विपत्ति आती है। वे सर्वोपरि दण्डधर हैं, उनको प्रसन्न करनेके लिये मैं कितने दु ख उठाता हूँ, तब भी उन्ह सतुष्ट नहीं कर पाता। कहीं उनका कोई नियम भङ्ग न हो जाय, इसी भयकी बात सोच-सोचकर मरा जाता हूँ।' साधुकी बात सुनते ही उन सबके चेहरे खिल उठे। तदनन्तर उन सबने विनयपूर्वक कहा—'साधु। तुम्हारी बातासे तो प्राण ही निकल गये थे। अत्र मालूम होता है—प्राण लौट आये हैं। तुम जिनकी बात कहते हो व कोई भी हो, हमारे प्राणनाथ ता नहीं हैं। हमारे जो श्रीकृष्ण हैं, वे तो हमारे पति हैं, न वे दण्डधारी हैं और न वरदाता ही। हम उनकी निजजन हैं—उनकी पत्नी हैं। उनका जो कुछ है सभी हमलोगोका है। उनसे हम किस कारणसे कुछ चाहगी जब कि भण्डारकी चाभी ही हमारे हाथमे है? और दण्डकी बात सुनकर तो मनम डर लगता है। हम सब उनकी ही हैं, तब वे दण्ड क्यों दगे? जब कुपथ्य करनेपर रोग होता है, तब अपने घरवालोको कडवी औषधि भी खिलायी जाती है, व्रण होनेपर उसे छुरीसे कटवाया भी जाता है। कौन कहता है कि यह दण्ड है? वे हमारे प्राणनाथ तो केवल मङ्गलमय हैं, हम उनके प्रति कितना उत्पात करती हैं? यदि घरका स्वामी ही शासन न करे तो बताओ, कौन करेगा? हमारे प्राणनाथ स्नेहसे दण्ड भी देते हैं तो वह दण्ड नहीं है, वह तो उनका परम प्रसाद है।'

और सुनिय—

'तुमलोग पुरुष हो, राजसभामे जाते हो, स्वार्थके लिये राजाको कर देते हो। हमे यदि कोई कर चुकाना होगा तो निश्चय ही हमारे पति चुकायेगे। दण्ड हो या पुरस्कार—इस बातको पति ही जाने—हमे इसमे कुछ भी अधिकार नहीं है। यदि उस राजासे कुछ काम होगा तो उसे प्राणनाथ ही जान, हम तो रमणी हैं। हमने तो अपना सारा दायित्व प्रियतमको अर्पण कर दिया है, देह-प्राण-मन—सब उनके चरणोमे सौंप दिये हैं, हम तुम्हारे उस 'राजा श्रीकृष्ण' की सेवा नहीं कर सकेगी। राजसभामे तो जाते ही हम भयसे मर जायँगी। पुरस्कारके लिये हम राजसभामे जायँ? हम तो सरलहृदया रमणी हैं, कैसे स्तुति की जाती है—यह नहीं जानतीं। तुम साधु—ऋषि हो या मुनि हो, तुम्हारे चरणोमें हम क्या कहे, यह भी नहीं जानतीं। हम तो ससारी हैं—पतिके घरम रहती हैं, ससारसे बाहर नहीं जा सकतीं। हम प्राणनाथ श्रीकृष्ण छोड गये हैं, इसीसे वनमे उन्हे खोजती-फिरती हैं। वे इस वनमे ही छिपे रहते हैं, तुमने उन्हे कहीं देखा हो तो कृपा करके बतलाओ। बस, यही बात है।'

उस समय उन निर्मल, सरल बालाओको देखकर साधुकी आँखोमे जल भर आया। साधुने कहा—'बालाओ। मैं एक निवेदन करता हूँ। मैं तुमलोगोकी बातोंको भली-भाँति समझ नहीं पा रहा हूँ। तुम्हारे उन पतिका कैसा रूप है, मुझे उनका स्वरूप समझाकर कहो?' इस बातके सुनते ही सब सखियाँ आनन्दमग्न हो गयीं और उनके मुख प्रफुल्लित हो गये।

रसरङ्गिणी कहती है—

'उनके कमल-नयन हैं। सुन्दर चाँद-सा मुखडा है। हमारे पतिने वनमाला धारण कर रखी है—

सुनो—वही, वही, वही, उसीने तो कुलका किनारा तोड दिया।' सब करताली बजाने लगीं—'सुनो साधु। सुनो उनके अगणित गुण हैं, कैसे बताये।'

'कृतार्थ कर दिया'—कहकर कङ्गालिनीने रङ्गिणीके चरण पकड लिये। सजलनयना गुण बतलाने चली कि उसका कण्ठ रुक गया। प्रेमतरङ्गिणी उसे पकडकर बार-बार उसका मुख चूमने लगी। कुलबालाने उठकर कहा—'सखियो। आओ एक बार नाचे।'

वे सब करताली बजाकर मुखसे 'हरि-हरि'—बोलने लगीं और अङ्गोको मटका-मटकाकर एक ही पैर

जमीनपर टिकाकर नाचने लगीं। या अपने दु खको भूलकर करताली बजाती हुई सब सखियाँ नाच रही थीं। उन्हींके साथ वह साधुबाबा भी नाचने लगा और उसका भवबन्धन कट गया।

× × ×

इसी अनन्य प्रेमकी जिसे भी प्राप्ति हो जाती है, वह चाहे ब्राह्मण हो या चाण्डाल, स्त्री हो या पुरुष ससारी हो या वैरागी, पण्डित हो या मूर्ख, वही सचमुच कृतार्थजीवन है। वहाँ इन रेखाओंकी अपेक्षा ही नहीं रहती। भक्तिसूत्रकी भाषामे कहिये तो—

'यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति॥'

(ना०भ०सू० ४)

'प्रेम-प्रेम'की पुकार करनेसे मनुष्य प्रेमी नहीं बन सकता। प्रेमयज्ञ कहिये या जपयज्ञ कहिये, वे वस्तुत हमारे समस्त ममत्व और सङ्गकी आहुति माँगते हैं। अत हमे चाहिये कि हम अपने तमाम दुर्गुणाको सर्वथा त्यागकर इस पवित्र यज्ञम अपने सर्वस्वको स्वाहा कर द—

प्रेमपन्थ पावकनी ज्वाळा, भाळी पाछा भागे जोने।
माँहि पड्या ते महासुख माणे, देखनारा दाझे जोने॥

'यह प्रमपन्थ पावककी ज्वाला है। इसे देखते ही सर्वस्व स्वाहा हो जानेके भयसे लोग भाग छूटते हैं। पर जो इस प्रेमाग्निमे प्रविष्ट हो जाते हैं, उन्हे जरा भी आँच नहीं लगती, वर महान् सुखकी अनुभूति होती है। हाँ, इस आनन्द प्राप्त करनेवालेको देखकर दुनियाके लोग अवश्य जलते-भुनते हैं।'

यही सर्वोच्च सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है। परम कृपालु नन्दनन्दन-आनन्दकन्द हम सबको इस परमपदके अधिकारी बनाये। बोलो श्रीश्यामसुन्दरकी जय।

प्रेम-तत्त्व

१-वह प्रेम प्रेम नहीं है, जिसका आधार किसी इन्द्रियका विषय है।

२-नियमोके सारे बन्धनाका अनायास आप-से-आप टूट जाना ही प्रेमका एकमात्र नियम है।

३-जहाँतक नियम जान-बूझकर तोडे जाते हैं वहाँतक प्रेम नहीं है, कोई-न-कोई आसक्ति तुमसे वैसा करवा रही है, प्रेममे नियम तोडने नहीं पडते, परतु उनका बन्धन आप-से-आप टूट जाता है।

४-प्रेममे एक विलक्षण मत्तता होती है, जो नियमोकी ओर देखना नहीं जानती।

५-प्रेममे भी सुखकी खोज होती है, परतु उसमे विशेषता यही है कि वहाँ प्रेमास्पदका सुख ही अपना सुख माना जाता है।

६-प्रेमास्पदके सुखी होनेमे यदि प्रेमीको भयानक नरक-यन्त्रणा भोगनी पडे तो उसमे भी उसे सुख ही मिलता है क्योकि वह अपने अस्तित्वको प्रेमास्पदके अस्तित्वमे विलीन कर चुका है।

७-अपना सुख चाहनेवाली तो वेश्या हुआ करती है जिसके प्रेमका कोई मूल्य नहीं। पतिव्रता तो अपना सर्वस्व देकर भी पतिके सुखमे ही सुखी रहती है क्योकि वह वास्तवम एक पतिके सिवा अन्य किसी पदार्थको 'अपना' नहीं जानती।

८-प्रेमास्पद यदि प्रेमीके सामने ही उसकी सर्वथा अवज्ञा कर किसी नवीन आगन्तुकसे प्रेमालाप करे तो इससे प्रेमीको क्षोभ नहीं होता, उसे तो सुख ही होता है, क्योंकि इस समय उसके प्रेमास्पदको सुख हो रहा है।

९-जो वियोग-वेदना अपमान-अत्याचार और भय-भर्त्सना आदि सबको सहन करनेपर भी सुखी रह सकता है, वही प्रेमके पाठका अधिकारी है।

१०-प्रेम जबानकी चीज नहीं जहाँ लोक-परलोकके अर्पणकी तैयारी होती है वहीं प्रेमका दर्शन हो सकता है।

११-प्रेमके दर्शन बडे दुर्लभ हैं सारा जीवन केवल प्रतीक्षामे बिताना पडे तब भी क्षोभ करनेका अधिकार नहीं।

१२-प्रेमका आकार असीम है, जहाँ सकोच या सीमा है वहाँ प्रेमको स्थान नहीं।

१३-प्रेम प्रेमके लिये ही किया जाता है और इसकी साधनाम बिना विरामके नित्य नया उत्साह बढता है।

१४-प्रेम अनिर्वचनीय है, प्रेमका स्वरूप केवल प्रेमियाकी हृदयगुफाआम ही छिपा रहता है। जो बाहर आता है सो तो उसका कृत्रिम स्वरूप होता है।

प्रेमोपासना और उसके विविध रूप

[परमात्मप्रभुको प्रसन्न करनेके लिये हमारे धर्म-शास्त्रोमे विविध विधियोका निरूपण हुआ है। विभिन्न मतो एव सम्प्रदायोमे भिन्न-भिन्न उपासना-पद्धतियाँ प्राप्त होती है तथा आचार्यो और सतोने भी अपने अनुभवके आधारपर उपासनाके विभिन्न आयाम प्रस्तुत किये है, परतु इन उपासना-पद्धतियोका जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रहस्य है, वह यह है कि यह उपासना अनुरागात्मिका होनी चाहिये। अथात् प्रेमसे समन्वित उपासना और भक्ति ही भगवान्को प्राप्त कराती है।

पराशरनन्दन श्रीव्यासजीके मतानुसार भगवान्की पूजा आदिमे अनुराग होना ही भक्ति है—'पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्य ॥' (ना०भ०सू० १६) इसी प्रकार श्रीगर्गाचार्यजीने कहा—भगवान्की कथा आदिमे अनुराग होना ही भक्ति है—'कथादिष्विति गर्ग ॥' (ना०भ०सू० १७) श्रीशाण्डिल्य ऋषिके मतमे आत्मरतिके अविरोधी विषयमे अनुराग होना ही भक्ति है—'आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्य ॥' (ना०भ०सू० १८) परतु देवर्षि नारदके अनुसार—अपने सब कर्मोको भगवान्के अर्पण करना और भगवान्का थोडा-सा भी विस्मरण होनेपर परम व्याकुल होना ही प्रेमाभक्तिके लक्षण है—'नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति॥' (ना०भ०सू० १९)

इस प्रकार अपने ऋषियोने प्रेमपूर्ण भक्ति और उपासनाके विभिन्न रूप प्रस्तुत किये। इसके साथ ही रामायण, महाभारत तथा श्रीमद्भागवत आदि पुराणोमे विभिन्न प्रेमी भक्तोने अपने आत्मीय और लौकिक सम्बन्धोके आधारपर प्रेमास्पद प्रभुको प्रगाढ प्रेम प्रदान कर उनकी प्रसन्नता प्राप्त की है।

इस प्रकार इस अनुभागमे वात्सल्यप्रेम, पितृप्रेम, सख्यप्रेम, दाम्पत्यप्रेम तथा दास्यप्रेम आदि सम्बन्धपूर्ण प्रेमका निदर्शन हुआ है। भारतकी इस पवित्र भूमिमे ऋषि-महर्षियो, आचार्यो तथा प्रेमी भक्तोका एक उज्ज्वल इतिहास रहा है, जिन्होने अपने ढगसे भगवान्की प्रेमपूर्ण उपासना कर प्रभुको प्रसन्न किया है और वे उन्हे प्राप्त भी कर सके। यहाँ इन्हीं प्रेमी भक्तोकी प्रेमपूर्ण उपासनाके विविध स्वरूपको यत्किञ्चित् रूपमे प्रस्तुत करनेका प्रयास किया गया है—स०]

प्रेमोपासना और प्रेमानुभूति

उधर ब्रह्मकी 'एकोऽह बहु स्याम्' की अमूर्त वासना स्फुरित हुई इधर कोटि-कोटि विश्वका रगमञ्च नाच उठा। अभिनय प्रारम्भ हुआ। पात्र आने-जाने लगे और नाटकमे ऐसे लय हो गये कि उन्हे अपनी स्वतन्त्र व्यक्तिगत सत्ताका भान भी मिट गया। इस विराट् अभिनयकी कोई 'इति' नहीं, कोई आर-छोर नहीं। पात्रोका एक-पर-एक ताँता बँधा हुआ है, एक जाता है, दूसरा प्रकट होता है, ऐसे ही अनन्त कालतक चलता रहेगा। सृष्टि और प्रलय पटाक्षेपमात्र हैं—दृश्य-परिवर्तनमात्र हैं। यह अभिनय तो सृष्टि और प्रलयको पार करता हुआ चलता चलेगा।

इस अभिनयमे हम सभी पात्र हैं सभी अपने-ही-अपने अभिनयमें बेसुध हैं दूसरेकी ओर देखनेकी सुध ही नहीं है। हाँ, प्रभुकी यह भी एक लीला ही समझिये कि इन व्यक्तिगत स्वतन्त्र अभिनताओके क्रिया-कलापमे भी एक शृंखला है, एक प्रवाह मिलता है, अन्यथा सभीके अभिनय अधूरे अथ च अर्थहीन हैं। इन अस्पष्ट क्रियाओके भीतरसे सूत्रधार अपना लीला-कुतूहल पूरा कर रहा है।

हम सभी इस अभिनयमे इस प्रकार सलग्न हैं कि हम भूल जाते हैं कि इसका कोई सञ्चालक या सूत्रधार भी है या नहीं। यही खूबी भी है इस विश्व-रगमञ्चकी। सभी अपनी-अपनी परिधिपर नाच रहे हैं, पागल होकर बेखबर होकर। एककी परिधि दूसरेकी परिधिके स्पर्शमे भले ही आ जाय परतु व्यतिक्रम नहीं कर सकती लाँघ नहीं सकती। इन सारी परिधियोका एक ही केन्द्र है, वह मूल केन्द्र इन भिन्न-भिन्न परिधियोसे समान दूरीपर है। वही हमारा सूत्रधार है और वही इस विराट् अभिनयका दर्शक भी है। हमारा सूत्रधार ही हमारा दर्शक है और फिर भी हमारे अभिनयकी एक स्वतन्त्र गति है, स्वतन्त्र सकेत

है, स्वतन्त्र पथ है। कठपुतली नचानेवाला जाने कि उस पुतलीको कबतक किस-किस रूपमे नाचना है—दूसरे समझनेकी चेष्टा भी कर तो व्यर्थ ही है न।

इस रहस्यकी तहमे प्रवेश कीजिये। यह जीवन एक जाग्रत्-स्वप्न है। स्वप्नम ऐसा प्रतीत होता है कि जो सुख-सम्भोग राज-पाट, धन-स्त्री, महल-अटारी, पुत्र-कलत्र आदि हम पा रहे हैं, वे सब सर्वथा सत्य हैं। स्वप्न देखनेवालेके मनम स्वप्न देखत समय यह तनिक भी नहीं भासता कि यह सब कुछ 'पानीका बुलबुला' भी नहीं है—यह सब कुछ हवाई किलेसे भी गया-बीता है। सक्षेपमे स्वप्न देखनेवालेको स्वप्न देखते समय स्वप्नकी असत्यता तथा भूल-भुलैयाका पता भी नहीं चलता। वह बेखबर 'सपनेकी सम्पत्ति' का सुख लूटने लगता है कि !!! नींद टूटती है, आँखे खुलती हैं और वह देखता है—उसके सामनेक महल तथा परियाँ पता नहीं कहाँ गायब हो गयीं। वह जागता है और देखता है कि वे सुख-भोग जिन्हे वह स्वप्नावस्थामे ठोस सत्य समझकर हृदयसे चिपकाये था—हवाम काफूर हो गये बस वही टूटी खाट, वही उजडा हुआ छप्पर, वही फटी हुई चादर और बुझी हुई रोशनी। वह जागता है तथा सोचता है—अरे ये चीज कहाँ गयीं? वे सुख कहाँ विलीन हो गये?

केसव! कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना बिचित्र हरि! समुझि मनहिं मन रहिये॥
सून्य भीति पर चित्र रंग नहि तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटइ न मरइ भीति दुख पाइय एहि तनु हेरे॥
रबिकर नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं।
बदन हीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं॥
कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै॥
(विनय पत्रिका १११)

ठीक इसी प्रकार यह जगत् और हमारा जीवन भी है। यह संसार भी एक ठोस पदार्थ-सा प्रतीत होता है। यह जीवन भी एक अखण्ड सत्यका स्वरूप प्रतीत होता है। आज हम [illegible] हैं—कल नियमित अधिकारी साधारण दरिद्र व्यक्ति। आज जो राजा है कल वही भिखारी बने देते नजर आती है। करोडपति दाने-दानेके लिये मुहताज हो जाते हैं, कङ्गालके घर सोना बरस जाता है। हम देखते हैं कि चार मिनटके भूडोलने किसकी कैसी दयनीय स्थिति ला दी। यह सब कुछ हम देखते हैं, फिर भी स्वप्न-का-स्वप्न ही बना रहता है—ख़ुमारी टूटती नहीं। कभी ऐसा नहीं हो पाता कि आँखे खोलकर एक पलके लिये भी तो इस लुभावने स्वप्नके 'उस पार' देखे। कभी ऐसा साहस नहीं होता कि स्वप्नोके इस जालको छिन्न-भिन्न कर दे।

स्वप्नकी असत्यता तथा सपनेमे पायी हुई सुख-सम्पत्तिकी असारताको सोता हुआ व्यक्ति क्या और कैसे समझे? हम सभी इस जाग्रत्-स्वप्नके शिकार हैं। जाग जाना तो कठिन भी है न। परतु जो जाग जायगा उसे यह बतलानेकी आवश्यकता ही न होगी कि जो कुछ तुमने देखा-सुना अथवा भोगा था, वे सब व्यर्थ थे—कहीं उनका पता नहीं है। अपनेको होशमे ला देना ही स्वप्न और स्वप्नकी मायाकी व्यर्थता तथा असारता समझ लेना है। नींद टूटती है—वह बेचारा सोचने लगता है अरे! मैं कहाँ-का-कहाँ लुभाये फिरा, मारा-मारा फिरा। मैं तो न उस महलका राजा ही हूँ, न उस परीका प्रेमी ही। मेरी सत्ता तो सर्वथा भिन्न है। ठीक इसी प्रकार इस जीवनरूपी स्वप्नमे जगत्के वैभव व्यर्थ हैं, असार हैं—यह सब कुछ बतलानेकी आवश्यकता उस व्यक्तिके लिये नहीं है, जो जाग चुका है और जो अपनी वास्तविक सत्ताको समझता है।

इस जाग्रत्-स्वप्नको तोडकर, आँखें खोलकर चलनेवाले संताने हमे बार-बार चताया है—

रहना नहिं देस बिराना है।
यह संसार कागदकी पुड़िया बूँद पड़े घुल जाना है॥

और बार-बार आत्माको उद्बोधित कर उस दशाका संकेत किया है जहाँ आनन्द-ही-आनन्द है—

'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥'
(गीता १५।६)

हंसा छाड़ि चलो वा देस जहाँके गये कोइ ना फिरै।

इसी सम्बन्धमें 'एक निगुन' भी द्रष्टव्य है—

चलु मन जहाँ बसे प्रीतम हो बैरागी मोर यार।

लगली बजरिया अगमपुर हो, हीरा रतन बिकाय,
चतुर चतुर सौदा कइले हो, मूरख पछिताय।
साँप छोड़ैलै सँपकचुल हो, गगा छोड़ैली अरार।
हसा छोड़ैलै आपन गिरिह हो, जहाँ कोई ना हमार॥

रे मन! यहाँ क्या रखा हुआ है जो चिपटे हुए हो, चलो उस देशको चले जहाँसे फिर इस ऐन्द्रजालिक दुनियामे लौटना नहीं होता। अगमपुरमे हीरे-रत्नोकी हाट लगी हुई है जो चतुर हैं वे तो सोच-समझकर सोदा कर लेते हैं, परन्तु जो मूर्ख हैं वे हाथ मलते रह जाते हैं। जिस प्रकार साँप अपनी केचुल छोड देता है और गङ्गाजी अपनी अरार छोड देती हैं, ठीक उसी प्रकार 'हस' भी इस गृहको छोडकर चल देता है—यहाँ अपना है ही कौन? रे हस! उडो, चले उस देशको जहाँ 'प्रीतम' है।

प्राय सभी सताने पर्दा उठाकर सत्य सोन्दर्यको देखा था इसीको श्रुति कहती है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम्।
तत्त्व पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

सत्यके घडेपर सोनेका ढक्कन पडा हुआ है। हे सूर्यदेव! इस ढक्कनको हटा दो जिससे सत्य-धर्मको हम देख ले और देखनेके बाद—

'शरवत्तन्मयो भवेत्'

जिस प्रकार बाण अपने लक्ष्यमे लय हो जाता है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्ममे लय हो जायँ।

इस जाग्रत्-स्वप्नके रहस्यको वही बतला सकता है, जो स्वय जाग चुका हो। इन्हीं जगे हुए व्यक्तियोमे रामानन्द, कबीर, तुलसी सूर, मीरा रैदास, पीपा दादू आदि अनेक सत हुए हैं। इन्होने जीवनके 'उस पार' को देखा था और ससारकी असत्यताका तीव्र अनुभव किया था तथा अपने इस सान्त जीवनमे अनन्त आनन्दकी स्थापना की थी। हम इनको भक्त या ज्ञानी न कहकर सत कहना ठीक समझते हैं। अब देखना है कि इन सतोने ससारकी असारता तथा जीवनकी असत्यताका प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए अपने हृदयमें प्रभुके प्रति प्रेमकी कैसी अनुभूति प्राप्त की थी। हम यह न भूल जाना होगा कि साधनाका प्राण है 'अनुभूति'। अनुभूति सवेदन-मूलक होती है और सवेदन है हृदयका धर्म। हृदय नारी है मस्तिष्क पुरुष। इन दोनाके पूर्ण सयोगसे ही साधनाका पथ सरल हो सकता है। मस्तिष्कका धर्म है विचार और वह है पुरुष। हृदयका धर्म है सवेदन और वह है नारी। हमे ज्ञानकी आगमे अपने कर्मोका पवित्र कर भक्तिके हाथ सौंप देना है। भक्ति ही अपनेको श्रीकृष्णार्पण कर सकती है। ज्ञान कर्मोंमे प्रकाश भर देगा, भक्ति उसमे ताप और जीवन देकर भगवान्के चरणोमे चढा आयेगी। ज्ञान विश्वसे वैराग्य बढाता जायगा, भक्ति भगवान्के चरणोमे सम्बन्ध दृढ करती जायगी। न कोई कोरा ज्ञानी होता है, न कोई कोरा भक्त। भक्तमे ज्ञानी और ज्ञानीमे भक्त छिपा रहता है।

द्वैत और अद्वैत, ज्ञान और भक्तिके बाह्य प्रतिबन्धको हटाकर यदि हम सताकी जीवनधाराम प्रवेश करे तो उनके हृदयमे एक अपूर्व प्रेमकी अजस्र धारा प्रवाहित होते पायगे। उन सभीके हृदयमे 'साजनके देश' मे प्रवेश करनेकी और साईंकी सेजपर पौढनेकी तीव्र उत्कण्ठा रही है। सभीने इस शरीरके भीतर अनन्त छविको घूँघट उठाकर भर आँख देखनेकी चेष्टा की है—

घूँघटका पट खोल री, तोहे पीव मिलेगे॥
× × ×
रगमहलमे दीप बरत है, आसनसे मत डोल रे॥

घूँघटका पट खाल देनेपर 'पीव' तो मिल ही गये, अब तो प्रतिपल उनके मधुर दर्शनमे मन माता-माता फिरता है। वह एक पलकी झाँकी आँखोका चिरन्तन व्यापार बन गयी—अब तो सदा सर्वत्र 'वही वह' दीखता है। इस सहज समाधिका रूप भी कैसा लुभावना है—

जहँ जहँ डोलौ सा परिकरमा, जो कछु करौ सो सेवा।
जब सोवौ तब करौ दडवत, पूजौ और न देवा॥
कहौ सो नाम सुनौं सो सुमिरन खाऔ पियौ सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखौ भाव मिटावौ दूजा॥
× × ×

आत्मा त्व गिरिजा मति सहचरा प्राणा शरीर गृह
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थिति ।
सञ्चार पदयो प्रदक्षिणविधि स्तोत्राणि सर्वा गिरा
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिल शम्भो तवाराधनम्॥

और—

खुले नैन पहिचानौ हँसि हँसि सुदर रूप निहारौं॥

'जहाँ देखता हूँ वहीं तू-ही-तू है'—अब यह ससार जो सबको भुलानेका स्वप्नजाल बुनता आ रहा है सतके लिये प्रभुका स्वरूप हो जाता है। बीचका द्वैत मिट जाता है। रात-दिन, सोते-जागते, उठते-बैठते समाधि लगी रहती

है—वह समाधि जिसमे पत्नी अपनेको पतिम सर्वथा लय कर देती है। यही 'रसो वै स ' है। जिस प्रकार पत्नीका पतिम प्रेम होता है, ठीक उसी प्रकार हमारा प्रेम प्रभुम हो। समस्त विश्वम हमारे प्रभुकी रूपश्री बिखरी हुई है ओर हम सदा उसके बटोरनेमे लगे हैं—

प्रभुजी! तुम चदन, हम पानी।
जाकी अँग अँग बास समानी॥
प्रभुजी! तुम घन बन, हम मोरा।
जैसे चितवत चद चकोरा॥
प्रभुजी! तुम दीपक, हम बाती।
जाकी जोति बरै दिन राती॥
प्रभुजी! तुम मोती, हम धागा।
जैसे सोनहिं मिलत सुहागा॥

कबीरने अपनेको *'हरिकी बहुरिया'* कहा तथा गोसाईंजीने *'कामिहि नारि पिआरि जिमि'* द्वारा अपनी भक्ति-भावनाको दृढ किया। श्रीहरिदासने *'घट घट हौ बिहरौ'* की तीव्र अनुभूतिम ही साजनके मधुर मिलनका रस पिया था।

सुरत कलारी भइ मतवारी मदवा पी गइ बिन तोले॥'

मीराका तो इस सम्बन्धम कुछ कहना ही नहीं है। वह तो भक्तिमे विह्वल होकर प्रमके समुद्रमे कूद पडी—

हे री मै तो दरद दिवाणी मेरो दरद न जाणै कोय॥
सूली ऊपर सेज हमारी सोवण किस बिध होय।

फिर भी वह प्रेमसाधनाम प्रवृत्त होकर 'साईकी सेज'-का सुख पा सकी, प्रेमका अमृत पी सकी।

प्रेमकी यह धारा समस्त विश्वके सत्तामे मिलती हे। सभीने इस जीवनको प्राणवल्लभके चरणोमे चढाकर धन्य किया है। सूफियामे तो 'इश्क हकीकी' की वह तीव्र धारा बही कि सारा ससार उनके साजनका प्रतिबिम्ब बन बैठा। जायसी और कुतबनने परमात्माको प्रेमीके रूपम प्राप्त किया था। उनके लिये भी—

सब घट मेरा साइयाँ सूनी सेज न कोय।

इसी प्रेमानुभूतिको एक अग्रेज भक्तिनके शब्दाम सुनिये—

It was a sweetness which my Soul was lost in it seemed to be all that my feeble frame could sustain There was but little difference whether I was asleep or awake but if there was any difference, the sweetness was greatest while I was asleep

× × ×

'इस माधुर्यमे मेरी आत्मा डूब जाती थी। प्रेमके इस आवेशम मेरा सारा शरीर बेसँभार हो जाता था। मैं जानती न थी कि मैं जाग रही हूँ या सो रही हूँ। हाँ, जब मैं सोती रहती थी उस समय प्रेमकी यह बहिया और भी अधिक उमड पडती थी।'

आधी रात प्रभु दरसण दीनो प्रेम नदीके तीरा।

ये वचन हैं तो मीराके परतु प्रेमकी इस दिव्य अनुभूतिको एक अमेरिकन भक्त महिलाके मुखसे सुनिये—

It was my practice to arise at mid night for purposes of devotion It seemed to me that God came to me at the precise time and woke me from sleep in order that I might enjoy Him. When I was out of health or greatly fatigued He did not awake me but at such times I felt even in my sleep a singular possession of God He loved me so much that He seemed to pervade my being at a time when I could be only imperfectly conscious of His presence My sleep is some times broken—a sort of half sleep but my soul seems to be awake enough to know God when it is hardly capable of knowing anything else

'आधी रात जागकर प्रभुकी प्रार्थना करनेकी मेरी आदत थी। मुझे ऐसा प्रतीत होता था कि प्रभुजी ठीक समयपर आकर मुझे जगा देते थे जिसमे मैं उनके प्रेमका अमृत पी सकूँ। जब में अस्वस्थ रहती या थकी होती तो वे जगाते तो नहीं, परतु सोये-सोये ऐसा प्रतीत होता कि मैं प्रभुकी गोदमे हूँ। मुझे जब उनके आनेका भान भी न होता तो वे आकर मेरी आत्मापर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेते थे। रातम मेरी नींद उचट जाती है, कभी-कभी आधी सोई आधी जागी रहती हूँ, फिर भी उनकी उपस्थितिका भाव बराबर बना ही रहता है।'

सक्षेपम हमने देख लिया कि सर्वत्र सतोने प्रभुके परम प्रेमका रसास्वादन एक अपूर्व ढगसे ही किया है जिसे हम भक्तिके शब्दाम माधुर्य-भाव कह सकते हैं।

रामभक्तिमें रसिक सम्प्रदायके प्रेमी भक्त

(श्रीसियाशरणजी शास्त्री व्याकरणदर्शनाचार्य साहित्यरत्न)

सौन्दर्यसारसर्वस्व माधुर्यगुणवृंहितम्।
ब्रह्मैकमद्वितीय तत् तत्त्वमेक द्विधा कृतम्॥
वेदादिशास्त्रसवेद्य सीतारामस्वरूपकम्।
सरहस्य सता सेव्यमद्भुत प्रणमाम्यहम्॥

वेद, उपनिषद् और रामायण आदि शास्त्रामे भगवान्‌की लीलाओका विविध रूपामें वर्णन मिलता है। हमारे भक्त कवियाने इन दिव्य लीलाओके माधुर्य-भावको अति अनुरागमे प्रकट किया है। यह भाव भगवान्‌से सीधा सम्बन्ध स्थापित करनेम श्रेष्ठतम साधन है। इसीलिये *'रामहि केवल प्रेमु पिआरा'* कहा गया है।

रामभक्तिमे रसिक भावनाके प्रवर्तक आचार्य श्रीअग्रस्वामीने सखीभावकी अनुरागात्मिका शैलीका वर्णन करते हुए इसे लौकिक शृङ्गारसे सर्वथा पृथक् 'अन्तरङ्ग-सम्बन्धपरक' बताया है—

रस शृगार अनूप है तुलबे को कोउ नाहिं॥
तुलबे को कोउ नाहि सोउ अधिकारी जग मे।
कचन कामिनी देख हलाहल जानत मन मे॥
जावत जग के भोग रोग सम त्यागे द्वन्दा।
पिय प्यारी रस सिन्धु मगन नित रहत अनन्दा॥
नहीं 'अग्र' अस सन्त के सर लायक जग माँहिं।
रस शृगार अनूप है तुलबे को कोउ नाहिं॥

श्रीअग्रस्वामीकी 'ध्यानमञ्जरी' नामसे रोला छन्दकी छोटी-सी रचना है। इसमे 'श्रीरामस्तवराज' मे वर्णित भगवान् श्रीरामके स्वरूप और स्तवनको अपनी रसिक भावनामें मिश्रित करते हुए लिखा गया है—

अस राजत रघुवीर धार आसन सुखकारी।
रूप सच्चिदानन्द वाम दिशि जनककुमारी॥
यह दम्पतिवर ध्यान रसिक जन नित प्रति ध्यावे।
रसिक विना यह ध्यान और सपनेहुँ नहिं पावे॥
सुनि आगम विधि अर्थ कछुक जो मनहिं सुहायो।
यह मङ्गलवर ध्यान यथा मति वरणि सुनायो॥

'रेवासा धाम' (सीकर राजस्थान)-के श्रीअग्रदेवाचार्य जिनका स्थितिकाल विक्रम सवत् १५७० है, रामभक्तिमे मधुर उपासनाके महान् कवि हैं। ये ज्ञानी और ध्यानी तो थे ही, साथ ही 'ध्यानमञ्जरी', 'कुण्डलिया', 'अष्टयाम' और 'अग्रसागर' नामसे इनका विपुल साहित्य उपलब्ध है। ऐसी प्रसिद्धि है कि रेवासामे इस प्रकारका साहित्य सुलभ होनेकी जानकारी होनेपर उसके अध्ययनके लिये प्रसिद्ध रामायणी श्रीरामचरणदासजीने अपना तिलक बदलकर यहाँपर निवास किया और इस रसिक भावनामे दीक्षित होकर अध्ययन किया था।

भगवत्प्रेमका यह भाव बहुत उच्च कोटिका है। रेवासाके पञ्चम आचार्य श्रीबालकृष्णदेवजी (श्रीबाल अली) अपने 'नेह-प्रकाश' म लिखते हैं—

एकाकी नहिं रमण ह्वै चहियत् कोउ सहाय॥
रमत एक ही ब्रह्म ह्वै पति-पत्नी द्वय भाय॥

यह भाव उपनिषद्‌के 'एकोऽह बहु स्या प्रजायेय' तथा ब्रह्मसूत्रके 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' के निर्देशनपर प्रचलित है। नारदभक्तिसूत्रमे भी इन रसिक भक्त कवियोके लिये अनुरागात्मक विचार (भावाभिव्यक्ति)-की परिकल्पना पुष्ट की गयी है। 'तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परम-व्याकुलतेति'[1] (भक्तिसूत्र १९) तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भापयति तदेव चिन्तयति।[2] यह आत्मा और परमात्मा अथवा जीव तथा ब्रह्मका माधुर्य-लीलाभाव है। इसमे शृङ्गारके सयोग और वियोग—दोनो भावोका वर्णन है, परतु यह लौकिक शृङ्गार भावसे सर्वथा भिन्न है। यह रस तो 'रसो वै स ' है, जिसके लिये आनन्दस्वरूप प्रेमास्पदकी साकेत धामकी दिव्य लीलाएँ अपेक्षित हैं।

अयोध्याके युगलानन्यशरणजी महाराजने श्रीअग्रस्वामीकी वाणी और सखीभावकी भक्तिमे प्रवेशकी बडी सुन्दर व्यवस्था दी है—

रिषि मुनि सिद्ध सुरेश ईश ब्रह्मादि अलखगति।
पुरुषावेस समेत जीव गत होत न तहँ रति॥
जो लौ रचक गध पुरुषपन चित्त विराजे।
तौ लौ रहस सुधाम माझ सबध न भ्राजे॥

वर्षोकी नाम-साधनाके अनन्तर ही शृङ्गारके इस

१ अपने सब कर्मोंको भगवान्‌के अर्पण करना और भगवान्‌का थोडा-सा भी विस्मरण होनेमें परम व्याकुल होना ही भक्ति है।
२ उस प्रेमको पाकर प्रेमी उस प्रमको ही देखता है प्रेमको ही सुनता है प्रेमका ही वर्णन करता है और प्रेमका ही चिन्तन करता है।

मधुरभावमे प्रवेश सम्भव है।

हिन्दी-साहित्यम सखीभावकी इस भगवत्प्रेम-सम्बन्धी धाराका प्रवाह श्रीअग्रअलीसे प्रारम्भ हुआ है। इसमे अवगाहनके लिये उनकी मूल वाणी प्रस्तुत है—

नरवर राम त्रियावर सीता।
या जोरी की उपमा लखि कर धाता निरखि रह्यो भयभीता॥
सोच सदेह करत चतुरानन दूजे काहू सृष्टि चलाई।
उभय लोक पर्यन्त फिरयो पै यह मूरति गति कहू न पाई॥
वेद विचार कियो जब ब्रह्मा नेति नेति इनहीं को गावत।
रामजी इष्ट जगत पति नियन्ता सोई अग्रदास जिय भावत॥

उत्थापन—

उठे दोउ अलसाने परभात।
दसरथ सुत श्रीजनकनन्दिनी सोधे भीने गात।
विमलादिक सखी चँवर ढुरावत हरषि निरखि मृदु गात।
अग्र अली को श्रीरज दीजे सकल भुवन के तात॥

सरयूविहार—

जय जय रघुनन्द चन्द रसिक राज प्यारे।
अङ्ग अङ्ग छवि अनङ्ग कोटि काम वारे॥
विहरत नित सरयू तीर सग सोह सखिन भीर।
सिया अस भुजा मेलि अवध के दुलारे॥
कोई सखि छत्र लिये व्यजन लिये कोई।
युगल सखी चँवर लिये करत प्राण वारे॥
सुन्दर सुकुमार गात पुष्पमाल सकुच जात।
परसत भयभीत होत रूप के उजारे॥
नखसिख भूषण अनूप यथायोग यथारूप।
कोटि चन्द्र कोटि भानु निरखत द्युति हारे॥
मन्द मन्द मुस्करात प्यारी सग करत बात।
देखि देखि अग्र अली तन मन धन वारे॥

मिथिलाभाव (भाजनकुञ्ज)—

मिलि जेवत जानकी रामजी सखी हरषे निरखे मिथिलापुर की॥
पच सबद बैजन्त्र बजाये गारी गावत पचम स्वर की॥
कुँवरि कुँवरन गारी देत परस्पर नारी हँसै नृप के कुल की॥
रघुवर मंद मंद मुसकाने सिया लाड़ली घूँघट मं मुलकी॥
वे उरझे सुरझे न परे अलि मोहिनी दृष्टि परी उनकी॥
चारों भैया जीमन बैठे राय जनक जोरी निरखी॥
सीस मुकुट मकराकृत कुण्डल श्याम घटा बिजरी चमकी॥
रतन सिंहासन रघुवर बैठे मोतियन की कलङ्गी झलकी॥
गरुड़ विमान छड़ रघुनन्दन पुष्पन की बरषा बरखी॥
अग्रदास बलि जाय सुनैना बार बार सीतावर की॥

माधुर्यभाव—

चहिअतु कृपा लली सीता की।
नवधा भक्ति ज्ञान का करना नाही सक वेद गीता की॥
पद्मत बेद पुरान पुकारत करत वाद नर वपु बीता की।
झगर करत अरुझे सुरझे नहिं मिटत न एक द्वैत भय ताकी॥
जाकी ओर तनिक हँसि हेरत करत सहाय रामजी ताकी॥
अग्र अली भजु जनकनन्दिनी पाप भण्डार ताप रीता की॥

श्रीअग्रअलीकी दिव्य भावभूमिकी यह अलौकिक भावना श्रीरामोपासक उनके अनुयायियामे खूब फूली-फली। रसिक भावनाका यह साहित्य भगवान्‌की लीलाओसे विशेषकर अन्तरङ्गलीलाविलाससे ओतप्रोत है।

महात्मा झाँझूदासजी (१४९६ से १५७५)-के साथ हरसोली, राजस्थानमे स्वामी गोपालदासजी (सियासखीजी) सखीभावके महान् साहित्यकार हुए हैं। श्रीरामजन्मोत्सव और विवाहोत्सवके उनके कुछ पद यहाँ दिये जा रहे हैं—

श्रीरामजन्मोत्सव—

बालक चार विराजत नीके।
दोय स्यामल दोय गौर मनोहर ललित वसन भूषण वर टीके।
उभय सजल घन सोभित अद्भुत उभय सरद-से लागत फीके॥
कर लालित चालित रघुनन्दन दमकत मणि कञ्चुक कुलही के॥
नृप सुत च्यार अनूपम अति द्युति जीवन प्राणधन सिया सखीके॥

विवाह-उत्सवकी गारियाँ और विनय—

(१)

वरण कुल क्यूँ बदल्याजी बना।
गोरे दसरथ गौरी कौसल्या रघुवर स्याम घना॥
पतिव्रता है मात तुम्हारी जाके सत्यपना।
सियासखी कछु कह न सको म्हे मन सन्देह घना॥

(२)

रघुवशी बना जाग्यो भाग तिहारा।
जा दिन मुनि सग आये मिथिला सुधर्यो सकल जमेजमारा॥
ऐसी दुलहन तुम कहाँ पैहो हियड़े माहि विचारो।
सूरजवश उदै भयो तुमरो भाल कपाट उघारो॥
गिनते रहियो स्वास सियाजुके मन मत कीज्यो न्यारो।
सियासखी सियजू के ब्याहत धुल गयो कुल को कारो॥

(३)

सियाजी म्हान याद करन्ता रीज्यो।
बालपना हित चितकी बतियाँ, नयन बनासै मत कीज्यो।
सास ससुर गुरु सेवा कर ज्यो ज्यूँ राख त्यूँ रीज्यो।

सियासखी की ये ही बिनती टहल महल की दीज्यो॥

(४)

सियाबाई सुनियो अरज हमारी।
ओरन के तो ओर भरसो मेरे आस तिहारी॥
करणी की तुम ओर न जाज्यो रावरो बिरद बिचारी।
ऐसी न होय सदा या जग मे लोग हँसै दै तारी॥
रग महल मे जनाय दीज्यो सुनु प्रिया अवध बिहारी।
सियासखी के सरबस तुम हो ओर नहीं गति भारी॥

इस प्रकार रसिक सम्प्रदायकी मधुर वाणीके कुछ अश यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं। सखीभावकी भक्तिका विपुल साहित्य है और इसके लिये जैसी भावभूमि चाहिये उसका वैसा वर्णन भी प्रेमी सतोने खूब किया है।

रसिक सम्प्रदायके एक अन्य भक्त कवि श्रीरूपसरसजी अपनी 'सीतारामरहस्य-चन्द्रिका'मे लिखते हैं—

चिन्मय सीताराम के दिव्य बिहार अनन्त।
यद्यपि बस माधुर्य के दिवस प्रमाण लसन्त॥
दिव्य स्वरूप बिहार यह यहाँ न ससृति लेस।
रूप सरस प्रत्यक्ष जिहि जाहि विमल आवस॥

ये भाव श्रीमद्भगवद्गीताके 'जन्म कर्म च मे दिव्यमेव यो वेत्ति तत्त्वत ' का ही अनुसरण करते हैं।

सखीभावकी व्याख्या करते हुए अवधके प्रसिद्ध सिद्ध सत श्रीरूपलताके कृपापात्र श्रीरसिकेन्दुजी लिखते हैं—

सीतारामाष्टकुञ्जानि वेदगुह्यानि यानि वै।
रूपलताज्ञया तानि वक्तुमारभते मुदा॥

पिय को निज स्वामी कर जाने। सिय सहचरी आपन को माने॥

ये भगवत्-रसके प्रेमी कवि अपनी समस्त साधनाके प्रति अपने-आपको समर्पित करते हुए कहते हैं—

मासन मे अगहन अधिक नवरस मे सिणगार।
तथा सकल उत्सवन मे व्याहोत्सव सुखसार॥
मेरी तो जीवन जड़ी मगसिर रहसि अपार।
रूप सरस या पै किये तन मन धन बलिहार॥

अन्यत्र श्रीयुगलानन्यशरणजी महाराज रसिक भावनाके सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं—

नेम सो अवध मिथिला धामको निवास,
धाम सग परिज्ञान रास रग भीजिये।
लीला अनुकरण प्रेम प्रीतम को जान देखि,
आवत उत्थान करि सग लागि जी जिये।
अष्टयाम सेवा अतरगा बहिरगा दोऊ,
एक सम मानिकै अभेद चित दीजिये॥

महाराज दशरथका वात्सल्य-प्रेम

(श्रीश्यामनारायणजी शास्त्री रामायणी)

धर्मधुरन्धर, गुणनिधि, ज्ञानी महाराज श्रीदशरथजी एव महारानी श्रीकौसल्याजी पूर्व जन्ममे जब मनु एव शतरूपाके रूपमे सृष्टिके आदिपुरुष एव स्त्री थे, तब उन्होने साक्षात् विश्वविमोहन परमात्माको ही पुत्ररूपमे प्राप्त करनेके लिये एव अपने वात्सल्यभावके द्वारा विश्वोपकारक परमादर्श मानवपथप्रदर्शकको धराधामपर उपस्थित करनेके लिये परम पवित्र तीर्थ नैमिषारण्यमे तेईस हजार वर्षोंतक परम कठोर तप किया। परिणामत उन्ह भक्तवाञ्छाकल्पतरु साक्षात् परब्रह्म परमात्माने दर्शन दिया और तदुपरान्त वरदान भी माँगनेको कहा, तब उन्होने वरदान माँगा—

चाहउँ तुम्हहि समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ॥
(रा०च०मा० १।१४९)

यहाँ यह सदेह होना स्वाभाविक है कि जिनकी सतानसे सारी सृष्टि भरी हुई है और जो अपने दोनो सुयोग्य पुत्रो—उत्तानपाद एव प्रियव्रतको समस्त राज्य सौंपकर तपस्या करने आये हैं, वे ही मनु अपनी तपस्यासे पूर्ण सफलता प्राप्त करके भी भगवान्से पुत्र क्यो माँग रहे हैं?

वास्तवमे प्रभुको सर्वगुणसम्पन्न देखकर उनके मनम यह विचार उत्पन्न हुआ कि समस्त मानवाके लिये मर्यादापुरुषोत्तमके रूपमे एक परम आदर्श नररत्नकी विशेष आवश्यकता है, जिसके चरित्रानुगमनसे मानवजातिका सर्वतोभावेन कल्याण होगा। परम पितासे कोई भुक्ति तो कोई मुक्ति चाहते हैं, किंतु मनुजीने निजी स्वार्थ कुछ भी नहीं चाहा। उन्होने तो परम वात्सल्यसे प्रभुको ही अपनी गोदम खिलाने एव उनके लालन-पालनका शुभ अवसरमात्र चाहा। प्रभुने भी इस परमोदात्त भावनाकी पूर्तिके लिये जगत्पिता होकर भी पुत्रत्व-स्वीकृतिमे कोई सकोच नहीं किया, अपितु 'एवमस्तु' कह ही दिया किंतु जब शतरूपाजीसे वरदान माँगनेको कहा तो उन्होंने भगवान्के भक्तोको प्राप्त होनेवाला सुख, गति, भक्ति विवेक रहनेका

ढग एव चरणाका स्नेह—एक ही साथ छ वरदान माँग लिये। इसपर मनु महाराजने दुबारा वरदान माँगा कि हमको सेवक-सेव्यभाववाला सम्बन्ध नहीं चाहिये, अपितु सुत-विषयक रति चाहिये—

सुत बिषइक तव पद रति होऊ। मोहि बड़ मूढ कहै किन कोऊ॥
मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन तिमि तुम्हहि अधीना॥

(रा०च०मा० १। १५१। ५-६)

'मनि बिनु फनि' वाला वरदान माँगनेपर उन्हे ध्यान आया कि मणिके बिना भी सर्प जीवित रह सकता है। किंतु जैसे मछली जलके बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती वैसे ही श्रीरामजीके बिना एक क्षण भी मेरा जीवन न रह सके। इसीलिये वरदानमे उन्होने दूसरा दृष्टान्त दिया—*'जिमि जल बिनु मीना।'*

वास्तवमे मकर, सर्प, दादुर तथा कच्छप—ये सब जलमे रहते हैं एव इनका जीवन-आधार भी जल ही है, तथापि ये सब कभी-कभी जलके किनारे आकर स्थलमे भी निर्वाह कर लेते हैं, किंतु मछलीका तो जल ही जीवन एव जल ही गेह है। तभी जलके साथ मात्र इसीका प्रेम सच्चा कहा जाता है—

तुलसी एकै मीन को है साँचिलो सनेह॥

जाल डालनेपर जल मीनको छोडकर चला जाता है, किंतु मीन तो अपने प्रियतम जलके विरहमे प्राण छोड देता है। इतना ही नहीं, इसके प्रेमकी और गहराई देखे—

मीन काटि जल धोइए खाए अधिक पिआस।
तुलसी मीन सराहिए मुएहुँ मीत की आस॥

जब मनु-शतरूपा अगले जन्ममे दशरथ-कौसल्या बने तो यह सिद्धान्त उनपर पूर्णरूपसे घटित हुआ।

मनुजीको न मोक्षकी कामना है न यशकी। वे तो केवल वात्सल्यभावसे ही आनन्द लेना चाहते हैं। विवेकसे वात्सल्यभाव बिगड जायगा। अत विवेक नहीं चाहा। मनु महाराजको भगवान्ने यह आश्वासन तो दिया ही कि दशरथ बनकर जब आप अवधपुरीके राजा बनेंगे, तब हम अपनी शक्ति एव अशोसहित आपके यहाँ अवतरित होंगे, साथ ही उनकी दूसरी कामनाको भी पूर्ण करनेका आश्वासन प्रभुने प्रदान कर दिया।

यद्यपि यह बात प्रभुकी प्रतिष्ठाके अनुरूप नहीं थी। जिनके वे पुत्र बने वे पिता उनके विरहमे प्राण दे यह किसी भी प्रकारसे प्रभुके अनुकूल है क्या? किंतु भक्त इसी बातपर हठकर बैठा। वह अपने प्रियतमके वियोगमे ही प्राण छोडनेकी अभिलाषा करता है और—

जिअत राम बिधु बदनु निहारा। राम बिरह करि मरनु सँवारा॥

आगे चलकर दोनो ही सम्बन्धाका पूर्णरूपसे निर्वाह हुआ। इसको सभी निकटस्थ जनाने स्वय प्रमाणित किया। महारानी कौसल्याजी भरतजीसे कहती हैं—

जिऐ मरै भल भूपति जाना। मोर हृदय सत कुलिस समाना॥

महाराजने वास्तवमे समझा कि श्रीरामके लिये कैसे जीना एव मरना चाहिये—

जीवन मरन सुनाम जैसे दसरथ राय को।
जियत खिलाए राम राम बिरहँ तनु परिहरेउ॥

(दोहावली २२१)

महारानी कैकेयीजी भरतजीसे कहती हैं—

तात राउ नहिं सोचै जोगू। बिढइ सुकृत जसु कीन्हेउ भोगू॥
जीवत सकल जनम फल पाए। अत अमरपति सदन सिधाए।

गुरु वसिष्ठजी भरतजीसे कहते हैं—

सोचनीय नहिं कोसलराऊ। भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ॥
भयउ न अहइ न अब होनिहारा। भूप भरत जस पिता तुम्हारा॥
बिधि हरि हरु सुरपति दिसिनाथा। बरनहिं सब दसरथ गुन गाथा॥

गुरु वसिष्ठजी तो बहुत ऊँची बात कह रहे हैं। पहले भी बडे-बडे राजा हुए किंतु दशरथजी-जैसा न कोई हुआ न इस समय कोई है और न तो आगे ही कोई होगा। भले ही श्रीराम प्रशस्य राजा होंगे, किंतु महाराज दशरथजीकी बराबरी वे नहीं कर सकेंगे, क्योंकि श्रीराम-जैसा पुत्रका पिता होना तो दशरथजीके ही भाग्यमे था। महाराज दशरथ अनुपम हुए। इसी बातको मा भी कह रही हैं। जब बालरूप प्रभुको परम प्रसन्नतासे गोदमे लेकर मा उछाल रही हैं तो अति प्रसन्नतामे मासे प्रभुने पूछा मा! तुम इतनी प्रसन्न क्यों हो रही हो। माने कहा—तुम्हारा सुन्दर मुख देखकर। प्रभुने कहा—वह सुन्दर मुख मुझे भी दिखाओ। माने कहा—मेरे-जैसा तेरा भाग्य नहीं है।

सुन्दर मुख मोहिं देखाउ इच्छा अति मोरे।
मो समान पुण्यपुज बालक नहि तोरे॥

वास्तवमे—

संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अस तें नाना॥

जिन प्रभुके अशसे त्रिदेवाकी उत्पत्ति हुई है, वे ही राम

जब दशरथजीके पुत्र हैं, फिर उनके भाग्यका क्या कहना?

तिभुवन तीनि काल जग माहीं। भूरि भाग दसरथ सम नाहीं॥

चार प्रकारसे ही लोग बडभागी माने जाते हैं—यशस्वी होनेसे, राजा होनेसे, गुणी होनेसे और योग्य सतान होनेसे। ये चारो महाराज दशरथमे पराकाष्ठाको प्राप्त हैं—

मगलमूल रामु सुत जासू। जो कछु कहिअ थोर सबु तासू॥

जब श्रीदशरथरूपी मीनको चौदह वर्षके वनवासरूपी जालमे पडनेपर श्रीरामरूपी जल, अयोध्यारूपी समुद्रमे छोडकर चला गया तो दशरथरूपी मीन व्याकुल हो गया—

'प्रान कठगत भयउ भुआलू।'

फिर महारानी श्रीकौसल्याजीने जब श्रीरामजलरूपी मिलनकी आशा दिलायी—

जौ जियँ धरिअ बिनय पिय मोरी। रामु लखनु सिय मिलहिं बहारी॥

—तो ऐसा सुनते ही महाराज दशरथरूपी मीनको थोडा जल मिला—

प्रिया बचन मृदु सुनत नृपु चितयउ आँखि उघारि।
तलफत मीन मलीन जनु सींचत सीतल बारि॥

किंतु जब सुमन्त्रजीने श्रीरामके न आनेका समाचार महाराज दशरथको सुनाया तो उन्होने तुरत ही जीवनकी बची-खुची आस भी छोड दी और विलाप करने लगे—

हा रघुनदन प्रान पिरीते। तुम्ह बिनु जिअत बहुत दिन बीते॥
राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।

जब लङ्का-समराङ्गणमे राक्षसोका सहार कर श्रीराम-लक्ष्मण परम प्रसन्न मुद्रामे खडे थे। सभी ब्रह्मा आदि देवगण पुष्पवर्षा नृत्य, गायन और वादन प्रस्तुत करनेके ही साथ स्तुति करते हैं। ब्रह्मा स्तुति कर ही रहे थे कि उसी समय महाराज दशरथ भी वहाँ आये। श्रीरामको देखकर उनके नेत्रोंमे प्रेमाश्रुओका जल छा गया—

तेहि अवसर दसरथ तहँ आए। तनय बिलोकि नयन जल छाए॥

यहाँ *'प्रभुहि बिलोकि'* न कहकर *'तनय बिलोकि'* कहा गया है। वाह रे सुतवात्सल्यकी पराकाष्ठा! दशरथजीका वात्सल्यभाव अभी भी स्थिर ही है। प्रभुने भी पूर्वकी भाँति उन्हे तात कहकर पुकारा और प्रणाम किया—

अनुज सहित प्रभु बदन कीन्हा। आसिरबाद पिताँ तब दीन्हा॥

अन्तमे श्रीराम कहते हैं कि हे तात! यह सब आपके पुण्योका ही प्रभाव है जो मैंने अजेय राक्षसराजको जीत लिया। पुत्रके वचन सुनकर उनकी प्रीति अत्यन्त बढ गयी, नेत्रोमे जल छा गया और शरीरमे रोमाञ्च हो आया—

तात सकल तव पुन्य प्रभाऊ। जीत्यो अजय निसाचर राऊ॥
सुनि सुत बचन प्रीति अति बाढी। नयन सलिल रोमावलि ठाढी॥

पिता-पुत्र दानो अतिशय आनन्दित हो गये। धन्य है इस वात्सल्यको!

महाराज दशरथजीका पश्चात्ताप एव निर्वाह

राउ सुनाइ दीन्ह बनबासू। सुनि मन भयउ न हरषु हराँसू॥
सो सुत बिछुरत गए न प्राना। को पापी बड़ मोहि समाना॥

यदि श्रीराम परम पितृभक्त हैं तो महाराज श्रीदशरथजी भी अनुपम वात्सल्ययुक्त पुत्र-प्रेम-निर्वाहक हैं।

सर्वगुणसम्पन्न श्रीराम-जैसे पुत्रने यदि अपने माता-पिताकी आज्ञासे परम प्रसन्नतापूर्वक क्षणभरमें अयोध्याका सुरदुर्लभ साम्राज्य त्यागकर चौदह वर्षके लिये वनवास स्वीकार किया तो परम वात्सल्यमय महाराज श्रीदशरथजीने भी ऐसे पुत्रके विरहमे क्षणमात्रमे प्राण ही त्याग दिया। यदि राम आदर्श पिता-भक्त हैं तो महाराज श्रीदशरथजी भी परमादर्शमय पुत्रवत्सल हुए। उन्होंने सत्यकी रक्षाके लिये प्रियपुत्रको वनवास दिया एव अपने प्रणकी रक्षा प्राण देकर की—

करत राउ मनमो अनुमान।
सोक-बिकल मुख बचन न आवै बिछुरे कृपानिधान॥
राज देन कहि बोलि नारि-बस मै जो कह्यो बन जान।
आयसु सिर धरि चले हरषि हिय कानन भवन समान॥
ऐसे सुतके बिरह-अवधि लौ जौ राखौ यह प्रान।
तौ मिटि जाइ प्रीतिकी परिमिति, अजस सुनौं निज कान॥
राम गए अजहूँ हौ जीवत समुझत हिय अकुलान।
तुलसिदास तनु तजि रघुपति हित कियो प्रेम परवान॥

(गीतावली अयोध्या० ५९)

श्रीरामसे वियोग तो अवधपुरवासीजन, महारानी कौसल्या, कैकेयी सुमित्रा आदि सभीका हुआ किंतु श्रीरामके वियोगमे प्राणका त्याग किसने किया? उसके आदर्श तो एकमात्र महाराज श्रीदशरथजी ही कसौटीपर खरे उतरे, जिनकी वन्दना गोस्वामीजीने *'सत्य प्रेम जेहि राम पद'* के रूपमें की है—

बदउँ अवध भुआल सत्य प्रेम जेहि राम पद।
बिछुरत दीनदयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ॥

ऐसा वात्सल्य एव विशुद्ध प्रेम विश्वमे कहाँ मिलेगा?

प्रेममूर्ति भरत एव महर्षि भरद्वाज

(डॉ० श्रीओ३म् प्रकाशजी द्विवेदी)

भक्तशिरोमणि कालजयी कवि तुलसीदासजीने अपनी अमर कृति 'श्रीरामचरितमानस' मे जिन सात्त्विक उत्कृष्ट पात्रोका मनोहारी, लोकमङ्गलकारी चरित्र-चित्रण किया है, नि सदेह उन सभी पात्रोम परम पावन निर्मल, निष्कलक, उज्ज्वल आदर्श सर्वोत्कृष्ट चरित्र श्रीभरतजीका है। महाकविने प्रार्थनाके रूपम उनका वर्णन इस प्रकार किया है—

प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना। जासु नेम ब्रत जाइ न बरना॥
राम चरन पकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥
(रा०च०मा० १।१७।३-४)

श्रीभरतजीके नियम, व्रत और श्रीराम-प्रेमका वर्णन अकथनीय है। श्रीनारदजीने 'अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपम्' (ना०भ०सू० ५१)-मे कहा है। जैसे गूँगा व्यक्ति गुडके मिठासका वर्णन नहीं कर सकता केवल अनुभव करता है, उसी प्रकार प्रेमका स्वरूप अनुभवरूप है। ऐसा प्रेम विरले लोगाके हृदयमे प्रकाशित होता है। जिसके हृदयमे ऐसा उत्कृष्ट प्रेम प्रकट होता है उसका हृदय प्रकाश-पुञ्जसे भर जाता है। मुखमण्डलमे हृदयका तेज झलकने लगता है। उसकी दृष्टि तथा बोलनेकी मधुर ध्वनिमे अन्तर आ जाता है। यह ठीक ही कहा जाता है—'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि', 'जैसी ध्वनि वैसी प्रतिध्वनि'। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि हमारी श्रद्धासे ही हमारे जीवन-दर्शनका निर्माण होता है। भक्तिकी इस विशेषताको हम श्रीभरतजीके जीवन-दर्शनमे पाते हैं। वे निष्काम कर्मयोगी एव स्थितप्रज्ञ भक्तशिरोमणि हैं। वैदिक रीति-रिवाजके पूर्ण नैष्ठिक अनुयायी हैं। उपनिषद्-वाणी है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिता ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥
(कठ० २।३।१४)

अर्थात् जब साधकके हृदयमे स्थित समस्त कामनाएँ स्वत छूट जाती हैं तब वह मरण-धर्मा मानव अमरत्वको प्राप्त कर लेता है और यहीं इस जीवनमें ब्रह्मानन्दका अनुभव करता है। यह आचरण भरतजीके जीवनमे प्राप्त होता है। उनम कर्म ज्ञान और भक्तिकी त्रिवेणी प्रवाहित हो रही है। उनकी भक्तिके प्रवाहमे कर्मकी उपेक्षा नहीं है। अपनी कुल-परम्पराके अनुसार सकट पडनेपर श्रीशिवजीका पुण्य स्मरण उनके जीवनका सहारा है—

बिप्र जेवाँइ देहिं दिन दाना। सिव अभिषेक करहिं बिधि नाना॥
मागहिं हृदयँ महेस मनाई। कुसल मातु पितु परिजन भाई॥
(रा०च०मा० २।१५७।७ ८)

ननिहालसे लौटनेपर यहाँका सब समाचार सुनकर उनका हृदय विदीर्ण हो गया। मा कौसल्या एव गुरु वसिष्ठजीने अयोध्याकी सभाम उन्ह बहुत प्रकारसे समझाया, परतु उनकी हार्दिक अभिलाषा—सात्त्विक निर्णय एक ही रहा—

मोहि लगि भे सिय रामु दुखारी॥
प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं॥
(रा०च०मा० २।१८२।६ २।१८३।२)

श्रीभरतजीके हृदयम 'तत्सुखसुखित्वम्' (ना०भ०सू० २४)-की भावना बलवती है। वे रघुकुलकी परम्पराका पूर्ण निर्वाह करनेके पोषक हैं। भगवान् श्रीरामको वनसे लौटाकर राजगद्दीपर बैठानेके प्रबल समर्थक हैं। गुरु वसिष्ठजी भी राज्य करनेकी नीतिगत बात भरतजीके हृदयमे नहीं बैठा सके। भरतजी चित्रकूटकी यात्रापर सबके साथ चल पडे। इस यात्राका जितना सुन्दर वर्णन तुलसीदासजीने किया है, वैसा मनोहारी साङ्गोपाङ्ग भरत-चरित्रका वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है। इसका प्रमुख कारण है भरतजीके जीवन-दर्शनके साथ तुलसीदासजीकी तन्मयता, अनन्यता एव एकात्मकता तथा भरतजीके साथ तादात्म्यकी अनुभूति। इसीलिये अयोध्याकाण्डकी फलश्रुति (छन्द ३२५)-म वर्णन किया गया है—

कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥

इस कठिन कलिकालमे तुलसीदासजी-जैसे भक्तोके हृदयको प्रेमभक्ति-रससे सींचनेवाला पूण तृप्ति एव सतोष प्रदान करनेवाला हृदयमे रामभक्ति उत्पन्न करनेवाला भरतजीसे बढकर अन्य कोई नहीं है जिसने भवरससे विरत करके भक्ताके हृदयमे भक्ति-रसकी सुरसरिता

प्रवाहित कर दी है।

भक्तिका रूप है परम प्रेम। यह भक्ति हृदयको बल प्रदान करते हुए उसे निर्मल बनाती है। ईश्वर-प्रेमकी ओर प्रीति एव रुचि बढाती जाती है।

इस प्रेम-भक्तिके सदर्भम श्रीभरतजी एव श्रीभरद्वाजजीके सुसवादका किञ्चित् आनन्द-रसास्वादन यहाँ उपस्थित है—

तीर्थराज प्रयागकी तीर्थस्थली चारो फल प्राप्त करनेकी तपस्थली एव प्रेमस्थली है। परतु भरतजीका त्याग महान् है। भरत-चरित्र हमे सर्वत्यागकी शिक्षा देता है। उनका हृदय निर्मल है। सासारिक विषय-भोगाकी उन्ह कोई इच्छा नहीं है। इसीलिये उन्होने पिताके द्वारा प्राप्त राज्यको त्याग दिया है। तपम उन्हाने स्वयको जलाकर स्वर्णके समान तेजयुक्त बना लिया है। वे इन्द्रियाके वशमे नहीं हैं। इसीलिये तेजस्वी हैं। वे केवल भगवान्को हृदयसे देखने एव अपनी भावनाएँ व्यक्त करनेको लालायित हैं। वे त्रिवेणी-स्नान—प्रार्थनाके बाद भरद्वाजजीके आश्रममे पहुँचते हैं। मा त्रिवेणीसे प्रार्थना करते हैं कि मा! मेरी रति, मेरा प्रेम भगवान्के श्रीचरणोमे सदा बना रहे। भरतजी जब भरद्वाजजीके आश्रमम पहुँचते हैं तो सभी प्रयागवासी, सभासद एव भरद्वाजजी आह्लादित होकर उनका स्वागत-सम्मान करते हैं। भरद्वाजजी कहते हैं—

अब अति कीन्हेहु भरत भल तुम्हहि उचित मत एहु।
सकल सुमगल मूल जग रघुबर चरन सनेहु॥
सो तुम्हार धनु जीवनु प्राना। भूरिभाग को तुम्हहि समाना॥

हे भरत! राज्यको स्वीकार करना अच्छा था। पर नहीं स्वीकार किया यह और अधिक अच्छा किया। पिताकी आज्ञाका पालन धर्म है, पर श्रीराम-प्रेमहित सर्वस्व और लौकिक धर्मोंका त्याग करना सबसे श्रेष्ठ है। यह परम परमार्थ है। यह विशेष धर्म है। यह उपनिषदोका श्रेयस् मार्ग है। श्रीभरद्वाजजी कहते हैं—

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु राम सनेहू॥

हे भरत! तुम श्रीराम-प्रेमके साक्षात् अवतार हो। तुम्हे श्रीरामभक्ति-रस सिद्ध नहीं करना है। तुम स्वय ही रामभक्ति-रस-सिद्ध हो। रामभक्ति और श्रीराम एकरूप हैं, किंतु श्रीभरतजीकी केवल एक ही चिन्ता थी—

राम लखन सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनि बेष फिरहिं बन बनहीं॥
अजिन बसन फल असन महि सयन डासि कुस पात।
बसि तरु तर नित सहत हिम आतप बरषा बात॥

भरतजीपर भरद्वाजजीकी सान्त्वनाके मृदु वचनका गहरा प्रभाव पडा—

सब दुखु मिटिहि राम पग देखी॥'

श्रीभरतजीके अन्त स्फूर्तिम अगारमे राखके समान चिन्ताकी राखकी पर्त जो पड रही थी वह दूर हुई और भरतजी पुन जलते अगारेके समान तेजपूर्ण हो गये, क्योकि श्रीरामभक्ति अनुपम सुखमूल है—

'भगति तात अनुपम सुखमूला।'

श्रीभरतजीका पावन उपदेश हम सबके लिये है कि इस अनित्य ससारमे दु ख प्रदान करनेवाले विचाराको समझकर उनसे पूर्णतया मुक्त होनेका प्रयत्न करे और जितनी जल्दी हो सके अपनी इन्द्रियोका वशमे करके भगवान्के शरणमे जायँ। हम सासारिक इच्छा, अहकार आदि दुर्गुणोसे मुक्त होना है। सासारिक चाह हमे अशान्त करती है। वतमानमें रहनेपर सब ईश्वरकी कृपा समझनेपर हम जीवनके केन्द्रसे जुड जाते हैं, अस्तित्व ईश्वरीय शक्तिके सम्पर्कमे आ जाते हैं, कुतर्करूपी विचाराकी परिधिसे हटकर ईश्वरके समीप हो जाते हैं। अत आवश्यक है कि प्रेम-पथपर चलनेका सकल्प कर। जीवको परमात्मासे मिलानेका प्रेम सेतु है। सदाचारी ही प्रेम-सेतुका पथिक होता है। अत दैवी गुणसम्पन्न बने।

तुलसी कहत सुनत सब समुझत कोय।
बड़े भाग अनुराग राम सन होय॥
(बरवै० ६३)

अनुराग तभी होगा जब हमारी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होगी। बाह्य कामनाएँ जब छूट जायँगी तभी हमारे अन्त करणकी ऊर्जा जागेगी। इन्द्रियाम तेज, बलकी प्राप्ति हागी। हम ऊर्ध्वगतिको प्राप्त करगे।

श्रीभरद्वाजजी भरतजीसे कहते हैं—

नव बिधु बिमल तात जसु तोरा। रघुबर किंकर कुमुद चकोरा॥
उदित सदा अँथइहि कबहूँ ना। घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना॥
निसि दिन सुखद सदा सब काहू। ग्रसिहि न कैकइ करतबु राहू॥
पूरन राम सुपेम पियूषा। गुर अवमान दोष नहिं दूषा॥
(रा०च०मा० २।२०९।१-२ ४-५)

हे तात! तुम्हारा निर्मल यशचन्द्र निवृत्ति एव प्रवृत्ति-मार्गके सभी भक्तोको सुख देनेवाला हे। कुमुद एव चकोररूप भक्तोके लिये नवीन चन्द्रमाकी भाँति सुखकर है। जेसे कुमुद तनसे एव चकोर मनसे प्रसन्न होता है, वैसे ही श्रीरामभक्त आपका निर्मल यश गाकर तन-मनसे सुखी, स्वस्थ एव प्रसन्न होगे। भक्तोके लिये आप प्राणस्वरूप हागे। प्राकृत चन्द्र तो घटता-बढता है। विष इसका भाई हे। यह कलकी हे। प्राकृत चन्द्रम बहुत-से दोष हैं, परतु तुम्हारा यश-चन्द्र सबको सुखद होगा। सदा तुम्हारे स्मरणसे सबके हृदयमे प्रेम बढता रहेगा। तुमने अनुपम कीर्तिरूपी चन्द्रमाका निर्माण किया है। तुम्हारे उज्ज्वल, निर्मल चरित्रसे प्रेमामृतकी प्राप्ति होगी। तुम्हारे पास प्रेमरूपी पारस है, जहाँ दरिद्रता पहुँच ही नहीं सकती है। तुम व्यर्थ मानसिक चिन्तनरूपी दरिद्रतासे बोझिल हो रहे हो। तुम्हारे पास जो प्रेमरूपी पारस है, वह भविष्यम भी अनेक पीढियोतक भक्ताको स्वर्णमय बनाता रहेगा। हम उदासीन साधु हैं, वनमे रहते हैं हम झूठका सहारा नहीं लेते हैं। मैं सत्य-सत्य कहता हूँ कि तुम्हारा जीवन परम धन्य है। तुम्ह भगवान् श्रीराम लक्ष्मण और सीता प्रेमसे स्मरण करते रहते थे। वे त्रिवेणीमे डुबकी लगाते समय स्मरण करके पुलकित हो जाते थे। उनकी आँख नम हो जाती थीं। एसा सौभाग्य और किसका है ? जिसे स्वय भगवान् स्मरण करे।

तुम्हारा यश परम यशस्वी है, जिसमे एक-से-एक बढकर दिव्यातिदिव्य पूर्ण आत्माआने जन्म धारण कर ससारका परम कल्याण किया है। राजा भगीरथ अपने अथक प्रयाससे गङ्गाको पृथ्वीपर लाकर ससारका आजतक परम कल्याण करते आ रहे हैं। राजा दशरथजीकी पूर्वजन्मकी तपस्यासे द्रवित होकर स्वय भगवान् भाइयोंसहित उनके यहाँ अवतरित हुए। वे सारे ससारका दु ख दूर करते हें, उन्हीं दीनदयाल प्रभुके मङ्गल दर्शनसे तुम्ह परम शान्ति प्राप्त होगी। सब दु ख दूर हो जायँगे। भगवान् श्रीरामके दर्शनका परम फल तुम्हारा दर्शन है। सारे ससारके पालनहार भगवान् ही हैं। उन्हींके बनाय विधानसे यह जग सचालित हो रहा है अत तुम्हारा चिन्ता करना व्यर्थ है।

भगवान् श्रीरामके वनगमन-विरहने भरतजीके कोमल हृदयको उद्वेलित कर दिया और उनके हृदयम छिपा हुआ प्रेमामृत प्रकट हो गया। भगवान्ने अपने विरहरूपी मन्दराचलसे भरतके हृदयको मथकर प्रेमामृत प्रकट किया, जो ससारके प्राणियाके लिये, साधु-सतो तथा देवताओके लिये परम हितकारी हुआ। आज भी हम भरतजी-श्रीरामजीके अमर प्रेमको स्मरणकर प्रेमामृत-समुद्रम गोते लगाते हैं—

पेम अमिअ मदरु बिरहु भरतु पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर॥
(रा०च०मा० २।२३८)

अमृत तो देवलोकमे भी है चन्द्रमामे भी है परतु देवलोकका अमृत पीनेके बाद पुण्य क्षीण होनेपर प्रभाव समाप्त हो जाता है। चन्द्रमाका अमृत दुर्लभ है। रात्रिमे जीव-जन्तुआको लताओ तथा वृक्षोको कठिनाईसे प्राप्त होता है अर्थात् सर्वसुलभ नहीं है, परतु श्रीभरतजीके गम्भीर हृदयरूपी समुद्रसे प्रकट प्रेमरूपी अमृत आज भी सर्वसुलभ है। जो स्मरण करेगा, सत्सगसे चरित्र-श्रवण करेगा—वह प्रेमरूपी अमृत प्राप्त करेगा।

भरतजीक प्रेमका वर्णन करते-करते भरद्वाजजीके हृदयमे प्रेमरस उमड पडा। भरतजीके प्रेम-समुद्रम मुनिजी डूबने लगे। वे उस प्रेमरसमे इतने लीन हो गय कि जैसे कुछ क्षणके लिये समाधि-सी लग गयी। यही भक्ति-रस भक्ताके हृदयमे रसरूपमे व्यक्त होता रहता है। यह रस जब

प्रकट होता है तो बाहर-भीतरका ज्ञान नहीं रहता है। चित्रकूटमे भी यही रसदशा देखनेको मिलती है, जब श्रीराम और भरतजीका मिलन होता है—

परम पेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥

इस मिलनमे भक्त और भगवान्के हृदयकी दूरी समाप्त हो गयी। न बाहरकी सुधि रही, न भीतरका ज्ञान रहा। कुछ क्षणोके लिये दोना भक्तिभाव-रसमे डूब गये। आज भी श्रीभरतमिलाप-लीलाका प्रभाव दर्शकोपर पडता है। भक्तोके हृदयमे पवित्र लीलाको देखकर भक्ति-रस उमडने लगता है। हृदय और मन पूर्ण तन्मय एव रसमग्न हो जाता है।

प्रममूर्ति भरतजी एव महर्षि भरद्वाजजीका सुसवाद हमारे शुष्क एव नीरस हृदयमे निर्मल पावन प्रेमभक्तिकी त्रिवेणी बहानेका अजस्र अमृत स्रोत है, जिसकी निर्मल वेगवती धारामें हमारा कलिकलुष सब बह जाता है। इसके आस्वादसे हमारे हृदयमें पूर्ण आनन्द सदा बना रहेगा। हमारा मानसिक रोग एव हृदयका अवसाद निर्मूल होगा। धीरे-धीरे प्रेमभक्तिके मार्गपर यदि हम अनवरत रूपसे बढते रहेगे तो एक-न-एक दिन नि सदेह हम पूर्णताको अवश्य प्राप्त कर लेगे। पूर्णता भगवान्का स्वभाव एव स्वरूप है।

भगवान् श्रीरामका यश सूर्य है। भरतजीका यश चन्द्रमा है। भरतजीके हृदयमे सूर्य एव चन्द्रमा दोनोका निवास है। जो भक्तोके हृदयम समरस आनन्दका दान करता रहता है। यह ससारके भक्तजनामे अमृतस्वरूप शीतलता, तेज एव प्रसन्नताका दान करता रहेगा। हमारे हृदयपर पडे हुए मल-विक्षेप-आवरणको सर्वथा हटाकर अपने निर्मल यशकी सुगन्धिसे उसे सदा जीवन्त एव प्राणवान् बनाता रहेगा और हमारे अन्तस्‌मे शान्त, शुद्ध, सत्त्व, शिव-चतनाका समरस बोध जाग्रत् करेगा—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअतर मल कबहुँ न जाई॥

अत कालका भरोसा न करके तन्मय होकर सर्वथा भजनीय भगवान्के शरणागत हो जाय। उनके कमलवत् चरणोमे अपने मनको मधुकर बना दे। भगवान्की इच्छाको अपनी इच्छा बना द। भगवान्की भक्ति स्वय फलरूपा है। वह भक्तके हृदयम शान्ति, तृप्ति, सतोप और आनन्दका अनुभव कराकर हृदयको ऊर्जा तथा शक्ति प्रदान करती है। अत शास्त्रोके मङ्गल, पावन, शिव उपदेश **'प्रेमैव कार्यम्'** (प्रेम ही करणीय है) तथा **'भक्तिरेव गरीयसी'** (भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है।)-के मङ्गल उद्घोषोका श्रवण करे। जीवनमे दृढ आचरण कर एव वर्तमान जीवनको दिव्यातिदिव्य, धन्य एव कृतार्थ बनाये।

तुलसीदासजीके इस अमृत-उपदेशको सदा स्मरण रखें—

भरत सुभाउ न सुगम निगमहूँ। लघु मति चापलता कबि छमहूँ॥
कहत सुनत सति भाउ भरत को। सीय राम पद होइ न रत को॥

(रा०च०मा० २।३०४।१-२)
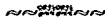
मानसमे निषादराज और केवटके भगवत्प्रेमका आदर्श

(डॉ० श्रीअरुणकुमारजी राय, एम्० ए० (हिन्दी) पी-एच्० डी०)

प्रेम ईश्वरतक पहुँचनेके लिये उसे पानेके लिये सहज साधन है। प्रेमका उद्भव हृदयकी भूमिपर होता है जहाँ रागके साथ आरम्भ होकर भगवत्प्रेम जगनेके बाद सासारिक वस्तुओके प्रति जगे भावका लोप हो जाता है, द्वेष मिट जाता है और सहज-स्नेहकी कामना भगवत्प्रेमके रूपमें अनुभूत होने लगती है। वस्तुत परमात्माका प्राकट्य प्रेमसे ही सम्भव है। प्रेम लाक-जीवनमें उत्कर्ष देता है और पारलौकिक जीवनम अखण्ड आनन्द एव शाश्वत शान्ति प्रदान करता है। इस आलोकमें केवट एव निषादराजका भगवत्प्रेम विचारणीय है।

'रामचरितमानस' के लघुपात्रोकी कोटिम 'निषादराज' हैं और परम लघुपात्राकी कोटिमे 'केवट'। 'मानस' म दोनोका प्रसग राम-वन-गमनके क्रमम शृगवेरपुरकी गङ्गाके किनारेसे प्रारम्भ होता है। दाना सजातीय हैं और भगवान् श्रीरामके परम स्नेही, लेकिन दानाके भगवत्प्रेमका अलग-अलग स्वरूप है। निषाद राजा हैं और चक्रवर्ती महाराज दशरथके अधीनस्थ हैं। राजकुमार श्रीराम उनके राज्यसे होकर वन जा रहे हैं। अत वे श्रीरामकी सेवामें तत्पर हैं।

वे उनके भोजनका, ठहरनेका प्रबन्ध करते हैं। श्रीरामके निकट पहुँचकर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करते हुए वे भेटकी सामग्री सामने रख देते हैं और प्रेमपूर्वक श्रीरामके

मुखारविन्दकी ओर देखने लग जाते हैं। श्रीराम उन्हे अपने निकट बैठाकर उनकी कुशल पूछते हैं। तब निषादराज मात्र इतना ही उत्तर देते हैं—

नाथ कुसल पद पकज देखे। भयउँ भागभाजन जन लेखे॥
देव धरनि धनु धामु तुम्हारा। मै जनु नीचु सहित परिवारा॥

निषादराज श्रीरामके साथ गङ्गा पार होते हैं। लौटनेके लिये श्रीरामके आग्रहपर वे साथ चलनेकी अनुमतिके लिये अनुरोध करते हैं और स्वीकृति पाकर चित्रकूटतक साथ जाते भी हैं। श्रीभरतके गङ्गा पार होनेके समय इनका प्रतिरोध होता है और मित्रभावकी सूचना पाकर '*भेटत भरतु ताहि अति प्रीती। लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती॥*' और प्रत्यागमनके समय पुष्पक विमान शृगवेरपुरके निकट गङ्गातटपर पहुँचता है तथा वह समाचार निषादराजको मालूम होता है। तब वे प्रेम-विह्वल होकर सीतासहित श्रीरामके चरणोम गिर पडते हैं। श्रीराम उन्ह प्रेमसे उठाकर हृदयसे लगा लेते हैं—

लियो हृदयँ लाइ कृपा निधान सुजान रायँ रमापती।
बैठारि परम समीप बूझी कुसल सो कर बीनती॥
अब कुसल पद पकज बिलोकि बिरचि सकर सेब्य जे।
सुख धाम पूरनकाम राम नमामि राम नमामि ते॥
(रामचरितमानस ६। १२१ छन्द १)

फिर निषादराज अयोध्या आकर राज्याभिषेकका आनन्द उठाते हैं। यह है निषादराजका भगवत्प्रेम।

भगवत्प्रेमके फलस्वरूप निषादराजको श्रीरामका प्रसाद मिला। वे परम पावन समझे जाने लगे—

लोक बेद सब भाँतिहिं नीचा। जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा॥
तेहि भरि अक राम लघु भ्राता। मिलत पुलक परिपूरित गाता॥

पुन चित्रकूटमे—

भेटेउ लखन ललकि लघु भाई। बहुरि निषादु लीन्ह उर लाई॥
× × ×
बिदा कीन्ह सनमानि निषादू। चलेउ हृदयँ बड़ बिरह बिषादू॥

प्रत्यागमनके समय गङ्गा-तीरपर—

प्रीति परम बिलोकि रघुराई। हरषि उठाइ लियो उर लाई॥

अयोध्यासे विदाके समय—

पुनि कृपाल लियो बोलि निषादा। दीन्हे भूषन बसन प्रसादा॥
× × ×
तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेहु पुर आवत जाता॥

निषादराज उच्च कोटिके भगवत्प्रेमी भक्त हैं। 'नवधा भक्ति' के कतिपय गुण उनके भगवत्प्रेममें सनिहित हैं। उस भगवत्प्रेमका यथोचित प्रसाद इन्हे मिला भी और जो राज्योचित भी था।

अब केवटका भगवत्प्रेम भी विचारणीय है। केवटको श्रीरामसे पूर्वका कोई दैहिक परिचय नहीं और न उसकी कोई भूमिका है। गङ्गा-पार होनेके लिये राम-लक्ष्मण और सीता गङ्गा-तीरपर खडे हैं। निषादराज भी साथ हैं, परतु उनकी कोई भूमिका नहीं है। श्रीराम गङ्गा-पार होनेके लिये केवटसे नाव माँगते हैं। वह नाव लानेसे इनकार कर देता है। उसने सुन रखा है—

चरन कमल रज कहुँ सबु कहई। मानुष करनि मूरि कछु अहई॥

केवट गरीब है। उसकी जीविकाका एकमात्र नाव ही सहारा है। बच्चे भी छोटे-छोटे हैं और नौका चलानेके सिवा उसे और कुछ आता भी नहीं है। गरीबी इतनी है कि कहीं नाव स्त्रीमे बदल गयी तो क्या ठिकाना होगा जीवनका—

पात भरी सहरी, सकल सुत बारे-बारे,
केवटकी जाति कछु बेद न पढाइहौं।
सबु परिवारु मेरो याहि लागि राजा जू,
हौं दीन बित्तहीन, कैसे दूसरी गढ़ाइहौं॥
(कवितावली २।८)

उसे आशका है—

परसे पगधूरि तरै तरनी, घरनी घर क्यो समुझाइहौ जू॥
तुलसी अवलबु न और कछू, लरिका केहि भाँति जिआइहौ जू।

(कवितावली २।६)

इसलिये—

बरु तीर मारहुँ लखनु पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपाल पारु उतारिहौं॥

विचित्र है यह सेवकाई। मजदूरको मजदूरी नहीं चाहिये। उसे कोई कृपा भी नहीं चाहिये। वह मात्र नावकी रक्षाके लिये चरण धोना चाहता है और धोकर रहता है। यह है विश्वासकी दृढता, प्रेमकी निष्ठा। केवटने प्रसादके रूपम कुछ नहीं लिया। लेता भी कैसे? केवट रामकी महत्ताको समझता है। तभी तो केवट कहता है—

तुम हो तरनि कुल पालन करनहार
हमहूँ तरनि ही के पालन करैया हैं।
भीम भवसागरके सुघर खेवैया आप
हमहूँ सदैव देवसरिके खेवैया है।
कौतुकी कुपथनिको पार करवैया नाथ
हौ तो जगपावनिको पार करवैया है।
हम तुम भैया एक कर्मके करैया राम
केवट सो केवट न लेत उतरैया हैं।

(मानसपीयूष पाद टिप्पणी अयो०)

इतना ही नहीं ससारमे ऐसे बहुत-से पेशे हैं, जिनम लेन-देन नहीं चलता—

नाई से न नाई लेत, धोबी न धुलाई देत
दे के उतराई नाथ जाति न बिगारिए॥

और तब—

पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार॥

सीताकी मुद्रिकाको लेकर उतराईके रूपमे श्रीराम उसे देने लगे थे तथा केवटके इनकार करनेपर आग्रह भी बहुत किया—*'बहुत कीन्ह प्रभु लखन सियँ नहि कछु केवटु लेइ।'* वह बार-बार यही कहता रहा। मैं सतुष्ट हूँ। जीवनभरकी मजूरी मुझे आज ही तो मिली है—

नाथ आजु मैं काह न पावा। मिटे दोष दुख दारिद दावा॥
बहुत काल मैं कीन्हि मजूरी। आजु दीन्ह बिधि बनि भलि भूरी॥
अब कछु नाथ न चाहिअ मोरे। दीनदयाल अनुग्रह तोरे॥

(रा०च०मा० २।१०२।५—७)

भगवान्‌का प्रसाद भक्तको कभी अस्वीकार नहीं। अत —

फिरती बार मोहि जो देबा। सो प्रसादु म सिर धरि लेबा॥

प्रेमीभक्तको भगवान्‌से भूषण-वसन नहीं चाहिये। उसे तो प्रेमके सहारे भगवान्‌तक पहुँचनेकी विमल दृष्टि—भगवत्प्रेम चाहिये—*'बहुत कीन्ह प्रभु लखन सियँ नहिं कछु केवटु लेइ।'* और तब *'बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ॥'*

भगवान् व्यक्तिके हृदयके भाव देखते हैं और उसीपर रीझते भी हैं—*'रीझत राम जानि जन जी की'* उनको व्यक्तिकी बाह्य सुन्दरता, शारीरिक बनावटसे कोई लेना-देना नहीं है, भगवान् जब अपने भक्तके हृदयमे अलौकिक प्रेम देखते हैं, तभी बिहँसते हैं—*'मन बिहसे रघुबसमनि प्रीति अलौकिक जानि॥'*

आज केवटका शरीर भले ही मैला-कुचैला है, परतु उसके जानकी (हृदयकी) जो हालत है, उसमे जो श्रीरामके प्रति प्रेम भरा है, उसे देखकर प्रभु बिहँस पडते हैं, क्योकि वह प्रेम अलौकिक है। *'चितइ जानकी'* केवटके हृदयको देखा, हृदयके भावप्रेमको देखा *'लख न तन'* उसके शरीरको नहीं देखा, क्योकि प्रभु तो मनके भावापर ही रीझते हैं।

वस्तुत जो सासारिक सुखोका त्याग करता है, उसीको तो प्रेमके सहारे आत्मसमर्पणका महाप्रसाद—अपने आराध्यके सानिध्यकी प्राप्ति होती है। उसके सामने मान-सम्मान या जागतिक धन-ऐश्वर्य सभी फीके तथा त्याज्य हैं—

'रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥'

अब निषादराज और केवटके भगवत्प्रेमका तुलनात्मक विश्लेषण किया जाय। दोना प्रेमी भक्त हैं। एकका लक्ष्य मान, प्रतिष्ठा राजकीय सुख और सम्मान है तो दूसरका निष्काम भगवत्प्रेम। केवटको भगवान् श्रीरामकी सेवाका बहुत कम अवसर मिला। मात्र गङ्गाजीके इस पारसे उस पार ले जानेका और बालूकी दोनों रेतियापर किंचित् काल सम्भाषणका। इसके बाद फिर श्रीरामके दर्शनका अथवा प्रसाद पानेका उसे कोई अवसर मिला तो इसका कोई

सकेत नहीं मिलता। अवसरके लिये उसने कभी याचना नहीं की। विदाके समय मात्र इतना ही कहा था—*'फिरती बार मोहि जो देबा। सो प्रसादु मै सिर धरि लेबा॥'* किंतु उसे यह अवसर भी नहीं मिला। निषादराजको ये सारे अवसर मिले। सेवाका, दर्शनका उन्हे अपेक्षाकृत अधिक अवसर मिला और आते-जाते रहनेकी आज्ञा भी—*'सदा रहेहु पुर आवत जाता'* एक आदमी सेवाका प्रतिदान भूषण-वसन, प्रसाद आदिके रूपमे लेता है। दूसरा अपनी सेवाका प्रतिदान नहीं चाहता है। एक श्रीरामको राजपुत्रके रूपमे देखता है—शक्ति, शील और सौन्दर्यके आगारके रूपमे तथा दूसरा केवल सच्चिदानन्दके रूपमे। उसकी आँख न शक्तिपर है और न सोन्दर्यपर। उसे चरणकमलरजकी महिमाका सम्पूर्ण ज्ञान है। इसीलिये एकको ऐश्वर्य मिलता है, दूसरेको भगवत्प्रेमका पूर्ण प्रसाद—भक्ति। निषादराजको भक्ति नहीं मिली। भक्ति मिली केवटको। भगवान् श्रीरामने विदाके समय दोनोको प्रसाद दिया। निषादराजको—*'बिदा कीन्ह सनमानि निषादू', 'दीन्हे भूषन बसन प्रसादा॥'*

परतु केवटको—*'बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ॥'*

अत भगवत्प्रेम वह बिन्दु है, जहाँ भौतिक कामनाओंकी जडे समाप्त हो जाती हैं और प्रेमके सहारे समर्पण, दर्शनकी लालसा एव अपने आराध्यके श्रीचरणोके लिय शेष रह जाती है—सहज स्नेहकी कामना—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।

भगवत्प्रेमकी मूर्तिमयी उपासना—श्रीशबरी

(श्रीमती उषा एन्० शर्मा)

दण्डकारण्यम भक्ति-श्रद्धासम्पन्न एक वृद्धा भीलनी रहती थी, जिसका नाम था शबरी। एक दिन वह घूमती हुई पम्पा नामक पुष्करिणीके पश्चिम तटपर स्थित एक अति रमणीय आश्रमपर पहुँची। मेघोकी घटाके समान श्याम और नाना प्रकारके पशु-पक्षियोसे भरे हुए उस वनम, जिसे मतगवन कहा जाता था, एक अति सुन्दर आश्रम था। वह आश्रम मतगमुनिका था। अनाथ शबरीने मुनिके चरणोमे सिर रख दिया और उनसे शरण माँगी। दयालु मुनिने उसे शरण दी तथा भक्तिज्ञान दिया। मतगमुनि सदा प्रभुभक्तिमे लीन रहा करते थे। अन्त समयमे उन्होने शबरीको आदेश दिया कि 'तुम यहीं रहना, क्योकि यहाँ श्रीराम और लक्ष्मण पधारेगे। तुम उनका स्वागत करना। श्रीराम परब्रह्म हैं, उनका दर्शन कर तुम्हारा जीवन सफल हो जायगा।' शबरीके मनमे श्रीरामभक्तिकी एक लौ उन्होने जगा दी थी।

गुरुके आदेशानुसार शबरी श्रद्धापूर्वक प्रतिदिन आश्रममे प्रभु श्रीरामके आगमनकी प्रतीक्षा करती रहती थी कि पता नहीं प्रभु श्रीराम कब पधार जायँ? अत नित्य आश्रमके प्रवेश-द्वारतकके मार्गको बुहारती और सम्पूर्ण मार्गको नवीन पुष्पोसे ओट देती थी। 'भगवान् श्रीराम आयेगे'—यह गुरुका सदेश था और उसे इसका दृढ विश्वास था। कब आयेगे? पता नहीं पर आयगे अवश्य। वह श्रद्धा-भक्तिपूर्वक रात-दिन श्रीरामजीका स्मरण करती। उनके स्वागतहेतु प्रतिदिन वनके ताजे पके कन्द-मूल-फल सग्रह करती—उन्हे निवेदन करनेके लिये। उसे विश्वास-सा हो चला था कि प्रभु श्रीराम लक्ष्मणसहित अवश्य आयगे, क्योकि गुरुने उसे यह सब बता दिया था। उसे गुरुवाणीपर पूर्ण विश्वास जो था।

अन्तत वह शुभ दिन आ गया। प्रभु श्रीराम लक्ष्मणसहित सीताकी खोज करते हुए शबरीके आश्रमकी ओर आ ही गये। शबरीने देखा—श्रीराम और लक्ष्मण मतगवनकी शोभा निहारते हुए बहुसख्यक वृक्षोसे घिरे उस सुरम्य आश्रमकी ओर आ रहे हैं। शबरी सिद्ध तपस्विनी थी। उन दोनो भाइयोको आश्रममे आया देख वह हाथ जोडकर खडी हो गयी। उसने श्रीराम और लक्ष्मणके चरणोमे प्रणाम किया। कमलसदृश नेत्र विशाल भुजाओवाले सिरपर जटाओका मुकुट और गलेमे वनमाला धारण किये, सुन्दर साँवले और गोरे दोना भाइयाके चरणोसे शबरी लिपट गयी—

सरसिज लोचन बाहु बिसाला। जटा मुकुट सिर उर बनमाला॥
स्याम गौर सुदर दोउ भाई। सबरी परी चरन लपटाई॥
(रा०च०मा० ३।३४।७-८)

श्रीरामने शबरीको दोनो हाथ बढाकर उठा लिया। प्रेमपूर्वक पूछा—'हे चारुभाषिणि! तुमने जो गुरुजनकी सेवा की वह पूर्ण सफल हो गयी है न?' उनके ऐसा पूछनेपर शबरीने उत्तर दिया—'हे रघुनन्दन! आज आपका दर्शन पाकर मुझे अपनी तपस्यामे सिद्धि प्राप्त हो गयी। आज मेरा जन्म सफल हुआ। गुरुजनोकी उत्तम पूजा भी सार्थक हो गयी।'

अद्य प्राप्ता तप सिद्धिस्तव सदर्शनान्मया।

अद्य मे सफल जन्म गुरवश्च सुपूजिता ॥
अद्य मे सफल तप्त स्वर्गश्चैव भविष्यति।
त्वयि देववरे राम पूजिते पुरुषर्षभ॥

(वा०रा० अर० ७४। ११-१२)

'पुरुषप्रवर श्रीराम! आप देवेश्वरका इस आश्रमम पदार्पण हुआ इससे मेरी तपस्या सफल हो गयी और निश्चितरूपसे मुझे आपके दिव्य धामकी प्राप्ति भी होगी।' ऐसा कह शबरीने दोना भाइयाको पाद्य, अर्घ्य और आचमनाय आदि सामग्री समर्पित की। बडे वात्सल्यभावसे

नाना प्रकारके कन्द-मूल-फल जो उसने प्रेमपूर्वक सग्रह किय थे, उन्ह जीमनेको दिये। श्रीरामने वडे प्रेमपूर्वक उन मीठे पके कन्द-मूल-फलाको ग्रहण किया और उनके दिव्य आस्वादका बार-बार बखान किया—

कद मूल फल सुरस अति दिए राम कहुँ आनि।
प्रेम सहित प्रभु खाए बारवार बखानि॥

(रा०च०मा० ३। ३४)

इस प्रकार प्रभु श्रीरामका आदर-सत्कार कर शबरीने पुन कहा—

तवाह चक्षुषा सौम्य पूता सौम्येन मानद।
गमिष्याम्यक्षयाँल्लोकास्त्वत्प्रसादादरिंदम ॥

(वा०रा० अर० ७४। १३)

हे सौम्य! मानद! आपकी सौम्य दृष्टि पडनेपर मैं परम पवित्र हो गयी। शत्रुदमन! आपके प्रसादस ही अब मैं अक्षय लोकोमे जाऊँगी। फिर वह हाथ जोडकर खडी हो गयी। प्रभुको देखा—उसका प्रेम अत्यन्त बढ गया। वह पुन कहने लगी—

अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमद अघारी॥

तब श्रीरामजी बोले—हे भामिनि! मैं तो केवल भक्तिका ही सम्बन्ध मानता हूँ। जाति, पाँति, कुल, धर्म, बडाई, धन-बल, कुटुम्ब, गुण एव चतुराई—इन सबक होनेपर भी भक्तिरहित मनुष्य जलहीन बादल-सा लगता है। उन्हाने शबरीको नवधा भक्तिका उपदेश किया। कहा—मेरी भक्ति नौ प्रकारकी है—(१) सताकी सगति अर्थात् सत्सङ्ग, (२) श्रीरामकथामे प्रेम, (३) गुरुजनाकी सेवा, (४) निष्कपट-भावसे हरिगुणगान, (५) पूर्ण विश्वाससे श्रीरामनामजप, (६) इन्द्रियदमन तथा कर्मोसे वैराग्य, (७) सबको श्रीराममय जानना, (८) यथालाभमे सतुष्टि तथा (९) छल-रहित सरल स्वभावसे हृदयमे प्रभुका विश्वास।

इनमेसे किसी एक प्रकारकी भक्तिवाला मुझे प्रिय हाता है, फिर तुझमे तो सभी प्रकारकी भक्ति दृढ है। अतएव जो गति योगियाको भी दुर्लभ है, वह आज तेरे लिये सुलभ हो गयी है—

सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे। सकल प्रकार भगति दृढ तोरे॥
जोगि बृद दुरलभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई॥

उसीके फलस्वरूप तुम्हे मेरे दर्शन हुए, जिससे तुम सहज स्वरूपको प्राप्त करोगी। इतना कहकर श्रीरामने शबरीजीसे जानकीके विषयमे पूछा—

जनकसुता कइ सुधि भामिनी। जानहि कहु करिबरगामिनी॥

शबरीने तब उन्ह पम्पासरोवरपर जानेका कहा। वहाँ सुग्रीवसे आपकी मित्रता होगी। हे रघुवीर! वे सब हाल बतायेगे। हे धीरबुद्धि! आप अन्तर्यामी हाते हुए भी यह सब मुझसे पूछ रहे है? फिर कहने लगी—जिनका यह आश्रम है, जिनके चरणाकी मैं सदा दासी रही, उन्हीं पवित्रात्मा महर्षिके समीप अब मुझे जाना है। प्रेमभक्तिमे रँगी हुई शबरीने बार-बार प्रभुके चरणोम सिर नवाकर, प्रभु-दर्शन कर हृदयमे श्रीरामके चरणाको धारण कर योगाग्निद्वारा शरीर त्यागा। वह प्रभुचरणोम लीन हो गयी।

भगवत्प्रेमका ऐसा सुन्दर स्वरूप जो शबरीने प्रस्तुत किया वह किसीके भी हृदयमे प्रेमभक्तिका सचार करनेम सर्वथा सक्षम हे, इसम रचमात्र सदेह नहीं। वह श्रीराममे वात्सल्यभाव रखती थी और श्रीरामने भी उसे माता कौसल्याकी भाँति मातृभावसे ही देखा।

प्रेमी जटायुपर प्रभुकृपा

सर्वत्र खलु दृश्यन्ते साधवो धर्मचारिण ।
शूरा शरण्या सौमित्रे तिर्यग्योनिगतेष्वपि॥

(वा० रा० ३।६८।२४)

श्रीराम कहते हैं—'लक्ष्मण! सर्वत्र—यहाँतक कि पशु-पक्षी आदि योनियोमे भी शूरवीर, शरणागतरक्षक, धर्मपरायण साधुजन मिलते हैं।'

प्रजापति कश्यपजीकी पत्नी विनतासे दो पुत्र हुए—अरुण ओर गरुड। इनमसे भगवान् सूर्यके सारथि अरुणजीके दो पुत्र हुए—सम्पाती और जटायु। बचपनम सम्पाती और जटायु उडानकी होड लगाकर ऊँचे जाते हुए सूर्यमण्डलके पासतक चले गये। असह्य तेज न सह सकनेके कारण जटायु तो लौट आये, किंतु सम्पाती ऊपर ही उडते गये। सूर्यके अधिक निकट जानेपर सम्पातीके पख सूर्यतापसे भस्म हो गये। वे समुद्रके पास पृथ्वीपर गिर पडे। जटायु लौटकर पञ्चवटीमे आकर रहने लगे। महाराज दशरथसे आखेटके समय इनका परिचय हो गया और महाराजने इन्हे अपना मित्र बना लिया।

वनवासके समय जब श्रीरामजी पञ्चवटी पहुँचे, तब जटायुस उनका परिचय हुआ। मर्यादापुरुषोत्तम अपने पिताके सखा गृध्रराजका पिताके समान ही सम्मान करते थे। जब छलसे स्वर्णमृग बने मारीचके पीछे श्रीराम वनमे चले गये और जब मारीचकी कपटपूर्ण पुकार सुनकर लक्ष्मणजी बडे भाईको ढूँढने चले गये तब सूनी कुटियासे रावण सीताजीको उठा ले गया। बलपूर्वक रथमे बैठाकर वह उन्हे ले चला। श्रीविदेहराज-दुहिताका करुणक्रन्दन सुनकर जटायु क्रोधमे भर गये। वे ललकारते-धिक्कारते रावणपर टूट पडे और एक बार तो राक्षसराजके केश पकडकर उसे भूमिपर पटक ही दिया।

जटायु वृद्ध थे। वे जानते थे कि रावणसे युद्धमे वे जीत नहीं सकते। परतु नश्वर शरीर राम-काजमे लग जाय, इससे बडा सौभाग्य भला और क्या होगा? रावणसे उनका भयकर सग्राम हुआ। अन्तमे रावणने उनके पख तलवारसे काट डाले। वे भूमिपर गिर पडे। जानकीजीको लेकर रावण भाग गया। श्रीराम विरह-व्याकुल होकर जानकीजीको ढूँढते वहाँ आये। जटायु मरणासन्न थे। उनका चित्त श्रीरामके चरणाम लगा था। उन्हाने कहा—'राघव! राक्षसराज रावणने मेरी यह दशा की है। वही दुष्ट सीताजीको लेकर दक्षिण दिशाकी ओर चला गया है। मैंने तो तुम्हारे दर्शनके लिय ही अबतक प्राणाको रोक रखा था। अब ये विदा होना चाहते हैं। तुम आज्ञा दो।'

श्रीराघवके नेत्र भर आये। उन्हाने कहा—'आप प्राणोंको रोके। मैं आपके शरीरको अजर-अमर तथा स्वस्थ बनाये देता हूँ।' जटायु परम भागवत थे। शरीरका मोह उन्ह था नहीं। उन्होने कहा—'श्रीराम! जिनका नाम मृत्युके समय मुखसे निकल जाय तो अधम प्राणी भी मुक्ति प्राप्त कर लेता है—ऐसी तुम्हारी महिमा श्रुतियोमे वर्णित है—आज वही तुम प्रत्यक्ष मेरे सम्मुख हो फिर मैं शरीर किस लाभके लिये रखूँ?'

दयाधाम श्रीरामभद्रके नेत्रोमे जल भर आया। वे कहने लगे—'तात! मैं तुम्ह क्या दे सकता हूँ। तुमने तो अपने ही कर्मसे परम गति प्राप्त कर ली। जिनका चित्त परोपकारमे लगा रहता है उन्हे ससारमे कुछ भी दुर्लभ नहीं है। अब इस शरीरको छोडकर आप मेरे धामम पधार।'

श्रीरामने जटायुको गोदम उठा लिया था। अपनी जटाओसे वे उन पक्षिराजकी देहम लगी धूलि झाड रहे थे। जटायुने श्रीरामके मुख-कमलका दर्शन करते हुए उनकी गोदमे ही शरीर छोड दिया—उन्हे भगवान्‌का सारूप्य प्राप्त हुआ। वे तत्काल नवजलधर-सुन्दर, पीताम्बरधारी, चतुर्भुज,

तेजोमय शरीर धारण कर वैकुण्ठ चले गये। जैसे सत्पुत्र श्रद्धापूर्वक पिताकी अन्त्येष्टि करता है, वैसे ही श्रीरामने जटायुके शरीरका सम्मानपूर्वक दाहकर्म किया और उन्हे जलाञ्जलि देकर श्राद्ध किया। पक्षिराजके सौभाग्यकी महिमाका कहाँ पार है! त्रिभुवनके स्वामी श्रीराम, जिन्होने दशरथजीकी अन्त्येष्टि नहीं की, उन्होने अपने हाथो जटायुकी अन्त्येष्टि विधिपूर्वक की। उस समय उन्हे श्रीजानकीजीका वियोग भी भूल गया था।

शत्रुभावान्वित भगवत्प्रेमी रावणकी अनूठी साधना

(श्रीप्रेमप्रतापजी भारद्वाज)

भगवान् श्रीरामके अवतार लेनेके कारणाकी विवेचना करते हुए महर्षि याज्ञवल्क्यजीने प्रयागस्थित महामुनि भरद्वाजसे कहा कि विश्वविदित कैकय देशमे सत्यकेतु नामक एक राजा राज्य करता था। उसके दो वीर पुत्र हुए—प्रतापभानु और अरिमर्दन। राजा बननेपर प्रतापभानु सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डलका चक्रवर्ती सम्राट् बना। वह अपने परम वीर भाई अरिमर्दन और शुक्राचार्यके समान बुद्धिमान् धर्मरुचि नामक मन्त्रीकी सहायतासे राजकार्य करता था।

एक बार राजा प्रतापभानु विन्ध्याचलके घने जगलमे शिकार खेलने गया। वहाँ विधाताके इच्छानुसार वह एक कपटी मुनिके सुन्दर वेषको देखकर धोखा खा गया। उसने अपनी महत्त्वाकाङ्क्षा—

जरा मरन दुख रहित तनु समर जितै जनि कोउ।
एकछत्र रिपुहीन महि राज कलप सत होउ॥

(रा०च०मा० १।१६४)

—के कारण कपटी मुनिके भुलावेम आकर ब्राह्मणोका भयानक शाप पाया। फलस्वरूप वही राजा अगले जन्ममे परिवारसहित 'रावण' नामक राक्षस हुआ। उसके दस सिर और बीस भुजाएँ थीं तथा वह बडा ही प्रचण्ड शूरवीर था। अरिमर्दन नामक राजाका छोटा भाई बलका धाम कुम्भकर्ण हुआ। उसका मन्त्री धर्मरुचि सौतेला छोटा भाई विभीषण हुआ। यद्यपि वे पुलस्त्य मुनिके पवित्र निर्मल और अनुपम कुलम उत्पन्न हुए तथापि ब्राह्मणोके शापक कारण रावण और कुम्भकर्ण दुष्ट कुटिल, भयकर, निर्दय, हिसक और सबको दु ख देनेवाले हुए। तीनो भाइयोने उग्र तपस्या कर ब्रह्माजीसे वरदान प्राप्त किया और रावण सार्वभौम सम्राट् बनकर अपने इच्छानुसार राज्य करने लगा।

राक्षसोके उत्पातोसे भयभीत देवताओ और पृथ्वीकी प्रार्थनापर साक्षात् प्रभु श्रीअयोध्यापुरीमे महाराज दशरथ तथा महारानी कौसल्याके गृहमे अशोसहित श्रीरामरूपमे प्रकट हुए और उन्होने राक्षसोका सहार किया।

इसी श्रीरामरूपकी लीलामे प्रभु अपने भाई लक्ष्मण एव पत्नी सीतासहित चौदह वर्षोतक वनमे फिरते रहे। वनलीलामे महामुनि अगस्त्यजीके प्रार्थनानुसार भगवान् श्रीरामचन्द्रजी गोदावरीके तटपर पञ्चवटीमे पर्णकुटी बनाकर रहने लगे।

राक्षसराज रावणकी बहिन शूर्पणखा एक बार पञ्चवटीमे गयी और उसने सुन्दर रूप धारण कर भगवान् श्रीराम तथा लक्ष्मणसे क्रमश विवाहकी याचना की। उनके द्वारा मना करनेपर जब उसने अपना भयकर रूप प्रकट किया तो लक्ष्मणजीने उसे बिना नाक-कानकी करके मानो रावणको चुनौती दे डाली।

शूर्पणखासे खर-दूषण एव त्रिशिराके वधका समाचार

पाकर रावण मन-ही-मन विचार करने लगा—'देवता, मनुष्य असुर नाग और पक्षियामे कोई ऐसा नहीं जो मेरे सेवकको भी नुकसान पहुँचा सके। खर-दूपण तो मेरे ही

समान बलवान् थे। उन्हे भगवान्के सिवाय और कौन मार सकता है! देवताओको आनन्द देनेवाले तथा पृथ्वीका भार हरण करनेवाले भगवान्ने ही यदि अवतार लिया है तो मैं जाकर उनसे हठपूर्वक वैर करूँगा और प्रभुके बाणके आघातसे प्राण छोडकर इस भवसागरसे तर जाऊँगा, क्योकि इस तामस शरीरसे भजन तो होगा नहीं, अतएव मन, वचन और कर्मसे मेरा यही दृढ निश्चय है।' इस प्रकार राक्षसराज रावण उन आनन्दकन्द, ब्रह्माण्डनायक, परमात्मप्रभुका 'शत्रुभावान्वित प्रेमी' बन गया।

इसक बाद उस 'शत्रुभावान्वित प्रेमी' ने पीछे मुडकर नहीं देखा। माता सीताका हरण कर वैर बढाया और उन्हे ले जाकर अशोकवाटिकाम रख दिया। उसे तो प्रभु श्रीरामके हाथा मोक्ष प्राप्त करना था। अत उसने अपनी साध्वी पत्नी

मन्दोदरीका कहना भी नहीं माना। मन्दोदरीने उसे बडे आदरसे समझाया था—'नाथ! श्रीराम साक्षात् परमात्मा हैं। आप उनसे वैर न कर। इसका परिणाम शुभ नहीं होगा। सीता साक्षात् योगमाया हैं। आप मेघनादको राज्यपदपर प्रतिष्ठित कर द और हमलोग कहीं एकान्तम चलकर श्रीरामका भजन कर। वे दया-विग्रह निश्चय ही हमपर दयाकी दृष्टि करगे।' परतु रावणपर इसका कोई प्रभाव नहीं पडा। जब भी अवसर मिलता मन्दोदरी उसे अवश्य समझाती। वह रावणसे बार-बार कहती—

पति रघुपतिहि नृपति जनि मानहु। अग जग नाथ अतुल बल जानहु॥

(रा०च०मा० ६।३६।८)

अनेक बार समझानेपर भी जब रावणके मनपर कोई प्रभाव नहीं पडा तब मन्दोदरीने यहाँतक कह दिया—

अहह कत कृत राम बिरोधा। काल बिबस मन उपज न बोधा॥
निकट काल जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं॥

(रा०च०मा० ६।३७।६ ८)

रावण अपनी बुद्धिमती पत्नी मन्दोदरीकी बाताको हँसकर टाल देता था, क्योकि वह इस रहस्यको अच्छी प्रकार समझता था कि उसका कल्याण किसम है।

रावण मारा गया। मन्दोदरी पतिके शवके समीप जाकर विलाप करने लगी। उसने रोते-रोते भगवान्की दयाका बखान करत हुए कहा—

अहह नाथ रघुनाथ सम कृपासिंधु नहिं आन।
जोगि बृंद दुर्लभ गति तोहि दीन्हि भगवान॥

(रा०च०मा० ६।१०४)

रावण प्रसन्न था, क्योकि उसका जीव प्रभुचरणोमें लीन हो गया था। उसका उद्देश्य पूर्ण हो गया था। उसने हठपूर्वक वैर किया और भगवान् श्रीरामके बाणके आघातसे प्राण छोडकर इस भवसागरसे तर गया।

रावण पण्डित था ज्ञानी था। वह समझता था कि इस राक्षस-देहसे भजन करके वह भवसागर पार नहीं कर सकेगा, इसीलिये वह अपने गुप्त निर्णयपर अटल रहा। उसे अपने निश्चयसे डिगानेके लिये उसकी पत्नी मन्दोदरीके अलावा मारीच जटायु, हनुमान्, विभीषण, अगद कुम्भकर्ण तथा गुप्तचराने भी अपने-अपने तरीकेसे प्रयास किये, परतु वह अडिग रहा और शत्रु बनकर प्रभुप्रेमम लीन रहा।

ताडका नामक राक्षसीका पुत्र मारीच भगवान् श्रीरामकी प्रभुता एव बलको भूला नहीं था। अपने राक्षसी स्वभाववश ऋषि-मुनियाक यज्ञ आदिम विघ्न डालनेके अपराधम श्रीरामजीके बाणसे वह सौ योजन दूर आ पडा था। उसने उन्हे साक्षात् ईश्वरके रूपम पहचान लिया था। इसलिये उसने रावणको बहुत समझाया विनय की और सीताहरण न करनकी प्रार्थना की परतु रावण अपनी गुप्त योजनाके अन्तर्गत कार्य करता ही रहा।

उसने सीताहरण कर जटायुका सामना किया। जटायुने भी कहा—

राम रोष पावक अति घोरा। होइहि सकल सलभ कुल तोरा॥

(रा०च०मा० ३।२९।१७)

यह सुनकर भी कि श्रीरामचन्द्रजीके क्रोधरूपी अत्यन्त भयानक अग्निमे तेरा सारा वश पतिगा होकर भस्म हो जायगा। रावण कुछ उत्तर नहीं देता। अपनी धुनका पक्का रावण गीधराज जटायुको घायल कर सीताजीको रथपर चढाकर लङ्का ले जाता है। जटायुको मारता नहीं है ताकि वह श्रीरामको बता दे कि रावणने ही सीताहरण किया है। रास्तेमे वह सीताजीको वस्त्र डालनेसे भी नहीं रोकता ताकि पर्वतपर बैठे हुए वानर भी सीताहरणकी कहानी श्रीरामको सुनाय और वे लङ्का पहुँचे।

अपनी योजनामे बाधक बन रहे श्रीरघुनाथजीके दूतो—पवनपुत्र हनुमान् तथा बालिपुत्र अगदसे यह सुनकर—

जाके बल लवलेस ते जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि॥

(रा०च०मा० ५।२१)

—रावण और दृढप्रतिज्ञ हो जाता है। वह दूताके हर व्यवहारको हँसकर सह लेता है और उनको कोई नुकसान नहीं पहुँचाता। अपने बेटेकी मृत्युका दु ख भी उसे विचलित नहीं करता। हनुमान्जीने उलट-पलटकर लङ्का जलायी, फिर भी रावण उन्हें जानकीजीसे मिलकर सकुशल लौट जान देता है ताकि हनुमान्से पूर्ण सूचना प्राप्तकर, भगवान् श्रीराम लङ्का आकर उसका एव समस्त राक्षससमूहका उद्धार करे।

इतनेपर भी रावणका बहुत ही बुद्धिमान् मन्त्री माल्यवान् उसकी योजनाको छिन्न-भिन्न करनेके लिये सामने आता है तो रावण उसे दरबारसे निकलवा देता है। परतु अपने सौतेले भाई विभीषणकी बातोको चुपचाप सुनता है—

काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पथ।
सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहि सत॥

(रा०च०मा० ५।३८)

विभीषणजी कहते हैं—'हे दशशीश! मैं बार-बार आपके चरणोमे लगकर विनती करता हूँ कि मान, मोह और मदको त्यागकर आप कोसलपति श्रीरामचन्द्रजीका भजन करिये। मुनि पुलस्त्यजीने अपने शिष्यके हाथ यह बात कहला भेजी है। सुन्दर अवसर पाकर मैंने तुरत ही यह बात आपसे कह दी है। हे तात! मैं चरण पकडकर आपसे भीख माँगता हूँ—आप मेरा दुलार रखकर श्रीरामचन्द्रजीको सीताजी दे दीजिये, जिससे आपका अहित न हो।'

मुनि पुलस्त्यजीका नाम सुनकर सहसा रावणके मनम एक विचार कौंधता है और वह चरण-प्रहार करके कहता है—

मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती। सठ मिलु जाइ तिन्हहि कहु नीती॥

(रा०च०मा० ५।४१।५)

'मेरे नगरमे रहकर तपस्वियोसे प्रेम करता है, उन्हींसे जा मिल।' वह जानता है कि बिना विभीषणके पहुँचे भगवान् श्रीरामजीको उसे मुक्ति देनेमे कठिनाई होगी। साथ ही वह राक्षसवशको भी चलाना चाहता है।

रावण अपनी योजनाकी अन्तिम बाधाको भी शान्ति और धीरजसे दूर करता है। जब लङ्काके प्राय सभी राक्षसनायक वानरो तथा रीछोके हाथ मारे गये, तब रावण अपने भाई कुम्भकर्णको अनेक उपाय करके जगाता है, जो छ महीनेतक सोता था एव एक दिनके लिये जागता था। उसका वह दिन भी भोजन करने तथा कुशल-मङ्गल पूछनेमे ही बीत जाता था। जागनेपर जब कुम्भकर्णने सब बातें सुनीं तो बडा दु खी हुआ। उसने रावणसे कहा—

जगदबा हरि आनि अब सठ चाहत कल्यान।
भल न कीन्ह तै निसिचर नाहा। अब मोहि आइ जगाएहि काहा॥

अजहूँ तात त्यागि अभिमाना। भजहु राम होइहि कल्याना॥

(रा०च०मा ६।६२ ६३।१-२)

कुम्भकर्ण कभी भी अपने बडे भाईका अनादर नहीं करता था। वह भावपूर्ण हृदयसे श्रीरघुनाथजीको परम ब्रह्म ही मानता था। अन्तम वह उनके दर्शन करके उनके ही बाणोसे देह त्यागकर परमगति पाता है।

सब बाधाआको हँसकर पार करते हुए 'शत्रुभावान्वित प्रेमी' रावण भगवान् श्रीरामजीके सामने पहुँचकर अपनी मायासे उन्हे छकाता है। जब सिर तथा भुजाएँ कटनेपर भी वह मरता नहीं है, तव श्रीरामचन्द्रजीने विभीषणकी ओर देखा। इसीलिये तो रावणने विभीपणको वहाँ भेजा ही था। विभीषणजीने बताया—

सुनु सरबग्य चराचर नायक। प्रनतपाल सुर मुनि सुखदायक॥
नाभिकुड पियूष बस याके। नाथ जिअत रावनु बल ताके॥

(रा०च०मा० ६।१०२।४-५)

उस महानायकका अन्तिम समय जानकर अनेक अपशकुन होने लगे। मूर्तियाँ रोने लगीं, आकाशसे वज्रपात होने लगे, पृथ्वी हिलने लगी, अमङ्गल होने लगे और तभी श्रीरघुनाथजीके इकतीस बाणोसे घायल होकर रावणने इस नश्वर देहका त्याग कर दिया तथा उसका तेज प्रभु श्रीरामचन्द्रजीके मुखमे समा गया—

तासु तेज समान प्रभु आनन। हरषे देखि संभु चतुरानन॥

(रा०च०मा० ६।१०३।१)

भगवत्प्राप्तिके लिये प्रेम-साधनाकी अत्यन्त आवश्यकता है। वह चाहे प्रेमी सेवकाके द्वारा हो या मित्रभावान्वित अथवा शत्रुभावान्वित प्रेमी सहचरकी हो।
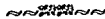
कन्हाईसे प्रेम कैसे करे ?

(श्रीसुदर्शन सिहजी 'चक्र')

श्रुति कहती है—

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रिय भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवति।

(बृहदा० २।४।५)

सावधान दूसरे सबके लिये सब प्रिय नहीं होते, अपने—आत्माके लिये सब प्रिय होते हैं।

श्रीमद्भागवत (१०।१४।५५)-मे श्रीशुकदेवजीने समझाया—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥

इन श्रीकृष्णको ही समस्त प्राणियाकी आत्मा समझो। ये यहाँ (व्रजमें) जगत्के परम कल्याणके लिये शरीरधारीकी भाँति अपनी मायासे प्रतीत हो रहे हैं।

इसी सन्दर्भम स्वय श्रीकृष्णकी गीता (९।२३)-मे कही गयी वात भी स्मरण कर लेने योग्य है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विता ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

अर्जुन। जो श्रद्धापूर्वक दूसरे देवताओके भक्त उनका यजन-पूजन करते हैं वे भी मेरा ही यजन करते हैं किंतु अविधिपूर्वक करते हैं।

इस अविधिपूर्वक पूजनका ही फल होता है—'देवान् देवयजो यान्ति।' देवताआका पूजन करनेवाले देवताआको ही प्राप्त होते हैं।

इस प्रेमके प्रसगमे इतनी भारी-भरकम बातके प्रारम्भका प्रयोजन है। प्रेम किया ही केवल कन्हाईसे जाता है। कन्हाईको छोडकर अन्य किसीसे प्रेम किया ही नहीं जा सकता और कन्हाई तो है ही प्रेम करनेके लिये।

आप इस श्यामसुन्दरसे प्रेम करते हैं। चौंकिये मत, ऐसा कोई प्राणी ससारम नहीं है, जो प्रेम न करता हो। सबका किसी-न-किसीसे प्रेम है। दूसरे किसीसे नहीं होगा तो अपने शरीरसे होगा किंतु यह भ्रम है कि दूसरेसे प्रेम किया जा रहा है। जैसे दूसरे देवताओके भक्त समझते हैं कि वे उन-उन देवताओका भजन कर रहे हैं, वैसे ही लोग भी इस भ्रममे ही हैं कि वे तन, धन, स्त्री-पुत्र या पद-प्रतिष्ठासे प्रेम करते हैं। प्रेम तो वे कन्हाईसे ही करते हैं, किंतु अविधिपूर्वक करते हैं। दूसरे माध्यमासे करते हैं। इस अविधिपूर्वक प्रेमके कारण—प्रेमास्पदकी भ्रान्त धारणाके कारण भवाटवीमे भटक रहे हैं। अन्यथा—

प्रेम हरी कौ रूप है, त्यौं हरि प्रेम सरूप।

प्रेम तो कन्हाईका ही रूप है। कन्हाई ही प्रेम है।

प्रेममयी श्रीराधिका, प्रेम सिन्धु गोपाल।
प्रेमभूमि वृन्दाविपिन, प्रेम रूप व्रज बाल॥

आपको कन्हाईसे प्रेम करना है, अत यह जान ले कि प्रेम किया नहीं जाता, प्रेम होता है—हो जाता है। यह प्रेम कहीं आकाशसे टपका नहीं करता। यह आपके हृदयमे है। पहले यह देखिये कि 'आपकी प्रीति कहाँ है। ससारमे प्रीति स्थिर और अनन्य नहीं होती। वह बिखरी-बिखरी रहती है। हृदयकी रागात्मिका वृत्तिका नाम ही प्रेम है और जब ससारमे राग होता है, तब उसमे दो दोष अवश्य आ जाते हैं—१ वह बिखर जाता है। अनेक-से होता है। कुछ तनसे, कुछ धनसे कुछ मान-प्रतिष्ठासे, कुछ एक सम्बन्धीसे और कुछ दूसरेसे, २ वह स्थायी नहीं होता। जहाँ स्वार्थ या सम्मानपर आघात लगा या आघात लगनेकी शङ्का हुई, उस द्वेषमे परिवर्तित होते भी देर नहीं लगती।'

कुछ थोडे अपवाद होते हैं। अतीतमे हुए हैं और कभी भी हो सकते हैं। लैलाके प्रति मजनूका प्रेम—लेकिन ऐसा प्रेम जब स्थायी और अनन्य हो जाता है तो दिव्य हो जाता है। वह जिसमे होता है, उसकी देहासक्ति तथा समस्त क्षुद्र दुर्बलताओंको समाप्त कर देता है। उसमे केवल अविधिपूर्वक भ्रान्ति रहती है जो किसी भी क्षण किसी सत-सत्पुरुषका अनुग्रह मिलते ही नष्ट हो जाती है। इसीलिये सूफी सत-मतमे स्थिर लौकिक प्रेमकी बहुत महत्ता है। उसे लगभग प्राथमिक आवश्यकता मान लिया गया है।

कन्हाईसे प्रेम करना है तो लोकमे कहीं, किसीसे भी प्रीति की कैसे जा सकती है। एक ही समय एक साथ आप पूर्व और पश्चिम कैसे चल सकते हैं। स्वार्थ और परमार्थ एक साथ सधा नहीं करता।

'मुझे लोकमें उन्नति—सफलता भी चाहिय और परमार्थ भी' एकने लिखा। उनको उत्तर भला मैं क्या देता। जो एक साथ ऊपर-नीचे दानो ओर दौडना चाहता है, वह गिरेगा। उसके नीचे ही लुढकनेकी सम्भावना अधिक है।

मैं नहीं कहता कि ससारका सुख-वैभव और कन्हाईकी प्रीति एक व्यक्तिको प्राप्त नहीं होती। सुदामाको स्वय श्रीकृष्णने अपार वैभव दिया। महाराज जनक, चक्रवर्ती महाराज दशरथ अथवा व्रजराज नन्दबाबाके पास ऐश्वर्य कम नहीं था और इनमे प्रीति कम थी, यह तो सोचा भी नहीं जा सकता।

बाहरकी स्थिति क्या है, यह महत्त्वकी बात नहीं है। बाहर कोई चक्रवर्ती सम्राट् भी हो सकता है और नितान्त कगाल भी। महत्त्वकी बात यह है कि उसके हृदयका राग कहाँ है। आप चाहते क्या हैं? कन्हाईका प्रेम और लौकिक वस्तु या स्थिति एक साथ चाही नहीं जा सकती। जब कोई दोनाको चाहता है तो इसका अर्थ होता है कि वस्तुत उसे ससार ही चाहिये। श्यामके प्रेमको चाहना मात्र औपचारिकता है।

एक परिचित प्रसिद्ध विद्वान् कहा करते हैं—'लोग तो चाहते हैं कि ससारका सब सुख-सम्मान बना रहे और एक जेबमे भगवान् भी आ जायँ। वे भगवान्को—भगवत्प्रेमको भी अपने अहकारका आभूषण बनाना चाहते हैं और भगवान् आभूषण बना नहीं करते।'

कन्हाईका—कन्हाईके प्रेमका भी एक स्वभाव है कि जब ये आते हैं, ससारको नीरस कर देते हैं। तब भले सम्पत्ति, परिवार और प्रतिष्ठा बनी रहे, इनके रहनेम कोई रस—कोई सुख नहीं रह जाता। ये रहे ही, ऐसा थोडा भी आग्रह नहीं रहता।

श्रीरघुनाथक वनम चले जानेपर महाराज दशरथ प्राण ही नहीं रख सके। कन्हाईके मथुरा जानेपर व्रजके लोगाकी क्या दशा हुई? किसे भगवत्प्रेम प्राप्त हुआ जिसकी तनिक भी रुचि-प्रीति ससारके वैभव या भोगामे थी? ससारका चाहे जितना वैभव प्राप्त हो, कन्हाईका प्रेम आयेगा तो सबको नीरस बना ही देगा।

कन्हाईसे प्रेम करना है? तब ससारसे निरपेक्ष हो जाना पडेगा। तब यह रहे—यह न रहे, यह मिले—यह न मिले अमुक सुखी-सन्तुष्ट रहे—अमुक दूर बना रहे, जीवनम ऐसी परिस्थिति रहे—ऐसी न रह यह सब आग्रह सर्वथा छोड देना होगा।

बात यह है कि कन्हाई हृषीकेश है अन्तर्यामी है और ससार बाहर है। अन्तर्मुख और बहिर्मुख एक साथ हुआ नहीं जा सकता। अत ससार तथा ससारकी स्थितिके सम्बन्धम हृदयके पूरे बलसे कहना पडता है—

'बाक़ी न मैं रहूँ, न मेरी आरज़ू रहे।'

तब यह कहना सार्थक होता है—

'मालिक तेरी रजा रहे और तू ही तू रहे।'

'कन्हाईसे प्रेम करना है—करना ही है। ससारका सुख-वैभव रहना हो तो रहे और न रहना हो तो कल जानेके बदले भले आज ही चला जाय, किंतु यह प्रेम कैसे प्राप्त हो? यह कैसे जागे?'

आपके मुखमे घी-शक्कर। आप अब भी कहते हैं कि आपमे कन्हाईका प्रेम नहीं है? जो ससारमे सब ओरसे निरपेक्ष हो गया, उसका प्रेम कहाँ है? प्रेमहीन कोई प्राणी होता नहीं और ससारमे कहीं उसका प्रेम रहा नहीं, तब उसका प्रेम गया कहाँ?

'लेकिन मुझमे प्रेम तो नहीं है।'

आपकी यह अनुभूति धन्य है। प्यास ही प्रेमका स्वरूप है। प्रेममे तृप्ति तो है ही नहीं। 'मुझमे प्रेम है' यह अनुभूति किसी प्रेमीको कभी होती नहीं। यदि किसीको अनुभव होता है कि मुझमे प्रेम है तो समझना होगा कि यह पतनोन्मुख है। इसका रहा-सहा प्रेम भी अब टिकनेवाला नहीं है।

प्रेमकी पहिचान एक दूसरा ही अनुभव है। जिसमे प्रेम है, उसका क्षण-क्षणका, नित्य-नित्यका अनुभव बन जाता है—'मुझमे तो प्रेमका लेश भी नहीं है और न मैं कन्हाईका अनुग्रह पानेका अधिकारी हूँ। मुझ-जैसेकी तो उन्हे अत्यन्त उपेक्षा करनी चाहिये, किंतु ये व्रजराजकुमार इतने भोले हैं कि इन्हे नीरस व्यक्तिकी भी परख नहीं। ये मुझसे अतिशय प्रेम करते हैं। इनका मेरे प्रति बहुत अधिक पक्षपात है।'

प्रेमका पिता है विश्वास और माता है निरपेक्षता। ससारमे सब ओरसे निरपेक्ष होकर जो कन्हाईपर ही विश्वास करता है, उसे कन्हाईका प्रेम प्राप्त होता है और कन्हाईका प्रेम तो कन्हाईके मिलनेसे बहुत-बहुत अधिक महान् है।

एक सहायक साधनकी बात और। हमारे मनमें राग या द्वेष बहुत कुछ सुन-सुनकर उत्पन्न होता है। अत कन्हाईका प्रेम पाना है तो इसके गुण इसके चरित, इसके माहात्म्यका, इसकी कथाका बार-बार श्रवण करना चाहिये। यह श्रवण जब सुलभ न हो तो इस प्रकारके ग्रन्थाका नियमित पाठ—अध्ययन करना चाहिये। पुस्तक पढना भी श्रवणका ही विषय माना जाता है और प्रेम गुण-श्रवणकी बार-बार आवृत्तिसे जाग्रत् होता है, यह सब शास्त्र सन्त कहते-मानते हैं।

गोपिकाओकी प्रेमोपासना

गोपी-प्रेमका तत्त्व वही प्रेमी भक्त कुछ जान सकता है जिसे भगवान्‌की ह्लादिनी शक्ति श्रीमती राधिकाजी और आनन्द तथा प्रेमके दिव्य समुद्र भगवान् सच्चिदानन्दघन परमात्मा श्रीकृष्ण ही कृपापूर्वक जना दे। जाननेवाला भी उसे कह या लिख नहीं सकता, क्योंकि 'गोपी-प्रेम' का प्रकाश करनेवाली भगवान्‌की वृन्दावनलीला सर्वथा अनिर्वचनीय है। वह कल्पनातीत अलौकिक और अप्राकृत है। समस्त व्रजवासी भगवान्‌के मायामुक्त परिकर हैं और भगवान्‌की निज आनन्दशक्ति योगमाया श्रीराधिकाजीकी अध्यक्षतामे भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर लीलामे योग देनेके लिये व्रजमे प्रकट हुए हैं। व्रजमे प्रकट इन महात्माओकी चरणरजकी चाह करते हुए सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी स्वय कहते हैं—

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो
भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनाना
भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥
अहो भाग्यमहो भाग्य नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्र परमानन्द पूर्ण ब्रह्म सनातनम्॥
तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्या
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवित तु निखिल भगवान्मुकुन्द-
स्त्वद्यापि यत्पदरज श्रुतिमृग्यमेव॥
(श्रीमद्भा० १०।१४।३० ३२ ३४)

'हे प्रभो! मुझे ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो कि मैं इस जन्मम अथवा किसी तिर्यक्-योनिमे ही जन्म लेकर आपके दासोंमेंसे एक होऊँ जिससे आपके चरणकमलोकी सेवा कर सकूँ। अहो! नन्दादि व्रजवासी धन्य हैं, इनके धन्य

भाग्य हैं, जिनके सुहृद् परमानन्दरूप सनातन पूर्ण ब्रह्म स्वय आप हैं। इस धरातलपर व्रजमे और उसमे भी गोकुलमे किसी कीडे-मकोडेकी योनि पाना ही परम सौभाग्य है, जिससे कभी किसी व्रजवासीकी चरणरजसे मस्तकको अभिषिक्त होनेका सौभाग्य मिले।'

जिन व्रजवासियाकी चरण-धूलिको ब्रह्माजी चाहते हैं, उनका कितना वडा महत्त्व है! ये व्रजवासीगण मुक्तिके अधिकारको ठुकराकर उससे बहुत आगे बढ गये हैं। इस बातको स्वय ब्रह्माजीने कहा है कि भगवन्! मुक्ति तो कुचोम विष लगाकर मारनेको आनेवाली पूतनाको ही आपने दे दी। इन प्रेमियाको क्या वही देगे—इनका तो आपको ऋणी बनकर ही रहना होगा और भगवान्ने स्वय अपने श्रीमुखसे यह स्वीकार किया है। आप गोपियोसे कहते हैं—

न पारयेऽह निरवद्यसयुजा
स्वसाधुकृत्य विबुधायुषापि व।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खला
सवृश्च्य तद्व प्रतियातु साधुना॥
(श्रीमद्भा० १०।३२।२२)

'हे प्रियाओ! तुमने घरकी बडी कठिन बेडियोको

तोडकर मेरी सेवा की हे। तुम्हारे इस साधुकार्यका मैं देवताओके समान आयुमे भी बदला नहीं चुका सकता। तुम ही अपनी उदारतासे मुझे उऋण करना।'

महात्मा नन्ददासजीकी रचनामे भगवान् कहते हैं—

तब बोले ब्रजराज-कुँवर हौ रिनी तुम्हारो।
अपने मनते दूरि करौ किन दोष हमारो॥
कोटि कलप लगि तुम प्रति प्रतिउपकार करौ जौ।
हे मनहरनी तरुनी, उरिनी नाहिं तबौ तौ॥
सकल बिस्व अपबस करि मो माया सोहति है।
प्रेममयी तुम्हरी माया सो मोहि मोहति है॥
तुम जु करी सो कोउ न करै सुनि नवलकिसोरी।
लोकबेदकी सुदृढ सृखला तृन सम तोरी॥

सारे ससारके देव, मनुष्य, गन्धर्व, असुर आदि जीवोंको कर्मोंकी बेडीसे निरन्तर बाँधे रखनेवाले सच्चिदानन्द, जगन्नियन्ता प्रभु गोपी यशोदाके द्वारा ऊखलसे बँध जाते हैं। सारे जगत्को मायाके खेलमे सदा रमानेवाले मायापति हरि गोप-बालकोसे खेलमे हारकर, स्वय घोडे बनकर उन्हे अपनी पीठपर चढाते हैं! उन व्रजवासी नर-नारियोका धन्य है! एक दिनकी बात है—यशोदाजी घरके आवश्यक कामम लग रही थीं, बाल-कृष्ण मचल गये और बोले, मैं गोद चढूँगा। माताने कुछ ध्यान नहीं दिया। इसपर खीझकर आप रोने और आँगनमे लोटने लगे। इतनेहीमे देवर्षि नारद भगवान्की बाल-लीलाओको देखनेकी लालसासे वहाँ आ पहुँचे। उन्होने देखा, सचराचर विश्वके स्वामी परम आनन्दमय भगवान् माताकी गोद चढनेके लिये जमीनपर पडे रो रहे हैं। इस दृश्यको देखकर देवर्षि गद्गद हो गये और यशोदाको पुकारकर कहने लगे—

कि ब्रूमस्त्वा यशोदे कति कति सुकृतक्षेत्रवृन्दानि पूर्वं
गत्वा कीदृग्विधानै कति कति सुकृतान्यर्जितानि त्वयैव।
नो शक्रो न स्वयम्भुर्न च मदनरिपुर्यस्य लेभे प्रसाद
तत्पूर्णब्रह्म भूमौ विलुठति विलपन् क्रोडमारोढुकाम॥

'यशोदे! तेरा सौभाग्य महान् है। क्या कहे न जाने तूने पिछले जन्मोमे तीर्थोंमे जा-जाकर कितने महान् पुण्य किये हैं? अरी! जिस विश्वपति, विश्वस्रष्टा विश्वरूप विश्वाधार भगवान्की कृपाको इन्द्र ब्रह्मा और शिव भी नहीं प्राप्त कर सकते, वही परिपूर्ण ब्रह्म आज तेरी गोद चढनेके लिये जमीनपर पडा लोट रहा है।'

जो विश्वनायक भगवान् मायाके दृढ सूत्रमे बाँध-

बाँधकर अखिल विश्वको निरन्तर नाच नचाते हैं, वही विज्ञानानन्दघन भगवान् गोपियाकी प्रेम-मायासे मोहित होकर सदा उनके आँगनमे नाचते हैं। उनके भाग्यकी सराहना ओर उनके प्रेमका महत्त्व कौन बतला सकता है? रसखान कहते हैं—

सेस, महेस, गनेस, दिनेस, सुरेसहु जाहि निरन्तर गावै।
जाहि अनादि, अनन्त, अखण्ड, अछेद, अभेद सुबेद बतावैं॥
नारद-से सुक ब्यास रटै, पचिहारे, तऊ पुनि पार न पावै।
ताहि अहीरकी छोहरियाँ, छछियाभरि छाछपै नाच नचावैं॥

गोपियाके भाग्यकी सराहना करते हुए परम विरागी सदा ब्रह्मस्वरूप मुनि शुकदेवजी कहते हैं—

नेम विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसश्रया।
प्रसाद लेभिरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदात्॥
(श्रीमद्भा० १०।९।२०)

'ब्रह्मा शिव और सदा हृदयम रहनेवाली लक्ष्मीजीने भी मुक्तिदाता भगवान्‌का वह दुर्लभ प्रसाद नहीं पाया जो प्रेमिकाश्रेष्ठ गोपियाको मिला।'

इसी प्रकार ज्ञानिश्रेष्ठ उद्धवजी कहते हैं—

नाय श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरते प्रसाद
स्वर्योषिता नलिनगन्धरुचा कुतोऽन्या ।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषा य उदगाद्‌व्रजवल्लवीनाम्॥
(श्रीमद्भा० १०।४७।६०)

'रासोत्सवके समय भगवान्‌के भुजदण्डाको गलेमे धारण कर पूर्णकामा व्रज-सुन्दरियाको श्रीहरिका जो दुर्लभ प्रसाद प्राप्त हुआ था वह निरन्तर भगवान्‌के वक्ष स्थलमे निवास करनेवाली लक्ष्मीजीको और कमलकी-सी कान्ति तथा सुगन्धसे युक्त सुरसुन्दरियाको भी नहीं मिला फिर दूसरेकी तो बात ही क्या है?'

गोपियाकी चरणरज पानेके लिये व्रजम लता-गुल्मौपधि बननेके इच्छुक और गोपियाका शिष्यत्व ग्रहण करके गोपी-भावको प्राप्त हुए भक्त उद्धवसे स्वय भगवान्‌ने कहा है—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्कर ।
न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥
(श्रीमद्भा० ११।१४।१५)

'हे उद्धव! मुझे ब्रह्मा, सकर्षण, लक्ष्मी और अपना आत्मा शङ्कर—ये भी उतने प्रियतम नहीं हैं जितने तुझ-जेसे भक्त हैं।'

इससे गोपियाके महत्त्वकी किञ्चित् कल्पना हुई होगी। भगवान्‌की ऐसी प्रियतमा गोपियाके प्रेमका वर्णन कौन कर सकता है? परम वैराग्यकी प्राप्ति होनेपर कहीं प्रेमका अधिकार मिलता है और उस दिव्य प्रेम-राज्यम प्रवेश कर चुकनेवाले महात्माओके प्रसादसे ही दुर्गम प्रेमपथपर अग्रसर होकर भक्त उस प्रेमामृतका कुछ आस्वाद प्राप्त कर सकता है। यह साधनसापेक्ष है। केवल अध्ययन या ग्रन्थ-पाठसे वहाँतक पहुँच नहीं हो सकती। तथापि भगवत्कृपासे, इधर-उधरसे जो कुछ बाते मालूम हुई हैं, उन्हींका कुछ थोडा-सा भाव सक्षेपम लिखनेकी चेष्टा यहाँ की जाती है।

गोपी-प्रेममे रागका अभाव नहीं है, परतु वह राग सब जगहसे सिमटकर, भुक्ति और मुक्तिके दुर्गम प्रलोभन-पर्वताको लाँघकर केवल श्रीकृष्णमे अर्पण हो गया है। गोपियाके मन-प्राण सब कुछ श्रीकृष्णके हैं। इहलोक आर परलोकमे गोपियाँ श्रीकृष्णके सिवा अन्य किसीको भी नहीं जानतीं। उनका जीवन केवल श्रीकृष्णसुखके लिये है, उनका जागना-सोना, खाना-पीना चलना-फिरना, शृङ्गार-सज्जा करना कबरी बाँधना, गीत गाना और बातचीत करना सब श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये है। श्रीकृष्णको सुखी देखकर ही सम्पूर्ण कामनाआस सर्वथा शून्य उन गोपियाको अपार सुख होता है। भगवान्‌ने स्वय कहा है—

निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते।
ताभ्य पर न म पार्थ निगूढप्रेमभाजनम्॥

'हे अर्जुन! गोपियाँ अपने शरीरकी रक्षा मेरी सेवाके लिये ही करती हैं। गापियाको छाडकर मेरा निगूढ प्रेम-पात्र और कोई नहीं है।'

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सुखसमुद्र विनानानन्दघन भगवान्‌को सुख पहुँचाना कैसा क्या गोपियोंके द्वारा ही भगवान्‌को सुख मिलता है? भगवान् क्या स्वय सुख-सदोह नहीं हैं? हैं क्यों नहीं शक्तिमान् भगवान्‌की ही ह्लादिनी शक्ति तो श्रीराधिकाजी हैं वे इस शक्तिको

अपनी वशी-ध्वनिद्वारा सदा अपनी ओर खींचते रहते हैं। भगवान्‌की शक्ति स्वाभाविक ही अपनी सारी अनुगामिनी शक्तियोसहित सदा-सर्वदा भगवान्‌की ओर खिचती रहती है और भगवान् उस आह्लादको पाकर पुन उसे उन्हीं शक्तियोको—प्रमी भक्ताको बाँट देते है। भक्त भगवान्‌की बाँसुरीकी ध्वनि—भगवान्‌का आवाहन सुनकर, घर-द्वारकी सुधि भुलाकर, प्रमत्त होकर, अपना सर्वस्व न्योछावर कर, भगवान्‌को सुखी करनेके लिये दौडता हे। भगवान् उसकी दी हुई सुखकी भटको स्वीकार करते हें आर फिर उसीको लोटा देते ह। दर्पणमे अपनी शोभा भरकर दर्पणको शाभायुक्त बनानवाला पुरुष उस शोभाको स्वय ही वापस पा जाता है और वह सुख लौटकर उसीको मिल जाता है। इसी प्रकार परम सुखसागर भगवान् गोपियाके सुखकी भटको स्वीकार कर, उनकी इस कामनाको कि श्रीकृष्ण हमे देखकर, हमारी सेवा स्वीकार कर ओर हमारे साथ खेलकर सुखी हो, पूरी कर देते हैं। भगवान् सुखी होते हें और वह सुख अपरिमितरूपमे बढा करके पुन उन्हींको दे देत हैं। गोपियोके प्रमकी यही विशेषता हे कि गोपियाको निज सुखकी कामना रत्तीभर भी नहीं है। उन्हे अपने सुखके लिये कल्पना ही नहीं होती। वे तो अपने द्वारा श्रीकृष्णको सुखी हुआ देखकर ही दिन-रात सुख-समुद्रमे डूबी रहती है। गोपियोंका प्रेम काम-कालिमाशून्य है, निर्मल भास्कर है, सर्वथा दिव्य है अलोकिक है। श्रीचैतन्यचरितामृतम 'काम' और 'प्रेम' का भेद बतलाते हुए कहा गया हे—

कामेर तात्पर्य निज सभोग केवल,
कृष्ण-सुख तात्पर्य प्रेम तो प्रवल।
लोक-धर्म वेद-धर्म, देह-धर्म कर्म,
लजा धैर्य देह-सुख आत्म-सुख मर्म॥
सर्व त्याग करये करे कृष्णेर भजन,
कृष्ण-सुख-हेतु करे प्रेमर सेवन।
अतएव काम-प्रेमे वहुत अन्तर,
काम अन्धतम प्रेम निर्मल भास्कर॥

काम और प्रममे वडा ही अन्तर है। हम विषय-विमोहित जीव भ्रमवश कामको ही प्रेम मानकर पाप-पङ्कम फँस जाते हैं। काम जहर मिला हुआ मधु है, प्रेम दिव्य स्वर्गीय सुधा है। काम थोडी ही देरम दु खके रूपम बदल जाता है, प्रेमकी प्रत्येक कसकम ही सुख-सुधाका स्वाद मिलता हे। कामम इन्द्रिय-तृप्ति—इन्द्रियचरितार्थता हे प्रेमम तन्मयता, प्रियतम-सुखकी नित्य प्रबल आकाङ्क्षा है। काममे इन्द्रिय-तृप्ति सुखरूप दीखनेपर भी परिणाममे दु खरूप है, प्रम सदा अतृप्त होनेपर भी नित्य परम सुखरूप है। काम खण्ड है, प्रेम अखण्ड है। काम क्षयशील है, प्रेम नित्य वर्धनशील है। कामम विषय-तृष्णा है, प्रेममे विषय-विस्मरण है। कामका लक्ष्य विषय है, आत्मतृप्ति है, प्रेमका विषय पूर्ण त्याग है और चरम आत्मविस्मृति है।

यथार्थ प्रेमसे ही कामका नाश हो जाता हे। यद्यपि प्रमी अपने प्रेमास्पदको सुख पहुँचानेकी इच्छाको कामना ही मानता ह और समस्त इन्द्रियाँ, मन एव बुद्धि एकमात्र प्रेममुखी होनेसे उसे कामना ही कहते हैं, परतु वह शुद्ध प्रेम यथार्थमे काम नहीं है। गोतमीय तन्त्रमे कहा गया हे—

प्रेमैव गोपरामाणा काम इत्यगमत् प्रथाम्।
इत्युद्धवादयोऽप्येत वाञ्छन्ति भगवत्प्रिया ॥

'गोपियोंके प्रेमका नाम 'काम' होनेपर भी वह असलमे 'काम' नहीं, बल्कि शुद्ध प्रेम है। महान् भगवद्भक्त उद्धव-सरीखे महात्मा इसी 'काम' नामक प्रेमकी अभिलाषा करते हैं।' क्याकि गोपियोम निजेन्द्रियसुखकी इच्छा है ही नहीं। वे तो श्रीभगवान्‌को भगवान् समझकर ही अपने सकल अङ्गोको अर्पण कर उन्ह सुखी करना चाहती हें। श्रीचैतन्यचरितामृतमे इन विषयासक्तिशून्य श्रीकृष्णगतप्राणा गोपियाके सम्बन्धम कहा है—

निजेन्द्रिय-सुख-हेतु कामेर तात्पर्य,
कृष्णसुख तात्पर्य गापीभाववर्य।
निजेन्द्रिय-सुख-वाञ्छा नहे गोपिकार,
कृष्ण-सुख-हेतु करे सगम विहार॥
आत्म-सुख-दु ख गोपी ना करे विचार,
कृष्ण-सुख-हेतु करे सब व्यवहार।
कृष्ण विना आर सब करि परित्याग,
कृष्ण-सुख-हेतु कर शुद्ध अनुराग॥

अपना तन, मन धन, रूप, यावन आर लाक-परलाक—सबका श्रीकृष्णकी सुखसामग्री समझकर श्रीकृष्ण-मुखक लिय शुद्ध अनुराग करना ही पवित्र गापीभाव हे। इस गोपीभावम मधुर रसकी प्रधानता हे। रस पॉच हैं—शान्त दास्य, सख्य, वात्सल्य आर माधुर्य। लाकिक ओर इश्वरीय दिव्य भदस य पाँचा रस दा प्रकारके हैं, अर्थात् लाकिक प्रम भी उपयुक्त पाँच प्रकारका ह आर दिव्य प्रम भी पॉच प्रकारका हे। परतु इन पाँचाम मधुर रस—कान्ताप्रेम सवस ऊँचा है क्योकि इसम शान्त, दास्य, सख्य वात्सल्य—य चारा ही रस विद्यमान हे। यह अधिक गुणसम्पन्न होनस अधिक स्वादिष्ठ हे, इसीलिये इसका नाम 'मधुर' ह। इसी प्रकार दिव्य प्रेमम भी कान्ताप्रम—मधुर रस ही सर्वप्रधान हे। शान्त और दास्य रसम भगवान् ऐश्वर्यशाली हैं म दीन हूँ भगवान् स्वामी है, मैं सवक हूँ—ऐसा भाव रहता है। इसम कुछ अलगाव-सा है, भय हे आर सकोच हे परतु सख्य, वात्सल्य और माधुर्यम क्रमश भगवान् अधिकाधिक निज जन हें, अपने प्यार हें, प्रियतम हें, इनम भगवान् ऐश्वयको भुलाकर, विभूतिका छिपाकर सखा, पुत्र या कान्तरूपस भक्तक सामने सदा प्रकट रहत हैं, इन रसाम प्राथना-कामना है ही नहीं। अपने निज-जनस प्रार्थना केसी ? उसका सब कुछ अपना ही ता हे। इनम भी कान्ताभाव सवप्रधान है। कान्ताभावम पिछल दाना रसाका—सख्य आर वात्सल्यका पूर्ण समावेश ह। यहाँ भगवान्की सवा खूब होती है इतनी होती हे कि सवा करनवाला भक्त कभी थकता ही नहीं क्याकि यह मालिकका सवा नहीं है, प्रियतमकी सवा है। प्रियतमक सुखी हानेम ही अपार सुख है, जितना सुख पहुँच उतना ही थाडा क्याकि प्रियतमको जितना अधिक सुख पहुँचता है, उतना ही अपार सुखका अनुभव प्रियतमाका हाता है।

यह कान्ताभाव दो प्रकारका है—स्वकीया और परकीया। लौकिक कान्ताभावम परकीयाभाव त्याज्य हैं घृणित है, क्याकि उसम अङ्ग-सङ्गरूप कामवासना रहती हैं और प्रेमास्पद 'जार-मनुष्य' होता हैं। परतु दिव्य कान्ताभावम—परमेश्वरके प्रति होनेवाल कान्ताभावम परकीया-भाव ग्राह्य है वह स्वकायासे श्रेष्ठ हैं क्याकि इसम कहीं अङ्ग-सङ्ग या इन्द्रियतृप्तिकी आकाङ्क्षा नहीं हैं। प्रमास्पद पुरुष जार नहीं है स्वय 'विश्वात्मा भगवान्' हैं पति-पुत्राके और अपने सबके आत्मा, परमात्मा हें। इसीलिये गापी-प्रमम परकीयाभाव माना जाता ह। यद्यपि स्वकीया पतिव्रता स्त्री अपना नाम, गोत्र, जीवन, धन ओर धर्म सभी पतिक अपण कर प्रत्यक चेष्टा पतिक लिये ही करती है, तथापि परकीयाभावमे तीन बात विशेष होती हें। प्रियतमका निरन्तर चिन्तन उससे मिलनकी अतृप्त उत्कण्ठा और प्रियतममे दोषदृष्टिका सर्वथा अभाव। स्वकीयाम सदा एक ही घरम एक साथ निवास होनेके कारण ये तीना हा बात नहीं होतीं। गापियाँ भगवान्को नित्य देखती थीं परतु परकीयाभावकी प्रधानतासे क्षणभरका वियाग भी उनके लिये असह्य हो जाता था, आँखापर पलक बनानेके लिये व विधाताको कोसती थीं, क्याकि पलके न होतीं तो आँख सदा खुली ही रहतीं। गापियाँ कहती हैं—

> अटति यद्भवानह्नि कानन
> त्रुटिर्युगायत त्वामपश्यताम्।
> कुटिलकुन्तल श्रीमुख च ते
> जड उदीक्षता पक्ष्मकृद् दृशाम्॥
>
> (श्रीमद्भा० १०।३१।१५)

'जब आप दिनके समय वनम विचरते हैं तब आपका न दख सकनेक कारण हमारे लिये एक-एक पल युगक समान बीतता हे। फिर सन्ध्याके समय, जब वनसे लाटते समय हम घुँघराली अलकावलियास युक्त आपक श्रीमुखको देखती हैं, तब हम आँखोमे पलक बनानवाले ब्रह्मा मूर्ख प्रतीत होन लगते हैं। अथात् एक पल भी आपका देखे बिना हम कल नहीं पडती।'

भगवान्का नित्य चिन्तन करना पलभरक अदर्शनमें भी महान् विरह-वेदनाका अनुभव करना और सर्वतोभावसे दोपदशनरहित हाकर आत्मसमपण कर चुकना गोपियाका स्वभाव था। इसीसे व उस प्रियतम-सेवाके सामने किसी बातको कुछ भी नहीं समझती थीं। लाक एव वेद सबकी मर्यादाको छाडकर वे कृष्णानुरागिणी बन गयी थीं। भोग और माक्ष दाना ही उनके लिय सर्वथा तुच्छ और त्याज्य थे। भगवान्ने स्वय कहा है—

> ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिका ।
> × × ×
> य त्यक्तलाकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्॥
>
> (श्रीमद्भा० १०।४६।४)

न पारमेष्ठ्य न महेन्द्रधिष्ण्य
न सार्वभौम न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भव वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।१४)

'हे उद्धव! गोपियोने अपने मन और प्राण मुझमे अर्पण कर दिये हैं। मेरे लिये अपने सारे शारीरिक सम्बन्धोंको और लोकसुखके साधनोंको त्यागकर वे मुझमे ही अनुरक्त हो रही हैं। मैं ही उनके सुख और जीवनका आधार हूँ। इस प्रकार अपने आत्माको मुझमे अर्पित करनेवाला भक्त मुझे छोडकर ब्रह्मा इन्द्र, चक्रवर्तीके पद तथा पाताल आदिके राज्य और योगके आठो ऐश्वर्य आदिकी तो बात ही क्या है, अपुनरावर्ती मोक्ष भी नहीं चाहता।' ऐसे भक्तोंके लिये भगवान् क्या कहते हैं, सुनिये—

अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥

(श्रीमद्भा० ११।१४।१६)

'उनकी चरणरजसे अपनेको पवित्र करनेके लिये मैं सदा उनके पीछे-पीछे घूमा करता हूँ।' इसी कारण गीत-गोविन्दकारने 'देहि मे पदपल्लवमुदारम्' कहकर भगवान्के द्वारा श्रीराधाजीके पदकमलकी चाह करायी है और इसी आधारपर रसिक रसखानजीने कहा है—

ब्रह्म मैं ढूँढ्यो पुरानन गानन, बेद-रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो कबहूँ न कितै वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
टेरत हेरत हारि पर्‍यो, रसखानि बतायो न लोग-लुगायन।
देख्यो, दुर्‍यो वह कुंज-कुटीरमे बैठ्यो पलोटत राधिका-पायन॥

यद्यपि भक्त कभी यह नहीं चाहता कि भगवान् प्रियतम मेरे पैर दाबे परंतु वहाँ तो सर्वथा ऐक्य होता है। कोई छोटा-बडा रहता ही नहीं। महाभारतमे सखा भक्त अर्जुनके साथ भगवान् श्रीकृष्णके व्यवहारका वर्णन सञ्जयने कौरवोंकी राजसभामे किया है। अर्जुनसे ही जब वैसा व्यवहार था तब गोपियोंके समान भक्तोंकी तो बात ही निराली है। गोपियोंका परकीयाभाव दिव्य है। लौकिक विषय-विमोहित मनवाले मनुष्य इसका यथार्थ भाव नहीं समझकर अपने वृत्तिदोषसे दोषारोपण कर बैठते हैं। असलमें व्रजगोपिकाओंका प्रेम अत्यन्त उच्चतम अवस्थापर स्थित है। मधुर रस उत्तरोत्तर बढता हुआ प्रेम, स्नेह, मान, राग, अनुराग और भावपर्यन्त पहुँच जाता है। भावकी पराकाष्ठा ही महाभाव है। यह महाभाव केवल प्रातःस्मरणीया व्रजदेवियोंमे ही था। श्रीभगवान्ने प्रेमिक भक्तोंकी प्रेमकामना पूर्ण करनेके लिये व्रजमण्डलमे इस सच्चिदानन्दमयी दिव्य लीलाका प्रकट किया था। गोपी-प्रेमकी यह पवित्र लीला भगवान्ने रमणाभिलाषासे अथवा गोपियोंकी कामवासनातृप्तिके लिये नहीं की थी, न तो भगवान्मे रमणाभिलाषा थी और न गोपियोंमे कामवासना ही। यह तो की गयी थी जगत्के जीवोंके काम-नाशके लिये। रासलीला-प्रकरणको समाप्त करते हुए मुनिवर श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥

(श्रीमद्भा० १०।३३।४०)

'जो धीर पुरुष व्रजबालाओंके साथ भगवान् विष्णुके इस रास-विहारकी कथाको श्रद्धापूर्वक सुने या पढेगा, वह शीघ्र ही भगवान्की पराभक्तिको प्राप्तकर हृदयके रोगरूप काम-विकारसे छूट जायगा।'

जिस लीलाके भलीभाँति समझकर श्रद्धापूर्वक सुनने-पढनेसे ही हृद्रोग—कामविकार नष्ट होकर पराभक्ति प्राप्त होती है, उस लीलाके करनेवाले नायक श्रीभगवान् और उनकी प्रेयसी नायिका गोपिकाओंमे कामविकार देखना या कलुषित मानवी व्यभिचारकी कल्पना करना कामविमोहित विषयासक्त मनुष्योंके बुद्धिदोषका ही परिणाम है। व्रजलीला परम पवित्र है, इस बातको प्रेमीजन भलीभाँति जानते हैं और इसीसे नारद-सदृश देवर्षि और शिव-सदृश महान् देव उसमे सम्मिलित होनेकी वाञ्छासे गोपीभावमे दीक्षित होते हैं। मृत्युकी बाट देखनेवाले राजा परीक्षित्को महाज्ञानी शुकदेवजी इसीलिये व्रजलीला सुनाते हैं जिससे सहज ही पराभक्तिको प्राप्तकर परीक्षित् भगवान्के असली तत्त्वको जान ले और भगवान्को प्राप्त हो जायँ। भगवान् श्रीकृष्णने ज्ञाननिष्ठाके नामसे पराभक्तिप्राप्तिका क्रम (और उसका फल) बतलाते हुए कहा है—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मान नियम्य च।
शब्दादीन् विषयास्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानस ।
ध्यानयोगपरो नित्य वैराग्य समुपाश्रित ॥
अहङ्कार बल दर्पं काम क्रोध परिग्रहम्।
विमुच्य निर्मम शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
सम सर्वेषु भूतेषु मद्भक्ति लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वत ।
ततो मा तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(गीता १८।५१—५५)

अर्थात् जब मनुष्य विशुद्ध बुद्धिसे युक्त, एकान्तसेवी, मिताहारी मन-वाणी-शरीरको जीता हुआ, सदा वैराग्यको धारण करनेवाला, निरन्तर ध्यानपरायण, दृढ धारणासे अन्त करणको वशमे करके शब्द, स्पर्शादि विषयोका त्यागकर, राग-द्वेषको नष्ट करके अहकार, बल, दर्प काम, क्रोध और परिग्रहको छोडकर ममतारहित शान्त हो जाता है तभी वह ब्रह्मप्राप्तिके योग्य होता है, फिर ब्रह्मभूत होकर सदा प्रसन्नचित्त रहनेवाला वह न किसी वस्तुके लिये शोक करता है और न किसी वस्तुकी आकाङ्क्षा ही करता है तथा सब प्राणियोमे समभावसे भगवान्‌को देखता है, तब उसे मेरी पराभक्ति प्राप्त होती है। उस पराभक्तिके द्वारा मेरे तत्त्वको भलीभाँति जानता है कि मैं किस प्रभाववाला हूँ। इसी पराभक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर भक्त तदनन्तर ही मुझमे मिल जाता है।

ध्यानपूर्वक देखा जाय तो गोपियोमे उपर्युक्त सभी बाते पूर्णरूपसे थीं, विशुद्ध बुद्धिका इससे बढकर क्या सबूत हो सकता है कि वह सदा भगवान् श्रीकृष्णमे ही लगी रहे। श्रीकृष्णमिलनके लिये एकान्तसेवन शरीरसे ही नहीं मनसे भी एकान्त रहना, खान-पान भूल जाना, मन-वाणी-शरीरको विषयोसे खींचकर एकमात्र प्रियतम श्रीकृष्णमे लगाये रखना घर-परिवार आदि किसी भी भोगपदार्थमे राग न रखना निरन्तर प्रियतम श्रीकृष्णके ध्यानमे प्रमत्त रहना मनमे श्रीकृष्णकी दृढ धारणासे अन्त करणको श्रीकृष्णमय बनाये रखना श्रीकृष्णविषयक पदार्थोके सिवा अन्य सभी शब्द-स्पर्शादि विषयोको त्याग देना जगत्‌की दृष्टिसे किसी भी पदार्थमे राग-द्वेष न रखना अहकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह सबका श्रीकृष्णमे उत्सर्ग कर देना घर-द्वार ही नहीं, स्वर्ग तथा मोक्षमे भी ममत्व न रखना, चित्तको सदा श्रीकृष्णके स्वरूपमे समाहित रखकर जगत्‌के विषयोसे शान्त रखना एव श्रीकृष्णको ब्रह्मरूपसे पहचानकर उनसे मिलनेके लिये व्याकुल होना गोपियोके चरित्रमे पद-पदपर प्राप्त होता है। इसके सिवा उनका नित्यानन्दमयी होकर सासारिक पदार्थोकी प्राप्ति-अप्राप्तिमे हर्ष-शोकसे रहित होना और सर्वत्र श्रीकृष्णका सब प्राणियोमे देखना भी प्रसिद्ध ही है। साधकोको दीर्घकालके महान् साधनसे प्राप्त होनेवाली ये बाते गोपियोमे स्वाभाविक थीं, इसीसे भगवान् श्रीकृष्णने उन्हे अपना रहस्य खोलकर बतला दिया और अपने स्वरूपका साक्षात् दर्शन कराकर उनके साथ दिव्य क्रीडा करके उन्हे श्रीकृष्णरूप बना लिया। ज्ञानियोसे विशेषता यह रही कि इसमे सारी बाते केवल विचारके आधारपर न रहकर प्रत्यक्ष इन्द्रियगम्य हो गयीं। साक्षात् परब्रह्म महान् सुन्दर द्विभुज मुरलीमनोहररूपधारी बनकर स्वय भक्तोंके साथ नाचे। अपनी रूपमाधुरीसे भक्तोके चित्तको चुराकर अपनी मुरली-ध्वनिसे प्रेमी भक्तोको खींचकर अपने पास बुला लिया और उन्हे सब प्रकार कृतार्थ किया। एक महात्माने दिव्य दृष्टिसे देखकर सखी-भावमे प्रवेश हो कहा था—

शृणु सखि कौतुकमेक नन्दनिकेताङ्गणे मया दृष्टम्।
गोधूलिधूसराङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्त ॥

'अरी सखि! सुन मैंने नन्दमहरके घर-आँगनमे एक बडा कौतुक देखा है वहाँ साक्षात् वेदान्त-सिद्धान्त (ब्रह्म) गोधूलिसे भरे हुए शरीरसे नाच रहा है।'

ग्यानी बोध सुरूप है होहिं ब्रह्यम लीन।
निरखत पै लीला मधुर प्रेमी प्रेम प्रवीन॥
ग्यानी ढिग गभीर हरि सच्चित् ब्रह्मानद।
प्रेमी सँग खेलत सदा चचल प्रेमानद॥
ग्यानी ब्रह्मानद सो रहत सदा भरपूर।
पै प्रेमी निरखत सुखद दुर्लभ हरिको नूर॥
प्रमी भाग्य सराहि मुनि ग्यानी विमल विवेक।
चहैं सुदुरलभ प्रमपद तजि निजपदकी टेक॥

(क्रमश)

यशोदामाताका वात्सल्यप्रेम

अङ्काधिरूढ शिशुगोपगूढ
स्तन धयन्त कमलैककान्तम्।
सम्बोधयामास मुदा यशोदा
गोविन्द दामोदर माधवेति॥*

महाभाग्यवती यशोदाजीके सौभाग्यका वर्णन कौन कर सकता है, जिनके स्तनोका साक्षात् ब्रह्माण्डनायकने पान किया है। संसारमे अनेक प्रकारके भक्त हैं, उनकी इच्छाके अनुसार भगवान्ने अनेक रूप धारण किये। नीच-से-नीच काम किये, छोटी-से-छोटी सेवा भगवान्ने की। कहीं नाई बनकर पैर दबाये तो कहीं महार बने। धर्मराजके यज्ञमे सबके चरण पखारते रहे, किंतु उनको बाँधा किसीने नहीं। छडी लेकर ताडना देनेका सौभाग्य महाभाग्यवती यशोदाजीका ही हुआ। ऐसा सुख, ऐसा वात्सल्य-आनन्द संसारमे किसीको भी प्राप्त न हुआ, न होगा। इसीलिये महाराज परीक्षित्ने पूछा है, महाभागा यशोदाने ऐसा कौन-सा सुकृत किया था, जिसके कारण श्रीहरिने उनका स्तनपान किया?

नन्दबाबाकी रानी यशोदामैयाके कोई सन्तान न थी। वृद्धावस्थामे आकर श्यामसुन्दर उनके लाडले लाल बने। माताके हर्षका ठिकाना नहीं। आँखोकी पुतलीकी तरह वे अपने श्यामसुन्दरकी देख-रेख करने लगीं। यद्यपि वे बाहरसे काम करती थीं, किंतु उनका मन सदा श्यामसुन्दरकी ओर लगा रहता था। श्यामसुन्दर उनकी आँखोसे ओझल न हों, मनमोहन सदा उनके हृदयमन्दिरके आँगनमे क्रीडा करते रहे। चर्मचक्षु भी अनिमेषभावसे उन्हे देखते रहे। किंतु यह बालक अद्भुत था जन्मके थोडे ही दिन बाद पूतनाने आकर इसे मारना चाहा वह स्वयं मारी गयी। शकटासुरने माया फैलायी, उसका भी अन्त हुआ। व्योमासुरने जाल रचा, वह भी यमलोक सिधारा। इस प्रकार रोज ही नये-नये उत्पात होने लगे। माताको बडी शंका हुई, बच्चा बडा चञ्चल है। इसकी चञ्चलता दिन-प्रति-दिन बढती जाती है पता नहीं क्या घटना घट जाय। एक दिन माता दूध पिला रही थी, उधर दूध उफना। बच्चेको वहीं जमीनपर रखकर दूधको देखने लगी। चञ्चल भगवान् ही जो ठहरे। दहीकी मटकी फोड दी, माखन फेंक दिया, बन्दरोको बुला लिया। माताने देखा यह तो बडा अनर्थ हुआ, देखते ही भागेगा और पता नहीं कहाँ जाय। धीरसे पकड लिया और बोली—'अब बता, तू बडी चञ्चलता करता है। घरमे टिकता ही नहीं, मैं तुझे बाँधूँगी।' यह कहकर ओखलीसे उन्हे बाँध दिया। जो कभी नहीं बँधे थे वे बँध तो गये, किंतु उनका बन्धन भी दूसरोकी मुक्तिके ही लिये था। ओखलीको घसीटते हुए यमलार्जुन वृक्षोके बीचमे पहुँचे और उन्हे अपने पावन स्पर्शसे शापमुक्त कर दिया। नन्दजीने देखा कि उत्पात बढ रहे हैं तो वे अपने शकटोको जोतकर ज्ञातिबन्धुओ और गौओके साथ श्रीवृन्दावन चले गये।

वृन्दावनमे उन वृन्दावनविहारीने अनन्त लीलाएँ कीं। उनका वर्णन कौन कर सकता है, किंतु यशोदाजीको जो महान् विकलता हुई, वह एक ही घटना थी। कालियहृदमे एक विषधर नाग रहता था। उसने समस्त यमुनाजीके जलको विषैला बना दिया था। गेंद उस हृदमे गिर गयी। उसीके आधारपर मुरारी कदम्बकी डाली पकडकर कालियहृदमे

* अपनी गोदमे बैठकर दूध पीते हुए बालकृष्णको लक्ष्य करके प्रेमानन्दके उद्रेकमें माता यशोदा प्यारसे कहती हैं—ऐ मेरे गोविन्द! ए मेरे दामोदर! बच्चा माधव! बोलो तो सही! (गोविन्ददामोदरस्तोत्रम् १०)

कूद पडे। सर्वत्र हाहाकार मच गया। व्रजवासी दौडे आये। यशोदामैयाने भी सुना। भला, उनके दु खका क्या पूछना है। वे अपने प्यारे बच्चेको न पाकर छटपटाने लगीं। उन्होने बडे आर्तस्वरमे कहा—'अरे, कोई मेरे बच्चेको बचा दो, मुझे मेरे छानेको दिखा दो।' रोते-रोते वे उस कुण्डमे कूदने लगीं।

जैसे-तैसे बलरामजीने उन्हे रोका। जब नागको नाथकर नन्दनन्दन बाहर आ गये तो माताने उन्हे छातीसे चिपटा लिया। प्रेमाश्रुओसे नहला दिया।

समय बदला। उन लीलाओकी स्मृतिका अवसर आया। अक्रूरके साथ घनश्याम मथुरा चले गये। माताको आशा थी जल्दी आयेगे, किंतु वह 'जल्दी' फिर आयी नहीं। उसके स्थानमे उद्धव सन्देश लेकर आये। उन्हे देखते ही नन्दजीने प्रश्नोकी झडी लगा दी। पासमे बैठी हुई वियोगिनी माता अपने पुत्राकी सब बाते सुन रही थी। रह-रहकर उसके हृदयमे हूक उठ रही थी। उन स्मरणाके आते ही माताकी विचित्र दशा हो गयी।

यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च।
शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्राक्षीत् स्नेहस्नुतपयोधरा॥

उनकी आँखासे प्रेमके अश्रु बह रहे थे स्तनासे दूध निकल रहा था वे स्मृतियाँ रह-रहकर उसे रुला रही थीं—

'ते हि नो दिवसा गता '

यशोदा धन्य हैं, जिन्होने भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर बाल-लीलाओका आनन्द लूटा। देवकीजी तो इस सुखसे वञ्चित ही रहीं।

नन्दबाबाका बालकृष्णमे सहज अनुराग

श्रुतिमपरे स्मृतिमपरे भारतमन्ये भजन्तु भवभीता।
अहमिह नन्द वन्दे यस्यालिन्दे परब्रह्म॥*

नन्दबाबाके सम्बन्धमे ब्रह्मवैवर्तपुराण तथा गर्गसंहितामे बहुत कुछ वर्णन है, ये गोलोकमे नित्य भगवान्के साथ निवास करते हैं। जब भगवान् साङ्गोपाङ्ग सविग्रह व्रजमण्डलमें अवतरित हुए तब समस्त ग्वालबाल और गोपियाने भी व्रजमण्डलको अपनी लीलाभूमि बनाया। नन्दबाबा कई भाई थे—नन्द, उपनन्द महानन्द आदि-आदि। नन्दजी जातिके गोप थे और इनका एक समूह था, उसके ये नायक थे। प्रत्येक गोपके पास हजारा-लाखा गौएँ होती थीं जहाँ गौएँ रहती थीं उसे गोकुल कहते थे।

इस प्रकार वह गोपसमूह व्रज चौरासी कोसमे रहता था। आज यहाँ है तो कल वहाँ, जिस वनमे अच्छी घास हुई गौओके चारे और पानीका जहाँ सुभीता हुआ वहीं छकडा लादकर ये सब अपना डेरा डाल देते थे। उन दिनो नन्दजी मथुराके सामने यमुनाजीके उस पार महावन नामक वनमे रहते थे, महावनमे ही उन दिनों नन्दबाबाका गोकुल था। वसुदेवजीसे उनकी बडी मित्रता थी। जब कंसका अत्याचार बढा तब वसुदेवजीने अपनी रोहिणी आदि पत्नियाको नन्दबाबाके गोकुलमे ही भेज दिया था। बलदेवजीका जन्म गोकुलमे ही हुआ। भगवान्को भी वसुदेवजी जन्म होते ही गोकुलमे कर आये थे। इस प्रकार बलराम और भगवान् श्रीकृष्ण दोनो ही नन्दबाबाके पुत्र हुए और उन्होने ही उनका लालन-पालन किया। नन्दजी राम और कृष्ण दोनोको प्राणासे भी अधिक प्यार करते थे दिन-रात उन्हींकी चिन्ता किया

* संसारमे भयभीत होकर कोई श्रुतिका आश्रय ले कोई दूसरा स्मृतिकी शरण ग्रहण करे और कोई तीसरा महाभारतकी शरण जाय हम तो नन्दबाबाकी चरणवन्दना करते हैं जिनके आँगनमें साक्षात् परब्रह्म खेलते हैं।

करते थे। उन्हे कोई कष्ट न हो, किसी प्रकारकी असुविधा न हो, इस बातको वे बार-बार यशोदामैयासे कहते रहते थे। श्रीकृष्ण उनके बाहरी प्राण थे, उनके जीवनमे श्रीकृष्णस्मृति ही प्रधान स्मृति थी। वे अपने सब काम श्रीकृष्णप्रीत्यर्थ ही करते थे। इससे मेरे लालको सुख होगा, इसमे उसकी प्रसन्नता होगी, इस बातका ध्यान उन्हे सदा बना रहता था।

जब गोकुलमे भाँति-भाँतिके उत्पात होने लगे, पूतना-शकटासुरकी घटनाएँ हुईं, तब सभी गोपी-गोप क्षुभित हो गये। श्रीकृष्णकी मङ्गलकामनासे उन्होने गोकुलको छोड दिया और वृन्दावनमे आकर रहने लगे। वहाँ श्रीकृष्ण भाँति-भाँतिकी क्रीडाएँ करके नन्दबाबाको सुख देने लगे। एक दिन नन्दबाबाजी एकादशीका व्रत करके द्वादशीके दिन अर्धरात्रिके समय स्नान करनेके लिये यमुनातटपर आ गये। उस समय वरुणके दूताने उन्हे पकड लिया और वे उन्हे वरुणलोकमे ले गये। इधर प्रात काल जब गोपोने नन्दजीको नहीं देखा तो वे विलाप करने लगे। सर्वान्तर्यामी प्रभु सब बात जानकर वरुणलोकको गये। भगवान्‌को

देखकर वरुणने प्रभुकी विधिवत् पूजा की और दूतोकी धृष्टताके लिये क्षमा माँगी तब भगवान् नन्दबाबाजीको साथ लेकर व्रजमे आये और नन्दजीको विश्वास हो गया कि ये साक्षात् पुराणपुरुषोत्तम हैं।

इसी प्रकार एक बार नन्दजी देवीजीकी यात्रामे सब ग्वालबालोको लेकर गये। वहाँ नन्दजीको रात्रिमे सोते समय एक अजगरने पकड लिया। गोपोने उसे जलती लकडीसे बहुत मारा किंतु वह गया नहीं। तब भगवान्‌ने चरणके अँगूठेसे उसे छू दिया, छूते ही वह गन्धर्व बन गया और अपनी कथा सुनाकर चला गया।

जब कसने अक्रूरके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णको मथुरा बुलाया तो नन्दजी उनके साथ लेकर मथुरा गये। वहाँ जाकर उन्होने कसको मारकर अपने नाना उग्रसेनको पुन राजा बनाया। नन्दजी व्रजमे लौट आये। भगवान् वहीं रह गये। पीछे उद्धवजीके हाथ उन्होने सन्देश भेजा। उद्धवजीको देखकर वृद्ध नन्दबाबा रो पडे। उन्हे अब अपने श्यामसुन्दरका यथार्थ रूप मालूम पडा। अरे, जिन्हे हम अपना पुत्र समझते थे वे तो विश्वब्रह्माण्डनायक हे, जगत्पिता हैं। उन्होने दु खभरे शब्दोमे, करुणापूर्ण वाणीमे श्रीकृष्णको याद करते हुए कहा—

अप्यायास्यति गोविन्द स्वजनान् सकृदीक्षितुम्।
तर्हि द्रक्ष्याम तद्वक्त्र सुनस सुस्मितेक्षणम्॥
दावाग्नेर्वातवर्षाच्च वृषसर्पाच्च रक्षिता।
दुरत्ययेभ्यो मृत्युभ्य कृष्णेन सुमहात्मना॥
स्मरता कृष्णवीर्याणि लीलापाङ्गनिरीक्षितम्।
हसित भाषित चाङ्ग सर्वा न शिथिला क्रिया॥
सरिच्छैलवनोद्देशान् मुकुन्दपदभूषितान्।
आक्रीडानीक्षमाणाना मनो याति तदात्मताम्॥
मन्ये कृष्ण च राम च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ।
सुराणा महदर्थाय गर्गस्य वचन यथा॥

(श्रीमद्भा० १०।४६।१९—२३)

'अक्रूरजी! कभी श्यामसुन्दर हम सबको देखने आयेगे? क्या कभी हम उनके सुन्दर नासिकावाले हँसते हुए मुखारविन्दको देख सकेगे? उन्होंने हमारी दावाग्नि वायु, वर्षा वृषासुर, सर्प आदिसे रक्षा की, उन महात्माने हमे इन अवश्यम्भावी मृत्युओसे बचाया। उनके पराक्रम, उनकी हँसी, उनके प्रेमयुक्त कटाक्ष तथा उनकी बोलन-चलन-बतरावनको जब हम स्मरण करते हैं और उनके चरण-कमलोसे अङ्कित पृथ्वी, पर्वत नदी आदि स्थानोको जब हम देखते हैं तो अपने आपेको भूल जाते हैं, हमारी

सभी क्रियाएँ शिथिल पड जाती हैं, हम तन्मय हा जाते हैं। हम तो उन्हे देवताओके कामके लिये अवतीर्ण होनेवाले साक्षात् पुरुषोत्तम ही मानते हैं।'

इस प्रकार उन्हे भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान हो गया।

एक बार कुरुक्षेत्रमे फिर वह करुणापूर्ण दृश्य उपस्थित हुआ, जब नन्दबावाने अपनी गोदीमे बिठाकर श्यामसुन्दरका मुख चूमा। उस चुम्बनमे कितनी विरहवेदना, कितनी अनन्त स्मृतियाँ थीं, इसे कौन कह सकता है। अत श्रीभगवान्‌के निज लोक पधारनेपर समस्त ग्वालवाल और गौ-वछडाके साथ नन्दबाबाजी भी अपने सत्य सनातन लोकको चले गये, जहाँ न जरा है न मृत्यु है जहाँ सदा श्रीकृष्णलीलाका दिव्य आनन्द-ही-आनन्द है।

सतहृदय वसुदेवजीका पुत्रप्रेम

यदुवशमे शूरसेन नामक एक पराक्रमी क्षत्रिय हुए, उनकी मारिषा नामकी पत्नी थी। शूरके मारिषाके गर्भसे दस पुत्र उत्पन्न हुए। उन दसामे वसुदेवजी सबसे श्रेष्ठ थे। इनका विवाह देवककी सात कन्याओसे हुआ। राहिणी भी इनकी पत्नी थीं। देवकीजी देवककी सबसे छोटी कन्या थीं। जब वसुदेवजी देवकीके साथ विवाह करके आ रहे थे तो देवकके बडे भाई उग्रसेनका पुत्र कस अपनी वहिनकी प्रसन्नताके लिये स्वय रथ हाँक रहा था, उसी समय आकाशवाणी हुई—'कस! इसी देवकीका आठवाँ गर्भ तुझे मारेगा।' कस मृत्युभयसे काँप गया और वहीं देवकीजीको मारनेके लिये तैयार हो गया। वसुदेवजीने उसे बहुत समझाया किंतु वह माना ही नहीं। तब वसुदेवजीने सोचा इस समयको टाल देना ही बुद्धिमानी है। इसलिये वसुदेवजीने कहा—'अच्छा तुम्हे इसके पुत्रसे डर है न? तुम इसे मत मारो, इसके सब पुत्र मैं तुम्हे लाकर दे दूँगा।'

कसको चाहे और किसीपर विश्वास न रहा हो, किंतु वह यह जानता था कि वसुदेवजी कभी झूठ नहीं वोलेगे, ये जो कहेगे वही करेगे। उसने वसुदेव-देवकीको छोड दिया। समय पाकर उनके एक पुत्र हुआ और वसुदेवजी अपने प्रतिज्ञानुसार उसे कसके यहाँ लेकर पहुँच गये।

अपने हृदयके टुकडेको वे मरवानेके लिये क्यो ले गये? वाप अपने प्यारे पुत्रको अपने हाथसे मरवानेके लिये कैसे ले गया? इसपर व्यासजी कहते हैं—

> किं दुःसहं नु साधूनां विदुषां किमपेक्षितम्।
> किमकार्यं कदर्याणां दुस्त्यजं किं धृतात्मनाम्॥
>
> (श्रीमद्भा० १०।१।५८)

वे सत थे उनके लिये सब कुछ सह्य था। वे धैर्यवान् थे सत्यके पीछे सब कुछ छोड सकते थे। कसने उनकी

सत्यतापर सन्तुष्ट होकर एक बार लडकेको लौटा दिया। दुबारा जब उसने मँगाया तब फिर लेकर पहुँचे। उसने इन्ह कारागारमे रखा कारागारमे रहे, नाना प्रकारके कष्ट दिये, उन्ह शान्तिपूर्वक सहन किया। अन्तमे कारागारमे ही भगवान्का प्रादुर्भाव हुआ। भगवान्की आज्ञा हुई, मुझे गोकुल पहुँचा दो। कससे बढकर भगवान्की आज्ञा थी। भाद्रपदकी अँधेरी रात्रिमे आधी रातके समय बढती हुई यमुनाजीमे सद्योजात शिशुको लेकर वसुदेवजी उनकी आज्ञाका स्मरण करके घुस गये। यमुनाजी भी हट गयीं। सब विघ्न दूर हुए। भगवान्को सकुशल गोकुल पहुँचाकर तथा बदलेमे यशादाकी कन्याको लेकर वे वापस आ गय। किवाड ज्यो-के-त्यो फिर बद हो गये ताले लग गये। हाथामे फिर ज्यो-की-त्यो हथकडियाँ पड गयीं। कस आया और उसने लडकीको पत्थरपर पछाडकर मार डालनेका उद्योग किया, किंतु वह तो साक्षात् योगमाया थी आकाशमे अपने स्वरूपसे प्रकट होकर उसने कहा—'कस! तुम्हे मारनेवाला प्रकट हो गया है।'

भगवान् समीपमे ही वृन्दावनम रहते थे। प्रत्येक माता-पिताका मन इस बातके लिये लालायित रहता है कि अपने हृदयके टुकडेको एक बार जी भरकर इन आँखासे देख ल, किंतु वसुदेवजीने ऐसा साहस कभी नहीं किया। छिपकर आँख बचाकर भगवान्की इच्छाके विरुद्ध मोहवश वहाँ जायँगे तो साधुतामे बट्टा लगेगा। बात बिगड जायगी। जब उनकी इच्छा होगी, जब वे चाहेगे स्वय आ जायँगे या बुला लगे। वे उनकी आज्ञाकी प्रतीक्षामे चुपचाप बैठे हुए कसपालित मथुरामे तप करते रहे—

तत्तेऽनुकम्पा सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृत विपाकम्॥

अन्तर्यामी प्रभुसे माता-पिताकी भावनाएँ छिपी थोडे ही थीं। किस बातसे माता-पिता प्रसन्न होगे, इसे वे जानते थे। स्वत ही वे आये। पहले उन्हाने अपने माता-पिताको दु ख देनेवालेको ही मारा। यदि यह जीवित रहेगा तो वे सुखसे हृदय खोलकर न मिल सकेगे। डरते-डरते मिलना कोई मिलना थोड ही है, जबतक निर्भय होकर अपने प्रेमास्पदको हृदयसे न लगा लिया जाय। देवकी तो कससे डरी हुई थीं उन्हे उसके नामसे ही भय लगता था। यह बात उन्होने भगवान्से प्रकट होते ही कही थी—

जन्म ते मय्यसौ पापो मा विद्यान्मधुसूदन।
समुद्विजे भवद्धेतो कसादहमधीरधी॥

(श्रीमद्भा० १०।३।२९)

'वह इस बातको न जानने पावे कि आपका प्रादुर्भाव मेरे ही यहाँ हुआ है। मैं आपके लिये इस कससे बहुत ही डरी हुई हूँ।'

भगवान्ने पहले उसी काँटेको निकाला, फिर माता-पिताको अभय करके उनकी बेडियाँ-हथकडियाँ काटीं और स्वय उनके चरणोपर गिरे।

अहा! चिरकालके बिछुडे अपने पुत्रको पाकर वसुदेवजी कितने प्रसन्न हुए होगे, उनकी प्रसन्नताका वर्णन भला कौन कर सकता है! किंतु उनके मनम भगवान्के प्रति ईश्वर-बुद्धि आ गयी, ऐश्वर्यमे प्रेमरसास्वादन कहाँ? अन्तर्यामी प्रभु समझ गये और बोले—

न लब्धो दैवहतयोर्वासो नौ भवदन्तिके।
या बाला पितृगेहस्था विन्दन्ते लालिता मुदम्॥
तन्नावकल्पयो कसान्नित्यमुद्विग्नचेतसो ।
मोघमेते व्यतिक्रान्ता दिवसा वामनर्चतो ॥
तत्क्षन्तुमर्हथस्तात मातर्नौ परतन्त्रयो ।
अकुर्वतोर्वां शुश्रूषा क्लिष्टयोर्दुर्हृदा भृशम्॥

(श्रीमद्भा० १०।४५।४ ८-९)

'हम ही बडे मन्दभागी हैं जो हमने बालकपनमे आपके घरमे सुख नहीं पाया। माता-पिताके समीप बालकको कितनी प्रसन्नता होती है, कितना सुख मिलता है। सो हमलोग कससे डरे हुए दूर-ही-दूर रहे। आप हमारे लिये तडफडाते रहे, हम आपके लिये छटपटाते रहे। उस दुष्टके द्वारा सताये हुए आपकी बिना सेवा किये, आपको बिना सुख पहुँचाये, हमारे ये दिन व्यर्थ ही गये। हे माता-पिता! हमारे इस विवशताजनित अपराधको क्षमा करे।'

इस प्रकार जब भगवान्ने प्रेममे सनी हुई बाते कहीं तो वसुदेवजी उनके ऐश्वर्यको भूल गये। माताने और वसुदेवजीने दोनो अपने हृदयके टुकडाको छातीसे चिपटा लिया। प्रेमके आँसुओसे उनक काले-काले घुँघराले बालोको भिगो दिया। अपने जीवनको सफल बनाया।

वसुदेवजीके बराबर कौन भाग्यवान् हो सकता है, जिन्हे ये अखिलब्रह्माण्डनायक सदा पिता-पिता कहकर पुकारा करते थे, जिनकी शुश्रूषा साक्षात् देवासुरवन्दित लक्ष्मीपति किया करते थे।

अन्तमे भगवान्ने कुरुक्षेत्रम ऋषियोंके द्वारा वसुदेवजीको तत्त्वबोध कराया। पीछे जब वसुदेवजीने भगवान्के सम्मुख उस ज्ञानको प्रकट किया तो भगवान्ने भी उसका अनुमोदन किया। भगवान्ने उन्हे अपने असली रूपका परिचय कराया और अन्तम कहा—

अह यूयमसावार्य इमे च द्वारकौकस ।
सर्वेऽप्येव यदुश्रेष्ठ विमृश्या सचराचरम्॥
आत्मा ह्येक स्वयञ्ज्योतिर्नित्योऽन्यो निर्गुणो गुणै ।
आत्मसृष्टैस्तत्कृतेषु भूतेषु बहुधेयते॥

(श्रीमद्भा० १०।८५।२३ २४)

'हे पिता! हे यदुश्रेष्ठ! मैं आप सब बलदेवजी समस्त द्वारकावासी, यहाँतक कि सम्पूर्ण जगत्—ये सब एक ही हैं ऐसा जानो। आत्मा एक है स्वयज्योति है नित्य है, अनन्य तथा निर्गुण है, किंतु अपने ही द्वारा उत्पन्न किये हुए गुणोंके कारण उन्हीं गुणोंसे उत्पन्न हुए नाना शरीरोंमे वह नाना रूपोंसे भासता है।'

इस प्रकार वसुदेवजीने यथार्थ तत्त्वको समझ लिया। अन्तम जब प्रभासक्षेत्रम भगवान्ने अपनी लीला सवरण की तब वसुदेवजी भी अपनी पत्नियोंके साथ वहाँ आकर भगवान्के अनुयायी हुए। उन्हींके मार्गका अनुसरण किया।

माता देवकीकी वात्सल्य-निष्ठा

विश्व यदेतत् स्वतनौ निशान्ते
यथावकाश पुरुष परो भवान्।
बिभर्ति सोऽय मम गर्भगोऽभू-
दहो नृलोकस्य विडम्बन हि तत्॥*

महाराज उग्रसेनके एक भाई थे, उनका नाम देवक था, महाभाग्यवती देवकीजी उन्हींकी पुत्री थीं। कस इनका चचेरा भाई था, ये कससे छोटी थीं अत वह इन्हे बहुत प्यार करता था। इनका विवाह यदुवशी श्रीवसुदेवजीसे हुआ। देवकजीने अपनी पुत्रीका विवाह बडे ही उल्लासके साथ किया। बहुत-सा दहेज वसुदेवजीको दिया और बडी धूमधामसे विवाहका समस्त काय सम्पन्न हुआ। कस अपनी बहिनके प्रति स्नेह प्रदर्शित करनेके लिये बिदाईके समय उसके रथको स्वय हाँकने लगा। रथमे नवविवाहिता देवकीजी और वसुदवजी बैठे थे, कस घोडाको हाँक रहा था इसी समय आकाशवाणी हुई—'अरे ओ मूढ कस! तू जिस बहिनके रथको इतनी प्रीतिसे हाँक रहा है इसीका अष्टम गर्भ तुझे मारेगा।' बस, फिर क्या था रगम भग पड गयी अमृतमे विष मिल गया। हर्षके स्थानमे उदासी छा गयी स्नेहका स्थान द्वेषने ग्रहण कर लिया। क्रोधके आवेशम कस रथसे कूद पडा। उसने तलवार निकाल ली और देवकीजीकी चोटी पकडकर बडे क्रोधके साथ बोला—'बस, *न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी।'* विषके वृक्षको ही क्यो बढने दे कि उसके फलोसे मृत्युकी सम्भावना हो, बढनेके पहले वृक्षको ही काट देना बुद्धिमानी है। मैं अभी इस देवकीका अन्त किये देता हूँ।'

पासम बैठे हुए वसुदेवजीने बडे धैर्यके साथ उसे समझाया ज्ञानकी बाते बतायीं। धर्म सुझाया और अन्तमें विश्वास दिलाया कि इसके जितने भी पुत्र होगे, हम सब तुम्हे द जाया करेगे। तुम इस अबलाको जो तुम्हारी बहिन है, नवविवाहिता है—क्या मारते हो? भगवान्की प्रेरणा, उसके मनमे यह बात बैठ गयी, उसने देवकीको छोड दिया। परतु पीछेसे वसुदेवजीके सहित देवकीको कारागारमे बद कर दिया।

क्रमश दवकीजीके गर्भसे सात सताने हुईं। अपने प्रतिज्ञानुसार वसुदेवजीने उन्हे कसको सौंप दिया और उस दुष्टने सभीको मार डाला। अष्टम गर्भमे साक्षात् श्रीमन्नारायण चतुर्भुजरूपम प्रकट हुए। यह गर्भ देवकीके लिये

* श्रीदेवकीजी कहती हैं—प्रलयके अन्तमें जब आप इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको अपनेमे लीन कर लेते हैं तब सम्पूर्ण विश्व आपके उदरमें समा जाता है किसीको भी अवकाशकी न्यूनता नहीं होती वे ही आप मेरे गर्भमे आये हैं यह लोगोंके लिये एक आश्चर्यकी बात है इसपर भला कौन विश्वास करेगा?

'हर्षशोकविवर्धन ' हुआ। हर्ष तो इस बातका कि साक्षात् भगवान् अवतीर्ण हुए हैं, शोक कसके अत्याचारोको लेकर। जब भगवान् अपनी प्रभासे दसा दिशाओको प्रभान्वित बनाते हुए शङ्ख, चक्र, गदा और पद्मके साथ चतुर्भुजरूपमे प्रकट हुए तो देवकीमाताने उनकी बडी स्तुति की और प्रार्थना की—'प्रभो। मैं कससे बहुत डरी हूँ, वह तुम्हे भी मार डालेगा। अत उससे मेरी रक्षा करो और अपना यह अलौकिक रूप छिपा लो।' लीलामय भगवान्ने कहा—'यदि ऐसा ही है तो मुझे नन्दजीके गाकुलमे भेज दो वहाँ यशोदाजीके गर्भसे मेरी माया उत्पन्न हुई है, उसे ले आओ।' यह कहकर प्रभु साधारण शिशु हो गये। वसुदेवजी भगवान्को नन्दजीके यहाँ पहुँचा आये और वहाँसे कन्याको ले आये।

भगवान् व्रजमे ही वडे हुए। देवकीमाता अपने हृदयके टुकडेको देखनेके लिये तरसती रहीं। उनका मन उस श्यामसुन्दरकी सलोनी मनमोहिनी मूर्तिके लिये तरसता रहा। कसको मारकर जब भगवान् देवकीजी और वसुदेवजीके पास आये तो भगवान्ने अत्यन्त स्नेह प्रदर्शित करते हुए कहा—आप लोग सदा मेरे लिये उत्कण्ठित रहे, किंतु मैं आप लोगाकी कुछ भी सेवा-शुश्रूषा नहीं कर सका। बाल्यकालमे क्रीडाएँ करके बालक माता-पिताको प्रमुदित करता है, मेरे द्वारा यह भी नहीं हो सका अत आप क्षमा करे—

तत् क्षन्तुमर्हथस्तात मातर्नौ परतन्त्रयो ।
अकुर्वतोर्वां शुश्रूषां क्लिष्टयोर्दुर्हृदा भृशम्॥

इस प्रकार भगवान्ने मातृ-पितृ-भक्ति प्रदर्शित की। जब श्रीमथुरापुरी छोडकर भगवान् द्वारका पधारे तो देवकीजी द्वारकामे ही भगवान्के समीप रहती थीं। वे उन्हे अपना प्रिय पुत्र ही समझती थीं। पुत्रस्नेह भी कैसा मधुमय सम्बन्ध है, भगवत्ताका उन्हे स्मरण भी नहीं हाता था उनके लिये तो श्यामसुन्दर बालक ही थे, उन्हे अपने हाथमे खिलातीं-पिलातीं, भाँति-भाँतिकी शिक्षाएँ देतीं। मातृस्नेहको व्यक्त करनेके लिये भगवान् भी देवकीजीकी हर प्रकारसे सेवा करते। जन्मके समय भगवान्ने अपने चतुर्भुजरूपसे जो माताको दर्शन दिया था उसे वे भूल गयीं और अब उन्ह फिर अपना पुत्र ही मानने लगीं। भगवान् तो माताको असली ज्ञान कराना चाहते थे, अत उनके मनमे एक प्रेरणा की।

माताने जब सुना कि मेर पुत्र राम-कृष्णने गुरुदक्षिणाम गुरुके मृत पुत्रको ला दिया तो उन्हाने भी प्रार्थना की कि मर भी जो पुत्र कसके द्वारा मारे गये हैं, उन्हें ला दो। माताकी ऐसी प्रार्थना सुनकर भगवान् वासुदेव बलदेवजीके सहित पाताललोकमे गये और वहाँसे उन पुत्राको ले आये। माताने देखा, वे तो अभी उसी अवस्थाके हैं, माता अपने आपेको भूल गयीं। उनके स्तनोमसे दूध टपकने लगा। बडे स्नेहसे उन्हे गोदीमे बिठाकर दूध पिलाने लगीं। वे भी श्रीकृष्णोच्छिष्ट स्तनको पान करके देवलोकको चले गये। अब माताको ज्ञान हुआ कि ये मेरे साधारण पुत्र नहीं हैं, ये तो चराचरके स्वामी हैं। विश्वके एकमात्र अधीश्वर हैं। माताकी मोह-ममता दूर हो गयी वे भगवान्के ध्यानमे मग्न हो गयीं।

अन्तमे जब प्रभासक्षेत्रकी महायात्रा हुइ ओर उसमे सब यदुवशियोका नाश हो गया तथा भगवान् भी अपने लोकको चले गये, तब यह समाचार दारुकके द्वारा वसुदेव देवकीजीने भी सुना। वे दौडे-दौडे प्रभासक्षेत्रमे आये। वहाँ आनन्दकन्द श्रीकृष्ण और बलरामको न देखकर माता देवकीजीने श्रीवसुदेवजाके साथ भगवान्के विरहमे इस पाञ्चभौतिक शरीरसे उसी क्षण सम्बन्ध त्याग दिया। वे उस भगवद्धामको चली गयीं जहाँ उनके प्यारे प्रभु नित्य निवास करते हैं।

माता कुन्तीका अनुपम अनुराग

विपद सन्तु न शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शन यत्स्यादपुनर्भवदर्शनम्॥*

शास्त्रोमे पाँच देवियाँ नित्य कन्याएँ मानी गयी हैं। उनमे महारानी कुन्ती भी हैं। ये वसुदेवजीकी बहिन थीं और भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीकी फूआ। महाराज कुन्तिभोजसे इनके पिताकी मित्रता थी, उनके कोई सन्तान न थी, अत ये कुन्तिभोजके यहाँ गोद आयीं और उन्हींकी पुत्री होनेके कारण इनका नाम कुन्ती पडा। बाल्यकालमे ये साधु-महात्माओकी बहुत सेवा किया करती थीं। घरमे जो भी कोई अतिथि साधु आता ये हर प्रकारसे उसकी सेवा-शुश्रूषा करतीं। एक बार महर्षि दुर्वासा इनके यहाँ आये और वे बरसातके चार महीने इन्हींके यहाँ ठहर गये। कुन्तीजीने उनकी तन-मनसे खूब सेवा की। चलते समय महर्षि इन्ह एक मन्त्र दे गये और कह गये कि 'सन्तानकामनासे तू जिस किसी देवताका स्मरण करेगी वह उसी समय अपने दिव्य तेजसे आ जायगा इससे तेरा कन्याभाव नष्ट न होगा।' ऋषिके चले जानेपर इन्होने बालकपनके कुतूहलवश भगवान् सूर्यदेवका आवाहन किया। सूर्यदेव आये ये डर गयीं, उन्हाने आश्वासन दिया उन्हींसे दानी कर्णकी उत्पत्ति हुई जिन्ह लोकापवादके कारण इन्होने नदीम छोड दिया और एक सारथिने अपना पुत्र बनाया। महाराज पाण्डुके साथ इनका विवाह हुआ वे राजपाट छोडकर वनको चले गये। वनम ही इनके धर्म, इन्द्र, पवनके अशसे युधिष्ठिर अर्जुन भीमकी उत्पत्ति हुई और माद्रीसे अश्विनीकुमाराक अशसे नकुल एव सहदेवका जन्म हुआ। महाराज पाण्डुका शरीरान्त होनेपर माद्री तो उनके साथ सती हो गयीं और ये बच्चोकी रक्षाके लिये जीवित रह गयीं। इन्होने पाँचा पुत्राको अपनी ही कोखसे उत्पन्न हुआ माना, कभी स्वप्नमे भी उनमे भेदभाव नहीं किया।
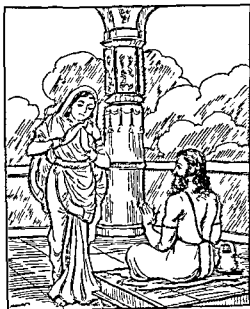
पाण्डवाको जब देशनिकाला हुआ तो ये दु खके साथ विदुरके घरम रहीं, पुत्राकी मङ्गलकामना ईश्वरसे करती रहीं। इससे पूर्व जब दुर्योधनने लाक्षागृहम पाँचा पाण्डवाको जलानेका षड्यन्त्र रचा था, तब माता कुन्ती साथ ही थीं और साथ ही वहाँसे छिपकर भागीं। तब पाण्डवोपर बडी विपत्ति थी। वे भीख माँगकर खाते थे, माता उनकी सब प्रकारसे रक्षा करतीं और सबको यथायोग्य भोजन देतीं। दयावती ये इतनी थीं कि जिस ब्राह्मणके यहाँ रहती थीं, उसके घरसे एक दिन उसका पुत्र राक्षसके पास उसके भोजनके लिये जा रहा था।

ब्राह्मणी अपने इकलौते पुत्रको जाते देख रो रही थी। माता कुन्तीको दया आयी और कहा—'मेरे पाँच पुत्र हैं

* कुन्तीजी भगवान्से प्रार्थना करती हैं—'हे जगद्गुरो! हमपर सदा विपत्तियाँ ही आती रहें क्योंकि आपके दर्शन विपत्तिमे ही होते हैं और आपके दर्शन होनेपर फिर इस ससारके दर्शन नहीं होते अर्थात् मनुष्य आवागमनसे रहित हो जाता है। (श्रीमद्भा० १।८।२५)

एक चला जायगा।' जब ब्राह्मणीने बहुत मना किया तो बोलीं—'मेरा पुत्र उस राक्षसको मार आयेगा।' ऐसा ही हुआ। भीमने उस राक्षसको मारकर सारी नगरीको सदाके लिये सुखी बना दिया।

ये दयावती होनेके साथ ही वीरमाता थीं। जब जूएमे युधिष्ठिर हार गये और तेरह वर्षके वनवासके बाद भी दुर्योधन पाण्डवोको कुछ भी देनेके लिये राजी नहीं हुआ, तब भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र दूत बनकर हस्तिनापुरमे आये। उन्होने दुर्योधनको बहुत समझाया, पर वह माना ही नहीं। उसने स्पष्ट कह दिया—

सूच्यग्र नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव।

'हे माधव। सूईके अग्रभागके बराबर भी पृथ्वी मैं बिना युद्धके न दूँगा।' तब भगवान् माता कुन्तीके पास आये और बोले—'ऐसी दशामे अब तुम अपने पुत्रोको क्या सन्देश देती हो?' तब कुन्तीजीने बडी ही वीरतासे कहा—

'यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागत ॥'

'क्षत्रियाणी जिस समयके लिये पुत्रोको पैदा करती है, वह समय—अर्थात् युद्ध करनेका समय—अब आ गया,

मेरे पुत्रोसे कह दना लडकर वे अपना अधिकार प्राप्त करे।' यह है एक वीरमाताका पुत्रोके लिये आदेश।

जिसकी सम्भावना थी वही हुआ। महाभारतका युद्ध हुआ। अठारह अक्षौहिणी सेनाका सहार हुआ। धृतराष्ट्रके सौ पुत्र मारे गये। गान्धारी पुत्रहीना बन गयी, वह रोती हुई युद्धभूमिमे गयी, कुन्ती उसे पकडकर ले गयीं और भाँति-भाँतिसे धैर्य बँधाने लगीं। माता कुन्तीने सच्चे मनसे उस पतिव्रता गान्धारीकी सब प्रकारसे सेवा की।

माता कुन्तीने कभी शारीरिक सुख नहीं भोगा, जबसे वे विवाहिता होकर आयीं, उन्हे विपत्तियोका ही सामना करना पडा। पति रोगी थे, उनके साथ जगलामे भटकती रहीं। वहीं पुत्र पैदा हुए, उनकी देख-रेख की, थोडे दिन हस्तिनापुरमे पुत्रोके साथ रहीं, वह भी दूसरेकी आश्रिता बनकर। फिर लाक्षागृहसे किसी प्रकार अपने पुत्रोको लेकर भागीं और भिक्षाके अन्नपर जीवन बिताती रहीं। थोडे दिन राज्य-सुख भोगनेका समय आया कि धर्मराज युधिष्ठिर कपटके जूएमे सर्वस्व हारकर वनवासी बने, तब ये विदुरके घरमे रहकर जैसे-तैसे जीवन बिताती रहीं। युद्ध हुआ, परिवारवालोका सहार हुआ, इससे कुन्तीको क्या सुख। उन्होने अपने सुखके लिये युद्धकी सम्मति थोडे ही दी थी, उसे तो उन्होने क्षत्रियोका धर्म बताया था। पाण्डवोकी विजय होनेसे क्या हुआ। वह पाण्डवोके साथ राज्यभोगमे सम्मिलित नहीं हुईं। उन्होने तो अपना सम्पूर्ण जीवन अपने उन अन्धे जेठ धृतराष्ट्र और जिठानी गान्धारीकी सेवामे अर्पण कर दिया जिन धृतराष्ट्र तथा गान्धारीके पुत्रोने इन्हे एव इनके पुत्रोको इतने कष्ट दिये थे। गान्धारी और धृतराष्ट्र जब पुत्रवियोगसे दु खी होकर जगलोमे चले तो उनकी लाठी पकडकर पुत्रोका मोह छोडकर कुन्तीदेवी उनके साथ हो लीं। इस प्रकार उनका जीवन सदा विपत्तिमे ही कटा। इस विपत्तिमे भी उन्हे सुख था। वे इस विपत्तिको भगवान्से चाहती थीं और हृदयसे इसे विपत्ति मानती भी नहीं थीं।

विपदो नैव विपद सम्पदा नैव सम्पद ।
विपद्विस्मरण विष्णो सम्पन्नारायणस्मृति ॥

'विपत्ति यथार्थमे विपत्ति नहीं है सम्पत्ति भी सम्पत्ति नहीं। भगवान्का विस्मरण होना ही विपत्ति है और उनका स्मरण बना रहे, यही सबसे बडी सम्पत्ति है।' मा उन्हे भगवान्का विस्मरण कभी हुआ नहीं अत वे सदा सुखमे ही रहीं।

प्रेमका पन्थ

(आचार्य श्रीसुदर्शनजी मिश्र एम्०ए०)

प्रभुकी प्राप्तिमे कोई भी सासारिक साधन—नियम ज्ञान, विज्ञान, योग जप और तप तवतक सफल नहीं होता है, जवतक प्रभुम अनन्य प्रेम नहीं होता तथा इस अनन्य प्रेमम सभी सासारिक राग-अनुराग बाधक ही हैं। महात्मा भक्तशिरोमणि तुलसीदासजी कहते हैं—

साँच कहा तो जग नहीं, झूठे मिलै न राम।

प्रभुप्रेमम मतवाली महारानी मीरा दीवानी हो नाचने लगती थीं—*'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई'*। लोकलाजकी उन्ह चिन्ता कहाँ, उनके पति राणाजीको यह सब अति अटपटा एव मर्यादाविरुद्ध प्रतीत होता था, परतु मीराजी क्या करे वे तो लोकलाज खो चुकी थीं—*'सतन ढिग बैठि बैठि लोकलाज खोई।'* और गिरिधरके हाथ बिक गयी थी—*'गिरधर हाथ विकानी'*। अन्तत स्थितिकी चरम सीमा आ गयी, महारानी मीराजीने गोस्वामी तुलसीदासजीसे मार्गनिर्देशन-हेतु प्रार्थना की, तव गोस्वामीजीने स्पष्ट लिख भेजा—

जाके प्रिय न राम-वैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रहलाद विभीषन बधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कत व्रज-वनितन्हि, भये मुद-मगलकारी॥

व्रजाङ्गनाओने तो प्रभु श्रीकृष्णके हेतु पतियोका भी त्याग कर दिया और प्रभुको प्राप्तकर भक्तिका अनूठा आदर्श उपस्थित किया है। तभी तो परम ज्ञानी भगवत्प्रेमी उद्धवजीको कहना पडा—

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणा पादरेणुमभीक्ष्णश ।
यासा हरिकथोद्गीत पुनाति भुवनत्रयम्॥
(श्रीमद्भा० १०।४७।६३)

नन्दबाबाके व्रजमे रहनेवाली गोपाङ्गनाओंकी चरणधूलिको मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ—उसे सिर चढाता हूँ। अहा! इन गोपियोने भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाकथाके सम्बन्धमे जो कुछ गान किया है, वह तीनो लोकोको पवित्र कर रहा है और सदा-सर्वदा पवित्र करता रहेगा।

इसीलिये गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा—

नाते नेह रामके मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं।
अजन कहा आँखि जहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं॥
(विनय-पत्रिका पद १७४)

जब गाण्डीवधारी परमवीर अजुन शान्तनुनन्दन पितामह भीष्मजीसे समराङ्गणम शिथिल हो गये और पाण्डवसेनामे भगदड मच गयी, तब भक्तवत्सल लीला-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने सुदर्शनचक्रका स्मरण किया तथा रथसे कूदकर चक्र लेकर वे भीष्मपितामह तथा समस्त कौरववीराका वध करनेके लिये उद्यत हो आगे बढने लगे। भगवान् वेदव्यासजीने उस छविको इस प्रकार वाणी दी है—

स वासुदेव प्रगृहीतचक्र
सवर्तयिष्यन्निव सर्वलोकम्।
अभ्युत्पतल्लोकगुरुर्बभासे
भूतानि धक्ष्यन्निव धूमकेतु ॥
(महा० भीष्मपर्व ५९।९४)

वे जगद्गुरु वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण हाथम चक्र ले मानो सम्पूर्ण जगत्का सहार करनेके लिये उद्यत थे और समस्त प्राणियोको जलाकर भस्म कर डालनेके लिये उठी हुई प्रलयाग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे।

ऐसे भयकर क्रोधावेशमे भगवान्को अपनी ओर आते देखकर प्रभुप्रेमी भीष्मपितामह निर्भय होकर धनुषको

खींचते हुए भगवान् श्रीकृष्णका आह्वान करते हुए बोले—

एह्येहि देवेश जगन्निवास
नमोऽस्तु ते माधव चक्रपाणे॥
प्रसह्य मा पातय लोकनाथ
रथोत्तमात् सर्वशरण्य सख्ये॥

(महा० भीष्मपर्व ५९।९६-९७)

आइये, आइये हे देवेश्वर! जगन्निवास! आपको नमस्कार है। हाथमे चक्र लिये आये हुए माधव! सबको शरण देनेवाले लोकनाथ! आज युद्धभूमिमे बलपूर्वक इस उत्तम रथसे मुझे मार गिराइये।

कैसा अनोखा भगवत्प्रेम है! भीषण बाणोकी वर्षा भी कर रहे हैं और यह भी जान रहे हैं कि ये ही परमेश्वर हैं। ये मुझे मार भी सकते हैं और प्रणाम भी कर रहे हैं तथा मार डालनेके लिये भी कह रहे हैं। पितामह भीष्मने पुन नौवें दिनके युद्धमे जब अद्भुत पराक्रम दिखाया, तब भी परम दयालु भक्तवत्सल भगवान् वासुदेवने पितामह भीष्मको मारनेकी लीला की और तब भी पितामह भीष्म निर्भय होकर धनुषको खींचकर भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार कर उनकी स्तुति करते हुए अपने सौभाग्यकी सराहना करने लगे कि आपके द्वारा मारे जानेपर भी ससारम मब ओर मेरा परम कल्याण ही होगा—

सम्भावितोऽस्मि गोविन्द त्रैलोक्येनाद्य सयुगे॥
प्रहरस्व यथेष्ट वै दासोऽस्मि तव चानघ।

(महा० भीष्मपर्व १०६।६६-६७)

हे गोविन्द! आज इस युद्धमे मैं तीनो लोकाद्वारा सम्मानित हो गया। हे अनघ! मैं आपका दास हूँ, आप अपने इच्छानुसार मुझपर प्रहार कीजिये।

ससारके इतिहासमे ऐसे अनूठे भगवत्प्रेमका उदाहरण दुर्लभ है। यह भगवान् और भक्तकी अनोखी लीला है। प्रभु भक्तका गौरव बढानेहेतु क्या नहीं करते—अपनी प्रतिज्ञातकको झुठला सकते हैं—तभी तो भक्त कवि गा उठता है—

प्रबल प्रेम के पाले पड़ कर प्रभु को नियम बदलते देखा।
अपना मान टले टल जाये जन का मान न टलते देखा॥

'श्रीमद्भागवत'मे पितामह भीष्मद्वारा अन्त समयमे भगवान्की जो स्तुति की गयी है, वह भी मननीय एव स्मरणीय है—

युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्-
कचलुलितश्रमवार्यलङ्कृतास्ये।
मम निशितशरैर्विभिद्यमान-
त्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा॥

(१।९।३४)

युद्धमे घोडोकी टापोसे उडी हुई रजसे धूसरित तथा चारो ओर छिटकी हुई अलकावाले, परिश्रमजन्य पसीनेकी बूँदासे सुशोभित मुखवाले और मेरे तीक्ष्ण बाणोसे विदीर्ण हुई त्वचावाले सुन्दर कवचधारी श्रीकृष्णमे मेरी आत्मा प्रवेश करे।

स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञा-
मृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थ।
धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गु-
र्हरिरिव हन्तुमिभ गतोत्तरीय॥
शितविशिखहतो विशीर्णदश
क्षतजपरिप्लुत आततायिनो मे।
प्रसभमभिससार मद्वधार्थं
स भवतु मे भगवान् गतिर्मुकुन्द॥

(श्रीमद्भा० १।९।३७-३८)

मेरी प्रतिज्ञाको सत्य करनेके लिये अपनी प्रतिज्ञा छोडकर रथसे उतर पडे और सिंह जैसे हाथीको मारनेके लिये दौडता है उसी तरह चक्रको लेकर पृथ्वी कँपाते

श्रीकृष्ण (मेरी ओर) दौडे। उस समय शीघ्रताके कारण उनका दुपट्टा (पृथ्वीको सान्त्वना देनेके लिये) गिर पडा था। मुझ आततायीके तीक्ष्ण बाणासे विदीर्ण होकर फटे हुए कवचवाले घाव और रुधिरसे सने हुए जो भगवान् मुकुन्द मुझे हठपूर्वक मारनेको दौडे, वे मेरी गति हा।

ऐसी अनोखी अनुपम आराधना विश्वके इतिहासपटलपर असम्भव है। धन्य हैं ऐसे भगवान् और उससे भी अधिक धन्य हैं उनके प्रेमी भक्त।

यह प्रेमका पन्थ अति कठिन है। कवि दिनकरजी कहते ह—

सिर देकर सौदा करते है जिन्ह प्रेमका रग चढा।
फीका रग रहा तो घर तज क्या गैरिक परिधान करे॥
उस पदकी मजीर गूँजती हो नीरव सुनसान जहाँ।
सुनना हो तो तज वसन्त निज को पहिले वीरान करे॥

कविवर बोधाजी (बुद्धिसेन) भी कहते हैं—

अति छीन मृणाल के तारहु ते तेहि ऊपर पाँव दै धावनो है।
सुई वेध ते द्वार सकीर्न जहाँ परतीति को ठाढो लदावनो है॥
कवि बोधा धनी अनी नेजहुँ ते चढि तापै चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पथ कराल महा तरवार की धार पै धावनो है॥

प्रभुवाणीका सदेश है—

'तस्मात्सर्वेपु कालेपु मामनुस्मर युध्य च।' (गीता ८।७)

परतु यह मन अपने वशम कहाँ। अत नित्य-निरन्तर प्रभुसे प्रार्थना करनेका अभ्यास बना लेना चाहिये, इससे प्रभुकी अविस्मरणीय स्मृति बन सकती है—

गोविन्द मेरी यही प्रार्थना है भूलूँ न मै नाम कभी तुम्हारा।
निष्काम होके दिन रात गाऊँ गोविन्द दामोदर माधवेति॥
गोविन्द दामोदर माधवेति हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
देहान्त काले तुम सामने हो वशी बजाते मन को लुभाते॥
गाता यही मै तन नाथ त्यागूँ गोविन्द दामोदर माधवेति।
गोविन्द दामोदर माधवेति हे कृष्ण हे यादव हे सखेति॥

हिन्दी-साहित्यके सत कवियोकी प्रेमसाधना

(श्रीनेरन्द्रप्रकाशजी शर्मा)

सत कवियोकी प्रेमसाधनारूपी काव्य-प्रभा मानव-जीवमको अविरामगतिसे भगवत्प्रेमकी ओर आकृष्ट कर रही है। सत कवियाने भक्तिरसयुक्त पदाकी रचनाओद्वारा अपने इष्टको रिझाया है और उनका प्रेममय भगवत्सम्बन्ध उनके छन्दोमे मुखर हुआ है। इससे जन-जनमे भक्तिभावका सचरण हो सका है। उन भावासे भावित होकर आज भी लोग प्रभुकी प्रेमाभक्तिका रसास्वादन करते हैं।

सत गोस्वामी तुलसीदासजी

गोस्वामी तुलसीदासकी श्रीराममयी कविता तो दिव्य प्रेमका ही मूर्तरूप है। रामायण तो भक्ति-प्रवाहका अलौकिक रूप बन गया। उन्होने अनेक पदोकी रचना कर अपनी प्रेममय रामभक्तिको उजागर किया है। रामके प्रति उनकी भक्तिका प्रवाह ऐसा है कि मन उस प्रेमसागरमे निमग्न हो जाता है। उनके कुछ पद यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं—

देव—

तू दयालु, दीन हौ तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी तू पाप-पुज-हारी॥
नाथ तू अनाथको अनाथ कौन मोसो।
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो॥
ब्रह्म तू, हौ जीव, तू है ठाकुर, हौ चेरो।
तात-मात गुरु-सखा तू सब विधि हितु मेरो॥
तोहिं मोहिं नाते अनेक मानियै जो भावै।
ज्यो त्यो तुलसी कृपालु! चरन-सरन पावै॥

(विनय-पत्रिका ७९)

इस पदम रामके साथ जीवके कई नाते बताये गये हैं। कितने भक्तिभावसे वे श्रीरामसे कहते हैं कि हे राम! आपके अतिरिक्त मैं अन्य किसीके आगे हाथ फैलानेवाला नहीं—

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतित-पावन जग केहि अति दीन पियारे॥
कौने देव बराइ बिरद-हित, हठि हठि अधम उधारे।
खग, मृग, व्याध पषान, विटप जड़ जवन कवन सुर तारे॥
देव दनुज मुनि नाग मनुज सब, माया-बिबस बिचारे।
तिनके हाथ दासतुलसी प्रभु, कहा अपनपौ हारे॥

(विनय-पत्रिका १०१)

रामसे अधिक दयालु और कौन हो सकता है, इस भावको महात्मा तुलसीदासजीने कितने सुन्दर ढगसे दर्शाया है—

ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर राम सरिस कोउ नाहीं॥
जो गति जोग बिराग जतन करि नहि पावत मुनि ग्यानी।
सो गति देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी॥
जो सपति दस सीस अरप करि रावन सिव पहँ लीन्हीं।
सो सपदा बिभीषन कहँ अति सकुच-सहित हरि दीन्हीं॥
तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जा चाहसि मन मेरो।
तौ भजु राम, काम सब पूरन करैं कृपानिधि तेरो॥

(विनय-पत्रिका पद १६२)

जिन्ह सीतारामसे स्नेह नहीं, वे लोग तो त्यागने योग्य ही हैं। इसी आशयका मीराबाईको एक पत्रके उत्तरमे पद लिखकर तुलसीदासजीने बताया—

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥
तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषन बधु, भरत महतारी।
बलि गुरु तज्यो कत ब्रज-बनितन्हि, भये मुद-मगलकारी॥
नाते नेह रामके मनियत सुहृद सुसब्य जहाँ लौं।
अजन कहा आँखि जेहि फूटै, बहुतक कहौ कहाँ लौं॥
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रानते प्यारो।
जासो होय सनेह राम-पद, एतो मतो हमारो॥

(विनय-पत्रिका पद १७४)

सब कुछ अपने आराध्यपर छोड गोस्वामी तुलसीदासजीने भक्तिदानकी याचना की है—

रघुबर तुमको मेरी लाज।
सदा सदा मै सरन तिहारी तुमहि गरीबनिवाज॥
पतित उधारन बिरद तुम्हारो, स्त्रवनन सुनी अवाज।
हौ तो पतित पुरातन कहिये पार उतारो जहाज॥
अघ-खडन दुख-भजन जनके यही तिहारो काज।
तुलसिदासपर किरपा कीजै, भगति-दान देहु आज॥

(भजन-सग्रह पद १०)

मनको सभी प्रकारसे राम-चरणोंमें लगा देने और रामकी भक्तिमे लीन हो जानेका सदेश देते हुए वे कहते हैं—

भज मन रामचरन सुखदाई।
जिहि चरननसे निकसी सुरसरि सकर जटा समाई।
जटासकरी नाम परयो है, त्रिभुवन तारन आई॥
जिन चरननकी चरनपादुका भरत रह्यो लव लाई।
सोइ चरन केवट धोइ लीने तब हरि नाव चलाई॥
सोइ चरन सतन जन सेवत सदा रहत सुखदाई।
सोइ चरन गौतम ऋषि-नारी परसि परमपद पाई॥
दडकबन प्रभु पावन कीन्हो ऋषियन त्रास मिटाई।
सोई प्रभु त्रिलोकके स्वामी कनक मृगा सँग धाई॥
कपि सुग्रीव बधु भय-व्याकुल तिन जय छत्र फिराई।
रिपु को अनुज बिभीषन निसिचर परसत लका पाई॥
सिव सनकादिक अरु ब्रह्मादिक सेष सहस मुख गाई।
तुलसिदास मारुत-सुतकी प्रभु निज मुख करत बडाई॥

(भजन-सग्रह पद ५७)

तुलसीके इन पदोमे प्रम-भक्ति-रसकी अजस्र धारा-सी बह रही है। नि सदेह गोस्वामी तुलसीदासजीने जन-जनको राम-भक्तिरसमे डुबोकर महान् उपकार किया। उनके और श्रीरामके अनन्य प्रेमको वे ही समझ सकते है।

महात्मा सूरदास

वैराग्य ससारकी अनित्यता, विनय, प्रबोध और चेतावनीस्वरूप सुन्दर मधुर पदोद्वारा सूरदासजीने लोक-जीवनके अदर प्रेममयी सगीत-लहरी घोल दी है।

जीवन ऐसे ही विषय-वासनामे व्यतीत हो गया इस भावको कितने सुन्दर ढगसे सूरदासजीने दर्शाया है—

सबै दिन गए विषय के हेत।
तीनौ पन ऐसै हीं खोए, केश भए सिर सेत॥
आँखिनि अध स्रवन नहिं सुनियत, थाके चरन समेत।
गगा-जल तजि पियत कूप-जल, हरि-तजि पूजत प्रेत॥
मन-बच-क्रम जौ भजै स्याम कौ चारि पदारथ देत।
ऐसौ प्रभू छाँडि क्यौ भटकै, अजहूँ चेति अचेत॥
राम नाम बिनु क्यौ छूटौगे, चद गहै ज्यौं केत।
सूरदास कछु खरच न लागत, राम नाम मुख लेत॥

(सूर-विनय-पत्रिका पद ९८)

ईश्वरपर पूर्ण विश्वासका कितने मार्मिक ढगसे सूरदासने

दिखाया है—

प्रभु तेरौ वचन भरोसौ साँचौ।
पोषन भरन बिसभर साहब, जो कलपै सो काँचौ॥
जब गजराज ग्राह सौं अटक्यौ, बली बहुत दुख पायौ।
नाम लेत ताही छिन हरि जू, गरुड़हिं छाँड़ि छुड़ायौ॥
दुस्सासन जब गही द्रौपदी, तब तिहि बसन बढायौ।
सूरदास प्रभु भक्तबछल है, चरन सरन हौ आयौ॥

(सूर-विनय-पत्रिका पद ३२)

भक्तको तो भगवान्का ही आसरा होता है। उन्हे छोडकर वह औरोका सहारा क्या माँगे? इस भावको सूरदासजीने बडे सुन्दर रूपमे गाया—

तुम तजि और कौन पै जाउँ।
काकै द्वार जाइ सिर नाऊँ, पर हथ कहाँ बिकाउँ॥
ऐसौ को दाता है समरथ जाके दिऐ अघाउँ।
अन्त काल तुम्हरैं सुमिरन गति, अनत कहूँ नहिं दाउँ॥
रक सुदामा कियौ अजाची, दियौ अभय पद ठाउँ॥
कामधेनु, चितामनि दीन्हौ कल्पबृच्छ-तर छाउँ॥
भव-समुद्र अति देखि भयानक मन मैं अधिक डराउँ।
कीजै कृपा सुमिरि अपनौ प्रन, सूरदास बलि जाउँ॥

(सूर-विनय-पत्रिका पद २३३)

सूरदासजीको भगवद्भजनमे ही सारा सुख दिखायी देता है, इस भावको उन्हाने कैसे प्रकट किया है इस पदमे देखिये—

जो सुख होत गुपालहि गाए।
सो सुख होत न जप-तप-कीन्हे, कोटिक तीरथ न्हाऐं॥
दिऐं लेत नहिं चारि पदारथ चरन-कमल चित लाऐ।
तीन लोक तृन सम करि लेखत नद-नँदन उर आऐ॥
बंसीबट, बृदाबन जमुना तजि बैकुंठ न जावै।
सूरदास हरि कौ सुमिरन करि, बहुरि न भव-जल आवै॥

(सूर विनय-पत्रिका पद १४४)

सब कुछ त्यागकर केवल भगवान्का भजन करनेकी सम्मति कितने सरल शब्दोंमें इस पदमें सूरदासजीने बखानी—

रे मन गोबिंद के है रहियै।
इहिं संसार अपार बिरत है जम की त्रास न सहियै॥
दुख, सुख, कीरति, भाग आपनैं आइ परै सो गहियै।
सूरदास भगवत-भजन करि अत बार कछु लहियै॥

(सूर-विनय-पत्रिका पद ७१)

जो कुछ होता है ईश्वरके करनेसे ही होता है, इसे सूरदासजीने ऐसे गाया—

करी गोपाल की सब होइ।
जो अपना पुरुषारथ मानत, अति झूठौ है सोइ॥
साधन, मत्र, जत्र, उद्यम, बल ये सब डारौ धोइ।
जो कछु लिखि राखी नँदनदन, मेटि सकै नहिं कोइ॥
दुख-सुख लाभ-अलाभ समुझि तुम कतहि मरत हौ रोइ।
सूरदास स्वामी करुनामय स्याम चरन मन पोइ॥

(सूर-विनय-पत्रिका पद २७९)

राधाकृष्णके प्रेमको सूरदासजीने कितने सरल तथा मार्मिक रूपसे दिखाया—

बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज-खोरी॥
काहे कौं हम ब्रज-तन आवतिं, खेलति रहतिं आपनी पौरी।
सुनत रहतिं स्रवननि नँद-ढोटा, करत फिरत माखन-दधि-चोरी॥
तुम्हरौ कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलौ सग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि, बातनि भुरइ राधिका भोरी॥

(सूरसागर, पद १२९१)

मोहनकी मुरलीकी सुन्दर तानके विषयमे वे कहते हैं—

सुनहु हरि मुरली मधुर बजाई।
मोहे सुर-नर-नाग निरतर, ब्रज-बनिता उठि धाईं॥
जमुना नीर-प्रवाह थकित भयौ, पवन रह्यौ मुरझाई।
खग-मृग-मीन अधीन भए सब अपनी गति बिसराई॥
द्रुम-बली अनुराग-पुलक तनु, ससि थक्यौ निसि न घटाई।
सूर स्याम बृदाबन बिहरत, चलहु सखी सुधि पाई॥

(सूरसागर, पद १६०८)

सूरदासजीने अपने पदाम कृष्णकी बाल-छवि गापियोंका सरल प्रेमभाव माता यशादाका वात्सल्यभाव कृष्णकी माखन- चारी राधामाधवका अमित प्रेम कृष्णके जीवनके प्रत्येक उदात्त चरित्र तथा उनकी लीलाआका सजीव चित्रण किया है।

प्रेमदीवानी मीरा

गिरिधरकी दीवानी मीरा तो बाल्यावस्थासे ही कृष्णकी प्रेमाभक्तिमे इतनी लवलीन हो गयी थीं कि उनको रात-दिन कृष्णक अलावा कुछ भाया ही नहीं। उनके गाये मधुर स्वरोंके पदामे भगवत्प्रेम प्रवाहित होता रहता हे। जो सुनने या गानेवालाको भक्ति-भावसे भर देता है। कहते हैं, मीरा नाचती-गाती द्वारकाधीशके विग्रहमे समा गयीं, केवल उनकी चुनरीका छोर ही लोगाको दिखायी दिया जो कि एक अलौकिक घटना थी। कितनी उत्तम गति मीराने पायी, जो उच्च कोटिके ही भक्तोको प्राप्त होती है। उनके रचे प्रत्येक पद हर किसीको प्रभु-भक्ति-रसमे सम्प्रवाहित करनेमें अति सक्षम हैं।

मीराजी अपनी उपलब्धि बताते हुए कहती हैं—

पायो जी म्हे तो राम रतन धन पायो।
बस्तु अमोलक दी म्हारे सतगुरु, किरपा को अपणायो॥
जनम जनमकी पूँजी पाई, जगम सभी खोवायो।
खरचै नहिं कोइ चोर न लेवै, दिन-दिन बढत सवायो॥
सतकी नाव खेवटिया सतगुरु, भवसागर तर आयो।
मीराँके प्रभु गिरधर नागर, हरख-हरख जस गायो॥

(भजन-सग्रह पद ५७४)

मीराने तो श्रीकृष्णको ही मनसे पति मान लिया था। उनका कृष्ण-प्रेम इस पदमे कितने अनूठे ढगस झलक रहा है—

मेंरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई॥
जाके सिर मोर मुगट मेरो पति सोई।
तात मात भ्रात बधु आपनो न कोई॥
छाँड़ि दई कुळकि कानि कहा करिहै कोई।
सतन ढिग बैठि बैठि लोकलाज खोई॥
चुनरीके किये टूक ओढ़ लीन्हीं लोई।
मोती मूँगे उतार बनमाला पोई॥
अँसुवन जळ सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई।
अब तो बेल फैल गई आणँद फल होई॥
× × ×
भगति देखि राजी हुई जगत देखि रोई।
दासी मीरा लाल गिरधर तारो अब मोही॥

(भजन-संग्रह पद ५२१)

इस पदमे मीरा हम अपने मनको प्रभु-चरणोम लगानेका सदुपदेश करती हैं—

मन रे परसि हरिके चरण।
सुभग सीतल कँवल कोमल, त्रिविध, ज्वाला हरण।
जिण चरण प्रह्लाद परसे, इद्र पदवी धरण॥
जिण चरण ध्रुव अटल कीन्हे, राख अपनी सरण।
जिण चरण ब्रह्माड भेट्यो, नखसिखाँ सिरी धरण॥
जिण चरण प्रभु परसि लीने, तरी गोतम-घरण।
जिण चरण काळीनाग नाथ्यो, गोप लीला-करण॥
जिण चरण गोबरधन धारयो, गर्व मघवा हरण।
दासि मीरा लाल गिरधर अगम तारण तरण॥

(भजन-सग्रह पद ५१६)

वृन्दावनके प्रति मीराका अनुराग देखिये—

आली! म्हाँने लागे वृदावन नीको।
घर-घर तुलसी ठाकुर पूजा दरसण गोबिंदजीको॥
निरमल नीर बहत जमनाम भोजन दूध दहीको।
रतन सिघासण आप बिराजै मुगट धर्‌यो तुलसीको॥
कुजन-कुजन फिरत राधिका सबद सुणत मुरलीको।
मीराँके प्रभु गिरधर नागर भजन बिना नर फीको॥

(भजन-सग्रह पद ५५३)

मीराके प्रभु तो उनक हृदयमे रहते हैं—कैसा सुन्दर भाव है—

मेरा पिया मेरे हीय बसत है ना कहुँ आती जाती॥
× × ×
सुरत निरतका दिवलो जोयो मनसा की कर ली बाती।
अगम घाणिको तेल सिचायो बाळ रही दिन-राती॥
जाऊँनी पीहरिये जाऊँनी सासरिये हरिसूँ सैन लगाती।

(भजन-सग्रह पद ५५५)

सत रसखान

आज तो साम्प्रदायिकताने जन-जीवनको झकझोरकर रख दिया है। पर एक समय ऐसा भी रहा जिसमे मुस्लिम कवियाने भी राम-कृष्णके भक्ति-गीत गाये। भक्तके लिये जाति-पाँति देश-कालका कोई नियम नहीं होता। सत रसखान भगवत्प्रेमके इतने दीवाने थे कि विश्वास करना कठिन-सा लगता है कि वे मुसलमान थे। उनके भाव-भरे पदामे कृष्ण-प्रेम प्राप्त करनेकी कैसी मधुर अभिलाषा है—

[१]

मानुष हौं तो वही रसखानि, बसौं ब्रज गोकुल गाँवके ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बसु मेरो, चरौं नित नदकी धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरिको, जो धर्‌यौ कर छत्र पुरन्दर-धारन।

दिखाया है—

प्रभु तेरौ बचन भरोसौ साँचौ।
पोषन भरन बिसभर साहब, जो कलपै सो काँचौ॥
जब गजराज ग्राह सौं अटक्यौ, बली बहुत दुख पायौ।
नाम लेत ताही छिन हरि जू, गरुड़हि छाँड़ि छुड़ायौ॥
दुस्सासन जब गही द्रौपदी, तब तिहि बसन बढ़ायौ।
सूरदास प्रभु भक्तबछल है, चरन सरन हौं आयौ॥

(सूर-विनय-पत्रिका पद ३२)

भक्तको तो भगवान्‌का ही आसरा होता है। उन्हे छोडकर वह औरोका सहारा क्या माँगे ? इस भावको सूरदासजीने बडे सुन्दर रूपमे गाया—

तुम तजि और कौन पै जाउँ।
काकै द्वार जाइ सिर नाऊँ, पर हथ कहाँ बिकाउँ॥
ऐसौ को दाता है समरथ जाके दिऐ अघाउँ।
अन्त काल तुम्हरै सुमिरन गति, अनत कहूँ नहिं दाउँ॥
रक सुदामा कियौ अजाची, दियौ अभय पद ठाउँ॥
कामधेनु, चितामनि दीन्हौ, कल्पबृच्छ-तर छाउँ॥
भव-समुद्र अति देखि भयानक, मन मैं अधिक डराउँ।
कीजै कृपा सुमिरि अपनौ प्रन, सूरदास बलि जाउँ॥

(सूर-विनय-पत्रिका पद २३३)

सूरदासजीको भगवद्भजनमे ही सारा सुख दिखायी देता है, इस भावको उन्होने कैसे प्रकट किया है इस पदमे देखिये—

जो सुख होत गुपालहि गाए।
सो सुख होत न जप-तप-कीन्हे, कोटिक तीरथ न्हाऐं॥
दिऐ लेत नहिं चारि पदारथ, चरन-कमल चित लाए।
तीन लोक तृन सम करि लेखत नद-नँदन उर आऐ॥
बशीबट, बृदाबन, जमुना तजि बैकुठ न जावै।
सूरदास हरि कौ सुमिरन करि बहुरि न भव-जल आवै॥

(सूर-विनय पत्रिका पद १४४)

सब कुछ त्यागकर केवल भगवान्‌का भजन करनेकी सम्मति कितने सरल शब्दोमे इस पदमे सूरदासजीने बखानी—

रे मन, गोबिद के ह्वै रहियै।
इहिं संसार अपार बिरत ह्वै जम की त्रास न सहियै॥
दुख, सुख, कीरति, भाग आपनैं आइ परै सो गहियै।
सूरदास भगवत-भजन करि अत बार कछु लहियै॥

(सूर-विनय-पत्रिका प॰ ७१)

जो कुछ होता है ईश्वरके करनेसे ही होता है, इसे सूरदासजीने ऐसे गाया—

करी गोपाल की सब होइ।
जो अपनौ पुरुषारथ मानत, अति झूठौ है सोइ॥
साधन मत्र, जत्र, उद्यम बल ये सब डारौ धोइ।
जो कछु लिखि राखी नँदनदन, मेटि सकै नहि कोइ॥
दुख-सुख लाभ-अलाभ समुझि तुम कतहिं मरत हौ रोइ।
सूरदास स्वामी करुनामय, स्याम चरन मन पोइ॥

(सूर-विनय-पत्रिका पद २७६)

राधाकृष्णके प्रेमको सूरदासजीने कितने सरल तथा मार्मिक रूपमे दिखाया—

बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति, काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज-खोरी॥
काहे कौं हम ब्रज-तन आवतिं खेलति रहतिं आपनी पौरी।
सुनत रहतिं स्त्रवननि नँद-ढोटा करत फिरत माखन-दधि-चोरी॥
तुम्हरौ कहा चोरि हम लैहैं, खेलन चलौ सग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि बातनि भुरइ राधिका भोरी॥

(सूरसागर, पद १२९१)

मोहनकी मुरलीकी सुन्दर तानके विषयमे वे कहते हैं—

सुनहु हरि मुरली मधुर बजाई।
मोहे सुर-नर-नाग निरतर, ब्रज-बनिता उठि धाईं॥
जमुना नीर-प्रवाह थकित भयौ पवन रह्यौ मुरझाई।
खग-मृग-मीन अधीन भए सब, अपनी गति बिसराई॥
द्रुम-बेली अनुराग-पुलक तनु, ससि थक्यौ निसि न घटाई।
सूर स्याम बृदावन बिहरत, चलहु सखी सुधि पाई॥

(सूरसागर, पद १६०८)

सूरदासजीने अपने पदामें कृष्णकी बाल-छवि गापियाका सरल प्रेमभाव माता यशोदाका वात्सल्यभाव कृष्णकी माखन- चोरी गधामाधवका अमित प्रेम कृष्णके जीवनके प्रत्येक उदात्त चरित्र तथा उनकी लीलाओका सजीव चित्रण किया है।

प्रेमदीवानी मीरा

गिरिधरकी दीवानी मीरा तो बाल्यावस्थासे ही कृष्णकी प्रेमाभक्तिमें इतनी लवलीन हो गयी थीं कि उनको रात-दिन कृष्णके अलावा कुछ भाया ही नहीं। उनके गाये मधुर स्वरोंके पदोंमें भगवत्प्रेम प्रवाहित होता रहता है। जो सुनने या गानेवालोंको भक्ति-भावसे भर देता है। कहते हैं, मीरा नाचती-गाती द्वारकाधीशके विग्रहमें समा गयीं, केवल उनकी चुनरीका छोर ही लोगोंको दिखायी दिया जो कि एक अलौकिक घटना थी। कितनी उत्तम गति मीराने पायी, जो उच्च कोटिके ही भक्तोंको प्राप्त होती है। उनके रचे प्रत्येक पद हर किसीको प्रभु-भक्ति-रसमें सम्प्रवाहित करनेमें अति सक्षम हैं।

मीराजी अपनी उपलब्धि बताते हुए कहती हैं—

पायो जी म्हे तो राम रतन धन पायो।
वस्तु अमोलक दी म्हारे सतगुरु, किरपा को अपणायो॥
जनम जनमकी पूँजी पाई, जगमें सभी खोवायो।
खरचै नहिं कोइ चोर न लेवै, दिन-दिन बढत सवायो॥
सतकी नाव खेवटिया सतगुरु, भवसागर तर आयो।
मीराँके प्रभु गिरधर नागर, हरख-हरख जस गायो॥

(भजन-संग्रह पद ५७४)

मीराने तो श्रीकृष्णको ही मनसे पति मान लिया था। उनका कृष्ण-प्रेम इस पदमें कितने अनूठे ढंगसे झलक रहा है—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई॥
जाके सिर मोर मुगट मेरो पति सोई।
तात मात भ्रात बंधु आपनो न कोई॥
छाँड़ि दई कुळकि कानि कहा करिहै कोई।
संतन ढिग बैठि बैठि लोकलाज खोई॥
चुनरीके किये टूक ओढ लीन्हीं लोई।
मोती मूँगे उतार बनमाला पोई॥
अँसुवन जळ सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई।
अब तो बेल फैल गई आणँद फल होई॥
× × ×
भगति देखि राजी हुई जगत देखि रोई।
दासी मीरा लाल गिरधर तारो अब मोही॥

(भजन-संग्रह पद ५२१)

इस पदमें मीरा हमें अपने मनको प्रभु-चरणोंमें लगानेका सदुपदेश करती हैं—

मन रे परसि हरिके चरण।
सुभग सीतल कँवल कोमल, त्रिविध, ज्वाला हरण।
जिण चरण प्रह्लाद परसे, इंद्र पदवी धरण॥
जिण चरण ध्रुव अटल कीन्हे, राख अपनी सरण।
जिण चरण ब्रह्मांड भेट्यो, नखसिखाँ सिरी धरण॥
जिण चरण प्रभु परसि लीने, तरी गोतम-घरण।
जिण चरण काळीनाग नाथ्यो, गोप लीला-करण॥
जिण चरण गोवरधन धार्यो, गर्व मघवा हरण।
दासि मीरा लाल गिरधर, अगम तारण तरण॥

(भजन-संग्रह पद ५१६)

वृन्दावनके प्रति मीराका अनुराग देखिये—

आली! म्हाँने लागे बृंदावन नीको।
घर-घर तुलसी ठाकुर पूजा दरसण गोविंदजीको॥
निरमल नीर बहत जमनामें भोजन दूध दहीको।
रतन सिंघासण आप बिराजै मुगट धर्यो तुलसीको॥
कुंजन-कुंजन फिरत राधिका सबद सुणत मुरलीको।
मीराँके प्रभु गिरधर नागर भजन बिना नर फीको॥

(भजन-संग्रह पद ५५३)

मीराके प्रभु तो उनके हृदयमें रहते हैं—कैसा सुन्दर भाव है—

मेरा पिया मेरे हीय बसत है ना कहुँ आती जाती॥
× × ×
सुरत निरतका दिवलो जोयो मनसा की कर ली बाती।
अगम घाणिको तेल सिंचायो बाळ रही दिन-राती॥
जाऊँनी पीहरिये जाऊँनी सासरिये हरिसूँ सैन लगाती।

(भजन-संग्रह पद ५५५)

संत रसखान

आज तो साम्प्रदायिकताने जन-जीवनको झकझोरकर रख दिया है। पर एक समय ऐसा भी रहा जिसमें मुस्लिम कवियोंने भी राम-कृष्णके भक्ति-गीत गाये। भक्तके लिये जाति-पाँति, देश-कालका कोई नियम नहीं होता। संत रसखान भगवत्प्रेमके इतने दीवाने थे कि विश्वास करना कठिन-सा लगता है कि वे मुसलमान थे। उनके भाव-भरे पदोंमें कृष्ण-प्रेम प्राप्त करनेकी कैसी मधुर अभिलाषा है—

[१]

मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँवके ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बसु मेरो, चरौं नित नंदकी धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरिको जो धर्यौ कर छत्र पुरन्दर-धारन।

जो खग हौं तो बसेरो करौं, मिलि कालिंदी-कूल-कदम्बकी डारन॥

(भजन-संग्रह पद ७३५)

[२]

या लकुटी अरु कामरियापर, राज तिहूँ पुरको तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवो निधिकौ सुख, नन्दकी गाइ चराइ बिसारौं॥
रसखानि, कबा इन आँखिनसो, ब्रजके बन-बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिक हा कलधौतके धाम, करीलकी कुञ्जन ऊपर वारौं॥

(भजन-सग्रह पद ७३६)

[३]

धूरि-भरे अति सोभित स्यामजु, तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।
खेलत-खात फिरै अँगनाँ, पगपैजनी बाजतीं, पीरी कछोटी॥
वा छबिको रसखानि बिलोकत, बारत कामकलानिधि-कोटी।
कागके भाग कहा कहिए, हरि-हाथसो लै गयो माखन-रोटी॥

(भजन-सग्रह पद ७४२)

[४]

प्रान वही जु रहै रिझि वा पर, रूप वही जिहिं वाहि रिझायौ।
सीस वही जिन वे परसे पद अग वही जिन वा परसायौ॥
दूध वही जु दुहायो वही सा, दही सु सही जु वही ढुरकायौ।
और कहा लौ कहौ रसखान री भाव वही जु वही मन भायौ॥

[५]

सेस, महेस, गनेस, दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गावै।
जाहि अनादि, अनन्त, अखण्ड, अछेद, अभेद सुबेद बतावै॥
नारद-से सुक ब्यास रटैं, पचिहारे, तऊ पुनि पार न पावै।
ताहि अहीरकी छोहरियाँ, छछियाभरि छाछपै नाच नचावै॥

(भजन-सग्रह पद ७३८)

सत कबीर

कबीरको मध्यकालीन कवियोने एक महान् भक्त और सत माना है। तेरहवीं-चौदहवीं सदीम उनका जीवन-काल बनारस (काशी)-मे बीता। वे जुलाहा-परिवारमे उत्पन्न हुए, जुलाहेका परिश्रमी सरल जीवन उन्होने जीया। उन्हाने अपनेमे ऐसे व्यक्तित्वका निर्माण किया जो एक महान् सत, पूर्ण सद्‌गुरु, सरल हृदय और भक्त होनेके साथ-साथ स्पष्टवादी निर्भीक तथा अपने आदर्शोके प्रति हर प्रकारकी आलोचना तथा यातना सहनेको तैयार रहा। उनके रचे भक्ति-पद नीतिके दोहे, सूक्तियाँ एव उलटबाँसियाँ बहुत प्रसिद्ध हैं। ईश-प्रेमसे सराबोर तथा आध्यात्मिकताका पुट लिये उनके कुछ पद यहाँ उद्धृत किये जा रहे हैं—

[१]

घूँघट का पट खोल री तोहे पीव मिलेगे।
घट घट रमता राम रमैया कटुक बचन मत बोल रे॥
रगमहलमे दीप बरत है, आसनसे मत डोल रे॥
कहत कबीर सुनो भाई साधू, अनहद बाजत ढोल रे॥

(भजन-सग्रह पद २२८)

[२]

कुछ लेना न देना मगन रहना।
पाँच तत्त का बना पींजरा जामे बोले मेरी मैना॥
तेरा साँई तेरे अन्दर अब देख सखी तू खोल नैना।
गहरी नदिया नाव पुरानी, खेवटिया से मिले रहना॥
कहे कबीर सुनौ भई साधौ, गुरुके चरन म लिपट रहना।

सत कबीर ससारकी असारता किस रूपमें दर्शा रहे हैं, जरा देखिये—

रहना नहि देस बिराना है।
यह ससार कागदकी पुड़िया, बूँद पड़े घुल जाना है।
यह ससार काँटकी बाड़ी, उलझ पुलझ मरि जाना है॥
यह ससार झाड़ औ झाँखर आग लगे बरि जाना है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सतगुरु नाम ठिकाना है॥

(भजन-सग्रह प" २१७)

भगवान्‌के भजनको ही जीवनम महत्ता दी जानी चाहिये इसे कबीर कितने सुन्दर ढगसे दर्शा रहे हैं—

भजौ रे भैया राम गोबिद हरी।
जप तप साधन नहिं कछु लागत खरचत नहिं गठरी॥
सतत सपत सुखके कारन जासो भूल परी॥
कहत कबीरा राम न जा मुख ता मुख धूल भरी॥

(भजन-सग्रह पद २०९)

सत गुरु नानक

पजाब प्रान्तमे एक महान् सत गुरु नानक हुए। उन्हे बचपनसे ही अध्यात्मवादने आकर्षित किया। सरल हृदय एव दयालु स्वभावके नानकने अपना सम्पूर्ण जीवन लोकहितमे व्यतीत किया। उनकी भक्तिभावना-पूर्ण वाणी 'गुरुग्रन्थसाहिब' मे वर्णित है, जिसे सिख-समुदाय पूजता है। एक पदमे वे कहते हैं—

तू सिमिरन कर ले मेरे मना तेरी बीती उमर हरि नाम बिना।

जैसे तरुवर फल बिन हीना तैसे प्राणी हरि नाम बिना।
काम क्रोध मद लोभ बिहाई, माया त्यागो अब सत जना।

इस ससारमे कोई किसीका सगी-साथी नहीं, कोई किसीका सगा-सम्बन्धी नहीं सब मतलबके गरजी हैं, अपना तो केवल राम ही है उसीके गीत गाओ, उसीसे प्रेम करो। इस बातको वे यो दर्शा रहे हैं—

जगतमे झूठी देखी प्रीत।
अपने ही सुखसो सब लागे, क्या दारा क्या मीत॥
मेरो मेरो सभी कहत है, हित सों बाध्यौ चीत।
अतकाल सगी नहिं कोऊ, यह अचरजकी रीत॥
मन मूरख अजहूँ नहि समुझत, सिख दै हार्यो नीत।
नानक भव-जल-पार परै जो गावै प्रभुके गीत॥

(भजन-सग्रह पद ४४०)

सच्चा साथी तो एक हरि ही है, इसी बातको बताते हुए वे कहते हैं—

हरि बिनु तेरो को न सहाई।
काकी मात-पिता सुत बनिता, को काहू को भाई॥
धनु धरनी अरु सपति सगरी जो मानिओ अपनाई।
तन छूटै कुछ सग न चालै, कहा ताहि लपटाई॥
दीन दयाल सदा दु ख-भजन, ता सिउ रुचि न बढाई।
नानक कहत जगत सभ मिथिआ, ज्यो सुपना रैनाई॥

पलटू साहब

पलटू साहबकी जीवन-सम्बन्धी जानकारी कम मिलती है। उन्होने अपनी सम्पूर्ण वृत्ति बाहरसे अदरकी ओर मोड ली थी। आपकी सुरति ससार तथा इन्द्रियोकी ओरसे पलटकर अन्तरमे आध्यात्मिक मण्डलाकी वासी हो गयी थी। इसी कारण उनके गुरुने उन्हे 'पलटू' उपनाम दिया। उनके रचित आध्यात्मिक एव प्रेम-भक्ति-रसके कुछ पद निम्नाङ्कित हैं—

सात पुरी हम देखियाँ देखे चारो धाम।
देखे चारो धाम सबन मे पत्थर पानी।
कर्मन के बस पड़े मुक्ति की राह भुलानी।
चलत-चलत पग थके, छीन भई अपनी काया।
काम-क्रोध नहि मिटा बैठ कर बहुत उन्हाया।
ऊपर डाला धोय मैल दिल बीच समाना।
पत्थर मे गया भूला सत का मरम न जाना।
'पलटू' नाहक पच मुये सतन मे है नाम।
सात पुरी हम देखियाँ देखे चारो धाम॥

इसी प्रकार—

बैरागिन भूली आपम, जल मे खोजे राम।
जल मे खोजे राम, जाय कर तीरथ छानी।
भर मे चारा खूट नाहिं सुधि अपनी आनी।
फूल माहि जो बास काठ मे अगिनि छिपानी।
खोद बिन नाहि मिलै आहि धरती मे पानी।
दूध माहि घृत रहे छिपी मेहन्दी म लाली।
ऐसे पूरन ब्रह्म कहूँ इक तिल नहीं खाली।
'पलटू' सतसग बीच म कर ले अपना काम।
बैरागिन भूली आपम, जल मे खोजे राम॥

प्रभुको केवल प्रेमाभक्ति ही प्यारी है, इसे पलटू साहब यो बता रहे हैं—

साहब के दरबार मे, केवल भक्ति पियार।
केवल भक्ति पियार साहब भक्ति मे राजी।
तजा सकल पकवान, लिया दासी सुत भाजी।
जप तप नेम अचार करे बहुतेरा कोई।
खाये सिवरी के बेर, मरा सब ऋषि मुनि रोई।
राजा युधिष्ठिर यज्ञ बटोरा, जोरा सकल समाजा।
मरदा सबका मान सपुच बिन घट न बाजा।
'पलटू' ऊँची जात का मत कोई करे अहकार।
साहब के दरबार मे केवल भक्ति पियार॥

सत दादू

राजस्थानके दादू पहुँचे हुए सतामेसे एक हैं। बाहरी आडम्बरसे रहित भक्तिकी ओर उन्होने लोगोका ध्यान आकृष्ट किया—

दादू दुनिया दीवानी पूजे पाहन पानी।
गढ मूरत मदिर मे थापी, निव निव करत सलामी।
चन्दन फूल अछत सिव ऊपर बकरा भेट भवानी।
छप्पन भोग लगे ठाकुर को पावत चेत न प्रानी।
धाय-धाय तीरथ को ध्यावे, साध सग नहिं मानी।
ताते पड़े करम बस फन्दे भरमे चारो खानी।
बिन सत्सग सार नहिं पावै फिर-फिर भरम भुलानी।

उनके विचारसे—

दादू देखा मै प्यारा, अगम जो पथ निहारा।
अष्ट कँवल दल सुरत सबद म, रूप रग से न्यारा।
पिण्ड ब्रह्माण्ड और वेद कितेवे पाँच तत्त के पारा।
सत्त लोक जहँ पुरु बिदेही वह साहिब करतारा।
आदि जोत और काल निरजन इनका कहाँ न पसारा।

राम रहीम रब्ब नहीं आतम, मोहम्मद नहीं औतारा।
सब सतन के चरन सीस धर चीन्हा सार असारा।

सत श्रद्धेय भाईजी

श्रद्धेय श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार 'भाईजी' की रचना 'पद-रत्नाकर' उनके राधामाधव प्रेममय, भक्तिमय हृदयसे अनुस्यूत है, उसम उनकी अन्तरात्माकी झलक दिखायी देती है। प्रभुपर अपने अनुपम विश्वासको उन्हाने इस पदमे कितनी सुन्दरतासे दर्शाया है--

अब हरि[1] एक भरोसो तेरौ।
नहिं कछु साधन ग्यान-भगति कौ, नहिं बिराग उर हेरौ॥
अघ ढोवत अघात नहिं कबहूँ, मन बिषयन कौ चेरौ।
इद्रिय सकल भोगरत सतत, बस न चलत कछु मेरौ॥
काम-क्रोध-मद-लोभ-सरिस अति प्रबल रिपुन ते घेरौ।
परबस पर्‌यौ, न गति निकसन की जदपि कलेस घनेरौ॥
परखे सकल बधु, नहिं कोऊ बिपद-काल कौ नेरौ।
दीनदयाल दया करि राखउ, भव-जल बूड़त बेरौ॥
(पद १२८)

भगवान्‌से वे क्या अपेक्षा करते हैं, इसकी बानगी देखते ही बनती है—

चहौ बस एक यही श्रीराम।
अबिरल अमल अचल अनपाइनि प्रेम-भगति निष्काम॥
चहौं न सुत-परिवार, बधु-धन, धरनी, जुवति ललाम।
सुख-वैभव उपभोग जगतके चहौ न सुचि सुर-धाम॥
हरि-गुन सुनत-सुनावत कबहूँ, मन न होइ उपराम।
जीवन-सहचर साधु-सग सुभ, हो सतत अभिराम॥
नीरद-नील-नवीन-बदन अति सोभामय सुखधाम।
निरखत रहौ बिस्वमय निसि-दिन, छिन न लहौ बिस्राम॥
(पद ११००)

ऊपर कुछ सताकी प्रेम-भक्तिके कतिपय पदाको दिया गया हे वास्तवमे उनके और प्रभुके अन्तरङ्ग प्रेमको प्रभु ही जान सकते हैं। हिन्दी-साहित्यम और भी अनेक प्रभु-प्रेमी भक्त हुए हैं। प्रभु-भक्तिकी गङ्गा प्रवाहित करनेवालामे स्वामी हरिदास गदाधर भट्ट, नागरीदास, नारायण स्वामी, ललितकिसोरी, रैदास मलूकदास, दरियासाहब, सहजोबाई, मजुकेशी, बनीठनीजी, युगलप्रियाजी, रानी रूपकुँवरिजी, रहीम, यारीसाहब, खुसरो बुल्लेशाह आदिको भुलाया नहीं जा सकता। प्रेम-भक्ति-रसकी अजस्र धारा, जो इन कवियाने अपने पदाम बहायी, वह प्रेममार्गके पथको प्रशस्त कर देती हे।

सूफी संतोकी प्रेमोपासना

(प० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

मुमकिन न बुबद कि यार आयद बकिनार,
खुदरा अज्र ख़याले ख़ामो अन्देशा बरार,
हर चीज़ कि गैर अस्त दर सीनए तुस्त
थिसयार हिजायेस्त मियाने तो व यार!

सूफी सत सरमदने सूफी प्रेमोपासनाका रहस्य बता दिया है। वह कहता है इन शब्दामे--

'जबतक तेरे दिलमे बाहरी चिन्ताएँ भरी हैं, झूठी भावनाएँ भरी हैं तबतक यह कैसे मुमकिन है कि तेरा यार तेरा प्रेमास्पद—ब्रह्म तुझे मिल जाय? जबतक तेरे दिलम ये दूसरी चीजे भरी हैं तबतक यारसे कैसे मिल सकगा? तेरे और उसके बीचम यही तो पर्दा है।'

मतलब?

अपने प्रेमास्पदको छोडकर और किसीका चिन्तन न करना, दिलमे उसके सिवा और किसीको न ठहरने देना, किसी ख्वाहिश किसी इच्छा, किसी कामनाको न पनपने देना—बस, इतनी-सी ही तो प्रेमोपासना है इन प्रेममार्गी साधकोकी। वे कहते हैं—

जिसे इश्क़का तीर कारी लगे उसे ज़िदगी जगमे भारी लगे।
न छोड़े मुहब्बत दमे मर्ग तक, जिसे यार जानीसू यारी लगे॥
न होवे उसे जगमे हर्गिज़ क़रार, जिसे इश्क़की बेक़रारी लगे।
हर इक वक्त मुझ आशिक़े ज़ार कू पियारे, तेरी बात प्यारी लगे॥
'वली कू कहे तू अगर एक वचन रक़ीबाके दिलमें कटारी लगे॥

× × ×

सूफीमतकी तसव्वुफकी जान है—प्रेम। एक सूफीने बडे अच्छे शब्दाम उसका वर्णन किया है—

'अगर इश्क़ न होता, इन्तज़ाम-आलमें सूरत न पकड़ता।

इश्क़के बगैर जिंदगी बवाल है। इश्क़को दिल दे देना कमाल है। इश्क़ बनाता है। इश्क़ जलाता है। दुनियामे जो कुछ है, इश्क़का जलवा है। आग इश्क़की गरमी है। हवा इश्क़की बेचैनी है। पानी इश्क़की रफ्तार है। खाक़ इश्क़का क़याम है। मौत इश्क़की बेहोशी है। जिंदगी इश्क़की होशियारी है। रात इश्क़की नींद है। दिन इश्क़का जागना है। नेकी इश्क़की कुरबत है। गुनाह इश्क़से दूरी है। बिहिश्त इश्क़का शौक़ है। दोजख़ इश्क़का जौक़ है।'

सूफी-मतमे ऐसा माना जाता है कि सारी सृष्टिमे उस अल्लाहकी ही झाँकी दिखायी पड रही है जिधर नजर डालते हैं, अल्लाह-ही-अल्लाह है। उसे पानेका एक ही रास्ता है और वह है—प्रेम इश्क, मुहब्बत।

× × ×

सूफी-साधनाकी चार हालतें मानी गयी हैं—

शरीअत, तरीकत, मारिफ़त, हकीकत।

शरीअत

किसी भी उपासनापद्धतिमे आचार और विचार मुख्य होते हैं। सूफीलोग विचारपर—हृदयकी शुद्धिपर सबसे ज्यादा जोर देते हैं फिर भी वे इसलामके इन चार आचाराको छोडते नहीं। ये आचार हैं—(१) सलात (प्रार्थना, नमाज) (२) जकात (दान), (३) सौम (उपवास, रोजा) और (४) हज (तीर्थयात्रा)।

शरीयतम ये चारो आचार निभाने पडते हैं।

कुरान शरीफका पाठ—तिलवत करना होता है। रोज पाँच दफा 'नमाज' पढनी होती है। चुनी हुई कुछ आयताका पाठ करना पडता है। इसे कहते हैं—'अवराद'।

अल्लाहका 'जिक्र' उसका स्मरण करना पडता है। जिक्रके कई भेद हैं। जैसे, 'जिक्रेजली' म 'अल्लाह' शब्दका जोरसे उच्चारण किया जाता है। 'जिक्रे-ख़फी'म मन्द स्वरसे मुँह बद करके नाम लिया जाता है। 'मुराकवा'म साधक अल्लाहो हाजिरी, अल्ला हो नाजिरी अल्लाहो सहीदी अल्लाहो माई आदिका उच्चारण करके अल्लाहका ध्यान करता है। 'मुजाहिदा'मे साधक चित्तकी वृत्तियाको रोकता है। उसे आँख रहते हुए न देखनेका कान रहते हुए न सुननेका, मुँह रहते हुए न बोलनेका जीभ रहते हुए स्वाद न लेनेका अभ्यास करना पडता है।

अल्लाहकी फिक्र भी करनी होती है? उसके गुणाका चिन्तन करना पडता है। अल्लाहका समा—उसके नामका कीर्तन भी करना होता है।

'हू अल्लाह हू'—सूफियाका परम प्यारा मन्त्र है।

तरीकत

शरीअतके नियमोका पालन करनेसे साधक गुरुदीक्षा पानेका अधिकारी बनता है। उसे गुरुकी आज्ञाका पालन करनेकी कसम लेनी पडती है। मुर्शिद-गुरु मुरीद—साधकको रास्ता बताकर उसमे अल्लाहके इश्ककी चिनगारी सुलगा देता है।

बाहरी क्रियाआसे ऊपर उठकर हृदयकी शुद्धताद्वारा अल्लाहका ध्यान करना तरीकत है। तरीकतमे साधकको अहभाव छोडनेका और इन्द्रियोपर अधिकार करनेका अभ्यास करना पडता है। इसके लिये उसे भूख-प्यास सहनी पडती है। मौन रहना पडता है और एकान्तमे रहकर साधना करनी पडती है।

मारिफत

मारिफत कहते हैं परम ज्ञानको। पर वह कोरा-कोरा ज्ञान नहीं होता। उसम अनुभूति भरी रहती है। इसीका नाम है—इश्क, मुहब्बत प्रेम। इसीको 'वस्ल' कहते हैं, इसीको 'वज्द'। साधक उसमे डूबकर दुनियाको ही नहीं, अपने-आपको भी भूल जाता है।

सात मुकाम

परतु मारिफतकी चढाई आसान नहीं होती। उसके लिये इन सात मुकामासे गुजरना होता है—

तौबा (प्रायश्चित्त अनुताप) जहद (अपनी इच्छासे दारिद्र्यको अपनाना), सब्र (सतोष), शुक्र (अल्लाहके प्रति कृतज्ञता), रिजाअ (दमन), तवक्कुल (अल्लाहकी दयापर उसके रहमपर पूरा भरोसा) और रजा (अल्लाहकी मर्जीको अपनी मर्जी बना लेना)।

तौबा—कहनेका तो छोटा-सा एक शब्द है, पर है वह गुरु-गम्भीर। अबू बकर केतानी कहता है कि उसके भीतर ये छ भाव भरे पडे हैं—

(१) पहले किये गये पापोके लिये खेद।

(२) फिरसे पापकी तरफ झुकाव न हो, इसकी

सावधानी।

(३) अल्लाहके लिये किये जानेवाले कामोकी कमियाँ दूर करना।

(४) दूसरोके प्रति जो गलत व्यवहार हो गया हो, उसका बदला चुका देना।

(५) गलत भोगासे बढा हुआ शरीरका खून-मास सुखा देना, उसे कम कर देना।

(६) जिस मनने पापका मजा चखा है, उसे साधनाकी कड़वाहटका भी मजा चखाना।

तौबासे पीडित मानव ही भोगोसे विरत हो सकता है। यह अनुताप यदि भयजनित हो तो भी काम करता है, पर जब वह प्रेमजनित होता है तो वह ज्यादा अच्छा ठहरता है।

जहद—स्वेच्छा—दारिद्र्यसे साधना शीघ्र फलवती होती है। गरीबी अपनाना, गरीबोसे तादात्म्य स्थापित करना और अपनी जरूरताको कम-से-कमपर ले आना जहद है।

सब्र—सतोष। जो मिल जाय, जैसा मिल जाय, जब मिल जाय—चाहे जिस हालतमे रहना पडे प्रसन्नचित्तसे स्वीकार करना 'सब्र' है।

शुक्र—अल्लाहके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते रहना 'शुक्र' है।

पल-पलके उपकार रावरे जानि बूझि सुनि नीके।
भिद्यो न कुलिसहुँ ते कठोर चित कबहुँ प्रेम सिय-पीके॥

(विनय-पत्रिका १७१)

रिज़ाअ—इन्द्रियोंका दमन। बेलगामकी इन्द्रियाँ मनुष्यको हरदम गड्ढेमे ढकेलनेको तैयार रहती हैं। साधकको उनसे कदम-कदमपर सावधान रहनेकी तो जरूरत है ही हर वक्त उनपर नियन्त्रण रखना भी बहुत जरूरी है।

तवक्कुल—मालिककी कृपापर पूरा भरोसा।

रज़ा—सुख-दु ख हर्ष-शोकमे समानता रखना। मालिककी मर्जीमे खुश रहना। भूलकर भी कोई शिकवा-शिकायत न करना।

कहते हैं कि एक फकीर कई दिनासे भूखा था दिलमें इच्छा पैदा हुई कि इस समय कोइ हलुवा लाता। थोडी ही देरमें एक आदमी हलुवासे भरा थाल लेकर ख़िदमतमें हाजिर हुआ।

फकीरने पूछा—'क्या लाये ?'

बोला—'आपकी मिन्नत मानी थी, इसलिये लाया हूँ।'

फकीरने सिर हिलाकर उसे वापस कर दिया। कहा—'वापस ले जाओ। हमारे कामका नहीं है।'

एक पहर बाद वही आदमी फिर हलुवा भरा थाल लेकर फकीरकी खिदमतमे हाजिर हुआ।

फकीरने उसे लेकर बडे प्रेमसे खाया।

चलने लगा, तो वह शख्स पूछ ही तो बैठा—'हुजूर, हलुवा तो वही था। पहले आपने इसे लौटा दिया था। बादमे इसको कबूल कर लिया। आखिर ऐसा क्यो ?'

फकीर हँसा। बोला—'बेटे। उस वक्त मेरे मनम यह ख्वाहिश पैदा हुई थी कि कहींसे हलुवा आये तो खाऊँ। नफ्सकी ख्वाहिशसे कोई चीज मिले तो उसे हर्गिज नहीं लेना चाहिये, वर्ना गुनहगार बनना पडता है। बादमे जब तू यह थाल दुबारा लाया तो मेरी पहलेकी ख्वाहिश मर चुकी थी। मैं समझ गया कि मालिकने इसे भेजा है। इसको लौटाना गुनाह होता, इसलिये मैंने मजे ले-लेकर उसे खाया।

यह है तवक्कुल और यह है रज़ा।

× × ×

इन सात मुकामोको पार करके मुरीद मारिफ़त पानेका अधिकारी बनता है।

इसके आगेकी मजिल है।

हकीकत

हक़ीकत—साधन नहीं साधककी परम अनुभूति है। यहाँ पहुँचकर साधक ससारके दु ख-सुखसे मुक्त हो जाता है। अल्लाहके सिवा उसे और कुछ नहीं सुहाता।

किसकी शादी किसका गम,
हू अल्लाहू दम पर दम।

× × ×

सूफी साधनामे प्रेमकी ही बलिहारी है। रात-दिन प्रेमास्पदका चिन्तन करना उसीकी लौ लगाये रहना साधकका काम रहता है। प्रेमी जब प्रेमरसमे डूब जाता है तो सारी दुनिया अलग खडी रहती है। सारे भेदभाव डूब जाते हैं। न किसीकी चिन्ता न किसीकी फिक्र, न किसीका डर न किसीसे कोई वास्ता। उसे तो घट-घटमें

उसी प्यारकी उसी प्रियतमकी झाँकी दीख पडती है।

आशिक़ाको इम्तियाज़े दैरो क़ाबा कुछ नहीं।
उसका नक़्शे पा जहाँ देखा वहीं सर रख दिया॥

× × ×

सूफी उपासनामे प्रेम ही मूल मन्त्र है। उस प्रेमकी प्राप्तिके लिय हृदयको शुद्ध बनाना पडता है। तौबासे शुरुआत हाती है—

'अँसुवन जळ सींचि सींचि प्रम बेलि बोई।'
(मीराबाई)

यह प्रायश्चित्त, यह तौबा दिलसे होती है, दिखावटी नहीं। यह शेख साहबका वह तौबा नहीं, जिसके लिये कहा है—

शबको मय ख़ूब सी पी, सुबह को तौबा कर ली,
रिन्दके रिन्द रहे हाथस जन्नत न गयी।

दिखावटी तौबा इस रास्तेमे काम नहीं करती। यहाँ तो सच्ची तौबासे प्यारेके मिलनेका दरवाजा खुलता है।

हृदयशुद्धिके बाद ही तो—

दिलके आईनेमे है तस्वीरे यार
जब ज़रा गर्दन झुकायी देख ली।

प्रमका यह मार्ग भारतीय उपासनाम भी वैसा ही है जैसा सूफी-प्रेमोपासनाम। इसके लिये सर्वस्व त्याग करके आगे बढना होता है—

प्रेम न बाड़ी नीपजै प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै सीस देय लै जाय॥

सूफी भी कहता है—

तरीक़े फनामे क़दम रखके पूछो,
मुहब्बतकी रस्मे मुहब्बतकी राहे।

[प्रेषक—श्रीप्रबलकुमारजी सैनी]

महाराष्ट्रके वारकरी संतोंका अहैतुक भगवत्प्रेम

(डॉ० श्रीकेशवरघुनाथजी कान्हेरे एम्०ए० पी-एच्०डी०)

महाराष्ट्रम प्रमुखरूपसे तीन देवता प्रसिद्ध हैं— 'महाकाली', 'महालक्ष्मी' और देवाधिदेव महादेवके अवतार 'खण्डोबा' अर्थात् 'मल्हारी मार्तण्ड'। इन तीन देवताओमेसे कोई-न-कोइ दवता मराठी-जनमानसके कुलदेवता हैं, परतु महाराष्ट्रके सताका विशेषत वारकरी सतोके परम दैवत पण्ढरपुरके भगवान् 'विट्ठल' हैं। भगवान् विट्ठल तो झोपडियासे लेकर राजप्रासादके गर्भगृहोम, रकाके हृदयसे लेकर रावाके हृदयस्थलम समाये हुए हैं, ये भगवान् विष्णु अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णके ही एक अलौकिक विग्रह हैं।

वारकरी-सम्प्रदायके आद्य आचार्य सतश्रेष्ठ ज्ञानेश्वर महाराजसे लेकर सतश्रेष्ठ तुकाराम और उनक शिष्य सत निळोबारायतक प्राय सभीके परम दैवत विट्ठल हैं। इन सताने ससारमे रहकर कवल भगवान् विट्ठलसे ही नि स्वार्थभावसे उत्कट प्रम किया और उनकी प्रेमप्राप्तिके लिये अपना सम्पूण जीवन समर्पण कर दिया। गोरा कुम्हार, जनाबाई, सेना नाई कान्होपात्रा तुकाराम आदि सताके चरित्र आज भी विट्ठलप्रेमका साक्ष्य दे रहे हैं। इन सतोकी भगवत्प्रेमसाधना विलक्षण थी, जो आज भी तथा अनन्त कालतक सासारिक जनमानसके अन्त करणमे प्रभुके प्रेम, प्रीति, प्रगाढता, एकाग्रता और अनन्यताका उदय करनेमे सक्षम है। ये प्रभुप्रेमका साक्षात् अनुभव कर चुके थे।

वारकरी-सम्प्रदायके सतोद्वारा निर्मित साहित्य, भजन, पद, गीत और अभग आदि रचनाओमे भगवान् विट्ठलका ही प्रेम, उनकी महत्ता और प्रत्यक्षताका प्रकटीकरण अभिव्यक्त हुआ है। साथ ही इन सतोने सम्पूर्ण समाज तथा राष्ट्रको प्रखर राष्ट्रवाद, ध्येयवाद एव स्वकर्तव्योकी शिक्षा स्पष्ट शब्दामे दी है और स्वय त्यागमय जीवन व्यतीत करत हुए प्रपञ्च और परमार्थकी शिक्षाको अत्यन्त सरल शब्दोमे प्रस्तुत कर समाजका उद्बोधन भी किया है। इन सताने भक्तिमार्गकी शिक्षाके साथ-साथ राष्ट्ररक्षाहेतु सर्वप्रथम सामर्थ्यसम्पन्न 'मन' का निर्माण किया। उसीका परिणाम है कि सामान्य जनमानस सुसस्कारित तथा आत्मविकसित हुआ और घर-घरमे सौभाग्यके मङ्गलदीप प्रज्वलित रहे। अस्तु।

(१) सत श्रीज्ञानेश्वरजी—वारकरी सताका विट्ठलप्रेम लक्षणीय एव अनुकरणीय है। सतश्रेष्ठ ज्ञानेश्वर महाराजकी रचनाओमे प्रेमकी अभिव्यक्ति परिलक्षित होती है। वे तो विट्ठलको 'सब सुखाका आगार' कहते हैं—*'रूप पाहता लोचनी सुख जाले हो साजणी। तो हा विट्ठल बरवा तो हा माधव बरवा'*।

एक अभङ्गमे वे कहते हैं—

'जीवाचि या जीवा प्रेमभावाचि या भावा।' 'तुज वाचुनि केशवा अनु नावडे।' 'मन हे थाळे मन हे थाळे। पूर्ण विट्ठलचि झाले।' 'अतर बाह्य रगुनि गेले। विट्ठलचि झाले। विट्ठल जळी स्थळी भरला। ठाव कोठे नाही उरला। सर्व सुखाचे आगरू। बाप रखुमाई देई वरू।'

सत ज्ञानेश्वर महाराजका सम्पूर्ण साहित्य भगवत्प्रेमसे परिपूर्ण है। आपने अपनी आयुके सोलहवे वर्षमे ही भगवद्गीतापर 'ज्ञानेश्वरी'-जेसा महान् एव अद्वितीय ग्रन्थका मराठीमे निर्माण कर मराठीके आद्य कवि होनेका सम्मान पाया है और आयुके इक्कीसवे वर्षमे जीवितसमाधि लेकर अपना अवतारकार्य पूर्ण किया।

इन्हींके ज्येष्ठ भ्राता एव अध्यात्मगुरु सत निवृत्तिदास कहते हैं—

हरि विष्ण दैवत नाहीं पै अनुचित्ती। हृदयी कमळी केशीराज।

ज्ञानेश्वर महाराजके लघुभ्राता 'सोपानदेव' लिखते हैं—

हरि राम गोविद नित्य हाचि छद।' 'हृदयी आनद प्रेम बोधु। नित्य विट्ठलाचे चरण हृदयी।'

इनकी छोटी बहन मुक्ताबाई कहती हैं—

हेतु मातु आम्हा अवघाचि परमात्मा।

इन भाई-बहनके विट्ठलप्रेमसे पुलकित होकर वारकरी-सम्प्रदायकी भक्तमण्डली आज भी जयघोप करती है—

'निवृत्ति ज्ञानदेव सोपान मुक्ताबाई—नामदेव एकनाथ तुकाराम विट्ठल विट्ठल-विट्ठल'।

सत ज्ञानेश्वर महाराजके समयमें महाराष्ट्रमे विशेपत पण्ढरपुरमे अनेक सत हुए। वे भगवान् विट्ठलके अनन्य भक्त थे। उन्हींके प्रेमके लिये वे जीवित रहे। उनका दर्शन भी अलौकिक है।

(२) सत श्रीनागदेवजी—सत श्रीनामदेवजीने तो बाल्यकालमे साक्षात् विट्ठलभगवान्को दूध पिलाया था। भगवान् स्वय नामदेवसे वार्तालाप करते थे। इतना ही नहीं, नामदेवका प्रेम देखकर भगवान् स्वय उनके कीर्तनमे नृत्य करते-करते इतने तल्लीन हो जाते कि अपनेको ही भूल जाते थे। उसका आँखोंदेखा वर्णन सत जनाबाईजी इस प्रकार करती हैं—

नामदेव कीर्तन करी पुढेवा नाचे पाण्डुरग।
नाचता नाचता प्रभुचा गळला पीताम्बर॥

सत श्रीनामदेवजीने भगवत्प्रेमकी ध्वजा पजाबतक पहुँचायी। 'गुरुग्रन्थसाहब' म इसका प्रमाण है। विट्ठल ही उनके तीर्थ, क्षेत्र ईश्वर, माता-पिता बन्धु, गोत्र और गुरु आदि सर्वस्व थे। सत श्रीनामदेवजी महाराजने अपना देह भी भगवान् विट्ठलके मन्दिरकी पहली सीढीपर ही समर्पण कर दिया। आज भी पण्ढरपुरमे विट्ठल-मन्दिरकी सीढियापर बना उनका पुण्य-स्मारक उनकी उत्कट भक्ति—प्रेमका साक्ष्य दे रहा है।

(३) सत जनाबाईजी—सत नामदेवकी दासी सत 'जनाबाई' परम विट्ठलभक्त थीं। उनके प्रेममे तो प्रभु पागल थे। वे उसके साथ कपडे धोते, गेहूँ पीसते ओर झाड़ू लगाते। इसका साक्ष्य स्वय जनाबाईने अपनी अभङ्ग-रचनाआम दिया है। उन्हाने भगवान्को गोमाता और स्वयको बछडा माना है। वे लिखती हैं—

'तो हा विटेवरी देव सर्व सुखाचा केशव। विट्ठल देवाचा विश्राम। सख्या पढरीच्या राया। घडो दण्डवत पाया। ऐसे करी अखण्डित शुद्ध प्रेम शुद्ध चित्त॥'

(४) सत एकनारा—'एकनारा' नामक विट्ठलभक्त कहते हैं—

देवा माझे मीपण ठेवी आपुले चरणी।' तो 'गोदा' नामक एक भक्तने सुन्दर उदाहरण देते हुए कहा—जैसा एक रणशूर अपने जीवनकी परवा न करते हुए युद्धके मैदानमें कूद पडता है, उसी प्रकार ईश्वरके प्रेमक्षेत्रमें विश्वाससे कूदना चाहिये। वे लिखते हैं—

'रणा मध्ये कैसा भिडतो रणशूर, होवोनि उदार जीवावरी॥ तैसा पाण्डुरगी धरा हो विश्वास॥'

सतोका ईश्वरप्रेम अक्षर-अक्षरम प्रकट होता हे।

(५) कान्होपात्रा—जन्मसे वेश्या-कन्या होकर भी जिसने अपने जीवनम सर्वश्रेष्ठ उत्तम पुरुषके रूपम भगवान् विठ्ठलको ही स्वीकार कर अन्तमे अपना देह पण्ढरपुरके विठ्ठल-मन्दिरम समर्पण कर दिया, आज उसका स्मारक मन्दिर-परिसरमे ईश्वरप्रेमकी पताकाके रूपमें लहरा रहा है। वह 'कान्होपात्रा' भगवान्से कहती हे—

'सकल सुखर येथेचि लाधले। देवाचे देखिले चरणाबुज। कीर्तनाचे रगी आनदे नाचिता कान्होपात्रा चिन्ता समाधान॥'

भाव है—'भगवन्! तुम्हारे चरणोंका दर्शन मानो सभी देवोंका दर्शन है और तुम्हारे कीर्तन-भजनमे नृत्य करते हुए मेरे चित्तको समाधान मिला है, शान्ति प्राप्त हुई है।'

(६) गोरा कुम्हार—सत ज्ञानेश्वरजी, नामदेवजी आदि सतमण्डली जिनको 'गोराबा काका' के नामसे सम्बोधित करती थी, वे 'गोरा कुम्हार' एक अद्वितीय विठ्ठलभक्त हुए हैं। वे ईश्वरके भजनमें—उनके प्रेमभावमे इतने तल्लीन हो जाते थे कि ससारको ही भूल जात। एक दिन वे मिट्टीके बर्तन बनानेहेतु पैरासे मिट्टी रौंध रहे थे। वहीं पासम उनका नन्हा-सा पुत्र खेल रहा था। खेलते-खेलते वह बालक मिट्टीमें आ गया, पर 'गोरा' भजनमे इतने मस्त हो गये कि उन्हे बच्चेकी सुधि ही नहीं रही और देखते-ही-देखते वह बालक उन्हींके पैरोतले रुँध गया फलस्वरूप उसकी जीवनलीला समाप्त हा गयी। जब पत्नीने पतिसे पुत्रके बारेमे पूछा तबतक सारा खेल समाप्त हो चुका था। अन्तमे भगवान्ने प्रसन्न होकर उनका बालक उन्हे लौटाया। ऐसे विरले भगवत्प्रेमी गारा कुम्हार भगवान्से कहते हैं—

'दवा तुझा मी कुंभार।'

निर्गुण, निराकार ईश्वरसे भेंट करनेहेतु सगुण शरीरसे आपके पास आया हूँ। बस आपकी कृपा और प्रेम चाहिये। केवल यही एक इच्छा हे—

'निर्गुणाचे भेटी आले सगुणा सगे।'

गोराजीके शब्दोंमें एक आत्मिक आनन्दकी प्रतीति होती है।

(७) भक्त नरहरि सुनार—भक्त 'नरहरि सुनार' ईश्वरसे कहते हैं—'हे भगवन्! मैं तो आपका ही सुनार हूँ। अब जीवनभर आपके नामका ही व्यवहार करूँगा'—

'देवा तुझा मी सोनार। नरहरि सोनार हरिचा दास।
भजन करी रात्र दिवस॥'

(८) साँवता माली—साँवता मालीको मूली, लहसुन, मिरची तथा धनिया आदि सब्जियोमे विठ्ठल भगवान् ही दिखायी देते हैं। उनके अभङ्गोमेसे प्रसिद्ध अभङ्गमे कहा गया है—

'कादा मुळा भाजी अवधी विठाबाई माझी।' लसूण मिरची कोथिंबिरी। अवघा झाळा माझा हरि। सावता म्हणे केळ मळा। विठ्ठल पायी गोविला गळा॥'

(९) सेना नाई—भक्त सेना नाईको तो पण्ढरपुरम आनन्द-ही-आनन्द प्राप्त होता है। वे कहते हैं—

'जाता पढरीसी सुख वारे जीवा। आनदे केशवा भेटताचि॥'

(१०) बोधळा माणको—'बोधळा माणको'जी ईश्वरसे उसके प्रेमकी याचना करते हुए कहते हैं—

'बोधळा म्हणे तुजवीण अनुनेणे काही। प्रीती तुझे पायीं बैसो माझी॥'

(११) चोखा मेळा—भक्त चोखा मेळा महार तो अनन्य होकर भगवान्से कहता है, 'मैं हाथमे टोकरी लाया हूँ, उसमे केवल आपका जूठा ही एकत्र कर भक्षण करूँगा'—

'जोहार माय बाप जोहार, तुमच्या महाराचा मी महार। बहु भुकेळा जाहळो। तुमच्या उष्ट्या साठी आळो। पाण्डुरगी ळागो मन। चोखा म्हणे पाटी। आणिळी तुमच्या उष्ट्या साठी॥'

(१२) अन्य सत—सोयराबाई, बका महार, गोदा, निर्मळा-जैसे सत सदैव विठ्ठलप्रेमम ही मस्त रहते। इनकी मान्यता थी—

कीर्तनी गजरी नाचतो श्रीहरि। आनद सोहळा हरिकथा माऊळी॥
भज नामाचि आवडी। ससार केळ देशधडी॥

(१३) सत एकनाथ एव सत तुकाराम—सत ज्ञानेश्वर, नामदेव आदि सतोके पश्चात् साढे तीन सौ वर्षोंके बाद शक-

सवत् १५०० मे पैठणमे सत एकनाथ महाराजका उदय हुआ। इन्होने एकनाथी भागवत, भावार्थरामायण, भरूड, अभङ्ग, पद, आरती आदि रचनाओम भगवान् श्रीकृष्ण, दाशरथि श्रीराम और विट्ठलभगवान्का ही गुणगान किया है। इनके प्रेममे साक्षात् श्रीकृष्णभगवान् इतने पागल हो गये थे कि वे द्वारकाको छोडकर पेठणमे सत एकनाथ महाराजके यहाँ एक गरीब ब्राह्मणके वेपमे बारह वर्षोंतक रहकर उनकी सेवा करते रहे। पूजन-सामग्री लगाकर रखना, चन्दन घिसकर देना नदीसे जल भरकर लाना आदि कार्य करते। स्वय एकनाथ इस बातसे अनभिज्ञ थे। जब एक ब्राह्मणभक्त द्वारकासे पैठणमे साक्षात् ईश्वर श्रीकृष्णको ढूँढने आया तब एकनाथने ईश्वरप्रेमका रहस्य जाना और साक्षात् दर्शन किया। इनके आध्यात्मिक सद्गुरु श्रीजनार्दन स्वामीने इन्हे दत्तात्रेय भगवान्के दर्शन करवाये थे। इन्हाने दत्तात्रेय भगवान्की आरतीद्वारा इसका प्रमाण दिया है। ये कहते हैं—

'दत्त येऊनिया उभा ठाकला। साष्टाग नमुनि प्रणिपात केला। जन्म मरणाचा फेरा चुकविला॥'

पण्ढरपुरके विट्ठलको ये श्रीकृष्णका ही रूप मानते थे। एक अभङ्गमे वे लिखते हैं—

गोकुळी जे शोभले। ते विटेवरी देखिले॥
पूतने हृदयी शोभले। ते विटेवरी देखिले॥
एका जनार्दनी भले। ते विटेवरी देखिले॥
ज्ञानदेवे रचिला पाया। उभारिले देवालया॥
नामातयाचा किकर। जेणे केला हा विस्तार॥
तुका वरीळ कळस। भजनकरा सावकाश॥

भाव है—सत ज्ञानेश्वर महाराज वारकरी-सम्प्रदायके सत-मन्दिरके निर्माता थे तथा सत नामदेवने उसका विस्तार किया। सत एकनाथ इस मन्दिरके स्तम्भ बने और ईसवी सन् १६०८ मे देहू नामक गाँवमे जन्मे सतशिरोमणि तुकारामजी इस भक्तिमन्दिरके शिखरके रूपमे लोकमे प्रसिद्ध हुए।

वे विट्ठलभगवान्के परम भक्त थे। उनके सर्वस्व विट्ठल थे। उनके चार हजारके लगभग अभङ्ग प्रकाशित हो चुके हैं। वे कहते हैं—

डोळे तुम्ही घ्या रे सुख। पहा विट्ठलाचे मुख॥
तुम्ही ऐका रे कान। माझ्या विट्ठलाचे गुण॥
तुका म्हणे जीवा। नको सोडू या केशवा॥
तुका म्हणे काही न मागो आणीक।
तुझे पायी सुख सर्व आहे॥
प्रेमे पाझरती लोचन। देई मज प्रेम सर्वकाळ॥

सत 'तुकाराम'का ईश्वरप्रेम इतना अलौकिक एव अद्वितीय था कि साक्षात् वैकुण्ठाधिपतिने इन्हे सदेह वैकुण्ठमे स्थान देनेके लिये अपना गरुडविमान भेजा था और *'आम्ही जातो अमुच्या गावा। अमुचा राम राम घ्यावा॥'* ऐसा कहकर वे सदेह वैकुण्ठ चले गये।

साराशम वारकरी सतो—प्रेमी भक्ताने अपना सर्वस्व पण्ढरपुरके विट्ठलभगवान्को ही स्वीकार किया था। उन्हाने मन-वाणी और कर्मसे अपना जीवन भगवत्प्रेममे ही समर्पित किया। उनका भाव दूसरा नहीं था—*'भाव तो निराळा नाहीं दूजा।'*

इन सता—भक्ताका विट्ठलप्रेम विलक्षण एव अद्वितीय था। इन्होने जीवनके अन्तिम क्षणोतक आनन्दकन्द ब्रह्माण्डनायक भगवान् श्रीकृष्ण—विट्ठलके प्रेममय स्वरूपको उनके दिव्य गुणाको, उनकी लीलाआको और अलोकिक प्रेमको अपनी रचनाआमें स्वानुभवोंके आधारपर ही अभिव्यक्त किया है। आज भी महाराष्ट्रम तथा मराठी घराम सत श्रीज्ञानेश्वरजीसे लेकर सत श्रीतुकारामजी महाराजके भजन गूँजते हैं। इन भजनोम अखण्ड आत्मिक आनन्द तथा शाश्वत शान्तिकी अनुभूति हाती है। आज तो जनमानस इन सताकी समाधिका, चरणपादुकाआका दर्शन करके ही अपने-आपको धन्य समझता है। आज भी आपाढ शुक्लपक्षकी (विष्णुशयनी) एकादशी ओर कार्तिक शुक्लपक्षकी (प्रबोधिनी) एकादशीको लाखा भक्त पण्ढरपुरम विट्ठलभगवान्का दर्शन करनेके लिये एकत्रित हाकर *'जय हरि विट्ठल, जय जय विट्ठल।'*-का जब जयघाप करते हैं तो सम्पूर्ण अन्तरिक्ष विट्ठलमय हो जाता है।

स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजीकी 'इश्क-कान्ति' में इश्क

(प्रो० श्रीइन्द्रदेवप्रसादजी सिह)

अनन्तश्रीविभूषित रसिकाधिराज स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजी महाराज रसिक-सम्प्रदायके प्रवर्तकाचार्योंमे अन्यतम थे। इनकी सारस्वतसाधनासे माधुर्यभक्तिको चरम अभिव्यक्ति प्राप्त हुई। रसिकसाधनाका सर्वाङ्ग इनकी सरस रचनाओंमे *'गागरमे सागर'*की भाँति आकर सिमट गया और उसका कोई कोना अछूता नहीं रहा। रसिकाधिराज श्रीयुगलानन्यशरणजीके प्रभावशाली व्यक्तित्व, तपोमय जीवन, प्रकाण्ड पाण्डित्य, अद्भुत अभिव्यञ्जना-शैली और अपार भावसम्पदाने अनेक रसिकसाधकोंमे रसिकभक्तिके प्रति अपार आकर्षण पैदा किया।

श्रीस्वामीजी सस्कृत और हिन्दीके तो अधिकारी विद्वान् थे ही, अरबी और फारसीमे भी उनकी गहरी पैठ थी। उपर्युक्त भाषाओम उनकी उत्तम रचनाएँ उपलब्ध हैं। यत्र-तत्र उनकी रचनाआमे सूफियाकी भावपद्धतिकी झलक भी मिल जाती है।

उनके द्वारा विरचित ग्रन्थोमे 'मधुरमजुमाला' एक ललित एव विशाल रचना है। द्वादशादित्यकी भाँति इस ग्रन्थमें नाम-कान्ति, धाम-कान्ति रूप-कान्ति, इश्क-कान्ति आदि बारह कान्तियाँ हैं। यद्यपि सभी कान्तियाँ अपने स्वरूपमे अलौकिक हैं, कितु उनमे 'इश्क-कान्ति' सबसे विलक्षण है। मजु छन्दमे रचित यह ग्रन्थरत्न समस्त भक्ति-वाङ्मयमे अश्रुतपूर्व ग्रन्थ है। इसमे अनेक विषयोका प्रतिपादन है कितु मुख्यरूपसे प्रेमतत्त्वका ही विशद वर्णन किया गया है। तत्सुखित्वकी भावनासे विभूषित निर्मल, निष्कलक प्रेमको ही ग्रन्थकारने इश्कके नामसे अभिहित किया है। इस प्रेमतत्त्वको प्राप्त करनेवाले महाभागको आशिककी सज्ञा प्रदान की गयी है।

श्रीस्वामीजीद्वारा रचित श्रीप्रेमप्रकाश, श्रीप्रेम-उमग, श्रीप्रेमपरत्व श्रीप्रीतिपचासिका आदि ग्रन्थोमे भी प्रेमतत्त्वका ही वर्णन है परतु इश्क-कान्तिकी वैसी कान्ति उनमे समा नहीं सकी है।

श्रीस्वामीजीकी रचनाओमे—नाम, रूप, लीला, धाम, विनय सत्सग वैराग्य ज्ञान भक्ति एव अष्टयामीय भावनाआके अमूल्य आदर्श उपलब्ध हैं, परतु अपने आराध्यको आकर्षित करनेके लिये प्रेमाभक्ति जितनी सरल एव सहज है, उतने अन्य साधन नहीं। श्रीस्वामीजीने अपने ग्रन्थोम सर्वत्र प्रेमयोगकी चर्चा की है। प्रेमाभक्तिको ही उन्होने सर्वश्रेष्ठ ठहराया है। इस अनन्य भक्तिकी प्राप्ति 'रसो वै स' के प्रति सर्वात्मसमर्पणके अनन्तर ही सम्भव है। सर्वरसोपेत ब्रह्म एकमात्र प्रेमरसका भूखा है। जिस क्रियाके सौजन्यसे भक्त और भगवान् दोनोकी भूख मिटती है अर्थात् रसतृप्ति होती है, श्रीस्वामीजीने उसीको 'इश्क' कहा है। इश्कम एक सजीवनी शक्ति होती है। स्वामीजीने इश्कके स्वरूपाङ्कनसे लेकर उसकी साङ्गोपाङ्ग प्रभावमयता, अनुपमता, दिव्यता, सरसता आदिका वर्णन किया है।

रसिकानन्य श्रीस्वामीजीने स्वरचित 'बीसायन्त्र' नामक पुस्तिकामे इश्क शब्दकी सुन्दरतम परिभाषा दी है—

> अति आसक्ति सनेह रस, मन महबूब मोक़ाम।
> होश हिसाब न हिरस दिल, इश्क़ असल अभिराम॥

अर्थात् आराध्यमे स्नेहसिक्त अत्यन्तासक्ति हो जाय तथा आशिकके अविचल मनमे तन-मनकी सुधि-बुधि न रहे, साथ ही प्रेमके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुकी आकाङ्क्षा न रहे, उसे ही 'अभिराम इश्क' कहते हैं।

स्वामीजीका कहना है कि आशिकी तो तभी सच्ची है, जब हरदम दिलमे जगी रहे। यह 'आशिकी' ही आत्मसमर्पण है। इसी अमूल्य आशिकीको साधकोने 'महारस', 'आनन्द' अथवा 'प्रेमरस' की प्राप्ति माना है।

इश्क भी ऐसा होना चाहिये—

> तसबी फिरे नहीं कर डोले बदन न बोले बानी।
> शबो रोज महबूब याद की माला मेहर निसानी।
> चाखे रस भाखे सपने नहिं नाम अमल मनमानी।
> युगलानन्य फकीरी मुसकिल कोई बिरले पहिचानी॥

श्रीस्वामीजी प्रियतमकी कृपा और स्मरणकी 'निशानी' ही इश्क करनेवालेमे ढूँढते हैं। नामका अमल रस अहर्निश पान करता रहे ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ दोनो निश्चेष्ट हो तो यही असल फकीरीकी स्थिति है, यह बहुत मुश्किलसे

सवत् १५०० मे पैठणमे सत एकनाथ महाराजका उदय हुआ। इन्होने एकनाथी भागवत, भावार्थरामायण, भरूड, अभङ्ग, पद, आरती आदि रचनाओम भगवान् श्रीकृष्ण, दाशरथि श्रीराम और विट्ठलभगवान्का ही गुणगान किया है। इनके प्रेमम साक्षात् श्रीकृष्णभगवान् इतने पागल हो गये थे कि वे द्वारकाको छोडकर पैठणमे सत एकनाथ महाराजके यहाँ एक गरीब ब्राह्मणके वेपमे बारह वर्षोतक रहकर उनकी सेवा करते रहे। पूजन-सामग्री लगाकर रखना, चन्दन घिसकर देना नदीसे जल भरकर लाना आदि कार्य करत। स्वय एकनाथ इस बातसे अनभिज्ञ थे। जब एक ब्राह्मणभक्त द्वारकासे पैठणमे साक्षात् ईश्वर श्रीकृष्णको ढूँढने आया तब एकनाथने ईश्वरप्रेमका रहस्य जाना और साक्षात् दर्शन किया। इनके आध्यात्मिक सद्गुरु श्रीजनार्दन स्वामीने इन्हे दत्तात्रेय भगवान्के दर्शन करवाये थे। इन्होने दत्तात्रेय भगवान्की आरतीद्वारा इसका प्रमाण दिया है। ये कहते हैं—

'दत्त येऊनिया उभा ठाकला। साष्टाग नमुनि प्रणिपात केला। जन्म मरणाचा फेरा चुकविला॥'

पण्ढरपुरके विट्ठलको ये श्रीकृष्णका ही रूप मानते थे। एक अभङ्गमे वे लिखते हैं—

गोकुळी जे शोभले। ते विटेवरी देखिले॥
पृतने हृदयी शोभले। ते विटेवरी देखिले॥
एका जनार्दनी भले। ते विटेवरी देखिले॥
ज्ञानदेवे रचिला पाया। उभारिले देवालया॥
नामातयाचा किकर। जेणे केला हा विस्तार॥
तुका वरील कळस। भजनकरा सावकाश॥

भाव है—सत ज्ञानेश्वर महाराज वारकरी-सम्प्रदायके सत-मन्दिरके निर्माता थे तथा सत नामदेवने उसका विस्तार किया। सत एकनाथ इस मन्दिरके स्तम्भ बने और ईसवी सन् १६०८ मे देहू नामक गाँवमे जन्मे सतशिरोमणि तुकारामजी इस भक्तिमन्दिरके शिखरके रूपमे लोकम प्रसिद्ध हुए।

वे विट्ठलभगवान्के परम भक्त थे। उनके सर्वस्व विट्ठल थे। उनके चार हजारके लगभग अभङ्ग प्रकाशित हो चुके हैं। वे कहते हैं—

डोळे तुम्ही घ्या रे सुख। पहा विठ्ठलाचे मुख॥
तुम्ही ऐका रे कान। माझ्या विठ्ठलाचे गुण॥
तुका म्हणे जीवा। नको सोडू या केशवा॥
तुका म्हणे काही न मागो आणीक।
तुझे पायी सुख सर्व आह॥
प्रेमे पाझरती लोचन। देई मज प्रेम सर्वकाळ॥

सत 'तुकाराम'का ईश्वरप्रेम इतना अलौकिक एव अद्वितीय था कि साक्षात् वैकुण्ठाधिपतिने इन्हे सदह वैकुण्ठमे स्थान देनेके लिये अपना गरुडविमान भेजा था और *'आम्ही जातो अमुच्या गावा। अमुचा राम राम घ्यावा॥'* ऐसा कहकर वे सदेह वैकुण्ठ चल गय।

साराशमे वारकरी सतो—प्रेमी भक्ताने अपना सर्वस्व पण्ढरपुरके विट्ठलभगवान्को ही स्वीकार किया था। उन्हाने मन-वाणी और कर्मसे अपना जीवन भगवत्प्रेममे ही समर्पित किया। उनका भाव दूसरा नहीं था—*'भाव तो निराळा नाहीं दूजा।'*

इन सतो—भक्ताका विट्ठलप्रेम विलक्षण एव अद्वितीय था। इन्हाने जीवनके अन्तिम क्षणोतक आनन्दकन्द ब्रह्माण्डनायक भगवान् श्रीकृष्ण—विट्ठलके प्रेममय स्वरूपको उनके दिव्य गुणाको उनकी लीलाआको और अलौकिक प्रेमको अपनी रचनाआमे स्वानुभवोंके आधारपर ही अभिव्यक्त किया है। आज भी महाराष्ट्रम तथा मराठी घराम सत श्रीज्ञानेश्वरजीसे लेकर सत श्रीतुकारामजी महाराजके भजन गूँजते हैं। इन भजनाम अखण्ड आत्मिक आनन्द तथा शाश्वत शान्तिकी अनुभूति होती है। आज तो जनमानस इन सतोकी समाधिका चरणपादुकाआका दर्शन करके ही अपने-आपको धन्य समझता है। आज भी आषाढ शुक्लपक्षकी (विष्णुशयनी) एकादशी और कार्तिक शुक्लपक्षकी (प्रबोधिनी) एकादशीको लाखा भक्त पण्ढरपुरम विट्ठलभगवान्का दर्शन करनेके लिये एकत्रित होकर *'जय हरि विट्ठल जय जय विट्ठल!'*-का जब जयघोष करते हैं तो सम्पूर्ण अन्तरिक्ष विट्ठलमय हो जाता है।

स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजीकी 'इश्क़-कान्ति' में इश्क

(प्रो० श्रीइन्द्रदेवप्रसादजी सिह)

अनन्तश्रीविभूपित रसिकाधिराज स्वामी श्रीयुगलानन्य-शरणजी महाराज रसिक-सम्प्रदायके प्रवर्तकाचार्योंमे अन्यतम थे। इनकी सारस्वतसाधनासे माधुर्यभक्तिको चरम अभिव्यक्ति प्राप्त हुइ। रसिकसाधनाका सर्वाङ्ग इनकी सरस रचनाओमे *'गागरमे सागर'*की भाँति आकर सिमट गया और उसका कोई कोना अछूता नहीं रहा। रसिकाधिराज श्रीयुगलानन्यशरणजीके प्रभावशाली व्यक्तित्व, तपोमय जीवन, प्रकाण्ड पाण्डित्य, अद्भुत अभिव्यञ्जना-शैली और अपार भावसम्पदाने अनेक रसिकसाधकोंमें रसिकभक्तिके प्रति अपार आकर्षण पैदा किया।

श्रीस्वामीजी सस्कृत और हिन्दीके तो अधिकारी विद्वान् थे ही, अरबी और फारसीमे भी उनकी गहरी पैठ थी। उपर्युक्त भाषाओम उनकी उत्तम रचनाएँ उपलब्ध हैं। यत्र-तत्र उनकी रचनाओम सूफियोकी भावपद्धतिकी झलक भी मिल जाती है।

उनके द्वारा विरचित ग्रन्थामे 'मधुरमजुमाला' एक ललित एव विशाल रचना है। द्वादशादित्यकी भाँति इस ग्रन्थमें नाम-कान्ति *धाम-कान्ति* रूप-कान्ति इश्क-कान्ति आदि बारह कान्तियाँ हैं। यद्यपि सभी कान्तियाँ अपने स्वरूपम अलौकिक हैं, किंतु उनमे 'इश्क-कान्ति' सबसे विलक्षण है। मजु छन्दम रचित यह ग्रन्थरत्न समस्त भक्ति-वाङ्मयम अश्रुतपूर्व ग्रन्थ है। इसमे अनेक विषयोका प्रतिपादन है, किंतु मुख्यरूपसे प्रेमतत्त्वका ही विशद वर्णन किया गया है। तत्सुखित्वकी भावनासे विभूषित निर्मल, निष्कलक प्रेमको ही ग्रन्थकारने इश्क़के नामसे अभिहित किया है। इस प्रेमतत्त्वको प्राप्त करनेवाले महाभागको आशिककी सज्ञा प्रदान की गयी है।

श्रीस्वामीजीद्वारा रचित श्रीप्रेमप्रकाश, श्रीप्रेम-उमग, श्रीप्रेमपरत्व श्रीप्रीतिपचासिका आदि ग्रन्थोमे भी प्रेमतत्त्वका ही वर्णन है परतु इश्क-कान्तिकी वैसी कान्ति उनमे समा नहीं सकी है।

श्रीस्वामीजीकी रचनाओमे—नाम रूप, लीला धाम, विनय, सत्सग वैराग्य, ज्ञान भक्ति एव अष्टयामीय भावनाओके अमूल्य आदर्श उपलब्ध हैं, परतु अपने आराध्यको आकर्षित करनेके लिये प्रेमाभक्ति जितनी सरल एव सहज है, उतने अन्य साधन नहीं। श्रीस्वामीजीने अपने ग्रन्थोम सर्वत्र प्रेमयोगकी चर्चा की है। प्रेमाभक्तिको ही उन्होने सर्वश्रेष्ठ ठहराया है। इस अनन्य भक्तिकी प्राप्ति 'रसो वै स ' के प्रति सर्वात्मसमर्पणके अनन्तर ही सम्भव है। सर्वरसोपेत ब्रह्म एकमात्र प्रेमरसका भूखा है। जिस क्रियाके सौजन्यसे भक्त और भगवान् दोनोकी भूख मिटती है अर्थात् रसतृप्ति होती है, श्रीस्वामीजीने उसीको 'इश्क' कहा है। इश्कमे एक सजीवनी शक्ति होती है। स्वामीजीने इश्कके स्वरूपाङ्कनसे लेकर उसकी साङ्गोपाङ्ग प्रभावमयता अनुपमता, दिव्यता, सरसता आदिका वर्णन किया है।

रसिकानन्य श्रीस्वामीजीने स्वरचित 'बीसायन्त्र' नामक पुस्तिकामे इश्क शब्दकी सुन्दरतम परिभाषा दी है—

अति आसक्ति सनेह रस, मन महबूब मोक़ाम।
होश हिसाब न हिरस दिल, इश्क़ असल अभिराम॥

अर्थात् आराध्यमे स्नेहसिक्त अत्यन्तासक्ति हो जाय तथा *आशिकके अविचल मनमे* तन-मनकी सुधि-बुधि न रहे, साथ ही प्रेमके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तुकी आकाङ्क्षा न रहे, उसे ही 'अभिराम इश्क' कहते हैं।

स्वामीजीका कहना है कि आशिकी तो तभी सच्ची है, जब हरदम दिलमे जगी रहे। यह 'आशिकी' ही आत्मसमर्पण है। इसी अमूल्य आशिकीको साधकोने 'महारस', 'आनन्द' अथवा 'प्रेमरस' की प्राप्ति माना है।

इश्क भी ऐसा होना चाहिये—

तसबी फिरे नहीं कर डोले बदन न बोले बानी।
शबो रोज महबूब याद की माला मेहर निसानी।
चाखे रस भाखे सपने नहिं नाम अमल मनमानी।
युगलानन्य फकीरी मुसकिल कोई बिरले पहिचानी॥

श्रीस्वामीजी प्रियतमकी कृपा ओर स्मरणकी 'निशानी' ही इश्क करनेवालेमे ढूँढते हैं। नामका अमल रस अहर्निश पान करता रहे, ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ दोनो निश्चेष्ट हा, तो यही असल फकीरीकी स्थिति है, यह बहुत मुश्किलसे

पहचानमे आती है। यहाँपर श्रीस्वामीजीने अजपा-जप एवं भावसमाधि-दशाका दर्शन प्रस्तुत किया है। ऐसी सहजवृत्तिमें न तो जपमाला फिरती है, न हाथ ही डोलता है, न वैखरी वाणीद्वारा मुखसे नामोच्चारण ही होता है, किंतु भीतर-ही-भीतर मनहरण प्राणप्यारेकी मधुर स्मृतिकी मन्दाकिनी अजस्त्ररूपसे प्रवाहित होती रहती है। इसे ध्रुवा-स्मृति कहते हैं। ऐसी सहजावृत्ति प्रभुकृपाकी परिचायिका है। सचमुच—

इश्क़ कथा को कहे जबाँसे अकथ सुमन मति बानी है।

—इश्क-वृत्तान्त अकथनीय है। यह आस्वादनीय है। मौन होकर इश्कका मजा चखिये और मगन हो जाइये।

जिस आनन्दसिन्धु विश्वमोहनको प्राप्त करना बड़े-बड़े योगियों, तपस्वियों, वेदब्रह्मादिकोंके लिये भी *अगम* है, उसकी प्राप्तिकी अति सरल युक्ति है—इश्क—प्रेम, केवल प्रेम।

अनुरागी साधकोंपर इश्ककी सदा-सर्वदा ममत्वपूर्ण कृपा बरसती रहती है। धन्य है इश्क तेरी महिमा! प्रेमयोगी भावसमाधिमें अपने आराध्यकी प्रेममयी रसीली लीलाओंका अवलोकन कर दिव्यानन्दमें छके रहते हैं।

इश्कहकीकी अर्थात् दिव्य स्नेहासक्ति ऐसी अचूक और अमोघ साधना है—जिसके द्वारा आवागमनका चक्कर सदाके लिये छूट जाता है। वस्तुतः आशिकमें निर्भयताका निश्चलभाव होना चाहिये। परंतु यदि ऐसी स्थिति नहीं है तो उसकी सर्वत्र निन्दा होगी, किंतु दूसरी ओर आचार्यजी यह भी कहते हैं कि इश्क-नदीमें डूबनेका भाग्य विरलेको ही प्राप्त होता है—

आशिक़ नाम धराय खाय फिर ख़ौफ फजीहत तिसकी है।

×　　　　　×　　　　　×

युगलानन्यसरन डूबे दरियाव-इश्क़ गति किसकी है॥

प्रेमरत्नकी प्राप्तिके लिये गहरे पानी पैठनकी अपेक्षा है। अनन्यश्रीका परामर्श है—

कूद पड़ो दरियाव इश्क़में क्या डरते हो प्यारे।
जो कुछ होना होय सो होवे सिर सौंपे सुख सारे॥
सचमुच यहाँ सिर देकर होते हैं सौदे।
बिना इसके यारकी चितवन असम्भव॥
दरिया इश्क़ थाघ गोता हरसायत आशक देते हैं।
युगलानन्यसरन ऐसे हुशियार कहो जग केते हैं॥

प्रेम-प्रवीण आशिक इस स्वार्थसलिप्त जगत्‌में अत्यल्प हैं, शायद नहींके बराबर। *'रीझत राम सनेह निसोते'* की दशाको श्रीस्वामीजीने भी अद्वितीय माना है—

बेपरवाह चाह दुनिये से चाह चैन चख चारी।
युगलानन्य उदार इश्क़ पर खुश श्रीअवधबिहारी॥

इश्क दीवानोंको प्रेमालापमें त्रयतापका भय कैसा? इश्काधिकारीके लिये कठिन शर्तकी पूर्तिकी अपेक्षा है—

जो मारे तरवार यार हुशियार शीश तब देते हैं।
जो बोले कटु बैन चैन हर तब समरुधा सहेते हैं॥
करत निरादर आदर अति मनमानि सजे हिय हेते है।
युगलानन्यसरन सब ही विधि द्वार गहे गुन लेते है॥

अपने प्रियके प्रेमोद्यानमें बुलबुल बनकर प्रेमोन्मत्त नृत्य करते रहना और दिन-रात प्रेम-रसोपलब्धिके लिये प्रेमास्पदकी धुनमें रत रहना ही सच्चे प्रेमीकी पहचान है, नहीं तो भजन-भावना सर्वथा कच्ची—नकली है। युगलानन्यशरण महाराजजीने अपने प्रेमास्पदकी बड़ी अच्छी और सरस पहचान बतलायी है—

रहस रंगीन रजा के हैं।
अनवधि अकरम अजूब खूब श्रीअवध शहर के बाँके हैं॥

उनकी दृष्टिमें प्रेमियोंकी दुनिया कुछ निराली है—

दिलदारा की दूर दरक दी दुनिये से कछु न्यारी है।

सचमुच जगत् और भगत एक साथ असम्भव, आशिकके तो—

फाँका करे क़बूल भूल सहि हिय अनुकूल हमेशे।

प्रेमियोंकी नैसर्गिक दिनचर्या होती है। तैलधारावत् सुरतियोगमें निमग्न रहना यही सच्चे प्रेमीका सच्चा धर्म है।

श्रीस्वामीजीने आशिककी अद्वितीयता भी अद्भुत बतलायी है—

आशिक़ की समता करने लायक तिहुँ लोक न कोई है।
योगी यती तपी ज्ञानी तिसके आगे सब छोई है॥

श्रीस्वामीजीके मतानुसार संसारमें उससे बड़ा कोई नहीं है जिसकी मति प्रेमरसमें सराबोर है। जिसने इश्कका आनन्द नहीं लिया उसकी मतिको अन्तमें रुदन हाथ लगता है—

उनसे बड़ा और नाहीं जिनकी मति रग रसभोई है।

युगलानन्य इश्क़ की। विनु बार-बार मति रोई है॥

आचायजीकी दृष्टिमे प्रमियाका कोई मत-मजहब नहीं होता—

क्या मजहब स मतलब उनको जिनको लगन ललामी है।

सबसे हुए उदास हमशे कवल इश्क़ कलामी है॥

प्रेमीलाग जगत्‌से उदास परतु जगदीशक जिक्र और फिक्रमे निरन्तर तल्लीन रहते हैं। इश्क तो स्वयम ही एक महान् मजहब है। आशिक उसीमे दीक्षित होकर सतत दीवाने बन रहते हैं—

'मेरी मिल्लत है मुहब्बत, मेरा मजहब इश्क है' यह उत्कट उद्‌गार ह प्रमियाका।

आशिकको यह सतत ध्यान रखना है कि वह प्रेमास्पदकी रसमयी स्मृतिम तल्लीन आर जागतिकतासे बेखबर रहे। प्रियतमके सग-लाभम ही जागना-सोना उचित है—

आशिक़ को हर वक्त मुनासिब ख़बर बख़बर होना।

सनम शौक़ साहवत जाहिर म ख़ूब जागना सोना॥

परम प्रिय विभुके आश्रित होकर भी यदि कोई प्रेमी लोक-लोचनका प्यारा बनना चाहता है तो वह सच्चा सत नहीं ह। रागी आर विरागी एक साथ कैसे रह सकते हैं ? फकीर कहाना और जगत्‌को रिझाना कच्च प्रेमीका लक्षण है—

फकर कहाना जगत रिझाना कहु किसने फरमाया है।

शाहनशाह गुलाम हुआ फिरि किसको शीश नवाया है॥

पारस मनि जब हाथ लगी तब कौड़ी कौन कमाया है।

युगलानन्यसरन हरदम बिन चाह फकीरी गाया है॥

चाह और फकीरी सर्वथा ढकोसला, हास्यास्पद हे। प्रेमरूपी पारसमणिको पाकर काडीकी आशा शोचनीय है।

वास्तवमे दिव्यातिदिव्य प्रेमको विश्वके सभी सहृदयोने अमूल्य माना है। यह साक्षात् 'रसो वै स ' का ही अक्षर प्रतीक है। इस दिव्य प्रेमदौलतको पा लेनेके बाद मानव-जीवनम कुछ भी पाना शेप नहीं रहता। इस प्रेमके वशीभूत होकर विराट् ब्रह्मका पूरा सविधान बदल जाता है—

प्रबल प्रेमके पाले पड़कर प्रभुको नियम बदलते देखा।

अचल आशिकके समक्ष प्रेममय परमात्माका सारा मान-सम्मान काफ़ूर हो जाता है। प्रेमकी रीझि-बूझि ही निराली है। भारतीय भक्ति-साहित्यम परमात्माकी प्रेमपरवशताका उदाहरण पदे-पदे प्रदक्षिणा करते हुए साक्षी भर रहा है। परतु सबसे वडी समस्या प्रबल प्रेमी होनेकी है। निष्काम प्रेमी, अटल प्रेमी तथा अनन्य प्रेमी होना अत्यन्त दुर्लभ है। रसिकानन्य तो सच्चे आशिक होनेको मरनेसे भी मुश्किल मानते हैं, क्योकि मरनेमे एक बार पीडा होती है, किंतु आशिकको तो क्षण-क्षणमे मरना-जीना होता है। इस स्नेहसदनमे बुद्धिचातुरीका प्रवेश निषेध है—

अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।

प्रेमपथमे सदा आहकी आहट आतप फैलाये रहती है। अनन्त कालतक प्रेमरसके आस्वादनके अनन्तर शायद प्रेमीकी उपाधि मिल जाय। वह भी पुरुषार्थसाध्य नहीं, कृपासाध्य है। रसिकाधिराज स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजी महाराजकी 'इश्क-कान्ति' मे निम्नाङ्कित छन्द इश्ककी कान्तिसे आमूलचूल आलोकित है—

युगलानन्यसरन आशक़ रस छानत-छानत छानोगे।

आशक होना सरल नहीं मरनेसे मुश्किल मानोगे।

पल-पलपर मरना जीना तिसको क्योंकर पहिचानोगे॥

स्वामीजीकी इश्क-कान्तिमे अक्षर-अक्षरसे प्रेमरसका अजस्र क्षरण हो रहा है।

'परमधन राधे नाम अधार'

परमधन राधे नाम अधार।

जाहि स्याम मुरलीम टेरत, सुमिरत बारबार॥

जत्र-मत्र ओ बेद तत्रमे सबै तारकौ तार।

श्रीसुक प्रगट कियो नहि यातै जानि सारको सार॥

कोटिन रूप धरे नँद-नदन, तऊ न पायौ पार।

व्यासदास अब प्रगट बखानत, डारि भारमे भार॥

मालिक तेरी रज़ा रहे और तू ही तू रहे।
बाक़ी न मैं रहूँ, न मेरी आरज़ू रहे॥

राष्ट्रप्रेमके साथ-साथ भगवान्‌के प्रति अटूट निष्ठाका भी उन्होंने परिचय दिया था।

क्रान्तिवीर अशफाकुल्ला खाँने भी प० श्रीरामप्रसाद बिस्मिल आदिके साथ मातृभूमिको विदेशी दासतासे मुक्ति दिलानेमें सक्रिय भाग लिया था। फाँसीकी सजा सुनाये जानेके बाद जब उनसे क्षमा माँगनेका प्रार्थनापत्र देनेको कहा गया तो मातृभूमिके दीवाने इस क्रान्तिवीरने उत्तर दिया था—'खुदावन्द करीमके सिवा और किसीसे माफीकी प्रार्थना करना मैं हराम समझता हूँ।'

सभी क्रान्तिकारी राष्ट्रप्रेमके साथ-साथ ईश्वरके प्रति अनन्य निष्ठावान् थे।

यज्ञोपवीतके लिये बलिदान

पंजाबके युवा क्रान्तिकारी पण्डित रामरक्खा जब राष्ट्रप्रेमके आरोपमें कालापानी (अण्डमान जेल) भेजे गये तो उनसे उनके गलेका यज्ञोपवीत उतारनेको कहा गया। उस परम ईश्वरभक्त तेजस्वी ब्राह्मणयुवकने जेलके अंग्रेज अधिकारीसे कहा था—'यज्ञोपवीत (जनेऊ) मेरे धर्मका पावन चिह्न है। इसे उतारनेके बदलेमें मैं प्राण देना स्वीकार करूँगा।' पण्डित रामरक्खाने जनेऊकी रक्षाके लिये आमरण अनशन शुरू कर दिया। विनायक दामोदर सावरकर आदिने उनकी जनेऊ-रक्षाके इस संकल्पका समर्थन किया था। अन्तमें यह क्रान्तिवीर यज्ञोपवीतकी रक्षाके लिये प्राणोत्सर्ग करनेको बाध्य हुआ था।

अण्डमानकी कालकोठरीमें राष्ट्रप्रेमके आरोपमें सजा-प्राप्त राजबंदियोंको कोल्हूमें बैलकी जगह जोतकर तेल पेरवाया जाता था। मूँज कुटवायी जाती थी। उन्हें कोड़े लगाये जाते थे किंतु राष्ट्रप्रेमके इन दीवानोंने अनेक अमानवीय यातनाएँ सहन करनेके बावजूद कभी भी झुककर अपनी मातृभूमिका नाम कलंकित नहीं होने दिया। क्रान्तिकारी आन्दोलनके साथ-साथ अहिंसक साधनासे मातृभूमिकी आराधना उपासना करनेवाले महात्मा गाँधीके नेतृत्वमें उनके आह्वानपर लाखों-लाखोंकी संख्यामें जेल जाकर यातनाएँ सहन करनेवाले स्वाधीनता सेनानियोंने भी राष्ट्रप्रेमके कारण ही स्वेच्छासे संकटोंका रास्ता चुना था।

नेताजी सुभाषचन्द्र बोस राजा महेन्द्रप्रताप लाला हरदयाल रासबिहारी बोस भाई परमानन्द-सरीखे राष्ट्रभक्तोंने सभी सुख-सुविधाएँ त्यागकर देशके अतिरिक्त विदेशोंमें भी जाकर मातृभूमिकी स्वाधीनताके लिये जो अमानवीय कष्ट सहन किये, उनके पीछे उनके राष्ट्रप्रेमकी उदात्त भावनाएँ ही थीं। नेताजी सुभाषचन्द्र बोसने 'आजाद हिन्द' सेनाके सैनिकोंके समक्ष जापानमें कहा था—

'मैं अपनी मातृभूमिमें, राष्ट्रमें माँ दुर्गाके दर्शन करता हूँ। भारत माँको विदेशियोंकी गुलामीसे मुक्त कराना ही हम भारतीयोंका प्रधान उद्देश्य है।'

महर्षि अरविन्द घोषको राष्ट्रभक्तिके आरोपमें अलीपुर जेलमें बंदी बनाकर रखा गया था। जेलमें ही उन्होंने साधनाके माध्यमसे भगवान् श्रीकृष्णका साक्षात्कार किया था। भाई श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार-जैसी आध्यात्मिक विभूतिने भी राष्ट्रके प्रति अनन्य प्रेमके वशीभूत होकर कलकत्तामें क्रान्तिकारी गतिविधियोंमें भाग लिया था। उन्हें जब शिमलापालमें नजरबंद रखा गया, तब उन्हें भगवदाराधना तथा सेवाका शुभ अवसर प्राप्त हुआ था। महान् इतिहासकार देवतास्वरूप भाई परमानन्दजीने भी कालापानी (अण्डमान)-में राष्ट्रप्रेमके कारण घोर यातनाएँ सहन की थीं। उन्होंने जेलमें ही 'मेरे अन्त समयका आश्रय—श्रीमद्भगवद्‌गीता' नामक ग्रन्थकी रचना की थी।

भाई परमानन्दजीने जेलमें लिखा था—'राष्ट्र एक अनन्त आध्यात्मिक शक्तिका ही रूप है, जिसके हृदयमन्दिरमें स्वतन्त्रताकी देवी विराजमान है। राष्ट्रप्रेमकी भावना इस स्वातन्त्र्य लक्ष्मीकी आराधनाके लिये सर्वस्व समर्पित करनेकी प्रेरणा देती है।'

सुविख्यात पत्रकार तथा निर्भीक चिन्तक श्रीसुरेन्द्रनाथ बनर्जीने भी लिखा था—'स्वतन्त्रतारूपी देवी बड़ी साधना, सर्वस्वसमर्पण, अटूट प्रेम-भावनासे संतुष्ट और तृप्त की जा सकती हैं। वे अपने भक्तोंकी, प्रेमियोंकी कठोर एवं दीर्घकालव्यापी तपस्या चाहती हैं और परीक्षा लेती हैं।'

सुप्रसिद्ध कवि श्रीशोभाराम 'धेनुसेवक' ने इन राष्ट्रप्रेमी बलिदानियोंके बारेमें कितना सटीक लिखा था—

देश प्रेमके मतवाले कब झुके फाँसियोंके भयसे।
कौन शक्तियाँ हटा सकी है, उन वीरोंको निश्चयसे॥
हो जाता है शक्तिहीन जब, शासन अतिशय अविनयसे।
लखता है जग बलिदानोंकी पूर्ण विजय तब विस्मयसे॥

राष्ट्रप्रेमकी उदात्त भावनासे अनुप्राणित होकर मातृभूमिकी बलिवेदीपर अपने प्राणोंको न्योछावर करनेवाले देशके अमर सपूतोंने राष्ट्ररक्षाका सम्बल लेकर ही परमात्मप्रभुकी प्रसन्नता प्राप्त करनेका प्रयास किया।

मुसलिम संत-कवि साँई दीनदरवेशकी भगवत्प्रेमोपासना

(दडीस्वामी श्रीमद दत्तयोगेश्वरदेवतीर्थजी महाराज)

'साँई दीनदरवेश' का जन्मवृत्तान्त प्रसिद्ध सत-कवि कबीरजीके जन्मवृत्तान्तसे प्राय मिलता है, ऐसा कतिपय विद्वानोका मन्तव्य है।

प्राय २८९ वर्ष पहले उत्तर गुजरातके महेसाणा जिलेके डभोडा नामक गाँवमे लोहार-जातिमे दीनदरवेशका जन्म हुआ। जनश्रुतिके अनुसार उनके माता-पिताके बचपनमे ही दिवगत हो जानेपर उनका लालन-पालन एक पडोसी मुसलमान परिवारने किया था। दीनदरवेशने स्वयके विषयमे स्वरचित एक कुण्डलियामे स्पष्ट कहा है—

दीन को जहाँ म भेजिया कृपा किन्ही जगतात।
सत्तरह सौ अड्सठ म, देश उत्तर-गुजरात॥
देश उत्तर-गुजरात, डभोडा गाँव बखाना।
सोमाजी मम तात, तुलजा मात परमाना॥
कहत 'दीनदरवेश', आय के जाऊँ कहाँ मै?
खोज तेरा दीदार, साँइयाँ यही जहाँ मे॥

उपर्युक्त छन्दसे यह बात स्पष्ट होती है कि साँई दीनदरवेशका जन्म विक्रम सवत् १७६८ मे हुआ था। उनका जन्म-नाम क्या था, उनकी कितनी सतान थी, आदिके बारेमे ठीक-ठीक पता नहीं चल सका है।

कहते हैं कि जब वे प्राय १५ वर्षके थे तब अपने गाँव डभोडामे आये एक दरवेश फकीरकी सेवामे कुछ महीने रहे। उस फकीरने उन्हे 'दरवेश-पन्थ' की दीक्षा दे डाली और नामकरण 'दीनदरवेश' कर दिया।

फकीरके बारेम एक दोहा प्रसिद्ध है—

हद को जाने मौलवी बेहद जाने पीर।
हद-बेहद अतीत है वाको नाम फकीर॥

ऐसा भी कहा गया है कि *'फिकर की फाकी करे, सो जानो फकीर॥'*

प्रसङ्गप्राप्त यहाँपर दरवेश-पन्थके विषयमे सक्षेपमे बताया जा रहा है—

हजरत मोहम्मद पैगम्बर (ईसवी-सन् ५७०—ईसवी सन् ६३२)-का जन्म अरबस्तानक मक्का नामक शहरमे कुरेशी जातिक हाशिम कुलम पिता अबदुल्लाह और माता अमिनाके माध्यमसे हुआ। शिशुके जन्मसे पहले ही पिताका और उसके जन्मके बाद माताका भी निधन हो गया, अत शिशुका कुछ वर्षतक पालन-पोषण हलिमा नामक दाईने किया था। प्राय २५ वर्षकी अवस्थामे मोहम्मद साहबने धनवान् स्त्री खदीजाके साथ विवाह किया था।

मोहम्मद साहबको मक्का शहरके समीप हीरा पहाडपर की गयी कुछ दिनोकी एकान्त साधनाके फलस्वरूप गूढ रहस्यका लाभ हुआ, तब उन्होने इसलाम-धर्मकी स्थापना की और प्रथम दीक्षा खदीजा बीबीको दी, बादमे अलि एव जैदको तथा अबुबकर एव उस्मान आदिको दी। इस प्रकार इसलाम-धर्मका प्रसार हुआ। इसलाम एकेश्वरवादका मानता है।

कालान्तरमें इसलाम-धर्ममसे सूफी-पन्थ निकला। 'सूफी' माने बकरीके बालोसे बनायी गयी कन्था (गुदडी) पहननेवाले फकीर। प्रारम्भमे सूफी लोग निवृत्तिमार्गके थे। ससारत्याग करके फकीरी लेकर एकान्तमे वे कठोर तपस्या करते थे और ईश्वर-साक्षात्कारकी कामना करते थे। सत मसूर अनलहक (अह ब्रह्मास्मि)-के उपासक थे। सत रबिया भक्ति-मार्गकी साधिका थी। सत मसूर कहते थे—

अगर है शौक मिलने का, तो हरदम लौ लगाता जा।
जलाकर खुदनुमाई को भसम तन पर लगाता जा॥
कहै मसूर मस्ताना, 'हक' मैने दिल मे पहचाना।
यही मस्ता का मयखाना, उसी के बीच आता जा॥

एक शिष्य अपने एकान्तप्रिय गुरुसे मिलने गया। गुरुकी कुटीरका द्वार अदरसे बद था। शिष्यने दरवाजा खटखटाया तो अदरसे आवाज आयी—'कौन है?'

शिष्यने अहकारसे जवाब दिया—'मैं'।

दरवाजा नहीं खोला गया।

शिष्यने दीर्घ समयतक विचार करनेके बाद अहकाररहित होकर फिर कुटीरका दरवाजा खटखटाया। फिर अदरसे गुरुकी आवाज आयी—'कौन है?'

शिष्यने विनम्रभावसे उत्तर दिया—'तू'।

यह सुनकर गुरुने दरवाजा खोला और शिष्यको सुनाया—

जब मै था तब हरि नहीं अब हरि हैं मै नाहि।
प्रेम गली अति साँकरी, ता मैं दो न समाहि॥

शिष्य गद्‌गद हो गया और भगवत्प्रेम-साधनाका

रहस्य समझ गया।

कहते हैं कि सूफी-पन्थके कई साधकोने भगवान्को माशूक (प्रेयसी) और स्वयको आशिक (प्रेमी)-की भावना करके साधना की थी। इस विषयमे स्वामी रामतीर्थने एक प्रवचनमे कहा था कि जब मजनू मर गया, तब यमदूत उसे यमराजके दरबारमे ले गये। पागल-से मजनूको देखकर दयालु यमदेवने उससे कहा—हाड-चामके देहवाली क्षणभङ्गुर लैला नामक स्त्रीके पीछे पागल होकर तूने अमूल्य जीवन व्यर्थ गँवा दिया है। मुझे तुझपर दया आती है।

यह सुनकर मजनूने यमराजसे कहा—'यदि आपको मेरे प्रति सचमुच ही दया (करुणा) थी तो आप खुद ही 'लैला' बनकर पृथ्वीपर क्यो नहीं आये?

कहनेका तात्पर्य यह है कि भगवान्का माशूक-भावसे चिन्तन करनेपर सूफी-साधना सिद्ध हो जाती है।

कहते हैं कि अबु हसन नामक सूफी साधक एक दिन सूफी सत रबियाकी कुटियाम इस आशयसे छिप गये कि इबादत (प्रार्थना)-के समय रबिया प्रभुसे क्या माँगती है—यह जान सक।

कुछ समयके बाद रबियाकी प्रभु-प्रार्थना शुरू हुई। वह प्रार्थना करने लगी—'हे प्रभो! यदि मैं नरकके भयसे तेरी पूजा-प्रार्थना करती होऊँ तो तू मुझे नरककी आगमे जला दे। यदि स्वर्गके लोभसे मैं तेरी सेवा-प्रार्थना करती होऊँ तो स्वर्गका द्वार मेरे लिये बद कर दे, किंतु यदि मैं तेरी प्रीति एव प्राप्तिके लिये ही तेरी भक्ति-प्रार्थना करती होऊँ तो तू मुझे अपने अपार सुन्दर स्वरूपसे वञ्चित मत रख।'

अरबदेशकी मीराबाई सत रबियाकी प्रभु-प्रार्थना सुनकर अबु हसनकी आँखे खुल गयीं।

१२वीं सदीमे ऐसे मस्त फकीराका एक पन्थ शुरू हुआ जिसके सस्थापक एव सचालक अब्दुल कादिर और अहमद रिफा नामक सत्पुरुष थे। उन्होने सूफी-पन्थका तत्त्वज्ञान स्वीकार करके अपने नये पन्थमे मिलाया और भक्तिमिश्रित ज्ञान इस पन्थकी साधनाका लक्ष्य रखा। इसलिये इस नये पन्थका नाम दरवेश-पन्थ पडा। इसके साधक उदार मतवादी अर्थात् सर्वधर्म-समभाववाले माने गये हैं। उन साधकोको दरवेश या दरवेशी कहते हैं। इस विषयमे कहा गया है—

दरवेश सो ही जो दर की जाने
पाँचो पवन अपुट्ठा ताने।
सदा सचेत रहे दिन-राती
सो दरवेश अलख की पाती॥

अर्थात् जो साधु 'सब जीवाके हृदय-प्रदेशमे ईश्वर अवस्थित है' ऐसा जानता है, जिसने साधनाद्वारा प्राणाको दुर्बल बनाकर सुषुम्णा नामक नाडीमे खींचकर उन्हे लक्ष्यपर पहुँचाया है, जो सदैव आत्मामें जाग्रत् रहता है, वह अलख (लक्ष्यातीत लक्ष्य या ब्रह्म)-की पक्तिम खडा ब्रह्मज्ञ पुरुष दरवेश है।

दरवेशके बारेमे साँई दीनदरवेश लिखते हैं—

रोटी चादर चाहिए, कहा दाम से काम?
सो ही दीन फकीर कूँ भजे निरजन नाम॥
भजे निरजन नाम, ब्रह्म-सागर ना भूले।
नदा वेदा बाकी, आनकमला ना फूले॥
कहत 'दीनदरवेश', खरा कहवे नहिं खोटी।
कहा दाम से काम, चाहिए चादर रोटी॥

दरवेशी साधु भगवत्प्रेम-साधनामे कभी उन्मत्त-सा हँसता हुआ कभी रोता हुआ तो कभी नाचता हुआ देखा गया है।

दरवेशी साधक अपनी साधनाके बारेमे कहता है

फना होने म जो मज़ा है, पाने म वह नहीं।
बुद समदर मे गिरे सही, बुद मे समदर नहीं॥

दीनदरवेश जब बीस वर्षके थे, तब वे गिरनारके दत्तोपासक सत बालगिरिसे मिले जो परिभ्रमण करते हुए डभोडा गाँवमे आये थे। उनके सम्पर्कम आनेके फलस्वरूप सत्सगसे विवेक जाग्रत् होनेपर वैराग्यवश उन्होने गृहस्थ-जीवनका त्याग किया और सत बालगिरिके साथ चल पडे। सतके साथ तीर्थाटन करते हुए वे सौराष्ट्र-प्रदेशके सिद्धक्षेत्र गिरनार पहुँचे और उनसे भगवान् श्रीदत्तात्रेयकी प्रेमोपासनाकी दीक्षा प्राप्त की। सतके आदेशस वे गिरनार पहाडपर स्थित कमण्डलु-कुण्ड नामक स्थानमे प्राय सोलह वर्षपर्यन्त साधनारत रहे। वहाँपर एक शुभ रात्रिमे उन्हें आदिगुरु अवधूत श्रेष्ठ भगवान् श्रीदत्तात्रेयके दर्शन हुए एव उनकी कृपा प्राप्त हुई। इस विषयमे वे स्वानुभव लिखते हैं—

दत्तगुरु के दरस की दिल मे जगेरी आस।
विकल भयो मन बावरा बुझत न प्रेम-पियास॥
बुझत न प्रेम-पियास, नैना नीर बहैया।

ऐसे दिन बीत जाय, पिय दीदार न पैया॥
कहत 'दीनदरवेश', रैन को अरूप आये।
जय गुरु दत्त-दयाल प्रेम से सिर झुकाये॥ १॥
अरूप मेरे साँइयाँ, तुम्हीं दत्त गुरुदेव।
दाता बड़े दयानिधि, आप ही अवधूत-भेव॥
आप ही अवधूत-भेव, मोहे दरसन की आसा।
भई मेरी गति मीन, जल में मरै पियासा॥
कहत 'दीनदरवेश', पियरा पट खोलैया।
अरूप मेरे साँई, ता दिन दत्तगुरु पैया॥ २॥
बड़े अचरज देखिया, ठाढे गढ़-गिरनार।
आँधि-रैन भयावनी, शेर करत हुँकार॥
शेर करत हुँकार, आयके ठाढ़े रहैया।
मिले नैन से नैन, नैन मे नैन समैया॥
कहत 'दीनदरवेश', ता दिन जलवा पाया।
ठाढे गढ-गिरनार, बड़े अचरज मोहे आया॥ ३॥
साँई दीन की बिनती, पलटा अरूप-रूप।
दिव्य तेजमय देखिया, दत्त-दिगम्बर भूप॥
दत्त-दिगम्बर भूप, देखत नैन छकैया।
ज्यों बरखाकी धार, प्रेम-वारि बरसैया॥
कहत 'दीनदरवेश', याद उर मे ही समाई।
सोही दत्त-गुरुदेव, अरूप-रूप धरै साँई॥ ४॥
मै तो दीन फकीर हूँ, मोहे न दूजी आस।
जब चहूँ 'गुरुदत्त' को पाऊँ दीदार खास॥
पाऊँ दीदार खास उर में अलख बसैया।
बाहिर-भीतर सोदी, साँईकी सूरत दिखैया॥
कहत 'दीनदरवेश', दाता से यो वर पाया।
ता दिन अरूप-रूप, सब जग मोहे दरसाया॥ ५॥

गिरनार पहाडकी तलहटीमे स्थित भवनाथ महादेवके मन्दिरके समीप प्रतिवर्ष शिवरात्रिको भव्य मेला लगता है जिसमे कई साधु, सत, योगी सिद्ध औघड, अघोरी और अवधूत आदि यात्रियाको दर्शन देनेके लिये आते हैं। ऐसी जनश्रुति है कि भवनाथ और दत्तात्रेय प्रभु भी गुप्तवेशमे आते हैं। एक मेलेमें दीनदरवेशको भी दत्तदर्शन और सत्सग मिला। दत्तगुरुने प्रसन्न होकर दीनदरवेशसे कुछ माँगनेके लिये कहा तो सच्चे प्रभु-भक्त दीनदरवेशने हाथ जोडकर बताया—*'और कछु नहीं चाह, पाऊँ नित अलख-दीदारा'* अर्थात् मुझे आपके नित्य-निरन्तर दर्शन मिलते रह, यही चाह है।

इस विषयमे दीनदरवेश स्वानुभव लिखते हैं—

महाशिवरात्रि परव को, भवनाथ मे जाय।
जोगी सिद्ध की जमात मे, 'दत्तगुरु' दरसाय॥
'दत्तगुरु' दरसाय, जाय बैठे सतसगा।
वो दिन कैसे भुलाय, सुनो री प्रेम-प्रसगा॥
कहत 'दीनदरवेश' भवनाथ मन भाया।
पाया दत्त-दीदार, सतसगा सुखदाया॥ ६॥
माँगन हो तो माँग ले, जो तेरे मन भाय।
बाबा मैं मगन रहूँ, मोरे करम भुगताय॥
मोरे करम भुगताय सतसग निस्तारा।
और कछु नहीं चाह, पाऊँ नित अलख-दीदारा॥
कहत 'दीनदरवेश', अधे को नैन मिलैया।
दत्त-दयाल गुरुदेव ताहि का दरसन पैया॥ ७॥
भागवान सोही जीयरा, पूरव-जनम की रेख।
साधसभा मे पेखिया, अवधूत दत्त अलेख॥
अवधूत दत्त अलेख, देव के चरन गहैया।
उबारिये मझधार, नाव तुम ही खेवैया॥
कहत 'दीनदरवेश', दत्तगुरु बड़े दातारा।
भारी भवसागर से, मिले उबरन का आरा॥ ८॥

साँई दीनदरवेशने गुजराती हिन्दी, सस्कृत, अरबी और फारसी भाषाका ज्ञान प्राप्त किया था। उन्होंने श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता और कुरान आदि धर्मग्रन्थोका हिन्दीमें (कुण्डलिया छन्दमे) सरस अनुवाद किया था। 'दत्तात्रेय-अनुराग' नामसे पचीस हजार कुण्डलियोवाला ग्रन्थ उन्होने लिखा था। उस ग्रन्थके प्रत्येक छन्दम भगवत्प्रेम भरा पडा है।

जब साँई दीनदरवेश गिरनारमे थे, तब एक दिन इनका मिलन महाराष्ट्रीय सत हरबस स्वामीसे हुआ। इन्होने स्वामीजीको कुछ महीनोतक अपने साथ रखा और उनसे (स्वामीजीसे) मराठी भाषा सीखकर 'ज्ञानेश्वरी-गीता' पढी। बादमे इन्होने ज्ञानेश्वरी-गीताका हिन्दी (कुण्डलिया)-मे सुमधुर रूपान्तर किया था। वह अनुवाद 'दरवेश-गीता' नामसे अब प्रकाशित हुआ है। विद्वानोने इसकी बडी प्रशसा की है।

भगवत्प्रेमकी तरह गीताजीके प्रति साँई दीनदरवेशका बडा ही अनुराग था। वे स्वानुभव लिखते हैं—

धन्य भाग्य मगल घड़ी, गीता जगे अनुराग।
प्रेम कटोरा पीजिया, साँई 'दीन बड़भाग॥
रामायण, भारत पढे उपनिषद् पुरान।

गीता ज्ञान नहि पाइया, 'दीन' बड़ो अज्ञान॥
सैया वे दिन को लिखे, मिले सत हरयस।
प्रेमे 'गीता' पढाइया, किन्ह पाप विध्वस॥
किन्ह पाप विध्वस, उदय भये अनुरागा।
तिमिर भये सब दूर, अतर प्रेम सजागा॥
कहत 'दीनदरवेश', बिलखत नैन बहैया।
मिले सत हरयस, वो दिन कैसे भूलैया॥
गढ गिरनार का बैठना, मानो भये सतसग।
गीता अमीघूँट पाइया, जगे प्रेम-प्रसग॥
जगे प्रेम-प्रसग, बोही सुख लिबे अखडा।
इस मुख कह्यो न जाय, मैं तो साँई का बदा॥
कहत 'दीनदरवेश , गीता का हो गये प्यारा।
सतसगा सुख देन, भये री गढ गिरनारा॥
साँई तेरी भगवद्गीता मोसे लिखी न जाय।
मै तो दीन फकीर हूँ, तुमी हो पाक पीराय॥
हिन्दु कहाँ इस्लाम कहाँ मत कोई भूलो यार।
गीताज्ञान मे नाहिए, 'दीन' कहत पुकार॥
अबिगत 'गीता' आपकी, ज्ञान-उजागर नाम।
रहमे-समदर जान के, 'दीन करत परनाम॥
मनुज-हित गीता कथे, करीमा-कृष्णमुरार।
भव औगाह विदारिये, 'दीन' करत जुहार॥
गीता-अमीरस पीजिया, छक रहँ आठो जाम।
साँई 'दीन' सोहि लिखे, दरवेश-गीता' नाम॥
'ज्ञानेश्वरी-गीता' सुने, हुआ ज्ञान उजियार।
सोही गीता-अमी से लिखे, साँई दीन' विचार॥
मैं तो दीन फकीर हूँ, तुमी हो गरीबनवाज।
दीनानाथ दयानिधि रखो दीन की लाज॥

साँई दीनदरवेशने श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धका हिन्दीके 'कुण्डलिया छन्द' मे सरस रूपान्तर किया है। उससे उनकी भगवत्प्रेम-उपासना कितनी उच्च कोटिकी होगी इसका किञ्चित् अनुमान हो सकता है।

साँई दीनदरवेशके अनेक हिन्दू और मुसलमान अनुयायी थे। उन्हाने अपने जीवनकालमे क़ौमी एकता और भगवत्प्रेमसाधना सुदृढ करानेका प्रशसनीय कार्य किया था। जब ८१ वर्षकी वृद्धावस्थामे धर्मप्रचार करते हुए वे मध्य प्रदेशमे पहुँचे तब कोटाके समीप विद्यमान चम्बल नदीम उन्होने कार्तिक शुक्ला एकादशीको जलसमाधि ले ली ताकि उनकी स्थूल देह न तो हिन्दुआको मन्दिर बनवानेके रूपम मिल सके, न मुसलमानाको दरगाह खडी करवानेके लिये प्राप्त हो सके। सत कबीरजीने भी कुछ ऐसा ही किया था।

साँई दीनदरवेशका अन्तिम उपदेश अपने अनुयायी हिन्दू और मुसलमानोको इस प्रकार था—

माया माया करत है खाया खरच्या नाँहि।
आया जैसा जायगा, ज्यूँ बादल की छाँहि॥
ज्यूँ बादल की छाँहि, जायगा आया जैसा।
जान्या नहि जगदीस, प्रीत कर जोड़ा पैसा॥
कहत 'दीनदरवेश', नहीं है अम्मर काया।
खाया खरच्या नाँहि करत है माया-माया॥
मर जावेगा मूरखा क्यूँ न भजे भगवान।
झूठी माया जगत की, मत करना अभिमान॥
मत करना अभिमान बेद शास्तर यूँ कहवे।
तज ममता, भज राम, नाम तो अम्मर रहवे॥
कहत 'दीनदरवेश', फेर अवसर कब आवे।
भज्या नहीं भगवान, अरे मूरख मर जावे॥

दीनदरवेश अपने अनुयायी हिन्दुओं और मुसलमानोंको आपसमे प्रेमभाव रखकर भगवत्प्रेमसाधना करनेका उपदेश देते हुए कहते हैं—

हिदू कहे सो हम बड़े, मुसलमान कहे हम्म।
एक मूँग दो फाड़ है कुण ज्यादा कुण कम्म॥
कुण ज्यादा कुण कम्म, कभी करना नहिं कजिया।
एक भजत है राम, दुजा रहिमानसे रँजिया॥
कहत दीनदरवेश, दोय सरिता मिल सिधू।
सब का साहिब एक एक ही मुसलिम हिंदू॥
तेरी जहाँ आबाद हो, अय भोले इन्सान।
दो फरजद साहिब के हिन्दु रु मुसलमान॥
हिन्दु रु मुसलमान, दोनो हिलमिल रहियो।
नेकी बखानो यार काहु से बुरा न कहियो॥
कहत दीनदरवेश' मान लो बिनती मेरी।,
अय भोले इन्सान जहाँ आबाद हो तेरी॥

इस प्रकार साँई दीनदरवेशने प्रेमम मग्न होकर अपने अन्तिम श्वासतक लोक-कल्याणका ही स्तुत्य कार्य किया।

जापानसे भगवत्प्रेमकी एक विश्वव्यापी लहर

(श्रीलल्लनप्रसादजी व्यास)

आज सारा विश्व सकटग्रस्त दिखायी पड रहा है। लगता है, मनुष्यकी शान्ति कहीं खो गयी है। महाशक्तियाँ देशोको अपना मोहरा बना रही हैं और उन्हाने मानव-सहारक बमो तथा अन्य भयानक अस्त्र-शस्त्रोसे विश्वके मानवोको छोटे-बडे युद्ध या फिर शीतयुद्धकी लपटोमे झोक दिया है तथा आणविक विनाशका भय दिखाकर साक्षात् मृत्युके समक्ष उपस्थित कर दिया है। इसके साथ ही आर्थिक समस्याएँ दिन-प्रतिदिन बढती ही जा रही हैं और चारों ओर दिशाहीनता भी दिखायी पड रही है। मनुष्यके जीवनमूल्य या आदर्श समाप्त-प्राय हो रहे हैं और मनुष्यका मनुष्यसे विश्वास उठता जा रहा है। भौतिकताकी आँधी मनुष्यको चारो ओरसे हिला रही है।

मानवमात्रके सामने शायद इससे ज्यादा गम्भीर सकट कभी नहीं रहा होगा। विनाश या मृत्युको सामने देखकर मानवको यह समझमे नहीं आ रहा कि बचावका उपाय क्या है? इसीलिये सम्भवत उसने भगवान्‌को पुकारा है। वैसे भी सृष्टिका एक शाश्वत सत्य है कि जब मनुष्य हारकर अपनी शक्तिकी सीमा मान लेता है, तब उसे भगवत्सत्ताकी प्रतीति होती है। केवल भारतमें ही नहीं, अपितु ससारके विभिन्न कोनोम चतुर्दिक् अन्धकारम कहीं-कहीं प्रकाशकी किरणे दिखायी पडने लगी हैं। ये किरणे उन समृद्ध देशोमे भी दिखायी पड रही हैं, जहाँ मनुष्यने अधिकाधिक भौतिकतासे उत्पन्न अशान्ति, अकेलेपन और असुरक्षामे भगवान्‌को पुकारा है।

ऐसी ही एक प्रकाश-किरण दिखायी पडी है जापानकी ओरसे, जो देखते-ही-देखते कुछ वर्षोंम सारे विश्वम फैलती जा रही है और यह प्रकाश-किरण प्रकट हुइ है जापानकी एक जाग्रत् आत्मा मीशूशामाके माध्यमसे, जिनका पूर्वनाम था—मोकिची ओकाडा। साधुजनोकी रक्षा और दुष्टाके सहारके साथ-साथ वायुमण्डलकी शुद्धिके लिये भगवान् स्वय अवतार लेते हैं तथा पृथ्वीपर अपने दैवी-विधान या योजनाको पूरा करनेके लिये किसी एक या अनेक व्यक्तियोको अपना निमित्त बनाते हैं। यह निमित्तता ही उस मनुष्यको साधारणसे महान् बनाकर मानव-इतिहासम अमर बना देती है।

मीशूशामा भी ऐसे ही एक महान् निमित्त बने, जब उन्हे पृथ्वीको स्वर्ग बनानेकी दैवी योजनाका परमात्माद्वारा सकेत कराया गया। इस दैवी सकेतके बाद उनमे असाधारण शक्ति, योग्यता और क्षमताका उदय हुआ। उन्हे अनुभूति हुई कि यह युग-सन्धिकी वेला है, जब भगवत्-इच्छाके अनुसार विश्वमानवताका कायाकल्प होना है, उसे एक युगसे दूसरे युगमे अर्थात् रात्रिके अन्धकारसे दिनके प्रकाशमे प्रवेश करना है। उसे समस्त दु ख-दारिद्र्य, रोग-दोपसे मुक्त होकर स्वर्गिक सुख और सतोपकी अनुभूति करनी है। मनुष्यमात्र शारीरिक दु खोसे मुक्त होकर जब अपने हृदयमें सतोष अनुभव करेगा और अपनी आत्माको उन्नत करेगा, तभी धरापर स्वर्ग बनेगा। यह तभी सम्भव होगा जब ईश्वरीय योजनाके अन्तर्गत ऐसा कार्य हो जिससे मनुष्यका अन्तर-बाह्य पवित्र बने। मीशूशामाको ऐसी दैवी अनुभूति भी हुई कि अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले चलनेवाले इस नवीन युगके लिये भगवान् अपनी अमिट शक्तिकी प्रकाश-किरणाको बडी तेजीसे ब्रह्माण्डमे बिखेर रहे हैं, जिससे एक बडी उथल-पुथल सूक्ष्म जगत्‌मे मची हुई है और इसका प्रभाव स्थूल जगत्‌पर भी पड रहा है। युग-सन्धिके इस अद्वितीय और असाधारण उथल-पुथलके दौरको झेलनेकी पात्रता उन्हींको प्राप्त होगी, जिनमे कुछ पवित्रता होगी। अतएव आवश्यकता है आज आत्म-जागृतिकी, जीवनमे पवित्रता लानेकी।

मीशूशामाने 'सेकाई क्योसे क्यो' अथवा 'चर्च ऑफ वर्ल्ड मेसायनिटी' की स्थापना करके उसी दैवी योजनाको साकार रूप देनेका प्रयास १ जनवरी, १९३५ से प्रारम्भ कर दिया, जिसने अबतक अपना विश्वव्यापी स्वरूप बना लिया है। इस सस्थाको हम 'विश्व-कल्याण-मन्दिर' कह सकते हैं। मनुष्य और उसका कार्य जब किसी दैवी योजनाका अङ्ग बन जाता है, तब उसे सफलता भी चमत्कारिक ढगसे मिलती है। मीशूशामा और उनकी सस्थाकी भी यही कहानी है। यद्यपि सस्थापकका देहावसान जनवरी, १९५५ म हो गया पर उनके बाद भी यह दैवी कार्य दिन-प्रतिदिन

बढता जा रहा है और ससारके करोडा लोग इसके कल्याणकारी कार्यक्रमोसे लाभ उठाते हुए अपने जीवनको प्रेरित और पवित्र कर रहे हैं। इस सस्थाकी शाखाएँ अनेक महत्त्वपूर्ण देशामे हैं। इसके साथ ही एक विशप ईश्वरीय प्रेरणाके अन्तर्गत सस्थाने जापानम दो तथा ब्राजील और थाईलैण्डमे एक-एक 'धरतीपर स्वर्गके मॉडल' बनवाये हैं, जिन्हे सत्य, शिव और सुन्दरका प्रतीक माना जाता है। 'क्योसे क्यो' ने भी इन तीन महत्त्वपूर्ण तत्त्वाको विशेष महत्त्व दिया है।

जापानी सत मीशूशामाकी ये अभिव्यक्तियाँ और कार्य भारतीय अध्यात्म-चिन्तनसे पूर्ण समानता स्थापित करते हैं। लगता है कि जैसे वह पूर्णरूपसे सनातन-धर्म और उसका दर्शन ही हो। इससे सृष्टिका यह एक और सत्य या यथार्थ सामने आता है कि महान् आत्माएँ हजारा मील दूर रहनेपर भी एक ही प्रकारके चिन्तन और कर्ममे रत रहती हैं, क्याकि उन्हे एक ही ईश्वरीय शक्ति प्रेरित और प्रभावित करती है।

श्रीओकाडा (मीशूशामा)-ने बताया कि ईश्वरने प्रेमके वशीभूत होकर पूरी सृष्टि और उसम सभी वस्तुआका निर्माण किया, किंतु मनुष्यने ईश्वरकी इच्छाके विरुद्ध व्यवहार करके अपने लिये अनेक विपत्तियाँ बुला लीं। यदि हम अपनी रक्षा करना चाहते हैं तो प्रायश्चित्त करके फिर उसके मार्गपर लौट और अन्तत उसके साथ एकाकार हो जायँ। इसका अर्थ हे कि हम भगवान्से प्रेम करे और साथ ही सभी प्राणियासे भी प्रेम कर।

श्रीओकाडाने कहा है—'अपने विवेकको शुद्ध करो और तुम भगवान्को सुन सकोगे।' उन्होने अपने अनुयायियोसे कहा कि सदैव प्रार्थना करते रहो और यदि तुरन्त ईश्वरके सदेशाको नहीं समझ सकते तो उस समयतक प्रतीक्षा करो जबतक ऐसा सम्भव नहीं हो जाता।

विवेकको अर्जित नहीं किया जा सकता। ईश्वर इसे उन्हे प्रदान करता हे, जो उसपर विश्वास करते हैं और उसका सदेश सुनकर अपने जीवनको बेहतर बनाना चाहते हैं। जिसे विवेक या प्रज्ञा प्राप्त होती है वह दूसरोका मार्ग-दर्शन कर सकता है क्योकि उसकी पहुँच ईश्वरीय सत्यतक है। विवेकका आधार प्रेम है। जिसका विवेक जितना अधिक जाग्रत् होता है, उतना ही अधिक वह ईश्वर और मनुष्यसे प्रेम करता है। विवेकी पुरुष न केवल खुद ईश्वरकी इच्छाके अनुरूप तत्पर रहता है, बल्कि उन लोगोके विचाराम भी गहराईसे झाँक सकता है, जिनकी वह सहायता करना चाहता है। विवेक या प्रज्ञा-सम्पन्न व्यक्ति ईश्वरके प्रति समर्पित होकर उसका यन्त्र बन जाता है। ऐसा व्यक्ति श्रीओकाडाके ईश्वरीय रहस्योद्घाटनो तथा उनपर आधारित उपदेशाको भली प्रकार समझ सकता है।

श्रीओकाडाने अनुयायियाको चेतावनी भी दी 'ज्यादा बुद्धिमान् बननेकी कोशिश न करो। बस, उस कामको अच्छे-से-अच्छे ढगसे करते चलो जिसे भगवान्ने तुमको सौंपा है और शप उसपर छोड दो।'

मीशूशामाने भगवत्प्रेमकी अनेक कविताएँ जापानीम लिखीं जो प्रार्थनाके रूपम उनकी स्थापित सस्था 'सेकाई क्योसे क्यो' म दोहरायी जाती है। उनमसे एक कविता 'दिव्य प्रेम'-का हिन्दी पद्यानुवाद निम्नलिखित है—

प्रभो, सर्वोच्च गुणा के स्वामी आप के प्रति हम समर्पित हैं।
हम आप के प्रेम और विवेक की अनन्तता को नहीं समझ सकते
आप ही केवल अतिम क्षण के स्वामी है
आप ही जानते है कि हमारा अतिम दिन कब होगा
पूरा ससार और हमारी मुक्ति आपके हाथ मे है।
हम ऊपर आकाश की ओर निहारते है,
आपकी अमोघ प्रज्ञा का चिन्तन करते है,
हमारे अन्त करण दिव्यता की ओर उन्मुख होते है,
आपके अनन्त प्रेम से विस्मित होकर।
हम धोखे या अज्ञान से विपथगामी हो सकते है
चमक दमक से भी आप की सेवा नहीं हो सकती।
किंतु न्यायपूर्वक सौजन्य से आप हमे प्रेम देते है,
जैसे माता-पिता अपने पुत्र को।
आप हमेशा उस अर्जी को सुनते है जो उचित होती है।
हम आप के मार्गदर्शन का निवेदन करते है हृदय खोल कर,
जौरे* की शक्ति को ग्रहण करे जो हमारे विश्वास को दृढ करे
क्योंकि मुझे आपसे एकात्मता चाहिये।

मीशूशामाने ईश्वरको प्रेमका काव्य बताया है और

* स्थूल और सूक्ष्म शरीरको नीरोग एव पवित्र करनेकी सरलतम विधि।

कहा है कि यही हमारा मुख्य उपास्य है। देवी-देवताओंसे भी सहायता मिलती है। चूँकि भगवान्‌को सामान्य मनुष्यकी सामान्य आँखोंसे देखा नहीं जा सकता, इसीलिये सभी महत्त्वपूर्ण धर्मोंका उद्देश्य उसकी पूजा-उपासना करके उसे अपने जीवनमें सर्वोच्च महत्त्व देना है।

इस जापानी संतने भारतीय संत कबीरकी शैलीका अनुसरण करते हुए इस सत्यका उद्घोष किया है कि ईश्वर मुख्यतः प्रेम और करुणासे परिपूर्ण है। अतएव उसे पानेके लिये मनुष्यको किसी प्रकारका शारीरिक कष्ट उठानेकी जरूरत नहीं। यह तो प्रेमसे ही पाया जा सकता है। बहुत शारीरिक कष्ट उठाकर तप और अनशन आदि करनेवालोंको तो ईश्वर-मिलनमें देरी लग सकती है, किंतु उत्कट प्रेमसे वह शीघ्र प्राप्य है। मोशूशामाने ईश्वरकृपाको ही सच्चा चमत्कार बताया है। उन्होंने भौतिक जगत्‌की सारी खराबियोंकी जड़में ईश्वरके प्रति प्रेम और आस्थाका न होना ही कहा है। उनका यह भी कहना था कि सृष्टि, पालन और संहार करनेवाला एक ही ईश्वर है, उसे चाहे जिस नामसे पुकारा जाय।

इस प्रकार प्राच्य देश जापानसे प्रेमी संत मोशूशामाद्वारा प्रवाहित आध्यात्मिक धारा मूलतः भारतकी आध्यात्मिक धारासे मिलकर एक गङ्गा-जमुनी विशाल धाराके रूपमें प्रस्फुटित होकर जगत्‌को भगवत्प्रेमका संदेश पहुँचानेके लिये तीव्ररूपसे मुखर है।

~~~

सेवा—प्रेमप्राप्तिका साधन

(डॉ० श्रीसोमनाथ मुखर्जी एम०बी०एस०एस०, एम०आर०एस०सी०)

प्राणिमात्रकी सच्ची सेवा ही अपनेमें सम्पूर्ण साधना है। चिकित्सक यदि रोगीमात्रको नारायण समझकर सेवा करे तो उसे भगवत्प्रेमकी अनुभूति होती है। ऐसा होनेपर कोई संकोच, ऊँच-नीचका विचार, सुगन्ध या दुर्गन्धसे व्यवधान उसके मनमें नहीं आयेगा। इससे रोगी और चिकित्सकमें प्रेम बढ़ेगा, रोगी मनसे चिकित्सकको श्रद्धास्पद शुभचिन्तक समझने लगेगा। इस प्रकारसे रोगीकी चिकित्सा करनेसे भगवत्कृपाकी भी *प्राप्ति होती है और रोगी नीरोग भी हो जाते हैं, साथ* ही रोगके ठीक न होनेपर रोगी तथा उनके परिवारके सदस्योंके मनमें चिकित्सकके प्रति श्रद्धामें कमी नहीं आती, क्योंकि वे चिकित्सकको भी अपने घरका ही सदस्य समझने लगते हैं। इसीलिये कहा गया है कि नरसेवा नारायणसेवा होती है।

चिकित्साशास्त्रमें चिकित्सकके लिये यह निर्दिष्ट है कि उसमें मुख्यरूपसे मैत्रीका भाव होना चाहिये। वह सबसे मैत्री रखे, किसीसे भी द्वेष-घृणा न करे, रोगियोंके प्रति कारुण्य रखे, निष्ठुर न बने, उनकी सेवाका भाव रखे (चरक, सू० ९। २६)। इसी प्रकार यह भी बताया गया है कि 'प्राणिमात्रपर दया करना ही सर्वोत्तम धर्म है'—ऐसा सोचकर ही चिकित्सकको चिकित्सा-कर्ममें प्रवृत्त होना चाहिये, इसीमें उसकी सफलता है और इसीसे उसे सच्चे सुखकी प्राप्ति हो जाती है। तात्पर्य यह है कि सच्चा प्रेम, सच्ची सेवा ही चिकित्सकका मुख्य धर्म है—

परो भूतदया धर्म इति मत्वा चिकित्सया।
वर्तते यः स सिद्धार्थः सुखमत्यन्तमश्नुते॥

(चरक चि० १।४।६२)

वैसे हमारे समाजमें अनेक चिकित्सा-पद्धतियाँ प्रचलित हैं जैसे—आयुर्वेदिक, होमियोपैथिक तथा एलोपैथिक आदि। इन सभी पद्धतियोंका उद्देश्य रोगीको आराम *पहुँचाना और उसे पूर्णरूपसे नीरोग करना है*। यदि सब मिलकर आपसमें परामर्श तथा विचार करके रोगीकी चिकित्सा करें तो सफलता भगवत्कृपासे अवश्य मिलती है। रोगी भी रोगके उपचार करानेके साथ-साथ प्रभु-नामका स्मरण करे तो उसे कष्टसे शीघ्र छुटकारा मिलता है। कई ऐसे उदाहरण देखनेको मिलते हैं कि रोग लाइलाज है, परंतु निरन्तर प्रभुका स्मरण करनेसे उसके रोगमें भी कमी आ गयी है। यह सब चिकित्सा एवं प्रभु-स्मरणके संगमसे ही प्राप्त होता है।

अतः मेरा सभी चिकित्सक भाइयोंसे अनुरोध है कि *सेवा और प्रेमभावसे रोगियोंकी चिकित्सा करनेसे* ही रोगीको भगवत्कृपासे शीघ्र लाभ पहुँचेगा। अतः अपनी चिकित्सा-प्रक्रियाको साधनामय, सेवामय और प्रेममय बनाना चाहिये।

~~~

गोस्वामी तुलसीदासजीका दास्य-प्रेम

(डॉ० श्रीरामानन्दजी तोष्णीवाल विशारद एम्०ए० एम्०फिल्० पी-एच्०डी०)

भगवान्‌के साथ रागात्मक सम्बन्धासे अनुप्राणित भक्ति चार प्रकारकी मानी गयी है—दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। तुलसीदासजीने इनमेसे दास्यभावकी भक्तिका अनुसरण किया है। इसमे भक्त अपने आराध्यको स्वामी और स्वयको दास समझता है। इसमे भय, सकोच और विनयभावकी प्रमुखता रहती है। हनुमान्, अगद अक्रूर और विदुर आदि इसी श्रेणीके भक्त माने जाते हैं।

तुलसीदासजीने दास्यभावको अपनाकर रामके सबल आधारका आश्रय लिया है। वे अपना परिचय देते हुए स्वयको रामका दास कहते हैं—

रामबोला नामु, हौ गुलामु रामसाहिको॥

उनकी मान्यता है कि रामने दास-भक्ताके लिये ही मनुष्यरूप धारण किया है। उन्होने शबरी और गीध-जैसे उत्तम दास-भक्तोका उदाहरण दिया है जिन्हे श्रीरघुनाथजीने सद्गति प्रदान की है। उन्होने दास्यभावकी भक्तिमे अपनी दृढ आस्था प्रकट की है।

(१) दास्य-भक्तिमें व्यक्तित्वका लोप—दास्य-भक्तिम व्यक्तिका अपना पृथक् अस्तित्व नहीं रहता अर्थात् वह अपने स्वामीके स्वरूपमे स्वयको समाहित कर लेता है। इसका आदर्श उदाहरण हनुमान्‌जीका जीवन है। अशोकवाटिका-विध्वसके बाद जब हनुमान्‌को नागपाशमे बाँधकर रावणके सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है तब हनुमान्‌जी अपना परिचय 'पवनपुत्र' अथवा 'केसरीनन्दन'-के रूपमे न देकर अपने आराध्यके प्रतापका ही वर्णन करते हैं। इसी प्रकार जब हनुमान् अशोकवाटिकामे सीताके सम्मुख प्रकट होते हैं तो अपना परिचय रामदूतके रूपमे ही देते हैं—

राम दूत मै मातु जानकी। सत्य सपथ करुनानिधान की॥

हनुमान्‌के मुखसे *'राम-दूत'* शब्द सुनते ही सीताजीको विश्वास हो जाता है कि हनुमान् मन वचन और कर्मसे श्रीरघुनाथजीका दास है—

कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास।
जाना मन क्रम बचन यह कृपासिधु कर दास॥

(२) दास-भक्तकी आकाङ्क्षा—भगवत्सेवा—दास-भक्त सदा भगवान्‌के चरणोमे बैठकर उनकी सेवा करना चाहता है। मरणासन्न वालि भगवान्‌से यही प्रार्थना करता है—'मैं कर्मवश जिस योनिमे जन्म लूँ, वहीं रामके चरणोमे प्रेम करता रहूँ'—

'जेहिं जोनि जन्मौ कर्म बस तहँ राम पद अनुरागऊँ॥'

अयोध्यावासियोके साथ गोस्वामीजीकी भी यही इच्छा है कि जन्म-जन्मान्तरतक राम उनके स्वामी एव वे उनके दास बने रह—

जेहि जेहि जोनि करम बस भ्रमहीं। तहँ तहँ ईसु देउ यह हमहीं॥
सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात यह ओर निबाहू॥

(३) सेवक-सेव्यमे अभेदका निर्माण—दास-भक्त दैन्यभावसे भगवान्‌को महान् एव स्वयको सर्वथा तुच्छ मानकर उनके वैभवपूर्ण रूपका वर्णन करता है। वह अपने आराध्यके प्रति अपने हृदयके भाव-विह्वल उद्गारासे उन्हे प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है, किंतु इस भावम भगवान्‌की महानता एव स्वयकी तुच्छताकी दूरी बनी रहती है—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मै सेवक रघुपति पति मोरे॥

लेकिन दास्य-भक्तिकी चरमावस्थामे सेवक और सेव्यमे कोई द्वैत नहीं रहता तथा वे अभिन्न हो जाते हैं। उस स्थितिमे सेव्यकी महत्ता और सेवककी दीनताके भावका ही तिरोभाव हो जाता है। इसलिये कहा जाता है कि जो गोत्र स्वामीका होता है वही सेवकका भी होता है—

अति ही अयाने उपखानो नहि बूझै लोग
साह ही को गोतु गोतु होत है गुलामको॥

(४) भगवान्‌का दास-भक्तपर प्रेम—यह सम्पूर्ण विश्व भगवान्‌के द्वारा निर्मित है और पशु, पक्षी, देव, मनुष्य तथा असुरोसहित जितने भी जड-चेतन जीव हैं, उन सबपर उनकी समान रूपसे कृपा रहती है। लेकिन अनन्य एव निष्काम सेवक भगवान्‌को प्राणोके समान प्रिय होता है। भगवान् श्रीराम काकभुशुण्डिसे कहते हैं—

'सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रानप्रिय।'

भगवान् श्रीराम हनुमान्‌से कहते हैं—'यद्यपि मुझे सभी समदर्शी कहते हैं परतु मुझे सेवक प्रिय है, क्योंकि वह अनन्यगति होता है'—

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्यगति सोऊ॥

भगवान् श्रीराम तो अपने सच्चे सेवकोके ऋणी बन जाते हैं। सीतान्वेषणके उपरान्त लङ्कासे लौटकर आनेपर भगवान् श्रीराम हनुमान्‌से कहते हैं—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥

(५) दास-भक्त भगवान्‌की छत्रच्छायाम सुरक्षित—दास-भक्त जानते हैं कि उनका स्वामी उनकी रक्षा करनेमे सदैव तत्पर एव सर्वसमर्थ है। हनुमान् श्रीरामसे कहते हैं कि सेवक स्वामीके और पुत्र माताके भरोसे निश्चिन्त रहता है। प्रभुको अपने सेवकका पालन-पोषण करना ही पडता है—

सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसे॥

भगवान्‌के दास-भक्त जब मोह-मायासे ग्रस्त होकर सन्मार्गसे भटकन लगते हैं, तब भगवान् स्वय प्रकट होकर उनकी रक्षा करते हैं। नारद काम-भावनासे ग्रस्त होकर विश्वमोहिनीको प्राप्त करनेक लिये भगवान्‌से उनके सौन्दर्यकी याचना करते हैं। वे भगवान्‌को स्मरण दिलाते हैं—'मैं आपका दास हूँ, आप मेरी सहायता कीजिये'—

जेहि विधि नाथ होइ हित मोरा। करहु सो बेगि दास मैं तोरा॥

भगवान् श्रीराम समझ जाते हैं कि दास-भक्त नारद काम-ज्वरसे पीडित है और रोगसे पीडित व्यक्तिको माँगनेपर भी वैद्य कुपथ्य नहीं देता। अत वे उन्हे वानर-रूप प्रदान कर देते हैं। अन्तमे भगवान् मायाका पर्दा हटाकर दास-भक्त नारदकी रक्षा करते हैं।

मरणासन्न वालि अगदके भविष्य एव सुरक्षाके प्रति चिन्तित था। इसलिये वह भगवान् श्रीरामसे अगदको अपना दास बनानेकी प्रार्थना करता है। वह जानता है कि श्रीरामके दास सदा सुरक्षित रहत हैं—

'गहि बाँह सुर नर नाह आपन दास अगद कीजिऐ॥'

(६) सेवा-धर्म कठिन है—सेवा-धर्म अत्यन्त कठिन है। एक सच्चा दास-भक्त आलस्य और प्रमादको त्यागकर कठोर कर्तव्यपालनके लिये सदा सनद्ध रहता है। वह क्षणभरके लिये भी विश्राम नहीं करता। इसका आदर्श उदाहरण हनुमान्‌जीका जीवन है। सीता-सुधिके लिये जाते हुए हनुमान्‌जीको मैनाक पर्वत विश्राम करनेकी प्रार्थना करता है, लेकिन वे उसे नम्रतापूर्वक अस्वीकार कर देते हैं—

हनूमान तेहि परसा कर पुनि कीन्ह प्रनाम।
राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम॥

दास-भक्त अपने स्वामीकी आज्ञाका सदा पालन करता है। हनुमान् यदि चाहते ता अशोकवाटिकासे सीताजीको उठाकर रामके पास ले आते, परतु उन्होंने ऐसा नहीं किया, क्योकि उनको ऐसी आज्ञा नहीं थी। उन्हे केवल सीता-सुधि लानका ही कार्य सौंपा गया था। हनुमान् सीताजीसे कहते हैं—

अबहिं मातु मैं जाउँ लवाई। प्रभु आयसु नहिं राम दोहाई॥

सेवा-धर्म निभानेके लिये सासारिक सुखाकी लालसाका त्याग परमावश्यक है। कारण सुख, सम्पत्ति, वैभव और परिवार—ये सभी सेवा-धर्मम बाधक हैं। सुग्रीव श्रीरामसे कहते हैं—

सुख सपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥
ए सब राम भगति के बाधक। कहहिं सत तव पद अवराधक॥

स्वय सुग्रीव भी भोगोमे लिप्त होकर राम-कार्यको भूल गये थे।

(७) रामसे रामके दास श्रेष्ठ है—गोस्वामीजी कहते हैं कि रामसे भी रामके दास श्रेष्ठ हैं—

मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥

गोस्वामीजीने इसके लिये हनुमान्‌के जीवनका उदाहरण दिया है। भगवान् राम ता सेतु बाँधकर समुद्रके पार उतरे, परतु हनुमान् तो उसे लाँघकर ही चले गये—

साहब तें सेवक बड़ो जो निज धरम सुजान।
राम बाँधि उतरे उदधि लाँघि गए हनुमान॥

हनुमान्‌जीने अपनी सेवाके कारण ही देवत्व प्राप्त किया है। वे आज भी सर्वत्र वन्दित एव पूजित हैं।

(८) दास्य-भावका अर्थ विवशता नहीं, स्वतन्त्रता—दास्य-भाव साधककी विवशता नहीं, अपितु स्वतन्त्रता है। जो रामका दास हो जाता है, उसे अन्य किसीके दास होनेकी आवश्यकता नहीं रहती। एक बार गोस्वामीजीको अकबरके दरबारकी मनसबदारीका प्रलोभन मिलनेपर उन्हाने कहा था कि वे तो रघुनाथजीके दास हैं, उन्हे किसीकी मनसबदारीसे क्या लेना-देना है—

हम चाकर रघुबीर के पटब लिखो दरबार।
तुलसी अब का होंहिगे नर के मनसबदार॥

इस प्रकार गोस्वामीजीने अपने सत्साहित्यमे दास्य-भक्तिका प्रतिपादन किया है। वे तो यहाँतक कहते हैं कि सेवक-सेव्य-भावके बिना ससारसे तरना सम्भव नहीं है—

सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पकज अस सिद्धात बिचारि॥

संतवाणीमें भगवत्प्रेम एवं प्रेमीकी दशा

(खेड़ापा-पीठाधीश्वर श्री १००८ श्रीपुरुषोत्तमदासजी महाराज)

[श्रीरामस्नेही-सम्प्रदायके खेडापा-पीठके द्वितीय आचार्य पूज्यपाद अनन्तश्रीविभूषित श्रीदयालुदासजी (श्रीद्यालदासजी) महाराजकी विपुल वाणीमेसे भगवत्प्रेम तथा प्रेमीसे सम्बन्धित कुछ बाते पाठकोकी जानकारीके लिये प्रस्तुत की जाती हैं—]

चौपाई—

प्रेम कि वाता प्रेम हि जानै, कबहू बकै हसे हुय कानै।
कबहू मून गहे मुरछाई, कबहू ऊठ दशू दिश ध्याई॥
निरत करै रोवण ही रोवै, गदगद कठा ढकलत होवै।
जोवन जोवे शबद प्रकाशा, रग लग्यो किनहू नहिं आशा॥
कद छक बकता अनुभव ज्ञाना, कबहू गावत मरदग नाना।
एह प्रेमी का चरित जु सारा, कहाँ लू कहू अपार अपारा॥
यह सरवर मे झूली काया, नीर नीर नीरू दरसाया।
पीत वदन सासा सीरानीं, प्रेम प्रगट धारा दरसानी॥
खान पान नीका नहिं लागे, लघु निद्रा अहनिशि यू जागे।
खीणे अग ग्रेहनी मोया, पलटै नैण दिष्ट नहिं कोया॥
हिरदै भहीं उपाधित कोई, इन्दर बाहिर तरसै सोई।
नख चख विचै राम धुन ध्याना, प्रेम लक्षणा ग्रेह समाना॥

दोहा—

पट सरोज शुद्धत भया, खुली प्रेम की खान।
मन पवना एके-सदन, मिटी विकलता आन॥

इन्दव छन्द—

प्रेम झुलाय झुलाय असगगत, प्रेम सवाय पौसाक न कोई।
प्रेमहि काजर प्रेमहि इन्दर, भूषण प्रेम समो नहि होई॥
थानक थानक प्रेमहि दीसत, आठ्ठई अग विचार के जोई।
खोर सिगार[१] भई नव जोबन, ग्रेहन स्वागन स्वाग नमोई॥
चैन अटप्पट नैन झटप्पट, लागे नहीं मनुँ कछू पियारो।
शिव को पुत्र तास को वाहन, तासु को भक्षण सास वियारो[२]॥
सीत सुगन्ध शाखा मृग रिप्पव[३], भूषण है किन शक्र हत्यारो[४]।
कोटि रंतीपत ग्रेह कि वेदन, के दिन के दिन आन जियारो॥

छन्द बीजूभाल—

घर न बार न याद न आवै, काम न काज न आज न स्वावै।
काल न स्वाल न पाल न कोई, गर्थ न अर्थ न तित्थ न जोई॥
वेद न रीत न द्वइत न अगा, वादक रसादक अवर न सगा।
थान न मान न आन स नाई, भूत न प्रेत न दैत्य न खाई॥
जन्त्र न मन्त्र न तन्त्र न लागय, डाकण साकण दूर सु भागय।
दिष्ट न मुष्ट न कष्ट न मरही, जक्ष न भक्ष न रक्ष न करही॥
मान न कान न आन न धारण, प्रेम अनेम अखण्ड अकारण।
ठाँय न नाय न माय न बाँर, लोक न दोष न जोष न हाँर॥

दोहा—

चित सकता आसक्कता, गूगे चुपकत सैन।
भया अवलिया प्रेम का, उत्तर किस कू देन॥

सोरठा—

निशदिन ऐसे रैत, भयो बावरो प्रेम को।
अपनी आपै लैत, गुरु पद चित अवगाहना॥

दोहा—

प्राण देह हरि वारणे देऊ अनेक सु वार।
मैं उनमन्ता प्रेम का, दूजी सुद्ध न सार॥

[श्रीद्यालदासजी महाराजकी वाणी ग्रन्थ गुरु-प्रकरण]

जुगुलकिसोर हमारे ठाकुर।
सदा सरबदा हम जिनके हैं, जनम जनम घरजाये चाकर॥
चूक परै परिहरै न कबहूँ, सबही भाँति दयाके आकर।
जे श्रीभट्ट प्रगट त्रिभुवनमे, प्रनतनि पोषत परम सुधाकर॥

---

१ सोलह शृङ्गार।
२ शिवके पुत्र—कार्तिकेयके वाहन—मयूरके भक्ष्य—सर्पके मुखकी हवा अर्थात् शीतल मन्द और सुगन्धित हवा सर्पमुखकी जहरीली हवाके समान लगती है।
३ वस्त्र शाखामृग—बन्दरकी शत्रु—कैंवच फलीके समान अनसुहाने लगते हैं।
४ गहने इन्द्रके हथियार—वज्रके समान लग रहे हैं।

प्रेमदीवानी मीरा—खोल मिली तन गाती

मै गिरधर रँग राती, सैयाँ मै॥
पचरँग चाला पहर सखी री मै झिरमिट रमवा जाती।
झिरमिटमाँ मोहि मोहन मिलियो खोल मिली तन गाती॥

जिस परम प्रेममूर्ति सौन्दर्यसुधासागर 'रसो वै स '-की प्राप्तिहेतु न जाने कितने योगीश्वर, मुनीश्वर, ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी और विरागी आदि अपनी साधनाकी सुदृढ इमारत खडी करते रहे, पर शायद ही *'खोल मिली तन गाती'* का अवसर प्राप्त कर पाये हो, मगर मोहनकी मोहिनीके प्रति प्रेमदीवानी मीरा निरावरण, निरावगुण्ठित होकर मिली अपने प्रेमास्पदसे सिर्फ ढाई अक्षरके अमूल्य मूल्यपर।

मरुस्थलकी मन्दाकिनी, मधुर रसकी एकनिष्ठ साधिका, गिरिधरकी दीवानी मीराका नाम भक्ति-भारतीकी मधुमय धरोहर है। कृष्णभक्तिकी विरहवह्निमे विदग्ध व्यक्तित्वका नाम है मीरा। सच तो यह है कि सम्पूर्ण भक्तिकाव्यमे आराधना और उत्सर्ग समर्पण तथा विसर्जनकी अन्यतम मूर्ति कोई है तो वह है मीरा। उसके ऐकान्तिक प्रेमोन्मादमें राजसीपन तिनकेकी तरह उड गया, कुल-मर्यादा ओसकी तरह विलीन हो गयी, लोक-लज्जाकी धूल उड गयी और अपने आराध्यको रिझानेके लिये—*'पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे॥'* पैरामे पञ्चतत्त्वका घुँघरू बाँधकर जो 'प्रकृति' अनन्तकालसे अनादि पुरुषको रिझानेके लिये नृत्य करती आ रही है, मानो मीरा उसीकी साकार प्रतिमा थी। उसका वह पुरुष नामरूप धारण करके श्रीवृन्दावनधामम श्रीलीलाबिहारी मुरलीधर बन गया था और मीरा उसके चरणोमें आत्मसमर्पण करनेके लिये नाच रही थी—निर्भीक निगूढ एव निश्छलभावसे। आत्मसमर्पणकी जितनी प्रबल भावना मीरामे है, उतनी अन्य किसीमे नहीं। मीराकी उपासनामें तन्मयता, वेदना और हृदयकी सच्ची पुकार है, जो जन-मनको आत्मविभोर कर देती है। जब प्रियमिलनकी उसकी उत्कण्ठाका भावोद्रेक नृत्यकी चञ्चल गतिम अँट नहीं पाता था तो सगीतकी तानोमे फूट पडता था और जब प्रेम-विरहकी उसकी मर्मान्तिक पीडा सगीतकी तानोंमे भी सँभाले नहीं सँभलती थी तो वह पुन पुकार उठती थी—*'श्रीगिरधर आगे नाचूँगी॥'* श्रीगिरिधर गोपालकी अनन्य उपासिका, प्रेमातिशयताकी पीयूषवर्षी साधिका मीराकी अलौकिक प्रीतिकी अनुपमता श्रीनाभादासके शब्दोमे देखने योग्य है—

सदृस गोपिका प्रेम प्रगट कलिजुगहिं दिखायो।
निरअकुस अति निडर रसिक जस रसना गायो॥
× × ×
भक्ति निसान बजायके काहूँते नाहिन लजी।
लोकलाज कुल शृखला तजि मीराँ गिरिधर भजी॥

सचमुच *'यथा व्रजगोपिकानाम्।'* की अर्थव्यञ्जनाके अनुरूप भक्ति-साहित्यमे एकरस प्रेमाद्वैतका अविरल प्रवाह प्रवाहित करनेवाला कोई दिखता नहीं, चाहे वह प्रेम-प्रवाह सयोगका हो या वियोगका। लेकिन भक्तिके स्वच्छ निर्मल पथपर मीरा निश्चय ही मीरा है। तभी तो श्रीकृष्णभक्ति-धारामे प्रसादस्वरूप मिली मीराकी पदावलीका वर्ण-वर्ण है सुधिका दशन, चरन-चरन है आह।

मीराकी वाणीमें जो विलक्षण दर्दके तराने उपलब्ध हैं, उसका एकमात्र कारण है—गिरिधर गोपालके प्रति उनकी अनन्यासक्तिजन्य प्रेमातुर अन्तरात्माके उत्कट उद्गार। उद्दाम निर्झरिणीके सदृश मीराके कलकण्ठसे अनायास ही तीव्र प्रेमानुभूतिजन्य मधुर भावोन्मादनका मञ्जुगान नहीं फूट पडा है, बल्कि वह तो *'प्रीति पुरातन लखइ न कोई'* का सहचर है—

आली रे मेरे नैणा बाण पड़ी॥
चित्त चढो मेरे माधुरी मूरत उर बिच आन अड़ी।

अर्थात् मीराके हृदयम पूर्वजीवनसे ही शाश्वत प्रेमकी ज्योति जल रही थी। वही प्रेम साधनाकी गरिमामे तपकर मीराके जीवनदाता जीवनसर्वस्व श्रीकृष्णके साथ विविधरूपोम मिलन करने लगा। परतु *'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई॥ जाके सिर मोर मुगट मेरो पति सोई।'*—की अनन्यता अनवरत अक्षुण्ण रही। माताद्वारा श्यामसुन्दरकी मूर्तिका बाल्यावस्थामे पतिरूपमे बीजवपनका ही यह पुख्ता असर था कि वह मनोहर विग्रह मीराका साजन बना रहा और जगत्की सारी मूर्तियाँ मूक बन गयीं। सचमुच वह मूर्ति जिसे अपनाती है, उसके सामनेसे जगत्की सारी मूर्तियाँ हटा लेती है, सारे बन्धन काट देती है। वह मूर्ति अपने प्रेमास्पदको अपनाती है—निरावरण एव निरवगुण्ठितरूपमे।

ऐसा हो भी क्यो न। मीराका प्रियतम कोई साधारण प्राणी है क्या? नहीं, वह तो साक्षात् रसविग्रह प्रेममूर्ति ही है। इसीलिये तो उस सरस श्रीविग्रहका अनुपम आश्वासन है स्वजनोके लिये—

'ये यथा मा प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम्।' जो भक्त मेरे पादपद्ममकरन्दके रसिक हैं, उनके लिये मैं भी परम मधुर होकर उनकी आकाङ्क्षा-पूर्ति करता हूँ। जगत्‌की जानलेवा ठोकर खाकर भी मीरा जगत्‌की ओर नहीं मुडी, उसने जगन्नाथकी देहलीका ही सहारा लिया। लोक-लाज, कुल-मर्यादा सब मीराको छोडना पडा और मीरा दीवानी हो गयी। मात्र एक बूँद—*'सा परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च॥'* पीकर इतनी बडी क्रान्ति कर डाली। एक प्रेमीके शब्दोंमें—

राजवशकी रानी पी गई एक बूँद इस रस का।
आधी रात चली महलो से मनवाँ रहा न बस का॥
गिरधर की दीवानी मीराँ ध्यान छुटा अपयश का।
बन बन डोले श्यामबावरी लगा नाम रस चसका॥

वन-वन डोलनेका मात्र एक कारण है, एक ही भाव है, एक ही रस है और एक ही रग है तथा वह यह कि मैं श्रीगिरिधर लालकी अपनी हूँ और उनके द्वारा अवश्य अपनायी जाऊँगी। इतना सकल्प करते ही भावविह्वल मीरा गा उठती है—*'अँसुवन जळ सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई। अब तो बेल फैल गई आणँद फल होई॥* कौन सी बात *'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई॥' 'अब काहेकी लाज सजनी परगट ह्वै नाची॥'* भक्तवर श्रीध्रुवदासजीने इस नृत्यपर रीझकर श्रीमीराजीको भक्तिकी खान कहा है—

लाज छाड़ि गिरधर भजी करी न कछु कुल कानि।
सोई मीराँ जग विदित प्रगट भक्ति की खानि॥

वस्तुत मीराका प्रेम भावलोककी वस्तु है, सासारिकता तो उसकी सीमा-रेखाके पास भी नहीं फटकती। उसकी वृत्ति एकान्तत और समग्रत प्रेममाधुरीमे ही रमी रहती है। आखिर मीरामे इतनी अद्भुत दीवानगी अथवा अनन्यता आयी कहाँसे? क्या पाषाणविग्रहमे दूलहकी स्वीकृतिसे? प्रीति पुरातनसे? सत-साहचर्यसे? या सासारिक प्रताडनासे? कुछ कहा नहीं जा सकता है 'इदमित्थम्' रूपसे। अगर साक्ष्य ही खोजना है तो मतवारी मीराकी वाणी ही एकाधार है। वह प्रेमरोगकी रोगिणी थी। वह भी इस जन्मकी नहीं जन्म-जन्मकी। वह केवल इसी जन्ममें गिरिधरको प्रिया नहीं है, वह पतिव्रता तो जन्म-जन्मान्तरसे श्रीकृष्णकी दासी है। तभी तो भगवान्‌के सच्चे भक्तोको पग-पगपर सहारा मिलता है। कारण स्पष्ट है, वह कहती है—*'सखी म्हारो कानूड़ो कळेजेकी कोर।'* कनौडे कन्हैयाकी सेवा, पूजा, आराधनामे सतत सलग्न रहती हुई भी मीराका प्रधान स्वर था—*'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई॥' 'जाके सिर मोर मुगट मेरो पति सोई।'* का प्रधान स्वर कभी मन्द नहीं पडता। सच्ची सेविकाकी भाँति अतिशय मधुर भावसे वह मनमोहन मुरलीवालेकी पूजा करती थी।

भगवान् ही उसके सब कुछ थे, किसी औरकी आस न करती थी। मीरा मस्तीमें आ करके आँसू भी बहाया करती थी।
उत्तम पदार्थ बना श्रद्धासे वह भोग लगाया करती थी।
इतना ही नहीं—*'इकतारा सुन्दर हाथमे ले गिरधर गुण गाया करती थी'*—

हे री मैं तो दरद दीवाणी मेरो दरद न जाणै कोय।
घायलकी गति घायल जाणै जो कोइ घायल होय।
× × ×
दरदकी मारी बन-बन डोलूँ बैद मिल्या नहिं कोय।
मीराकी प्रभु पीर मिटेगी जद बैद साँवलियाँ होय॥

नीरस ससारी स्वार्थी जीव घायल जिगरकी वेदना, कसक एव दर्दके तलस्पर्शी तरानाको भला कैसे समझ सकता हे। सचमुच मीराके लिये तो साँवले-सलोने, कारे-कजरारे श्यामघन घनश्याम ही एकमात्र मर्मी वैद्य हैं, जो बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग दोनो पीडाओको स्पर्श नहीं, दर्शन देकर शान्त कर सकता है क्योकि मीराका कथन है—

एक मोहन ही मेरा घर यार भी आराम भी।
मेरी दुनियाँ की सुबह और मेरे जग की शाम भी॥
राज औ सरताज मोहन के सिवा कोई नहीं।
वैद्य मेरे रोग का मोहन सिवा कोई नहीं॥

धन्य है मीराका 'परम भाव' अपने मोर-मुकुटवालेके प्रति।

इस परम प्रेमभावके परवश होकर ही तो वह नाच उठी थी—*'पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे॥'* इस नर्तनके उपहारस्वरूप मीराको मिला क्या—कुलनाशिनी बावरी और मदमाती आदि विशेषण। परतु दुनियासे बेपरवाह मीराको हाँसी, कुलनाशी आदि बदनामी भी अति मीठी लगती है। बुरी-भली कथनीसे उसकी अनूठी चालमे अन्तर

नहीं पडता। सदा 'रामखुमारी' मे मस्त डोलती रहती। बडे ही उच्च स्वरमे ढिढोरा पीटकर बोलती—*'परवाह नहीं चाहे दुनिया कहै नवनियाँ रे मोर गिरधर पाहुनमा।'* एक अन्य प्रेमीने भी प्रेमबावरी मीराकी दशाका अच्छा अभिव्यञ्जन किया है—

लोक लाजकी बाधाआसे जिसकी मति नहिं डोली।
हीरे मोती वारे रज पर ब्रजरसिया की हो ली॥
पथ की विकट समस्याओसे हँसते-हँसते बोली।
मै गिरधर की गिरधर मेरा तू क्यो करो ठिठोली॥

ऐसे रागीपर शत-शत वैरागी न्योछावर होनेको मचल जायँगे मगर घोर अहकारी ससारी राणा तो मीराका परम बागी बन बैठा। हमेशा मीराका नामोनिशान मिटानेके लिये तत्पर चिन्तित एव बेचैन—

जहाँ भी राणा बैठते, करते थे ये जिक्र।
किसी तरह मीरा मरे यही थी उनको फिक्र॥

समाजवालोने मीराको विकट यातनाएँ दीं। मगर प्रेम-दीवानी, अपनी धुनकी पक्की सभी आपत्तियो एव अवहेलनाओको अङ्क लगाती रही—

या तो राणा ने दिये मीराँ को बहुत कष्ट।
पर गिरधर की कृपा से हुए सभी ये नष्ट॥

ऐतिहासिक परिवेशमे कथा आती है कि राणाने मीराको मारनेके लिये भूतमहलमे निवास दे दिया था। वहाँ मीराने—

हरिकी सेवा-पूजा ठानी।
सुनि कीर्तन अमृतमय बानी॥
भयो उन प्रेतन को उद्धार।
प्रगट भए रूप चतुर्भुज धार॥
व्यक्त किये मीरा प्रति आभार।

चाल उलटी हो गयी मीरा तो मरी नहीं, बेचारे प्रेत अवश्य तर गये—

आशीष दे पितर गये हरि धामा।
मीरा हृदय भयो विश्रामा॥

अन्तमे हारकर राणाने कहा—

आखिर मीरा से कहा राणा ने सब हाल।
गिरधर का अब छोड़ दो अपने मनसे ख्याल॥

मीराने कहा—

ऐ राणा हमे आस है गिरिवरधारी का।
तुम भी अब मन से भजन करो मनमोहन मदन मुरारी का॥

मीराकी बात सुनकर राणा व्यथित हुए। गुस्सेसे काँपने लगे—

क्रोधित हो काढि कृपाण लिये, और रक्त वर्ण दो नैन हुए।

राणाने अपने हाथो मीराको समाप्त करनेके लिये कृपारहित होकर कृपाण तो निकाल लिया, मगर बहूपर हाथ छोडनेमे लोककी लज्जाने उन्हे लगाममे कस दिया। कालान्तरमे राणा कालकवलित हुए और उनका लघुभ्राता विक्रम सिह मीराके लिये *'कालहु कर काला'* के रूपमे साबित हुआ। उसने मीराके सफायेके लिये क्रूरतम कृत्य किये। मीराका अपने गोविन्दका चरणामृत-पानका नित्य-नियम था—

राणाजी म्हे तो गोबिदका गुण गास्याँ।
चरणामृतको नेम हमारे, नित उठ दरसण जास्याँ॥
हरिमदिरमे निरत करास्याँ घूँघरिया धमकास्याँ।

इस प्रेम-निष्ठाकी आडमे राणाने—*'विष को प्याला दिये पठाई।'* और कहा गया कि यह प्रभुका चरणामृत है—*'प्रभुको चरणामृत बतलाई॥'* विष-प्रेषणकी घटनाको मीराने स्वय कई पदोमे स्वीकारा है—

विष का प्याला राणाजी भेज्या पीवत मीराँ हाँसी रे।
कोई कहे मीराँ भई बावरी, कोई कहे मदमाती रे।
विष का प्याला राणा भेज्या, अमृत कर आरोगी रे॥
राणा जी थे जहर दियो म्हे जाणी।
विष को प्यालो भेजियो जी, जाओ मीरा पास।
कर चरणामृत पी गई, म्हाँरे गोबिद रे बिस्वास॥

अर्थात् *'सुमिरि के प्यारे गिरधर राय। पी गई मीरा सहज सुभाय॥'* श्रीगिरिधरकी अनन्यानुरागिणी एकनिष्ठ पुजारिन मीरा जहरको प्रभुका चरणामृत मानकर प्रेमपूर्वक नित्यकी भाँति आरोग गयी। आज जहर भी मारकसे धारक बनकर धन्य हो गया—'अकालमृत्युहरण सर्वव्याधिविनाशनम्' मन्त्रका दिव्यतम प्रकाश एव ऐतिहासिक प्रमाण बन गया। जहरपानके बाद मीराकी कान्ति और निखर गयी, क्यो नहीं, यदि किसीकी मृत्यु टल जाय तो उसके आननके आलोकका क्या कहना। *'तेज जिमि कचन तापत पाय।'* आज सोना सासारिक विघ्न-बाधाओकी अग्निमे तपकर कुन्दनवत् कमनीय लग रहा था। वह स्वर्णिम पात्रा थी—भक्तिमती प्रेमयोगिनी मीरा। *'तेरा कोई न रोकन हार मगन होई मीरा चली।* कहाँ? *श्याम सुन्दर गली ओर।'*

घोर हलाहल गरल सुधा की धार बनाकर चल दी।
कालरूप मृगराज साँवरा यार बनाकर चल दी॥

अविनाशीकी गोदमे, नित्य झुरमुटमे खेलनेवाली

दिव्य दासीको जगत्-वासी मिटाना चाहते हैं, भला यह कैसे सम्भव हो सकता है—

वैरी बपुरा क्या करे जब हरि बचावनहार।
वैरी के दो हाथ है, हरि के हाथ हजार॥

हजार हाथोसे जिसका अभेद रक्षा-कवच तत्पर है, निज दासीकी रक्षाके लिये, भला दो हाथवाला उसका क्या बिगाड सकता है—*'जाको राखे सारगपानी उसका कौन बिगाड़ेगा।'* मगर अहकारी सिरफिरेको प्रभुके लाख चमत्कार दिखायी पड जायँ, लेकिन उसका सिर फिरता नहीं। आक्रोशाभिभूत राणा मर्यादाकी सीमारेखा लाँघ जाता है और अन्तिम उपाय करता है। एक भयकर विषधर काले नागको शालग्रामकी प्रतिमा कहकर मीराके पास भेजता है—

बन्द पिटारी सर्प पठायो बचननि शालिग्राम बताया।

कहीं-कहीं वर्णन मिलता है कि 'माताने भूषण पहननेके लिये तुमको दिया।'

चाहे औराके लिये जो हो मगर मीराके लिये तो सर्वोपरि शोभादायक गहना शालग्राम ही था।

साँप था उसमे भरा सोचा कि खोली जायगी।
नाग के डँसते ही मीराँ खत्म बोली जायगी॥
दीवानी मीराने भी एकान्तमे प्यारसे खोलकर देखा।
साँवली सूरत कन्हैयाकी नजर आयी तभी॥

मीराके हर्षका पारावार नहीं—*'दिवानी बिकी आज बेमोल। मिले प्यारे गिरधर अनमोल मगन है नाचति हरि हरि बोल॥'* कैसे? मूना-सूता नहीं—*'पग घुँघरू बाँध मीरा नाची रे॥' विषधर काला नाग शालिग्रामको हार बनाकर नाची रे।*

प्रेमियोंके पथकी बाधाएँ उनके लिय सुखद पाथेय होती हैं। लेकिन इतनी कडी कसौटीपर प्रेमबावरी मीरा ही धीरा बनी रही, सामान्योके लिये तो अधीराका ही अवलम्ब है। शायद इसी ऊबन-घुटनके चलते मीराने गोस्वामी तुलसीदासको करुणाप्लावित करनेवाला पत्र लिखा था और तुलसीने पत्रोत्तर दिया था—*'दिये पत्रोत्तर तुलसीदास। तजिय हरि बिमुखन को सहवास॥ एक प्रभु चरन कमल की आस।'*

और फिर *'या ब्रज मे कछु देख्यौ री टोना।' 'मोहि नीको लागो वृन्दावनधाम'*का पावन-सस्पर्श वह प्राप्त करने लगी। अन्तम राणापर सकट आया। अपनं पश्चात्ताप करता हुआ वह मीराके चरणोंपर पडा। व विरत कर पुन घर लौटनेका आग्रह किया ग प्रेमपथिका पुन घर नहीं लौटी। पुन *'मीराव बसी द्वारिका जाय।'* वहाँ भी पुरातन दिनच *घुँघरू बाँध मीरा नाची रे॥'* मन्दिर-मूर्ति, अग- इस धुनम, नृत्यम इस गतिमे लय हो रोम-रामम हरिकी ध्वनि प्राणोंम आकुल-वि और पीडा-सेतुपर मधुर-मिलन, मधुमयी यात्रा- नित्य-कृत्य।

आज रणछोडजीके मन्दिरकी मनमोहक मीरा सज-धजकर मादकताके करुणापूर्ण स्वरमे है—*'श्रीगिरधर आगे नाचूँगी।'* मधुर मञ्जुल स्व बज उठे फिर नूपुर नूपुर, नूपुर। आत्यन्तिक प्रभाकी चमकमे नाचती मीराकी ज्योति चपलाकी तरह मोहनकी मुसकुराती सूरतसे जा मिली। लोग अवाक् रह गये और मीरा *'खोल मिली तन* निरावरण, निरवगुण्ठित बावरी दीवानी मीरा। *'गि तन से मिल्यो, ललित चूनरी छोर। काहू को नी परयो मीरा गई किस ओर॥'* मगर चूनरी और पी छोरका गँठजोर अमिट अचल-अविचल कहा गया। कौन किससे मिला? कहना कठिन है मतवारीकी चूनर लहराती रही भक्तके आवाहन-अ लिये। ऐसे दिव्य-मिलनको देखकर कौन नह उठेगा—*'कबहुँक हौ यह मिलनि लहौंगो।'* लेकि प्रीति नहीं है सबके मानकी। सतोद्वारा यह कहा कि जिस दिनसे बावरी मीरा गिरिधरकी तडपमे रण (भगवान् श्रीकृष्ण)-की दहलीज पारकर उनसे मिल उसी रोजसे चौखटकी सतहको ऊँचा कर दिया गया, कोई आशिक आसानीसे आलिङ्गन न पा सके। मा चोखट अथवा दरवाजा ऊँचा कर दिया गया—प आशिक है साहब, फाँदकर दीवार आता है। अ प्रेमियोके समक्ष असम्भव—प्रेमियाके लिये परम पाथे छाड गयी प्रमयोगिनी मीरा—*'बाहर ते दिखात रह्यो चू चीरा है॥'*

[प्रो० श्रीइन्द्रदेवप्रसाद

मीराकी प्रेम-साधना

(श्रीअर्जुनलालजी बसल)

पग घुंघरू बाँध मीरा नाची रे॥
मैं तो मेरे नारायणकी आपहि हो गइ दासी रे।
लोग कहै मीरा भई बावरी न्यात कहै कुळनासी रे॥
बिषका प्याला राणाजी भेज्या पीवत मीरा हाँसी रे।
मीराके प्रभु गिरधर नागर सहज मिले अविनासी रे॥

—माधुर्य रससे ओत-प्रोत यह रचना जब सुनायी देती है, उस समय आँखाके सामने एक दिव्य स्वरूपधारिणी राजस्थानी युवतीकी मनमोहक छवि प्रगट हो जाती है। एक हाथम इकतारा दूसरेम खडताल, पैरामे घुंघरू बाँधे, पलके अधमुंदी-सी अपने साँवरे सलोनेके आगे नाचती-गाती यह प्रेम-दीवानी वैरागिन मीराबाईके नामसे आध्यात्मिक जगत्मे अमर हो गयी। कहा जाता है कि बचपनम कोई साधु इन्हे श्रीकृष्णकी एक अति सुन्दर मूर्ति दे गया था। मीरा इसके प्रति आकर्षित हो गयी और इसकी भक्तिमे लीन रहने लगी।

समयके साथ-साथ मीरा सयानी हो गयी। कुमार भोजराजके सग मीराका विवाह हो गया, परतु यह सम्बन्ध केवल औपचारिक ही रह गया। मीराने तो कृष्ण कन्हैयाका वरण कर लिया था और अपने मनके भाव व्यक्त करते हुए लिखा था—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई॥
जाके सिर मोर मुगट मेरो पति सोई।
तात मात भ्रात बधु आपनो न कोई॥
छाँड़ि दई कुळकि कानि कहा करिहै कोई।
सतन ढिग बैठि बैठि लोकलाज खोई॥
चुनरीके किये टूक ओढ लीन्हीं लोई।
मोती मूँगे उतार बनमाला पोई॥
अँसुवन जळ सींचि सींचि प्रेम बेलि बोई।
अब तो बेल फैल गई आणँद फल होई॥
दूधकी मथनियाँ बड़े प्रेमसे बिलोई।
माखन जब काढि लियो छाछ पिये कोई॥
भगति देखि राजी हुई जगत देखि रोई।
दासी मीरा लाल गिरधर तारो अब मोही॥

मीराने इस भौतिक जगत्का सर्वथा त्याग कर दिया था। पारिवारिक नाते सब तोड दिये थे एव केवल एकके सग नाता जोडकर उसीके चिन्तनमे, उसीके प्रेममे मग्न रहने लगी—

मै तो साँवरेके रग राची।
साजि सिगार बाँधि पग घुंघरू, लोक-लाज तजि नाची॥
गई कुमति, लई साधुकी सगति, भगत, रूप भइ साँची।
गाय गाय हरिके गुण निस दिन, कालब्यालसूँ बाँची॥
उण बिन सब जग खारो लागत, और बात सब काँची।
मीरा श्रीगिरधरन लालसूँ, भगति रसीली जाँची॥

मीराको अपने गिरधरके प्रति प्रेमकी अनुभूतिमे सदैव उन्हींके दर्शन हुआ करते थ—

बसो मारे नैननमे नँदलाल॥
मोहनी मूरति साँवरि सूरति नैणा बन बिसाल।
अधर सुधारस मुरली राजत उर बैजती-माल॥
छुद्र घटिका कटि तट सोभित नूपुर सबद रसाल।
मीरा प्रभु सतन सुखदाई भगतबछल गोपाल॥

मीराकी प्रेम-साधना प्रारम्भ हुई। अपने साँवरो सलौनेसे वह प्रार्थना करती हे—

स्याम! मने चाकर राखो जी।
गिरधारीलाल! चाकर राखो जी॥
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ नित उठ दरसण पासूँ।
बिद्राबनकी कुजगलिनमे तेरी लीला गासूँ॥
चाकरीमे दरसण पाऊँ सुमिरण पाऊँ खरची।
भाव भगति जागीरी पाऊँ, तीनूँ बाता सरसी॥
मोर मुगट पीताबर सोहै गल बैजती माळा।
बिद्राबनमे धेनु चरावे मोहन मुरलीवाळा॥
हरे हरे नित बाग लगाऊँ बिच बिच राखूँ क्यारी।
साँवरियाके दरसण पाऊँ, पहर कुसुम्भी सारी॥
जोगी आया जोग करणकूँ, तप करणे सन्यासी।
हरी भजनकूँ साधू आया बिद्राबनके बासी॥
मीराके प्रभु गहिर गँभीरा सदा रहो जी धीरा।
आधी रात प्रभु दरसण दीन्हे, प्रेमनदीके तीरा॥

मीरा अपने सच्चे पतिके दर्शन करना चाहती थी। उनसे मिलनेकी अभिलाषा हुई। उसने मन-ही-मन यह दृढ निश्चय कर लिया कि अब प्रीतमके देश जाना ही

उचित होगा। वह जानती थी कि उसकी प्रेम-साधना वृन्दावनमे फूले-फलेगी। उसकी लेखनी सजीव हो उठी। वृन्दावनकी महिमाका वर्णन करते हुए उसने लिखा है—

आली! म्हाँने लागे बृंदावन नीको।
घर-घर तुलसी ठाकुर पूजा दरसण गोविंदजीको॥
निरमल नीर बहत जमनामे भोजन दूध दहीको।
रतन सिंघासण आप बिराजै मुगट धर्‌यो तुलसीको॥
कुंजन-कुंजन फिरत राधिका सबद सुणत मुरलीको।
मीराके प्रभु गिरधर नागर भजन बिना नर फीको॥

अपने साँवरेके प्रति समर्पणभाव व्यक्त करते हुए मीरा गुनगुना उठती है—

मैं गिरधरके घर जाऊँ।
गिरधर म्हाँरो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ॥
रैण पड़ै तबही उठ जाऊँ भोर भये उठि आऊँ।
रैन दिना वाके सँग खेलूँ ज्यूँ त्यूँ ताहि रिझाऊँ॥
जो पहिरावै सोई पहिरूँ जो दे सोई खाऊँ।
मेरी उणकी प्रीति पुराणी उण बिन पल न रहाऊँ॥
जहाँ बैठावे तितही बैठूँ बेचै तो बिक जाऊँ।
मीराके प्रभु गिरधर नागर बार बार बलि जाऊँ॥

मीराके मनमे अपने प्रेमीको रिझानेके लिये प्रेमकी उत्ताल तरङ्गे हिलोरे लेने लगीं—

श्रीगिरधर आगे नाचूँगी॥
नाच-नाच पिव रसिक रिझाऊँ प्रेमी जनकूँ जाचूँगी।
प्रेम प्रीतिका बाँधि घूँघरू सुरतकी कछनी काछूँगी॥
लोक लाज कुळकी मरजादा यामे एक न राखूँगी।
पिवके पलँगा जा पौढूँगी मीरा हरि रँग राचूँगी॥

प्रेम-साधनके उच्चतम शिखरकी ओर अग्रसर मीराके ये भाव पाठकोको आकर्षित करनेमे पूर्ण सक्षम हैं—

मैं गिरधर रँग राती, सैयाँ मैं॥
पचरँग चोला पहर सखी री मै झिरमिट रमवा जाती।
झिरमिटमाँ मोहि मोहन मिलियो खोल मिली तन गाती॥
कोईके पिया परदेस बसत हैं लिख लिख भेजैं पाती।
मेरा पिया मेरे हीय बसत है ना कहुँ आती जाती॥
चंदा जायगा सूरज जायगा जायगी धरण अकासी।
पवन पाणी दोनूँ ही जायँगे अटल रहै अविनासी॥
और सखी मद पी-पी माती मै बिन पियाँ ही मात
प्रेमभठीको मै मद पीयो छकी फिरूँ दिन-रात
सुरत निरतको दिवलो जोयो मनसाकी कर ली बात
अगम घाणिका तल सिचाया बाळ रही दिन-रात
जाऊँनी पीहरिये जाऊँनी सासरिये हरिसूँ सैन लगात
मीराके प्रभु गिरधर नागर हरिचरणाँ चित लात

दीर्घावधितक मीरा गिरिधरसे मिलनेकी लिये वृन्दावनम घूमती रही ढूँढती रही, परतु खोजमे वृन्दावन आयी, वह नहीं मिला। किन्तु कृष्ण आकण्ठ डूबी मीराने धैर्य नहीं छोडा। सवत् १६ लगभग पैराम घुँघरू बाँध होठोपर यह दर्दभरा भाव गाती-नाचती मीरा द्वारका पहुँच गयी—

हे री मै तो दरद दिवाणी मेरो दरद न जाणै कोय।
घायलकी गति घायल जाणै जो कोइ घायल होय

मीरा रणछोडरायजीके मन्दिरमे रात-दिन नृत्य रहने लगी। मन्दिरके प्राङ्गणमे भगवान्‌के सामने प्रेम करने लगी—

प्यारे दरसन दीज्यो आय, तुम बिन रह्यो न
जळ बिन कमल, चद बिन रजनी ऐसे तुम देख्याँ बिन स
आकुळ व्याकुळ फिरूँ रैन दिन, बिरह कलेजो
दिवस न भूख, नींद नहिं रैना मुख सूँ कथत न आवे
कहा कहूँ कछु कहत न आवै, मिलकर तपत बु
क्यूँ तरसावो अतरजामी, आय मिलो किरपाकर स
मीरा दासी जनम-जनम की पड़ी तुम्हारे

एक दिन प्रेम-साधनाके समय घुँघरुओकी ध्वनिके साथ मीराके मुखसे यह बोल निकल पडे

तुम्हरे कारण सब सुख छोड्या अब मोहि क्यूँ तरसावौ
बिरह-बिथा लागी उर अतर सो तुम आय बुझावौ
अब छोड़त नहि बणै प्रभूजी हँसकर तुरत बुलावौ
मीरा दासी जनम-जनमकी अगसे अग लगावौ

इतिहास साक्षी है कि मीराको नृत्यावस्थाम देख भगवान् श्रीकृष्णने उसे अपने हृदयमे विराजमान लिया। मीरा सदेह उनके श्रीविग्रहमे विलीन हो गय

मीराकी प्रेम-साधना अमर हो गयी। इनकी भक्ति रचनाएँ भक्तिजगत्‌की अमूल्य धरोहर हैं।

कबीरका भगवत्प्रेम

(विद्यावाचस्पति डॉ० श्रीरंजनसूरिदेवजी)

भगवत्प्रेमी संत कबीरदास उस निर्गुण ब्रह्मके उपासक थे, जिसका साक्षात्कार ज्ञान-सूर्यसे प्रकाशित अन्तर्हृदयमें ही सम्भव है। परमात्माका प्रत्यक्षीकरण तो मिथ्यात्वसे सर्वथा मुक्त निराडम्बर आत्मामें ही सुलभ हो सकता है। जो साधक भगवान्‌को सीमामें बाँध देता है, ईश्वरका सत्स्वरूप उसकी अनुभूतिसे परे हो जाता है। संत कबीरदासने सभी प्रकारकी सीमाओंसे परे होकर ब्रह्मको अपनी अन्तरात्मामें अनुभव किया था।

कबीरके युगमें तत्त्व-चिन्तन तथा योग-साधनाकी समृद्ध परम्परा थी। तत्कालीन वैष्णवाचार्य रामानुज, रामानन्द, वल्लभाचार्य मध्वाचार्य और निम्बार्क स्वामी आदिने अतिशय गूढ चिन्तनके बाद आचार्य शंकरके ज्ञान और तर्कवादी अद्वैत सिद्धान्तको भक्तिवादसे जोड़ दिया। इन वैष्णवचिन्तकों और साधकोंने ज्ञानवाद तथा भक्तिवादका समन्वय उपस्थित करनेका प्रयत्न किया।

रामानुजाचार्यके मतसे यह स्पष्ट है कि भगवान्‌के प्रति प्रेम ज्ञानसे भिन्न नहीं है, क्योंकि भक्ति भी ज्ञानविशेष ही है। चित्तमें विशुद्ध ज्ञान या विवेकख्याति होनेपर ही जागतिक विषयसे विरक्ति तथा परमात्माके प्रति अनुरक्ति सम्भव है।

आचार्य रामानुजकी दृष्टिमें ध्यान और उपासना तथा भक्तिमें कोई भेद नहीं है। कबीरकी वाणीमें भी ज्ञानकी स्थिति भक्तिसे भिन्न नहीं है, इसीलिये उनका विश्वास था कि केवल जप-तप-योग एवं वेद-पुराण-स्मृति आदि साधनोंद्वारा भगवत्प्रेमकी प्राप्ति असम्भव है। भक्तिवादी कबीर अपने मनको सम्बोधित करके कहते हैं कि योगकी युक्ति और गुरुके शब्दके साथ हरिभक्ति भी आवश्यक है। इसके बिना ही तो मनको सांसारिक दुःखाग्निमें जलना पड़ता है।

प्रेम भक्तिका मूल भाव है। कबीरके ज्ञान और योग दोनों ही ईश्वरीय प्रेमके परिपोषक हैं। कबीर हरि-रस-पानकर सदा मदमस्त रहते हैं। यहाँतक कि उन्हें अपने शरीरकी भी सुध-बुध नहीं रहती। इसलिये कि जो मदमस्त अव्यक्तमें लीन हो जाता है, वह कालजयी हो जाता है तथा वह जीवन्मुक्त और विषयातीत हो जाता है। इस प्रेमरसको पीनेके आकाङ्क्षी तो सभी रहते हैं, पर सबके लिये यह सुलभ नहीं होता, क्योंकि इस प्रेमरसका विक्रेता कलाल मूल्यके रूपमें सिर माँगता है। जिसमें ऐसे महान् उत्सर्गकी सामर्थ्य होती है, वही इसका अधिकारी होता है। महात्मा कबीरने इस प्रेमरसको अनेक रूपोंमें व्यक्त किया है—

राम रसाइन प्रेम रस, पीवत अधिक रसाल।
कबीर पीवण दुलभ है, मागै सीस कलाल॥
हरि रस पीया जाणिये, जे कबहू न जाइ खुमार।
मैमंता घूँमत रहै, नाही तन की सार॥

(कबीर-ग्रन्थावली रस कौ अंग साखी २ ४)

कबीरने लौकिक दाम्पत्य-प्रेमके माध्यमसे अलौकिक भगवत्प्रेमकी मार्मिक अभिव्यञ्जना की है। विवेकके जागरित होनेपर आत्मारूपी विरहिणीको परमात्माके प्रति जब प्रगाढ तथा अनन्य सम्बन्धकी अनुभूति हो आती है, तब वह भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये शेष जीवन उसी तरह रोती रहती है, जिस तरह क्रौञ्च पक्षी अपनी संगिनीसे बिछुड़कर रोता है। कबीरने भी आदिकवि वाल्मीकिकी तरह ही आत्माके विरहकी व्यथा-कथाको प्रभावशाली और मर्मस्पर्शी बनानेके लिये क्रौञ्चको प्रतीकित किया है—

रात्यूं रूनी बिरहनीं, ज्यूं बचौ कूं कुंज।
कबीर अंतर प्रजल्या, प्रगट्या बिरहा पुंज॥

(कबीर-ग्रन्थावली बिरह कौ अंग साखी १)

कबीर अपनी आत्माको प्रेयसी मानते हैं और परमात्माको प्रियतम। आत्माका परमात्मासे प्रेम ही भगवत्प्रेम है। इस संदर्भमें उनकी यह रहस्यवादी साखी जन-जनमें सुविदित है—

लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥

इसीके समानान्तर कबीरकी एक अन्य साखी है,

जिसका भाव है—जैसे बूँद समुद्रमे समा जाती है या लवण पानीमे विलीन हो जाता है, वैसे ही भगवान्‌की खोज करनेवाला स्वय भगवान्‌मे विलीन हो जाता है, उसे सायुज्यकी प्राप्ति हो जाती है। साखीका मूल रूप है—

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
बूद समानी समद मैं, सो कत हेरी जाइ॥
(कबीर-ग्रन्थावली लाँबि कौ अग साखी ३)

सत कबीरकी भगवद्भक्तिपर भक्तिके आचार्यों महर्षि शाण्डिल्य एव देवर्षि नारदजीका प्रभाव दिखलायी देता है। महर्षि शाण्डिल्यके अनुसार ईश्वरके प्रति परम अनुरक्तिकी अभिव्यक्ति ही भक्ति है—'सा परानुरक्तिरीश्वरे।' देवर्षि नारदजी बताते हैं, वह भक्ति ईश्वरमे परम प्रेमरूप है—'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।' कबीरकी भक्तिका भी मूलाधार प्रेम है, जिसका रूप भूमण्डलीय स्तरपर व्याप्त है। कबीरके भगवत्प्रेमम उन सभी प्रेममार्गियोकी भावनाओका समावेश है, जो प्रेमको ईश्वर-प्राप्तिका एकमात्र साधन मानते हैं।

कबीरके मतानुसार भगवत्प्रेमके लिये महान् त्याग अपेक्षित है। सती और शूर इस त्यागपूर्ण प्रेमके आदर्श हैं, जिन्हे बराबर प्राणोकी बाजी लगाकर आगे बढना पडता है। जिस व्यक्तिको भगवत्प्रेमकी उपलब्धि हो जाती है, उसकी समस्त सासारिक आकाङ्क्षाएँ मिट जाती हैं, वह निरिच्छ और अचाह हो जाता है। उसपर काम-क्रोधका कोई प्रभाव नहीं पडता। उसे तृष्णा कभी नहीं जलाती। भगवत्प्रेमी कभी असत्य नहीं बोलता। वह समदर्शी होता है एव द्वैधभावसे सर्वथा मुक्त रहता है। कबीरकी दृष्टिमे बिना भगवद्भक्तिके भवसागरसे सुखपूर्वक पार उतरना सम्भव नहीं है—

जब लगि भाव भगति नहिं करिहौं। तब लगि भवसागर क्यों तरिहौं॥
(कबीर-पदावली)

भगवत्प्रेमी कबीर परम वैष्णव थे। इसलिये उन्होने वैष्णवाकी भूरिश प्रशसा की है—

कबीर धनि ते सुदरी जिनि जाया बैसनौ पूत।
(साध-महिमाँ कौ अग साखी ७)

वैष्णव-भक्तिमें प्रपत्ति अर्थात् शरणागतिकी बडी महिमा है। कबीर-काव्यमे प्रपत्तिके सभी अङ्गो-उपाङ्गोकी विस्तृत व्यञ्जना मिलती है। वैष्णव-भक्तिम नाम-साध पूर्ण स्वीकृति प्राप्त है। कलियुगम तो नाम-जपके अ अन्य कोई गति या उपाय नहीं है। इस सदर्भम यह श प्रसिद्ध है—

हरेर्नामैव नामैव हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

इसलिये गोस्वामी तुलसीदासजीने भी राम-न रामसे बडा माना है—'*ब्रह्म राम ते नामु बड़*' (रा०च १। २५)।

कबीर सारी चिन्ता छोडकर केवल 'हरिनाम चिन्ता करते हैं। परब्रह्म रामके प्रति उनका हृदय निवेदित है—'*मन रे राँम नाँमहिं जाँनि।*'

वैष्णव-भक्तिमे प्रेम एक अनिवार्य शर्त है। रागा भक्तिमे तो प्रेम ही सर्वस्व है। वैधी-भक्तिमे भी प्रे अभिव्यक्ति दाम्पत्य वात्सल्य और सख्य आदि कई रू होती है। कबीरने ता भगवत्प्रमक अन्तगत दाम्पत्य-र अतिशय मार्मिक अभिव्यञ्जना की है। कबीरद्वारा व परमात्मा-प्रियतमकी प्रतीक्षामे आत्मा-विरहिणीकी हृदयविद तडपका उदाहरण द्रष्टव्य है—

तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहिं चैन रात नहिं निदिया, तलफ-तलफ के भोर कि
तन मन मोर रहट अस डोले सून सेज पर जनम दि
नैन थकित भए पथ न सूझै, सोईं बेदरदी सुध न लि
कहत कबीर सुनो भाई साधो हरो पीर दुख जोर कि
(कबीर-पदाव

कबीरकी आत्मारूपी प्रियतमा परमात्मारूपी प्रियत चिरवियुक्त हो गयी है। उस प्रियतमकी याद उन्ह स सताया करती है। कबीरकी ब्रह्मानुभूतिकी तरह विरहानुभूति भी उनकी अपनी ही है। वे लिखते हैं-

चोट सताणी बिरह की सब तन जर जर होइ।
मारणहारा जाणिहै कै जिहि लागी सोइ॥
(बिरह कौ अग साखी १

वस्तुत कबीरकी प्रेममूला भक्ति मूलत जनत जनार्दनकी भक्तिमे समाहित है और उनका भगवत विश्वमानव-प्रेमका ही प्रतिरूप है।

श्रीकृष्णप्रेमी रसखान

(श्रीचन्द्रदेवजी मिश्र, एम्०ए०, बी०एड्०)

रसखान सगुण काव्यधाराकी कृष्णाश्रयी शाखाके प्रमुख भक्त कवि थे। इनका पूर्वका नाम सैयद इब्राहीम था। इनका जन्म सन् १५५८ ई० मे हुआ था। ये दिल्लीके पठान सरदार थे। एक अन्त प्रेरणासे प्रेरित हो ये दिल्ली छोडकर व्रजभूमि चले गये। व्रजमे लीलाविहारी श्रीकृष्णके लोकरञ्जक चरित्रने इन्हे अपनी ओर खींच लिया और इनका लौकिक प्रेम श्रीकृष्णप्रेममे परिवर्तित हो गया। ये व्रजके ही एक श्रीकृष्णभक्त गुसाईं विट्ठलनाथजीके शिष्य हो गये। इनका शेष जीवन वहीं बीता तथा भगवान्‌की ललित लीलाके गानमे रत रहते हुए इन्होने सन् १६१८ ई० मे शरीर छोडा।

भगवत्प्रेमी कवि रसखानका मन भगवान् श्रीकृष्णके सौन्दर्य एव उनकी लीलास्थली व्रजभूमिमे ही अधिक रमा है। श्रीकृष्णके रूप-लावण्य, व्रजके लता-गुल्म, करील-कुञ्ज, यमुनातट, वशी-वट, गोचारण, वशीवादन और दही-माखनके प्रसगोका रसखानने जो प्रेमरसमय चित्रण किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इनकी कृतियाँ हैं—'सुजान रसखान' और 'प्रेमवाटिका'। पहलीमे कवित्त एव सवैये हैं और दूसरीमे दोहे।

रसखानकी भाषा व्रजभाषा है, जो अत्यन्त मधुर, सरस तथा सुबोधगम्य है। उसमे प्रवाहमयता तथा भावानुकूलता है। इनकी रचनाओमे यमक एव अनुप्रासकी छटा भी है। इस प्रकार इनकी रचनाओमे भाव-सौन्दर्य और भाषा-सौन्दर्य दोनोका मणिकाञ्चन-सयोग दर्शनीय है।

प्रेमतत्त्वके विषयमे रसखानका अभिमत है कि प्रेम अगम्य अनुपमेय एव अपार सागरके समान है। इसके पास जो पहुँच जाता है वह फिर लौटकर ससारकी ओर नहीं आता—

प्रेम अगम अनुपम अमित, सागर-सरिस बखान।
जो आवत एहि ढिग बहुरि जात नाहिं रसखान॥

रसखानके अनुसार उस प्रेमम प्रेमी एव प्रेमास्पदके मन तो एक होते ही हैं, तन भी मिलकर जब एक हो जायँ तब वह प्रेम कहलाता है। अपना तन-मन अपना न रह जाय, श्रीकृष्णका हो जाय और श्रीकृष्णका तन-मन अपना हो जाय—

दो मन इक होते सुन्यो, पै वह प्रेम न आहि।
होइ जबहिं द्वै तनहुं इक, सोई प्रेम कहाहि॥

रसखानका सौन्दर्यवर्णन अनुपम और अनोखा है। बालकरूपमे श्रीकृष्णके सौन्दर्यका वर्णन एक सवैयमे दर्शनीय है, जिसमे धूल-धूसरित, सिरपर अतीव सुन्दर चोटीसे सुशोभित श्रीकृष्ण अपने आँगनमे मक्खन-रोटी खा रहे हैं। इतनेमे एक कौवा उनके हाथसे मक्खन-रोटी छीनकर उड भागता है। इस घटनाको देखकर एक गोपी अपनी सखीसे इस प्रकार कह रही है—

धूरि-भरे अति सोभित स्याम जू तैसी बनी सिर सुदर चोटी।
खेलत-खात फिरै अँगनाँ, पग पैजनी बाजतीं पीरी कछोटी॥
वा छबि को रसखानि बिलोकत, वारत काम-कलानिधि-कोटी।
काग के भाग कहा कहिए, हरि-हाथ सो लै गयो माखन-रोटी॥

एक दिन प्रात कोई गोपी नन्दजीके घर आती है। यशोदाजी अपने लाडले कृष्णको उबटन-तेल लगा, आँखोमे काजल कर, भौंहे बना, भालपर डिठौना लगा और गलेमे सुन्दर हार पहनाकर निहारतीं तथा लाड-प्यार कर रही हैं। उक्त गोपी भगवान् श्रीकृष्णके सौन्दर्यका अवलोकन कर लौटती है और अपनी सखीसे यशोदाके भाग्यकी सराहना करती हुई कहती है—

आजु गई हुती भोर ही हौं, रसखानि रई हित नद के भौनहिं।
वाको जियौ जुग लाख करोर, जसोमति को सुख जात कह्यो नहिं॥
तेल लगाइ लगाइ कै अजन, भौंह बनाइ बनाइ डिठौनहिं।
डारि हमेल निहारति आनन वारितज्यौ चुचुकारति छौनहिं॥

कन्हैयाके कानोमे कुण्डल, सिरपर मोर-पख, हृदयपर विराजती हुई वनमाला, हाथमे बाँसुरी और अधरपर मुसकानकी तरङ्ग आदि एक साथ मिलकर महाछविकी छटा छहरा रही है। उनके तनपर फहराता हुआ पीताम्बर सैकडा सौदामिनियोकी प्रभाको फीकी कर दे रहा है और बाँसुरीकी मधुर ध्वनि कानामे पडते ही 'कुल'की मर्यादाकी सुध भी नहीं रह पाती है—

कल काननि कुडल मोर पखा उर पै बनमाल बिराजति है।
मुरली कर मे अधरा मुसकानि-तरग महा छबि छाजति है॥
रसखानि लसै तन पीत पटा सत दामिनि की दुति लाजति है।
वह बाँसुरी की धुनि कान परे, कुल कानि हियौ तजि भाजति है॥

किशोरावस्थाको प्राप्त श्यामसुन्दर अब गोप-बालकोके साथ गोचारणहेतु वृन्दावन, यमुनातट जाने लगे हैं। उनके दिव्य सौन्दर्यका अवलोकन करके गोपिकाएँ उनके प्रति अपना तन-मन और प्राण निछावर कर बलैया लेती हैं। मनमोहन अपनी मुरलीकी तान छेडकर सबको रिझा लेते हैं। उनके वशीभूत सारी गोपियाँ अपनी मर्यादाको बिसार देती हैं।

जिस दिनसे वह नन्दलाल इस व्रजमे गाये चरा गया है और मोहक स्वरोमे बाँसुरी बजाकर सुना गया है, उसी दिनसे कुछ रोग-सा देकर सबके हृदयमे प्रवेश कर गया है, जिससे मर्यादाका ध्यान नहीं रहा तथा व्रजके सभी लोग उसके हाथ बिक गये हैं—

जा दिन ते वह नद को छोहरा या ब्रज धेनु चराय गयौ है।
मोहिनी ताननि गोधन गाय लै बेनु बजाय रिझाय गयौ है॥
वा दिन सो कछु टौना सो कै रसखान हिये मे समाय गयौ है।
काउ न काहू की कानि करै सिगरो ब्रज बीर बिकाय गयौ है॥

कन्हैयाकी प्रेमलीलाका विलास दिनो-दिन बढता ही जा रहा था। उनका चोरी-चोरी किसीका मक्खन खा जाना दही-दूध ढरका देना और किसी गोपीका चीर लेकर वृक्षकी डालपर बैठ जाना आदि गोपियोके लिये असह्य-सा होता जा रहा था। फिर तो यशोदाजीके पास पहुँचकर वे कन्हैयाकी शिकायत करनेसे चूकती नहीं—

काहू को माखन चाखि गयौ अरु काहू को दूध दही ढरकायौ।
काहू को चीर लै रूख चढ्यौ अरु काहू को गुज छरा छहरायौ॥
मानै नहीं बरज्यौ रसखान सो जाने है राज इन्हीं घर आयौ।
आवरी बूझे जसोमति को इहि छोहरा जायौ कि मेव मगायौ॥

यह सब होनेपर भी उस छलियाको छोडना भी गोपियोसे बनता नहीं था बल्कि वे तो उसीके रूप-स्वरूपका स्वाँग बनाकर ग्वाल-बालोकी मण्डलीमे घूमते हुए गो चरानेकी चाह लेकर उल्लसित होती हैं। वे यह भी कहती हैं कि हम चाहे सब कुछ वैसा ही कर लेगी पर श्रीकृष्णके अधरामृतका सदा पान करनेवाली मुरली (जो गोपियोकी सौतके रूपमे है)-को अपने अधरपर नहीं रखेगी—

मोरपखा सिर ऊपर राखिहौ, गुज की माल गरे पहिरौंगी।
ओढि पितबर लै लकुटी बन गोधन ग्वालन सग फिरौंगी॥
भावतो सोई मेरो रसखान सो तेरे कहे सब स्वाँग करौगी।
या मुरली मुरलीधर की अधरान धरी अधरा न धरौगी॥

एक व्रजाङ्गना जो मुरलीधरकी बाँसुरीकी सुरीली तान सुनकर मोहित और अत्यन्त मुग्ध हो चुकी है, सारे व्रजवासियोसे जोरदार शब्दोमे ऐलान करके कहती है कि कल जब वे बाँसुरी बजायेगे तब मैं अपने कानोको अगुलियासे बद कर लूँगी, क्याकि उनकी मधुर मुसकानको देख लेनेके बाद अपनेको सँभाल रखना सम्भव नहीं है। इस आशयके एक सवैयेमे कविवर रसखानजी कहते हैं—

कानन दै अँगुरी रहिबो जबहीं मुरली धुनि मद ,बजैहै।
मोहनी तानन सौं रसखानि अटा चढि गोधन गैहै तौ गैहै॥
टेरि कहौ सिगरे ब्रज लोगनि काल्हि कोऊ कितनो समुझैहै।
माई री, या मुख की मुसकानि सम्हारी न जैहै न जैहै न जैहै॥

भगवान्‌की ललित लीलाकी विभिन्न झाँकियाँ प्रस्तुत करनेमें रसखानजीका मन कभी थकता नहीं। वे कहते हैं— जिस निर्गुण-निराकार ब्रह्मका विवेचन गुणीजन, गणिका गन्धर्व, शारदा, शेष महेश एव ब्रह्मा आदि करके पार नहीं पाते तथा योगी, यति तपस्वी एव सिद्ध समाधि लगाकर भी अन्त नहीं पाते, उसीको सगुण-साकार रूपमे अहीर-कन्याएँ ढकनीभर मट्ठेपर नचाया करती हैं—

गावै गुनी गनिका गधर्व औ सारद सेस सबै गुन गावत।
नाम अनत गनत गनेस ज्यौं ब्रह्मा त्रिलोचन पार न पावत॥
जोगी जती तपसी अरु सिद्ध निरतर जाहि समाधि लगावत।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावत॥

जिस निर्गुण ब्रह्मका निर्वचन करते-करते वेद-पुराण भी थक जाते हैं और उसके स्वरूप—स्वभावको 'इदमित्थम्' कहकर बता नहीं पाते तथा न ही कोई मनुष्य बता पाता है, उसे ही प्रेमके कायल व्रजके कुञ्ज-कुटीरमे बैठकर रूठी हुई राधाके पाँवोको पलोटते देखा गया है। इस छटाको रसखानकी कवितामें देखा जा सकता है—

ब्रह्म मैं ढूँढ्यौ पुरानन गानन बेद-रिचा सुनि चौगुने चायन।

देख्यौ सुन्यौ कबहूँ न कितूँ वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
टेरत हेरत हारि परयो रसखानि बतायौ न लोग-लुगायन।
देखौ दुरौ वह कुज कुटीर मै बैठो पलोटत राधिका पायन॥

भगवान्‌का नाम, रूप, लीला एव धाम चारो ही उनके श्रीविग्रह माने गये हैं। रसखान अगले जन्ममें भी लीलाविहारी श्रीकृष्णकी लीलास्थली व्रज एव गोकुल गाँवमे ही रहनेकी कामना करते हैं। चाहे वह मनुष्य, पशु, पत्थर और पक्षी आदि जो भी हो, भगवान्‌का सानिध्य सुलभ हो, रसखानके प्रसिद्ध सवैयेमे इस आशयको देखे—

मानुष हौं तौ वही रसखानि, बसौ व्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तौ कहा बसु मेरौ, चरौं नित नद की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तौ वही गिरि को, जो धरयौ कर छत्र पुरदर धारन।
जो खग हौं, तौ बसेरौ करौं, मिलि कालिदी कूल कदब की डारन॥

रसखानके अनुसार सुख-सम्पत्ति, योगाभ्यास, विस्तृत साम्राज्य जप-सयम, प्राणायाम तथा तीर्थ-व्रत आदि करनेसे क्या होता है, जबतक नन्दलाल भगवान् श्रीकृष्णके प्रति प्रेम नहीं किया गया—

कहा रसखानि सुख सपति सुमार महँ,
कहा महाजोगी ह्वै लगाये अग छार को।
कहा साधें पचानल, कहा सोये बीचि जल,
कहा जीति लाये राज सिधु वारपार को॥
जप बार-बार तप सजम बयार व्रत,
तीरथ हजार अरे बूझत लवार को।
सोई है गँवार जिहि कीन्हौ नहिं प्यार,
नहीं सेयौ दरबार यार नद के कुमार को॥

प्रेमी भक्तके लिये अपना सर्वस्व समर्पण ही प्रेमकी पराकाष्ठा है। प्राण वे ही हैं जो प्रियतमके लिये सदा बेचैन रहे, रूप वही सार्थक है जो प्रियतमको रिझा ले, सिर वही है जिसे वे स्पर्श कर ले, पैर एव शरीर वे ही हैं जो प्यारेका स्पर्श करे। दूध वही है जिसे उन्होने दुहवाया हो और दही वही है जिसे उन्होने ढरका दिया हो, स्वभाव भी वही सुन्दर एव सार्थक है जिसे वे साँवले-सलोने सुहावने लगें—

प्रान वही जु रहैं रिझि वापर रूप वही जिहि वाहि रिझायौ।
सीस वही जिन वे परसे पद, अग वही जिन वा परसायौ॥
दूध वही जु दुहायौ वही सोई, दही सु सही जु वही ढुरकायौ।
और कहा लौं कहौ रसखान री भाव वही जु वही मन भायौ॥

इस प्रकार यहाँ रसखानके काव्यम श्रीकृष्ण-प्रेमतत्त्वका सक्षेपमे अवलोकन किया गया है। रसखान कविकी रसिकता, रसज्ञता और श्रीकृष्णकी प्रेमाभक्तिने उन्हे भक्तजनोमे सदाके लिये अमर कर दिया है। हमे भी उनके प्रति ऋणी होना चाहिये। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रने रसखानके सन्दर्भमे कितना सटीक कहा है—

इन मुसलमान हरिजन पै कोटिन हिन्दुन वारिये।

रहीमका भगवत्प्रेम

(श्रीसुरेशचन्द्रजी श्रीवास्तव एम्०कॉम० एल् एल्० बी०)

अब्दुर्रहीम खानखाना भगवान् रामके बहुत बडे प्रेमी उपासक थे। उन्होंने अपने सारगर्भित दोहारूपी गागरमे भगवान् रामकी महिमाका सागर भरनेका सफल प्रयास किया है। कवि रहीमके पिता बैरमखाँ तातार थे। भारतक प्रथम मुगलशासक बाबर एव उसके पुत्र हुमायूँके विश्वासपात्र सिपहसालार ही नहीं, बल्कि मुगलसम्राट् अकबरके ये सरक्षक भी थे। अब्दुर्रहीम खानखाना स्वय एक सुयोग्य सेनानायक एव सम्राट् अकबरके सलाहकार तथा नवरत्नोमेसे एक अनन्य रत्न भी थे।

कवि रहीम फारसीके उच्च कोटिके विद्वान् थे किंतु उनके दोहोसे परिलक्षित होता है कि वे हिन्दी-साहित्यके भी मर्मज्ञ थे इसीसे हिन्दी-साहित्यमे उनका एक विशिष्ट स्थान है। उनके दोहे अत्यन्त सारगर्भित हैं। कवि रहीमके दोहे सामान्य उपयोगिताके कारण बहुत लोकप्रिय हैं। जहाँ उनके दोहाम अन्य विषय-वस्तुएँ हैं वहीं भगवान् रामकी भक्ति भी एक प्रमुख विषय-वस्तु है। उनके अनेक दोहोमे भगवान् रामकी महिमाका प्रभावी वर्णन द्रष्टव्य है।

निराकार, निर्गुण, निरीह निर्विकल्प अनादि, अनन्त, परब्रह्म परमेश्वर, अनन्त जगदीश्वरकी महिमा अनिर्वचनीय

बताते हुए कवि रहीमने लिखा—

रहिमन बात अगम्य की, कहन सुनन की नाहि।
जे जानत ते कहत नहिं, कहत ते जानत नाहि॥

स्पष्ट है कि कविवर रहीमकी अध्यात्मम गहरी पैठ थी। उनके अगम्य अर्थात् अनन्त जगदीश्वरकी बात कहने-सुननेकी नहीं, बल्कि मनन और स्वाध्यायकी है। जो अगमकी गतिको किञ्चिन्मात्र भी समझ पाता है, वह उसीमे रम जाता है और लीन हो जाता है। इतना आत्मविभोर हो जाता है कि वह उसका वर्णन कर ही नहीं सकता।

कविवर रहीमको इस बातका अनुभव हुआ कि झूठे मोह, माया ममता, तृष्णा एव सासारिक प्रपञ्चमें उलझे रहनेवालेको भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हो सकती। उन्होंने कहा है—

अब रहीम मुसकिल पड़ी, गाढ़े दोऊ काम।
साँचे से तो जग नहीं, झूठे मिलैं न राम॥

जैसे दो नावपर पैर रखकर निर्वाह करना असम्भव होता है, वैसे ही रहीमको मुश्किल आ पडी कि सच्चे मार्गके अनुसरणसे इस ससारमे निर्वाह कठिन है। सासारिकता निभानेके लिये सत्यसे परे जो मार्ग है उसपर चलकर मनुष्य लोभ, मोह, यश, वैभव, घर तथा परिवारके प्रपञ्चमे उलझकर रह जाता है। उस असत्य-मार्गपर भटकनेवालेको भौतिक और क्षणिक सुख तो कदाचित् मिल भी जाय कितु भगवान् रामकी प्राप्ति नहीं हो सकती। सत्य-मार्गपर चलकर दुनियादारी निभाना और असत्य-मार्गपर चलकर रामकी प्राप्ति दोनो ही असम्भव हैं।

कवि रहीमको सासारिकतामें उलझे रहने अर्थात् सत्य-मार्गसे च्युत रहनेका कदाचित् बडा क्षोभ हुआ, उन्होने कहा—

राम-नाम जान्यो नहीं, जान्यो सदा उपाधि।
कहि रहीम तिहि आपुनो, जनम गँवायो बादि॥

कवि रहीमको पछतावा इस बातका था कि सदैव सासारिक विषय-वासनाओमे लिप्त रहनेके कारण वे राम-नामका महत्त्व नहीं समझ पाये जिससे रामकी प्राप्ति नहीं हो सकी। जो कुछ जाना-समझा वह सब सासारिक उपाधि (मोह माया विषय, वासना आदि)-मात्र थी जिससे सारा जन्म व्यर्थ हो गया। इसी पछतावेको वे इस प्रकार बताते हैं—

राम-नाम जान्यो नहीं भइ पूजा मे हानि।
कहि रहीम क्यों मानिहैं, जम के किंकर कानि॥

राम-नामका महत्त्व जाने विना थोथी पूजा करनेसे बात बिगड गयी। राम-नामका जाननेवाला तो राममे लीन हो जाता है। स्वय राममय हो जाता है। उसके लिये बाह्याडम्बरका कोई महत्त्व नहीं होता। पछतावा और भय इस बातका है कि थोथी पूजासे सद्‌गति नहीं होगी तथा यमदूतोको भी इस थोथी पूजासे भरमाया नहीं जा सकता।

दिनभरका भूला यदि शामको घर वापस आ जाय तो उसे भूला नहीं कहते। रहीम कविने राम-कथाका स्वाध्याय किया। रामको जाननेका यह प्रथम चरण था। कदाचित् अहल्या-उद्धार-प्रसङ्गतक पहुँचे तो उन्ह अनुभव हुआ कि सारी दुनिया रामको पानेको आतुर है। उन्होने कहा—

धूर धरत नित सीस पै कहु रहीम केहि काज।
जेहि रज मुनि पत्नी तरी, सो ढूँढ़त गजराज॥

राम-कथा-स्वाध्याय-क्रमम कवि रहीमको प्रेमी भरतके चरितने बहुत प्रभावित किया। तुलसीबाबाके कथन—*'जगु जप राम रामु जप जेही'* अथवा *'जौं न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुर धरनि धरत को॥'* या *'सुचि सुबधु नहिं भरत समाना'*—ने भरतकी महानताकी अमिट छाप रहीमके हृदयपर डाली और वे विचारक तो थे ही, कह उठे—

अनुचित बचन न मानिए, जदपि गुरायसु गाढि।
है रहीम रघुनाथ ते सुजस भरत को बाढि॥

रामने माता-पिताकी आज्ञा मानी और राज-पाट त्यागकर वन-गमन किया। वनमे कितनी विपदाएँ सहीं। भरतने मा कैकेयीके वचनको नहीं माना और अयोध्याका राज्य त्यागकर रामकी चरण-पादुकाको राज्य कराया कितु फिर भी रामसे भी अधिक भरतके त्यागको महान् बताया गया तथा स्वय भगवान्‌ने भरतकी प्रशसा की है। इसीलिये रहीम कविने व्यवस्था दी कि अनुचित आदेशका पालन नहीं करना चाहिये।

रहीम कदाचित् सीता-हरण-प्रसङ्गसे दु खी हुए और लौकिक दृष्टिसे भवितव्यताको प्रधान बताते हुए कहा—

राम न जाते हरिन सँग सीय न रावन साथ।
जो रहीम भावी कतहुँ, होत आपुने हाथ॥

यह भावी ही थी कि राम मृगया करने गये और

सीताका हरण हुआ, यदि भावी अपने वशकी चीज होती तो राम क्या हरिणके पीछे जाते, क्यो सीताका हरण होता, किंतु भावीपर किसीका वश नहीं होता।

भगवान् रामकी दानशीलतासे कवि रहीम इस प्रकार प्रभावित हुए कि वे कह उठे—

माँगे मुकरि न को गयो केहि न त्यागियो साथ।
माँगत आगे सुख लह्यो ते रहीम रघुनाथ॥

लोकरीति यह है कि माँगनेवालोसे सभी बचते हैं। यदि कोई यह समझ ले कि उसका साथी कुछ माँगेगा तो उसका साथतक छोड देता है, किंतु भगवान् राम तो ऐसे दानी हैं कि वे माँगनेके पहले ही दे देते हैं। रावणने भगवान् शंकरको अपने सिर काटकर चढाये जिससे प्रसन्न होकर भगवान् शंकरने रावणको लङ्काका राज्य दिया, किंतु उसी लङ्काके राज्यको भगवान् रामने विभीषणको बिना माँगे ही दे दिया और वह भी इस संकोचके साथ कि 'यह बहुत कम है।'

राम-कथाके स्वाध्याय एव चिन्तनसे ही कदाचित् कविवर रहीमको इस बातका विश्वास हो गया कि इस भवसागरसे पार उतरनेके लिये भगवान् रामका ही एकमात्र सहारा है, अत प्रेमसे उन्हींके शरणागत होना चाहिये। उन्होने कहा—

गहि सरनागति राम की, भवसागर की नाव।
रहिमन जगत-उधार कर, और न कछू उपाव॥

इस ससाररूपी सागरको पार करनेके लिये मात्र एक ही साधन है—भगवान् रामकी शरणागतिरूपी नाव, इसके अतिरिक्त ससारसे उद्धारका और कोई उपाय नहीं। -

अन्तमे रहीमने प्रभु श्रीरामजीके सम्मुख आत्मसमर्पण किया और कहा—

मुनि नारी पाषान ही, कपि पसु, गुह मातंग।
तीनो तारे रामजू, तीना मेरे अंग॥

आशय यह कि भगवान् रामने गौतम-नारी अहल्या, जो पाषाण बन गयी थी उसे तार दिया। वानर-जैसे पशुओको तार दिया और निषाद-जैसे नीचको तारा तो रहीम कहते हैं कि मुझे भी तारो, क्योकि पाषाणवृत्ति पशुवृत्ति और नीचवृत्ति मुझमे तो तीना है। मेरा हृदय पाषाण है, मेरी वृत्ति पाशविक है और मेरी प्रवृत्ति गुहकी भाँति नीच है। समर्पणके पश्चात् शरणागत-वत्सल भगवान् राम शरण देते ही हैं। उन्होंने तो कहा है—

जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥
जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहि मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसे॥

(रा०च०मा० ५।४८।२—७)

यही नहीं भगवान् रामने यह भी तो कहा है—*'मम पन सरनागत भयहारी'*। कविवर रहीमको भगवान् रामका उक्त प्रण याद हो आया और वे भगवान् रामके शरणागत होकर अपनी सद्गतिके लिये तो सुनिश्चित ही हो गये साथ ही भवसागर पार होनेका मार्ग—भगवान्की प्रेमा-भक्तिका आश्रय भी बता गये। धन्य है कविवर रहीमका भगवत्प्रेम।

महाकवि घनानन्दका प्रेम-निवेदन

(डॉ० श्रीलखनलालजी खरे, एम०ए० पी-एच०डी०)

हिन्दी-साहित्यके इतिहासके भक्तिकालमे भगवत्प्रेमकी जो निर्मल धारा प्रवाहित हुई थी, रीतिकालकी वासनाजन्य कविताने उसे प्रदूषित करनेका प्रयत्न किया, परंतु घनानन्द-जैसे अनन्य साधकोकी सजगतासे उसकी पावनता कलुषित न हो सकी। रीतिकालमे घनानन्दने प्रेमके जिस उदात्त स्वरूपको अक्षुण्ण रखा वह अन्यत्र दुर्लभ है। मानसमे राघवेन्द्र सरकार स्पष्ट कहते हैं कि वे निर्मल हृदयवालोको ही प्राप्य हैं, उन्हे छल-छिद्र नहीं सुहाते। निर्मल हृदय ही प्रेमका स्रोत है। कविवर घनानन्द भी यही कहते हैं—

अति सूधो सनेह को मारग है जहँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहँ साँचे चलै तजि आपनपौ, झझकैं कपटी जे निसाँक नहीं॥
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ यहाँ एक ते दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढे हौ कहौ, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं।

घनानन्दकी प्रेमयात्रा स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर हुई है। इनका लौकिक तथा मासल प्रेम कालान्तरमे कृष्णप्रेममे परिणत हो गया, वह लौकिकसे अलौकिक हो गया।

दिल्लीसम्राट् मुहम्मदशाह रगीलेके मीरमुशी घनानन्द मधुर कण्ठके धनी गायक थे और दरबारकी ही एक गणिका—सुजानपर आसक्त थे। ईर्ष्यालु दरबारियोके षड्यन्त्रके कारण बादशाहने इन्हे राज्यसे निकाल दिया। घनानन्दने सुजानसे अपने साथ चलनेकी मनुहार की, पर उसने निर्ममतापूर्वक अस्वीकार कर दिया। घनानन्दकी आँखोपर पडा मोहावरण छिन्न हो गया। व्यथित होकर वे मथुरा आ गये और श्रीकृष्णके चरणारविन्दामे समर्पित हो गये। अपने आराध्यपर अपनी प्रेमिकाके नामको भी न्योछावर कर दिया, श्रीकृष्णको ही उन्होने सुजान बना दिया।

घनानन्दकी भक्तिम समर्पणका भाव सर्वाधिक है और यही तत्त्व प्रेमका प्रथम तथा अनिवार्यस्वरूप है। राधामाधवके प्रति प्रेम-निवेदनम भक्त अनुभूतिपूर्वक मङ्गलमयी आरती उतारता है—

नेह सो भाय सजोय धरी हिय दीप दसा जु भरी अति आरति,
रूप उज्यारे अजू ब्रजमोहन, सौहनि आवनि ओर निहारति।
रावरी आरति बावरी लौ घनआनँद भूलि वियोग निवारति,
भावना धार हुलास के हाथनि मोहित मूरति हेरि उतारति॥

घनानन्दकी दृष्टिमे प्रेम ससार और जीवनका महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। प्रेमपन्थ ज्ञानपन्थसे भी श्रेष्ठ है। इसम प्रिय और प्रियतमके मध्य द्वैतभाव सर्वथा तिरोहित हो जाता है। प्रेमकी वृत्ति सर्वथा निर्मल है, जिसे धारण करनेसे समस्त वासनाएँ विलुप्त हो जाती हैं और अन्त करण विशुद्धानन्द-रस-वर्षणसे आप्लावित हो जाता हे—

चदहि चकोर करे सोऊ ससि देह धरै,
मनसा हू रै एक देखिबे को रहै द्वै।
ज्ञान हू ते आगे जाकी पदवी परम ऊँचो,
रस उपजावे ता मे भोगी भोग जात ग्वै॥

स० १७९६ म मथुरापर नादिरशाहने आक्रमण किया। 'यह बादशाहका मीर मुशी था। अत इसके पास धन बहुत होगा'—यह सोचकर सिपाही 'जर-जर' कहकर उनसे धनकी माँग करने लगे। विरक्त सन्यासी घनानन्दने 'जर' का उलटा 'रज-रज' कहकर मथुराकी पावन धूल उनकी ओर उछाल दी। क्रोधान्ध सिपाहियाने इनका वध कर दिया। मृत्युके समय हृदयकी समस्त पीडा उनके निम्नलिखित पदमे ध्वनित हो उठी—

बहुत दिनान को अवधि आसपास परे,
खरे अरबरनि भरे हैं उठि जान को।
कहि कहि आवन छबीले मनभावन को
गहि गहि राखति ही दै दै सनमान को।
झूठी बतियानि की पत्यानि त उदास है कै,
अब ना घिरत घन आनँद निदान को।
अधर लगे है आनि करि कै पयान प्रान,
चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजान को॥

निजानन्दाचार्य श्रीदेवचन्द्रजीकी प्रेमोपासना

(स्वामी श्रीब्रह्मवेदान्ताचार्यजी)

निजानन्दाचार्य देवचन्द्रजी साधकको समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रदान करते हैं। वे उसे चेतनाके उस शिखरपर ले जाते हैं जहाँ भेदभाव मिट जाता है और भिन्नताआके बीच एकता एव सामञ्जस्यका दर्शन होने लगता है। निजानन्दाचार्य देवचन्द्रजीके दर्शनमे ज्ञान कर्म और भक्तिका समन्वय है, परतु उनका प्रेमी हृदय अधिक प्रबल है तथा इसी कारण योग एव बोधसे अधिक महत्त्व वे प्रेमको देते हैं। साधनाकी त्रिपुटीम यदि योग और बोध आधारबिन्दुओपर है तो प्रेम शीर्षबिन्दुपर। प्रेम सर्वोपरि है उसके समान कुछ दूसरा नहीं है—

इसक बड़ा रे सबन मे ना कोई इसक समान।
एक तेरे इसक बिना, उड़ गई सब जहान॥

देवचन्द्रजीके लिये प्रेम ही परमात्मा है—परमात्मा निर्गुण-निराकार ब्रह्म नहीं बल्कि रसमय है। प्रेम ही उसका स्वरूप है। भक्त न तो भुक्ति चाहता है न मुक्ति वह तो मात्र प्रभुका प्रेम और अनुग्रह चाहता है। प्रेम ही उसका सर्वस्व होता है। यही कारण है कि वह सारूप्य न चाहकर प्रभुका सानिध्य चाहता है। ब्रह्मके साथ तादात्म्य स्थापित कर ब्रह्म बन जानेमे कोई आनन्द नहीं है आनन्द तो उसका सानिध्य-लाभ करने—उसका रस लेनेमे है—

न चाहो मै बुजरकी, न चाहो खिताब खुदाय।
इसक दीजे मोहे अपना मेरा याही सो मुद्दाय॥

प्रेम ही मुक्ति है। प्रेमसे बढकर न कोई आनन्द है, न कोई मुक्ति ही। प्रेममे मुक्ति सहज ही उपलब्ध हो जाती है। प्रेमीके लिये भवसागर गोपदपरिमाण हो जाता है। यही कारण है कि देवचन्द्रजी गोपी-प्रेमकी सराहना करते हैं और उसे रसमय मानते हैं—

यामें प्रेमलक्षण एक पारब्रह्म सो एक गोपियो ए रस पाया।
तब भवसागर भया गोपद बछ, बिहगम पैड़ा बताया॥

देवचन्द्रजीने अपनी अभिलाषा निम्नलिखित शब्दोमे व्यक्त की है—

रे पिरीअम मैगा सो लाड़ करे।
एहड़ी किज का मुदसे खिलदड़ी लगा गरे॥

अर्थात् हे प्रियतम! लाड करके माँगती हूँ। मुझसे कुछ ऐसा स्नेह दिखा कि हँसती हुई तेरे गले लग जाऊँ। भक्त अपनी भावनाके अनुरूप प्रभुकी मूर्ति देखता है उससे सम्बन्ध जोडता है। वह परमात्माको स्वामी, पिता, माता सखा, पुत्र प्रेमी आदि विभिन्न रूपोमे देखता है। इस कारण दास्य सख्य वात्सल्य माधुर्य आदि भावोंसे भक्त परमात्माकी उपासना करता है। परतु ये जितने प्रकारके सम्बन्ध हैं, उनमें सबसे सरस और मधुर सम्बन्ध प्रेमी-प्रियतमका सम्बन्ध है। इसी कारण निजानन्दाचार्यने मधुरभावकी साधनाको सर्वोपरि महत्त्व दिया है। उन्होने परमात्माको प्रियतम माना है और आत्माको प्रेमिका। इनके बीच प्रेमका सम्बन्ध है, आत्मा और परमात्माका वर्णन वे दर्शनकी वैचारिक पदावलीमे नहीं करते, बल्कि इसके लिये रागात्मक पदोका व्यवहार करते हैं। वे परमात्माको प्रियतम साजन पिया, साई दूल्हा, खसम, आशिक, महबूब आदि शब्दोसे अभिहित करते हैं—

तू धणी, तू काध, तू मूजो, तू खसम।
ही मगाथी लाडमे, जानी मूर रसम॥

अर्थात् आप मेरे स्वामी हैं मालिक हैं और पति हैं। अपने घरकी मूलरीति—कुलधर्म जानकर मैं यह लाड माँगती हूँ। परमात्मा परम पुरुष हैं, वे ही एकमात्र पुरुष हैं और बाकी सारी आत्माएँ उनकी प्रियतमाएँ हैं—

पुरुष दूजा कोई काहू न कहावे।
सबों भजिया कर भरतार॥

परमात्मा पति है और आत्मा उसकी दुलहन। प्राणनाथ ऐसे दूल्हेपर वारी-वारी जाते हैं—

मू दुलहिन के जाहेर ते केई, मू दूल्हा जाहेर तू थेओ।
महामत कहे इन दुल्हेपर, मै वारी-वारी दुलहिन॥

निजानन्दाचार्यकी प्रेमभावना विरहमूलक है। वे मानते हैं कि आत्मा परमात्मासे विलग हो गयी है और इसी कारण वह दु ख भोग रही है। मात्र परमात्मा ही सच्चिदानन्द है, उससे अलग होनेपर दु ख-ही-दु ख है। विरहका दु ख दारुण है। जैसे मछली पानीके बिना दु ख झेलती है, तडपती है, वैसे ही परमात्माके विरहमे आत्मा तरस रही है। पानीके बिना सूखे पाटपर गोता लगाते, चोट खाते उसकी उम्र बीत रही है—

गोता खदे बेईं उमर, पट सूकेरे पाणी।

परमात्माके बिना एक-एक पल एक-एक युगकी भाँति प्रतीत होता हे, काटे नहीं कटता—

तम बिना जे घड़ी गयी अमे जाण्या जुग अनेक।
ए दुख मारो साथ जाणे के जाणे जीव वसेक॥

भूलवश परमात्मासे अलग हो जानेके कारण आत्मा कटी हुई लताकी भाँति मुरझा गयी है। अब परमात्माके बिना रहा नहीं जाता। बार-बार हृदय भर आता है और ससार अग्नितुल्य लगता है—

अब हम रह्यो न जाव ही, मूल मिलावे बिन।
हिरदे चढ़-चढ आवही, ससार लगत अगिन॥

परमात्मा ही जीवनकी सरसता है। उसके बिना जीवन मरुभूमिकी भाँति विरहज्वालामे जल रहा है। परम धाममे परमात्माके मिलनका जो आनन्द आत्माको हुआ था उसकी तो अब स्मृतितक शेष नहीं है। ससार-विरहके दु खने तो अब मिलन-सुखकी स्मृतितक भुला दी है। हृदय वीरान हो गया है। अब तो उस सुखका स्मरणतक नहीं आता—

हिन सुखे सदिपु गालियु आईन अलेखे।
हियडो मूसु जो थियो, हिये न अच्चेते॥

परमात्मासे आत्मा अपनी ही दुर्बलताके कारण अलग हो गयी है। तत्त्वत आत्मा परमात्मासे अभिन्न है, परतु माया, अज्ञान या अविद्याके कारण वह परमात्माको—अपने परमाश्रय और स्वामीको भुला बैठी है तथा इसी कारण वह दु ख भोग रही है—

धणी मूहजी रुहजा गिनी बेईं विसराईं।
पेईस ते पेचनमें, वड़ी जार बड़ाई॥

नींदकी अवस्थामे जैसे व्यक्ति स्वप्नमे खो जाता है—अपने स्वरूपको भूल जाता है और असत्य—मायाम भटकने लगता है, उसी प्रकार आत्माएँ भवनिशाम खो गयी हैं, वे मायाका शिकार हो गयी हैं और अज्ञान तथा स्वप्नमे अपनी भूलसे ही परमात्मासे जुदा हो गयी हैं। अलग होकर वे परमात्माके लिये तडप रही हैं—

ज्यो नींद मे देखिये सुपन, यो उपजे हम व्रज वधु जन।
उपजत ही मन आसा घनी, हम कब मिलसी अपने धनी॥

जगत् माया या मिथ्या होनेके कारण कभी उसकी पकडमे आ ही नहीं सकता। परमात्मा ही उसका एकमात्र अवलम्ब है।

निजानन्दाचार्य देवचन्द्रजी मानते हैं कि प्रियतमके बिना उनकी पुकार सुननेवाला कोई अन्य नहीं है। वास्तवमे प्रत्येक खोज परमात्माकी ही खोज है—प्रत्येक प्रेम श्रीकृष्ण-प्रेम है। बाह्य वस्तुओके प्रति हमारा आकर्षण इसीलिये है कि बाहर हम उनका प्रतिबिम्ब पाते हैं, परतु बाहर उनकी तलाश करना मात्र छायाके पीछे भागना है। परमात्मा तो हमारे भीतर समाया है।

निजानन्दाचार्य देवचन्द्रजी परमात्माका वास आत्मामे ही मानते हैं। यह हमारी भूल है कि हम ससारमे सुखकी तलाश करते हैं। मिथ्या जगत्मे ही परम धामका सुख चाहते हैं, किंतु वह सुख मात्र परमात्मासे मिलनेपर ही सम्भव है। निजानन्दाचार्यजी कहते हैं—मैं यहीं बैठी अर्शका सुख माँगती हूँ और मेरे प्रियतम मुझे अपने घर बुलाते हैं—

हित बेही मगू सुख अरसजा, धणी मिडन कोठे घर।

निजानन्दाचार्य देवचन्द्रजी स्वलीला 'द्वैत' मे विश्वास करते हैं। उनके अनुसार परमात्मासे आत्माका अलगाव भी उसीकी लीला है। जगत् परमात्माकी लीला है। परमात्मामे माधुर्यभाव या आनन्दतत्त्वकी प्रधानता होनेके कारण वे लीला करते हैं। जो स्वरूपसे एक हैं वे ही लीलामे दो हो जाते हैं और इस प्रकार आत्मा एव परमात्माका अलग स्वरूप दिखायी देता है—

स्वरूप एक है लीला दोय॥

परमात्मा और आत्माके बीच आँखमिचौनीका खेल चल रहा है। परमात्मा छिप गया है और आत्माएँ उसे ढूँढ रही हैं। उनके बीच मायाका परदा है और उसी परदेके पीछेसे परमात्मा प्रकट होते हैं—

रुह विहारे रादमे, पाण बैठ परदेह।
सुथ न्हाए के रूहके, राद न अच्चे छेह॥

परमात्मा आत्माके प्रति अपने प्रेमकी अभिव्यक्ति और आनन्दके विस्तारके लिये इस लीलाका आयोजन करते हैं।

राद डिखारिये उमेदके, जगाइये लाड धारण॥

निजानन्दाचार्यजी प्रेमके इस विधानसे परिचित हैं—

दोनो ओर प्रेम पलता है।
सखि पतग भी जलता है, हा! दीपक भी जलता है।

प्रेम कभी एकाङ्गी हो नहीं सकता। आत्मा यदि परमात्मासे प्रेम करती है—उसके विरहमें जलती है तो परमात्मा भी उससे कहीं अधिक प्रेम करता है, उसे तलाशता रहता है। परमात्मा तो प्रेमस्वरूप है—प्रेमका स्रोत है, अतएव वही सच्चा प्रेमी है। उसकी तुलनामे हमारा प्रेम नगण्य है।

निजानन्दाचार्यको अपने हृदयके साक्ष्यपर अटल विश्वास है कि प्रभु भी हमारे लिये तडप रहे हैं और वे हमारे बिना एक पल भी नहीं रह सकते—

हे मू दिल डिनी साहेदी तू भूदे रहे न दम॥

वास्तवमे परमात्माको वही जान सकता है जिसे परमात्मा जना देते हैं। सब कुछ उसीकी करुणा और दयापर निर्भर है।

मनुष्यका पुरुषार्थ मात्र इतनेम है कि वह सब आस-भरोस छोडकर परमात्माके चरणोमे अपने-आपको न्योछावर कर दे। जबतक आत्मा और परमात्माके बीचसे मायाका परदा नहीं उठ जाता तबतक उसका दर्शन होना असम्भव है। वही आत्मा अपने स्वामीको सिर-आँखो ले सकती है, जिसकी राहमे कोई परदा या रुकावट नहीं है—

सामर गिने पाणसे जे आडो पर न कोए॥

निजानन्दाचार्यकी आत्मारूपी नायिका लाडवाली है, मानिनी है—वह स्वय अपना घूँघट उठा नहीं सकती। वह तो मात्र समर्पण कर सकती है और जब वह ऐसा कर देती है तो प्रभु ही कृपापूर्वक उसका हाथ थामकर गले लगा लेते हैं।

जायसीकी प्रेम-व्यञ्जना

'प्रेमपीर' के अमर गायक कविवर जायसी हिन्दी-साहित्यकी प्रेमाश्रयी शाखाके विलक्षण व्यक्ति थे। वे शरीरसे कुरूप और एकाक्ष, किंतु मनसे सुन्दर तथा समदर्शी थे। जीवनके प्रभातमे अतिसामान्य जीवन-यापन करनेवाले जायसी आगे चलकर अपने युगके पहुँचे हुए सूफी फकीर बन गये। दो विरोधी संस्कृतियोंके एकत्वके सफल प्रयोक्ताके रूपमे कविवर जायसीका स्थान अनुपम है। प्रेमपीरकी धड़कनके दिव्य आलोक जायसीने हिन्दुओंम प्रचलित पद्मावती और रत्नसेनकी प्रेमगाथाका आश्रय लेकर गहरे सद्भाव तथा असीम भावुकताका परिचय दिया। प्रेम-गाथाओंकी अपनी सरस परम्परा रही है और जायसी सम्भवत उसके दिव्य अलङ्कार थे। इनकी प्रेमोपेत रचना 'पदमावत' अद्वैत रहस्यवादका उत्कृष्ट उदाहरण है।

'पदमावत' महाकाव्यके 'प्रेमखण्ड'मे प्रेमतत्त्वका निरूपण सूफी-प्रेमादर्शके आधारपर हुआ है। महाकवि जायसीका लक्ष्य प्रेमसाधनाके द्वारा प्रेमस्वरूप परमात्माकी अनुभूति और उपलब्धि कराना रहा है। यही कारण है कि 'पदमावत'मे पदे-पदे प्रेमकी प्रदक्षिणा प्रथित है। कहीं वह अनुभूतिजन्य है, कहीं लौकिक और कहीं लोक-बन्धनसे परे आध्यात्मिक है, किंतु इन सबके मूलमे प्रेमका वह दिव्य रूप है, जो सरस सौन्दर्यकी अलौकिक आभासे व्यक्तिको अनुरक्त करता है। सूफी साधकोकी दृष्टिमे ईश्वर (ख़ुदा) परम सौन्दर्यमय है एव प्रेमालम्बनका एकमात्र वही अन्तिम अवस्थान है। मानवकी मूल प्रवृत्ति रागमयी है। मनुष्यकी आत्मा पूर्णतत्त्वकी प्राप्तिहेतु हमेशा प्रयत्नशील रहती है। सौन्दर्य समत्व एव पूर्णत्वकी ही अपर अभिधा है। मानवकी सम्पूर्ण साधनाका अन्तिम लक्ष्य इसी परम रूपकी उपलब्धि है। असीम सौन्दर्य-सागर ईश्वर-प्राप्तिका एकान्त आग्रह प्रेमका ही प्रतिरूप है। ससारके कण-कणमे परम प्रिय विभुका सौन्दर्य विद्यमान है। सौन्दर्यकी सत्ता ही ससारका आधार और सार है। उस अखण्ड सौन्दर्य-सत्ताकी उपलब्धि एव अनुभूतिका एकमात्र माध्यम प्रेम है। जायसीने इसी प्रेमकी चिरन्तन भावनाका निरूपण कर सम्पूर्ण 'पदमावत'मे प्रेमातिशयताका प्रकाश भर दिया है।

जायसीके मतानुसार प्रेमकी एक चिनगारीमात्र हृदयमे अमित ज्वाला प्रज्वलित करनेमे सक्षम होती है, जिसमे सम्पूर्ण लोक विचलित हो उठता है—

मुहमद चिनगी अनँग की सुनि महि गँगन डेराइ।
धनि बिरही औ धनि हिया जेहि सब आगि समाइ॥

इतना ही नहीं, जब हृदयमे प्रेम जाग्रत् होता है तो प्रेमीकी दशा मृत्युसे भी अधिक भयानक हो जाती है। प्रेमका पन्थ कण्टकाकीर्ण है अर्थात् प्रेमोपलब्धि अत्यन्त दुर्लभ है।

वास्तवमे प्रेमीको प्रेमास्पदसे मिलनेकी अदम्य इच्छा प्रेम-पथिक बननेके लिये विवश कर देती है। प्रेमी प्रेम-पथपर चलनेके लिये समयकी परवाह नहीं करता। उसके शरीरकी स्थिति अद्भुत हो जाती हे। उसकी आँखोमें प्रेमाश्रुमात्रका ही सम्बल होता है—*'पेम पथ दिन घरी न देखा। तब देखै जब होइ सरेखा॥ जेहि तन पेम कहाँ तेहि माँसू। कया न रकत न नयनन्हि आँसू॥'* प्रेमीका लक्ष्य प्रेमोपलब्धि ही होता है। उसे पाकर वह पुन इस नश्वर ससारमे नहीं आना चाहता—*'पेम पथ जौं पहुँचै पाराँ। बहुरि न आइ मिलै एहि छाराँ॥ भलेहिं पेम है कठिन दुहेला। दुइ जग तरा पेम जेइँ खेला॥'* दिव्य प्रेमोपलब्धिके उपरान्त प्रेमी कामनारहित हो जाता है अर्थात् निष्काम हो जाता है। ऐसे ही निष्काम प्रेमका अनुभव कराते हुए जायसीने कहा है—

न हौ सरग क चाहौं राजू। ना मोहि नरक सेंति किछु काजू॥
चाहौं ओहि कर दरसन पावा। जेइ मोहि आनि पेम पथ लावा॥

ऐसी स्थितिमे प्रेमीको तीनो लोक चौदहो भुवनम प्रेमके अतिरिक्त कुछ भी लावण्यमय नहीं दिखता—

तीन लोक चौदह खण्ड सबै परै मोहि सूझि।
पेम छाड़ि किछु और न लोना जौं देखौं मन बूझि॥

इस प्रकार यह प्रेमतत्त्व आकाशम अवस्थित ध्रुवतारेसे भी उत्तुङ्ग है। जिसने प्रेम-मार्गपर चलकर अपना सिर उतारकर जमीनपर नहीं रखा उसका पृथ्वीपर आना ही व्यर्थ हो गया। प्रेमके बलपर ही मनुष्य वैकुण्ठका जीव बन पाता है अन्यथा उसकी स्थिति एक मुट्ठी धूलके सदृश है—

मानुस पेम भएउ बैकुंठी। नाहिं त काह छार एक मूँठी॥

प्रेम और समुद्र समान हैं। दोनो ही अनन्त एव अगाध हें। जिस व्यक्तिने प्रेमसमुद्रका दर्शन कर लिया, उसे साधारण समुद्र बूँदके समान प्रतीत होता है—

औ जेइँ समुँद पेम कर देखा। तेइँ यह समुँद बुद यरु लेखा॥

प्रेमतत्त्वका महिमाङ्कन करते हुए कवि कहता है कि जिसके हृदयमे प्रेमका निवास है, उसे अग्नि भी चन्दनके समान शीतल प्रतीत होती है। लेकिन प्रेमरहित हृदयके लिये अग्नि अत्यन्त भयावह है। प्रेमाग्निमे जलनेवालेका जलना कभी निष्फल नहीं होता—

जेहि जिय पेम चँदन तेहि आगी। पेम बिहून फिरहिं डरि भागी॥
पेम की आगि जरै जो कोई। ताकर दुख अविरथा होई॥

जायसी आपादमस्तक प्रेमसे सराबोर थे। उन्होने परम सौन्दर्यमय परमात्माकी अतुलनीय छविके प्रति अनुराग उत्पन्न करनेकी दृष्टिसे 'पदमावत'की लौकिक कथाको प्रतीकात्मक आधार बनाया। साथ ही अपनी अन्तर्मुखी प्रेमसाधनाका विलक्षण परिचय भी दिया। लौकिक आख्यानके रूपमे रत्नसेन-पद्मावतीका प्रेम-वर्णन भी बहिरङ्गमे परिलक्षित होता हे, मगर अन्तरङ्गकी आभा आध्यात्मिक प्रेमसे ओत-प्रोत हे। रत्नसेनकी परिस्थितियोकी प्रस्तुतिमे कविने प्रेमकी प्रभावमयताका अति सवेदनशील वर्णन किया हे—

पेम घाव दुख जान न कोई। जेहि लागे जानै पै सोई॥
परा सो पेम समुँद अपारा। लहरहिं लहर होइ बिसँभारा॥

जायसीकी लेखनीसे ऐसे प्रेमका चित्रण हुआ है जो इश्क मजाजी (लौकिक प्रेम)-के द्वारा इश्क हकीकी (आध्यात्मिक प्रेम)-तक साधकको पहुँचाता है। 'पदमावत'में जिस प्रेमतत्त्वकी अभिव्यञ्जना हुई है, वह नायक-नायिकाके मध्य पल्लवित होनेवाला लौकिक प्रेम नहीं है वरन् आत्मा और परमात्माके मध्य विकसित होनेवाला आध्यात्मिक प्रेम है जिसकी अभिव्यञ्जना कवि कथा-प्रसङ्गो एव घटनाओके मध्य करता चलता है।

'पदमावत' महाकाव्यम रत्नसेन 'आत्मा' और पद्मावती 'परमात्मा' का प्रतीक है। इन्हीं दोना पात्रोके प्रेमाख्यानोके माध्यमसे कविने आध्यात्मिक प्रेमका सकेत दिया है। कवि तो सम्पूर्ण सृष्टिको ही उसी परमतत्त्वके प्रेमका प्रतिफल मानता हुआ कहता है—

सँवरौ आदि एक करतारू। जेइँ जिउ दीन्ह कीन्ह ससारू॥

'पदमावत'की कथाके मध्य लौकिक प्रेमका वर्णन करते हुए जायसीने अलोकिक प्रेम-व्यञ्जनाकी ओर ही सकेत दिया है। हीरामन तोता सूफी पन्थानुसार गुरु है। कविने तोतेके माध्यमसे ही सूफी प्रेमतत्त्वका निरूपण किया है। पद्मावतीके नख-शिखका वर्णन करता हुआ हीरामन तोता बीच-बीचमे उस परमसत्ताके अलौकिक सौन्दर्यकी झलक तथा आध्यात्मिक सकेत भी देता चलता है। जायसीके आध्यात्मिक प्रेमतत्त्वकी एक विशेषता है—विरहकी व्यापकता। मूर्च्छित होनेपर भी नायक रत्नसेन (जीव)-को ध्यानमें पद्मावतीरूपी 'परम ज्योति'के सामीप्यकी आनन्दमयी अनुभूति होती रहती है। वह ससारसे विरत होकर प्रेमसमुद्रमे डूब जाता है—

अठहु हाथ तन सरवर हिया कँवल तेहि माँह।
नैनन्ह जानहु निअरे कर पहुँचत अवगाह॥

इस प्रकार जायसीने जगत्‌के नाना व्यापाराको प्रेमकी आध्यात्मिक छायासे प्रतिभासित माना है। इसी आध्यात्मिक विरहसे अभिभूत हो 'रत्नसेन' (साधक, जीव) अति व्याकुल हो 'पद्मावती' (परमात्मा)-की ओर आकृष्ट होता है। 'गुरु' (हीरामन तोता) 'ब्रह्म' (पद्मावती)-की प्राप्तिमें सम्पूर्ण मार्ग-दर्शन करता है।

इस प्रकार कविने कथा-प्रसङ्गोके माध्यमसे लौकिक प्रेम और सौन्दर्यके मध्य आध्यात्मिक प्रेमका अनुपम सकेत दिया है।

अन्तम प्रेमपीरके गायक जायसीने अपनी प्रेमानुभूतिके द्वारा अपने आध्यात्मिक प्रेमके मधुमय रहस्यको खोलकर रख दिया है—

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिघल बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरू सुआ जेई पथ देखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धधा। बाँचा सोई न एहि चित बधा॥
राघव दूत सोई सैतानू। माया अलाउदीं सुलतानू॥

(इ० प्र० सि०)

सत सुन्दरदासजीकी प्रेमोपासना

(डॉ० श्रीनरेशजी झा शास्त्रचूडामणि)

हिन्दी-साहित्यके भक्तिकालमे महाकवि गोस्वामी सत तुलसीदासजीके समकालीन (वि० स० १६५३—१७४६) कविवर सत सुन्दरदासजीका महिमामण्डित स्थान है। ये विख्यात सत दादूजीके पट्टशिष्योमे अग्रणी विद्वान् शिष्य थे। इन्होने काशीमे ही (वि० स० १६६४—१६८२) रहकर विविध शास्त्रोका गहन अध्ययन किया था। ये मूलत द्यौसा (जयपुर-राजस्थान)-के निवासी थे। सस्कृत शास्त्रोके विद्वान् होते हुए भी इन्होने सामयिक परम्पराके अनुसार अपनी समस्त रचनाएँ लोकभाषा (हिन्दी, राजस्थानी, व्रज आदि)-मे ही की हैं। सत-साहित्यकी अभिवृद्धिमे इनका प्रमुख योगदान है। इनकी रचनाओमे ज्ञानसमुद्र, सर्वाङ्ग-योगप्रदीपिका पञ्चेन्द्रिय-चरित्र आदि सुप्रसिद्ध हैं।

इन ग्रन्थोंमें मानवके आध्यात्मिक उत्थानके लिये नवधा भक्तिसहित अनेक आवश्यक अङ्गोकी भी विस्तृत विवेचना की गयी है। इनमे परा-भक्तिका वर्णन तो सर्वातिशायी है। विद्वानोका मत है कि भाषा-साहित्यमे ऐसा प्रतिपादन विरला ही प्राप्त होता है। *'मिलि परमातम सो आतमा परा भक्ति सुन्दर कहै'* यह भक्ति-विज्ञानकी पराकाष्ठा है। इसी नवधा भक्तिके अन्तर्गत 'प्रेमलक्षणा' भक्ति कही गयी है। यह प्रेमलक्षणा-भक्ति भगवत्प्रेमके अन्तर्गत आती है।

अत प्रसङ्गोपात्त इसका स्वरूप 'ज्ञानसमुद्र' से पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। वस्तुत सत कवि सुन्दरदासजीका यह ग्रन्थ विविध छन्दामे ग्रथित सत-साहित्यका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। सत सुन्दरदासजीके ग्रन्थोमे सब कुछ सुन्दर-ही-सुन्दर है। देखिये प्रेमलक्षणा-भक्तिके स्वरूपमे ज्ञानसमुद्रका एक उदाहरण—

श्रीगुरुरुवाच

सिष्य सुनाऊँ तोहि प्रेमलच्छना भक्ति कौं।
सावधान अब होइ जो तेरै सिर भाग्य है॥
प्रेम लग्यो परमेस्वर सौं, तब भूलि गयो सब ही घरबारा।
ज्यौं उनमत्त फिरै जित ही तित, नैकु रही न सरीर सँभारा॥
साँस उसास उठै सब रोम, चलै दृग नीर अखडित धारा।
सुन्दर कौन करै नवधा बिधि, छाकि पर्‌यौ रस पी मतवारा॥

न लाज कॉनि लोक की, न बेद कौ कह्यौ करे।
न सक भूत प्रेत की, न देव यक्ष ते डरे॥
सुनै न कौन और की, द्रसै न और इच्छना।
कहै न कछू और बात, भक्ति प्रेम लच्छना॥

निस दिन हरि सौं चित्तासक्ती, सदा ठग्यौ सो रहिये।
कोउ न जानि सकै यह भक्ती, प्रेमलच्छना कहिये॥
प्रेमाधीना छाक्या डोलै। क्यौं का क्यौं ही वाँनी बोलै॥
जैसे गोपी भूली देहा। ताकौ चाहै जासा नेहा॥

कबहूँकै हँसि उठै नृत्य करि, रोवन लागै।
कबहुँक गदगद कठ, सब्द निकसै नहिं आगै।
कबहुँक हृदय उमगि, बहुत ऊँचे स्वर गावै।
कबहुँक कै मुख मौनि, मगन ऐसै रहि जावै॥
चित्त वृत्त हरिसो लगी, सावधान कैसै रहै।
यह प्रेम लच्छना भक्ति है, शिष्य सुनहि सुदर कहै॥

नीर बिनु मीन दुखी, क्षीर बिनु सिसु जैसे,
पीर जाकैं ओषधि बिनु, कैसैं रह्यौ जात है।
चातक ज्यौं स्वातिबूँद, चद को चकोर जैसे,
चदन की चाह करि, सर्प अकुलात है॥
निर्धन कौ धन चाहै, कामिनी कौ कन्त चाहै,
ऐसी जाकै चाह ता कौं, कछु न सुहात है।
प्रेम कौ भाव ऐसौ, प्रेम तहाँ नेम कैसौ,
'सुन्दर कहत यह प्रेम ही की बात है॥

यह प्रेम भक्ति जाकैं घट होई, ताहि कछू न सुहावै।
पुनि भूख तृषा नहिं लागै वाकौं, निस दिन नींद न आवै॥
मुख ऊपर पीरी स्वासा सीरी, नैंन हु नीझर लायौ।
ये प्रगट चिन्ह दीसत हैं, ताकै प्रेम न दुरै दुरायौ॥
प्रेम भक्ति यह मैं कही जानैं विरला कोइ।
हृदय कलुपता क्यों रहै जा घट ऐसी होइ॥

वैदिक संहिताओंमें भगवत्प्रेम

(डॉ० श्रीभवानीलालजी भारतीय)

यदि हम भारतीय आर्यशास्त्राका सम्यक् अवगाहन करे तो हमे ज्ञात होगा कि भगवत्प्रेमकी पावन गङ्गा इन शास्त्रामे आद्यन्त प्रवाहित होती रही है। वेदादि सभी शास्त्रोमे भगवत्प्रेमको मनुष्यके जीवनका अन्तिम प्राप्य तथा लक्ष्य स्वीकार किया गया है।

मन्त्रसहिताओमे भगवत्प्रेम नाना रूपोमे वर्णित है। वस्तुत किसीसे प्रेमसम्बन्ध स्थापित करनेसे पूर्व हमे यह निर्धारित करना होगा कि जिससे हम प्रेम करने जा रहे हैं, उससे हमारा सम्बन्ध क्या है और कैसा है ? सेव्य-सेवकभाव सखाभाव, पिता-पुत्रभाव और दाम्पत्यभाव आदि तत्त्वाको देखकर प्रेमके स्वरूपका निरूपण किया गया है। वेदोंमें उपर्युक्त सभी सम्बन्धोके सूचक मन्त्र मिलते हैं, जिनके आधारपर वेदोक्त भगवत्प्रेमका विशदीकरण किया जा सकता है। वेदोमे परमात्माको भक्तके माता ओर पिताके रूपमे उल्लिखित किया गया है। माताका वात्सल्य और पिताका सरक्षण-भाव—ये दो ऐसी मनोभूमियाँ हैं, जिनकी समानता कदाचित् ही कहीं मिलती हो। ऋग्वेदका निमलिखित मन्त्र परमात्माको पिता और माता—दोनो कहकर सम्बोधित करता है—

त्व हि न पिता वसो त्व माता शतक्रतो बभूविथ।
अधा ते सुम्नमीमहे॥

(८।९८।११)

हे समस्त ब्रह्माण्डको स्वयमे समाहित करनेवाले परमात्मदेव! आप ही हमारे पिता एव माता हैं। हम आपसे भद्र और कल्याण चाहते हैं।

ऋग्वेदके निम्नलिखित मन्त्रमे बहुतोसे स्तुत एव प्रशसित इन्द्रको पिता कहा गया है और उनसे याचना की गयी है कि वे हमे उसी प्रकार शिक्षित करे जैसे एक प्रेममय पिता अपनी सतानको सुशिक्षित करता है तथा उसे कर्तव्य-पालनका उपदेश देता है—

इन्द्र क्रतु न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा।
शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥

(७।३२।२६)

भगवत्प्रेम अलौकिकता लिये होनेपर भी सासारिक सम्बन्धाकी उपमाआको लेकर चलता है। यो तो मानवीय सम्बन्धामे पिता-पुत्र गुरु-शिष्य पति-पत्नी और भाई-भाई आदिके सम्बन्ध पवित्र तथा महत्त्वपूर्ण मान गये हैं, किंतु बन्धुभाव या मैत्री अथवा प्रेम-सम्बन्धकी कुछ अपनी अलग ही विशेषता होती है। लोकम हम देखते हैं कि कभी मनुष्य ऐसी विषम स्थितिम जा पहुँचता है, जिसे अपने निकटस्थ आत्मीयको बतानेमे भी वह सकोच करता है। कई ऐसे रहस्य होते हें, जिन्हे हम प्रत्येक स्थितिमे गोपनीय रखते हैं। पिता, माता और भाईकी बात तो दूर रही अपनी सहधर्मिणीको भी नहीं बतात किंतु अपनी इस गोपनीय वार्ताको अपने प्रेमी सखा या बन्धुसे कहनेमे हम कोई सकोच नहीं होता। हम यह विश्वास है कि इस विपत्तिसे बचानेका काई कारगर उपाय हमारा यह बन्धु या सखा तो अवश्य बता ही देगा। वेदाम अनेकत्र परमात्माको बन्धु कहकर सम्बोधित किया गया है। यजुर्वेदका निम्नलिखित मन्त्र परमात्माको बन्धु, जनिता और विधाता कहकर सम्बोधित करता है—

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वद भुवनानि विश्वा।

(३२।१०)

निखिल भुवनाको जाननेवाला सर्वज्ञ एव सर्वान्तर्यामी परमात्मा हमारा बन्धु, जन्मदाता तथा हमारे भाग्यका विधान करनेवाला हे। परमात्माके इस दिव्य प्रेम तथा उसके साथ भक्तके विविध सम्बन्धाकी काव्यात्मक व्यञ्जना वेदमन्त्रामे अनेकत्र मिलती है।

पिता-पुत्रके प्रेमसम्बन्धको भगवान् तथा भक्तके प्रेमम अवतरित करनेवाली ऋग्वेदकी निम्नलिखित ऋचा कितनी भावनापूर्ण है—

स न पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा न स्वस्तये॥

(१।१।९)

अर्थात् 'हे परमेश्वर! जैसे पिता अत्यन्त प्रेमसे अपनी सतानोको सुख देता है, वैसे ही आप हमको पुरुषार्थसे आनन्दयुक्त करक नित्य हमारा पालन कर क्योंकि आप ही हमलोगाके पिता हैं। हमको सुख देनेवाले एक आप ही हैं।'

ऋग्वेदमे आये वरुणसूक्तामे चराचर जगत्के शासक, सत्य और ऋतकी स्थापना करनेवाले वरुणसज्ञक परमात्माके प्रति प्रेमा-भक्तिका सागर उमड आया है। भगवान्के भक्तको इस बातका निश्चय है कि यदि वह अपनी वृत्तियाको ईश्वरकी ओर उन्मुख कर ले तो करुणावरुणालय परमात्मा निश्चय ही अपने प्रेमकी वर्षा करके विपत्तियासे उसे बचा लेगे। इसी भावको ऋग्वेदकी इस ऋचामे देखे—

परा हि मे विमन्यव पतन्ति वस्यइष्टये।
वयो न वसतीरुप॥

(१।२५।४)

हे वरुणभगवान्! हमारी चित्तवृत्तियाँ शाश्वत शान्ति एव मुक्तिके लिये उसी प्रकार आपके चरणोमे आ रही हैं, जैसे पक्षी सध्याके समय अपने नीडकी ओर उन्मुख होते हैं।

भक्त अपने प्रेमके बलपर भगवान्का साक्षात्कार करना चाहता हे। वह स्वयसे पूछता है—वह शुभ घडी कब आयेगी, वह धन्य पल कब आयेगा जब सर्वद्रष्टा वरुणदेवको सुख-प्राप्तिके लिये हम प्रत्यक्ष करेगे? भगवत्साक्षात्कारसे ही हम वह अलौकिक और दिव्य सुख प्राप्त होगा, जिसे पानेके बाद अन्य कुछ प्राप्तव्य नहीं रहेगा।

भक्तके लिये भगवान् निकटतम होते हैं। वह उनके प्रेमका सदा आकाङ्क्षी रहता है। इसके लिये उसे प्रतिपल आत्मनिरीक्षण करना पडता है और देखना होता है कि भगवान्का प्रेमपात्र बननेकी अर्हता भी उसमे है या नहीं? निम्नलिखित मन्त्रमे यही भाव दीख पडता है—

उत स्वया तन्वा३ स वदे तत् कदा न्व१न्तर्वरुणे भुवानि।
कि मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीक सुमना अभि ख्यम्॥

(ऋग्वेद ७।८६।२)

मैं अपने शरीरसे ही सवाद करता हूँ, अपने-आपसे पूछता हूँ। वरणीय प्रभुसे मेरा आत्मिक मिलन कब होगा? उनके प्रेमसिन्धुमें मैं कब डुबकियाँ लगाऊँगा? क्या मेरे प्रिय वरुणदेव, मेरी पुकारको सुनेग और मैं उन आनन्ददाताका साक्षात्कार कब करूँगा?

इसी आत्मचिन्तनके प्रसङ्गम भक्तको शङ्का होती है कि क्या मुझसे कोई अपराध हो गया है, क्या कोई ऐसा पाप हो गया है जिसके कारण मेरे प्रियतम देव मुझसे दूर हो गये हैं। यदि मुझे उसकी जानकारी मिल जाय तो मैं स्वय उस अपराधको दूर करके स्वयको भगवान्के दिव्य प्रेमका अधिकारी बनाऊँ। इसी भावका द्योतक निम्नलिखित मन्त्र है—

किमाग आस वरुण ज्येष्ठ यत् स्तोतार जिघाससि सखायम्।
प्र तन्मे वोचो दूळभ स्वधावो ऽव त्वानेना नमसा तुर इयाम्॥

(ऋग्वेद ७।८६।४)

वेदामे भगवत्प्रेम तथा भगवान् एव भक्तके प्रेम-सम्बन्धाका जैसा काव्यात्मक विवेचन हुआ, वही कालान्तरम अन्य शास्त्रोम वहुधा विशद एव स्फुटरूपसे वर्णित एव विवेचित है। श्रीमद्भगवद्गीताम अर्जुन भगवान् कृष्णस अपनी निकटता तथा सखाभावको अनुभव कर उनकी दिव्य आध्यात्मिक अनुभूतिया तथा योगज उपलब्धियोका भुलाकर अत्यधिक निकटता तथा प्रमादके कारण उनम अस्मदादि पुरुषाके-से लक्षण देखने लगे, किंतु जब भगवद्वचनाकी दिव्यता तथा पावनताका उन्हे आभास हुआ तो वे कहन लगे—

सखेति मत्वा प्रसभ यदुक्त
हे कृष्ण ह यादव हे सखेति।
अजानता महिमान तवेद
मया प्रमादात् प्रणयेन वापि॥

(११।४१)

निश्चय ही हम भगवान्को अपना सखा कहकर पुकारे, किंतु उनकी दिव्य महिमाको न भूल, यही उक्त श्लोकका आशय है। वेदाम भी सखाभावको अनक मन्त्रोम व्यक्त किया गया है।

सहिताओके उसी भगवत्प्रेमके बीजकी अभिव्यक्ति सकीर्तन, गायन और भजन आदि माध्यमोसे व्यक्त होने लगी। वेदका भी यही आदेश है कि सासारिक कार्योम सलिप्त मनुष्यका कर्तव्य है कि थोडा समय वह भगवन्नाम-जप तथा प्रेममय प्रभुके यशका गायन करनेमे लगाये। ऋग्वेदका निम्राङ्कित मन्त्र इसी भावको अभिव्यक्त करता है—

आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत।
सखाय स्तोमवाहस ॥ (१।५।१)

इस मन्त्रके द्रष्टा ऋषि मधुच्छन्दा हैं। वे भक्तजनोका आह्वान करते हैं, परमात्माम अनुरक्त लोगाको बुलाते हैं आमन्त्रित करते हैं तथा उन्हे परमैश्वर्यशाली परमात्मदेव इन्द्रके गुणो तथा यशका गायन करनेके लिये प्रेरित करते हैं। वेदामे आये हिरण्यगर्भसूक्त, पुरुषसूक्त अस्यवामीय सूक्त नासदीय सूक्त तथा ईशावास्यापनिषद् आदि प्रकरण भगवद्भक्ति तथा भगवत्प्रेमका ही मुख्य अथवा गोणरूपसे माहात्म्य वर्णित करते हैं।

वैदिक-ऋचाओमे समर्पण एव प्रेम-भाव

(प्रो० श्रीराजेन्द्रजी 'जिज्ञासु)

ईश्वरकी सत्तापर पश्चिममें जो एक पुस्तक लोकप्रिय हुई थी—फलिण्ट महोदयकी 'Theism' [थीइज्म] और आचार्य महावीरप्रसादजी द्विवेदीके अनुसार अपने देशमे ईश्वरकी सत्तापर जो सर्वश्रेष्ठ पुस्तक प्रकाशित हुई वह है प० गगाप्रसादजी उपाध्यायद्वारा लिखित 'आस्तिकवाद'। 'आस्तिकवाद' के लेखकने इसी विषयपर उर्दूमे भी 'बारी ताला' नामसे एक बेजोड पुस्तक लिखी। ईश्वरविषयक इन दो अद्वितीय ग्रन्थोके लेखकने अपने एक दार्शनिक ग्रन्थमे भक्त एव भगवान्‌के भक्तिभाव या प्रेमको दर्शानेके लिये ऋग्वेदकी एक अनूठी सूक्ति दी है। भक्त तथा भगवान्‌के प्रेमभावके सम्बन्धमे ससारमे कहीं भी किसीने ऐसी मार्मिक सूक्ति नहीं लिखी। ऋग्वेद कहता है—'त्वमस्माक तव स्मसि'। (८।९२।३२)

अर्थात् प्रभो! आप हमारे हैं और हम आपके हैं। इस सूक्तिपर ग्रन्थ-लेखकने ठीक ही लिखा है—'यही सम्बन्धकी पराकाष्ठा है। यहाँ सब उपमाएँ समाप्त हो जाती हैं। इससे अधिक क्या कहना चाहिये' समझमे नहीं आता।' चारो वेदामे और भी कई ग्रन्थामे इस प्रेमभावको बहुत सुन्दर एव हृदयस्पर्शी शैलीमे दर्शाया गया है। ससारके सब मतो, पन्थो एव ग्रन्थोपर इस वैदिक विचारधाराकी छाया स्पष्ट दिखती है।

कहते हैं कि एक बार लार्ड हार्डिग हिन्दुओके एक विराट् समारोहको देखने एक हिन्दू-तीर्थपर आये। वहाँ महामना प० मदनमोहन मालवीयजीसे उनकी कुछ धर्म-चर्चा चल पडी। लार्ड हार्डिंगने कहा—देखिये, हमारे ईसाई-मतकी यह विशेषता है कि हम प्रभुको प्यारसे Heavenly Father' (आकाशस्थ पिता) कहकर सम्बोधित करते हैं। झटस भारतभूषण मालवीयजी बोले—आप तो परमात्माको पिता कहकर पुकारते हैं हमारे धर्ममे—वेदशास्त्रमे इससे भी वहीं ऊँची व सूक्ष्म विचारधारा आपको मिलेगी। वेदमे आता है—

'त्व हि न पिता वसो त्व माता शतक्रतो बभूविथ।
अथा ते सुम्नमीमहे॥' (ऋग्वेद ८।९८।११)

इस ऋचामें प्रभुको पिता और माता भी कहा गया है। पितासे कहीं अधिक माता बच्चेसे प्यार करती है।

अजमेरमें एक पादरी 'ग्रे' रहते थे। उन्नीसवीं शताब्दीके ईसाई पादरियामे उनका विशिष्ट स्थान था। उन्होने भी एक बार हुतात्मा प० लेखरामजीसे कहा था कि वेदमें ईश्वरविषयक कोई अच्छी शिक्षा नहीं है। हमारे धर्मग्रन्थ 'बाइबिल'मे तो परमात्माको पिता कहा गया है। प० लेखरामजीने कहा कि वेदम तो इससे भी आगे परमेश्वरको माता, पिता, बन्धु तथा सखा कहा गया है। हाँ! तुम्हारा पिता आकाशस्थ है, वेद प्रभुको सर्वव्यापक मानता है। आपने वेदकी कई सूक्तियाँ जब 'ग्रे' महोदयको सुना दीं तो वे चुप हो गये। यथा—

'स नो बन्धुर्जनिता स विधाता' (यजुर्वेद ३२।१०)

इस सूक्तिम प्रभुको पिता, सखा एव उत्पन्न करनेवाला कहा गया है।

'स न पिता जनिता स उत बन्धु ' (अथर्ववेद २।१।३)

यहाँ भी परमात्माको पिता, उत्पन्न करनेवाला एव मित्र कहा गया है। ईश्वरसे सखा-भावका सम्बन्ध तो वेदकी एक अलौकिक देन है।

फारसी-साहित्यमे सूफी कवियोमेसे किसीकी ये पक्तियाँ बहुत लोकप्रिय हैं—

मन तू शुदम तू मन शुदी। मन जाँ शुदम, तू तन शुदी॥
ता कस न गोयद बाद अज़ाँ। मन दीगरम, तू दीगरी॥

हिन्दीके महान् मनीषी चमूपतिजी 'चातक' ने इन पक्तियोको ऐसे अनूदित किया है—

तन दो रहे, मन एक हो यह साधना है प्रेम की।
सगीत का स्वर साध लो, लय एक है बाजे कई॥

यहाँ फारसी-पक्तियोका शब्दश अनुवाद तो नहीं है, परतु ईश्वरके प्रति भक्तिभाव तथा प्रेमभावको फारसी कविसे भी कहीं अच्छे ढगसे व्यक्त किया गया है। ऋग्वेदकी एक सूक्ति है—

'तमित् सखित्व ईमहे' (१।१०।६)

अर्थात् हम ईश्वरसे सखापनके लिये प्रार्थी हैं।

'स न पितेव सूनवे।' (१।१।९)

जैसे पिता पुत्रपर दयालु है, वैसे ही प्रभु हम भक्तोंपर दया रखता है। अथर्ववेदमे एक स्थानपर परमेश्वर जीवोको

सखा शब्दसे सम्बोधित करते हैं। उस मन्त्रपर मुग्ध होकर एक कविहृदय भक्तका मन-मयूर भाव-विभोर होकर हर्षसे पुकार उठा—

'मै मीत पै वारी, दिलजीत पै वारी,
इस प्रीत पै वारी—मैं रीत (रीति) पै वारी।'

ऋग्वेद (१।१०१।१—७)-की ऋचाओमे यह विनय है—**'मरुत्वन्त सख्याय हवामहे।'** अर्थात् आओ मित्रो! हम सब प्रीतिपूर्वक परमात्माको सखा होनेके लिये गद्गद होकर पुकारे। इन्हीं वैदिक भावनाओसे अभिभूत होकर सत श्रीतुकारामजीने प्यारे प्रभुसे प्रीतिपूर्वक अत्यन्त भक्तिभावसे जो कुछ कहा, उसे हम आजकी देशी भाषामे नोक-झाक कह दें तो कोई अत्युक्ति न होगी। श्रीतुकारामजी लिखते हैं—

नाहीं तरी तुज कोण ही पुसले। निराकारी लथे एकाकी॥

अर्थात् यदि मैं (तेरा उपासक—तुझसे प्रेम करनेवाला) न होता तो तुझ निराकार और अकेलेको कौन पूछता?

इसी भजनमे सत तुकारामजी अपने प्यारे प्रभुसे कहते हैं कि रोग न ही तो धन्वन्तरिको चमकाया। स्वस्थ मनुष्य वैद्यको क्या पूछेगा? इसको आप नोक-झाक तो कह सकते हैं, परतु है यह प्रीतिपूर्वक। इसका रसास्वादन करनेके लिये हृदयकी सरलता एव तरलता चाहिये। इस मृदुलताका रसपान वही कर सकता है, जिसने कभी माताकी गोदमे बैठे बालकको कल्लोल करते देखा हो। भक्तप्रवर तुकारामके इस प्रेमालापसे श्रद्धा छलकती है और इसमे अभिमानकी गन्ध लेशमात्र भी नहीं है।

जो व्यक्ति आजके तनावयुक्त विश्वमे अपने जीवनको सरस बनाना चाहते हैं, उन्हे अपने हृदयमे इस आस्तिक्य-भावनाका सञ्चार करना ही होगा। भाव-प्रदूषण तो जल-प्रदूषण वायु-प्रदूषण तथा ध्वनि-प्रदूषणसे भी कहीं अधिक घातक है। विश्वमे व्याप्त भाव-प्रदूषण जटिल मानसिक, नैतिक एव आध्यात्मिक रोगोका एक मुख्य कारण है। इस भाव-प्रदूषणरूपी महारोगकी एक ही औषधि है और वह है—करुणासागर सुधासिन्धु, दयालु, कृपालु, न्यायकारी और परमानन्दरूप अपने प्रेमास्पद परमेश्वरके प्यारमे डूब जाना। सत तुकारामने प्रभु-प्रेममे डुबकी लगाकर ही इस अभङ्ग (भजन)-की रचना की थी।

आध्यात्मिक तथा मानसिक दु खोसे छुटकारा पाने या बचनेका प्रथम उपाय यही है कि मनुष्य भक्तिभावसे, प्रेमभावसे साय-प्रात प्रभुके अपार प्यार तथा उपकारोका चिन्तन करे। मेरे प्रभुने सब कुछ—सारा जगत् मेरे लिये ही तो रचा है। अपने लिये उसने कुछ भी नहीं बनाया। मेरा शरीर मेरे लिये है। अपने आँखो, कानो हाथो और पैरोका मैं ही तो उपयोग-प्रयोग करता हूँ। सूर्य, चन्द्र, जल, वायु, अग्नि, फल, फूल एव वनस्पतियाँ किसके लिये हैं? वह दाता-विधाता कभी स्वय तो इनका प्रयोग करता नहीं। इन सबका लाभ मैं ही उठाता हूँ। जगत्का केन्द्र-बिन्दु हम ही हैं, हम ही। मित्रो! स्मरण रखो कि समस्त आस्तिक जगत् सृष्टिका रचयिता तो सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् परमात्माको ही मानता है। प्रश्न यह है कि यह जगत् रचा क्यो गया? किसके लिये परमात्माने यह सृष्टि रची? वेद बडे सरल, परतु सारगर्भित शब्दोमे इस पहेलीका उत्तर देता है—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध कस्य स्विद्धनम्॥

(यजु० ४०।१)

कण-कणमे व्यापक प्रभुने यह जगत् जीवोके लिये रचा है। प्रभु इस मन्त्रमे जगत्के भोगोका त्यागभावसे भोगनेका उपदेश एव आदेश देते हैं। आज सम्पत्ति ही विपत्तिका कारण बन रही है। किसी पश्चिमी विचारकने 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' का मर्म जानकर ही तो यह लिखा था 'Hoarding is the cause of all the miseries' अर्थात् सञ्चय करते जाना ही सर्वदु खोका मूल है।

यह कथन तो प्रसगवश आ गया। हम तो यहाँ यह दर्शा रहे थे कि जगत्के भीतर-बाहर व्याप्त प्रभुने जगत् रचा तो मेरे और आपके लिये, उसने भिन्न-भिन्न प्रकारकी योनियाँ बनायीं तो हमारे शुभ-अशुभ कर्मोका फल प्रदान करनेके लिये, उस प्रभुने आँखसे पूर्व सूर्यको रच दिया, प्राणियोको बनानेसे पूर्व पृथ्वी बना दी, जल बना दिया और वायु बना दी। आवश्यकतासे पूर्व वह प्रभु आविष्कार कर देता है। यह है उसके अपार प्यारका एक निराला चमत्कार। हम उस प्यारका चिन्तन-मनन करते रहेगे तो आध्यात्मिक रोगोसे बचे रहेगे और प्रभुके प्रेमको प्राप्त करनेमे सफल हो जायँगे। यह हमारा कर्तव्य है—ऐसी वेदकी आज्ञा है।

श्रीमद्भागवतमें भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेममयी लीलाका स्वरूप

(डॉ० श्रीजगदीश्वरप्रसादजी, पी-एच्० डी० डी० लिट्०)

परम शक्तिमान्, सर्वव्यापक, सर्वसमर्थ परमात्माकी कल्याणकारी और रहस्यमयी लौकिक क्रियाओंका नाम लीला है। गुणातीत होते हुए भी वे गुणोंका बन्धन स्वीकार कर सामान्य मनुष्यके समान चेष्टाएँ करते हैं। स्वयं अकर्ता होकर भी वे कर्ता बन जाते हैं। सृजन, पालन और संहार उनकी लीलाएँ ही हैं।

इन लीलाओंका उद्देश्य होता है—भक्तोंपर कृपा सज्जनोंकी रक्षा और दुर्जनोंका संहार। ये लीलाएँ भक्त-हृदयके भक्तिभावको उद्दीप्त करती हैं। भक्त उनकी लीलाओंका स्मरण कर भक्तिमें विभोर हो जाता है और अन्य लोगोंमें भी भक्ति जाग उठती है। इन लीलाओंके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥
(१०।३३।३७)

श्रीमद्भागवतकी ये लीलाएँ भक्तोंपर अनुग्रहके लिये ही हैं।

भगवान्‌के लीलावतारोंको दो वर्गोंमें रखा जा सकता है—रसावतार और मर्यादावतार। श्रीकृष्ण मुख्यतः रसावतार हैं और श्रीमद्भागवत श्रीकृष्णके इसी रसावतारकी विशद व्याख्या है। श्रीकृष्ण स्वयं रसरूप हैं। गोपियाँ जीवात्माओंकी प्रतीक हैं जो उनके सान्निध्यके लिये व्याकुल रहती हैं। श्रीकृष्ण अपनी रसमयी लीलाओंसे सभीको अपनी ओर खींचते हैं। उनकी मुरली नादब्रह्मकी प्रतीक है जिसके नादका आकर्षण गोपियोंके लिये दुर्निवार है। इन सबके माध्यमसे श्रीकृष्णकी लीलाओंसे माधुर्यकी ऐसी सृष्टि होती है कि भक्तहृदय आत्मविस्मृत आत्मविभोर हो जाता है।

श्रीमद्भागवतकी लीलाओंमें जहाँ नन्द यशोदा और गोपियोंके माध्यमसे प्रेमकी रसधारा बहती है वहाँ दूसरी ओर उनके अद्भुत और अलौकिक कर्म हैं जो उनके रक्षणभावके साथ-साथ उनके ईश्वरत्वका भी परिचय देते चलते हैं। श्रीकृष्णके सभी कर्म अद्भुत हैं। छोटी अवस्थामें ही वे पूतनाका वध कर डालते हैं। फिर शकटासुर, वत्सासुर, बकासुर-जैसे राक्षसोंकी बारी आती है और अन्तमें आततायी कंसका वध होता है। इतना ही नहीं, वे कालिय नागसे व्रजको मुक्त करते हैं तथा गोवर्धन धारण कर इन्द्रका गर्व-दलन करते हैं।

अपनी लीलाओंमें श्रीकृष्ण अपने विराट्‌रूपका दर्शन भी कराते चलते हैं। वसुदेव और देवकीके पुत्ररूपमें जन्म लेनेसे पहले वे उनके समक्ष दिव्य रूपमें प्रकट होते हैं। माता यशोदाको भी वे अपना रूप दिखलाते हैं। इन्द्रका मानमर्दन हो जानेके पश्चात् सुरभि इन्द्ररूपमें उनका अभिषेक करती है। केवल इन्द्रका ही नहीं, वे ब्रह्माका भी अभिमान मिटा देते हैं। ब्रह्माद्वारा गौओं और गोपालोंको गुफामें छिपा देनेके बाद वे वैसी ही गौओं तथा गोपालोंकी रचना कर ब्रह्माको चकित कर देते हैं। प्रणत होकर ब्रह्मा उनकी स्तुति करने लगते हैं। इन लीलाओंमें श्रीकृष्ण अपनी विराट्‌रूपताका प्रदर्शन व्रजवासियोंके बीच अपने ईश्वरत्वका बोध बनाये रखनेके उद्देश्यसे करते हैं।

श्रीकृष्णकी रसलीलाके केन्द्रमें माता यशोदा और गोपियाँ हैं। प्रथममें वात्सल्यरसकी पुष्टि होती है और दूसरेमें दिव्य शृङ्गारकी। शुद्ध-सात्त्विक प्रेमकी धारा इनके बीचसे प्रवाहित होती है। भगवान् ऐसे ही प्रेमके वशीभूत रहते हैं। समस्त श्रीकृष्णलीलामें इसीका प्रतिपादन किया गया है।

श्रीकृष्णके बालरूपका सौन्दर्य अद्भुत है। उनकी बालसुलभ क्रीडाएँ देखकर यशोदा मुग्ध हैं। इसी मुग्धताके कारण वे श्रीकृष्णके वास्तविक स्वरूपको पहचान नहीं पातीं। वे उन्हें मिट्टी खानेके लिये डाँटती हैं और अपना वास्तविक रूप दिखा देनेपर भी श्रीकृष्णकी मायाके वशीभूत होकर पुत्रभावसे ही उन्हें देखती हैं। उन्हें ओखलसे बाँधती हैं और यमलार्जुनवृक्षोंके गिर जानेपर व्याकुल भी होती हैं।

श्रीकृष्णलीलाका विलक्षण दिव्य प्रेम गोपियोंके साथ

महारासकी लीलामे व्यक्त हुआ है। इसके माध्यमसे उन्हे पानेके लिये प्रेममार्गका निरूपण हुआ है। वहाँतक पहुँचनेके लिये परम आसक्ति और समर्पणभाव आवश्यक है। जप, तप, ध्यान और योग आदिकी आवश्यकता नहीं। कवल भक्ति और समर्पणभाव आवश्यक है। गोपियाँ इसीकी प्रतिरूप हैं। वे उनके अनन्य सोन्दर्यपर मुग्ध हैं। अपने घरोमे उनको माखनचोरी करते और मटके फोडते देख वे प्रसन्न होती हैं। उनके रूपका आकर्षण बढता ही जाता है और विवाहिता होते हुए भी गोपियाँ उन्हे पतिरूपम पानेकी कामना करने लगती हैं। उनकी वशीकी ध्वनि इतनी मादक है कि जड-चेतन सभी उससे प्रभावित हो उठते हैं। वेणुगीत, गोपिकागीत आदि प्रसगोमे गोपियोंके दिव्य प्रेमकी विरह-व्यथाकी मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है।

श्रीकृष्णको पतिरूपमे पानेक लिये वे कात्यायनी-दवीका व्रत करती हैं। बिना परीक्षा लिये श्रीकृष्ण उनकी इच्छा पूरी नहीं कर सकते। चीरहरण-प्रसग गापियोकी ऐसी ही परीक्षा है। भक्ति सम्पूर्ण समर्पणकी माँग करती है। इसमे किसी प्रकारके द्वैत अथवा दुरावके लिये अवकाश नहीं।

भगवान् शरद्-ऋतुकी रात्रियामे मिलनका—गोपियोकी इच्छा पूर्ण करनेका आश्वासन देते हैं, किंतु मिलनके लिये और परीक्षाएँ शेष हैं। अन्तिम परीक्षा रासलीला-प्रसगमे पूर्ण होती है। शरत्की पूर्णिमाम जब श्रीकृष्ण बाँसुरी बजाते हैं तब मन्त्रमुग्ध गोपियाँ घर-परिवार सब कुछ छोडकर उनके पास दौडी चली आती हैं। सासारिक बन्धन तोडकर वे श्रीकृष्णकी शरण आयी हैं। श्रीकृष्ण उनकी परीक्षा लेते हुए कुलकी मर्यादाका उल्लघन न करनेका उपदेश देते हैं, किंतु गोपियोका समर्पणभाव दृढ हो चुका है। प्रेमका वेग इतना तीव्र है कि कुलकी मर्यादा और प्रतिष्ठा उसम बह जाती है। अत उनकी व्याकुलतासे द्रवित हो श्रीकृष्ण उनके साथ उन्मुक्त विहार करते और उनक मिलनकी इच्छा पूर्ण करते हैं।

किंतु गोपियाकी परीक्षा अभी पूर्ण नहीं हुई। उनका अहकार अभी समाप्त नहीं हुआ। परमात्मासे मिलनके लिये इसका परित्याग आवश्यक है। मिलनकी स्थितिमे किसी प्रकारके द्वैतका बोध नहीं रहना चाहिये। इसीलिये विहार करते हुए जब गोपियोके मनम यह अहकार आ जाता है कि श्रीकृष्णको उन्हाने वशमें कर लिया, तभी वे अन्तर्धान हो जाते हैं।

श्रीकृष्णके अन्तर्धान होनेका उद्देश्य है—गोपियोका विरहभाव दृढ करना, जिससे उनके चित्तके सभी विकार धुल जायँ। उनके आँसुआमे उनका अहकार बह जाता है। अब उनका चित्त सभी प्रकारके विकारासे रहित हो गया है। ससारकी मायाका उन्हाने त्याग कर दिया हे। उनकी शरणागति पूर्ण हो गयी है। उनकी व्याकुलतासे द्रवित होकर श्रीकृष्ण पुन प्रकट होते हैं ओर गोपियाके साथ महारास आरम्भ होता है। वे अपनी लीलाशक्तिका सहारा लेकर जितनी गोपियाँ थीं उतने रूप धारणकर उनके साथ लीला-विहार करते हैं।

रास वस्तुत जीव और ब्रह्मके मिलनकी आनन्दमयी स्थितिकी अभिव्यक्ति है। ब्रह्मरूप श्रीकृष्णका आकर्षण इतना प्रबल था, उनका रास इतना मोहक था कि स्वर्गकी देवाङ्गनाएँ भी काममोहित हो गयीं तथा इस लीलाके दर्शक चाँद और तारे भी मोहित हो गये—

कृष्णविक्रीडित वीक्ष्य मुमुहु खेचरस्त्रिय ।
कामार्दिता शशाङ्कश्च सगणो विस्मितोऽभवत्॥

(श्रीमद्भा० १०।३३।१९)

श्रीमद्भागवतमे श्रीकृष्णकी लीलाएँ उनके रसरूपकी अभिव्यक्ति हैं। व्रजभूमिम वे केवल रसकी धारा नहीं बहाते, बल्कि प्रेममार्गका निरूपण भी करते ह। वे गोपियाको इसी मार्गपर ले चलते हैं। उनमे प्रेमकी व्याकुलता जगाते, उन्हे मायाक बन्धनासे मुक्त करते और अन्तम उनका अहकार दूर करनेके लिये विरहकी पीडा भी देते ह।

भक्तिमे भक्त भगवान्को पानेके लिये जितना व्याकुल होता है, भगवान् भी उन्हे अपनी शरणम लेनेके लिय उससे कम व्याकुल नहीं हाते। उन्हे पानेके लिये गापियोने जो अपना घर-परिवार त्याग दिया प्रेममे इतन कष्ट सहे, इसके लिये वे इतने ऋणी हैं कि अनन्त कालतक उससे उऋण नहीं हो सकते। वे कहते हैं—

न पारयेऽह निरवद्यमयुजा
स्वसाधुकृत्य विबुधायुषापि व ।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खला
सवृश्च्य तद् व प्रतियातु साधुना॥

(श्रीमद्भा० १०।३२।२२)

भक्तोंके प्रति दयालु होते हुए भी कभी-कभी उनका मार्गनिर्देशन करनेके लिये वे उनके प्रति निष्ठुर हो जाते हैं। ऐसा वे इसीलिये करते हैं जिससे भक्तोंकी चित्तवृत्ति उन्हींमे लगी रहे। जैसे किसी निर्धन पुरुषको बहुत-सा धन मिल जाय और फिर खो जाय तो उसका चित्त धनकी चिन्तासे भर जाता है, वैसे ही प्रकट होकर छिप जानेसे गोपियोंकी भक्ति और दृढ हो गयी—

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे
तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद॥

(श्रीमद्भा० १०।३२।२०)

गीता और प्रेम-तत्त्व

श्रीमद्भगवद्गीताका प्रारम्भ और पर्यवसान भगवान्की शरणागतिमे ही है। यही गीताका प्रेमतत्त्व है। गीताकी भगवच्छरणागतिका ही दूसरा नाम 'प्रेम' है। प्रेममय भगवान् अपने प्रियतम सखा अर्जुनको प्रेमके वश होकर वह मार्ग बतलाते हैं, जिसमे उसके लिये एक प्रेमके सिवा और कुछ करना बाकी रह ही नहीं जाता।

कुछ लोगोंका कथन है कि श्रीमद्भगवद्गीतामे प्रेमका विषय नहीं है। परंतु विचारकर देखनेपर मालूम होता है कि 'प्रेम' शब्दकी बाहरी पोशाक न रहनेपर भी गीताके अन्दर प्रेम ओत-प्रोत है। गीता भगवत्-प्रेम-रसका अगाध समुद्र है। प्रेम वास्तवमे बाहरकी चीज होती भी नहीं वह तो हृदयका गुप्त धन है जो हृदयके लिये हृदयसे हृदयको ही मिलता है और हृदयसे ही किया जाता है। जो बाहर आता है वह तो प्रेमका बाहरी ढाँचा होता है हनुमान्जी महाराज भगवान् श्रीरामका संदेश श्रीसीताजीको इस प्रकार सुनाते हैं—

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं॥

प्रेम हृदयकी वस्तु है, इसीलिये वह गोपनीय है। गीतामे भी प्रेम गुप्त है। वीरवर अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्णका सख्य-प्रेम विश्व-विख्यात है। आहार-विहार शय्या-क्रीडा अन्तःपुर-दरबार तथा वन-प्रान्त-रणभूमि—सभीमे दोनोको हम एक साथ पाते हैं। जिस समय अग्निदेव अर्जुनके समीप खाण्डवदाहके लिये अनुरोध करने आते हैं, उस समय उन्हे भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन जलविहार करनेके बाद प्रमुदित मनसे एक ही आसनपर बैठे हुए मिलते हैं। जब संजय भगवान् श्रीकृष्णके पास आते हैं, तब उन्हे अर्जुनके साथ एक ही आसनपर अन्तःपुरमे द्रौपदी और सत्यभामासहित विराजित पाते हैं। अर्जुन—'विहारशय्यासन-भोजनेषु' कहकर स्वयं इस बातको स्वीकार करते हैं।

अधिक क्या, खाण्डव-वनका दाह कर चुकनेपर जब इन्द्र प्रसन्न होकर अर्जुनको दिव्यास्त्र प्रदान करनेका वचन देते हैं, तब भगवान् श्रीकृष्ण भी कहते हैं कि 'देवराज! मुझे भी एक चीज दो और वह यह कि अर्जुनके साथ मेरा प्रेम सदा बना रहे'—

'वासुदेवोऽपि जग्राह प्रीतिं पार्थेन शाश्वतीम्।'

(महा० १।२३३।१३)

अर्जुनके लिये भगवान् प्रेमकी भीख माँगते हैं। यही कारण था कि भगवान् अर्जुनका रथ हाँकनेतकको तैयार हो गये। अर्जुनके प्रेमसे ही गीताशास्त्रकी अमृतधारा भगवान्के मुखसे बह निकली। अर्जुनरूपी चन्द्रको पाकर ही चन्द्रकान्तमणिरूप श्रीकृष्ण द्रवित होकर बह निकले जो गीताके रूपमे आज त्रिभुवनको पावन कर रहे हैं। प्रेमका स्वरूप है—प्रेमीके साथ अभिन्नता हो जाना, जो भगवान्मे पूर्णरूपसे थी। इसीसे अर्जुनका प्रत्येक काम करनेके लिये भगवान् सदा तैयार रहते थे। प्रेमका दूसरा स्वरूप है—'प्रेमीके सामने बिना संकोच अपना हृदय खोलकर रख देना।' वीरवर अर्जुन प्रेमके कारण ही निःसंकोच होकर भगवान्के सामने रो पड़े और स्पष्ट शब्दोमे उन्होंने अपने हृदयकी बातें कह दीं। भगवान्की जगह यदि कोई दूसरा होता तो ऐसे शब्दोमे जिनमे वीरतापर धब्बा लग सकता था अर्जुन अपने मनके भाव

कभी नहीं प्रकट करते। प्रेममे लल्लो-चप्पो नहीं होता, इसीसे भगवान्ने अर्जुनके पाण्डित्यपूर्ण, परतु मोहजनित विवेचनके लिये उन्हे फटकार दिया और युद्धस्थलम, दोना ओरकी सेनाओके युद्धारम्भकी तैयारीके समय वह अमर ज्ञान कह डाला जो लाखा-करोडो वर्ष तपस्या करनेपर भी सुननेको नहीं मिलता। प्रेमके कारण ही भगवान् श्रीकृष्णने अपने महत्त्वकी बाते नि सकोचरूपसे अर्जुनके सामने कह डालीं। प्रेमके कारण ही उन्ह विभूतियोग बतलाकर अपना विश्वरूप दिखला दिया। नवम अध्यायके 'राजविद्या-राजगुह्ययोग' की प्रस्तावनाके अनुसार अन्तके श्लोकमे अपना महत्त्व बतला देने, दशम और एकादशमे विभूति तथा विश्वरूपका प्रत्यक्ष ज्ञान करा देने एव पन्द्रहवे अध्यायमे 'मैं पुरुषोत्तम हूँ' ऐसा स्पष्ट कह देनेपर भी जब अर्जुन भगवान्की मायावश भलीभाँति नहीं समझे, तब प्रमके कारण ही अपना परम गुह्य रहस्य जो नवम अध्यायके अन्तमे इशारेसे कहा था, भगवान् स्पष्ट शब्दाम सुना देते हैं। भगवान् कहते हैं 'मेरे प्यारे! तू मेरा बडा प्यारा है इसीसे भाई! मैं अपना हृदय खोलकर तरे सामने रखता हूँ, बडे सकोचकी बात है, हर एकके सामने नहीं कही जा सकती, सब प्रकारके गोपनीयोमे भी परम गोपनीय (सर्वगुह्यतमम्) विषय है, ये मेर अत्यन्त गुप्त रहस्यमय शब्द (मे परम वच) हैं। एक बार पहले कुछ सकेत कर चुका हूँ, अब फिर सुन (भूय शृणु) बस, तेरे हितके लिये ही कहता हूँ, (ते हित वक्ष्यामि) क्योकि इसीमें मेरा भी हित है, क्या कहूँ? अपने मुँह ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये, इससे आदर्श बिगडता है, लोकसग्रह बिगडता है, परतु भाई! तू मेरा अत्यन्त प्रिय है (मे प्रिय असि)। तुझे क्या आवश्यकता है इतने झगडे-बखेडेकी? तू तो केवल प्रेम कर। प्रेमके अन्तर्गत मन लगाना, भक्ति करना पूजा और नमस्कार करना आप-से-आप आ जाता है, मैं भी यही कर रहा हूँ। अतएव भाई! तू भी मुझे अपना प्रेममय जीवनसखा मानकर मेरे ही मनवाला बन जा मेरी ही भक्ति कर, मेरी ही पूजा कर और मुझे ही नमस्कार कर, मैं सत्य कहता हूँ। अरे भाई! शपथ खाता हूँ, ऐसा करनेसे तू और मैं एक ही हो जायँगे (गीता १८। ६५)। क्योकि एकता ही प्रेमका फल है। प्रेमी अपने प्रेमास्पदके सिवा और कुछ भी नहीं जानता, किसीको नहीं पहचानता, उसका जीवन, प्राण, धर्म, कर्म तथा ईश्वर जो कुछ भी है सा सब प्रेमास्पद ही है। वह तो अपने-आपको उसीपर न्याछावर कर देता है। तू सारी चिन्ता छोड दे (मा शुच)। धर्म-कर्मकी परवा न कर (सर्वधर्मान् परित्यज्य)। केवल एक मुझ प्रेमस्वरूपके प्रेमका ही आश्रय ले ले। (मामेक शरण व्रज) प्रेमकी ज्वालाम तेरे सारे पाप-ताप भस्म हो जायँगे। तू मस्त हो जायगा। यह प्रेमकी तन-मन-लोक-परलोक-भुलावनी मस्ती ही तो प्रेमका स्वरूप है—

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति। यत्प्राप्य न किञ्चिद् वाञ्छति न शाचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति। यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति। (नारद-भक्तिसूत्र ४—६)

'जिसे पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमृतत्वको पा जाता है, सब तरहसे तृप्त हो जाता है, जिसे पाकर फिर वह न अप्राप्त वस्तुको चाहता है, न 'गतासून् अगतासून्' के लिये चिन्ता करता है, न मनके विपरीत घटना या सिद्धान्तसे द्वेष करता है, न मनोनुकूल विषयोमे आसक्त होता है और न प्यारेकी सुख-सेवाके सिवा अन्य कार्यमे उसका उत्साह होता है। वह तो बस, प्रेममे सदा मतवाला बना रहता है, वह स्तब्ध और आत्माराम हो जाता है।' इस सुखके सामने उसको ब्रह्मानन्द भी गोष्पदके समान तुच्छ प्रतीत होता है (सुखानि गोष्पदायन्ते ब्रह्मण्यपि)।

इस स्थितिम उसका जीवन केवल प्रेमास्पदको सुख पहुँचानेके निमित्त उसकी रुचिके अनुसार कार्य करनेके लिये ही होता है। हजार मनके प्रतिकूल काम हो, प्रेमास्पदकी उसमे रुचि है, ऐसा जानते ही सारी प्रतिकूलता तत्काल सुखमय अनुकूलताके रूपमे परिणत हा जाती है, प्रेमास्पदकी रुचि ही उसके जीवनका स्वरूप बन जाता है। उसका जीवन व्रत ही होता है—केवल 'प्रेमास्पदके सुखसे सुखी रहना' (तत्सुखसुखित्वम्) वह इसीलिये जीवन धारण करता हे। मेरा अवतार-धारण भी अपने इन प्रेमास्पदोके लिये ही है, इसीलिय तो—

भूतेष्वन्तर्यामी　ज्ञानमय　सच्चिदानन्द ।

प्रकृते पर परात्मा यदुकुलतिलक स एवायम्॥

—'मैं सर्वभूताका अन्तर्यामी प्रकृतिसे परे ज्ञानमय सच्चिदानन्दघन ब्रह्म प्रममय दिव्य दह धारण कर यदुकुलम अवतीर्ण हुआ हूँ।' भगवान्ने गीताके १८ वें अध्यायके ६४ वें-से ६६ वेतक तीन श्लोकोमे जो कुछ कहा, उसीका उपर्युक्त तात्पर्यार्थ है। प्रेमका यह मूर्तिमान् स्वरूप प्रकट ता कर दिया, परतु फिर भगवान् अर्जुनको सावधान करत हैं कि 'यह गुह्य रहस्य तपरहित, भक्तिरहित, सुननेकी इच्छा न रखनेवाले और मुझमे दोष देखनेवालेके सामने कभी न कहना।' (गीता १८।६७) इस कथनम भी प्रेम भरा है, तभी तो अपना गुह्य रहस्य कहकर फिर उसकी गुह्यताका महत्त्व अपने ही मुखसे बढाते हुए भगवान् अर्जुनके सामने सकोच छोडकर एसा कह देते हैं। इस अधिकारी-निरूपणका एक अभिप्राय यह है कि इस परम तत्त्वको ग्रहण करनेवाले लोग ससारमे सदासे ही बहुत थोडे होत हैं। (मनुष्याणा सहस्रेषु कश्चित्) जिनका मन तपश्चर्यासे शुद्ध हो गया हो, जिनका अन्त करण भक्तिरूपी सूर्यकिरणासे नित्य प्रकाशित हा, जिसको इस प्रेमतत्त्वके जाननेकी सच्च मनसे तीव्र उत्कण्ठा हो एव जो भगवान्‌की महिमाम भूलकर भी सदेह नहीं करता हा, वही इसका अधिकारी है। भगवान्‌की मधुर-बाललीलाम भाग्यवती प्रात स्मरणीया गोपियाँ इसकी अधिकारिणी थीं। इस रणलीलाम अर्जुन अधिकारी हैं। अनधिकारियोके कारण ही आज गोपी-माधवकी पवित्र आध्यात्मिक प्रेमलीलाका आदर्श दूषित हो गया और उसका अनधिकार अनुकरण कर मनुष्य कठिन पाप-पकम फँस गये। गोपियोका जीवन भी 'तत्सुखसुखित्वम्' के भावमे रँगा हुआ था और इस प्रेमरहस्यका उद्‌घाटन होते ही अर्जुन भी इसी रगमे रँगकर अपनी सारी प्रतिकूलताओको भूल गये भूल ही नहीं गये, बल्कि सारी प्रतिकूलताएँ तुरन्त अनुकूलताके रूपमे परिवर्तित हो गयीं और वे आनन्दसे कह उठे—

'करिष्ये वचन तव'

—'तुम जो कुछ चाहोगे जो कुछ कहोगे बस में वही करूँगा वही मेर जीवनका व्रत होगा।' इसीको अर्जुनन जीवनभर निबाहा। यही प्रमतत्त्व है, यही शरणागति है। भगवान्‌की इच्छाम अपनी सारी इच्छाआको मिला देना, भगवान्‌क भावाम अपन सार भावाका भुला दना, भगवान्‌क अस्तित्वम अपन अस्तित्वको सर्वथा मिटा देना यही 'मामेक शरणम्' है, यही प्रमतत्त्व है, यही गीताका रहस्य है। इसीस गीताका पर्यवसान साकार भगवान्‌की शरणागतिमें समझा जाता है। इसी परम पावन परमानन्दमय लक्ष्यको सामने रखकर प्रेमपथपर अग्रसर होना गीताके साधककी साधना है। इसीसे कविक शब्दाम साधक पुकार कर कहता है—

एकै अभिलाख लाख लाख भाँति लेखियत,
देखियत दूसरा न देव चराचरमें।
जासो मनु राँचै तासा तनु मनु राँचै
रुचि भरिकै उघरि जाँचै साँचै करि करम॥
पाँचनके आगे आँच लगे ते न लौटि जाय
साँच देइ प्यारकी सती लौ बैठे सरमें।
प्रेम सो कहत कोऊ ठाकुर, न ऐठो सुनि
बैठो गड़ि गहरे, तो पैठो प्रेम घरमें॥१॥

कोऊ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रकिनि कलकिनि कुनारी हौं।
कैसे नरलोक परलोक बरलोकनिम
लीन्ही मैं अलीक लोक-लोकनि ते न्यारी हौं॥
तन जाउ, मन जाउ देव गुरु-जन जाउ,
प्रान किन जाउ, टेक टरत न टारी हौं।
वृन्दावन-वारी बनवारीको मुकुट वारी
पीत पट वारी वहि मूरति पै वारी हौं॥२॥

तौक पहिरावौ पाँव बेड़ी लै भरावौ,
गाढे बन्धन बँधावौ औ खिचावौ काची खाल सो।
विष लै पिलावौ, तापै मूठ भी चलावौ
माँझधारमें डुबावौ बाँधि पत्थर कमाल' सों॥
बिच्छू लै बिछावौ, तापै मोहि लै सुलावौ फेरि,
आग भी लगावौ बाँधि कापड़ दुसालसो।
गिरिते गिरावौ, काले नाग ते डसावौ
हा! हा! प्रीति मा छुड़ावौ गिरिधारी नदलाल सो॥३॥

श्रीमद्भगवद्गीतामे भगवत्प्रेमका गीत

(श्रीरामकृष्ण रामानुजदास 'श्रीसन्तजी महाराज')

श्रीमद्भगवद्गीताम सर्वत्र भगवत्प्रेमका हा गीत दिखायी देता है। वास्तवमे भगवत्प्रेमका स्वरूप ठीक-ठीक बताना बहुत कठिन है, क्याकि यह अनुभवरूप है। प्रेमी बनकर ही कोई इस दिव्य भगवत्प्रेमको समझ सकता है और भगवत्प्रेमको समझनेके लिये भगवान्के दिव्य रूपका भी अनुभव हाना आवश्यक है।

भगवत्कृपा सबपर सदा-सर्वदा है ही लेकिन अभागा मनुष्य ससारम व्यक्तरूप भगवान्पर शीघ्र विश्वास नहीं करता है, यही भगवत्प्रेमकी अनुभूतिम बाधक है। भगवान्के तत्त्वका अनुभव प्राप्त करनेके लिये सर्वप्रथम उनके किसी नामका आश्रय लेना आवश्यक है। अधिकाश जीव अनेक जन्मोंतक शरीर तथा इन्द्रियोक विषयामें भटकते रहते हैं। मानव-तन प्राप्त होनेपर भी जीवोकी पुरानी आदत नहीं छूटती है। उन्ह भगवत्प्रेमकी साधनाका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता है। यद्यपि भगवत्प्रेमकी प्राप्ति सहज और सुलभ है, लेकिन इसके लिये नामका आश्रय लेना आवश्यक है। नाम-जप तथा नाम-कीर्तन वाणीका सर्वश्रेष्ठ तप है। इसे भगवत्प्रेमका बीज कहा जा सकता है। इस घोर कलियुगमे मनुष्यांके बडे-बडे पापाको मिटानेकी शक्ति कवल प्रभुक नाममें ही है। जिस प्रकार श्रीरामचरितमानस तथा श्रीमद्भागवतमें प्रभुके नामकी साधना प्रधान है, उसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीतामे भी नाम-सकीर्तनकी साधनाका सदेश सर्वत्र दिखायी पडता है। इसमे 'भजन' शब्दका प्रयोग वास्तवम नाम-सकीर्तन करते रहनेका ही सदेश देता है—

तेषा सततयुक्ताना भजता प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोग त येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०।१०)

श्रीधर स्वामीजीने इस श्लोकको व्याख्याम स्पष्ट कहा है कि यहाँ 'भजन'का तात्पर्य नाम-सकीर्तन समझना चाहिये। नाम-सकीर्तनके द्वारा भक्तका मन भगवान्के साथ सतत जुडा रहता है। 'सततयुक्ताना भजताम्' का यही भाव बताया गया है। नाम-सकीर्तनकी साधनाद्वारा ज्ञान तथा वैराग्यके गुण स्वत ही प्राप्त हो जाते हैं। यह नाम-साधना साधन तथा साध्य दोनो है। ज्ञानको ऊँचाई प्राप्त करनेपर भी ज्ञानियोको नामकी साधना करते रहना चाहिये। आद्य शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य तथा मधुसूदन सरस्वती आदि ज्ञानियाने जीवनके अन्तिम क्षणतक प्रभुक नामका विस्मरण नहीं किया। इसलिये गीताके सभी भाष्यकारोने भगवान्के नामका आश्रय लेनेके लिये सदेश दिया है।

गीताके सोलहवे अध्यायमे देव तथा असुर दोनोके स्वभाव बताये गये हैं। जो भगवान्से प्रेम करता है वह देवमानव है और जो भगवान्से विमुख रहता है, वह असुर-मानव है। देवमानव ही भगवत्प्रेमकी महिमा समझते हैं। उनमे भगवत्प्रेमका सागर लहराता रहता है, क्योकि उन्हे भगवत्-तत्त्वका भलीभाँति ज्ञान रहता है। देवमानवका गुण बताते हुए भगवान् कहते हैं—

महात्मानस्तु मा पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिता ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥[1]

(गीता ९।१३)

असुर-मानवको भगवत्-तत्त्वका ज्ञान नहीं रहता है, इसीलिये उन्हे मूढ, दुराचारी और नराधम कहा जाता है। वे भगवान्का भजन कभी नहीं करते हैं, भगवान्से कभी प्रेम नहीं करते। भगवान्ने ऐसे असुर-मानवका स्वभाव बताते हुए कहा है—

न मा दुष्कृतिनो मूढा प्रपद्यन्ते नराधमा ।
माययापहृतज्ञाना आसुर भावमाश्रिता ॥[2]

(गीता ७।१५)

भगवत्प्रेमम सबके प्रति प्रभुदृष्टि होना आवश्यक है। समस्त प्राणियोमे प्रभुका रूप देखते हुए सबसे नि स्वार्थ प्रेम करना तथा फलेच्छासे रहित होकर उनकी सेवा करना ही प्रभु-प्रम है। भगवान्ने स्पष्ट ही कहा है—

यो मा पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याह न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
सर्वभूतस्थित यो मा भजत्येकत्वमास्थित ।

१ हे कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृतिके आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं।

२ मायाके द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है ऐसे आसुर-स्वभावको धारण किये हुए, मनुष्योमे नीच और दूषित कर्म करनेवाले मूढलोग मुझको नहीं भजते।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

(गीता ६।३०-३१)

अर्थात् जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोमे सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूताको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता। जो पुरुष एकीभावमे स्थित होकर सम्पूर्ण भूतामे आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमे ही बरतता है।

भगवान्का ज्ञान प्राप्त होते ही जीवनके सारे कर्म भजन बन जाते हैं। भक्त जगत्की सेवा भगवान्की भावनामें रहकर करते हैं। उनकी देहासक्ति तथा कर्म-फलासक्ति मिट जाती है। इस प्रकार भगवत्प्रेमम भगवान्का ज्ञान होते ही दिव्य भावसे कर्म होते हैं। भक्त अपने हृदयमे तथा दूसरोंके हृदयमे भगवान्का दर्शन करते हैं। जबतक हृदयमे भगवान्की अनुभूति नहीं होती, तबतक मनुष्यमे दृढ भक्ति नहीं होती और वह अज्ञानके अन्धकारमे भटकता रहता है।

जबतक सासारिक विषय-वासना आदि अपवित्र कामना मनुष्यमे रहती है, तबतक प्रभु-प्रेमकी स्थापना उसके हृदयम नहीं होती इसलिये कामना-त्यागका सदेश देते हुए भगवान्ने कहा है—

जहि शत्रु महाबाहो कामरूप दुरासदम्॥

(गीता ३।४३)

भगवान् स्वय प्रेमस्वरूप हैं। वे प्रेमद्वारा ही हृदयमे प्रकट होते हैं। उनके चरित्र प्रेमरूप हैं। उनकी वाणी प्रेममयी है। उनका प्रेममय हृदय ही गीताके रूपमे प्रकट हुआ है, अत गीता उनके प्रेमका सच्चा गीत है।

जो भगवत्प्रेम करता है, उसमे न कोई कामना होती है और न उसके जीवनमे कोई दोष शेष रह जाता है। पवित्र हृदयवाला भक्त ही शान्ति पाता है। सिद्ध भक्तकी स्थिति बताते हुए भगवान् कहते हैं—

विहाय कामान्य सर्वान्पुमाश्चरति नि स्पृह ।
निर्ममो निरहङ्कार स शान्तिमधिगच्छति॥

(गीता २।७१)

गीतामे भगवत्प्रेमके अन्तर्गत शिष्टाचार तथा सदाचारका भी चित्रण दिखायी देता है क्योकि भक्तके जीवनमे पवित्र आचरणकी विशेष महत्ता होती है। भगवान्का भजन करनेके कारण भक्तके मन बुद्धि आदि सब दिव्य बन जाते हैं। अर्जुनके चरित्रमे शिष्टाचार तथा सदाचारके गुण दर्शाकर सभी भक्तोको उनका अनुसरण करनेकी शिक्षा दी गयी है। शिष्टाचारयुक्त अर्जुनकी विनम्र वाणी देखिये—

यच्छ्रेय स्यान्निश्चित ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽह शाधि मा त्वा प्रपन्नम्॥

(गीता २।७)

विनम्रता एव प्रपन्नता भगवत्प्रेमकी मुख्य विशेषता है।

भगवत्प्रेम भगवत्-धर्म है, जिसमे भगवान् स्वय निवास करते हैं। भगवत्-धर्मका स्वरूप बताते हुए भगवान् स्वय कहते हैं—

ये भजन्ति तु मा भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(गीता ९।२९)

अर्थात् जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझम हैं और मैं भी उनम प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।

जो व्यक्ति भगवान्की ओर जितना ही बढता है, भगवान् भी उसे उतना ही प्रेम प्रदान करते हैं। भगवान्के प्रति अनुराग ही भगवत्प्रेम है। इस भगवत्प्रेमकी साधनामें ससारकी अन्य वस्तुओका राग स्वत ही समाप्त हो जाता है। भगवान् कहते हैं—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मा सर्वभावेन भारत॥

(गीता १५।१९)

अर्थात् हे भारत! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है।

गीतामे ज्ञानयुक्त भगवत्प्रेमका वर्णन है। ज्ञानी भक्त सतत ईश्वरका स्मरण करता है। वह ईश्वरसे कभी पृथक् नहीं होता है। वास्तवमे स्वरूपत हम न ईश्वरसे पृथक् हो सकते हैं और न ईश्वर हमसे पृथक् हो सकता है।

ईश्वर-तत्त्वका ज्ञान नहीं होनेके कारण ही जीव ईश्वरको भूल जाता है। इसीलिये भगवान्ने अर्जुनके माध्यमसे मानवमात्रको प्रेमपूर्वक सदैव भगवत्स्मरण करते रहनेका सदेश दिया है—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

(गीता ८।७)

जो ज्ञानपूर्वक निरन्तर ईश्वरका स्मरण करनेका अभ्यास करता है वह निश्चय ही उसे प्राप्त कर लेता है। भगवान् कहते हैं—

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परम पुरुष दिव्य याति पार्थानुचिन्तयन्॥

(गीता ८।८)

परम कृपालु परमेश्वर यह देव-दुर्लभ मानव-तन प्रभुका भजन करनेके लक्ष्यसे ही देता है। भगवान् कहते हैं—

अनित्यमसुख लोकमिम प्राप्य भजस्व माम्॥

(गीता ९।३३)

प्रभुका नाम लेना ही भजन है। यह साधन तथा साध्य दोना है। भगवान्के भजनकी तुलनामे सारे साधन छोटे हैं। भगवान्का नाम, रूप लीला तथा धाम—ये चारो ही सच्चिदानन्दस्वरूप कहे जाते हैं। इनमे भगवान्का नाम प्रथम स्थानमे आता है। इसस धर्म अर्थ, काम तथा मोक्षके साथ-साथ भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होती है। इसे समस्त श्रुतियोका सार कहते हैं।

भगवन्नामकी साधनाद्वारा जीवनमे अवश्य ही सद्विचार आते हैं। सद्विचारद्वारा सदाचारका निर्माण होता है, जिसे चरित्र-निर्माण कहते हैं। वर्तमान समयम समाजकी दशा देखते हुए कहना पडता है कि भगवद्भक्तिके अभावमे मानवताके स्थानपर दिनानुदिन दानवता बढती जा रही है। गीता आदर्श सदाचारी, चरित्रवान् तथा भगवत्प्रेमी बननेका सन्देश देती है, क्योकि ऐसे ही श्रेष्ठजन अनुकरणके आदर्श बनते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन।
स यत्प्रमाण कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

(गीता ३।२१)

भगवत्प्रेमका सिद्ध सरोवर—मानस

(डॉ० श्रीसत्येन्दुजी शर्मा एम्०ए० पी-एच्० डी०)

भगवान्की प्रसन्नताके लिये हमलोग नाना प्रकारके उपाय करते हैं। कोई ज्ञानयोगका आश्रय लेता है, कोई कर्मयोग तो कोई भक्तियोगका अवलम्ब ग्रहण करता है। कोई यथारुचि जप-तप और ध्यान आदिमे प्रवृत्त होता है तो कोई व्रत-अनुष्ठानका पथ चुनता है। इन सब प्रकारके साधन-भजनका अन्तिम फल यही है कि प्रभुके चरण-कमलामे हमारी निष्काम प्रीति उत्पन्न हो जाय—

जप तप मख सम दम ब्रत दाना। बिरति बिबक जोग बिग्याना॥
सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा॥

सच तो यही है कि बिना भगवत्कृपाके हम उनसे प्रेम नहीं हो सकता और बिना भगवत्प्रेमके हमारे सारे प्रयास निस्सार तथा निरर्थक हैं। परतु इस भगवत्-प्रेमका आविर्भाव कैसे हा कौन-सा साधन अपनाया जाय? विशेपकर आजके इस विपाक्त वातावरणमे जबकि हम दिन-रात माया-मोहके परिवेशमे साँसे ले रहे हैं स्वार्थ एव भोगपूर्ण जीवनमे आकण्ठ मग्न हैं। सच्चे गुरुआका प्राय अभाव हो गया है, वास्तविक सत-महात्माआके प्राय दर्शन दुर्लभ हैं और सत्सग मिलना भी उतना ही कठिन। अर्थात् प्रतिकूलता हमारे चारा तरफ विराजमान है और अनुकूलताकी किरण दिखलायी नहीं पडती। ऐसी विपम परिस्थितिम भगवत्प्रेमका साधन क्या हो?

यहाँ मैं एक ऐसे साधनका उल्लेख करना चाहता हूँ, जो इस घोर-कठोर कलिकालमे ब्रह्मास्त्रकी तरह अमोघ है वह है—'श्रीरामचरितमानस।' इस भगवद्ग्रन्थके पारायणसे हम-जैसे तुच्छातितुच्छ जन भी निश्चितरूपसे भगवत्प्रेमका विलक्षण उपहार प्राप्त कर सकते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने दृढतापूर्वक कहा है कि जो कोई इस राम-कथाका प्रमपूर्वक कथन, श्रवण और मनन करेगा वह श्रीरामचरणके प्रेमका पात्र अवश्यमेव बनेगा—

जे एहि कथहि सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥
होइहहिं राम चरन अनुरागी। कलि मल रहित सुमगल भागी॥

दूसरी तरफ श्रीरामचरितमानस वह कल्पवृक्ष है, जो अपने आश्रय लेनेवालोके हृदयमे भगवान् श्रीरामके चरणकमलाके प्रति प्रेम उत्पन्न कर देता है—

प्रनत कल्पतरु करुना पुजा। उपजइ प्रीति राम पद कजा॥

श्रीरामचरितमानसके श्रवणमात्रसे काम और मद आदि सारे विकार अपने-आप ही विनष्ट हो जाते हैं तथा मन पूर्ण विश्रामका अनुभव करने लगता है—

रामचरितमानस एहि नामा। सुनत श्रवन पाइअ विश्रामा॥

श्रीरामचरितमानस वह अचूक राम-रसायन है कि विश्वासपूर्वक इस कथाको निरन्तर सुननेवाला अनायास ही

हरिभक्ति-पदका अधिकारी बन जाता है—

मुनि दुर्लभ हरि भगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास।
जे यह कथा निरतर सुनहिं मानि बिस्वास॥

प्रभुपद-प्रीतिकी प्राप्ति करनी हो अथवा मुक्ति ही अभीष्ट क्या न हो मानसका भावपूर्ण श्रवण मनुष्यको मनोवाञ्छित फल अवश्य प्रदान करता है—

राम चरन रति जो चह अथवा पद निर्बान।
भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान॥

भगवत्प्रेम-प्राप्तिकी एसी गारटी देनेवाला साधन अन्यत्र कहाँ सुलभ है? लौकिक या पारलौकिक—सभी प्रकारकी कामनाआको परिपूर्ण करनेवाला चारु चितामणि है—यह 'श्रीरामचरितमानस।' जो कोई भी निष्कपट होकर इस कथाको कहता सुनता और अनुमोदन करता है, वह सारी मनोकामनाओकी सिद्धिके साथ-साथ इस भवसागरको भी अत्यन्त सरलतापूर्वक पार कर लेता है—

मन कामना सिद्धि नर पावा। जे यह कथा कपट तजि गावा॥
कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भवनिधि तरहीं॥

मानस वह पारस है कि इसके सम्पर्कमे आनेवाला मनुष्य निश्चितरूपसे भगवत्प्रेमी बन जाता है। यह मानस वह सरोवर हे जो पुण्यमय है, पाप हरण करनेवाला हे, सदा कल्याणप्रद है, विज्ञान और भक्ति प्रदान करनेवाला हे तथा माया-मोहरूप मलको दूर करनेवाले शुभ, स्वच्छ प्रेम-जलसे परिपूर्ण है—

पुण्य पापहर सदा शिवकर विज्ञानभक्तिप्रद
मायामोहमलापह सुविमल प्रेमाम्बुपूर शुभम्।

मानसकी महिमाका क्या कहना। स्वय गोस्वामीजी कहते हैं कि इस रामचरितको कहने-सुननेवाले लोग बिना श्रमके ही निर्मल होकर श्रीराम-धामके अधिकारी बन जात हैं। यहाँतक कि जो मनुष्य पाँच या सात चौपाइयाँ भी हृदयङ्गम कर लेता है उसके अविद्याजनित विकाराको मर्यादापुरुपोत्तम प्रभु श्रीराम स्वय हर लेते हैं—

रघुबस भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं।
कलि मल मनोमल धोइ बिनु श्रम राम धाम सिधावहीं॥
सत पच चौपाईं मनोहर जानि जो नर उर धरै।
दारुन अविद्या पच जनित बिकार श्रीरघुबर हरै॥

इस प्रकार श्रीरामचरितमानस वह सिद्ध सरोवर है, जिसमे श्रद्धाका सम्बल लेकर अवगाहन करनेवाला मनुष्य अनायास ही भगवान्‌का अविचल प्रेम-रत्न प्राप्त कर लेता है। जो भी इस सरोवरमे चाहे-अनचाहे प्रविष्ट हुआ, उसके विषयरूपी दावानलम जलता हुआ मनरूपी हाथी शाश्वत सुखका अनुभव करने लगता है—

मन करि विषय अनल बन जरई। होइ सुखी जौ एहिं सर परई॥

अत भगवत्प्रेम प्राप्त करनेके लिये हम-सदृश सामान्य जनके लिये मानस-जैसे सिद्ध सरोवरम अवगाहन करने-जेसा सहज, सरल एव सरस अन्य कोई अचूक साधन नहीं है। धन्य है श्रीरामचरितमानसकी महिमा।

अभिन्नतानुभूति—भगवत्प्रेमका श्रेष्ठ साधन

(श्रीनाथूरामजी गुप्त)

यदि मे सख्यमावर इमस्य पाह्यन्धस । येन विश्वा अति द्विषो अतारिम॥ (ऋक्० ८।१३।२१)

वेदम प्रभु कहते हैं—'हे मानव! यदि तू मेरी मैत्री चाहता है तो इसके सूचनास्वरूप इस चकाचौंधवाले जगत्‌की प्रत्येक वस्तुकी रक्षा कर। इस सृष्टिके समस्त प्राणियोका पालन कर, प्राणधारक अन्नका उपयोग कर अहिसाका पालन कर जिससे तू समस्त काम-क्रोध-द्वेषादि शत्रुओको जीते, वे तुझसे दूर रहे।'

उपर्युक्त मन्त्रम परम प्रभु जीवको मार्ग दिखलाते हैं अपनी मित्रताहेतु, अपने प्रेमहेतु। यह मार्ग हम सभी माया-मोहमे लिप्त, किंतु प्रेमास्पदके मिलनेकी अङ्कुरित कामनावालोके लिये सर्वाधिक सुगम है।

रागमे लिप्त मनको विरागी बनाना अति कठिन है, किंतु रागको अनुरागमे परिवर्तित करना इसकी अपेक्षा अति सरल।

प्रेम-साधनामे हम अपने प्रेम-क्षेत्रका विस्तार करना होता है, परिवार आदि छोटे क्षेत्रका प्रेम राग तथा स्वार्थपर आधारित होता है। उसे अनुरागम परिवर्तित कर उसके क्षेत्रको निरन्तर विस्तृत करते हुए जगत्‌के प्रत्येक जड-चेतनको परम प्रभुका रूप समझ अधिक तन्मयतासे उसकी सेवा-सहायताहेतु तत्पर रहना ही परम प्रभुके प्रति प्रेमकी वास्तविक परिणति है और यही है अभिन्नताकी अनुभूति।

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमे भगवत्प्रेम-साधना

(डॉ० श्रीसुभाषचन्द्रजी सचदेवा हर्ष , एम०ए०, एम०फिल्०, पी एच्०डी०)

सिक्ख गुरुओकी वाणीके साथ-साथ कबीर, रविदास, नामदेव धन्ना, पीपा एव शेख फरीद आदि भक्ताकी रचनाओसे समलङ्कृत 'श्रीगुरुग्रन्थसाहिब' मे भगवत्प्रेम, नाम-स्मरण एव शरणागतिका अनूठा सगम दृष्टिगोचर होता है। *'प्रेम भगति जिसकै मनि लागी। गुण गावै अनदिनु निति जागी'*।[१] *'प्रेम प्रीति सदा धिआईए भै भाय भगति द्रिड़ावणिआ'*[२] *''प्रेम भगति भजु गुणी निधान*[३], *'भगति प्रेम आराधित सचु पिआस परम हितं'*[४], *'मै प्रभ मिलण प्रेम मनि आसा'*[५], *'प्रीति लगी तिसु सच सिऊ मरै न आवै जाइ'*[६]— आदि अमृतमय वचन गुरुग्रन्थसाहिबमें साकार हुए भगवत्प्रेमको मुखरित करते हैं।

'श्रीगुरुग्रन्थसाहिब' का यह निश्चित सिद्धान्त है कि साधकम भगवत्प्रेमका प्रकटीकरण एकमात्र प्रभु-कृपासे ही सम्भव है[७]। परमेश्वर अपने प्रेमके मधुर प्यालेको किसी योग्य अधिकारीको ही प्रदान करते हैं[८]। प्रभु-कृपासे जीव प्रेमा-भक्तिसे मालामाल हो जाता है[९]। परमेश्वरकी अनुकम्पाके सौजन्यसे ही प्राणी प्रभुके चरणारविन्दकी शरण ग्रहण करता है[१०] और जन्म-जन्मार्जित पुण्याके बलसे भगवद्भक्तिभावको क्रमश दृढतर बनाता चलता है[११]।

यहाँ यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि भगवत्प्रेमको उत्पन्न करनेम कारणभूत प्रभु-कृपाको कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? उक्त जिज्ञासाका समाधान करनेके सदर्भम श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमे ऐसे अनेक उपायाका विवेचन किया गया है जो भगवत्कृपाको जाग्रत् करनेम प्रधान कारण हैं। श्रीगुरुग्रन्थसाहिबकी निश्चित मान्यता है कि परमेश्वर अपनी प्रेममयी भक्तिसे उन्हीं साधकोको अनुगृहीत करते हैं, जिनके हृदय निष्कपट हैं। सासारिक विकारा एव दोषासे मुक्त प्राणी ही प्रभुके अलौकिक नामकी सम्पदाको प्राप्त करनेमे समर्थ होते हैं। जिनके जीवनमे सदाचार है और जो आध्यात्मिक गुणासे समलकृत हैं, केवल वे ही साधक अपने प्रियतम प्रभुका दिव्य सम्पर्क प्राप्त कर सकते हैं। मिथ्या-प्रदर्शन (पाखण्ड) एव हठवादिता प्रभु-प्रेमकी प्राप्तिमे महान् बाधक हैं। जो केवल सासारिक प्रदर्शनके लिये भक्ति करते हैं वे प्रभु-कृपासे वञ्चित रहते हैं और अन्तत बहुत दु ख प्राप्त करते है[१२]। परमेश्वर सत्यस्वरूप हैं और उनका प्रत्येक कार्य सत्यपर अधिष्ठित एव न्यायानुकूल है, अत सभी विकारा (मिथ्या-प्रदर्शन, हठवादिता आदि)-से सर्वथा मुक्त होकर सत्यमार्गका अवलम्बन लेनेवाले भक्तजन जब प्रभुके चरणारविन्दोम नतमस्तक होते हैं तो परमेश्वरकी कृपाके पात्र बनकर भवसागरसे पार हो जाते हैं।[१३] स्पष्ट है कि परमेश्वरकी कृपा एव भगवत्प्रेमकी प्राप्तिहेतु निष्कपट व्यवहार और सत्यमय जीवन परम आवश्यक है।[१४] परनिन्दा, पाखण्ड, अहकारादिका त्याग करके ही साधक प्रभु-प्रेमका अधिकारी बनता है।[१५]

---

१ माझ महला-५ पृ० १०९ २ माझ महला-३ पृ० ११२ ३ गउडी महला-५ पृ० १९६
४ गूजरी महला-१ घरु ४ पृ० ५०५ ५ वडहसु महला-४ घरु १ पृ० ५६०-५६१ ६ सिरीरागु महला-५ पृ० ४६
७ (क) 'करि किरपा अपनी भगती लाय। जन नानक प्रभु सदा धिआया॥' (सूही महला-५ पृ० ७३७)
(ख) 'सदा हरि रसु पाए जा हरि भाए रसना सबदि सुहाए। (गउडी महला-३ पृ० २४६)
(ग) 'जुग जुग भगत पिआरे हरि आपि सवारे। आपे भगती लाए।' (गउडी महला-३ पृ० २४६)
८ आपणा लाइ आ पिरमु न लगई जे लोचै सभु कोइ। ऐह पिरमु पिआला खसम का जै भावै तै देइ॥ (सलोक शेख फरीदके पृ० १३७८)
९ 'सदा सदा साचे गुण गावहि साचै नाइ पिआर। किरपा करिकै आपणी दितोनु भगति भडार॥' (सिरीरागु महला-३ पृ० ३६)
१० 'आप सरणि पवाइदा मेरे गोविदा हरि भगत जना राखु लाजै जीओ।' (गउडी माझ महला-४ पृ० १७४-१७५)
११ 'अपनी भगति आप ही द्रिडाई। पूरब लिखतु मिलिआ मेरे भाई॥' (रागु गउडी गुआरेरी असटपदी कबीरजीकी पृ० ३३१)
१२ भगति करहि मूरख आपु जणावहि। नचि नचि टपहि बहुतु दुख पावहि॥' (गउडी गुआरेरी महला-३ पृ० १५९)
१३ 'सचा साहिबु सचु निआओ पापी नर हारदा। सालाहिहु भगतहु कर जोड हरि भगत जन तारदा॥' (सलाक महला-३ पृ० ९०)
१४ 'सचीकार कमावणी सचे नालि पिआरु। सचा साहु वरतदा कोइ न मेटणहार॥' (सिरीरागु महला-३ पृ० ३४)
१५ मेरे मन तजि निदा हउमै अहकारु। हरिजीओ सदा धिआइ तू गुरमुखि ऐककार॥' (सिरीरागु महला-३ पृ० २९-३०)

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबम प्रेमा-भक्तिको उद्भावित करनेवाली प्रभु-कृपाको जाग्रत् करनेका दूसरा प्रधान साधन 'विनम्रता' बतलाया गया है। साधकको जाति, कुल एव वैभव आदिका अभिमान त्यागकर स्वयको सर्वथा नगण्य मानना चाहिये[१] तथा अनुभवी सत पुरुषा एव प्रभु-भक्ताकी दासता स्वीकार करके उन्हींकी सगति (मार्गदर्शन)-म आध्यात्मिक साधना करनी चाहिये।[२] भगवद्भक्ताको समर्पित की गयी विनम्रतासे भ्रमो (शकाओ)-का निवारण होता है[३], परिणामत परमेश्वरका वरदहस्त साधकाको अपने अनन्य प्रेमसे ओत-प्रोत कर देता है।

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबके अनुसार परमेश्वरकी अनन्य भक्तिको प्रकट करनेवाली प्रभुकी अतिशय करुणाको प्राप्त करनका तीसरा मुख्य सोपान है—'समर्पणभाव' या 'शरणागति'। प्रेमा-भक्तिके अभिलाषी साधकका यह परम कर्तव्य है कि वह परमेश्वरके प्रत्येक विधान (भले ही वह विधान सासारिक दृष्टिसे प्रतिकूल प्रतीत हो)-मे अनुकूलता ही धारण करे[४]। इस चिरन्तन जीवनमूल्यको शिरोधार्य करनेवाले भगवद्भक्तोको परमेश्वरकी असीम अनुकम्पा प्राप्त होती है जो प्रेमा-भक्तिको अवतरित करके उनके (भक्ताके) जीवनका उद्धार कर देती है[५]। निष्काम भक्तोका योगक्षेम वहन करनेवाले परमेश्वरकी ही शरण विश्वास (आशा) मित्रता एव उसपर ही अपने जीवनकी सुरक्षाको केन्द्रित करके[६] भक्तजन अपने जीवन और मृत्युकी चिन्तासे भी मुक्त हा जाते है[७]। ऐसे भक्तजनाका जीवन पूर्णत प्रभुकी आज्ञापर अवलम्बित होता है। उनकी प्रत्येक चेष्टा परमेश्वरके विधानम सतुष्टि प्रतिबिम्बित करती है। भक्तिके इस अद्भुत आदर्शस अभिभूत हुए परमेश्वर अपनी कृपादृष्टिसे भक्तोके जीवनम प्रेम-मन्दाकिनी प्रवाहित कर देते हैं[८] एव प्रभुके चरणारविन्दामे सर्वस्व समर्पण करनेवाले भक्ताकी साधना कभी निष्फल नहीं होती, अपितु करुणावरुणालयकी कृपाजलराशिसे सिंचित हाकर प्रेमा-भक्तिसे पल्लवित एव पुष्पित हो जाती है[९]।

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें प्रतिपादित शरणागति (समर्पणभाव)-का यह स्वरूप वैष्णव-दर्शनम व्याख्यायित 'षड्विधा शरणागति' (प्रपत्ति)-से पर्याप्त साम्य रखता है, जिसके अनुसार शरणापन्न भगवद्भक्तमे ये छ स्थितियाँ नित्य दृष्टिगोचर होती हैं—१-भगवान्के अनुकूल रहनेका सकल्प, २-भगवान्से प्रतिकूलताका त्याग, ३-'भगवान् रक्षा करेगे' इसमे अडिग विश्वास, ४-भगवान्को अपना रक्षक मानना ५-आत्मसमर्पण (आत्मनिक्षेप) तथा ६-भगवान्के प्रति नितान्त दीनताका भाव[१०]।

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमें प्रेमा-भक्तिमूला प्रभु-कृपाको उद्बोधित करनेवाला चतुर्थ साधन 'तीव्र वेदना' स्वीकार किया गया है। भावुक भक्तोके हृदयमे जब विरह-ज्वाला उद्दीप्त हो उठती है, नेत्रोसे अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है परमेश्वरसे मिलनेके लिये एक अद्भुत छटपटाहट-सी होने

१ 'किआ हम किरम नान निक कीरे तुम वड पुरख वडागी। हरि प्रभ सुआमी किरपा धारहु हम हरि हरि सेवा लागी॥' (धनासरी महला-४ पृ० ६६७)

२ 'नानक दास निदासु करहु प्रभ हम हरि कथा कथागी।' (धनासरी महला-४ पृ० ६६७)

३ जो जो भगतु होइ सो पूजहु भरमन भरमु चुकावैगो। (कानडा महला-४ पृ० १३०९)

४ 'आठ पहर निकट करि जानै। प्रभ का कीआ मीठा मानै॥ (आसा महला-५ पृ० ३९२)

५ 'एकु कुसलु मोकऊ सतिगुरु बताइआ। हरि जो कुछु करे सु हरि किआ भगता भाइआ॥ इनि बिधि कुसल होत मेरे भाई। इओ पाईऐ हरि राम सहाई॥ (महला-५ रागु गउडी गुआरेरी चऊपदे पृ० १७६)

६ 'तुमरी सरणि तुमारी आसा तुम ही सजन सुहेले। राखहु राखनहार ददूआला नानक घर के गोले॥' (धनासरी महला-५ पृ० ६७४)

७ अब हम चली ठाकुर पहिहारि। जब हम सरणि प्रभू की आई राखु प्रभू भावै मारि॥' (रागु देवगधारी महला-४ पृ० ५२७-२८)

८ साजन मेरे प्रीतमहु तुम सह की भगति करेहो। गुरु सेवहु सदा आपणा नामु पदारथु लेहो॥ भगति करहु तुम सहै केरी जो सह पिआरे भावऐ। आपणा भाणा तुम करहु ता फिरि सह खुसी न आवऐ॥ भगति भाव एहु मारगु बिखडा गुरदुआरै को पावऐ। कहै नानक जिसु करे किरपा सो हरि भगति चितुलावऐ॥ (आसा महला-३ पृ० ४४०)

९ जो सरणी आवै सरब सुख पावै तिलु नही भनै घालिआ। हरि गुणनिधि गाए सहज सुभाऐ प्रेम महारस माता। नानक दास तेरी सरणाई तू पूरन पुरखु बिधाता॥ (केदारा छत महला-५ पृ० ११२२)

१० आनुकूल्यस्य सकल्प प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वास गोप्तृत्ववरण तथा॥ आत्मनिक्षेप कार्पण्य षड्विधा शरणागति ॥'

लगती है, तब प्रभु-कृपाका उन्मेष होता है[१]। प्रियतम प्रभुके विरहमे नींद और चैन सब गायब हो जाते हैं[२]। जीवन सूना-सूना-सा लगता है और जीनेकी भी अभिलाषा नहीं रहती। एकमात्र यही आकुलता निरन्तर बनी रहती है कि 'न जाने मेरा प्रियतम स्वामी अपने दर्शनोसे मुझे कब कृतार्थ करेगा'। दर्शनके ऐसे प्यासे विरही भक्तोको अपने अमृतमय दर्शनका पान कराकर प्रभु अपनी दिव्य अनुकम्पाका अनन्त वैभव लुटा देते हैं[३]। दर्शनके प्यासे नयनाको यदि प्रियतमका दिव्य साक्षात्कार हो जाय तो प्रेमी भक्त बदलेमे अपने सिरको भी समर्पित करनेहेतु लालायित रहता है[४]। जैसे कमल सूर्यका अवलोकन करके ही अपनी सत्ताको धारण करता है[५] और मछली जलमे निवास करती हुई ही जीवित रहती है[६], ठीक उसी प्रकार अपने प्रियतम प्रभुका दर्शन करके ही प्रेमी भक्त आध्यात्मिक जीवन (आनन्द)-को धारण करता है। इस अनुपम स्थितिको प्राप्त करनेहेतु सासारिक जीवनका सर्वस्व न्योछावर करनेमे भक्तको तिलभर भी सकोच नहीं है[७]। करुणावरुणालय प्रभु अपने ऐसे निःस्पृह भक्तोको सहर्ष अङ्गीकार करके अपनी प्रेममयी सुधासे आप्लावित कर देते हैं[८]।

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमे श्रीहरिकी अनुरागमूला कृपाको जाग्रत् करनेमे 'प्रार्थना' की भी एक उत्कृष्टभूमिका स्वीकार की गयी है। इस दृष्टिसे 'प्रार्थना' को पञ्चम साधन कहा जा सकता है। साधनाकी उत्कृष्टतम स्थितिमे अवस्थित श्रीगुरु अर्जुनदेवजी (पाँचवे सिक्ख गुरु) परमेश्वरसे प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि 'हे प्रभो! आपसे मेरी विनम्र प्रार्थना है, मुझ दासपर ऐसी कृपा कीजिये कि आपके चरण-कमलोमे मेरा उत्कट अनुराग (स्नेह) उत्पन्न हो जाय[९]। सच्चे अनुरागी साधकके तो एकमात्र प्रियतम एव प्राणोके आधार परमेश्वर ही हैं और उसे पूर्ण विश्वास है कि प्रार्थनासे द्रवीभूत होकर अपार अनुग्रह करते हुए वे अवश्य ही अपनी प्रेमा-भक्तिकी अतुलनीय सम्पदासे उसे (साधकको) कृतकृत्य कर देगे[१०]। जैसे चातक निरन्तर स्वाति नक्षत्रकी वर्षाके जलहेतु लालायित रहता है, ठीक उसी प्रकार परमेश्वरकी कृपाकी आकाङ्क्षा करता हुआ साधक अपने प्रियतम प्रभुसे प्रेममयी भक्तिकी याचना करता है[११]।

परमेश्वरके चरणारविन्दोमे की गयी प्रार्थनाके प्रभावसे सर्वत्र प्रभुकी व्यापकता एव निकटताका बोध होता है,

१ हऊ रहि न सका बिनु देखे प्रीतमा मै नीरु वहे वहि चलै जीओ। ' हरि जीओ कृपा करहु गुरु मेलहु जन नानक हरि धनु पलै जीओ॥' (रागु माझ महला-४ पृ० ९४)

२ 'नह नीद आवै प्रेम भावै सुणि बेनती मेरी आ। बाझहु पिआरे कोइ न सारे ऐकलडी कुरलाऐ। नानक साधन मिलै मिलाई बिनु प्रीतम दुखु पाऐ॥' (गऊडी छत महला-१ पृ० २४३)

३ 'अतरि पिरी पिआरु किऊ पिर बिनु जीवीऐ राम। जब लगु दरसु न होइ किउ अम्रितु पीवीऐ राम॥ किऊ अम्रितु पीवीऐ हरि बिनु जीवीऐ तिसु बिनु रहनु न जाए। अनदिनु प्रिऊ प्रिऊ करे दिनु राती पिर बिनु पिआस न जाऐ॥ अपणी क्रिपा करहु हरि पिआरे हरि हरि नामु सद सारिआ। गुर कै सबदि मिलिआ मैं प्रीतमु हऊ सतिगुर विटहु वारिआ॥' (तुखारी छत महला-४ पृ० १११३)

४ 'तू चउ सजण मैडिआ डेई सिसु उतारि। नैण महिजे तरसदे कदि पसी दीदारु॥'

(मारू वार महला-५ डखणे महला-५ पृ० १०९४)

५ 'प्रीतम प्रीति लगा प्रभ केरी जिव सूरजु कमलु निहारे।' (नट महला-४ पृ० ९८३)

६ 'घोल घुमाई लालना गुरि मनु दीना। सुण सबदु तुमारा मेरा मनु भीना। ऐहु मनु भीना जिऊ जल मीना लागा रगु मुरागा॥'

(तुखारी छत महला-५ पृ० १११७)

७ (क) 'सकल गुणा के दाते सुआमी बिनऊ सुनहु इक दीना।
देहु दरसु नानक बलिहारी जीअडा बलि बलि कीना॥ (तुखारी छत महला-५ पृ० १११७)
(ख) तेरे दरसन विटहु खनीऐ वजा तेरे नाम विटहु कुरबाणो।' (रागु वडहसु महला-१ घर १ पृ० ५५७)

८ 'एहु तनु मनु तेरा सभि गुण तेरे। खनीए वजा दरसन तेरे॥ दरसन तेरे सुण प्रभ मेरे निमख द्रिसटि पेखि जीवा। अम्रित नाम सुनीजै तेरा किरपा करहि त पीवा॥ (तुखारी छत महला-५ पृ० १११७)

९ 'चरनकमल सिऊ लागऊ नेहु। नानक की बेनती ऐह॥' (धनासरी महला-५ पृ० ६८४)

१० 'प्रभ मेरे प्रीतम प्रान पिआरे। प्रेम भगति अपनो नामु दीजै दइ आल अनुग्रहु धारे॥' (मलार महला-५ पृ० १२६८)

११ 'चात्रिक चितवत बरसत मेह। क्रिपासिधु करुणा प्रभ धारहु हरि प्रम भगति को नेंह॥' (जैतसरी महला-५ पृ० ७०२)

अनुभवी सतासे समागम होता है[१]। इन गुरु-स्थानीय आध्यात्मिक सताद्वारा की गयी ज्ञान-चर्चा (तत्त्व-विचार)-से प्रेमा-भक्तिका उदय होता है[२]। जितेन्द्रिय, सत्य एव सयमनिष्ठ साधक जब अध्यात्मपरायण (गुरु) सतके मार्गदर्शनम नाम-साधना करता है तो ऐसी साधनामयी भक्ति प्रभुको आकृष्ट करती है[३], फलत प्रभु-कृपाका अविरल स्रोत प्रवाहित होने लगता है, श्रीहरिका अमृतमय (मानसिक एव वाचिक) नाम-जप सहज ही साधकके अन्त करणम अविचल स्थिति बना लेता है जन्म-मरणके दु खासे सदा-सदाके लिये छुटकारा मिल जाता है[४]।

श्रीगुरुग्रन्थसाहिबमे परमेश्वरके अनुरागको उन्मेपित करनेवाली प्रभु-कृपाको प्राप्त करनेका छठा साधन 'ज्ञान या विवेक' स्वीकार किया गया है। जबतक मनुष्यको ससारकी वास्तविकताका ज्ञान या बोध नहीं होता, तबतक परमेश्वरमे सच्चा अनुराग (प्रेम) उत्पन्न नहीं हो सकता[५]। सम्यक् दृष्टिसे सम्पन्न आध्यात्मिक जिज्ञासु पुन -पुन सूक्ष्म विचार करनेके उपरान्त इस निष्कर्षपर पहुँचता है कि परमेश्वरके अतिरिक्त ससारके अन्य पदार्थ एव शरीरादि— सभी मिथ्या हैं[६], फलत उसके हृदयमे प्रभु-कृपाका अवतरण होता है और परमेश्वरके प्रेमको प्राप्त करनेका चाव उमडता है। उसे सदैव यही प्रतीति होने लगती है कि इस क्षणभङ्गुर जीवनम एकमात्र परमेश्वर एव उसके प्रति किया गया प्रेम ही शाश्वत है, अन्य सब कुछ अस्थिर है विनाशी है[७]। ससारके सभी सम्बन्ध पूर्णत स्वार्थपर अवलम्बित हैं, परतु मनुष्यके साथ यह विडम्बना है कि वह अन्ततक साथ निभानेवाले परमेश्वरको भुलाकर अज्ञानवश सासारिक प्राणियासे ही स्नेह (प्रेम) करता है[८]। जो सौभाग्यशाली प्राणी आध्यात्मिक ज्ञानकी दिव्य सम्पदासे समन्वित है, वह विश्वके समग्र पदार्थोंको हेय और अस्थायी जानता हुआ ईश्वरीय प्रेमको प्रकट करनेवाली प्रभु-कृपाकी ही याचना करता है[९]। उसे सतत इस तथ्यका भान होता रहता है कि प्रभुसे किया गया प्रेम ही जन्म-जन्मान्तरतक प्राणीके साथ चलता है[१०]। सासारिक दु खोसे छूटनेके अन्य जितने भी उपाय हैं, उनका सामर्थ्य प्रतीतिमात्र है। स्मृति शास्त्र और वेदादिके साक्ष्यके आधारपर भी यही परिपुष्ट होता है कि प्रभुकी प्रेमा-भक्ति ही सासारिक दु खोसे मुक्ति दिला सकती है[११]। आध्यात्मिक जिज्ञासुके हृदयम अङ्कुरित हुआ यह सहज ज्ञान उसे प्रभु-कृपाका सत्पात्र बनाता है और प्रभु-कृपाका यह दिव्य उपहार परमेश्वरके अलौकिक प्रेमको जाग्रत् करता हे।

निष्कर्षत श्रीगुरुग्रन्थसाहिबने भगवत्प्रेमोदयमे प्रभु-कृपाकी उत्कृष्टभूमिकाको स्वीकार किया है।

---

१ 'सदही निकटि जानऊ प्रभ सुवामी सगल रेण होइ रहीए। साधूसगति होइ परापति ता प्रभु अपना लहीऐ॥ (टोडी महला-५ पृ० ७१३)

२ 'प्रेमपदारथु पाईऐ गुरमुखि ततु वीचारु॥ (सिरीरागु महला-१ पृ० ६१)

३ 'जिसु अतरि प्रीति लगै सो मुकता। इद्रीवसि सच सजमि जुगता॥ गुर कै सबदि सदा हरि धिआए ऐहा भगति हरि भावणि आ॥' (माझ महला-३ पृ० १२२)

४ पूरा सतिगुरु जे मिलै पाईए सबदु निधानु। करि किरपा प्रभ आपणी जपीऐ अम्रित नामु॥ जनम मरण दुखु काटीए लागै सहज धिआनु॥' (सिरीरागु महला-५ पृ० ४६)

५ 'गिआन विहूणी पिरमु तीआ पिरमु न पाइआ जाइ। अगिआनमती अधेर है बिनु पिर देखे भुख न जाइ॥' (सिरीरागु महला-३ पृ० ३८)

६ 'साधो ऐह तनु मिथिआ जानऊ। या भीतरि जो रामु बसतु है साचो ताहि पछानो॥' (रागु बसतु हिडोल महला-९ पृ० ११८६)

७ 'मै कि आ मागऊ किछु थिरु न रहाई हरि दीजै नामु पिआरी जीओ। (सोरठिमहला-१ पृ० ५९७)

८ 'सगि सहाई सु आवै न चीति। जो बैराई ता सिऊ प्रीति॥ (गऊडी सुखमनी महला-५ पृ० २६७)

९ मागऊ दानु ठाकुर नाम। अवरु कछू मरै सगि न चालै मिलै क्रिपा गुण गाम॥ (टोडी महला-५ घरु २ दुपदे पृ० ७१३)

१० 'आदि मधि जो अति निबाहै। सो साजनु मरा मनु चाहै॥ हरि की प्रीति सदा सगि चालै। दइआल पुरख पूरन प्रतिपालै॥ (गऊडी महला-५ पृ० २४०)

११ 'ततु वीचारु कहै जनु साचा। जनमि मरै सो काचो काचा॥ अनिक उपाव न छूटनहारे। सिम्रिति सासत बेद बीचारे॥ हरि की भगति करहु मनु लाइ। मनिबछत नानक फल पाइ॥ (गऊडी सुखमनी महला-५ पृ० २८८)

मसीही धर्म (बाइबिल)-मे भगवत्प्रेम

(डॉ० श्री ए०बी० शिवाजी, एम्०ए०, पी एच्०डी०)

विश्वके प्राय सभी धर्मोंमे प्रेमको ही ईश्वरको जाननेका प्रमाणित स्रोत माना गया है, अत जीवनम प्रेमका अत्यन्त उच्च स्थान स्वत सिद्ध है। मसीही धर्मकी भी समस्त शिक्षा ईश्वरीय प्रेमसे ओत-प्रोत है। प्रश्न यह है कि ईश्वरको जाननेका एकमात्र साधन 'प्रेम' कैसे हो सकता है? प्रेमका महानतम गुण उसमे बलिदान करनेकी क्षमताका होना है, अत प्रेम करना जानना चाहिये। 'बाइबिल' यह सिखाती है कि अपने पडोसीसे अपनी आत्माके समान प्रेम करो। जो मनुष्य अपनी आत्मासे और इस प्रकार अपने पडोसीसे प्रेम करता है, वह ईश्वरसे प्रेम करता है। 'मैरी कार्मन रोज' अपनी पुस्तक 'ऐसे इन क्रिश्चियन फिलॉसॉफी' में प्रेमको ईश्वरको जाननेके साधनरूपम ग्रहण करती हैं, वे लिखती हैं—

"Christian love has an epistomological function since it is only through our giving of love to our fellow men that we come to know God and His love" उनका यह कथन पवित्र बाइबिलपर आधारित है। नये नियमकी पुस्तक (१ यूहन्ना ४ ७-८)-मे कहा गया है 'हे प्रिया! हम आपसमें प्रेम करे, क्योंकि प्रेम ही परमेश्वर है और जो कोई प्रेम करता है, वह परमेश्वरको जानता है। जो प्रेम नहीं करता, वह परमेश्वरको नहीं जानता।'

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्तिम सर्वोच्च सत्ताको जाननेका प्राथमिक स्रोत अपने पडोसीसे प्रेम करना है। यदि कोई मनुष्य यह कहता है कि वह अपने इष्ट अथवा ईश्वरसे प्रेम करता है और भाईसे वैर तो वह झूठा है। वह केवल दूसरोको ही नहीं स्वयको भी धोखा दे रहा है। प्रभु यीशु कहते हैं—'यदि कोई कहे कि मैं परमेश्वरसे प्रेम रखता हूँ और अपने भाईसे वैर तो वह झूठा है क्योंकि जो अपने भाईसे जिसे उसने देखा है, प्रेम नहीं रखता, वह परमेश्वरसे भी जिसे उसने नहीं देखा, प्रेम नहीं रख सकता' (१ यूहन्ना ४ २०)। अत ईश्वरको जाननेके लिये आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य दूसरोसे प्रेम रखे, चाहे वह किसी भी जाति, वर्ण एव रगका हो।

मसीही धर्ममे ईश्वरीय समझ प्रेमपर ही आधारित मानी गयी है। पौलुस १ कुरिन्थियाकी पत्री ८ ३ मे कहता है—'परतु यदि कोई परमेश्वरसे प्रेम रखता है तो उसे परमेश्वर पहचानता है।' मनुष्य सासारिक ज्ञानसे कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। क्योकि लिखा है—'ज्ञान घमण्ड उत्पन्न करता है, परतु प्रेमसे उन्नति होती है, यदि कोई समझे कि मैं कुछ जानता हूँ तो जैसा जानना चाहिये, वैसा अबतक नहीं जानता।'

मसीही दर्शन अथवा धर्ममे 'प्रेम' ईश्वर-पुत्र कहलानेका एक अधिकार प्रदान करता है। १ यूहन्ना ३ १ मे कहा गया है—'देखो, पिताने हमसे कैसा प्रेम किया है कि हम परमेश्वरकी सतान कहलाये और हम हैं भी।' वास्तवम प्रेम वही है जो मानव और ईश्वरके बीचके अलगाव एव पृथक्ताको दूर करता है। गाँधीजी कहा करते थे—'सत्य ईश्वर है और ईश्वर सत्य', किंतु बहुत-से मतावलम्बी ईश्वरको नहीं मानते, क्योकि वर्तमानके निरपेक्ष युगमे प्रतिदिन सत्यकी परिभाषाएँ बदल रही हैं। आज जो सत्य है, वह कल असत्य हो जायगा। इस विवादसे छुटकारा पानेका केवल एक ही विकल्प है कि हम कहे—'ईश्वर-प्रेम है'। बाइबिलम यह कथन १ यूहन्ना ४ १६ मे पाया जाता है—'और जो प्रेम परमेश्वर हमसे रखता है, उसको हम जान गये तथा हमे उसकी प्रतीति है। परमेश्वर प्रेम है, जो प्रेममे बना रहता है वह परमेश्वरमें बना रहता है और परमेश्वर उसमे बना रहता है।'

यथार्थम प्रेम एक पुल है जो दो अजनबियोको मिलाता और एक शाश्वत एकताको निर्मित करता है। यही प्रेम विश्वासमे बदल जाता है और एक प्रेमी अपने प्रेमास्पदके साथ एक जीव एव एक तत्त्व हो जाता है। यह इसलिये होता है कि प्रेमम गतिशीलता होती है उसमे क्षमता होती है, क्योकि इसके साथ नैतिक मूल्य हैं।

मसीही धर्ममे प्रेम धार्मिक सिद्धान्तके रूपमे अनुपम स्थान लिये हुए है। हम कह सकते हैं कि प्रेम मसीही सिद्धान्त एव प्रथाकी रीढकी हड्डी है। यह इतना शक्तिशाली प्रत्यय है, जिसके द्वारा विश्वको बिना लहूका एक कतरा बहाये भी जीता जा सकता है। प्रेम धार्मिक सिद्धान्तके

रूपमे जीवनमे महत्त्व रखता है। वर्तमानम प्रम और घृणा दो तत्त्व हैं जो एक स्थानपर साथ-साथ नहीं रह सकते। मनुष्यको इनमेसे एकका चुनाव करना है। प्रेमसे परिपूर्ण प्राणी शाश्वत जीवनकी ओर जाता है जबकि घृणासे परिपूर्ण प्राणी शरीर और आत्मा दोनाको विनाशकी ओर ले जाता है। अत यह कहनेके स्थानपर कि 'मसीही धर्म प्रभु यीशुका धर्म है', यह कहा जाय कि 'मसीही धर्म प्रेमका धर्म है' तो उपयुक्त होगा। मसीही धर्ममे प्रेमको दो भागाम विभाजित किया गया है, जिसे 'अगापे' और 'ईरॉस' कहा जाता है। 'अगापे' और 'ईरॉस' ग्रीक भाषाके शब्द हैं जो दो भिन्न अर्थोंको बताते हैं।

'*अगापे*' परमेश्वर-प्रेमके लिये स्वयके बलिदानका अप्रतिबन्धके रूपमें वर्णन करता है। प्रभु यीशुका क्रूसपर अन्यके लिये बलिदान मानव-जातिके इतिहासमे सर्वोच्च बलिदान है। हजारों अवतार आये और उन्हाने मार्ग बताये परतु किसीने भी क्रूसके उस दु खको न सहा जो प्रभु यीशुने सहा। 'अगापे' प्रेममे किसी प्रकारका भेदभाव नहीं है, वह राजा एव रक, उच्च एव नीच दोनोके लिये समान है।

ईश्वर मानव-जातिसे इसलिये प्रेम करता है, क्योकि वह स्वय प्रेम है। कोई शर्त इस प्रकारके प्रेममे नहीं रखी गयी है। परमेश्वरका प्रेम धार्मिक अथवा परिवर्तनीय (Transitional) नहीं है, किंतु शाश्वत है। यर्मियाह नबीकी पुस्तक ३१ ३ मे कहा गया है—'मैं तुझसे सदा प्रेम रखता आया हूँ, इस कारण मैंने तुझपर अपनी करुणा बनाये रखी है।'

जब परमेश्वर इतना प्रेमी और दयालु है तो मनुष्य-जातिको भी अपना कर्तव्य समझना चाहिये। मनुष्यको परमेश्वरके प्रेमके बदले क्या करना चाहिये? बाइबिलमे कई आदेश हैं जिनका पालन मनुष्यको करना चाहिये। मनुष्यका परमेश्वरके प्रति क्या कर्तव्य है? समय-समयपर भविष्यवक्ता मनुष्यको चेतावनी देते आये हैं कि वे सम्पूर्ण हृदय, आत्मा और शक्तिसे परमेश्वरसे प्रेम कर, जैसा कि हम व्यवस्थाविवरणकी पुस्तक ६ ५ मे पढते हैं, 'तू अपने परमेश्वर यहोवासे अपने सारे मन और सारे जीव एव सारी शक्तिके साथ प्रेम रखना।'

ईश्वरने अपने पुत्र 'यीशु मसीह' को ससारम भेजकर प्रेमका सर्वोच्च उदाहरण दिया है और तब कहा है कि एक-दूसरेसे प्रेम करो। उसी उच्च प्रेमक प्रत्ययको प्रभु यीशुने अपने कार्योंद्वारा चरितार्थ किया है। प्रभु यीशु वह शब्द है जो देहधारी हुआ। अत उसका प्रेम इन्द्रियग्राह्य नहीं है जिसका आनन्द इन्द्रियाद्वारा लिया जा सके। अपितु, उसका प्रेम लोकोत्तर प्रेम है, उसका प्रेम व्यावहारिक प्रम है जो मनुष्यको प्रेरणा देता है कि भक्तिके रूपम उसका उत्तर दे। पौलुसद्वारा लिखित १ कुरिन्थियाको पत्रीके तेरहवें अध्यायमे प्रेमकी विशेषताएँ दर्शायी गयी हैं। प्रेमकी जो प्रकृति वहाँ दर्शायी गयी है, इतनी उच्च है कि मनुष्य उसमे अधिक अनुभव नहीं कर सकता। उस अध्यायकी तेरहवीं आयतम कहा गया है, '*विश्वास, आशा तथा प्रेम—ये तानो* स्थायी हैं पर इनम सबसे बडा प्रेम है।'

प्रभु यीशुने प्रेमके विषयम प्रथम आदेश निम्न पक्तियाके रूपम दिया है जो मत्ती-रचित सुसमाचार ५ ४४-म पाया जाता है—'परतु मैं तुमसे यह कहता हूँ कि अपन वैरियासे प्रेम रखो और अपने सतानेवालाके लिये प्रार्थना करो।' दूसरा आदेश यह है कि 'अपने पडोसीसे अपने समान प्रेम करो। वर्तमानमे समाजको इस आदेशका पालन करनेकी बहुत आवश्यकता है। मरकुस-रचित सुसमाचार १२ ३१ म कहा गया है—'तू अपने पडोसीसे अपने समान प्रेम रखना, इससे बडी और कोई आज्ञा नहीं।' पौलुस रोमियोकी पत्री १३ ८ १ मे लिखता है 'आपसके प्रेमको छोड और किसी बातम किसीके कर्जदार न हो क्योकि जो दूसरेसे प्रेम रखता है, उसीने व्यवस्था पूरी की है। व्यभिचार, हत्या चोरी एव लालच न करना तथा इनको छोड और कोई आज्ञा हो तो सबका साराश इस बातमे पाया जाता है कि अपने पडोसीसे अपने समान प्रेम रख'। इसके द्वारा पौलुस यह बताता है कि ईश्वरीय प्रेम और प्रभु यीशुके प्रेममे कोई अन्तर नहीं है। यूहन्ना १४ ११ म पढते हैं, '*मेरी ही प्रतीति करो कि मैं पिताम हूँ और पिता मुझमे है*।'

प्रेमके दो विशेष कार्य हैं। प्रथम कार्य यह है कि 'प्रेम पडोसीकी कुछ बुराई नहीं करता, इसलिये प्रेम रखना *व्यवस्थाको पूरा करना है*' और *द्वितीय कार्य यह है कि* 'प्रेममे भय नहीं होता वर सिद्ध प्रेम भयको दूर कर देता है,

क्योकि भयसे कष्ट होता है और जो भय करता है, वह प्रेमम सिद्ध नहीं हुआ' (१ यूहन्ना ४ १८)। पौलुस २ तिमुथियुसकी पत्री १ ७ मे कहता है—'क्योकि परमेश्वरने हमे भयकी नहीं, पर सामर्थ्य और प्रेम तथा सयमकी आत्मा दी है।'

'ईरॉस' शब्द यह बताता है कि प्रेम अन्तिम उद्देश्य है। मनुष्यका यह प्रेम परमश्वरकी दिव्यताकी ओर सकेत करता है। यह मनुष्यकी वह प्राकृतिक इच्छा है जिसमे सत्य, सौन्दर्य और शुभत्वके दर्शन होते हैं। हम कह सकते हैं कि प्रभुका प्रेम ताजमहलकी तरह नहीं है जो मुमताजकी यादम बनाया गया, कितु वह प्रम है जिसने परमेश्वरको अवतार लेनेके लिये विवश किया ताकि बहुमूल्य कीमत देकर भी मानवताको बचाया जा सके।

परमेश्वर एव उसके पुत्र यीशु मसीहके इसी प्रेमके कारण उनके अनुयायियापर दया और अनुग्रह होता है, इसीलिये यूहन्ना ३ १६ मे कहा गया है—'परमेश्वरने जगत्से ऐसा प्रेम रखा कि उसने अपना इकलौता पुत्र दे दिया ताकि जो कोई उसपर विश्वास करे, वह नष्ट न हो, अपितु अनन्त जीवन पाये।' लूकारचित सुसमाचार इसी तथ्यकी पुष्टिमे अध्याय नौ, आयत छप्पनम लिखता है—'क्योकि मनुष्यका पुत्र लोगोके प्राणोका नाश करने नहीं वर बचाने आया है।' 'यीशुका यही प्रेम उसे क्रूसतक ले गया और वहाँ उसने अपना लहू बहाकर पापियोके जीवनके उद्धारका वह कार्य किया, जो अबतक किसी अवतारद्वारा इतिहासम नहीं किया गया है और आज भी वह जीवित ईश्वर है। वह अपने अनुयायियाकी प्रार्थना सुनता है। उसकी एक ही शर्त है—जो विश्वास करता है और अपने पापासे पश्चात्ताप करता है, उसीपर उसका अनुग्रह होता है।'
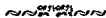
ज्योतिषमे प्रेम और भक्ति-योग

(वैद्य पं० श्रीपरमानन्दजी शर्मा नन्द , एम्०ए०, ज्योतिर्विद्, वास्तुशास्त्री आयुर्वेदरत्न)

ज्योतिष एक प्राचीन और उपयोगी विज्ञान है। ज्योतिषके शास्त्रीय ग्रन्थोमे जीवनके अन्य पक्षोके साथ-साथ भगवत्प्रेम, साधना तथा मोक्ष आदिका विवरण भी प्राप्त होता है।

भगवत्प्रेम, भक्ति, साधना और प्रव्रज्या (सन्यास)-के लिये विशेषरूपसे पञ्चम तथा नवम भावका विचार करना चाहिये। इन भावाका कारक बृहस्पति है। दशम भाव भी कर्म स्थान होनेके कारण विचारणीय हे।

किसी भी कुण्डलीमे यदि पञ्चम भाव और नवम भाव बलवान् है तथा साथ ही बृहस्पति भी शुभ है तो जातक निश्चय ही आस्तिक होता है और भगवत्प्रेममे निमग्न रहता है।

किसी भी जातककी कुण्डलीमे यदि बलवान् बृहस्पति पहले तीसरे, पाँचवे और नवे भावमे बैठा हो तो उसका मन अवश्य ही भगवद्भक्तिकी ओर प्रेरित होता है। मनका कारक चन्द्रमा है और भक्तिका कारक बृहस्पति। विद्वान् कहते हैं कि चन्द्र-बृहस्पतियोग भी मनुष्यम ईश्वर-प्रेम पैदा करता है। यदि दशम भावका स्वामी छठे और बारहवे भावमे हो तो जातक प्राय ईश्वर-प्रेमसे शून्य होता है।

यदि पञ्चम भावमे पुरुष ग्रह बैठा हो या उस भावपर पुरुष ग्रहकी दृष्टि पडती हो ता जातक पुरुष देवताकी उपासना करता है। यदि पञ्चम भावमें सम राशि हो और उसम चन्द्रमा या शुक्र बैठा हो अथवा इन दोनोमसे किसी एककी पूर्ण दृष्टि पञ्चम भावपर पडती हो तो जातक स्त्री देवताकी उपासना करनेवाला समझना चाहिये। यदि पञ्चम भावपर शनि या राहु अथवा केतु हो या इनकी दृष्टि हो तो जातक पाय कामना-विशेषसे सामान्य देवशक्तियाकी उपामना करनेवाला होता है।

कई ज्योतिर्विद् केवल जन्मराशिके आधारपर जातकको यह परामर्श देते हैं कि उसे किस देवी-देवताकी भक्ति-उपासना करनी चाहिये। पाठकाकी जिज्ञासाके लिये इसका सामान्य विवरण दिया जा रहा है—

(१) मेष—मगल सुदर्शन (भगवान् विष्णुका एक अस्त्र)।

(२) वृष—शुक्र, श्रीवेणुगोपाल, सरस्वती।

(३) मिथुन—बुध, श्रीगणेश श्रीहयग्रीव, श्रीदक्षिणामूर्ति।
(४) कर्क—चन्द्रमा भगवान् राम, मा पार्वती, लक्ष्मी।
(५) सिह—सूर्य, भगवान् नृसिह, भगवान् कृष्ण।
(६) कन्या—बुध, भगवान् धन्वन्तरि, श्रीमहाविष्णु।
(७) तुला—शुक्र, श्रीमहालक्ष्मी, राजराजेश्वरी।
(८) वृश्चिक—मगल, भगवान् शिव, हनुमान्, मा काली।
(९) धनु—वृहस्पति, हयग्रीव।
(१०) मकर—शनि।
(११) कुम्भ—शनि, भगवान् वाराह।
(१२) मीन—वृहस्पति और क्षीरशायी भगवान् विष्णु।

बृहत्-पाराशर होराशास्त्रमें कारकाश कुण्डलीके आधारपर भगवत्प्रेमकी चर्चा मिलती है। इसम कारकाश-कुण्डलीके बारहवे घरम स्थित ग्रहका अध्ययन किया जाता है।
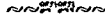
उत्तररामचरितमें राम-सीताका आदर्श दाम्पत्य-प्रेम

(डॉ० श्रीविनोदकुमारजी शर्मा एम्० ए० (सस्कृत हिन्दी) प्रभाकर (सगीत) पी एच्०डी० (सस्कृत))

महाकवि भवभूति सस्कृत-नाटककारोकी प्रथम पक्तिमे परिगणित हैं। यही नहीं, विद्वानाकी दृष्टिमें कविकुलगुरु कालिदासके समकक्ष यदि कोई नाटककार है तो वे भवभूति ही हैं। कतिपय काव्यज्ञ तो उन्हे कालिदाससे भी महत्तर प्रतिष्ठा प्रदान करते हैं—'कवय कालिदासाद्या **भवभूतिर्महाकवि** '। भवभूतिकी उज्ज्वल कीर्तिके आधार-स्तम्भके रूपमे केवल उनकी तीन नाट्यकृतियाँ प्राप्त होती हैं—'मालतीमाधव', 'महावीरचरित' तथा 'उत्तररामचरित'। इनम 'मालतीमाधव' नाट्य शास्त्रीय भाषाम 'प्रकरण' है। दस अङ्काके इस प्रकरणमे मालती तथा माधवका प्रेम अत्यन्त सुन्दर रूपमे चित्रित किया गया है। महावीरचरित सात अङ्कोका नाटक है। इसकी कथावस्तुका आधार महर्षि वाल्मीकि-प्रणीत रामायण है। इस नाटकमे मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके विवाहसे लेकर राज्याभिषेकतककी कथा वर्णित है। उत्तररामचरित भी सात अङ्काका नाटक है। इसम श्रीरामचन्द्रजीके उत्तरकालिक जीवनचरितका सुरम्य चित्रण है।

भवभूतिके नाटकोमे एक प्रमुख विषय दाम्पत्य-प्रेम है। विवाहके पूर्वके प्रेमका चित्रण सस्कृत-नाट्यपरम्पराम बहुत अधिक हुआ है। भवभूति ही हैं, जिन्होने वैवाहिक सम्बन्धाको नाटकका विषय बनाया तथा सामाजिक सदर्भोके बीच इन सम्बन्धोम आनेवाले उतार-चढावाका रेखाङ्कन किया। भवभूतिने अपनी रचनाआमे प्रेमकी उत्पत्ति युगपत् और पूर्वापर दोनो प्रकारकी बतायी है। महावीरचरितमे राम-सीता तथा लक्ष्मण-उर्मिलाका प्रेम युगपत् प्रेमका उदाहरण है। पूर्वापर प्रेमका उदाहरण मालतीमाधवमे प्राप्त हाता है, जहाँ मालतीके हृदयमे माधवक दर्शनसे और मदयन्तिकाके हृदयमे मकरन्दके गुणश्रवणसे प्रेम उत्पन्न होता है।

भवभूतिने अपने नाटकाम प्रेमकी उत्कृष्ट अभिव्यञ्जना की है। पात्राका प्रेम अत्यन्त उन्नत कोटिका है। न तो कहीं स्वार्थ है और न द्वेष। अलौकिक स्नेहकी धारा सर्वत्र प्रवाहित है। पति-पत्नीका प्रेम भवभूतिने जिस पराकाष्ठापर पहुँचाया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। राम-सीताका प्रेम आदर्श पति-पत्नीका प्रेम हे। मालती-माधवका प्रेम आदर्श प्रेमिका-प्रेमीका प्रेम हे। मकरन्दका प्रेम आदर्श मित्रका प्रेम है। चन्द्रकेतु और लवका प्रेम दोनोकी सदाशयताका द्योतक है। श्रीरामका लव-कुशके प्रति प्रेम, जनकका जानकीके प्रति प्रेम पृथ्वीका सीताके प्रति स्नेह—ये सभी आदर्श कोटिके प्रेम हैं।

भवभूतिकी शृङ्गारभावना विशुद्ध प्रेमपर आधृत है। उनका प्रेम आदर्श है। प्रेमसे उनका आशय उस सम्बन्धसे है जो दो हृदयाको स्नेहसूत्रमे बाँध देता है। उनका प्रेम विश्वजनीन है जिसमे कोई कालुष्य नहीं, कोई दुराव नहीं। प्रेम उनकी दृष्टिमे अनिर्वचनीय तथा अविनाशी है। वे एक पत्नीव्रतमे विश्वास रखते हैं। उनकी कृतियोमे सपत्नियोके ईर्ष्या-द्वेषके लिये कोई स्थान नहीं है। उनके प्रणयी अपने प्रेममे दृढ हैं तथा उनका प्रेम शुद्ध नैसर्गिक एव निर्मल है। उसमे मदान्धता या कामलिप्सा नहीं है। भवभूति जिस

एकनिष्ठ प्रेमका चित्राङ्कन करते हैं वह मर्यादा, कर्तव्यनिष्ठा एव दायित्वबोधकी अपेक्षा रखता है।

महाकवि भवभूतिके तीना रूपकोमे 'उत्तररामचरित' उनकी सर्वोत्कृष्ट नाट्यकृति है, इसीलिये कहा गया है— 'उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते'। इस नाटकरत्नमे मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम एव प्रेमकी प्रतिमूर्ति देवी सीताके आदर्श दाम्पत्य-प्रेमका विशद चित्रण किया गया है।

उत्तररामचरितका प्रथम अङ्क सीताकी गहरी उदासी और रामद्वारा उनके मनको बहलानेके प्रयाससे आरम्भ होता है। सीता अपने पिता जनकके अयोध्यासे वापस मिथिला चले जानेपर विषादग्रस्त हैं[1]। स्पष्ट ही भवभूतिके प्रेम-ससारम नायक और नायिका अकेले नहीं हैं। न यह वह प्रेम है जिसम वे शेष समस्त जगत्को भुलाकर अपनेम डूब सक। वह वैवाहिक सम्बन्धोकी दुनिया है जिसमे माता-पिता, गुरुजन एव दैनिक जीवनके नानाविध कर्तव्य हैं। इसके बावजूद प्रेम अपनी भूमिपर है और भवभूतिके द्वारा वह अपनी समग्र उदात्तता तथा अनन्यतामे परिभाषित किया गया है।

प्रथम अङ्कमे विवाहित जीवनकी सरसताका मनोरम वर्णन है[2]।

सीताके हाथका स्पर्श पाकर रामको अनिर्वचनीय आनन्दका अनुभव होता है[3]। इसी प्रकार सीताके अमृतरूप मधुर वचनासे प्राप्त अमित आनन्दकी अभिव्यक्ति वे इन शब्दामें करते हैं—'हे कमलके समान नेत्रावाली! तुम्हारे ये मधुर वचन मरे मुरझाय हुए जीवनपुष्पको विकसित करनेवाले सम्पूण तृप्ति देनेवाले, समस्त इन्द्रियोको विह्वल करनेवाले, कानाम अमृतरूप और मनके लिये पुष्टिकारक भेषज हैं'—

म्लानस्य जीवकुसुमस्य विकाशनानि
सतर्पणानि सकलेन्द्रियमोहनानि।
एतानि ते सुवचनानि सरोरुहाक्षि
कर्णामृतानि मनसश्च रसायनानि॥

(१।३६)

मासल-प्रेमका वर्णन सस्कृतके अनेक कवियोने किया है, इससे कविकुलशिरोमणि कालिदास भी मुक्त नहीं, पर भवभूतिके काव्यम मासल-प्रेम भी सूक्ष्म स्नेहरसम परिणत हो जाता है। राम-सीताके दाम्पत्य-प्रेमका चित्रण महाकविने जिस परिष्कार तथा अभिनिवेशके साथ किया है, वह उनकी कलाका उत्कृष्ट निदर्शन है। प्रसुप्ता सीताको उद्दिष्ट कर श्रीरामके श्रीमुखसे उन्होने जिस भावको अभिव्यक्ति प्रदान की है, वह पत्नीके सर्वाङ्गीण एव सर्वविध सुखदायित्वकी सिद्धि करनेके लिये पर्याप्त है—'यह सीता घरम लक्ष्मी है, नेत्राम अमृतकी अञ्जनशलाका है, इसका यह स्पर्श शरीरमे गाढा चन्दनका रस है, यह भुजा कण्ठमे शीतल तथा चिकना मुक्ताहार है, इसका क्या नहीं प्रिय है, यदि कोई वस्तु अत्यन्त असहनीय है तो वह है मात्र इसका विरह'—

इय गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-
रसावस्या स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरस ।
अय कण्ठे बाहु शिशिरमसृणो मौक्तिकसर
किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरह ॥

(१।३८)

भवभूतिके द्वारा वर्णित दाम्पत्य-प्रेममे दुग्ध-जैसी धवलता चन्द्रिका-जैसी उज्ज्वलता, मधु-जैसी मधुरता तथा गङ्गा-जैसी निर्मलता है। यह प्रेम बाह्य आधारापर आश्रित नहीं है, अन्तरकी किसी प्रेरणाका परिणाम है। जिस प्रकार सूर्योदय होते ही कमल विकसित हो जाता है तथा चन्द्रमाके निकलते ही चन्द्रकान्त मणि द्रवित होने लगती है, उसी प्रकार दो हृदयाका सम्मिलन प्रेमको स्वत ही जन्म दे देता है—

व्यतिषजति पदार्थानान्तर कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतय सश्रयन्ते।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीक
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्त ॥

(६।१२)

ससारके प्रचलित कार्य-कारणभाव या तर्कसे इस प्रेमकी नाप-तौल नहीं की जा सकती। प्रमाणशास्त्रके

१-स्नेहात् सभाजयितुमेत्य दिनान्यमूनि नीत्वोत्सवेन जनकोऽद्य गतो विदेहान्।
देव्यास्ततो विमनस परिसान्त्वनाय धर्मासनाद् विशति वासगृह नरेन्द्र ॥ (१।७)

२-१।२४ २७।

३-तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो विकारश्चैतन्य भ्रमयति च समीलयति च॥ (१।३५)

माताएँ कौतुकसे भर उठती थीं[१]।

इस नाट्यकृतिमे भवभूतिके दाम्पत्य-प्रणय-चित्रणम वात्सल्यका गहरा सस्कार है। नाटकका तृतीय अङ्क तो वात्सल्यकी महागाथा ही है। रामको अपने समक्ष देखकर सीता अपने दोनो पुत्राका स्मरण करती हैं। वे खिन्न होकर कहती हैं—'घुँघराले केशोवाला, सुकुमार तथा श्वेत दाँतासे चमकते हुए कपोलावाला, निरन्तर सम्बद्ध मनोहर अस्फुट ध्वनि और मधुर हास्यवाला तथा बँधे हुए काकपक्षावाला (मेरे पुत्रांके) मुखकमलाका जाडा आर्यपुत्रके द्वारा नहीं चूमा गया'—मेरा मा बनना ही अकारथ गया।[२] अपने द्वारा पाले गये करिशावकको तरुण देखकर[३] उन्हे विचित्र-सा अनुभव होता है, उनके पुत्र भी बडे हो गये हागे, जो वाल्मीकिजीके आश्रममे हैं। वे तमसासे कहती हैं—'बच्चोके पिता समीप हैं, बच्चोकी स्मृतिसे मेरे वक्षमे उच्छ्वास-सा होने लगा है, उससे दूधकी धार बहने लगती है। अत थोडी देरके लिये मैं ससारिणी हो गयी हूँ'—यह गृहस्थी होनेका सीताके लिये क्षणिक एव दुर्लभ अनुभव है—

'भगवति तमसे एतेनापत्यसस्मरणेनोच्छ्वसितप्रस्नुतस्तनी तयोश्च पितु सनिधानेन क्षणमात्र ससारिण्यस्मि सवृत्ता।'

(३।१६)

भवभूतिकी दृष्टिमे प्रेम मनुष्यका सबसे उज्ज्वलरूप है। इसीमे वह अपने-आपको पहचानता है, निखारता है और विस्तारित करता है। प्रेमके उत्कृष्टतम उदाहरण तथा निकषके लिये वे दाम्पत्य और वह भी प्रौढ दाम्पत्यको चुनते हैं। उन्हाने इस प्रेमकी प्रत्येक स्थितिमे अद्वैत एव अनुगुण रहनेकी बात कही है अतएव रामके द्वारा सीता अकारण निर्वासित कर दिये जानेपर अपनी ओरसे कोई उपालम्भ नहीं देतीं। वे स्वयको रामसे इस प्रका करके देख नहीं सकतीं कि शिकायत और क्षमा सक। उलटे रामके दु खसे द्रवित होकर वे उन करुणामय होकर रह जाती हैं।

भवभूतिका दाम्पत्य-प्रणय-चित्रण अत्यन्त है। वह केवल ऊहात्मक नहीं है, अपितु उसक *अन्तस्तलकी अनुभूति है। इस विशुद्ध, पवित्र ए* दु खमे समान रहनेवाले दाम्पत्य-प्रेमके प्रकर्षकी सतति है जो पति-पत्नीके हृदयोको एक-दूसरेसे व है। इसीको परिभाषित करते हुए महाकवि भवभू हैं—'दम्पतिके अन्त करणमे स्नेहके एकाश्रयसे ज दोनोको बाँधे रखनेवाली) आनन्दकी ग्रन्थि सतति

वस्तुत उत्तररामचरितके सम्पूर्ण कथानकका 'लोकाराधनके लिये प्रेमका बलिदान' है। दण्ड परिचित स्थानाके दर्शनसे राम जब पूर्वानुस्मृतियोवे अत्यन्त विह्वल होते हैं और फूट-फूटकर रोने ल उस समय भी वे अपने प्रजाजनोसे इस अपराध क्षमा-याचना करना नहीं भूलते[५]।

निष्कर्षत कहा जा सकता है कि उत्तररा महाकवि भवभूतिने राम-सीताके दाम्पत्य-प्रेमका आदर्श स्थापित किया है और प्रेमके विषयमे अपनी धारणा भी प्रस्तुत की है। वस्तुत भारतीय चिन दर्शनके गहन सस्कार उनके अन्त करणमे थे। वेदान्त साख्यके प्रकृति-पुरुष तथा मीमासकोके अदृष्टको इस नाट्यकृतिमे दाम्पत्य-प्रेमके चित्रणके द्वारा वि कर दिया है। प्रेमकी सर्वव्यापी सत्ताके रूपमे वे जो देते हैं वह परम सत्ताका ही निर्वचन हो सकता है

---

१ १।२०

२ किं वा मया प्रसूतया येन तादृशमपि मम पुत्रकयोरीषद्विरलकोमलधवलदशनाज्ज्वलकपोलमनुवद्धमुग्धकाकलीविहसित निबद्धकाकशि *ममलमुखपुण्डरीकयुगल न परिचुम्बितमार्यपुत्रेण। (३।१६)*　　३ ३।१६ १५-१६

४ अन्त करणतत्त्वस्य दम्पत्यो स्नेहसश्रयात्। आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति बध्यते॥ (३।१७)

५ न किल भवता स्थान देव्या गृहेऽभिमत ततस्तृणमिव वने शून्ये त्यक्ता न चाप्यनुशोचिता।
चिरपरिचितास्ते ते भावा परिभ्रमयन्ति मामिदमशरणैरद्याप्येव प्रसीदत रुद्यते॥ (३।३२)

राम-पद-पद्म-प्रेमी केवटका चरणानुराग

'अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपम्॥'

(ना० भ० सू० ५१)

श्रीरामचरणानुरागी केवटकी प्रीति रामचरितमे अपना विशिष्ट स्थान रखती है। प्रभु-पद-कमलामे उनकी श्रद्धा-भक्ति और प्रीतिकी सीमा नहीं है। भगवान् राघवेन्द्र भगवती सीता और लक्ष्मणसहित गङ्गातीरपर आये। उन्होने पार उतरनेके लिये केवटसे नाव माँगी, पर *'मागी नाव न केवटु आना।'* (रा०च०मा० २।१००।३) केवट स्पष्ट कह देते हैं, 'मैंने सुना है और सभी लोग कहते हैं कि आपकी चरणरजकी ऐसी महिमा है, जिसके स्पर्शसे कठोर पाषाण भी स्त्री बन जाता है। यदि मेरी नौकाकी भी यही दशा हुई तो मैं अपने परिवारका भरण-पोषण कैसे करूँगा? और कोई धधा तो मैं जानता नहीं।' अतएव—

एहि घाटत थारिक दूरि अहै कटि लौ जलु थाह देखाइहौ जू।

—'यहाँसे थोडी दूरपर गङ्गामे कमरतक ही जल है और मैं स्वय साथ चलकर आपको मार्ग बता दूँगा। आप पार हो जायँगे।' यह सब कहनेमे केवटका एकमात्र उद्देश्य था सर्वेश्वरके दुर्लभ चरणकमलोकी स्पर्श-प्राप्ति—उनका प्रक्षालन करके सम्पूर्ण परिवारको कृतार्थ कर लेना।

कितनी सुकृतियोसे महाराज जनकको यह सौभाग्य प्राप्त हुआ था—

बहुरि राम पद पकज धोए। जे हर हृदय कमल महुँ गोए॥

और—

'जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि भरतु रहे मन लाइ।

—उन्हीं चरणोपर केवटकी दृष्टि थी। निश्छल केवटने उनसे कह भी दिया—

जौ प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पद पदुम पखारन कहहू॥

प्रभो! आपको नौकासे पार जाना हो तो मुझे चरण धो लेने दीजिये अन्यथा मैंने कह ही दिया है यहाँसे थोडी ही दूरपर कमरतक जल है, वहाँसे पार हो जाइये। मैं चलकर मार्ग बता दूँगा। आगे-आगे मैं ही रहूँगा। नावपर चढानेके लिये तो मेरी शर्त यही है—

पद कमल धोइ चढ़ाइ नाव न नाथ उतराई चहौं।
मोहि राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साची कहौं॥
बरु तीर मारहुँ लखनु पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपाल पारु उतारिहौं॥

(रा०च०मा० २।१०० (

केवटकी भक्ति एव उनकी प्रेममयी अटपटी व सुनकर राघवेन्द्र जानकी और लक्ष्मणकी ओर दे मुसकराने लगे। यही सरलता, निश्छलता, हृदयकी प एव यही प्रीति तो प्रभुको प्रिय है। इसी भक्ति प्रेमसिन्धु प्रभु बिक जाते हैं—भक्तके वश हो जा उन्होने हँसकर केवटसे कह दिया। भैया!

'सोइ करु जेहिं तव नाव न जाई॥'

बेगि आनु जल पाय पखारू। होत बिलबु उतारहि

अमित भाग्यशाली राम-पद-पद्म-प्रेमी केवटकी क्या कही जाय? जिन करुणा-वरुणालय प्रभुके न स्मरण कर असख्य मनुष्य ससार-सागरके पार उतर वे ही निखिल सृष्टिपति भगवान् श्रीराम केवटका करते हैं। केवटने प्रभुकी आज्ञा प्राप्त की और दौड *'पानि कठवता भरि लेइ आवा॥'* प्रेमकी उमङ्गमे—आ निमग्न होकर वे प्रभुके दुर्लभ पद-पद्मोको अत्यन्त

भक्तिपूर्वक धोने लगे। वे प्रभुके चरणकमलाको खूब अच्छी तरह रगड-रगडकर, दबा-दबाकर धो रहे थे। केवटके इस सौभाग्यका क्या कहना?

बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं। एहि सम पुन्यपुज कोउ नाहीं॥
(रा०च०मा० २।१०१।८)

महात्मा केवटका—नहीं, नहीं, उनके पूर्वजो एव उनके सम्पूर्ण परिवारका जीवन धन्य हो गया। वे कृतार्थ हो गये। अनन्तकालीन जन्म-जरा-मरणके कठोर पाशसे वे सहज ही मुक्त हो गये—

पद पखारि जलु पान करि आपु सहित परिवार।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार॥
(रा०च०मा० २।१०१)

केवट नौका खेते हुए प्रभुको पार उतार रहे थे। उनकी दृष्टि अब भी प्रभुके पद-पद्मामे ही गडी था। उनके आनन्द एव प्रेमकी सीमा नहीं थी। प्रभु पार उतरे ओर गङ्गाकी रेतम खडे हो गये। प्रभुको सकोच हुआ कि 'इसे कुछ पारिश्रमिक नहीं दिया।' तब—

पिय हिय की सिय जाननिहारी। मनि मुदरी मन मुदित उतारी॥
(रा०च०मा० २।१०२।३)

प्रभुने कहा—'यह उतराई लो।'

भगवान्की इस वाणीसे केवट व्याकुल हो गये और उन्होने प्रभुके चरण पकड लिये। अपने सौभाग्य, कृ एव प्रेमके सूचक अश्रु उनके नेत्रासे झर रहे थे। उ प्रभुके सम्मुख स्पष्ट शब्दामे व्यक्त कर दिया—'नाथ। मने क्या नहीं पाया? मेरे दोष, दु ख और दरिद्रताकी आज सदाके लिये बुझ गयी। मने बहुत समयतक म की। विधाताने आज भरपूर मजदूरी मुझे दे दी'—

नाथ आजु मै काह न पावा। मिटे दोष दुख दारिद द
बहुत काल मै कीन्हि मजूरी। आजु दीन्ह बिधि बनि भलि
(रा०च०मा० २।१०२।

भक्त केवटने पुन कहा—'प्रभो। आपके अ मुझे अब कुछ नहीं चाहिये। आपने तो मुझे सब कु दिया।' पर वे चतुराईके साथ यह भी कह देते हैं—

फिरती बार मोहि जो देबा। सो प्रसादु मै सिर धरि ले
(रा०च०मा० २।१०२

दीनदयालु श्रीरामने अनेक बार कहा, श्रीसीता लक्ष्मणने भी पारिश्रमिक लेनेके लिये जोर दिया, पर कृतार्थ केवटने कुछ भी स्वीकार नहीं किया। कोई न देखकर—

'बिदा कीन्ह करुनायतन भगति बिमल बरु देइ॥'

ऐसे श्रीराम-चरणानुरागी केवटके प्रेम और उ भक्तिका स्मरण भी मनुष्यको पवित्र करता रहेगा।*

समाश्रिता ये पदपल्लवप्लव महत्पद पुण्ययशो मुरारे।
भवाम्बुधिर्वत्सपद पर पद पद पद यद् विपदा न तेषाम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। ५८)

जिन्हाने पुण्यकीर्ति मुकुन्द मुरारीके पदपल्लवकी नौकाका आश्रय लिया है, जो कि सत्पुरुषाका सर्वस्व है, उनके लिये यह भव-सागर बछडेके खुरके गढेके समान हे। उन्हे परमपदकी प्राप्ति हो जाती है और उनके लिये विपत्तियाका निवासस्थान—यह ससार नहीं रहता।

---

* अध्यात्मरामायणमे यह प्रसङ्ग अहल्योद्धारके बाद ही प्रभुके मिथिलापुरी जाते समय आता है। अहल्योद्धारसे सर्वत्र समाचार प्रचरि गया था कि श्रीरामकी चरणधूलिसे शिला भी स्त्री बन जाती है। वहाँ केवटके वचन इस प्रकार हैं—

क्षालयामि तव पादपङ्कज नाथ दारदृषदो किमन्तरम्।
मानुषीकरणचूर्णमस्ति ते पादयोरिति कथा प्रथीयसी॥
पादाम्बुज्र ते विमल हि कृत्वा पश्चात् पर तीरमह नयामि।
नोचेत्तरी सद्युवती मलेन स्याच्चेद्विभो विद्धि कुटुम्बहानि॥ (१।६।३-४)

'हे नाथ। यह बात प्रसिद्ध है कि आपके चरणामे कोई मनुष्य बना देनेवाला चूर्ण है। (आपने अभी शिलाको स्त्री बना दिया फिर) शि और काष्ठमे भेद ही क्या है? अत नौकापर चढानेसे पूर्व मैं आपके चरणकमलोको धोऊँगा। इस प्रकार आपके चरणाको मलरहित करव आपको श्रीगङ्गाजीके उस पार ले चलूँगा। नहीं तो हे विभो। आपकी चरणरजके स्पर्शसे यदि मेरी नौका सुन्दर युवती हो गयी तो मेरे कुटुम्ब आजीविका ही मारी जायगी।

दास्य-प्रेमके आदर्श हनुमान्‌जी

(मानसमणि प० श्रीरामनारायणजी शुक्ल शास्त्री 'व्यास')

भगवान् करुणानिधान श्रीरामचन्द्रजीके परम प्रिय हनुमान्‌जी दास्य-प्रेमके परम आदर्श महापुरुष हैं। आशुतोष भगवान् शिवजीके प्रभु श्रीरामसे तीन-तीन सम्बन्ध हैं—

सेवक स्वामि सखा सिय पी के। हित निरुपधि सब बिधि तुलसी के॥

(रा०च०मा० १।१५।४)

परतु स्वतन्त्र दास्य-प्रेमका आदर्श स्थापित करनेके लिये, प्रभुको सुख देनेके लिये भगवान् सदाशिवने वानर-शरीर धारण किया—

जेहि सरीर रति राम सो सोइ आदरहिं सुजान।
रुद्रदेह तजि नेहबस बानर भे हनुमान॥

(दोहावली १४२)

प्रभुकी दासता चाहनेवाले सेवकको अपने सुखसे उदासीन रहते हुए प्रभुके सुखमे ही सुख मानना चाहिये और उसकी सारी चेष्टाएँ प्रभु-प्रीतिके लिये ही होनी चाहिये। साथ ही दासको वैराग्यवान् होकर श्रीप्रभुका अनुरागी वनना चाहिये। श्रीहरिके दासका एक प्रधान लक्षण है, जिसे गोस्वामीजीने 'वैराग्य-सन्दीपनी'मे इस प्रकार बताया है—

अति अनन्य जो हरि को दासा। रटै नाम निसि दिन प्रति स्वासा॥
तुलसी तेहि समान नहिं कोई। हम नीक देखा सब कोई॥

इसीलिये हनुमान्‌जी प्रतिक्षण प्रति रोमसे नाम-जप करते रहते हैं। ऐसा दास भक्त श्रीभगवान्‌को बहुत प्यारा होता हे। श्रीरामजी अपने सखाओसे कहते हैं—

सब के प्रिय सेवक यह नीती। मार अधिक दास पर प्रीती॥

(रा०च०मा० ७।१६।८)

इसी प्रकार श्रीरामजी विभीषणशरणागतिके सदर्भमे कहते हैं—

सत्य कहौ मेरो सहज सुभाउ।
सुनहु सखा कपिपति लकापति, तुम्ह सन कौन दुराउ॥
× × ×
पुनि पुनि भुजा उठाइ कहत हौ, सकल सभा पतिआउ।
नहि कोऊ प्रिय मोहि दास सम, कपट-प्रीति बहि जाउ॥

(गीतावली सुन्दरकाण्ड ४५)

श्रीरामजी हनुमान्‌जीके प्रेम तथा सेवाका गान वारम्वार करते रहते हैं। शिवजी बताते हैं—

हनूमान सम नहिं बड़भागी। नहिं कोउ राम चरन अनुरागी॥
गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निज मुख गाई॥

(रा०च०मा० ७।५०।८-९)

मारुतिमिलन-प्रसङ्गमे जब हनुमान्‌जी विप्ररूप धारणकर प्रभु श्रीरामसे मिलने गये, परस्पर वार्तालाप हो जानेपर जब मारुतिने प्रभुको पहचाना तो तुरत श्रीचरणामे पड गये, बार-बार रोने लगे, हृदयमे टीस हुई कि प्रभु मुझे गलेसे क्या नहीं लगा रहे हैं?

प्रेम व्यवधान नहीं सहन कर सकता, तब प्रभु श्रीरामने उन्हे उठाकर गलेसे लगा लिया—

तब रघुपति उठाइ उर लावा। निज लोचन जल सींचि जुड़ावा॥

करुणासागर श्रीरामने वत्स मारुतिको उठाकर हृदयसे लगा लिया। अपना सर्वस्व दे दिया और अपने प्रेमाश्रुओसे अभिषिक्त कर दिया—

एष सर्वस्वभूतस्तु परिष्वङ्गो हनूमत।
मया कालमिम प्राप्य दत्तस्तस्य महात्मन॥

(वा०रा०युद्ध० १।१३)

श्रीप्रभुने कहा—इस समय इन महात्मा हनुमान्‌को मैं केवल अपना प्रगाढ आलिङ्गन प्रदान करता हूँ, क्योकि यही मेरा सर्वस्व है।

हनुमान्‌जीको अपने हृदयसे लगाकर भगवान्‌ने मानो अपने सिद्धान्तको सफल कर लिया—

जननी जनक बधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसे॥

(रा०च०मा० ५।४८।४—७)

हनुमान्‌जीकी सारी ममता श्रीराममे ही है—ऐसी ही बात श्रीरामरक्षास्तोत्र (३०)-मे भी कही गयी है—

माता रामो मत्पिता रामचन्द्र
स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्र।
सर्वस्व मे रामचन्द्रो दयालु-
र्नान्य जाने नैव जाने न जाने॥

अर्थात् श्रीराम ही मेरे माता, पिता, स्वामी तथा सखा हैं दयालु श्रीरामचन्द्र ही मेरे सर्वस्व हैं। उनके अतिरिक्त मैं किसी औरको जानता ही नहीं।

रागानुरागिणी त्रिजटा

(डॉ० श्रीशुकदेवरायजी एम्०ए० पी-एच्०डी० साहित्यरत्न)

'मानस' के छोटे-से-छोटे पात्र भी विशेपता-सम्पन्न हैं। इसके स्त्रीपात्रोम 'त्रिजटा' एक लघु स्त्रीपात्र है। यह पात्र आकारम जितना ही छोटा हे, महिमामे उतना ही गौरवमण्डित है। सम्पूर्ण 'मानस' म केवल सुन्दरकाण्ड आर लङ्काकाण्डमे 'सीता-त्रिजटा-सवाद' के रूपमे त्रिजटाका वर्णन आया है, परतु इन लघु सवादोमे ही त्रिजटाके चरित्रकी सारी विशेषताएँ निखर उठी हैं। छाटेसे वार्ता-प्रसङ्गम भी सम्पूर्ण चरित्रको समासरूपसे उद्भासित करनेकी क्षमता गोस्वामी तुलसीदासजीकी विशेपता हे।

मानसके सुन्दरकाण्डकी एक चोपाईकी अर्द्धालीमे त्रिजटाका स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है—

त्रिजटा नाम राच्छसी एका। राम चरन रति निपुन बिबेका॥

(रा०च०मा० ५।११।१)

प्रस्तुत पक्ति त्रिजटाके चार गुणोको स्पष्ट करती हैं— १-वह राक्षसी है, २-श्रीरामचरणमे उसकी रति है, ३- वह व्यवहार-निपुण और ४-विवेकशीला हे। राक्षसी होते हुए भी श्रीरामचरणानुराग व्यवहारकुशलता एव विवेकशीलता-जेसे दिव्य देवोपम गुणाकी अवतारणा चरित्रमे अलाकिकताको समाविष्ट करती हे। सम्भवत इन्हीं तीन गुणाके समाहारके कारण उसका नाम त्रिजटा रखा गया हा। त्रिजटा रामभक्त विभीपणजीकी पुत्री हे। वह रावणकी भ्रातृजा हे। राक्षसी उसका वशगुण है और रामभक्ति उसका पतृक गुण। लङ्काकी अशोकवाटिकामे सीताके पहरेपर अथवा सहचरीके रूपम रावणद्वारा जिस स्त्री-दलकी नियुक्ति होती हे, त्रिजटा उसमसे एक है। अपने सम्पूर्ण चरित्रम सीताके लिये इसने परामर्शदात्री एव प्राणरक्षिकाका काम किया हे। यही कारण है कि विरहाकुला ओर त्रासिता सीताने त्रिजटाके सम्बोधनमे माता शब्दका प्रयाग किया है—

त्रिजटा सन बोलीं कर जारी। मातु बिपति सगिनि तैं मोरी॥

(रा०च०मा० ५।१२।१)

पुन —

आनि काठ रचु चिता बनाई। मातु अनल पुनि देहि लगाई॥

(रा०च०मा० ५।१२।३)

ऐसी शुभेच्छुकाक लिये 'मा' शब्द कितना समीचीन है।

त्रिजटाकी रति राम-चरणमे है। रामभक्त पिताकी पुत्री होनेके कारण इसका यह अनुराग पैतृक-सम्पत्ति हे और स्वाभाविक है। त्रिजटाके घरम निरन्तर रामकथा होती है। अभी सीतासे मिलनेके थोडी देर पहले वह घरसे आयी है, जहाँ हनुमान्‌जी श्रीविभीषणजीसे रामकथा कह रहे थे—

तब हनुमत कही सब राम कथा निज नाम।
सुनत जुगल तन पुलक मन मगन सुमिरि गुन ग्राम॥

(रा०च०मा० ५।६)

राक्षसी होते हुए भी त्रिजटाको मानव-मनोविज्ञानका सूक्ष्म ज्ञान है। वह सीताजीके स्वभाव और मनोभावको अच्छी तरह समझती है। वह यह भलीभाँति जानती हे कि सीताजीकी सान्त्वनाके लिये और उनके दु खाको दूर करनेके लिय रामकथासे बढकर दूसरा कोई उपाय नहीं है। मरणातुरा सीताजी आत्मत्यागके लिये जब उससे अग्निकी याचना करती हैं तो इस अनुरोधको वह यह कहकर टाल देती हे—

'निसि न अनल मिल सुनु सुकुमारी।'

(रा०च०मा० ५।१२।६)

ओर सीताजीके प्रबोधके लिये वह राम-यश-गानका सहारा लेती है—

सुनत बचन पद गहि समुझाएसि। प्रभु प्रताप बल सुजसु सुनाएसि॥

(रा०च०मा० ५।१२।५)

ज्ञान-गुणसागर हनुमान्‌जीने भी जब अशोकवाटिकामे सीताकी विपत्ति देखी तो उनके प्रबोधके लिये उन्ह कोई उपाय सूझा ही नहीं। वे सीताजीके रूप ओर स्वभाव दोनाहीस अपरिचित थे। उन्हाने त्रिजटा-प्रयुक्त विधिका ही अनुसरण किया। रावण-त्रासिता सीताजीको राम-सुयश सुननेस ही सान्त्वना मिली थी, यह हनुमान्‌जी ऊपर पल्लवाम छिपे बठे देख रहे थे। त्रिजटाके चले जानेके बाद सीताजी और भी व्याकुल हो उठीं। तव उनकी परिशान्तिक लिये हनुमान्‌जीने भी—

रामचद्र गुन बरनै लागा। सुनतहिं सीता कर दुख भागा॥

(रा०च०मा० ५।१३।५)

दानवी होनेक कारण त्रिजटाको दानव-मनोविज्ञानका

ज्ञान तो था ही। दानवाका अधिक विश्वास देहिक शक्तिमे हे ओर इसीलिये उन्हे कार्यविरत करनेमे भय अधिक कारगर होता हे। सीताजीको वशीभूत करनके लिये रावणने भय और त्रासका सहारा लिया था और तदनुसार राक्षसियाको ऐसा ही अनुदेश करके वह चला गया था। सीताजीका दु ख दूना हो गया, क्योकि राक्षसियाँ नाना भाँति भयङ्कर रूप बना-बनाकर उन्हे डराने-धमकाने लगीं। व्यवहार-विशारद त्रिजटाक लिये यह असह्य हो गया। वर्जनके लिये उस पण्डिताने विवेकपूर्ण एक युक्ति निकाली। उसने राक्षस-मनोविज्ञानका सहारा लिया ओर एक भयानक स्वप्नकथाकी सृष्टि की। महाविनाशकारी स्वप्नदर्शनकी चर्चा सुनकर निशाचरियाँ भयभीत हो उठीं ओर तव अनुकूल परिस्थितिमे त्रिजटाने उन्हे सलाह दी—*'सीतहि सेइ करहु हित अपना॥'* कितनी विलक्षण सूझ है! इस स्वप्न-वार्तासे एक ओर जहाँ त्रिजटाका भविष्यदर्शिनी होना सिद्ध होता है, वहीं दूसरी ओर उसका व्यवहार-निपुणा और विवेकिनी होना भी उद्घाटित होता हे। भय दिखाकर दूसरेको वशीभूत करनेवाली मण्डलीको उसने भावी भयकी सूचना देकर मनोनुकूल बना लिया। प्रत्यक्ष वर्जनम ता राजकोपका डर था अनिष्टकी सम्भावना थी।

लङ्काकाण्डके युद्ध-प्रसङ्गमे त्रिजटाकी चातुरीका एक आर विलक्षण उदाहरण मिलता हे। राम-रावण-युद्ध चरम सीमापर है। रावण घोर युद्ध कर रहा हे। उसके सिर कट-कट करके भी पुन जुट जाते हैं। भुजाआका खोकर भी वह नवीन भुजावाला बन जाता हे और श्रीरामके मारे भी नहीं मरता। अशोकवाटिकाम त्रिजटाके मुँहसे यह प्रसङ्ग सुनकर सीताजी व्याकुल हो जाती हैं। श्रीरामचन्द्रके वाणसे भी नहीं मरनेवाल रावणक बन्धनसे वह अव मुक्त होनेकी आशा त्याग देनेको हो जाती ह। त्रिजटाको परिस्थितिका अनुभव होता हे। वह सीताजीकी मनोदशाको देखकर फिर प्रभु श्रीरामक वलका वर्णन करती हे ओर सीताको श्रीरामकी विजयका विश्वास दिलाती हे। सीताजीके इस विह्वल वचनपर—

होइहि कहा कहसि किन माता। केहि बिधि मरिहि बिस्व दुखदाता॥
रघुपति सर सिर कटेहुँ न मरई। बिधि बिपरीत चरित सब करई॥

(रा०च०मा० ६।९९।४ ५)

—त्रिजटा सीताजीसे एक तर्कपूर्ण वात कहती हे कि रावणके हृदयमे तुम हा। इसीसे श्रीराम उसके हृदयम बाण नहीं मारते। वे सोचते हैं—नाभिम शर लगते ही उसका मन विचलित होगा, जिससे तुम्हारा ध्यान छूट जायगा, तव वह हृदयम तीर लगते ही मर जायगा—

एहि क हृदयँ बस जानकी जानकी उर मम बास है।
मम उदर भुअन अनेक लागत बान सब कर नास है॥
सुनि बचन हरष बिषाद मन अति देखि पुनि त्रिजटाँ कहा।
अब मरिहि रिपु एहि बिधि सुनहि सुदरि तजहि ससय महा॥

(रा०च०मा० ६।९९ छं०)

इस प्रकार त्रिजटाचरित्र भक्ति, विवेक और व्यवहार-कुशलताका एक मणिकाञ्चनयाग हे।

भक्तिसागरका एक अमूल्य रत्न—प्रभुप्रेमी प्रह्लाद

(श्रीमती सरलाजी श्रीवास्तव)

जेसे सागरकी उत्ताल तरङ्ग अपने गर्भमे अनेक वहुमूल्य रत्नाको सँजोये रहती हैं किंतु चतुर गोताखोर उनको खोजकर देवप्रतिमाआकी शोभा बढानेहतु ऊपर ले ही आते हैं, उसी प्रकार भक्तिरूपी सरितामे अवगाहन करनेवाले देवर्षि नारद भवसागरम भटकते निर्मल हृदयके प्राणियाको परमात्माकी ओर उन्मुख करनेमे अत्यन्त प्रवीण हैं।

श्रीमद्भागवतम प्रसङ्ग आता हे कि नारदजीने भक्तिदेवीको वचन दिया कि कलियुगम भी वे भक्तिका प्रचार एव प्रसार करगे। उन्हींके प्रयाससे भक्तिदेवी पुन स्वस्थ हो गयीं। आदिकालसे ही देवर्षिकी वीणा करुणासागर प्रभुके गुणगानम व्यस्त रही। श्रीहरिकी कृपासे उन्हाने अल्पवयस्क बालकोको भी परम भागवत वनानेमे सफलता प्राप्त की। उनके ही उपदेशाके प्रभावसे दत्योके कण्टकाकीर्ण काननमे एक सुगन्धित पुष्प विकसित हुआ—भक्त प्रह्लाद, जिसके देवीगुण प्रत्येक विषम परिस्थितिम उसे विजयी बनानेमे सफल हुए।

भगवान्‌के द्वारा हिरण्याक्षका वध किये जानेपर हिरण्यकशिपुने उनसे शत्रुता ठान ली। घोर तपस्या करके ब्रह्माजीसे वरदान भी प्राप्त कर लिया, किंतु उसकी पत्नी कयाधुके गर्भस्थ शिशुने नारदजीद्वारा दिये गये भागवतधर्म एवं ज्ञानके उपदेशको ग्रहणकर श्रीहरिकी अपूर्व छविको आत्मसात् कर लिया। संसारमें आनेके पश्चात् भी उस बालकने हरिकथासे सुरभित अपनी बुद्धिको कभी दूषित नहीं होने दिया। यद्यपि वह दैत्यकुलमें उत्पन्न हुआ और अपने चारों ओर उसने अत्याचार एवं क्रूरताका ही साम्राज्य देखा, किंतु उसका भगवत्प्रेमानुरागी चित्त सदैव भक्तवत्सल भगवान्‌के श्रीचरणोंमें ही लीन रहा।

भक्त प्रह्लाद बचपनमें ही खेल-कूद छोड़कर भगवान्‌के ध्यानमें तन्मय हो जाया करते थे। हिरण्यकशिपुने गुरु शुक्राचार्यके पुत्र शण्ड एवं अमर्कको उनकी शिक्षा-दीक्षाहेतु नियुक्त किया। अन्य दैत्यबालकोंके साथ पढ़ते समय भी उनका आध्यात्मिक चिन्तन चलता रहता, अतः भौतिक राजनीति एवं अर्थनीतिका पाठ उनको रुचिकर प्रतीत नहीं होता था।

जब कभी उनके पिता प्रेमपूर्वक अपनी गोदमें बैठाकर उनसे अध्ययनके विषयमें ज्ञात करनेकी चेष्टा करते तो प्रह्लादजी सदैव वास्तविक सत्यकी ही व्याख्या करने लगते। वे कहते कि 'मैं' और 'मेरे' का त्याग करके

प्रत्येक प्राणीको श्रीहरिकी शरणमें ही जाना चाहिये। अपने आत्मजके मुखसे अपने शत्रुकी प्रशंसा सुनकर हिरण्यकशिपु बौखला जाता था। फिर भी प्रह्लादका निश्चय अडिग था। एक बार तो उन्होंने अपने पिताके सम्मुख नवधा-भक्तिकी विवेचना कर डाली। उन्होंने कहा—पिताजी! भगवान्‌के नाम-गुण-लीला-धाम आदिका श्रवण, उन्हींका कीर्तन, उनके रूप, नाम आदिका स्मरण, उनके चरणोंकी सेवा, पूजा-अर्चा, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन आदि समर्पणके भावसे यह नौ प्रकारकी भक्ति ही वास्तविक अध्ययन है।

यह सुनकर हिरण्यकशिपु आगबबूला हो गया और उसने उन्हें अपनी गोदसे उठाकर नीचे पटक दिया। उसने सोचा बालक बहक गया है, अतः गुरुपुत्रोंको पुनः उसे उचित शिक्षा देनेका निर्देश दिया, किंतु परिणाम विपरीत ही हुआ। जब भी समय मिलता प्रह्लादजी अपने साथी दैत्यबालकोंको भी भगवत्प्रेमका महत्त्व बताकर भगवान्‌की शरणमें जानेकी ही सलाह देते। वे कहते कि भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता, क्योंकि वे समस्त प्राणियोंकी आत्मा हैं। वे ही केवल आनन्दस्वरूप परमेश्वर हैं। यह जीव मायाके द्वारा भ्रमित किया जा रहा है, अतः उनका दर्शन नहीं कर पाता। मायाका आवरण हटते ही उनके दर्शन

सम्भव हो जाते हैं। अतः तुम लोग अपनी आसुरी प्रवृत्तिको त्यागकर समस्त प्राणियोंपर दया करो, उनसे प्रेम करो भगवान्‌को प्रसन्न करनेका यही एकमात्र

उपाय है। प्रेम ही परमात्मा है।

किससे बाँधू बैर, जगतमे कोई नहीं पराया।
हर प्राणीमे प्रतिबिम्बित है, उसी ब्रह्मकी छाया॥

किसी भी प्राणीको कष्ट पहुँचाना अधर्म है। सदैव परोपकारकी भावना ही हृदयमे धारण करनी चाहिये। भगवान् केवल निष्काम प्रेम-भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं।

धीरे-धीरे सत्सगके प्रभावसे दैत्यबालकोमें भी श्रीहरिके प्रति निष्ठा जाग्रत् होने लगी। जब यह समाचार हिरण्यकशिपुके पास पहुँचा तो उस पापीने भक्त बालकके वधका निश्चय कर लिया। उन्हे मारनेके लिये अनेक उपाय किये गये, किंतु न उनको अग्नि जला सकी, न सर्प डँस सका। जल, वायु और आकाश—सभीने उनकी रक्षा की।

जाको राखै साइयाँ, मार सकै नहिं कोय।
बाल न बाँका कर सके, जो जग वैरी होय॥

जो जगदीश्वरकी गोदमे सुरक्षित है, उसे मृत्युका भय केसा? प्रह्लादका भगवत्प्रेम ही उनका सुरक्षा-कवच था। अन्तत मदान्ध हिरण्यकशिपुने क्रुद्ध होकर प्रश्न किया—बता, तेरा जगदीश्वर कहाँ है? उन्होने अत्यन्त शान्त एव सरलभावसे कहा कि वह तो कण-कणमे व्याप्त है। कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ प्रभुका वास न हो—

ब्यापक ब्याप्य अखड अनता। अखिल अमोघसक्ति भगवता॥
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता॥
(रा०च०मा० ७।७२।४-५)

जब प्रह्लादने खम्भमे भी भगवान्के होनेकी पुष्टि की तो स्वयपर नियन्त्रण न रख पानेके कारण उस दम्भी दैत्यने अपनी तलवारसे खम्भपर प्रहार कर दिया। उसके विखण्डित होते ही गम्भीर गर्जना हुई और नृसिहरूप धारणकर श्रीहरि अपने भक्तके वचनकी सत्यता प्रमाणित करनेहेतु उससे प्रकट हो गये। उन्होने हिरण्यकशिपुके शरीरको अपने तीक्ष्ण नखोसे विदीर्ण कर डाला तथा स्वय सिहासनपर विराजमान हो गये। चारो ओर जय-जयकार एव पुष्पवर्षा होने लगी, किंतु प्रभुका रौद्ररूप सबको भयभीत कर रहा था।

केवल भक्त ही भगवान्के क्रोधको शान्त कर सकता है। बालक प्रह्लादने अत्यन्त प्रेम एव श्रद्धासे नृसिहभगवान्की स्तुति की। श्रीहरिने प्रसन्न होकर उनसे वरदान माँगनेको कहा तो उन्होने यही वर माँगा कि मेरे हृदयमे कभी किसी कामनाका बीज अङ्कुरित न हो। धन्य है प्रह्लादजीका निष्काम भगवत्प्रेम! इतनी अल्पायुमे ही उन्होने ऐसी उच्चकोटिकी प्रेमाभक्ति प्राप्त कर ली, जो तपस्यारत बडे-बडे ऋषि-मुनियोके लिये भी दुर्लभ है।

आधुनिक कलिकालमे भी यह प्रेरणाप्रद चरित्र अति प्रासङ्गिक है। हिरण्यकशिपु बुराई एव दुर्गुणोका प्रतीक है। आजके युगमे स्वार्थ, अहकार, ईर्ष्या आदि दुर्गुणोका ही बोलबाला है। उनको नियन्त्रित एव कम करनेका केवल एक ही उपाय है, प्रभुके नामका स्मरण एव प्रभुकृपापर विश्वास। यदि हम प्रह्लाद बनकर भगवान्के नामका जप करेगे तो परिणाम यह होगा कि जैसे नृसिहभगवान्ने खम्भसे प्रकट होकर हिरण्यकशिपुका सहार किया, वैसे ही प्रभु हमारे जीवनमे भी विशेष कृपा करेगे—

राम नाम नरकेसरी कनककसिपु कलिकाल।
जापक जन प्रहलाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल॥
(रा०च०मा० १।२७)

गोस्वामीजी प्रेरणा देते हैं कि राम-नामकी साधनाके द्वारा हम समस्त समस्याओका समाधान कर सकते हैं एव प्रतिकूल परिस्थितियोमे भी अखण्ड आनन्दका अनुभव कर सकते हैं।

जनकनन्दन मिथिलेशकुमारका श्रीसीता-रामके प्रति प्रगाढ़ प्रेम

(मानसकेसरी प० श्रीवाल्मीकिप्रसादजी मिश्र 'रामायणी')

[स्वामी श्रीरामहर्षणदासजीके द्वारा एक महाकाव्य 'श्रीप्रेमरामायण' की रचना हुई है। मिथिलेशकुमार श्रीलक्ष्मीनिधि मिथिलाके युवराज है तथा देवी सिद्धिकुँवरि इनकी पत्नी है। जनकनन्दिनी भगवती सीता तथा मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके वनगमन करनेपर उनके विरहमे इस युवराज-दम्पतिकी प्रेमविह्वल मनोदशाका वर्णन कविने यहाँ प्रस्तुत किया है। इस क्रममे विरहकी दस दशाओका वर्णन भी किया गया है—स०]

'अपने हृदयकी व्यथाका कुछ तो वर्णन करो। कैसा लग रहा है तुम्हे ?' व्रज-गोपी अपनी सखीकी मर्मान्तक व्यथासे स्वय आहत हो पूछ बैठी पर क्या कहती वह वराका भुक्तभागिनी ? छातीपर हाथ रखा और अन्तत व्यक्त किया उसने—

पीडाभिर्नवकालकूटकटुतागर्वस्य निर्वासनो
निष्यन्देन मुदा सुधामधुरिमाहङ्कारसकोचन ।
प्रेमा सुन्दरि नन्दनन्दनपरो जागर्ति यस्यान्तरे
ज्ञायन्ते स्फुटमस्य वक्रमधुरास्तेनैव विक्रान्तय ॥

(रूप गोस्वामी)

सखी नन्दनन्दनका प्रेम जिसके हृदयम जाग्रत् होता है, वही इस प्रेमके वक्र और मधुर पराक्रमको जानता है। आह! पीडा तो इतनी कि कालकूट विषका भी गर्व चूर हो जाय पर बलिहारी माधुर्य भी इतना कि सुधाकी मधुरिमा उसके सम्मुख तुच्छ प्रतीत होती है।

इस प्रेम-देवताका यह पराक्रम प्रियतमके सयोग और वियोग दोना ही कालामे न्यूनाधिक्यका नाम नहीं लेता, फिर भी महानुभावाने इन श्यामघनके सयोगकी अपेक्षा वियोगको ही अधिक महत्त्व दिया है। किसी भुक्तभोगीने क्या ही उद्घोष किया था, उस दिन—

यदि उस प्रियतमके मिलन और वियोगमेसे कोई एक लेना हो तो उसके मिलनसे वियोग ही श्रेष्ठ जान पडता है, क्योकि मिलनमे तो वह अकेला होता है, किंतु वियोगम तो तीनों लोक उसके स्वरूप बन जाते हैं, सर्वत्र वही दीखता है। इस लालकी लालीका स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि जिसे लौ लग गयी, उसकी दृष्टि ही लाल बन गयी—

लाली मेरे लाल की, जित देखौ तित लाल।
लाली देखन मै गई मै भी हो गइ लाल॥

आइये इस पृष्ठभूमिम स्वामी श्रीरामहर्षणदासजी महाराजद्वारा प्रणीत महाकाव्य श्रीप्रेमरामायणान्तर्गत मिथिलेशकुमार युवराज लक्ष्मीनिधिजीकी विरहभूमिकाके कुछ चित्राका हम दर्शन करे—

मिथिला एव अवधके लोग चित्रकूटसे वापस आ गये हैं। दोनो ही समाज श्रीरामदर्शनकी आकाङ्क्षासे चौदह वर्षोके लिये विशेष व्रतोका अवलम्ब लेकर कालक्षेप करने लगे। पूज्य गोस्वामिपादके शब्दाम—

राम दरस लगि लोग सब करत नेम उपबास।
तजि तजि भूषन भोग सुख जिअत अवधि कीं आस॥

विरहके इन दु सह दिवसामे मिथिला एव अवधसे चित्रकूटतक चराका आवागमन बराबर बना रहता और दोनो ही समाज उस समाचारसे ही आश्वस्त होते रहते, किंतु वाह री विधिकी बलीयसी इच्छाशक्ति! श्यामसुन्दर रघुनन्दन श्रीराम चित्रकूट धामका भी परित्याग कर दक्षिणारण्यकी ओर प्रस्थान कर गये। श्रीमिथिलाधिराज तो चित्रकूटके इस परित्यागका मूल स्वयको ही निरूपित कर रहे हैं—

सो सब मोर दोष सत अहई। या मह सशय नेक न गहई॥
प्रीति विवश सुधि लेवन हेता। रहे पठावत दूत अचेता॥
भीर देखि रघुनाथ प्रिय ह्वै उदास मन माहिं।
छोड़ि दियो कामद गिरिहिं दुख सुख परे सो आहि॥

(प्रेमरामायण वनविरहकाण्ड)

मिथिलेशकुमार लक्ष्मीनिधिको भी श्रीरघुनन्दनके चित्रकूटपरित्यागका समाचार ज्ञात हुआ। हाय! अब आजसे प्राणवल्लभका कुछ भी समाचार उपलब्ध न होगा। अभागे प्राणो! तुम अब भी प्रस्थान नहीं कर रहे—

कहि अस कुँवर अचेत भे सिद्धि अक निजलीन।
शीश परसि उपचार करि, दीन्ह जगाय प्रवीन॥

देवी सिद्धिकुँवरि उन्हे धैर्य बँधाती हैं, किंतु प्रियके विरहमे हृदयकी क्या स्थिति है, इसे युवराजके ही शब्दोमे

श्रवण कर—

प्रेम कथा की पीर अतीवा। जानत प्रेमी क तेहि सीवा॥
कहनी मह केसेहुँ नहिं आवै। सूक्ष्म सूक्ष्म अनुभव रस छावै॥
अहकार ममकार नसाना। श्याम श्याम वस मन आना॥
जरत वरत निसदिन रहे, विरह वह्नि के बीच।
हमरो यहै स्वरूप सत, जग दुख सुख सब नीच॥

(प्रेमरामायण वनविरहकाण्ड)

कमला सरोवरके मङ्गलमय तटपर देवी सिद्धिकुँवरि और युवराज लक्ष्मीनिधिके रूपमे मानो साक्षात् प्रेमाभक्ति ही पर्णकुटीरमे दम्पति-स्वरूपमे निवास करने लगी। समस्त मैथिल राजकुमार भी तपस्वीवेशमे लक्ष्मीनिधिकी ही भाँति तपोनिरत हें। सहृदय जन इन मैथिल युवराजकी दशाका अवलोकन करे। अहा—

पुर बाहर शुचि सरिता तीरा। वन इकान्त नहिं जन की भीरा॥
रची कुँवर सुन्दर तृणशाला। सोह निकट वट वृक्ष विशाला॥
गुफा मनोहर युग खनवाई। भजन ध्यान हित विमल सुहाई॥
वलकल वसन जटिल सिर सोहा। जनु मुनि वष काम छवि जोहा॥
लीन्ह तुमरिका पात्र शुभ, दीन्ह अन्न कहँ त्याग।
कन्द मूल फल खाइ कछु सिद्धि सहित तजि राग॥

(प्रेमरामायण चित्रकूटकाण्ड)

रात्रिके तीन पहर व्यतीत होते ही युवराज उठ बेठते नित्यकृत्याका अश्रुपूरित नेत्राके साथ निर्वहन करते और फिर कोहवर-कक्षसे प्राप्त पावरिया (पादुकाआ)-की भावभरी अर्चा करते—

पूजि सविधि शिर धरि पद त्राणा। प्रेम विभोर नचै रस खाना॥
श्रीराम शरण मम गाई। दम्पति रह प्रेम रस छाई॥
पावरि पूजि षडाक्षर मत्रा। जपहि प्रम पगि प्रभु परतत्रा॥
अश्रु बहत अविरल नयन, नियम मध्य चित हान।
प्रेम पग प्रभु सुरति करि विकल विलख गत ज्ञान॥

(प्रेमरामायण)

इस दिनचयाके अनुसार कालक्षेप करते हुए कुमार लक्ष्मीनिधि महाभावकी स्थितितक पहुँच जाते हें।

रसिकाचार्योने इस विरहासक्तिके दस स्वरूपाका चित्रण किया है। उज्ज्वलनीलमणिकारक शब्दाम विरहकी वे दस दशाएँ इस प्रकार कही गयी हें—

चिन्तात्र जागराद्वेगौ तानव मलिनाङ्गता।
प्रलापो व्याधिरुन्मादो माहमृत्युर्दशा दश॥

(विप्रलम्भ १५३)

चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, अङ्गाकी मलिनता, प्रलाप, व्याधि उन्माद माह आर मृत्यु—ये विरहकी दस दशाएँ हें। श्रीरामविरहसे व्यथित युवराजके जीवनम इन दसा दशाआका कितना स्पष्ट दर्शन है। महिमामयी तिरहुत-वसुन्धराम कमला सरोवरतटके इस तरुण तापसको अद्भुत दशा दर्शनीय है—

(१) चिन्ता

हाय! में रघुनन्दनका श्याल (साला) कहा जाता हूँ, लोग मुझे वेदेहीका अग्रज कहकर पुकारते हें, किंतु इस कुसमयम में उनक किसी काम न आया—

राम सिया बन-बन फिरहिं, सुख सावै घर माहि।
राम प्राण को प्राण बनि, महा कृतघ्न लखाहि॥
अस कहि निजकर छातिहि घाती। पीटत शिरहिं दुखहि दुखराती॥
तलफत निकसत मुख महँ फेना। कहरत कुँवर परे विरहैना॥
चित महँ चिन्ता रही समाई। चिन्तहिं चिन्तामणि रघुराई॥
चिन्तन करत चित्त लय लयऊ। तदाकार वृत्ती जिय जयऊ॥

(प्रेमरामायण वनविरहकाण्ड)

(२) जागरण

प्रियवियोग ओर निद्रा? कहाँ है ऐसा सौभाग्य उस अभागेका।

वे ता निरन्तर अपने प्राणप्रियतमके चिन्तनम ही निमग्न हें, कब रात बीती, कब सवेरा हुआ कोई भान ही नहीं—

यहि विधि बीतत दिन लग भारी। नींद न आवति निशा मँझारी॥
हा हा सिय हा रघुवर रामा। टेरत कुँवर विदेह ललामा॥
विरह व्यथा हिय महँ बसी रह रह जिय अकुलाय।
कुँवर प्रिया लखि लखि तहाँ सेवहिं पतिहिं वनाय॥
नींद न आवति जानि कुमारी। पियहिं पियावति चरित सुधारी॥

(प्रेमरामायण वनविरहकाण्ड)

देवी सिद्धिकुँवरि अनिद्राकी इस स्थितिम श्रीवैदेहीक अनेक मङ्गलमय चरित्राको सुनाती हैं।

(३) उद्वेग

युवराजक जीवनम कभी-कभी एक ऐसी विकलता-

सी आ जाती थी, जिसमे कभी भी उन्हे शान्ति नहीं प्राप्त होती थी—

कबहुँ कबहुँ उद्वेग महाना। होत कुँवर तन तलफत प्राना॥
परत चैन नहि नेक मन, अधिक अधिक अकुलात।
सोवत जागत रैन दिन, बैठत उठत जम्हात॥
भीतर बाहर नहिं रहि जाई। अति उद्वेग रहउ उर छाई॥
निकसि कुटीर कुँवर चल दीन्हे। कमला सन्मुख अति दुख कीन्हे॥
लागत दवहुँ छोड़ि शरीरा। सही जात विरह विष पीरा॥
भ्रात सखा बहु विधि समझाये। कुँवरहि कुटी प्रवेश कराये॥

(प्रेमरामायण वनविरहकाण्ड)

(४) कृशता

राजकुमार लक्ष्मीनिधिके तनकी क्षीणता किस सीमातक पहुँच चुकी है? इसका एक चित्र प्रस्तुत करनेमे ये पक्तियाँ सहायक हैं—

कृशित भये अति जनक कुमारा। अस्थि चर्म अवशेष अकारा॥
चीन्ह न जाय खीन तन नामा। निकसत अहनिशि मुख सियरामा॥
अविरल बहे आँसु अति धारा। चित्त मगन सियराम मँझारा॥
चर्म चढ ककाल सम, लागत जनक कुमार।
दखि दशा सुर जय वदत, वरपत सुमन अपार॥
कुँवर प्रेम दिवि देव सराहे। होत मगन मन भरे उछाहे॥
आँख धसी का कहिय शरीरा। उठत झमत उर अन्तर पीरा॥

(प्रेमरामायण वनविरहकाण्ड)

माता सुनयना युवराजकी इस दशाको देखकर कहती हैं कि बेटा! अब तो अवधिके दो ही वर्ष शेष बचे हैं। कुछ तो अन्न ग्रहण किया करो, ताकि व्रतका अवधिपर्यन्त निवाह हो सके और श्रीसीतारामसे मिल सको। युवराज उनसे अपनी विवशता व्यक्त करते हुए कहते ह कि मा! में कितना भी उपाय करता हूँ कौर भीतर जाता ही नहीं हे—

विरह अग्नि फोड़ा परेउ, बढेउ हृदयके बीच।
नयन गली पानी बहत, छिन छिन मन तन सींच॥

(५) अङ्गोंकी मलिनता

देहाध्यास विस्मृत हो चुका है, शरीरके वस्त्र तो मलिन हो ही गये हैं और अङ्गकी कान्ति भी मलिन दिखायी पड रही है—

मलिन वसन अरु मलिन शरीरा। भयो कुँवर मन लहत न धीरा॥
प्रेम चिन्ह तन छूट पसीना। मलिन कुमार लग रस भीना॥
रोवत रोवत विवरण भयऊ। मलिन काय मन उज्ज्वल ठयऊ॥
राख छिपी पावक यथा, बादल ओटहिं भान।
मलिन बदन तिमि कुँवर लस, करत राम सिय ध्यान॥

(प्रेमरामायण वनविरहकाण्ड)

(६) प्रलाप

विरहके आवगम वाणीका सयम शून्य हो जाता हे और तब अनेक परस्पर असम्बद्ध बाते निकलने लगती ह। अर्थहीन वाणीका असयमित भाषण ही प्रलाप ह।

युवराजको जब श्रीरामके वनवासकी स्मृति होती है, तब कहने लगते हे—हाय! मेरी लाडली बहन एव श्रीरामके वनमे निवास करनेकी बात मुझे प्रथम ही यदि ज्ञात हा गयी होती तो—

हा रघुनन्दन वनहि सिधाये। मो कहँ पहले नाहिं बताये॥
जनत्या प्रथमहिं तव वनवासा। जाइ अवध है राम हुलासा॥
मै बनि रूप तुम्हार पियारे। जातो बनहिं सप्रेम सुखारे॥
तुम्हहिं बनाय आपनो रूपा। मिथिला भेजतो रघुकुल भूपा॥

(प्रेमरामायण वनविरहकाण्ड)

अब भी ता कुछ बिगडा नहीं है, में अभी वन जा रहा हूँ ओर वहाँसे श्रीरामको लोटाकर उन्हे अपने रूपवाला बनाऊँगा तथा स्वय उनका रूप धारण करूँगा—

म बनि राम बसौ मन माहीं। रघुवर फिरे बिना सुख नाहीं॥
अस कहि कुँवर निकसि चलि दयऊ। करत प्रलाप देह सुधि गयऊ॥
कुँवर पकरि सब काय, लाये कुटिया बीच महँ।
समुझावत सब लोग, कुँवर हृदय समुझत नहीं॥

(प्रेमरामायण वनविरहकाण्ड)

देवी सिद्धिकुँवरि समझाती हैं कि अब अरण्यवासका काल अत्यन्त अल्प बचा है। श्रीरघुनन्दन स्वय ही आयगे। आप उनके पास जाना भी चाहग तो उन्ह पा नहीं सकगे, क्योंकि भयकर दक्षिणारण्यम वे कहाँ हैं इसका कुछ पता तो हे नहीं। यह भी सम्भव है कि आप उनके अन्वषणम उधर जायँ आर वे यहाँ लाट आय। अत यहीं निवास करना उचित हे।

(७) व्याधि

प्रेमदवताके पदार्पण होनेपर जब देह उनके महातेजको सँभाल नहीं पाती तो उसमे अनेक प्रकारकी व्याधियोंका उदय हो जाता है।

कुमार लक्ष्मीनिधिजीकी देहमें व्याधियोंका उभार होने लगा—

सकल शरीर जलन सम लागा। नस नस पीरा भइ जिय जागा॥

नाना ब्याधिहि ग्रह रहे, श्रीमिथिलेश कुमार।
तदपि बहिर्मुख कबहुँ नहि, बहे बिरह सरि धार॥

प्रेम-पन्थके पथिक तो दुःखको भी सुख ही समझते हैं। युवराज कभी इन वेदनाओंकी चर्चातक नहीं करते किंतु परम प्रज्ञामयी देवी सिद्धि सबका अनुभव कर लेतीं। सास श्रीसुनयनासे चर्चा कर देतीं और श्रीविदेहराज उपचारकी व्यवस्थाएँ करते रहते।

(८) उन्माद

कुमार लक्ष्मीनिधिकी उन्मादावस्थाका स्वरूप निम्नलिखित पंक्तियोंमें साकार हुआ है—

बाढ़ेव हृदय महा उन्मादा। कहि न जाय सो दशा विषादा॥
कबहुँ विरह बहुतहिं जिय जागे। रोवत विलपत अति दुख दागे॥
प्रभु स्वभाव सुनि कहुँ हरषाई। हँसन लगे हँसतो रह जाई॥
प्रभु गुन लागै कबहुँक गावन। उच्च स्वरहिं मनमोद बढ़ावन॥
हिय उन्माद अलौकिक जागा। महा भाव रस रँगे सुभागा॥

(प्रेमरामायण वनविरहकाण्ड)

वस्त्र-परिधानकी भी स्मृति नहीं। स्नानादि नित्यकृत्य भी भूल चुके हैं, अमृतरसमें सने ये एक पागलकी जिन्दगी जी रहे हैं। कहीं शान्त तो कहीं स्तब्ध बैठे रहते हैं। उनकी अद्भुत प्रेमदशा देखकर देवतागण मङ्गलानुशासन करते हैं।

(९) मोह

अत्यन्त तीव्र वियोगके प्रभावसे सर्वाङ्ग जब शिथिल होकर एक विचित्र मूर्च्छाको प्राप्त हो जाते हैं, तब उस दशाकी मोह संज्ञा होती है। यह स्थिति मृत्युके बहुत निकटकी होती है। स्वामी श्रीरामहर्षणदेवाचार्य जू महाराज प्रेमरामायणमें कहते हैं—

विरह मोहवश निमिकुल बारा। सब विधि भूलत ज्ञान अपारा॥
प्रेमी प्रेमास्पद अरु प्रेमा। त्रिपुटी विनशि रहेउ रस नेमा॥
भया कुँवर हिय रस कर रूपा। अकथ अगाध अगम्य अनूपा॥
बुद्धि क्रिया सब गई बिलाई। रहउ राम रस चित्तई छाई॥

(वनविरहकाण्ड)

(१०) मृत्यु

रसिकाचार्यगण मृत्युका अर्थ मृत्युतुल्य दशा करते हैं। यदि मृत्यु ही वरण कर ले तो इस दारुण वेदनासे मुक्ति तो प्राप्त हो जाय, पर कहाँ होते हैं ऐसे भाग्य उन अनुरागियोंके। युवराजके जीवनकी इस झाँकीको भी निरुपाय लेखनी इस प्रकार चित्रित करती है—

दिन दिन छिन छिन विरह विहारा। बढ़त कुँवर हिय अनुप अपारा॥
सीय कहत मुरछा तन आवै। राम शब्द भीतर रहि जावै॥
रूप ध्यान तनि जो हिय आई। ठाढ़ गिरे न सुधिहिं रिहाई॥
चितन करतहिं रघुवर लीला। भूमि जाय सब कुँवर रसीला॥
मरण तुल्य सब शिथिल शरीरा। दश दश दिवस परे भुईं बीरा॥
दिव्य कान्ति नहिं छोड़ति साथा। अतिहिं विचित्र कुँवर रस गाथा॥

(प्रेमरामायण वनविरहकाण्ड)

अन्ततः शरीर संज्ञाशून्य-सा हो गया। सारे मैथिलजन प्रायः उनकी देहको घेरे हुए बैठे रहते। सभी लोग उनके श्रीअङ्गोंसे भगवन्नामकी ध्वनि उच्चरित होते सुनते। वातावरणका कुछ ऐसा प्रभाव था कि वहाँ पहुँचकर सभीके मुखसे स्वतः भगवन्नामका उच्चारण होने लग जाता था।

चौदह वर्षोंकी अवधिके अन्तिम दो वर्षोंमे तो युवराज मृततुल्य जीवनका ही वरण किये रहे। ऐसी ही दशामें उन्हें श्रीअवध ले जाया गया। महात्मा भरत उनकी इस दशाको देख घोर अनुतापमें डूब गये। पवननन्दनके अवध आनेपर श्रीभरतजीने उन्हें प्रभुका प्रत्यागमन संदेश सुनाने युवराजके समीप भेज दिया। हनुमान् उनकी ऐसी दशा देखकर विषादके महासमुद्रमें डूब गये। पुनः एक दिव्य संकीर्तन होता है। संकीर्तनसुधाका पानकर उन्हें चेतना प्राप्त होती है, नेत्र खुलते हैं और वे प्रभुके प्रत्यागमनका संदेश सुन सकनेकी स्थितिमें आ जाते हैं। फिर तो उनके प्रेमानन्दका क्या ठिकाना!

भक्त नरसी मेहता

नरसी मेहता गुजरातके एक बहुत बडे श्रीकृष्णभक्त हो गये हैं। उनके भजन आज भी न केवल गुजरातमे, बल्कि सारे भारतमे बडी श्रद्धा और आदरके साथ गाये जाते हैं। उनका जन्म काठियावाडके जूनागढ शहरम बडनगरा जातिके नागर-ब्राह्मण-कुलमे हुआ था। बचपनमे ही उन्हे कुछ साधुआका सत्सग प्राप्त हुआ, जिसके फलस्वरूप उनके हृदयमे श्रीकृष्णभक्तिका उदय हुआ। वे निरन्तर भक्त-साधुआके साथ रहकर श्रीकृष्ण ओर गापियाकी लीलाके गीत गाने लगे। धीरे-धीरे भजन-कीर्तनम ही उनका अधिकाश समय बीतने लगा। यह बात उनके परिवारवालोको पसद नहीं थी। उन्होने इन्ह बहुत समझाया, पर कोई लाभ न हुआ। एक दिन इनकी भोजाईने ताना मारकर कहा—'ऐसी भक्ति उमडी है तो भगवान्से मिलकर क्यो नहीं आते ?' इस तानेने नरसीपर जादूका काम किया। वे घरसे उसी क्षण निकल पडे और जूनागढसे कुछ दूर श्रीमहादेवजीके पुराने मन्दिरम जाकर वहाँ श्रीशङ्करजीकी उपासना करने लगे। कहते हैं, उनकी पूजासे प्रसन्न होकर भगवान् शङ्कर उनके सामने प्रकट हुए ओर उन्ह भगवान् श्रीकृष्णके गोलोकम ले जाकर गोपियोकी रासलीलाका अद्भुत दृश्य दिखलाया। वे गोलोककी लीलाको देखकर मुग्ध हो गये।

तपस्या पूरी कर वे घर आये और अपने बाल-बच्चाके साथ अलग रहने लगे। परतु केवल भजन-कीर्तनम लगे रहनेके कारण बडे कष्टके साथ उनकी गृहस्थीका काम चलता। स्त्रीने कोई काम करनेके लिये उन्ह बहुत कहा परतु नरसीजीने कोई दूसरा काम करना पसद नहीं किया। उनका दृढ विश्वास था कि श्रीकृष्ण मेरे सारे दु खो और अभावोको अपने-आप दूर करेगे। हुआ भी ऐसा ही। कहते हैं, उनकी पुत्रीके विवाहमे जितने रुपये और अन्य सामग्रियाकी जरूरत पडी, सब भगवान्ने उनके यहाँ पहुँचायी तथा स्वय मण्डपमे उपस्थित होकर सारे कार्य सम्पन्न किये। इसी तरह पुत्रका विवाह भी भगवत्कृपासे सम्पन्न हो गया।

कहते हैं नरसी मेहताकी जातिके लोग उन्ह बहुत तग किया करते थे। एक बार उन लोगाने कहा कि अपने पिताका श्राद्ध करके सारी जातिको भोजन कराओ। नरसीजीने अपने भगवान्को स्मरण किया और श्राद्धके लिये सारा सामान जुट गया। श्राद्धके दिन अन्तमे नरसीजीको मालूम हुआ कि कुछ घी घट गया है। वे एक बर्तन लेकर बाजार घी लानेके लिये गये। रास्तेम उन्होंने एक सतमण्डलीको बडे प्रेमसे हरिकीर्तन करते देखा। बस, नरसीजी उसमे शामिल हो गये और अपना काम भूल गये। घरमे ब्राह्मण-भोजन हो रहा था, उनकी पत्नी बडी उत्सुकतासे उनकी बाट देख रही थीं। भक्तवत्सल भगवान् नरसीका रूप धारण कर घी लेकर घर पहुँचे। ब्राह्मण-भाजनका कार्य सुचारुरूपसे पूरा हुआ। बहुत देर बाद कीर्तन बद होनेपर नरसीजी घी लेकर वापस आये आर अपनी पत्नीसे देरके लिये क्षमा माँगने लगे। स्त्री आश्चर्यसागरमे डूब गयी।

पुत्र-पुत्रीका विवाह हो जानेपर नरसीजी बहुत कुछ निश्चिन्त हो गये और अधिक उत्साहसे भजन-कीर्तन करने लगे। कुछ वर्षों बाद एक-एक करके इनकी स्त्री और पुत्रका देहान्त हो गया।

तबसे वे एकदम विरक्त-से हो गये ओर लोगाको भगवद्भक्तिका उपदेश देने लगे। वे कहा करते—'भक्ति तथा प्राणिमात्रके साथ विशुद्ध प्रेम करनेसे सबको मुक्ति मिल सकती है।'

कहते हैं कि एक बार जूनागढके राव-माण्डळीकने उन्हे बुलाकर कहा—'यदि तुम सच्चे भक्त हो तो मन्दिरमे जाकर मूर्तिके गलेम फूलाका हार पहनाओ और फिर भगवान्की मूर्तिसे प्रार्थना करो कि वे स्वय तुम्हारे पास आकर वह माला तुम्हारे गलेमे डाल द, अन्यथा तुम्हे प्राणदण्ड मिलेगा।' नरसीजीने रातभर मन्दिरमे बैठकर भगवान्का गुणगान किया। दूसरे दिन सबेरे सबके सामने मूर्तिने अपने स्थानसे उठकर नरसीजीको माला पहना दी। नरसीकी भक्तिका प्रकाश सर्वत्र फैल गया।

सदा भगवत्प्रेममे निमग्न रहनेवाले भक्त नरसी मेहता अपने भक्तिपदाके द्वारा भगवान्को सदा रिझाते रहे। उनके पद भक्तोके लिये कण्ठहाररूपमे प्रसिद्ध ही हैं। उनका निम्नलिखित पद तो बहुत ही प्रसिद्ध है। प्रेमी भक्त बडा विभोर होकर इसका गान करते हैं—

वष्णव जन तो तेने कहिये, जे पीड पराई जाणे रे।
परदु खे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे॥

सकळ लोक माँ सहुने वदे, निंदा न करे केनी रे।
वाच काछ मन निश्चळ राखे, धन-धन जननी तेनी रे॥
समदृष्टिने तृष्णा-त्यागी, परस्त्री जेने मात रे।
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे॥
मोह माया व्यापे नहिं जेने, दृढ वैराग्य जेना मनमाँ रे।
रामनाम सु ताळी लागी, सकळ तीरथ तेना तनमाँ रे॥
वणलोभी ने कपट रहित छे, काम क्रोध निवार्या रे।
भणे नरसैयो तेनु दरसन करताँ, कुळ एकोतेर तार्या रे॥

एक दूसरे पदमे भक्त और भक्तिकी महिमामे वे कहते है—

इस पृथ्वीलोकमे भक्तिरूपी एक महान् पदार्थ है वह ब्रह्मलोकमे नहीं है। जिन्होने पुण्यके द्वारा स्वर्ग प्राप्त किया, वे अन्तमे चौरासीके चक्करमे गिर पडे। हरिके भक्त तो मुक्ति न माँगकर बार-बार जन्म माँगते हैं, जिससे वे नित्य सेवा, नित्य कीर्तन, नित्य उत्सवमे नन्दकुमारको निरखते रहे। इस पृथ्वीमे जिन्होने भारतखण्डमे जन्म लेकर गोविन्दके गुणोका गान किया, उनके माता-पिताको धन्य है और उन्होने अपना जीवन सफल कर लिया। वृन्दावन धन्य है, वे लीलाएँ धन्य हैं, वे व्रजवासी धन्य हैं, जिनके आँगनमे अष्ट महासिद्धियाँ खडी हैं और मुक्ति जिनकी दासी है। उस रसका स्वाद भगवान् श्रीशङ्कर जानते हैं अथवा योगी श्रीशुकदेव जानते हैं। कुछ व्रजकी गोपियाँ जानती हैं, नरसी उस रसका स्वय भोगकर कह रहा है—

भूतल भक्ति पदारथ मोटु, ब्रह्मलोक मा नाही रे।
पुण्य करी अमरापुरी पाम्या, अन्ते चौरासी माही रे॥ टेक॥
हरिना जन तो मुक्ति न मागे, मागे जन्माजन्म अवतार रे।
नित्य सेवा नित्य कीर्तन ओच्छव, निरखवा नन्दकुमार रे॥ १ ॥ भूतल०॥
भरतखंड भूतलमा जनमी जेणे गोविन्दना गुण गाया रे।
धन धन रे एना मात पिताने, सफल करी एने काया रे॥ २ ॥ भूतल०॥
धन वृन्दावन धन ए लीला, धन ए व्रजना वासी रे।
अष्ट महासिद्धि आँगणिये रे ऊभी, मुक्ति छे एमनी दासी रे॥ ३ ॥ भूतल०॥
ए रसनो स्वाद शंकर जाणे, के जाणे शुक जोगी रे।
काई एक जाणे व्रजनी गोपी, भणे 'नरसयो' भोगी रे॥ ४ ॥ भूतल०॥

गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्रजी

रसिकभक्तशिरोमणि गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्र महाप्रभुजीका जन्म मथुराके निकट बादग्राममे वि० संवत् १५५९ वैशाख शुक्ला एकादशीको हुआ था। इनके पिताका नाम श्रीव्यासजी मिश्र और माताका श्रीतारादेवी था। श्रीव्यासजी मिश्र नौ भाई थे, जिनमे सबसे बडे श्रीकेशवदासजी तो संन्यास ग्रहण कर चुके थे। उनके संन्यासाश्रमका नाम श्रीनृसिंहाश्रमजी था। शेष आठ भाइयोके केवल यही एक व्यास-कुलदीपक थे इसलिये ये सभीको प्राणासे बढकर प्रिय थे और इसीसे इनका लालन-पालन भी बडे लाड-चावसे हुआ था। ये बडे ही सुन्दर थे और शिशुकालमे ही 'राधा' नामके बडे प्रेमी थे। 'राधा' सुनते ही ये बडे जोरसे किलकारी मारकर हँसने लगते थे। कहते हैं कि छः महीनेकी अवस्थामे ही इन्होने पलनेपर पौढे हुए 'श्रीराधासुधानिधि' स्तवका गान किया था जिसे आपके ताऊ स्वामी श्रीनृसिंहाश्रमजीने लिपिबद्ध कर लिया था।

वस्तुत 'राधासुधानिधि' भक्तिपूर्ण शृङ्गाररसका एक अतुलनीय ग्रन्थ है। बडी ही मनोहर भावपूर्ण कविता है। इसमें आचार्यने अपनी परमाराध्या वृषभानुकुमारी श्रीराधाजीके विशुद्ध प्रेमका बडी ही ललित भाषामे चित्रण किया है। इसमे आरम्भसे अन्ततक केवल विशुद्ध प्रेमकी ही झाँकी है।

इनके बालपनकी कुछ बाते बडी ही विलक्षण हैं, जिनसे इनकी महत्ताका कुछ अनुमान होता है। एक दिन ये अपने कुछ साथी बालसखाओके साथ बगीचेमे खेल रहे थे। वहाँ इन्होने दो गौर-श्याम बालकोको श्रीराधामोहनके रूपमे सुसज्जित किया। फिर कुछ देर बाद दोनोके शृङ्गार बदलकर श्रीराधाको श्रीमोहन तथा श्रीमोहनको श्रीराधाके रूपमे परिणत कर दिया और इस प्रकार वेश-भूषा बदलनेका खेल खेलने लगे।

प्रातःकालका समय था। इनके पिता श्रीव्यासजी अपने सेव्य श्रीराधाकान्तजीका शृङ्गार करके मुग्ध होकर युगल-छविके दर्शन कर रहे थे। उसी समय आकस्मिक परिवर्तन देखकर वे चौंक पडे। उन्होने श्रीविग्रहोमें श्रीराधाके

रूपमे श्रीकृष्णको और श्रीकृष्णके रूपम श्रीराधाको देखा। सोचा, वृद्धावस्थाके कारण स्मृति नष्ट हो जानेसे शृङ्गार धरानेमे भूल हो गयी है। क्षमा-याचना करके उन्होने शृङ्गारको सुधारा, परतु अपने-आप वह शृङ्गार भी तुरत ही बदलने लगा। तब घवराकर व्यासजी वाहर निकले। सहसा उनकी दृष्टि बागकी ओर गयी, देखा—हरिवश अपने सखाओके साथ खेल-खेलमे वही स्वरूप-परिवर्तन कर रहा है। उन्होने सोचा इसकी सच्ची भावनाका ही यह फल है। निश्चय ही यह कोई असाधारण महापुरुष है।

एक बार श्रीव्यासजीने अपने सेव्य श्रीठाकुरजीके सामने लड्डूका भाग रखा, इतनेमे ही देखते हैं कि लड्डुओके साथ फल-दलोसे भरे बहुत-से दोने थालमे रखे हैं। इन्हे बडा आश्चर्य हुआ और उस दिनकी बात याद आ गयी। पूजनके बाद इन्होने बाहर जाकर देखा तो पता लगा कि हरिवशजीने बगीचेम दो वृक्षोको नीले-पीले पुष्पोकी मालाओसे सजाकर युगल-किशोरकी भावनासे उनके सामने फल-दलका भोग रखा है। इस घटनाका भी व्यासजीपर बडा प्रभाव पडा।

एक बार श्रीहरिवशजी खेल-ही-खेलमे बगीचेके पुराने सूखे कुएँमे सहसा कूद पडे। इससे श्रीव्यासजी, माता तारादवी और कुटुम्बके लोगोको तो अपार दु ख हुआ ही, सारे नगरनिवासी भी व्याकुल हो उठे। व्यासजी तो शोकाकुल होकर कुएँम कूदनेको तैयार हो गये। लोगोने जबरदस्ती उन्हे पकडकर रखा।

कुछ ही क्षणोके पश्चात् लोगोने देखा, कुएँम एक दिव्य प्रकाश फैल गया है और श्रीहरिवशजी श्रीश्यामसुन्दरके मञ्जुल श्रीविग्रहको अपने नन्हे-नन्हे कोमल कर-कमलोसे सँभाले हुए अपने-आप कुएँसे ऊपर उठते चले आ रहे हैं। इस प्रकार आप ऊपर पहुँच गये और पहुँचनेके साथ ही कुआँ निर्मल जलसे भर गया। माता-पिता तथा अन्य सब लोग आनन्द-सागरमे डुबकियाँ लगाने लगे। श्रीहरिवशजी जिस भगवान् श्यामसुन्दरके मधुर मनोहर श्रीविग्रहको लेकर ऊपर आये थे, उस श्रीविग्रहकी शोभाश्री अतुलनीय थी। उसके एक-एक अङ्गसे मानो सौन्दर्य-माधुर्यका निर्झर बह रहा था। सब लोग उसका दर्शन करके निहाल हो गये। तदनन्तर श्रीठाकुरजीको राजमहलमे लाया गया और बडे समारोहसे उनकी प्रतिष्ठा की गयी। श्रीहरिवशजीने उनका परम रसमय नामकरण किया—श्रीनवरङ्गीलालजी। अब श्रीहरिवशजी निरन्तर अपने श्रीनवरङ्गीलालजीकी पूजा-सेवामे निमग्न रहने लगे। इस समय इनकी अवस्था पाँच वर्षकी थी।

इसके कुछ ही दिनो बाद इनकी अतुलनीय प्रेममयी सेवासे मुग्ध होकर साक्षात् रासेश्वरी नित्य-निकुञ्जेश्वरी वृषभानुनन्दिनी श्रीराधिकाजीने इन्हे दर्शन दिये, अपनी रस-भावनापूर्ण सेवा-पद्धतिका उपदेश किया और मन्त्रदान करके इन्हे शिष्यरूपमे स्वीकार किया। इसका वर्णन करते हुए गो० श्रीजतनलालजी लिखते हैं—

करत भजन इक दिवस लाड़िली छबि मन अटक्यो।
रूपसिंधु के माँझ पर्‌यौ कहुँ जात न भटक्यो॥
बिबस होइ तब गए भए तनु प्यारी हरिके।
झुके अवनि पर सिथिल होइ अति सुख मे भरिके॥
कृपा करी श्रीराधिका प्रगट होइ दरसन दियौ।
अपने हित को जानिकै हित सौं मन्त्र सु कहि दियौ॥

आठ वर्षकी अवस्थामे उपनयनसंस्कार और सोलह वर्षकी अवस्थामे श्रीरुक्मिणीदेवीसे आपका विवाह हो गया। पिता-माताके गोलोकवासी हो जानेके बाद आप सब कुछ त्यागकर श्रीवृन्दावनके लिये विदा हो गये। श्रीनवरङ्गीलालजीकी सेवा भी अपने पुत्रोको सौंप दी।

देववनसे आप चिडयावल आये। यहाँ आत्मदेव नामक एक भक्त ब्राह्मणके घर ठाकुरजी श्रीराधावल्लभजी विराजमान थे। आत्मदेवजीको स्वप्नादेश हुआ और उसीके अनुसार श्रीराधावल्लभजी महाराजको श्रीहरिवशजी वृन्दावन ले आये। वृन्दावनमे मदन-टेर नामक स्थानमे श्रीराधावल्लभजीने प्रथम निवास किया। इसके पश्चात् इन्होने भ्रमण करके श्रीवृन्दावनके दर्शन किये और प्राचीन एव गुप्त सेवाकुञ्ज, रासमण्डल, वशीवट एव मानसरोवर नामक चार पुण्यस्थलोको प्रकट किया। तदनन्तर आप सेवाकुञ्जके समीप ही कुटियामे रहने लगे तथा श्रीराधावल्लभजीका प्रथम प्रतिष्ठा-उत्सव इसी स्थानपर हुआ।

स्वामी श्रीहरिदासजीसे आपका अभिन्न प्रेम-सम्बन्ध था। ओरछेके राजपुरोहित और गुरु प्रसिद्ध भक्त श्रीहरिरामजी व्यासने भी आकर श्रीहिताचार्य प्रभुजीसे ही दीक्षा ग्रहण की थी। 'श्रीवृन्दावनमहिमामृतम्' के निर्माता महाप्रभु श्रीचैतन्यके भक्त प्रसिद्ध स्वामी श्रीप्रबोधानन्दजीकी भी आपके प्रति बडी निष्ठा और प्रीति थी।

श्रीभगवान्‌की सेवामे किस प्रकार अपनेको लगाये

सकळ लोक माँ सहुने वदे, निंदा न करे केनी रे।
वाच काछ मन निश्चळ राखे, धन-धन जननी तेनी रे॥
समदृष्टिने तृष्णा-त्यागी, परस्त्री जेने मात रे।
जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे॥
मोह माया व्यापे नहिं जेने, दृढ वैराग्य जेना मनमाँ रे।
रामनाम सु ताळी लागी, सकळ तीरथ तेना तनमाँ रे॥
वणलोभी ने कपट रहित छे, काम क्रोध निवार्या रे।
भणे नरसैयो तेनु दरसन करताँ, कुळ एकोतेर तार्या रे॥

एक दूसरे पदमें भक्त और भक्तिकी महिमामें वे कहते हैं—

इस पृथ्वीलोकमें भक्तिरूपी एक महान् पदार्थ है वह ब्रह्मलोकमें नहीं है। जिन्होंने पुण्योंके द्वारा स्वर्ग प्राप्त किया, वे अन्तमें चौरासीके चक्करमें गिर पड़े। हरिके भक्त तो मुक्ति न माँगकर बार-बार जन्म माँगते हैं, जिससे वे नित्य सेवा, नित्य कीर्तन, नित्य उत्सवमें नन्दकुमारको निरखते रहें। इस पृथ्वीमें जिन्होंने भारतखण्डमें जन्म लेकर गोविन्दके गुणोंका गान किया, उनके माता-पिताको धन्य है और उन्होंने अपना जीवन सफल कर लिया। वृन्दावन धन्य है, वे लीलाएँ धन्य हैं, वे व्रजवासी धन्य हैं, जिनके आँगनमें अष्ट महासिद्धियाँ खड़ी हैं और मुक्ति जिनकी दासी है। उस रसका स्वाद भगवान् श्रीशङ्कर जानते हैं अथवा योगी श्रीशुकदेव जानते हैं। कुछ व्रजकी गोपियाँ जानती हैं, नरसी उस रसको स्वयं भोगकर कह रहा है—

भूतल भक्ति पदारथ मोटु, ब्रह्मलोक मा नाही रे।
पुण्य करी अमरापुरी पाम्या, अन्ते चौरासी माही रे॥ टेक॥
हरिना जन ता मुक्ति न मागे, मागे जन्माजन्म अवतार रे।
नित्य सेवा नित्य कीर्तन ओच्छव, निरखवा नन्दकुमार रे॥ १ ॥ भूतल०॥
भरतखंड भूतलमा जनमी जेणे गोविन्दना गुण गाया रे।
धन धन रे एना मात पिताने, सफल करी एणे काया रे॥ २ ॥ भूतल०॥
धन वृन्दावन धन ए लीला, धन ए व्रजना वासी रे।
अष्ट महासिद्धि आँगणिये रे ऊभी, मुक्ति छे एमनी दासी रे॥ ३ ॥ भूतल०॥
ए रसनो स्वाद शंकर जाणे, के जाणे शुक जोगी रे।
काई एक जाणे व्रजनी गोपी, भणे 'नरसैयो' भोगी रे॥ ४ ॥ भूतल०॥

गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्रजी

रसिकभक्तशिरोमणि गोस्वामी श्रीहितहरिवंशचन्द्र महाप्रभुजीका जन्म मथुराके निकट बादग्राममें वि० संवत् १५५९ वैशाख शुक्ला एकादशीको हुआ था। इनके पिताका नाम श्रीव्यासजी मिश्र और माताका श्रीतारादेवी था। श्रीव्यासजी मिश्र नौ भाई थे, जिनमें सबसे बड़े श्रीकेशवदासजी तो सन्यास ग्रहण कर चुके थे। उनके सन्यासाश्रमका नाम श्रीनृसिंहाश्रमजी था। शेष आठ भाइयोंके केवल यही एक व्यास-कुलदीपक थे, इसलिये ये सभीको प्राणोंसे बढ़कर प्रिय थे और इसीसे इनका लालन-पालन भी बड़े लाड़-चावसे हुआ था। ये बड़े ही सुन्दर थे और शिशुकालमें ही 'राधा' नामके बड़े प्रेमी थे। 'राधा' सुनते ही ये बड़े जोरसे किलकारी मारकर हँसने लगते थे। कहते हैं कि छः महीनेकी अवस्थामें ही इन्होंने पलनेपर पौढ़े हुए 'श्रीराधासुधानिधि' स्तवका गान किया था, जिसे आपके ताऊ स्वामी श्रीनृसिंहाश्रमजीने लिपिबद्ध कर लिया था।

वस्तुतः 'राधासुधानिधि' भक्तिपूर्ण शृङ्गाररसका एक अतुलनीय ग्रन्थ है। बड़ी ही मनोहर भावपूर्ण कविता है। इसमें आचार्यने अपनी परमाराध्या वृषभानुकुमारी श्रीराधाजीके विशुद्ध प्रेमका बड़ी ही ललित भाषामें चित्रण किया है। इसमें आरम्भसे अन्ततक केवल विशुद्ध प्रेमकी ही झाँकी है।

इनके बालपनकी कुछ बातें बड़ी ही विलक्षण हैं, जिनसे इनकी महत्ताका कुछ अनुमान होता है। एक दिन ये अपने कुछ साथी बालसखाओंके साथ बगीचेमें खेल रहे थे। वहाँ इन्होंने दो गौर-श्याम बालकोंको श्रीराधामोहनके रूपमें सुसज्जित किया। फिर कुछ देर बाद दोनोंके शृङ्गार बदलकर श्रीराधाको श्रीमोहन तथा श्रीमोहनको श्रीराधाके रूपमें परिणत कर दिया और इस प्रकार वेश-भूषा बदलनेका खेल खेलने लगे।

प्रातःकालका समय था। इनके पिता श्रीव्यासजी अपने सेव्य श्रीराधाकान्तजीका शृङ्गार करके मुग्ध होकर युगल-छविके दर्शन कर रहे थे। उसी समय आकस्मिक परिवर्तन देखकर वे चौंक पड़े। उन्होंने श्रीविग्रहमें श्रीराधाके

रूपमें श्रीकृष्णको और श्रीकृष्णके रूपमें श्रीराधाको देखा। सोचा, वृद्धावस्थाके कारण स्मृति नष्ट हो जानेसे शृङ्गार धरानेमें भूल हो गयी है। क्षमा-याचना करके उन्होंने शृङ्गारको सुधारा, परंतु अपने-आप वह शृङ्गार भी तुरंत ही बदलने लगा। तब घबराकर व्यासजी बाहर निकले। सहसा उनकी दृष्टि बागकी ओर गयी, देखा—हरिवंश अपने सखाओंके साथ खेल-खेलमें वही स्वरूप-परिवर्तन कर रहा है। उन्होंने सोचा इसकी सच्ची भावनाका ही यह फल है। निश्चय ही यह कोई असाधारण महापुरुष है।

एक बार श्रीव्यासजीने अपने सेव्य श्रीठाकुरजीके सामने लड्डूका भोग रखा, इतनेमें ही देखते हैं कि लड्डुओंके साथ फल-दलोंसे भरे बहुत-से दोने थालमें रखे हैं। इन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और उस दिनकी बात याद आ गयी। पूजनके बाद इन्होंने बाहर जाकर देखा तो पता लगा कि हरिवंशजीने बगीचेमें दो वृक्षोंको नीले-पीले पुष्पोंकी मालाओंसे सजाकर युगल-किशोरकी भावनासे उनके सामने फल-दलका भोग रखा है। इस घटनाका भी व्यासजीपर बड़ा प्रभाव पड़ा।

एक बार श्रीहरिवंशजी खेल-ही-खेलमें बगीचेके पुराने सूखे कुएँमें सहसा कूद पड़े। इससे श्रीव्यासजी, माता तारादेवी और कुटुम्बके लोगोंको तो अपार दुःख हुआ ही, सारे नगरनिवासी भी व्याकुल हो उठे। व्यासजी तो शोकाकुल होकर कुएँमें कूदनेको तैयार हो गये। लोगोंने जबरदस्ती उन्हें पकड़कर रखा।

कुछ ही क्षणोंके पश्चात् लोगोंने देखा, कुएँमें एक दिव्य प्रकाश फैल गया है और श्रीहरिवंशजी श्रीश्यामसुन्दरके मञ्जुल श्रीविग्रहको अपने नन्हे-नन्हे कोमल कर-कमलोंसे सँभाले हुए अपने-आप कुएँसे ऊपर उठते चले आ रहे हैं। इस प्रकार आप ऊपर पहुँच गये और पहुँचनेके साथ ही कुआँ निर्मल जलसे भर गया। माता-पिता तथा अन्य सब लोग आनन्द-सागरमें डुबकियाँ लगाने लगे। श्रीहरिवंशजी जिस भगवान् श्यामसुन्दरके मधुर मनोहर श्रीविग्रहको लेकर ऊपर आये थे, उस श्रीविग्रहकी शोभाश्री अतुलनीय थी। उसके एक-एक अङ्गसे मानो सौन्दर्य-माधुर्यका निर्झर बह रहा था। सब लोग उसका दर्शन करके निहाल हो गये। तदनन्तर श्रीठाकुरजीको राजमहलमें लाया गया और बड़े समारोहसे उनकी प्रतिष्ठा की गयी। श्रीहरिवंशजीने उनका परम रसमय नामकरण किया—श्रीनवरङ्गीलालजी। अब श्रीहरिवंशजी निरन्तर अपने श्रीनवरङ्गीलालजीकी पूजा-सेवामें निमग्न रहने लगे। इस समय इनकी अवस्था पाँच वर्षकी थी।

इसके कुछ ही दिनों बाद इनकी अतुलनीय प्रेममयी सेवासे मुग्ध होकर साक्षात् रासेश्वरी नित्य-निकुञ्जेश्वरी वृषभानुनन्दिनी श्रीराधिकाजीने इन्हें दर्शन दिये, अपनी रस-भावनापूर्ण सेवा-पद्धतिका उपदेश किया और मन्त्रदान करके इन्हें शिष्यरूपमें स्वीकार किया। इसका वर्णन करते हुए गो० श्रीजतनलालजी लिखते हैं—

करत भजन इक दिवस लाड़िली छबि मन अटक्यो।
रूपसिंधु के माँझ पर्‌यौ कहुँ जात न भटक्यो॥
बिबस होइ तब गए भए तनु प्यारी हरिकै।
झुके अवनि पर सिथिल होइ अति सुख में भरिकै॥
कृपा करी श्रीराधिका प्रगट होइ दरसन दियौ।
अपने हित कौ जानिकै हित सौं मन्त्र सु कहि दियौ॥

आठ वर्षकी अवस्थामें उपनयनसंस्कार और सोलह वर्षकी अवस्थामें श्रीरुक्मिणीदेवीसे आपका विवाह हो गया। पिता-माताके गोलोकवासी हो जानेके बाद आप सब कुछ त्यागकर श्रीवृन्दावनके लिये विदा हो गये। श्रीनवरङ्गीलालजीकी सेवा भी अपने पुत्रोंको सौंप दी।

देववनसे आप चिड़यावल आये। यहाँ आत्मदेव नामक एक भक्त ब्राह्मणके घर ठाकुरजी श्रीराधावल्लभजी विराजमान थे। आत्मदेवजीको स्वप्नादेश हुआ और उसीके अनुसार श्रीराधावल्लभजी महाराजको श्रीहरिवंशजी वृन्दावन ले आये। वृन्दावनमें मदन-टेर नामक स्थानमें श्रीराधावल्लभजीने प्रथम निवास किया। इसके पश्चात् इन्होंने भ्रमण करके श्रीवृन्दावनके दर्शन किये और प्राचीन एवं गुप्त सेवाकुञ्ज, रासमण्डल, वंशीवट एवं मानसरोवर नामक चार पुण्यस्थलोंको प्रकट किया। तदनन्तर आप सेवाकुञ्जके समीप ही कुटियामें रहने लगे तथा श्रीराधावल्लभजीका प्रथम प्रतिष्ठा-उत्सव इसी स्थानपर हुआ।

स्वामी श्रीहरिदासजीसे आपका अभिन्न प्रेम-सम्बन्ध था। ओरछेके राजपुरोहित और गुरु प्रसिद्ध भक्त श्रीहरिरामजी व्यासने भी आकर श्रीहिताचार्य प्रभुजीसे ही दीक्षा ग्रहण की थी। 'श्रीवृन्दावनमहिमामृतम्' के निर्माता महाप्रभु श्रीचैतन्यके भक्त प्रसिद्ध स्वामी श्रीप्रबोधानन्दजीकी भी आपके प्रति बड़ी निष्ठा और प्रीति थी।

श्रीभगवान्‌की सेवामें किस प्रकार अपनेको लगाये

रखना चाहिये और कैसे अपने हाथो सारी सेवा करनी चाहिये, इसकी बहुत सुन्दर शिक्षा श्रीहितहरिवशप्रभुजीके जीवनकी एक घटनासे मिलती है। श्रीहितहरिवशजी एक दिन मानसरोवरपर अपने कोमल करकमलासे सूखी लकडियाँ तोड रहे थे। इसी समय आपके प्रिय शिष्य दीवान श्रीनाहरमलजी दर्शनार्थ वहाँ आ पहुँचे। नाहरमलजीने प्रभुको लकडियाँ तोडते देख दु खी होकर कहा—'प्रभो! आप स्वय लकडी तोडनेका इतना बडा कष्ट क्या उठा रहे हैं, यह काम तो किसी कहारसे भी कराया जा सकता है। यदि ऐसा ही है तो फिर हम सेवकाका तो जीवन ही व्यर्थ है।'

नाहरमलके आन्तरिक प्रमसे तो प्रभुका मन प्रसन्न था, परतु सेवाकी महत्ता बतलानेके लिये उन्हाने कठोर स्वरमे कहा—'नाहरमल! तुम-जसे राजसी पुरुषाको धनका बडा मद रहता है, तभी तो तुम श्रीठाकुरजीकी सेवा कहाराके द्वारा करवानकी बात कहते हो। तुम्हारी इस भेद-बुद्धिसे मुझे बडा कष्ट हुआ है।' कहते हैं कि श्रीहितहरिवश-प्रभुजीने उनको अपने पास आनेतकसे रोक दिया। आखिर जब नाहरमलजीने दु खी होकर अनशन किया—पूरे तीन दिन बीत गये, तब वे कृपा करके नाहरमलजीके पास गये और प्रेमपूर्ण शब्दाम बोले—'भैया! प्रभुसेवाका स्वरूप वडा विलक्षण है। प्रभुसेवामे हेयोपादेय बुद्धि करनेसे जीवका अकल्याण हो जाता है। प्रभुसेवा ही जीवका एकमात्र धर्म है। ऐसे विरोधी भाव मनमे नहीं लाने चाहिये। मैं तुमपर प्रसन्न हूँ। तुम अन्न-जल ग्रहण करो।' या कहकर उन्हाने स्वय अपने हाथासे प्रसाद दिया और भरपेट भोजन कराया।

श्रीहितहरिवशजीकी रसभजनपद्धतिके सम्बन्धमे श्रीनाभाजी महाराजने कहा है—

श्रीराधा चरन प्रधान हृदय अति सुदृढ उपासी।
कुज कलि दपती, तहाँ की करत खवासी॥
सर्वसु महाप्रसाद प्रसिद्ध ताके अधिकारी।
विधि-निषेध नहिं दासि अनन्य उत्कट व्रतधारी॥
श्रीव्यास-सुवन पथ अनुसरै सोइ भलै पहिचानिहै।
हरिवस गुसाँई भजन की रीति सकृत कोउ जानिहै॥

स्वकीया-परकीया विरह-मिलन एव स्व-पर-भेदरहित नित्यविहार-रस ही श्रीहितहरिवशजीका इष्ट तत्त्व है। इन्हाने 'श्रीराधासुधानिधि' नामक अनुपम ग्रन्थका निमाण तो किया ही, इनकी व्रजभाषामे भी बहुत-सी रचनाएँ मिलती हैं, जो 'हितचौरासी' और 'स्फुट वाणी' के नामसे प्रसिद्ध हैं। इन्हाने कहा है—

सब सौं हित निषकाम मत वृदावन विश्राम।
(श्री) राधावल्लभलालको हृदय ध्यान, मुख नाम॥
तनहि राखु सतसग म मनहि प्रेम रस भेव।
सुख चाहत हरिवस हित कृष्ण कलपतरु सेव॥

श्रीहितहरिवश प्रभुजीका वैराग्य बडा विलक्षण था। अर्थ तथा कामकी तो बात ही दूर, यहाँ तो धर्म और मोक्षमे भी राग नहीं था। इनकी निष्ठाके कुछ नमूने देखिये—

'कदा नु वृन्दावनकुञ्जवीथी-
ष्वह नु राधे ह्यतिथिर्भवेयम्।'

'श्रीराधे! क्या मैं कभी वृन्दावनकी कुञ्जवीथियामे अतिथि होऊँगी।'

'कदा रसाम्बुधिसमुन्नत वदनचन्द्रमीक्षे तव।'

'मैं कब तुम्हारे समुन्नत रससमुद्ररूप मुखचन्द्रको देखूँगी?'

'कर्हि स्या श्रुतिशेखरोपरि चरन्नाश्चर्यचर्यां चरन्।'

'श्रीराधे! मैं कब तुम्हारी श्रुतिशेखर—उपनिषदुपरि परिचर्या—आश्चर्यमयी परिचर्याका आचरण करूँगी?'

इस परिचर्याके सामने आपके मतसे—

'वृथा श्रुतिकथाश्रमो बत बिभेमि कैवल्यत।'

'श्रुति-कथा व्यर्थ है और कैवल्य तो भयप्रद है।' वे कहते हैं—

'धर्माद्यर्थचतुष्टय विजयता कि तद् वृथा वार्तया।'

'ये धर्म, अर्थ काम और मोक्ष किसीके लिये आदरणीय हागे। मेरे लिये इनकी व्यर्थ चर्चासे क्या लाभ है?'

मैं तो बस—

यत्र यत्र मम जन्मकर्मभिर्नारकेऽथ परमे पदेऽथ वा।
राधिकारतिनिकुञ्जमण्डली तत्र तत्र हृदि मे विराजताम्॥

'मैं अपने जन्मकर्मानुसार नरक अथवा परम पद कहीं भी जाऊँ सर्वत्र मेरे हृदयमे श्रीराधिकारतिनिकुञ्जमण्डली ही सर्वदा विराजित रहे।'

अडतालीस वर्षोतक इस धराधामको पावन करनेके पश्चात् स० १६०७ वि० की शारदीय पूर्णिमाके दिन आपने निकुञ्जलीलामे प्रवेश किया।

जीव गोस्वामी

लगभग चार सा वर्ष पहलेकी बात ह, बंगालके शासक हुसैनशाहके प्रधान अधिकारी दबीर और साकर (सनातन और रूप)-की श्रद्धा तथा भक्तिसे प्रसन्न हाकर श्रीचैतन्य महाप्रभुने रामकेलि नामक ग्रामकी यात्रा की। गङ्गातटपर ताराभरी रातम मलयानिलसम्पन्न नीरव उपवनम कदम्बके झुरमुटमे जिस समय रूप और सनातनका महाप्रभु चैतन्य हरिनाम-ध्वनिसे कृतार्थ कर रहे थे, उसी समय उनके छोटे भाई अनुपम अथवा वल्लभके पुत्र जीव गोस्वामीने उनके दर्शन किये और उनके चरणारविन्दमकरन्दकी अमृत-वारुणीसे प्रमत्त होकर अपने-आपका पूर्णरूपसे समर्पण कर दिया। उनकी अवस्था अल्प थी, पर भक्ति-माधुरीने उनके जीवनको बदल दिया।

वृन्दावनसे अनुपम (वल्लभ) नीलाचल आय, वहा उनकी मृत्यु हो गयी। पिताकी मृत्युने जीव गास्वामीके हृदयको बडा आघात पहुँचाया। वे आनन्दकन्द नन्दनन्दनकी राजधानी—वृन्दावनमे आनेके लिये विकल हो उठे। एक रात उन्होंने स्वप्नमे श्रीचैतन्य और नित्यानन्द महाप्रभुके दशन किये, वे नवद्वीप चले आये। नित्यानन्दने उन्हें काशी तपनमिश्रके आश्रममे शास्त्र-अध्ययनके लिये भेजा। जीव गास्वामीने मधुसूदन वाचस्पतिसे वेदान्त और न्याय आदिकी शिक्षा पायी। वे शास्त्रमे पूर्णरूपसे निष्णात होकर परम विरक्त सनातन और रूपके पास वृन्दावन चले आये। जीवनके शेष पैंसठ वर्ष उन्होने वृन्दावनमे ही बिताये। श्रीभगवान्‌के स्वरूप तथा तत्त्वविचारमे उन्हाने अपने पाण्डित्यका सदुपयोग किया। रूपने उनको मन्त्र दिया और समस्त शास्त्र पढाये। जीव गोस्वामी पूर्ण विरक्त हो गये तथा भगवती कालिन्दीके परम पवित्र तटपर निवास करने लगे। वे भगवान्‌की उपासना माधुर्य-भावसे करते थे। उनके चरित्र और लीलाको परम तत्त्वका सार समझते थे। रूप गोस्वामीकी महती कृपासे वे धीरे-धीरे न्याय, दर्शन और व्याकरणम पूर्ण पारङ्गत हो गये। उन्होने जीवनपर्यन्त ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया और वृन्दावन-निवासकालमे श्रीरूपगोस्वामिकृत उज्ज्वलनीलमणिकी टीका, क्रमसन्दर्भ नामक भागवतकी टीका, भक्तिसिद्धान्त, उपदेशामृत, षट् सन्दर्भ, गोपालचम्पू, गोविन्दविरुदावली, हरिनामामृत-व्याकरण आदि महान् ग्रन्थाकी रचना की। ये 'षट् सन्दर्भ' ही गोडीयमतानुसार श्रीमद्भागवतकी प्रामाणिक व्याख्या ह। श्रीजीव गास्वामीके ये सभी ग्रन्थ 'अचिन्त्यभेदाभेद' मतके अनुसार लिखे गये हैं।

एक बार वल्लभभट्ट नामक एक दिग्विजयी पण्डितने रूपकी किसी कृतिमे दोष निकाला और घोषणा कर दी कि रूपने जयपत्र लिख दिया। जीवके लिये यह बात असह्य हो गयी, उन्होने शास्त्रार्थमे वल्लभको पराजित किया। रूपको जब यह बात विदित हुई तब उन्हाने जीवको अपने पाससे अलग कर दिया। वे सात-आठ दिनतक एक निर्जन स्थानमे पडे रहे। सनातनने रूपसे पूछा कि जीवके प्रति वैष्णवका कैसा व्यवहार होना चाहिये। रूपने कहा—'दयापूर्ण।' सनातनने कहा—'तुम जीव गोस्वामीके प्रति इतना कठोर व्यवहार क्यो करते हो?' रूपके हृदयपर बडे भाईके कथनका बडा प्रभाव पडा। उन्हाने जीवको बुलाकर गले लगाया और अपने पास रख लिया। रूप और सनातनके बाद जीव ही वृन्दावनके वैष्णवाके सिरमौर घोषित किये गये।

जीव गोस्वामीने भक्तिको रस माना है। वे रसोपासक और विरक्त महात्मा थे। भक्तिसे ही भगवत्स्वरूपका साक्षात्कार होता है। जीव गास्वामीकी मान्यता थी कि भजनानन्द स्वरूपानन्दसे विशिष्ट है। भजनानन्दसे भगवान्‌की भक्ति मिलती ह, स्वरूपानन्द ब्रह्मत्वका परिचायक है। उन्हाने भक्तिको ज्ञानसे श्रेष्ठ स्वीकार किया है। भक्ति भगवान्‌की ओर ले जाती है, ज्ञान ब्रह्मानुभूति प्रदान करता है। श्रीमद्भागवतको उन्होने सर्वश्रेष्ठ भक्तिशास्त्र माना है।

आश्विन शुक्ल तृतीयाको शाक १५४० मे पचासी सालकी अवस्थामे उन्हाने देहत्याग किया। वे महान् दार्शनिक पण्डित और भक्तियोगके पूर्ण मर्मज्ञ थे। महात्मा, योगी, विरक्त और प्रेमी भक्त—सबके सहज समन्वय थे।

प्रेमी भक्तोके भगवत्प्रेमकी विचित्र झॉकी

[पुण्डलिककी कथा]

(श्रीगोविन्दराजारामजी जोशी)

दक्षिण भारतमे लोहदण्ड नामक नगरमे जानुदेव नामका एक शिवपूजक विद्वान् ब्राह्मण रहता था। वह सदाचारसम्पन्न तथा शील एव विनयसे युक्त था। उसकी पत्नी भी धार्मिक और सात्त्विक गुणासे युक्त थी। उसके पुण्डलिक नामक एक पुत्र हुआ। उपनयनके बाद पिताने पुण्डलिकके विद्याध्ययनकी समुचित व्यवस्था कर दी, किंतु उसका मन विद्याग्रहणमे नहीं लग रहा था।

पिताने सोचा कि हो सकता है विवाहके बाद यह सुधर जाय। अत उसने पुण्डलिकका विवाह कर दिया। पर विवाहके बाद तो उसकी प्रवृत्तिमे इतना बदलाव हुआ कि वह पत्नीको ही सर्वस्व समझने लगा और माता-पिताका अनादर करने लगा। उसकी पत्नी भी पतिकी आज्ञाके अनुसार व्यवहार करने लगी।

माता-पिता वृद्ध हो चुके थे, उस समय उन्हे पुत्र और पुत्रवधूके सेवा-सहयोगकी नितान्त आवश्यकता थी, पर ऐसा न हो सका। अत माता-पिता दु खी रहते थे। ऐसे ही कुछ समय व्यतीत हुआ।

एक दिन कुछ यात्री काशी जा रहे थे। वे लोहदण्ड नगरमे आये। तीर्थयात्रियोमे युवा पुरुष, स्त्रियाँ, वृद्ध आदि सभी समाविष्ट थे। पुण्डलिकके माता-पिताने भी उससे कहा कि वह भी उन्हे इनके साथ काशी-यात्रा करा दे तो उनका जीवन कृतकृत्य हो जायगा। पुण्डलिक स्वय पत्नीके साथ काशी-यात्रा करनेकी सोच ही रहा था। अत उसने माता-पिताको भी यात्राकी अनुमति दे दी।

यात्रियोका समूह काशी-यात्राका मार्ग तय करने लगा। पुण्डलिक भी अपनी पत्नी तथा माता-पिताके साथ उनके साथ हो गया। वृद्ध होनेके कारण पुण्डलिकके माता-पिताका चलनेमे कठिनाई हो रही थी और वे दिंडीर वनतक ही साथ आ सके। उसके बाद पुण्डलिकने उनको छोडकर पत्नीके साथ आगेकी यात्रा आरम्भ की।

यात्रियोके साथ चलनेमे जब पत्नीको भी कठिनाई होने लगी, तब पुण्डलिकने मोहवश उसे कन्धेपर बिठा लिया और सबके साथ चलने लगा, किंतु असावधानीसे उसका रास्ता बदल गया और वह काशीके दक्षिण भागमे स्थित कुक्कुट द्विजके आश्रममे आ गया। आश्रमका वातावरण सुरम्य था। बगीचे फूलोसे भरे हुए थे। निर्मल निर्झर बह रहे थे। वृक्षोपर कोयल कूक रही थीं। मयूर नाच रहे थे। यह सब देखकर स्वर्गिक सुखका आभास हो रहा था। आश्रमकी शान्ति और पवित्रता वहाँके दिव्यत्वका साक्ष्य दे रही थी। थक जानेके कारण पुण्डलिककी पत्नी सो गयी, किंतु पुण्डलिकको नींद नहीं आ रही थी। अचानक उसने देखा कि आश्रममे कुछ कृष्णवर्णा स्त्रियाँ प्रविष्ट होकर सब प्रकारके कार्य करने लगीं। कुछ स्त्रियाँ सम्मार्जनकार्यमे लगीं, कुछ कपडे धोनेमे और कोई पात्र साफ करने लगीं। इस प्रकार जब आश्रमका सारा कार्य पूर्ण हो गया तो उन सभी कृष्णवर्णवाली स्त्रियोका रंग बदल गया और वे श्वेतवर्णवाली हो गयीं। जब वे स्त्रियाँ आश्रमको वन्दन करके जाने लगीं तब पुण्डलिकने उन्हे प्रणाम किया और उनसे पूछा—आपलोग कौन हैं तथा आपमे यह अन्तर किस प्रकारकी साधनासे हुआ है? उन देवियोने बताया कि हम भारतकी पवित्र गङ्गा, सिन्धु, सरस्वती और यमुना आदि नदियाँ हैं। तुम्हारे-जैसे स्त्रीलम्पट विषयी तथा पापी लोगोको हमारे ही जलमे स्नान करनेसे पवित्रता प्राप्त होती है, किंतु हम यहाँ पुण्यवान् कुक्कुट द्विजके आश्रममे सेवा करके अपने-आपको धन्य समझती हैं, क्योकि ये द्विज अपने माता-पिताकी सेवाके कारण महान् हो गये हैं। यह उनकी मातृ-पितृभक्तिका ही प्रभाव है*। ऐसा कहकर वे देवियाँ अदृश्य हो गयीं।

इस घटनाका पुण्डलिकके मनपर बहुत गहरा प्रभाव पडा और उसके अन्त करणमे मातृ-पितृप्रेम जाग्रत् हो गया। उसके नेत्र सजल हो उठे और कण्ठ रोमाञ्चसे रुँध गया। वह ग्लानिसे भर गया और अपने माता-पिताको

---

* कुक्कुट ब्राह्मणकी महिमाका एक श्लोक प्रसिद्ध है—

वाराणस्या दक्षिणे भागे कुक्कुटो नाम ब्राह्मण । तस्य स्मरणमात्रेण दु स्वप्न सुस्वप्नो भवेत्॥

इसका भाव यह है कि वाराणसीके दक्षिण भागमे कुक्कुट नामके एक ब्राह्मण रहते हैं जिनके स्मरणमात्रसे दु स्वप्न सुस्वप्नमे बदल जाता है।

खोजने निकला। दिडीर वनमे भीमा नदीके तटपर उसे उनके दर्शन हुए और उन्हे देखते ही वह उनके चरणोमे गिर पडा तथा क्षमा-याचना करने लगा—मै अपराधी हूँ, शिव-पार्वतीके समान पूज्य माता-पिताको छोडकर पत्नीके साथ काशी-यात्राको निकला, यह मेरा अपराध है, आप दोनो मुझे क्षमा कर, क्षमा करे। माता-पिताने पुण्डलिकके सिरपर हाथ रखा, उसका आलिङ्गन किया और उसके सब अपराधाको क्षमा कर दिया।

अब पुण्डलिक वहीं रहकर अपने माता-पिताकी सेवामे रत हो गया। वर्षोतक उसने उनकी अखण्डित सेवा की। उसके लिये अब माता-पिता ही भगवत्स्वरूप हो गये थे।

उसकी मातृ-पितृ-भक्ति देखकर एक दिन स्वय भगवान् विष्णु वैकुण्ठ छोडकर पुण्डलिकके घर आये और उन्होने देखा कि उनका प्रिय भक्त माता-पिताकी अत्यन्त प्रेमपूर्वक सेवा कर रहा है और वे सो रहे हैं। शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और पीताम्बरधारी भगवान् प्रकट होकर भक्त पुण्डलिकसे कहने लगे—वत्स! मैं तुम्हारी भक्तिसे सतुष्ट हूँ। बताओ, तुम्हारी इच्छा क्या है? पुण्डलिकने कहा—भगवन्! मेरे माता-पिता सो रहे हैं, उनकी निद्रा पूरी होनेतक आप यहाँ खडे हो जाइये। ऐसा कहकर उसने उनकी ओर खडे होनेके लिये एक ईट सरका दी और स्वय माता-पिताकी सेवामे लग गया। भगवान् वहीं ईटपर खडे हो गये और अपने भक्तका सेवा-कार्य देखने लगे, क्योकि उनको भक्तके साथ ही रहना पसद है—

नाह वसामि वैकुण्ठे योगिना हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

पुण्डलिक जानता था कि साध्य प्राप्त होनेपर भी साधन छोडना उचित नहीं है और इसी कारण वह माता-पिताकी सेवा पूर्ण हो जानेके बाद ही भगवान्‌की ओर उन्मुख हुआ। अभीतक पुण्डलिककी सेवाके कारण ही प्रेममय भगवान् ईटपर खडे हैं और पुण्डलिकका नाम भी भगवत्प्रेमके कारण ही भगवान्‌के साथ जुड गया है।

अपने माता-पिताको ही भगवद्रूप समझकर उनकी प्रेमपूर्वक सेवा करनेके कारण परब्रह्म परमात्माको भक्तके सामने प्रकट होना पडा और उसकी आज्ञाका पालन करना पडा। भगवान् ईटपर खडे होकर आनेवाले भक्तोपर कृपा करनेके लिये आज भी उद्यत हैं। यह प्रेमका प्रभाव तथा भगवान्‌की अपार करुणा और कृपाका प्रभाव है। इसीको भगवत्प्रेम कहते हैं—

आविर्बभूव य कृष्ण देवक्या ब्रह्मणार्थित ।
स एवास्ते पौण्डरिके भक्तानुग्रहकाम्यया॥

प्रेम परम आधार

(प्राचार्य श्रीसाकेतबिहारीजी शर्मा 'मन्त्रमुदित)

प्रेम परम आधार, प्रेमियो! प्रेम परम आधार॥
इसे 'हृदय की ज्योति' समझिये, 'मगल का आगमन' मानिये।
यह स्वभाव का है बसन्त प्रिय और द्वार उस प्रभु का कहिये।
इससे ही हम सज पाते है अपना यह ससार, प्रेमियो! अपना यह ससार॥
प्रेम परम आधार, प्रेमियो! प्रेम परम आधार॥ १॥
जहाँ-जहाँ यह खिल पाता है, मधुवन वहाँ उतर आता है।
महामोह की निशा बीतकर शान्ति-प्रभात पधर जाता है।
इससे ही हम कर पाते है जीवन का शृगार, प्रेमियो! जीवन का शृगार॥
प्रेम परम आधार, प्रेमियो! प्रेम परम आधार॥ २॥
शबरी, अर्जुन या गज जैसा, या ब्रज की बालाओ जैसा।
चाहे तो सब बन सकते है, कारण प्रभु है प्रेम-पियासा।
इस नौका से कर सकते है यह भव-सागर पार, प्रेमियो! यह भव-सागर पार॥
प्रेम परम आधार, प्रेमियो! प्रेम परम आधार॥ ३॥

'भक्त संग नाच्यौ बहुत गोपाल'

[ओरछानरेश भक्त मधुकरशाहकी भगवन्निष्ठा]

(प० श्रीरविविष्णुजी अवस्थी)

हुकुम दियो है पातशाह ने महीपन को,
माना राव राजन प्रमान लखियतु है।
चन्दन चढ़ाया कहूँ देव पद वन्दन को,
देहो सिर दाग जहाँ रेखा रखियतु है॥

मुगल सम्राट् अकबरके उक्त आदेशकी अवहेलना करते हुए ओरछाधिपति मधुकरशाह जू देव बुन्देला चन्दन-केसरयुक्त तिलकसे मण्डित उन्नत ललाट और कण्ठमे तुलसीकी माला धारण किये जब शाही दरबारमे उपस्थित हुए तो उन्हे देखकर सभी दरबारी नरेश सशंकित हो उठे। तिलकशून्य ललाटोके मध्य मधुकरशाहके तिलकपूर्ण आलोकित ललाटको मणिधरकी उपमा देते हुए कविने आगे लिखा—

सूना कर गये भाल छोड़-छोड़ कण्ठमाल,
दूसरौ दिनेश तहाँ कौन पखियतु है।
सोहत टिकैत मधुशाह अनियारौ जिमि,
नागन के बीच मनियारो देखियतु है॥

कुटिल और कुशल राजनीतिज्ञ अकबरको हिन्दू नरेशोके सम्भावित विद्रोहकी आशङ्कासे भयभीत हो मधुकरशाहकी धर्मनिष्ठाकी सराहनाहेतु बाध्य हो जाना पडा। उसी दिनसे ओरछेशद्वारा लगाये गये तिलककी प्रसिद्धि मधुकरशाही तिलकके रूपमे तथा मधुकरशाहकी प्रसिद्धि 'टिकैत राय' के रूपमे हो गयी।

राधा-माधवके युगलस्वरूपके माधुर्यभावोपासक भक्तशिरोमणि मधुकरशाह नियमितरूपसे प्रातःकाल युगल-किशोरजीके मन्दिरमे दर्शन करने जाते थे और रात्रिमे अपने गुरु हरीरामजी व्यास एव अन्य भक्तोके साथ पाँवमे घुँघरू बाँधकर गायन करते हुए नृत्यलीन हो जाते थे। नृत्य करते-करते बेसुध हो जाना तो उनके लिये एक सामान्य बात हो गयी थी।

एक दिन किन्हीं विषम परिस्थितियोके कारण ओरछामे होते हुए भी वे नित्यकी भाँति रात्रिमे निश्चित समयपर युगलकिशोर सरकारके मन्दिरमे उपस्थित न हो सके। यथासमय सरकारकी शयन-आरतीके पश्चात् मन्दिरके कपाट बन्द हो गये। अधिकाश भक्तजन अपने-अपने घरोको वापस लौट गये। हरीरामजी व्यास कुछ अन्य भक्तोके साथ मन्दिरके बाहर बैठकर ओरछेशके आनेकी प्रतीक्षा करने लगे।

लगभग अर्धरात्रिके समय मधुकरशाह अपने नियमकी पूर्तिहेतु मन्दिर पहुँचे। अपने गुरुजीको प्रतीक्षारत पाकर उन्होने विलम्बसे उपस्थित होनेका स्पष्टीकरण देते हुए क्षमा-याचना की और निवेदन किया कि क्यो न मन्दिरके पिछवाडे चलकर थोडे ही समय कीर्तन कर लिया जाय जिससे सरकारके शयनमे बाधा भी उत्पन्न न हो और नित्य-नियमकी आंशिक पूर्ति भी हो जाय।

उस निस्तब्ध निशामे ऐसा कीर्तन जमा कि सभीके नेत्रोसे प्रेमाश्रुओकी अविरल धारा प्रवाहित होने लगी। 'राधे-राधे' का उद्घोष आनन्दमे कई गुना वृद्धि कर रहा था। मधुकरशाह अपनी विलक्षण प्रीतिधारामे प्रवाहित हो सुध-बुध ही खो बैठे थे। प्रेमी अपने प्रेमास्पदके प्रेममे तल्लीन हो और प्रेमास्पद भक्तवत्सल युगलकिशोर सरकार शयन करते रहे भला यह कैसे सम्भव था?

सहसा मन्दिर पूर्वाभिमुखीके स्थानपर घूमकर पश्चिमाभिमुखी हो गया। मन्दिरके कपाट स्वतः ही अनावृत हो गये और युगलकिशोर साक्षात् प्रकट होकर भक्तोके साथ नृत्य करने लगे। इस अलौकिक दृश्यको देखकर देवताओने आकाशसे पुष्प-वृष्टि की, जो पृथ्वीका स्पर्श पाते ही स्वर्णके हो गये। मधुकरशाह अपने-आपको सरकारके अत्यन्त निकट पाकर प्रेमाश्रु बहाते हुए उनके श्रीचरणोमे लोट गये। अपने अनन्य भक्तके साथ नृत्य करते हुए उसे दर्शन देकर युगलकिशोर अन्तर्धान हो गये।

इस अलौकिक घटनाका साक्षी युगलकिशोर सरकारका वह देवालय महाराज छत्रसालद्वारा युगलकिशोरके श्रीविग्रहको ओरछासे पन्ना ले जाये जानेके कारण रिक्त हो गया। अपने अतीतकी वैभवपूर्ण मधुर स्मृतियोको सँजोये यह ऐतिहासिक देवालय उपेक्षाका शिकार होकर भग्नावस्थामे अब भी ओरछामे विद्यमान है।

युगलकिशोर सरकारकी प्रेमोपासनामे निरन्तर लीन रहते हुए एक दिन मधुकरशाह स्वय प्रभुमे लीन हो गये। भगवत-रसिकरचित 'भक्त-नामावली', राजा नागरीदासरचित 'पद-प्रसगमाला' एव नाभादासजीरचित 'श्रीभक्तमाल'-जैसे ग्रन्थोमे मधुकरशाहको अपनी प्रेमा-भक्तिके कारण ही विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ।

प्रेमसाधनाके पथिक—महात्मा बू अलीशाह कलन्दर

[तुम महबूबमे गुम हो जाओ]

(डॉ० श्रीराजेन्द्ररजनजी चतुर्वेदी पी-एच्०डी० डी०लिट्०)

भारतवर्षके सूफी-सतोमे बू अलीशाह कलन्दरकी गिनती पहली पक्तिमे की जाती है। बू अलीशाहको 'कलन्दरिया-सम्प्रदाय' का प्रवर्तक माना जाता है। 'कलन्दर' शब्द साधनाकी उच्च अवस्थाकी सज्ञा है। फारसीसे आगत इस शब्दका अर्थ है—मुक्त पुरुष।

बू अलीशाह कलन्दर गयासुद्दीन तुगलकके समकालीन थे। इनका जन्म सन् ११९० ई०मे पानीपतमे हुआ था। जनश्रुतिके अनुसार बू अलीशाह कलन्दरके समयमे यमुना पानीपत शहरके बीचसे प्रवाहित होती थी और महात्मा कलन्दरने सात वर्षतक यमुनामे खडे होकर तप किया था। शरफुद्दीन बू अलीशाह कलन्दरकी मृत्यु सन् १३१२ ई०मे हुई। उनकी रचनाओके विषय हैं—मारुफ, हकीकत (सत्यका अनुसन्धान) तौहीद (अनन्यता), तर्के-दुनियाँ (सासारिकताका त्याग), तल्दे आखरत (मृत्युके बाद खुदा तालासे मिलना) और मुहब्बते मौला (ईश्वर-प्रेम)। उनके काव्यमे हमे अद्वैत और प्रेमकी महिमाका बखान मिलता है। पानीपतके सिविल अस्पतालके पीछे सयद रोशन अलीशाहका मजार है और उसके प्रधान हैं—श्रीअताउल्ला कुरैशी। श्रीकुरैशी उर्दू-फारसीके अच्छे जानकार हैं तथा उदार-पन्थी सूफी हैं। उनकी सगतिमे बैठकर मुझे कलन्दर साहबकी शायरीका परिचय प्राप्त करनेका अवसर मिला और जब मैं उनकी शायरीकी तुलना कबीरसे करता हूँ तो मुझे कबीरके दर्शनका एक नया ही स्रोत दिखायी देता है।

कलन्दर साहबका मुख्य सिद्धान्त इश्क है। उन्होने अपने शिष्य बख्तियारुद्दीनको एक पत्रमे लिखा था—'ऐ भाई! आशिक बनो। दोनो जहानोको माशूकका हुस्न समझो और खुदको भी माशूकका ही हुस्न मानो। माशूकने इश्कसे ही तुम्हारा भौतिक अस्तित्व बनाया है ताकि तुम्हारे आईनेमे अपने सौन्दर्यको निहार सके तथा तुम्हे अपने रहस्योका ज्ञाता बनाये रखे। आशिक बनकर जब माशूकको बगलमे दबाओगे तो हुस्नका दीदार अपने ही दिलके आइनेमे कर सकोगे। ये दुनियावी आशिक जो दुनियाके हुस्नपर लट्टू हो गये हैं, इश्ककी भूलभुलैयामे बिलकुल खो गये हैं उनको बिलकुल नहीं सूझता कि इस पूरी दुनियामे हकीको महबूबका कब्जा है, जो जिस तरह चाहता है करता है और जिस तरह चाहेगा वैसा करेगा। किसीको भी उसकी मशामे दखल देनेका कोई हक नहीं है।'

प्रेमकी महिमाको बखानते हुए कलन्दर साहब फरमाते हैं—

सरमद गिला इख्तसार मी बायद कर्द,
यक कार अर्जी दोकार बायद कर्द।
या सरबजा ए दास्त मी बायद दाद,
या कता नजर अज यार बायद कर्द॥

अर्थात् इश्कमे अपनी तमन्ना ही कुरबान नहीं की जाती, सिर्फ यही माँग नहीं होती कि आशिक (प्रेमी, भक्त) मर्जी-ए-महबूबको अपनी रजा बना ले, बल्कि मुतालबा यह है कि आशिक अपनी अनानीयत (अहकार)-को खत्म कर दे, अपने अस्तित्वको समाप्त (समर्पण) कर दे।

वे कहते हैं कि तुम अपनी हस्ती और अपनी शख्सियतको खत्म कर दो, बस यही है कमाल।

कलन्दर साहबने मुख्यरूपसे फारसीमे काव्य-रचना की है, यूसुफ मुहम्मद शाहने 'कलाम-ए-कलन्दरी' मे उनके काव्यका सकलन किया है। उनके काव्यका सदेश है—'तुम महबूबमे गुम हो जाओ यही है विसाल और बस।' उनका एक शेर है—

तू तुई के यार गरदद यार तू,
चूँ न बाशी यार गरदद यार तू।
तू मबाश असला कमाल ई सत्ता बस,
तू दर्दे गम तू विसाल ई सत्ता बस॥

अथात् तू जबतक अपनी तुई (अपनी खुदी—अहता-ममता)-को बाकी रखे हुए है, यार तबतक यार कैसे हो सकता है। जब तू तू न रहेगा तब यार यार हो सकता है।

कलन्दर साहबके विचारसे 'अगर आशिकके दिलोदिमागमे 'मैं' का तसव्वुर बाकी है तो वह सच्चा

आशिक नहीं है, छल है। इश्क और मैं—ये विरोधी बात है। जबतक मै बाकी है, गरूर मौजूद है, तबतक परमात्माका खयाल नहीं आ सकता। जब दिलमें इश्क पैदा होगा तभी जज्बा-ए-हुस्न (सौन्दर्य)-का साक्षात्कार होगा और जब नजरोंके सामने सौन्दर्य बिखर जायगा, तभी माशूकको पहचाना जा सकेगा और तभी सही आशिक बना जा सकेगा। इस प्रकार कलन्दर साहब प्रेम-मार्गसे अद्वैत-जैसी स्थितिमें पहुँचते हुए कहते हैं—

यार रा वी दर आईना तू दर हर आईना,
सोज़ो साज ऊ अस्त दर बर तन तना।
हर चे बीनी दर हकीकत जुमला ओस्त,
शम्मो गुल परवाना बुलबुल हम अज़ोस्त॥

अर्थात् दोस्तको देखना चाहता है तो देख, हर शीशेमें उसीका अक्स है, आवाज भी उसीकी है, दर्द भी उसीका है और सितारका स्वर भी उसीका है। समाँ, फूल, बुलबुल तथा परवाना—तू जो देख रहा है वास्तवमें सब कुछ वही तो है, सब वही है।

कलन्दर साहब कहते हैं—'जहाँ कातिलको बद्दुआओंके बजाय दुआएँ दी जाती हों, ऐसे मुकामपर कोई कलम-दवात लाकर क्या करेगा? कोई वह कागज लायेगा कहाँसे कि इश्ककी तफसीर लिख सके?'

कलन्दरकी कविताओंकी तुलना कबीरसे की जा सकती है। कलन्दर साहब कहते हैं—

हर के शुद दर बहरे इरफा आईना।
ज़र्रा ज़र्रा कतरा दानद अज़ खुदा॥

अर्थात् भक्तिके मार्गमें जिसका दर्पणके समान स्वच्छ हृदय है, उसे कण-कणमें खुदाका दीदार होने लगता है।

नफ्स आब चूँ हुबाब सत जिस्मे तो।
आब चूँ गरदी न मानद जिस्मे तो॥

पानीकी लहर जैसे पानीसे अलग नहीं है, दर हकीकत वैसे ही हम महबूबसे अलग नहीं हैं। आत्मा पानी है और शरीर बुलबुला है। शरीर न रहेगा तो तू पानी-ही-पानी है।

गश्त वासिल चूँ ब दरिया आबे जू।
आबे जू रा वाज अज़ दरिया मजू॥

अर्थात् नदीका पानी जब समुद्रमें मिल गया, तब फिर तू वहाँ नदीका पानी न ढूँढ।

अमीर खुसरो जब अलाउद्दीन खिलजीके भेजे उपहार लेकर शाह-ए-कलन्दर बू अलीकी सेवामें पानीपत आया था, उस समय कलन्दर साहब गा रहे थे—

बहीम खुसरवाँ बरआँ केले अस्त रस्त।
खुसरो कसे के खलअत एतजरीद दर बरस्त।

अर्थात् जिसने अकिञ्चनताका राज्य पा लिया है, उसके लिये बादशाहोंके ताज जूतियोंके तले-बराबर हैं।

बू अलीशाह कलन्दरके कुछ दोहे फारसी लिपिमें संकलित किये गये थे, उसका एक नमूना है—

सजन सकारे जायँगे नयन मरेंगे रोय।
बिधना ऐसी रैन कर भोर कदी ना होय॥

देशप्रेमके दो अनूठे बलिदानी

(श्रीमदनमोहनजी शर्मा एम्०ए० एल्०टी० साहित्यरत्न)

'प्रेमका विषय इतना गहन और कल्पनातीत है कि उसकी तहतक विद्वान् और ज्ञानी भी नहीं पहुँच सकते। अन्तःकरणमें जब प्रेम-रसकी बाढ़ आती है तो मनुष्यके सम्पूर्ण अङ्ग पुलकित हो उठते हैं और हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। सच्चे प्रेममें स्वार्थकी गन्ध नहीं होती। जो भाग्यवान् पुरुष भगवान्‌के प्रेममें विह्वल होकर देहसे परे हो जाते हैं, उन्हें देहका कोई मोह नहीं रहता। भगवत्प्रेमीके सम्बन्धमें कही गयी यह बात देशप्रेमीपर भी बिलकुल खरी उतरती है। देशप्रेमसे ओत-प्रोत व्यक्तिका अपने देशसे अटूट सम्बन्ध होता है।

आइये! इस सन्दर्भमें अंग्रेजीशासनसे लोहा लेनेवाले उन अनगिनत देशप्रेमियोंमेंसे एक-दोकी चर्चा करें, जिससे हमें ज्ञात होगा कि आजादीके दीवानोंके लिये अपने वतनसे बढ़कर और कुछ हो ही नहीं सकता।

(१) अमरशहीद राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी

१७ दिसम्बर सन् १९२७ ई० का वह दिन जब जिला-जेल गोण्डामें राजेन्द्रनाथ लाहिड़ीको फाँसी दी गयी थी। फाँसीपर चढ़नेसे एक घंटे पहले लाहिड़ीजीने शान्तभावसे

स्नान किया, गीताका पाठ और नित्यकी भाँति व्यायाम भी किया। उसके पश्चात् कपडे पहनकर मजिस्ट्रेटसे कहा—'मैं समझता हूँ कि मुझे देर नही हुई है'— और ऐसा कहते हुए वे कोठरीसे बाहर आकर मजिस्ट्रेटके सङ्ग हो लिये। मजिस्ट्रेटने फाँसीघरकी ओर चलते-चलते राजेन्द्रनाथ लाहिडीसे पूछा—'मिस्टर लाहिडी! आपको यदि एतराज न हो तो मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ।' राजेन्द्र लाहिडीद्वारा सहमति जतानेपर मजिस्ट्रेटने कहा—'मैं लगभग ४५ मिनटसे आप जो कुछ भी कर रहे थे, उसे देख रहा था। आपने स्नान किया, बिलकुल स्वाभाविक था, आपने गीताका पाठ किया, वह भी स्वाभाविक था, क्योकि मानसिक तौरसे आप अपने-आपको आनेवाली घटनाके लिये तैयार कर रहे थे, किंतु मैं यह नहीं समझ सका कि आपने व्यायाम क्यो किया? इसकी क्या उपयोगिता थी?' इसपर लाहिडीजीने अत्यन्त शान्तभावसे उत्तर दिया—'आपके प्रश्नाका उत्तर देना कोई कठिन नहीं। आप जानते हैं कि मैं हिन्दू हूँ और हिन्दू होनेके नाते मेरा यह दृढ विश्वास है कि मैं मरने नहीं जा रहा हूँ, बल्कि अपनी मातृभूमिको स्वतन्त्र करानेका जो-जो कार्य अधूरा रह गया है, उसे पूर्ण करनेके लिये पुनर्जन्म लेने जा रहा हूँ। मेरा अन्तिम सन्देश मेरे देशवासियोके लिये यही है।'

(२) अमरशहीद वैकुण्ठनाथ शुक्ल

१४ मई सन् १९३३ ई०को गया-जेलमे हँसते-हँसते फाँसीके फन्देको चूमनेवाले अमरशहीद वैकुण्ठनाथ शुक्लका फाँसीसे चन्द मिनटपूर्वका जो चित्र क्रान्तिकारी लेखक श्रीरामदुलारे त्रिवेदीने अपनी लेखनीद्वारा अङ्कित किया है, वह अत्यन्त ही रोमाञ्चकारी है—'वन्दे मातरम्' 'भारतमाताकी जय' का उद्घोष करते, मन्द-मन्द मुसकराते, जल्दी-जल्दी कदम बढाते हुए वैकुण्ठनाथ शुक्ल फाँसीके मञ्चपर चढ गये। फाँसीका फन्दा गलेमे डाले जानेसे पहले जल्लाद प्राणदण्ड पानेवालेके मुखपर काला टोपा पहना देता है—यही प्रक्रिया अपने साथ होते देखकर वैकुण्ठनाथ शुक्लने कहा—'इसकी कोई जरूरत नहीं है, मैं स्वय अपने गलेमे फाँसीका फन्दा डाल लूँगा।' —यह कहते हुए वे मुसकरा रहे थे कि न जाने किस प्रेरणाके वशीभूत होकर ऐंग्लो-इण्डियन जेल सुपरिण्टेण्डेन्ट 'पेरेराने' रुमाल हिलाकर धीमी आवाजमे जल्लादसे कहा—'मत डालो, रहने दो।' किंतु आश्चर्यकी बात, पत्थरहृदय माना जानेवाला जल्लाद भी उस समय दग होकर चकित दृष्टिसे वैकुण्ठनाथ शुक्लको फाँसीका फन्दा पहने फूल-सी हँसी हँसता देख खडे-का-खडा रह गया। तब वैकुण्ठनाथ शुक्लने उसे पुकारा—'देर क्यो करते हो, अपना काम करो।' जल्लादने लीवर खीचा और मृत्युञ्जयी वीर वैकुण्ठनाथ शुक्ल फाँसीके झूलेपर सदाके लिये झूल गये।

ऐसी अनेक क्रान्तिकारी गाथाओसे इतिहासके पन्ने भरे पडे हैं, जिन्हे पढकर आश्चर्ययुक्त रोमाञ्च हो जाता है।

इन क्रान्तिकारियाके मनमे अपने देशके प्रति अगाध प्रेमकी भावना भरनेका काम जिन्हाने अपनी लेखनीसे किया, उनका देशप्रेम भी उच्च कोटिका रहा है। अरविन्द घोष-सरीखे महामनीषीने अपने लेखाके माध्यमसे देशकी आजादीके लिये मतवाले नवयुवकाको समझाया कि मानवको पथभ्रष्ट करनेवाली पाश्चात्त्य भौतिकवादी सस्कृतिके अतिरिक्त भारतकी अध्यात्ममुखी सस्कृतिको अपनाना ही श्रेयस्कर है। उन्हाने नवयुवकामे गीता पढनेकी प्रेरणा जाग्रत् की, जिसके फलस्वरूप वे आत्माकी अमरताके सिद्धान्तको हृदयङ्गम करके हँसते-हँसते फाँसीके तख्तेपर चढ गये। सच है कि देशप्रेमकी उदात्त भावनासे जो ओतप्रोत हैं उनके लिये बडे-से-बडा सुख भी तुच्छ ही है—

जो भरा नहीं है भावासे बहती जिसमें रसधार नहीं।
वह हृदय नहीं है पत्थर है जिसमे स्वदेशका प्यार नहीं॥

त्वन्नामकीर्तनसुधारसपानपीनो दीनोऽपि दैन्यमपहाय दिव प्रयाति।
पश्चादुपैति परम पदमीश ते चैतद्भाग्ययाग्यकरण कुरु मामपीश॥
(आदित्यपुराण)

'दीन—दु खी मनुष्य भी तुम्हारे नाम-कीर्तनरूप सुधारसक पानसे पुष्ट होकर दीनता त्याग दिव्य-लोकामें चला जाता है और वहाँके भोगाको चिरकालतक भागकर फिर ह स्वामिन्! वह आपके परमपदको पा लता है। ह प्रभो! मुझे भी ऐसा बना दाजिये, जिससे मेरी वाणी आदि इन्द्रियाँ इस प्रकारका सौभाग्य प्राप्तकर धन्य हा सक।'

भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य प्रेमी कुछ गैर हिन्दू भक्तजन

(गोलोकवासी भक्त श्रीरामशरणदासजी 'पिलखुवा')

[भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीमद्भागवत तथा श्रीमद्भगवद्गीताके दिव्य प्रेमतत्त्वने हिन्दुओको ही नहीं, अनेक अग्रेजो तथा मुसलमानाको भी प्रभावित कर उन्ह श्रीकृष्ण-प्रेमम आवद्ध कर लिया था। सनातन-धर्मके अनन्य सेवक तथा सत-साहित्यके सुविख्यात लेखक गोलोकवासी भक्त श्रीरामशरणदासजीने ऐसे ही अनेक विदेशी भगवत्प्रेमी भक्तजनोके पावन चरित्रोका सकलन किया था। उनमेसे कुछको यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—स०]

[१]

श्रीरोनाल्ड निक्सन बने श्रीकृष्णप्रेम-भिखारी*

ब्रिटेनम जन्मे श्रीरोनाल्ड निक्सन अपने देशकी सेनामे भर्ती हुए थे। उन्होने युद्धमे भाग लेते समय अनुभव किया कि मानव-जीवनका लक्ष्य आध्यात्मिक उन्नतिम ही निहित है। उसे भौतिकवादी वस्तुओकी उपलब्धिमे लगाना कोरी मूर्खता ही हे। युद्ध तथा हिसासे ऊबकर वे भगवान् बुद्धके दर्शनकी ओर उन्मुख हुए। बादम श्रीमद्भगवद्गीताका अध्ययन कर उन्हाने अपना समस्त जीवन श्रीराधा-कृष्णकी भक्ति तथा वैष्णवधर्मके प्रचार-प्रसारके लिये समर्पण कर दिया। सुविख्यात शिक्षाविद् डॉ० ज्ञानेन्द्रनाथ चक्रवर्ती इग्लैण्ड गये हुए थे। वहीं रोनाल्ड निक्सनकी उनसे भेट हुई। श्रीचक्रवर्तीके परामर्शपर वे अपना देश छोडकर भारत आ गये। कुछ दिन लखनऊमे श्रीचक्रवर्तीके साथ रहे। बादम महामना प० मदनमोहन मालवीयजी महाराजने उन्ह काशी हिन्दू विश्वविद्यालयम मनोनीत कर दिया।

श्रीज्ञानेन्द्रनाथ चक्रवर्तीकी धर्मपत्नी यशोदा परम भागवत विदुषी महिला थीं। श्रीरोनाल्ड निक्सनने उनक पावन सानिध्यम रहकर भगवान् श्रीकृष्ण-राधाजीके दिव्यातिदिव्य प्रमकी अनुभूति प्राप्त की। यशोदामाईको अपना गुरु बनाया तथा उनसे दीक्षा ली। यशोदामाईने रानाल्ड निक्सनको 'श्रीकृष्णप्रेम-वैरागी' नाम दिया।

वे जिन दिना काशी हिन्दू विश्वविद्यालयम अध्यापन-कार्य करते थे (सवत् १९८५ म) उन दिना 'कल्याण' के 'भक्ताङ्क' विशेषाङ्कके लिये सामग्री-सकलन करते समय पूज्य भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पाद्दारसे उनकी काशीम भट हुइ। उन्हाने भाइजीको 'ज्ञान और भक्ति' शीपकसे एक सुन्दर लेख विशपाङ्कके लिये लिखकर दिया। भाईजीने उस समय यह स्वीकारा था कि श्रीकृष्णप्रेमजीको श्रीमद्भगवद्गीताका गहन अध्ययन है।

श्रीकृष्णप्रेमजीने गीताका अग्रेजीम अनुवाद किया। श्रीमद्भागवतमे वर्णित भगवान्की वाल-लीलाओका अलगसे अनुवाद किया। वे सिरपर लम्बी चोटी रखते थे ओर माथेपर वैष्णव तिलक लगाते थे। गलेम सोनेकी एक डिब्यियाम गीताजीकी छोटी-सी प्रति श्रद्धा-भावसे धारण किये रहते थे।

श्रीकृष्णप्रेमजीने अपने गुरु यशोदामाईके साथ श्रीवृन्दावनधाममे रहकर अधिक समयतक उपासना-साधना की तथा श्रीमन्माध्वगोडेश्वराचार्य गोस्वामी बालकृष्णजी महाराजके श्रीचरणाम बैठकर धर्मशास्त्राका अध्ययन किया।

बादम उन्हाने अल्मोडा जिलेके मीरतोला नामक सुन्दर गाँवम एक आश्रमकी स्थापना की। उसे 'उत्तर वृन्दावन' नाम दिया। इस आश्रमम श्रीराधा-कृष्णका सुन्दर मन्दिर बनवाया तथा एक गाशालाकी स्थापना की। श्रीकृष्णप्रेमके अनेक अग्रेज भक्त भी वहाँ वैष्णव-धर्मकी दीक्षा लेकर विरक्त जीवन विताने आ गये थे। वे अपने हाथासे भगवान् श्रीबालकृष्ण और गायाकी सेवा करते थे। शेष समय शास्त्राध्ययन तथा लेखन-कार्यमे विताते थे। जब वे हाथाम मजीरे लेकर भगवान्के प्रेममे निमग्न होकर सकीर्तन और नृत्य करते तो अल्मोडा-क्षेत्रका यह स्थल साक्षात् वृन्दावनका रूप धारण कर लेता था।

समय-समयपर हम श्रीकृष्णप्रेमजीके दर्शनका, उनके सस्मरण सुननेका परम सोभाग्य प्राप्त होता रहता था। वे महान् सत श्रीउडियाबाबाजी महाराज और श्रीहरिबाबाजी महाराज-जैसे सताके प्रति अगाध श्रद्धा-भावना रखते थे।

* श्रीकृष्णप्रमजी जाने-माने अग्रज श्रीकृष्ण-भक्त थे। व रानाल्ड निक्सनसे 'श्रीकृष्णप्रम' बने। अपना दश तथा वेश-भूषा त्यागकर परम वैष्णव बन अल्मोड़ाके निकट उत्तर वृन्दावन बसाकर जोवनपर्यन्त श्रीकृष्णके प्रेममें निमग्र रहे। उन्हाने श्रीमद्भगवद्गीता आदिका अग्रेजीमें अनुवाद किया।

महामना प० मदनमोहन मालवीयजी महाराज श्रीकृष्णप्रेमकी निश्छल भक्ति-भावना तथा विद्वत्तासे बहुत प्रभावित थे।

[२]

श्रीकृष्ण-भक्त अग्रेज डॉ० डेविडसन

लगभग सन् १९१८ ई० की बात है, बाबूगढ (जिला मेरठ)-मे एक अग्रेज डॉ० डेविडसन, मेडिकल अफसर होकर आये थे। डॉ० डेविडसन साहब बडे ही मिलनसार, सज्जन और सात्त्विक विचाराके श्रीकृष्ण-भक्त पुरुष थे। उनके सम्बन्धम यह बात बडी प्रसिद्ध थी कि उन्हाने अपनी श्रीकृष्ण-भक्ति, श्रीकृष्णनाम-जप और श्रीकृष्ण-प्रार्थनाक बलपर अलोकिक सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हैं। डॉ० डेविडसनके कमरेम मनुष्यके बराबर आकारवाली भगवान् श्रीकृष्णकी एक बहुत ही सुन्दर प्रतिमा थी और वे उस प्रतिमाके सामने खडे होकर प्रेमगमे विभोर हो नृत्य करते हुए श्रीकृष्ण-कीर्तन किया करते थे। श्रीकृष्ण-कीर्तनमे उनकी इतनी तन्मयता हो जाती थी कि वे अपने शरीरतककी भी सुध-बुध खो बैठते थे।

हापुड-निवासी वैद्यराज पण्डित श्रीमुकुन्दलालजी शर्माका श्रीकृष्ण-भक्त डॉ० डेविडसनसे बडा प्रेम था। एक दिन श्रीमुकुन्दलालजी अपने कुछ मित्राको साथ लेकर डॉ० डेविडसन साहबसे मिलनेके लिये बाबूगढ गये। सबने जाकर क्या देखा कि साहबका कमरा अदरसे बिलकुल बद है और कुछ-कुछ गानेकी-सी वाणी सुनायी पड रही है। वे कमरेके पीछेकी ओर गये और जँगलेसे झाँककर देखा तो उन्हे उस कमरेमे एक मनुष्यके बराबर आकारवाली भगवान् श्रीकृष्णकी बडी सुन्दर प्रतिमा स्थापित दिखायी दी। डॉ० डेविडसन साहब भगवान् श्रीकृष्णका कीर्तन कर रहे थे। इन्होने समझा कि 'अग्रेजलोग शराब पीते ही ह, आज डॉ० डेविडसनने शायद ज्यादा शराब पी ली है आर उसीके नशेम नाच-कूद रहे हैं। इसलिये अब इनसे मिलना और बात करना उचित नहीं है।' ऐसा अपने मनम विचारकर वे लोग वहाँसे चुपचाप चल दिये।

साहबको श्रीकृष्णनाम-जप, श्रीकृष्ण-नाम-कीर्तन और श्रीकृष्ण-प्रार्थनाके द्वारा दूसराके मनकी बात जान लेनेकी अद्भुत शक्ति प्राप्त हो चुकी थी। इसलिये वे इनके मनकी बात भलीभाँति जान गय। ये लोग अभी कुछ ही दूर गये हागे कि साहबने झटसे अपना कमरा खोलकर चपरासीको सकेत करके कहा—'सामन जानेवाले उन व्यक्तियाको हमारे पास बुला लाओ।' चपरासीके बुलानेपर पण्डित श्रीमुकुन्दलाल शर्माजी अपने साथियाके साथ वापस लौट आये। डॉ० डेविडसन साहबने उनसे पूछा कि 'बताइये, आपने क्या देखा है और क्या समझा ह?'

इसपर मुकुन्दलालजीने कहा कि 'साहब! हमने कुछ नहीं समझा है।'

डेविडसन साहबने कहा—'शायद आपलोगाको यह भ्रम हुआ है कि आज साहब शराब अधिक पी गये हैं और शराबके नशेम ही झूम रहे हैं, पर ऐसी बात नहीं है, यह आपका भ्रम ही है।'

डॉ० साहबद्वारा अपने मनकी बात सुनकर सभी दग रह गय ओर उन्होने कहा कि 'जी हाँ साहब! वास्तवमे हमारे मनम यही बात आयी थी जो आप कह रहे हैं, पर आपको हमारे मनकी बात मालूम केसे हो गयी?'

डॉ० साहबने कहा—'अच्छा, अब आप सब मेरे इस कमरेम आइये।' वे सबको अपने साथ कमरेम ले गये और अदर ले जाकर दिखाया कि सगमरमरकी बडी सुन्दर भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य प्रतिमा वहाँ विराजमान है, वह बहुत ही सुन्दर वस्त्राभूषणा ओर पुष्पहारासे सुसज्जित है। फिर साहबने कहा कि 'शर्माजी!' मैं इन्हीं अपने परम इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णके सामने खडा होकर नृत्य-कीर्तन कर अपने प्रभु भगवान् श्रीकृष्णको रिझा रहा था आर इस श्रीकृष्ण-प्रेमकी मादकतामे झूम रहा था, अन्य कोई बात नहीं थी।'

एक विदेशी और विधर्मी अग्रेजक कमरेमे भगवान् श्रीकृष्णकी सुन्दर प्रतिमाको देखकर तथा उनके मुखसे श्रीकृष्ण-भक्तिकी सुन्दर मीठी रसीली बात सुनकर सभी आश्चर्यचकित रह गये एव सभीका हृदय गद्गद हो गया और वे अपनेको कृतकृत्य मानने लगे।

श्रीकृष्ण-भक्त अग्रेज डॉ० डेविडसन साहब मास-मदिराका खाना-पीना तो दूर रहा, स्पर्श करना भी बडा घोर पाप मानते थे। आप एक परम वैष्णव बन गये थे। वेदामे तथा हिन्दू-धर्मके अन्य ग्रन्थामे आपकी बडी आस्था थी। आप हिन्दू सनातनधर्मको ही सर्वश्रेष्ठ ओर एकमात्र पूर्ण धर्म मानते थे। आपको श्रीकृष्ण-भक्तिका यह अद्भुत चस्का सर्वप्रथम अफ्रीकामे लगा था ओर कुछ दिनाके पश्चात् परम पवित्र श्रीमथुरापुरीमे आनेपर तो आपपर श्रीकृष्णभक्तिका

पूरा-पूरा रग चढ गया। जवतक आप जीवित रहे, श्रीकृष्ण-भक्तिम तल्लीन रहे ओर नित्यप्रति अपने परम इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्तिके सामने खड होकर नृत्य-कीर्तन करते रहे।

[३]

श्रीकृष्ण-भक्त बहन रेहाना तेय्यबजी

मैंने गॉधीजीकी सुप्रसिद्ध शिष्या एव विख्यात देशभक्त अब्बास तेय्यबजीकी सुपुत्री स्व० बहन कुमारी श्रीरेहाना तैय्यवजीकी श्रीकृष्ण-भक्तिके विषयम वडी चर्चा सुनी थी। हमारा मन बरवस उनके दशनाके लिये लालायित हो उठा। मॅने उन्ह एक पत्र लिखा कि हम आपसे भेट करना चाहते ह। इसपर वहन रेहानाजीने मुझे १२ जून सन् १९६२ ई० को दिनके ११-३० बजेसे १२-३० बजे मध्याह्नतकका समय दे दिया।

में अपने पुत्रको लेकर पिलखुवासे दिल्ली स्थित काका साहव कालेलकरके निवासस्थानपर जा पहुँचा ओर ११ बजेसे लगभग आधा घटेतक हम काका साहबसे विभिन्न विषयापर चर्चा करते रहे।

श्रीकृष्ण-भक्तिका अद्भुत दृश्य—निश्चित समय ठीक ११-३० बजे हम श्रीरहाना वहनके कमरेम प्रविष्ट हुए। सामने लकडीकी एक चाकीपर बहन रेहानाजी वठी हुई थीं ओर उनके समक्ष थी भगवान् श्रीकृष्णकी एक वडी ही मनमोहिनी प्रतिमा जिसके ऊपर उन्हाने सुगन्धित पुष्प भी चढा रखे थे। पासमे पूजाकी घटी रखी हुई थी। भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्तिके समीप ही वे बेठी थीं। पासम ही श्रीमद्भगवद्गीता, उपनिषद् आदि ग्रन्थ रखे हुए थे। एक अहिन्दू-परिवारम जन्म लेकर भी भगवान् श्रीकृष्णकी उपासना ओर हिन्दू-धर्मग्रन्थाका स्वाध्याय एव भगवान् श्रीकृष्णकी मूर्तिकी पूजा करते देखकर श्रद्धासे हमारा सिर उनके चरणाम झुक गया।

हम अपने साथ कुछ फल भी ले गये थे। हमने उन्ह उनके सामने रख दिया। वे झट उठीं और उन्हाने उन फलाको अपने परम इष्टदव भगवान् श्रीकृष्णक सामने अर्पण करक उनम तुलसापत्र छाडा आर फिर अपनी आँख वदकर भगवान्‌का भाग लगानेका मन्त्र पढा, घटी वजायी आर वेठ गयीं। उन्हाने फल-प्रसाद सभी उपस्थित लागाको चाँट दिया।

योगी ओर भोगीका अन्तर—वार्ताक मध्य हमने प्रश्न किया—आपकी दृष्टिम देशम दिनादिन वढ रही नास्तिकता एव अशान्तिका मूल कारण क्या हे?

इसपर वे बडी गम्भीर होकर बोलीं 'भाईसाहब! जव योगी भोगीको अपना मार्गदर्शक मानकर उससे कुछ सीखनेका प्रयत्न करने लगेगा तो समझ लीजिये कि उस समय घोर कलियुग आ जायगा एव अनाचार, पापाचार अत्याचार और व्यभिचार आदि वढ जायँगे। भारत धर्मप्राण योगियाका परम पवित्र महान् देश है। अन्य पश्चिमी देश भोगियाके देश हें आर भातिकवादियाके केन्द्र हैं। भारतभूमिपर भगवान्‌के मङ्गलमय श्रीचरण पडे हैं ओर इसकी पवित्र धरतीपर स्वय भगवान् श्रीकृष्णने अवतार लेकर लीलाएँ की हं। त्याग एव वैराग्यका यह केन्द्र रहा है। अत यदि भोगी (पश्चिमी देश) हमसे (भारतसे) कुछ शिक्षा ग्रहण कर तो ठीक है, पर यदि उलटे हम (योगी) ही उन महान् भोतिकवादी भोगियाके पीछे दौडगे तो उसका परिणाम क्या होगा, इसका अनुमान लगा लीजिये। आजकल ठीक वही हो रहा है। आज उलटी गङ्गा बह रही है। जहाँ कभी पश्चिमी देश भारतको धर्मभूमि और योगियाका परम पवित्र देश मानकर उससे शिक्षा ग्रहण किया करते थे, वहाँ आज हम भारतीय उलटे भागी देशाको अपना पथप्रदर्शक (गुरु) मानकर उनका अन्धानुकरण करनेम ही महान् गोरवका अनुभव कर रह हैं। देशके घोर अध पतनका यही मूल कारण हे।

श्रीकृष्णकी उपासिका—मैंने पुन प्रश्न किया 'कुछ लोग भगवान् श्रीकृष्णको ऐतिहासिक पुरुष नहीं मानते। उधर कुछ लोग उन्ह ऐतिहासिक पुरुष तो मानते हैं, पर उन्ह व भगवान्‌का साक्षात् अवतार नहीं मानते? इन विषयापर आपका मत क्या हे?'

इस प्रश्नपर रेहानाजी कुछ भडक उठीं और बोलीं—'जा लाग भगवान् श्रीकृष्णके अस्तित्वम विश्वास नहीं रखते व कारे अज्ञानी ह। कोई उनक अस्तित्वमे विश्वास करे या न कर, परतु सत्य ता सत्य ही है। भगवान् श्रीकृष्ण समय-समयपर आज भी साक्षात् प्रकट होकर भक्ताको अपना दर्शन दिया करते हैं। श्रीमीराबाईको उन्हाने प्रत्यक्ष दर्शन दिये थे। सूरदासजीके भी समक्ष प्रकट हाकर उन्हे अपनी सनिधि प्रदान की थी। नरसी भगतकी उन्हाने स्वय

प्रकट होकर सहायता की थी और उनका भात भरा था। धर्मपर विपत्ति आनेपर वे अवतार लेकर धर्मद्रोहियोका सदा सहार किया करते हैं। उनके अस्तित्वमे विश्वास न करनेवाले अज्ञानी हैं।' यह कहते हुए रेहानाजी श्रीकृष्ण-प्रेममे अत्यन्त विह्वल हो उठी। बहन रेहानाजी बोलीं—'भगवत्तत्त्व बडा गूढ और विलक्षण है। इस जाननेयोग्य परम तत्त्व श्रीकृष्णको जिसने जान लिया है, वही उस अनिर्वचनीय रसानुभूतिका अनुभव कर सकता है। श्रीकृष्ण-प्रेम ऐसा ही अनूठा है। इसकी टीसको जिसने अनुभव किया है, वही उस दिव्यानन्दको जान सकता है—

नहीं इश्क का दर्द लज्जत से खाली
जिसे 'जौक' है वह मजा जानता है।

उन्होने कहा, 'भगवान् श्रीकृष्ण अथवा श्रीकृष्णको काल्पनिक बतानेवाले स्वय बिन्दुके समान हैं और भगवान् श्रीकृष्ण अथवा राम अनन्त सिन्धु हैं। भला बिन्दु सिन्धुका क्या मुकाबला कर सकता है? कहाँ एक बूँद और कहाँ अगाध समुद्र। क्या कभी बिन्दुको सिन्धुकी गम्भीरताका पूरा ज्ञान हो सकता है? असम्भव! अत लोगोकी ऐसी उक्तियोका कोई मूल्य नहीं है।'

'आप मुसलिम-परिवारकी होकर भी भगवान् श्रीकृष्णकी उपासना कबसे और कैसे करती हैं?' इस प्रश्नपर स्व० रेहाना बहनने कहा—'यह सच है कि मैंने एक मुसलिम-घरमे जन्म लिया, पर मेरे सस्कार अस्सी प्रतिशत हिन्दू हैं। यह भी सच है कि असलमे हम हिन्दू ही थे, हिन्दुस्तानमे ही पैदा हुए, कहीं बाहरसे नहीं आये। मैं बचपनसे ही पूर्व-जन्म मानती थी, श्रीकृष्णको अपने दिलमे बैठाये फिरती थी। बचपनमे वेदान्त पढती और उसे समझती थी। घरसे अलग रहकर कुछ अजब मानसिक और आध्यात्मिक सूनापन-सा महसूस किया करती थी। जब मेरी उम्र आठ वर्षकी थी तभी मैंने किसीसे सुना था कि 'हिन्दू लोग बुतपरस्त हैं।' इसपर मैंने झुँझलाकर कहा था कि हिन्दू मूर्तिपूजक नहीं हैं, वे मात्र मूर्ति नहीं पूजते, बल्कि उसके पीछे जो कुछ तत्त्व है, उसे ही पूजते हैं। वास्तविकता यह है कि श्रीकृष्ण-भक्ति मुझे पिछले जन्मके सस्कारोके कारण ही मिली है, मैं ऐसा ही मानती हूँ। मेरे परिवारवाले मुझे गीता पढते देखकर, श्रीकृष्णकी भक्ति करते देखकर और श्रीकृष्ण-भक्तिके भजन गाते हुए सुनकर अपनी धर्मान्धताके कारण मुझसे काफी नाराज रहते थे। मेरे पूर्वजन्मके सस्कारोने ही मेरी काफी मदद की। ये सस्कार ही मुझे यह सब करनेपर मजबूर करते रहे हैं।'

पुनर्जन्ममे विश्वास—स्व० बहन रेहानाजी हिन्दू-धर्मके पुनर्जन्मके सिद्धान्तमे दृढ विश्वास रखती थीं। पुनर्जन्मके सम्बन्धमे हमारे प्रश्न करनेपर उन्होने कहा—'साधारणत कोई प्रश्न कर सकता है कि 'तुम्हारे पास क्या सबूत है कि जीव मृत्युके बाद दुबारा जन्म लेता है?' इसके उत्तरमे कुछ लोग कह सकते हैं कि 'कोई नहीं।' परतु मैं पूछती हूँ कि 'क्या उनके पास कोई सबूत है कि पुनर्जन्म नहीं होता?' इसका सामान्य-सा उत्तर यही होता है कि नहीं कोई सबूत तो नहीं है पुनर्जन्मकी बात भ्रममात्र मालूम होती है। ऐसा उत्तर देनेवालोसे मुझे कहना होगा कि आपको न कुछ अभ्यास है, न अनुभव। आपने तुरत भ्रम मान लिया। यदि भ्रम है तो मैं बडे भव्य भ्रमिताकी पगतमे हूँ, क्योकि मैंने तो स्वय ही अपने जीवनमे पुनर्जन्मकी सत्यताका अनुभव किया है।'

गीतासे प्रेरणा—रेहाना बहनका श्रीमद्भगवद्गीताके प्रति अटूट श्रद्धा थी। गीताको वे महान् एव अद्वितीय धर्मग्रन्थ मानती थीं। वे अपनी आत्मकथा 'सुनिये काका साहब' मे लिखती है कि 'सन् १९२३ ई० मे मेरे जीवनमे गीताजी प्रकट हुई। मैंने 'यग इण्डिया' मे बापूद्वारा की गयी गीताकी प्रशसा पढी। मै गीता ले आयी। उसे पढा और पढते-पढते मेरे दिल-दिमागपर मानो बिजलियाँ गिरती चली गयीं। मैं पागल हो गयी, विह्वल हो गयी और व्याकुल हो गयी। मैंने लगातार उसे बीस बार पढ लिया, फिर भी उसे हाथसे अलग न रख सकी। रातको तकिये-तले रखकर सोती। मेरी आँखोके सामने एक अद्भुत सुन्दर, तेजोमय और आनन्दमय दुनिया मानो खुल गयी। गीताके सात सौ श्लोकोमे मुझे चौदह ब्रह्माण्डोके रहस्य नजर आने लगे। मेरे सभी सवालोके एकदमसे जवाब मिल गये। हर उलझनका सुलझाव मिल गया। हर अँधेरेका दीपक मिल गया। हर गुमराहीको रहनुमा (मार्गदर्शक) मिल गया। गीतामे मैंने सब कुछ पा लिया।'

रेहाना बहन नियमित गीताका पाठ किया करती थीं। गीताके सभी श्लोक उन्हे कण्ठस्थ थे। वे श्रीमद्भगवद्गीताको सम्मानपूर्वक 'गीता शरीफ' कहकर पुकारा करती थीं।

अंग्रेजी शिक्षाको रेहाना बहन मानसिक गुलामीका प्रतीक मानती थीं। एक बार उन्होंने बड़े दु:खभरे शब्दोंमें कहा था—'अंग्रेजी शिक्षाने हमारे मस्तिष्कको विकृत कर डाला है और अंग्रेजी दवाओंने शरीरको।'

देशभक्त परिवार—रेहाना बहनने सन् १९०१ ई० में एक गुजराती मुसलिम परिवारमें जन्म लिया था। तैय्यबजीका परिवार देशभक्तिके लिये विख्यात रहा है। पूरा परिवार गाँधी-भक्त रहा है। रेहानाजीके नाना न्यायमूर्ति बदरुद्दीन तैय्यबजी, उनके पिता अब्बास तैय्यबजी तथा परिवारके अन्य सभी सदस्योंने जहाँ ऊँचे-ऊँचे पदोंपर कार्य किये हैं, वहीं देशभक्तिके कार्योंमें भी वे किसीसे पीछे नहीं रहे हैं। उनके पिता अब्बास तैय्यबजी प्रसिद्ध और प्रमुख देशभक्त रहे हैं। रेहाना बहनने गाँधीजीकी प्रेरणासे नमक-सत्याग्रहमें भी डटकर भाग लिया था।

रेहानाजीने अपनी पुस्तक 'गोपी-हृदय' में श्रीकृष्ण-भक्तिकी अनोखी आध्यात्मिक आत्मलक्षी कहानी लिखी है। 'कृपाकिरण' श्रीकृष्ण-भक्तिसे ओत-प्रोत भजनोंका संग्रह है। हिन्दू-धर्म, हिन्दू-दर्शन एवं हिन्दू-आचार-विचारोंके प्रति उनकी श्रद्धा-भक्ति एवं दृढ़ विश्वास वस्तुतः प्रशंसनीय है। थोड़ेमें, रेहानाजीको हमने जैसा सुना, वैसा ही पाया।

[४]

श्रीराम-कृष्णके प्रेमी भक्त—मेजर लीद

फरवरी सन् १९६५ ई० की बात है। भारतके सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी सन्यासी स्वामी श्रीसत्यानन्दतीर्थजी पिलखुवा हमारे स्थानपर पधारे थे। माननीय स्वामीजी महाराज गीता-रामायणकी कथा किया करते थे। हमें यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि आप एक आर्यसमाजी सन्यासी होकर भी गीता-रामायणका बड़े प्रेमसे पाठ करते हैं और दूसरे लोगोंको भी गीता-रामायणका पाठ करनेका उपदेश करते हैं।

हमने स्वामीजीसे प्रश्न किया—'स्वामीजी महाराज! एक आर्यसमाजी सन्यासी होते हुए भी आपकी गीता-रामायणमें ऐसी दृढ़ निष्ठा और भगवान् श्रीराम-कृष्णमें ऐसा अद्भुत प्रेम होनेका कारण क्या है?'

उन्होंने बताया—मेरे जीवनमें एक ऐसी सत्य घटना घटी है कि जिसके कारण मुझे बरबस भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्णको परब्रह्म परमात्मा माननेके लिये बाध्य होना पड़ा है तथा मुझे रामायण और गीतामें इतनी निष्ठा हो गयी है। एक बार मुझे एक बड़े धनी-मानी सेठके साथ विदेशयात्राके लिये जाना पड़ा। मैं उस समय फ्रांस आदि यूरोपके कई देशोंके अतिरिक्त इंग्लैण्ड भी गया और वहाँ बहुत दिनोंतक रहा। मुझे स्वप्नमें भी यह कल्पनातक न थी कि इस फैशनपरस्त, विलासप्रधान देशमें, जहाँ लोग अंडे, मांस, मछली खाते हैं, शराब पीते हैं और स्त्री-पुरुष उन्मत्त होकर नृत्य करते हैं, वहाँ लङ्कामें भक्त विभीषणकी भाँति कोई सज्जन एकान्तमें बैठकर भगवान् श्रीराम-कृष्णकी भक्ति भी कर सकता है!

सहसा एक दिन मुझे एक अंग्रेज सज्जन मिले जिनका शुभ नाम था—मेजर लीद। मेजर लीद पहले बहुत समयतक भारतीय फौजमें मेजरके पदपर रह चुके थे। वे भारतीय हिन्दू-सभ्यता-संस्कृतिसे बड़े प्रभावित थे तथा बहुत प्रेम रखते थे। वे भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्णके अनन्य भक्त थे।

उन्होंने मुझे भारतीय हिन्दू समझकर मुझसे बड़ा प्रेम किया और वे मुझे तुरंत अपने घर ले गये। वहाँ भारतीय अतिथिके नाते मेरा बड़ा आदर-सत्कार किया। जिस प्रकार और बहुत-से अंग्रेज हम भारतीय हिन्दुओंको गुलाम देशका एवं काला आदमी समझकर घृणा करते हैं, वहाँ मेजर लीदने मुझे भारतीय ऋषियोंके देशका हिन्दू समझकर बड़े प्रेमसे और पूज्यभावसे देखा। उन्होंने बड़े आदरसे मुझे अपने घरमें ठहराया।

वे मुझे एक बार अपने घरके अंदर ले गये। बड़े प्रेमसे एक सुन्दर आलमारी दिखायी, जो संस्कृत और हिन्दीके बहुत-से ग्रन्थोंसे भरी थी। तुलसीकृत श्रीरामचरितमानस श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता सम्पूर्ण महाभारत आदि सब ग्रन्थ उस आलमारीमें सुशोभित थे। उन सब ग्रन्थोंकी बहुत सुन्दर सुनहरी जिल्दें बँधी हुई थीं। उन्होंने हमारे उन पूज्य धर्मग्रन्थोंको ऐसे सुन्दर ढंगसे आदरपूर्वक सजाकर रखा था कि उस प्रकार हमारे भारतीय हिन्दू-घरोंमें भी उन्हें नहीं रखा जाता है। वे उन ग्रन्थोंको बड़ी पूज्य दृष्टिसे देखते थे तथा बड़े ही प्रेमसे, बड़ी श्रद्धा-भक्तिके साथ पढ़ते और उनका नित्यप्रति स्वाध्याय करते थे, जिसे देखकर बड़ा आश्चर्य होता था।

श्रीमद्भगवद्गीता और तुलसीदासकृत श्रीरामचरित-मानसके तो वे ऐसे अनन्य भक्त और प्रेमी थे कि नित्य उनका पाठ करते-करते श्रीमद्भगवद्गीताके श्लोक एवं

श्रीरामचरितमानसकी बहुत-सी चोपाइयाँ उन्हे कण्ठस्थ हो गयी थीं, जिन्हे वे बडे प्रेमसे गा-गाकर सुनाया करते थे। जिस समय वे गा-गा करके सुनाते, उस समय वे भगवान् श्रीराम-कृष्णके प्रेममें विभोर—गद्गद हो जाते थे।

मेरे द्वारा मेजर लीदस यह प्रश्न किया जानेपर कि 'साहब! आपने एक अंग्रेज होनेपर भी इस प्रकार हिन्दी और संस्कृत-भाषाका इतना ज्ञान प्राप्त कैसे किया कि जो इस प्रकार आप रामायणकी चौपाइयाँ और श्रीमद्भगवद्गीताके श्लोक धडाधड बोल रहे हैं? आपको भगवान् श्रीराम-कृष्णकी भक्तिका यह चस्का भी कहाँसे लगा कि जो भगवान् श्रीराम-कृष्णका नाम लेते ही आप एकदमसे गद्गद हो जाते हैं?'

मेजर लोदने कहा, 'मैं जब आपके परम पवित्र देश भारतमे मेजर-पदपर था, तब मैंने वहाँ लगातार सात वर्षोंतक एक संस्कृतके विद्वान् ब्राह्मणसे संस्कृत भाषा पढी थी। उन विद्वान् ब्राह्मणको मैं प्रतिमास पंद्रह रुपये दिया करता था। इसीसे मुझे हिन्दू-फिलॉसफीका ज्ञान तथा उसमे अनुराग प्राप्त हो गया। अब मैं हिन्दू-फिलॉसफीसे बढकर और किसीको भी नहीं मानता हूँ। मैंने संस्कृत पढकर हिन्दूधर्मका जो ज्ञान प्राप्त किया उसके आधारपर मेरे मनने निष्पक्ष होकर पूर्णरूपसे यह निश्चय और निर्णय कर लिया कि समस्त विश्वमे एकमात्र आपका हिन्दूधर्म, सनातनधर्म ही पूर्ण है और इसी हिन्दूधर्मकी शरणमे आनेसे तथा हिन्दूधर्मके ग्रन्थोके अनुसार चलनेसे ही जीवका परम कल्याण हो सकता है। मेरा यह भी पूर्ण निश्चय और विश्वास है कि भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्ण मनुष्य नहीं थे। वे साक्षात् परमात्माके ही पूर्ण अवतार थे। जितने भी अवतार और बडे-बडे ऋषि-मुनि, संत-महात्मा एव सिद्ध योगी हुए हैं, वे एकमात्र आपके परम पवित्र दिव्य देश भारतमे ही और आपकी परम पवित्र हिन्दू-जातिमे ही हुए हैं। आपका यह देश भारतवर्ष धर्मप्राण परम पवित्र और जगद्गुरु देश है। यह आपका परम सौभाग्य है कि जो आपने ऐसे परम पवित्र देश भारतमे और परम पवित्र हिन्दू-जातिमे जन्म लिया।'

[५]
महान् कृष्णभक्त—मोहम्मद याकूब खाँ 'सनम'

रहीम रसखान और ताज बेगमकी परम्परामे इस शताब्दीमे हुए हैं मोहम्मद याकूब खाँ उर्फ 'सनम साहब'। अजमेरवासी सनम साहबने सन् १९२० ई० से लेकर सन् १९४४ ई० तक देशभरमे कृष्ण-भक्तिका प्रचार-प्रसार किया तथा अन्तमे सन् १९४५ ई० मे एक दिन अपने इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाभूमि व्रजकी पावन मिट्टीमे अपना शरीर समर्पण कर दिया।

सनम साहबने संस्कृत, हिन्दी और उर्दूमें प्रकाशित कृष्णभक्ति-साहित्यका गहन अध्ययन किया। इन भाषाओके अतिरिक्त वे फारसीके भी प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन्होने कृष्णभक्ति-सम्बन्धी लगभग १२०० पुस्तके संग्रहीत कीं तथा अजमेरमे 'श्रीकृष्ण-लाइब्रेरी'की स्थापना की। सनम साहबने बहुत समयतक व्रजभूमिमे रहकर श्रीकृष्णकी उपासना की। अपनी मुक्तिके उद्देश्यसे वे कृष्णभक्त बने और तपस्वी गुरुके अन्वेषणमे लग गये। अन्तमे व्रजभूमिके संत श्रीसरसमाधुरीशरणजीको उन्होने अपना गुरु बना लिया। गुरुदेव सरसमाधुरीशरणजीकी प्रेरणासे उन्होने देशभरमे कृष्णभक्तिकी धारा प्रवाहित करनेका संकल्प लिया। वे प्रभावशाली वक्ता तथा भावुक भक्त थे, अत कुछ ही समयमे देशभरमे उनके प्रवचनोकी धूम मच गयी। सनम साहबने अपने एक प्रवचनमे कहा था—'श्रीकृष्णके दो रूप हैं निराकार और साकार। निराकार जो गोलोकधाममे विराजमान है, उसका तीन रूपसे अनुभव होता है—प्रेम, जीवन तथा आनन्द। प्रेम ही जीवनविधान है, जीवन ही सत्यताका आधार है और जीवनका मुख्य उद्देश्य आनन्द है। इस कारण ये तीनो ही श्रीकृष्णकी निराकार विभूतियाँ हैं, सृष्टिमात्रमे व्याप्त हैं।'

'यह तो केवल हिन्दुओका कथनमात्र है कि श्रीकृष्ण मात्र हमारे हैं और उनके पुजारी हम ही हो सकते हैं। श्रीकृष्णप्रेमका अधिकारी जीवमात्र है। स्वामी प्रेमानन्दजीने अमेरिका जाकर श्रीकृष्णपर व्याख्यान दिये, जिनका यह प्रभाव पडा कि चौदह हजार अमरीकी श्रीकृष्णके अनुयायी हो गये और कैलिफोर्नियामे कृष्ण-समाज तथा कृष्णालय स्थापित हो गये। वहाँ भारतके समान ही श्रीकृष्णका पूजन, नाम-कीर्तन और गुणानुवाद होने लगा।'

सनम साहबको अपने गुरुदेव श्रीसरसमाधुरीशरणका एक पद बहुत पसन्द था—*'लागै मोहे मीठो राधेश्याम'* यह पद उन्होने मेरे पिताजी (भक्त रामशरणदास)-को लिखकर भेजा था। प्रवचनके आरम्भमे वे यह पद गाकर सुनाते थे।

एक सुशिक्षित मुसलमानको श्रीकृष्ण-भक्तिमे तल्लीन देखकर अनेक धर्मान्ध लोगोमे तहलका-सा मच गया था। कुछने अजमेर पहुँचकर उन्हे समझा-बुझाकर कृष्णभक्तिके पथसे हटानेका भारी प्रयास किया, किंतु उनके तर्कोके आगे वे वापस लौट जाते थे। इसके पश्चात् उन्हे जानसे मार डालनेकी भी धमकी दी गयी, काफिरतक कहा गया, किंतु सनम साहबने स्पष्ट कह दिया कि मैं अपने इष्टदेव श्रीकृष्णकी भक्तिके लिये पैदा हुआ हूँ, जिस दिन उन्हे मुझे अपने लोकमे बुलाना होगा, मैं पहुँचा दिया जाऊँगा। अजमेरमे उनपर आक्रमणका प्रयास भी किया गया। उन्होने लिखा—'अभी मुझसे भगवान् कृष्णको और काम लेना है, इसलिये उन्होने रक्षा की है।'

सनम साहब मेरे पिता भक्त श्रीरामशरणदासजीके अनन्य मित्र थे। सन् १९३५ ई० मे वे पिलखुवा पधारे थे तथा उन्होने हमारे निवासस्थानपर श्रीकृष्ण-भक्तिपर सुन्दर प्रवचन किया था।

महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय तथा श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार (आदिसम्पादक 'कल्याण') उनकी श्रीकृष्णभक्तिसे बहुत प्रभावित थे।

सनम साहब संत उड़ियाबाबाके प्रति भी भारी श्रद्धा रखते थे। वृन्दावनमे बाबाके आश्रममे वे प्रतिदिन श्रीकृष्ण-कीर्तन एवं रासलीलाका रसास्वादन करते थे। रासलीलाके महत्त्वपर उन्होने एक पुस्तक भी लिखी थी। सनम साहबका कहना था कि रासलीलामे तन्मय होकर कृष्ण एवं राधामय होनेका अवसर अत्यन्त भाग्यशाली व्यक्तिको ही प्राप्त होता है। वृन्दावनमे रासलीलाका रसास्वादन करते समय श्रीकृष्ण-प्रेममे लीन हो वे अश्रुधारा प्रवाहित करने लगते थे। संकीर्तनमे वे भक्तजनोके साथ मिलकर नृत्य करने लगते थे। सुविख्यात अंग्रेज श्रीकृष्ण-भक्त रोनाल्ड निक्सन उर्फ श्रीकृष्णप्रेम- भिखारीसे भी उनका निकटका सम्पर्क हो गया था। इन दोनो गैर-हिन्दू श्रीकृष्ण-भक्तोने देशभरमे भक्तिकी भागीरथी प्रवाहित करनेमे भारी योगदान किया था। महामना मदनमोहन मालवीयने सन् १९३९ ई० मे सनम साहबको काशी बुलाकर उनसे श्रीकृष्ण-भक्तिके विषयमे विचार-विनिमय किया था।

अन्तमे सनम साहबने अपने इष्टदेव भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाभूमि 'व्रज'-सेवनका संकल्प लिया। वे हर समय यमुना-स्नान एवं श्रीकृष्णके ध्यानमे लीन रहने लगे। रूखा-सूखा सात्त्विक भोजन प्रसादरूपमे ग्रहण कर लेना तथा बाकी समय संत-महात्माओकी सेवा एवं संकीर्तनमे व्यतीत करना यही उनकी दिनचर्या थी। वे अपनेको 'व्रजराजकिशोरदास' नामसे सम्बोधित करने लगे थे। एक दिन उन्होने वृन्दावनमे ही रासलीलाका रसास्वादन करते समय अपने प्राण त्याग दिये। [प्रे० श्रीशिवकुमारजी गोयल]

भगवत्प्रेमी युगलकिशोर

(वैद्य श्रीगोपीनाथजी पारीक 'गोपेश', भिषगाचार्य साहित्यायुर्वेदरत्न)

युगलकिशोर ढूंढाड़ प्रदेशकी लोकभाषा एवं हिन्दीके श्रीकृष्णोपासक प्रेमी भक्त कवि थे। इनके द्वारा रचित भक्तिके पद जयपुर एवं इसके समीपवर्ती गाँवोके घर-घरमे गाये जाते हैं। भक्ति-संगीतके माध्यमसे जन-जनको भगवत्प्रेमी बनानेके उद्देश्यको लेकर इन्होने 'श्रीश्यामसंकीर्तन-मण्डल' की स्थापना भी की।

इन्होने अपने इष्टको 'प्रेमभाया'-के नामसे और स्वयंको 'प्रेमबावरा' नामसे सम्बोधित किया। ये अपनी प्रेम-कहानी प्रेमभायाको सुनानेको आतुर रहे और अपना युगल-कुटीर राधेकृष्ण नामसे गुंजायमान करनेको लालायित रहे—

मनमौजी कान्हा कौन बधाये मोहे धीर॥
किसको सुनाऊँ कृष्णा प्रेम कहानी
अपनी मस्तीमे बहती दुनिया दिवानी
आखिर है कौन किसी का
सपना है जीते जी का
कैसे मिलेगा भवतीर॥
मनमौजी कान्हा कौन बधाये मोहे धीर॥
मानसका वासी बोले जय हो बिहारी
पगले पंछी को निरखे राधा बिहारी
जै जै श्रीराधे कृष्णा
जै जै श्रीराधे कृष्णा
गूंजे या युगलकुटीर॥

मनमौजी काना कौन वधाये मोहे धीर॥

जिस प्रकार भगवत्प्रेमी नन्ददासने रसमजरीमे लिखा है—

रूप प्रेम आनन्द रस जो कछु जग मे आहि।
सो सब गिरधर देव सौ निधरक बरनौ ताहि॥

—उसी प्रकार युगलजीने विषयतृष्णाको मिटाकर तन्मयभावसे प्रभुम दत्तचित्त होनेकी प्रेरणा दी है—

बोलो प्रेम से हरे, हरि के नामसे तरे॥

× × ×

विषय मिटे तृष्णा मिटे मिटे कपट व्यवहार।
ज्योति जगे जीवन मिले वसे नया ससार॥
बोलो प्रेम से हरे हरि के नामसे तरे॥
मानस उमडे प्रेम से नयन बहावे नीर।
रूप माधुरी मे लख श्यामल गौर शरीर॥
बोलो प्रेम से हरे हरि के नामसे तरे॥
चलो 'युगल' मधुवन चल जहाँ बसे घनश्याम।
वहीं प्रेम दरबार म मिले तुम्हे बिश्राम॥
बोलो प्रेम से हरे हरि के नामस तरे॥

भक्त कवि कितनी विनम्रतास घनश्यामको अपने हृदयमें बस जानेहेतु निवेदन करता है, इसी भावभरे निम्न पदको गानवाला और सुननेवाला भावविभोर हुए बिना नहीं रहता—

घनश्याम म्हारा हिवड़ा मे रमजावो जी घनश्याम,
मै दास छू चरणकमल रो दास छूँ
ओ जी प्यारा श्याम॥ स्थाई॥

× × ×

जय मुरलीधर मोहना जय ब्रज माखन चोर
जय जय नटवर प्राण धन जय जय नन्द किशोर
घनश्याम दास 'युगल' रा नाथ कहावो जी घनश्याम॥

प्रेमलक्षणा भक्तिके भावसे ओत-प्रोत यह पद्य सुनने-समझने योग्य है—

म्हारा अल्बेल्या मनमोहन क्यो बिछड़ावो छो॥ स्थाई॥
थाँकी निशदिन ओल्यू (याद) आवै, आख्या आसू खूब बहावै।
प्यारा माया का पड़दा म क्यो लुख (छुप) जावो छो"॥
थाँकी सूरत लागे प्यारी ईं म आख्या अटकी म्हारी।
छू दर्शन को दीन भिखारी क्यो तरसावो छो"॥

× × ×

'युगल' शरणम रहबो चाहू प्यारी छविम निरख्या जाऊ।
म्हारा समरथ स्वामी भव मै क्यो भटकाओ छो"॥

विरहमे अधिक तन्मयता एव प्रेमका उत्कर्ष होता है। इनके विरहपदोम मीराकी-सी आतुरता नजर आती है तो सूरकी-सी भावप्रवणता—

काई जादू कर दीनो थाकी याद आवे छै॥ स्थाई॥

× × ×

आवो आवो श्रीगोविन्द था बिन हिवडो तरसै छै
झाको प्यारा आख्या सू निशदिन आसू बरसै छै
काई थानै 'युगल' की भी याद आवै छै॥

और—

नटनागर श्याम हठीला म्हाने थाकी ऑल्युड़ी आवै जी॥
चैन दिन रैन नहीं छ म्हानै म्हाकी दया न आवै थानै।
प्रेम नजर सू निरखो रसीला॥ म्हानै थाकी"

तथा—

सोण मनाउली गाउली मुख सै राम।
काग उडाउली कद आवोला घनश्याम॥

रति या प्रीति जब लौकिक आलम्बनके प्रति होती हे तब वह शृङ्गार है, किंतु जब आलम्बन अलौकिक होता है तो माधुर्यभाव कहलाता है। राधाकृष्णके युगलस्वरूपमे यही माधुर्यभाव प्रकट हुआ है—

कृष्ण कन्हैया राधा रानी दिव्यरूप दरसावे।
प्रेम बावरे दास युगल के मन मन्दिर मे आवे॥

युगलजीद्वारा रचित सभी पद गेयात्मक हैं जो परम आनन्द देनेवाले हैं। (१) *'ओ रे नन्द बाबा न खीज्यो रै, बैठ कदम्ब की डार म्हाका चीर चुरावै कान्हो।'* (२) *'म्हारी लैरा लाग्यो आवै छे यो मुरली हालो श्याम।'* (३) *'कद आवोला कन्हैया म्हारे द्वार मै ठाडी न्हालू बाटड़ली'* (४) *'काली दह मे आज तो यो कूद गयो गोपाल रै।'* (५) *'माई यशोदा थारो लाड़लो माटी खावै छै।'* (६) *'नन्दबाबाका लाड़ला होली का रसिया साँवरा थारो गोपीरूप बणास्या, आव रै'* आदि भगवान्‌की लीलाके सरस पद ढूढाडके घर-घरमे भावविभोर होकर गाये जाते हैं जो युगलजीके भगवत्प्रेमकी याद दिलाते रहते हैं। इन पदासे प्रेमबावरे युगलजी अमर हा गये।

नम्र निवेदन एव क्षमा-प्रार्थना

भगवत्-कृपासे इस वर्ष कल्याणका विशेषाङ्क 'भगवत्प्रेम-अङ्क' पाठकाकी सेवामे प्रस्तुत किया जा रहा है। कल्याणकी परम्परामे प्रतिवर्ष प्रकाशित विशेषाङ्को तथा साधारण अङ्काम यद्यपि भगवत्प्रेमसे सम्बन्धित चर्चा किसी-न-किसी रूपम अवश्य होती रही है, परतु सर्वाङ्गीण रूपम भगवत्प्रेमका दिग्दर्शन और उसके स्वरूपका निदर्शन तथा महापुरुषाद्वारा प्रेमसे सम्बन्धित भावाभिव्यक्तिका एकत्र सकलन अबतक होनेका अवसर प्राप्त नहीं हो सका। चूँकि मानव-जीवनके परम उद्देश्य 'भगवत्प्राप्ति' के लिये प्रेमसाधन ही सर्वोपरि साधन है। अत इस वर्ष यह विचार आया कि 'भगवत्प्रेम-अङ्क' विशेषाङ्कके रूपम प्रकाशित किया जाय।

वास्तवम प्रेम भगवान्का साक्षात् स्वरूप ही है। जिसको विशुद्ध सच्चे प्रेमकी प्राप्ति हो गयी, उसने भगवान्को प्राप्त कर लिया। भगवान् प्रेममय हैं और भगवान् ही प्रेम करने योग्य हैं। अत सन्ताने कहा कि प्रेम और परमात्माम कोई अन्तर नहीं है। जिस प्रकार वाणीसे ब्रह्मका वर्णन असम्भव है, वेद नेति-नेति कहकर चुप हो जाते हैं, उसी प्रकार प्रेमका वर्णन भी वाणीद्वारा नहीं हो सकता। इसीलिये परम भागवत देवर्षि नारदने अपने 'भक्तिसूत्र' मे प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय बताया है—'अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपम्'। साथ ही यह भी कहा कि 'मूकास्वादनवत्'। जैसे गूँगा गुड खाकर प्रसन्न होता है, हँसता है, परतु गुडका स्वाद नहीं बता सकता, उसी प्रकार प्रेमी महात्मा प्रेमका अनुभव कर आनन्दमे निमग्न हो जाते हैं, परतु अपने उस अनुभवका स्वरूप दूसरे किसीको बतला नहीं सकते। इस प्रेमम तन्मयता होती है। इसके साथ ही देवर्षि नारद प्रेमके कुछ विशिष्ट लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि प्रेमका रूप गुणासे रहित है, कामनाआसे रहित है प्रतिक्षण बढनेवाला है, एकरस है, अत्यन्त सूक्ष्म है और केवल अनुभवगम्य है—'गुणरहित कामनारहित प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्न सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्'।

भगवान्का सच्चा प्रेमी भगवान्के अतिरिक्त और किसी भी वस्तुका चिन्तन नहीं करता। भगवान्का चिन्तन भी वह भगवान्के प्रेमके लिये ही करता है। प्रेमके सिवा न तो वह भगवान्से ही कुछ चाहता है और न भगवान्के किसी प्रेमी भक्तसे ही।

सच्चा प्रेम वही है जिससे प्रियतम प्रभुका मिलन हो जाय। प्रियतम प्रभु मिलते हैं—प्रेमभरी विरहकी व्याकुलतासे, करुणापूर्ण हृदयकी उत्कट इच्छासे। ये सब प्रेमके ही पर्याय हैं—

> प्रेम प्रेम सब कोइ कहे, प्रेम न चीन्ह कोय।
> जेहि प्रेमहिं साहिब मिले, प्रेम कहावे सोय॥

मिलनकी उत्कट इच्छा होनेपर भगवान्के विरहम व्याकुल प्रेमीको अपने प्रेमास्पद भगवान्के मिलनेका सदेश मिलनेपर बडी ही मधुर अवस्था होती है। प्रेमी जब अपने प्रेमास्पदके विरहम व्याकुल रहता है और मिलनकी उत्कण्ठासे उसके आनेकी प्रतीक्षा करता है, उस समय उसे पल-पलम अपने प्रेमास्पदके आनेकी आहट ही सुनायी देती है। कोई भी आता है तो उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो मेरा प्रेमास्पद ही आ रहा है। गोपियाके पास जब उद्धव आये तो उन्होने यही समझा कि प्यारे श्रीकृष्ण ही पधारे हैं। बहुत समीप आनेपर ही वे जान सकीं कि ये श्रीकृष्ण नहीं उद्धव हैं।

श्रीकृष्णकी प्रियतमा रुक्मिणीजी भगवान्के विरहम जैसी व्याकुल हुई थीं, भगवान्के पहुँचनेमे विलम्ब होनेपर श्रीरुक्मिणीजीकी जो करुणाजनक अवस्था हुई थी, वह अत्यन्त ही रोमाञ्चकारिणी है।

भरतके विरहकी अवस्था भी रामायणके पाठकासे छिपी नहीं है। जब हनुमान्जी प्रभु श्रीरामजीका सदेश लेकर आते हैं तब भरतकी आश्चर्यमयी अवस्थाको देखकर वे भी प्रेमम निमग्न हो जाते हैं—

> को तुम्ह तात कहाँ ते आए। मोहि परम प्रिय बचन सुनाए॥
> दीनबधु रघुपति कर किंकर। सुनत भरत भेटेउ उठि सादर॥
> मिलत प्रेम नहिं हृदयँ समाता। नयन स्रवत जल पुलकित गाता॥
> (रा०च०मा० ७।२।७ ९-१०)

अपने प्रेमास्पदद्वारा प्रेरित सदेश पानेपर या उसका कुछ भी सदेश मिलनेपर जब रुक्मिणी, भरत अथवा गोपियाकी-सी अवस्था होने लगे तो समझना चाहिये कि असली विरहकी उत्पत्ति हुई है—तो यह समझना चाहिये कि विशुद्ध प्रेमकी अवस्था है। यही विशुद्ध प्रेम श्रीपरमात्माका मूल्य है तथा यही परमात्माका स्वरूप है। ऐसे विशुद्ध प्रेमकी जितनी वृद्धि होती है, उतना ही मनुष्य परमात्माके निकट

पहुँचता है। जैसे सूर्य प्रकाशका पुञ्ज है, वैसे ही परमेश्वर प्रेमके पुञ्ज हैं। मनुष्य ज्यो-ज्यो सूर्यके समीप होता है, त्यो-त्यो प्रकाशकी वृद्धि स्वाभाविक रूपसे होती जाती है। इसी प्रकार जब वह प्रेममय भगवान्‌के जितना निकट होता है, उतनी उसमे प्रेमकी वृद्धि होती है या यह कहा जाय कि ज्यो-ज्यो प्रेमकी वृद्धि होती है त्यो-त्यो वह परमात्माके समीप पहुँचता है। जैसे सूर्य और प्रकाश दो वस्तु नहीं हैं, प्रकाश सूर्यका स्वरूप ही है। वैसे ही प्रेम और भगवान् दो वस्तु नहीं हैं अपितु प्रेम भी भगवान्‌का स्वरूप ही है—

प्रेम हरी कौ रूप है, त्यो हरि प्रेम सरूप।
एक होइ द्वै यौ लसै, ज्यो सूरज अरु धूप॥

जब मनुष्य भगवत्प्रेमके रगमे रँग जाता है तब वह प्रेममय हो जाता है, उस समय प्रेम (भक्ति), प्रेमी (भक्त) और प्रेमास्पद (भगवान्) तीनो एक ही रूपमे परिणत हो एक ही वस्तु बन जाते हैं। प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पद कहनेके लिये ही तीन हैं। वास्तवमे तो वही एक वस्तु तीन रूपोमे प्रकट है।

प्रेमीके जीवनमे प्रत्येक चेष्टा सहज ही भगवत्प्रीत्यर्थ होती है। जो भगवान्‌के प्रतिकूल हो वही अविधि है और जो भगवान्‌के अनुकूल हो वही विधि है। यही प्रेमजगत्‌का विधि-निषेध है। वस्तुत वहाँ सब कुछ भगवान्‌के मनका ही होता है। प्रेमीके मनमे वही बात आती है जो प्रेमास्पदके मनमे है। जहाँ अन्तरङ्गता होती है, वहाँ प्रेमास्पदकी बात प्रेमीके मनमे आनी स्वाभाविक ही है।

विशुद्ध प्रेमके नामपर मोहवश कभी भी अपनी वासनाको पूरी करनेका प्रयास नहीं करना चाहिये। असलमे साधकको तो विषयोसे विपरीत चलना है। श्रीचैतन्य महाप्रभु बडे ही सुन्दर और सुकोमल वदन थे, पर जब उन्होने सन्यास ले लिया तो बडे ही कठोर नियमोका पालन किया और करवाया। श्रीचैतन्य महाप्रभु बडे रसिक भी थे—जयदेवजीका 'गीतगोविन्द' सुना करते थे, पर साथ ही बडे सयमी थे। श्रीरूप-सनातन आदि रसशास्त्रके महान् ज्ञाता थे। उन्होने इसपर अनोखे ग्रन्थ लिखे हैं, पर साथ ही वे विलक्षण त्यागी और विरक्त थे। अतएव इनसे हमे सयमकी शिक्षा लेनी चाहिये तथा सयमकी बात अपनानी चाहिये। वस्तुत प्रेमके पवित्र क्षेत्रमे इन्द्रियभोगको स्थान नहीं है। भगवान्‌के चरणानुरागमे सभी आसक्तियोका अभाव होना ही चाहिये। साधकके लिये विशेष सावधानीकी आवश्यकता है।

चूँकि प्रेमका मार्ग बडा ही गहन, दुर्गम और तीक्ष्ण तलवारकी धारके समान है, केवल बाते करनेसे उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। बाहरी वेश या चिह्नका नाम भी प्रेम नहीं है। प्रेमका तत्त्व तो परम रहस्यमय है। जिसने इस तत्त्वको पहचान लिया, वह प्रेमास्पद प्रभुका प्रेमी बन गया। प्रेमके यथार्थ रहस्यको तो पूर्णरूपसे केवल पूर्ण पुरुषोत्तम प्रेमास्पद प्रभु ही जानते हैं अथवा किंचित् ज्ञान उनके प्रेमी भक्तोको है।

इसीलिये इस वर्ष यह विचार आया कि प्रभुप्रेमी भक्तोके भावोका सकलन 'भगवत्प्रेम-अङ्क'-के रूपमे प्रकाशित किया जाय, जिससे भारतीय जनमानसको परब्रह्म परमात्मा प्रभुके प्रेमका तथा प्रेमपूर्ण लीलाओका सम्यक् दर्शन, चिन्तन एव मनन हो सके तथा ससारके प्रेमी भक्तजनोमे प्रभुप्रेमके प्रति प्रगाढता, एकाग्रता और अनन्यताका उदय हो। इस विशेषाङ्कमे आनन्दकन्द ब्रह्माण्डनायक परमात्मप्रभुके प्रेममय स्वरूपका, उनके दिव्य गुणोका, उनके अलौकिक प्रेमरहस्योका, प्रेममयी लीलाओका तथा ऐकान्तिक प्रेमी भक्तो, प्रेमी सेवको, प्रेमी उपासको एव मित्रभावान्वित तथा शत्रुभावान्वित प्रेमी सहचरोके विभिन्न चरित्रोका यथास्थान चित्रण करते हुए भगवत्प्रेमका दर्शन और साथ ही प्रेम-रहस्योका उद्घाटन तथा प्रेमकथाके प्रत्येक पक्षपर पठनीय, विचारप्रेरक एव अनुष्ठेय सामग्रीका सकलन करनेका प्रयास किया गया है जिससे प्रेमी भक्तजन अपने सनातन कल्याणकारी प्रेमपथसे परिचित हो सके और प्रेममार्गका अवलम्बन ग्रहण कर अपने प्रेमास्पद प्रभुको प्राप्त कर सके।

इस वर्ष 'भगवत्प्रेम-विशेषाङ्क'-के लिये लेखक महानुभावोने उत्साहपूर्वक जो सहयोग प्रदान किया है, वह अत्यन्त प्रशसनीय है। भगवत्कृपासे इतने लेख और सामग्रियाँ प्राप्त हुईं कि उन सबको इस अङ्कमे समाहित करना सम्भव नहीं था फिर भी विषयकी सर्वाङ्गीणताको ध्यानमे रखते हुए अधिकतम सामग्रियोका सयोजन करनेका विशेष प्रयत्न किया गया है। पिछले वर्ष फरवरी मासका परिशिष्टाङ्क भी विशेषाङ्कके साथ सलग्न किया गया था, परतु इस वर्ष कुछ कठिनाइयोके कारण फरवरी तथा मार्च मासके साधारण अङ्क विशेषाङ्कके साथ अलगसे भेजे जा रहे हैं। सामग्रीकी अधिकताके कारण इन दोनो साधारण अङ्कोमे भी भगवत्प्रेम-सम्बन्धी सामग्रियाँ ही प्राय समाहित की गयी हैं।

उन लेखक महानुभावोके हम अत्यधिक कृतज्ञ हैं, जिन्हाने कृपापूर्वक अपना अमूल्य समय लगाकर भगवत्प्रेम-सम्बन्धी सामग्री यहाँ प्रेषित करनेका कष्ट किया। हम उन सबकी सम्पूर्ण सामग्रीको इस 'विशेषाङ्क'म स्थान न दे सके, इसका हम खद है, इसम हमारी विवशता ही कारण हे। इनमसे कुछ तो एक ही विषयपर अनेक लेख आनेके कारण न छप सके तथा कुछ अच्छे लेख विलम्बसे आये। इनम कुछ लेखाको स्थानाभावके कारण पर्याप्त सक्षिप्त करना पडा और कुछ नहीं दिये जा सके। यद्यपि इनमसे कुछ सामग्रीको आगेके साधारण अङ्कोम देनेका प्रयास अवश्य करेगे, परतु विशेष कारणास कुछ लेख प्रकाशित न हो सकग तो विद्वान् लेखक हमारी विवशताको ध्यानम रखकर हम अवश्य क्षमा करनेकी कृपा करगे।

हम अपने उन सभी पूज्य आचार्यों परम सम्मान्य पवित्रहृदय सत-महात्माआके श्रीचरणाम प्रणाम करते हैं, जिन्हाने विशेषाङ्ककी पूर्णताम किञ्चित् भी योगदान किया हे। भगवत्प्रेमके प्रचार-प्रसारमे वे ही निमित्त हैं, क्याकि उन्हींके सद्भावपूर्ण तथा उच्च विचारयुक्त भावनाआसे कल्याणको सदा शक्ति-स्रोत प्राप्त होता रहता हे। हम अपने विभागके तथा प्रेसके अपने उन सभी सम्मान्य साथी-सहयागियोको भी प्रणाम करते हैं, जिनके स्नेहपूर्ण सहयोगसे यह पवित्र कार्य सम्पन्न हो सका है। त्रुटिया एव व्यवहार-दाषके लिय हम उन सबसे क्षमाप्रार्थी हें।

'भगवत्प्रेम-अङ्क'क सम्पादनम जिन सतो ओर विद्वान् लेखकासे सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ है, उन्हे हम अपने मानसपटलसे विस्मृत नहीं कर सकते। सर्वप्रथम में वाराणसीके समादरणीय प० श्रीलालविहारीजी शास्त्रीके प्रति हृदयसे आभार व्यक्त करता हूँ, जो निरन्तर प्रेरणाप्रद लेख एव परामर्श प्रदान कर निष्कामभावस अपनी सेवाएँ परमात्मप्रभुके श्रीचरणाम समर्पित करते रहते ह। इस सन्दर्भम हम सर्वाधिक सहयोग 'गोधन'के सम्पादक श्रीशिवकुमारजी गोयलसे प्राप्त हुआ जिन्हाने भगवत्प्रेमसे सम्बन्धित विभिन्न कथाएँ, घटनाएँ, प्रेमी भक्तोके चरित्र, लेख तथा अपने पूज्य पिता श्रीरामशरणदासजीके सग्रहालयसे प्राप्त दुर्लभ सामग्रियाको उपलब्ध कराया। उनके प्रति हम अपना हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

इस अङ्कके सम्पादनम अपन सम्पादकीय विभागक वयोवृद्ध विद्वान् प० श्रीजानकीनाथजी शर्मा एव अन्य महानुभावाने अत्यधिक हार्दिक सहयोग एव आशीर्वाद प्रदान किया हे। इसके सम्पादन, सशोधन एव चित्र-निमाण आदिम जिन-जिन लोगासे हम सहयाग मिला हे, वे सभी हमारे अपने हैं, उन्ह धन्यवाद देकर हम उनक महत्त्वको घटाना नहीं चाहते।

वास्तवमे कल्याणका कार्य भगवान्का काय हे। अपना कार्य भगवान् स्वय करते हें, हम ता कवल निमित्त-मात्र हैं। इस वार 'भगवत्प्रेम-अङ्क'के सम्पादन-कार्यके अन्तर्गत प्रमास्पद प्रभुके सतत प्रेमका चिन्तन-मनन आर सत्सङ्गका सोभाग्य निरन्तर प्राप्त होता रहा, यह हमारे लिये विशेष महत्त्वकी वात थी। हम आशा ह कि इस 'विशेपाङ्क'के पठन-पाठनसे हमारे सहृदय प्रमी पाठकाको भी यह सोभाग्य-लाभ अवश्य प्राप्त हागा।

वास्तवम प्रेमकी सतत वृद्धिक लिये मन, वाणी ओर व्यवहारम निष्कामभाव तथा अहिसा एव निरहकारताका हाना बहुत ही आवश्यक हे। जहाँ स्वार्थ आर अहकार होता हे, वहाँ प्रेम नहीं ठहर सकता। वस्तुत भगवान्का वही अनन्य भक्त है जो चराचर-समुदायको साक्षात् ईश्वरका स्वरूप समझकर सबके साथ समताका व्यवहार करता है। ज्ञानकी दृष्टिसे यह भाव रहता है कि सम्पूर्ण ब्रह्म मेरा ही आत्मा हे और भक्तिकी दृष्टिसे यह भाव रहता हे कि यह सव मरे प्रियतम प्रभुका ही रूप हे। प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद (प्रियतम)--ये देखनेमे तीन होनेपर भी वास्तवमे एक ही हैं। मं इन तीनाको जो वस्तुत एक हें, प्रणाम करता हूँ--

त्रिध्याप्यक सदागम्य गम्यमेकप्रभेदने।
प्रेम प्रमी प्रेमपात्र त्रितय प्रणतोऽस्म्यहम्॥

अन्तम हम अपनी त्रुटियाके लिय पुन क्षमा-प्रार्थना करते हुए दीनवत्सल अकारणकरुणावरुणालय प्रियतम प्रभुसे यह प्रार्थना करते हं कि व हम तथा जगत्के सम्पूर्ण जीवाको सद्‌बुद्धि प्रदान कर जिससे सभी प्रेमास्पद प्रभुके प्रेमको प्राप्त करनेके अधिकारी बनकर जीवनके वास्तविक लक्ष्यको प्राप्त कर सके।

—राधेश्याम खेमका
सम्पादक

॥ श्रीहरि ॥

गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तकोंका सूचीपत्र

(दिसम्बर २००२)

कोड — मूल्य

श्रीमद्भगवद्गीता

गीता-तत्त्व विवेचनी—(टीकाकार श्रीजयदयालजी गोयन्दका) २५१५ प्रश्न और उत्तर रूपमें विवेचनात्मक हिन्दी टीका सचित्र सजिल्द आकर्षक

■ 1 बृ"दाकार १०
■ 2 ग्रन्थाकार ६
■ 3 साधारण सस्करण ४०
[बगला तमिल ओडिआ कन्नड अग्रेजी तेलुगु, गुजराती मराठी भी]

गीता साधक-सजीवनी—(टीकाकार—स्वामी श्रीरामसुखदासजी) गीताके मर्मको समझनेहेतु व्याख्यात्मक शैली एव सरल सुबोध भाषामें हिन्दी टीका सचित्र सजिल्द

■ 5 बृहदाकार परिशिष्टसहित १६
■ 6 ग्रन्थाकार परिशिष्टसहित ८५
[मराठी गुजराती बगला ओडिआ (एकही खण्डमें सम्पूर्ण)कन्नड तमिल, अग्रेजी (दो खण्डोमें)]

■ 1317 गीता पाकेट साइज (साधक सजीवनीके आधारपर अन्वय और पदच्छेदसहित) १२

गीता दर्पण—(स्वामी रामसुखदासजीद्वारा) गीताके तत्त्वोपर प्रकाश गीता व्याकरण और छन्द सम्बन्धी गूढ विवेचन

■ 8 सचित्र सजिल्द ३५
[मराठी बगला गुजराती ओडिआ भी]

■ 784 ज्ञानेश्वरी गूढार्थ दीपिका (मराठी) १३
■ 748 मूल गुटका (मराठी) २५
■ 859 ज्ञानेश्वरी मूल मझला (मराठी) ३५
■ 10 गीता शाकर भाष्य— ६
■ 581 गीता रामानुज भाष्य— ३५
■ 11 गीता चिन्तन—(श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके गीताविषयक लेखों विचारों पत्रों आदिका सग्रह) ३५

गीता—मूल, पदच्छेद, अन्वय भाषा टीका टिप्पणी प्रधान

■ 17 लेखसहित सचित्र सजिल्द [गुजराती बगला मराठी कन्नड तेलुगु, तमिल भी] २
■ 16 गीता—प्रत्येक अध्यायके माहात्म्य सजिल्द, मोटे अक्षरोंमें (मराठीमें भी) २५
■ 18 गीता—भाषा टीका टिप्पणी प्रधान विषय मोटा टाइप [ओडिआ गुजराती मराठी भी] १२
■ 5 2 गीता (सजि) १८
[तेलुगु, ओडिआ कन्नड तमिल भी]
■ 19 गीता—केवल भाषा (तेलुगु, तमिलमें भी) ७
■ 750 गीता—भाषा पाकेट साइज (हिन्दी) ४
■ 20 गीता—भाषा टीका पाकेट साइज (हिन्दी) ५
[अग्रेजी मराठी बगला असमिया ओडिआ गुजराती कन्नड तेलुगु भी]
■ 633 गीता—भाषा टीका पाकेट साइज सजिल्द ८
[तेलुगु, गुजराती बगला अग्रेजी भी]
■ 21 श्रीपञ्चरत्नगीता—गीता विष्णुसहस्रनाम भीष्मस्तवराज अनुस्मृति गजेन्द्रमोक्ष (मोटे अक्षरोंमें) [ओडिआ भी] १५
■ 22 गीता—मूल मोटे अक्षरोंवाली ६
■ 23 गीता—मूल विष्णुसहस्रनामसहित ३
[कन्नड, तेलुगु, तमिल मलयालम ओडिआ भी]
■ 488 नित्यस्तुति — गीता मूल विष्णुसहस्रनामसहित ५
■ 700 गीता—छोटी साइज मूल (ओडिआ भी) १५
■ 1392 गीता ताबीजी (सजिल्द) ४
■ 24 गीता ताबीजी—मूल (बगलामें भी) ३
■ 566 गीता—ताबीजी एक पन्नेमें सम्पूर्ण गीता (१० प्रति एक साथ) २५
▲ 289 गीता निबन्धावली
▲ 297 गीतोक्त सन्यास या सांख्ययोगका स्वरूप १
▲ 388 गीता माधुर्य-सरल प्रश्नोत्तर शैलीमें (हिन्दी) ७
[तमिल मराठी गुजराती उर्दू, तेलुगु, बँगला असमिया कन्नड ओडिआ अँग्रेजी सस्कृत भी]
■ 1223 गीता रोमन मूल श्लोक एव अग्रेजी अनुवाद १
■ 1242 पाण्डव गीता एव हंस गीता ३
■ 1431 गीता दैनन्दिनी (२ ३) पुस्तकाकार विशिष्ट सस्करण ४५
■ 874 गीता दैनन्दिनी (२ ३)—पुस्तकाकार डीलक्स ४
■ 503 गीता दैनन्दिनी (२ ३) रोमन पुस्तकाकार प्लास्टिक जिल्द ३
■ 506 गीता दैनन्दिनी (२ ३)— पाकेट साईज डीलक्स २
■ 615 गीता दैनन्दिनी (२ ३)— पाकेट साईज प्लास्टिक कवर १६
■ 464 गीता ज्ञान प्रवेशिका-स्वामी रामसुखदास १२
■ 508 गीता सुधा तरगिनी गीताका पद्यानुवाद ४

रामायण

■ 1389 श्रीरामचरितमानस-बृहदाकार (राजसस्करण) ३२
■ 80 बृहदाकार २२
■ 1095 ग्रन्थाकार (राजसस्करण) १७०
■ 81 सचित्र सटीक मोटा टाइप १२
[बगला तेलुगु, मराठी गुजराती अग्रेजी भी]
■ 1402 सटीक ग्रथाकार (सामान्य) ९५
■ 82 मझला साइज सटीक सजिल्द ६
[गुजराती अग्रेजी भी]
■ 1318 श्रीरामचरितमानस रोमन एवं अग्रेजी अनुवादसहित २
■ 456 अग्रेजी अनुवादसहित १०
■ 786 मझला ५
■ 1436 मूल पाठ बृहदाकार १४
■ 83 मूलपाठ, मोटे अक्षरोंमें, ग्रथाकार ६५
[गुजराती ओडिआ भी]
■ 84 मूल मझला साइज [गुजराती भी] ३५
■ 85 मूल गुटका [गुजराती भी] २५
■ 1282 श्रीरामचरितमानस -मूल मझला डिलक्स ६
(अब सचित्र आरती सग्रह उपहार स्वरूप साथमें)
■ 790 श्रीरामचरितमानस -केवल भाषा ६

[श्रीरामचरितमानस अलग अलग काण्ड (सटीक)]

■ 94 बालकाण्ड १६
■ 95 अयोध्याकाण्ड १५
■ 1349 श्रीरामचरितमानस-सुन्दरकाण्ड सटीक मोटा टाइप (लाल अक्षरोंमें) (श्रीहनुमानचालीसासहित) १५
■ 98 -सुन्दरकाण्ड [कन्नड तेलुगु, बँगला भी] ५
■ 101 लकाकाण्ड ८
■ 102 उत्तरकाण्ड ८
■ 141 अरण्य किष्किन्धा एव सुन्दरकाण्ड ८
■ 830 सुन्दरकाण्ड मूल ग्रन्थाकार, मोटा (रगीन) १२
■ 99 सुन्दरकाण्ड मूल गुटका ३
[गुजराती भी]
■ 100 श्रीरामचरितमानस- सुन्दरकाण्ड मूल मोटा टाइप ५
[गुजराती ओडिआ भी]
■ 1378 सुन्दरकाण्ड मूल मोटा टाइप (लाल रगमें) ५
■ 858 श्रीरामचरितमानस सुन्दरकाण्ड मूल लघु आकार २
[गुजराती भी]

■ 1376 मानस गूढार्थ चन्द्रिका (श्रीरामचरितमानसपर सुप्रसिद्ध तिलक टीकाकार प० प प्रज्ञानानन्द सरस्वती (सातों खण्ड) ७६

■ 1192 बालकाण्ड (खण्ड १) दोहा ४३ (क) तक ९
■ 1193 बालकाण्ड (खण्ड २) दोहा ४३ (ख) से १८८।६ तक १०
■ 1194 बालकाण्ड (खण्ड ३) दोहा १८८।७ से काण्ड समाप्तितक ११०

☞ भारतमे डाकखर्च पैकिग तथा फारवर्डिगकी देय राशि —
—२ रुपया-प्रत्येक १० रु० या उसके अशके मूल्यकी पुस्तकोपर।
—रजिस्ट्री / वी० पी० पी० के लिये २० रु० प्रति पैकेट अतिरिक्त।
[पैकेटका अधिकतम वजन ५ किलो (अनुमानित पुस्तक मूल्य रु० २५०)]

☞ रु० ५००/-से अधिककी पुस्तकोपर ५% पैकिग हैण्डलिग तथा वास्तविक डाकव्यय देय होगा।

☞ पुस्तकोके मूल्य एव डाकदरमें परिवर्तन होनेपर परिवर्तित मूल्य / डाकदर देय होगा।

☞ पुस्तक-विक्रेताओं एवं विदेशोंमें निर्यातके अलग नियम है।

सम्पर्क करें—
व्यवस्थापक—गीताप्रेस गोरखपुर।

कोड		मूल्य
■ 1195	मानस-गूढ़ार्थ चन्द्रिका—अयोध्याकाण्ड (खण्ड ४) दोहा ३२६ तक	१५०
■ 1196	अरण्यकाण्डसे सुन्दरकाण्ड (खण्ड ५) (दोहा ६०) काण्ड समाप्तितक	९
■ 1197	लंकाकाण्डसे उत्तरकाण्ड (खण्ड ६) (दोहा १३०) समाप्तितक	१२
■ 1188	(प्रस्तावना खण्ड)	१
■ 86	मानसपीयूष—(श्रीरामचरितमानसपर सुप्रसिद्ध तिलक, टीकाकार—श्रीअञ्जनीनन्दनशरण (सातों खण्ड) (अलग अलग खण्डोंमें भी उपलब्ध)	१०५०
■ 1291	श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण कथा-सुधा सागर	८५
■ 75 / 76	श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण—सटीक दो खण्डोंमें सेट	२
■ 1337 / 1338	भाषा (मोटा टाइप) दो खण्डोंमें सेट	२४०
■ 77	केवल भाषा	१२०
■ 583	श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण—(मूलमात्रम्)	९
■ 78	श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण सुन्दरकाण्ड मूलमात्रम् [तेलुगु भी]	१५
■ 452 / 453	श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण (अँग्रेजी अनुवादसहित दो खण्डोंमें सेट)	२५०
■ 1002	सं० वाल्मीकीय रामायणाङ्क	६५
■ 74	अध्यात्मरामायण—सटीक [तमिल, तेलुगु भी]	५
■ 223	मूल रामायण	१५
■ 460	रामाश्वमेध	१
▲ 401	मानसमें नाम वन्दना	७
■ 103	मानस रहस्य	३
■ 104	मानस शंका समाधान	१

अन्य तुलसीकृत साहित्य

कोड		मूल्य
■ 105	विनयपत्रिका—सरल भावार्थसहित	२४
■ 106	गीतावली—	२४
■ 107	दोहावली—	१०
■ 108	कवितावली—	१
■ 109	रामाज्ञाप्रश्न—	६
■ 110	श्रीकृष्णगीतावली—	४
■ 111	जानकीमंगल—	३
■ 112	हनुमानबाहुक—	३
■ 113	पार्वतीमंगल—	३
■ 114	वैराग्य संदीपनी एवं बरवै रामायण	३
■ 115	बरवै रामायण—	१

सूर-साहित्य

कोड		मूल्य
■ 555	श्रीकृष्णमाधुरी	१२
■ 61	सूर विनय पत्रिका	१६
■ 62	श्रीकृष्ण बाल माधुरी	१३
■ 735	सूर रामचरितावली	११
■ 547	विरह पदावली	१
■ 864	अनुराग पदावली—	१२

पुराण उपनिषद् आदि

कोड		मूल्य
■ 28	श्रीमद्भागवत सुधासागर—सम्पूर्ण श्रीमद्भागवतका भाषानुवाद, सचित्र सजिल्द	१२
■ 25	श्रीशुकसुधासागर—बृहदाकार, बड़े टाइपोंमें	२५०
■ 1190 / 1191	श्रीशुकसुधासागर—सचित्र मोटा टाइप दो खण्डोंमें सेट	२५
■ 26 / 27	श्रीमद्भागवतमहापुराण—सटीक दो खण्डोंमें सेट	२
■ 564 565	श्रीमद्भागवतमहापुराण—अंग्रेजी सेट	२
■ 29	मूल मोटा टाइप	८
■ 124	श्रीमद्भागवतमहापुराण— मूल मझला	५
■ 1092	भागवतस्तुति संग्रह	५५
■ 571	श्रीकृष्णलीला चिन्तन—(राजसंस्करण)	१०
■ 30	श्रीप्रेम सुधासागर—श्रीमद्भागवत दशम स्कन्धका भाषानुवाद, सचित्र सजिल्द	५
■ 31	भागवत एकादश स्कन्ध—सचित्र सजिल्द	२
■ 728	महाभारत—हिन्दी टीका सहित सजिल्द, सचित्र [छ खण्डोंमें] सेट (अलग अलग खण्डोंमें भी उपलब्ध)	१०५०
■ 38	महाभारत खिलभाग हरिवंशपुराण—हिन्दी टीका	१४
■ 637	जैमिनीय अश्वमेध पर्व	५०
■ 39 / 511	संक्षिप्त महाभारत—केवल भाषा सचित्र सजिल्द सेट (दो खण्डोंमें)	२
■ 44	संक्षिप्त पद्मपुराण—सचित्र सजिल्द	१२०
■ 789	सं० शिवपुराण—मोटा टाइप [गुजराती भी]	१०
■ 1133	सं० देवीभागवत—मोटा टाइप [गुजराती भी]	१२
■ 48	श्रीविष्णुपुराण—सानुवाद, सचित्र सजिल्द	७०
■ 1364	श्रीविष्णुपुराण—(केवल हिन्दी)	५५
■ 1183	संक्षिप्त नारदपुराण	१
■ 279	सं० स्कन्दपुराणाङ्क—सचित्र सजिल्द	१४
■ 539	सं० मार्कण्डेयपुराण	५५
■ 1111	सं० ब्रह्मपुराण	७०
■ 1113	नरसिंहपुराणम्-सानुवाद	५५
■ 1189	सं० गरुडपुराणाङ्क	८
■ 1362	सं० अग्निपुराण	११
■ 1361	सं० श्रीवराहपुराण	६०
■ 1432	सं० वामनपुराण (मुद्रणकी प्रक्रियामें)	
■ 584	सं० भविष्यपुराणाङ्क	७५
■ 631	सं० ब्रह्मवैवर्तपुराण	११
■ 517	गर्गसंहिता—भगवान् कृष्णकी दिव्य लीलाओंका वर्णन सचित्र सजिल्द	७०
■ 47	पातञ्जलयोग प्रदीप—पातञ्जलयोग सूत्रोंका वर्णन	८०
■ 135	पातञ्जलयोगदर्शन—	९
■ 582	छान्दोग्योपनिषद्—सानुवाद शांकरभाष्य	७०
■ 577	बृहदारण्यकोपनिषद्—	१
■ 1421	ईशादि नौ उपनिषद् (एक ही जिल्दमें)	१
■ 66	ईशादि नौ उपनिषद्-अन्वय हिन्दी व्याख्या	४
■ 67	ईशावास्योपनिषद्-सानुवाद शांकरभाष्य [तेलुगु भी]	४
■ 68	केनोपनिषद्—सानुवाद, शांकरभाष्य	९
■ 578	कठोपनिषद्—	१
■ 69	माण्डूक्योपनिषद्—	
■ 513	मुण्डकोपनिषद्—	६
■ 70	प्रश्नोपनिषद्—	७
■ 71	तैत्तिरीयोपनिषद्	१५
■ 72	ऐतरेयोपनिषद्—	५
■ 73	श्वेताश्वतरोपनिषद्—	१६
■ 65	वेदान्त दर्शन-हिन्दी व्याख्या सहित सजिल्द	३५
■ 639	श्रीनारायणीयम्—सानुवाद [तेलुगु भी]	२५

भक्त चरित्र

कोड		मूल्य
■ 40	भक्तचरिताङ्क—सचित्र सजिल्द	१२
■ 51	श्रीतुकाराम चरित-जीवनी और उपदेश	३
■ 121	एकनाथ चरित्र	१२
■ 53	भागवतरत्न प्रह्लाद	१५
■ 123	चैतन्य चरितावली-सम्पूर्ण एक साथ	९
■ 751	देवर्षि नारद	१
■ 167	भक्त भारती	
■ 168	भक्त नरसिंह मेहता [मराठी गुजराती भी]	८
■ 169	भक्त बालक-गोविन्द मोहन आदिकी गाथा [तेलुगु, कन्नड़ भी]	४
■ 170	भक्त नारी—मीरा, शबरी आदिकी गाथा	४
■ 171	भक्त पञ्चरत्न—रघुनाथ दामोदर आदिकी [तेलुगु भी]	६
■ 172	आदर्श भक्त—शिबि रन्तिदेव आदिकी गाथा [तेलुगु, कन्नड गुजराती भी]	६
■ 173	भक्त सप्तरत्न-दामा रघु आदिकी भक्तगाथा [गुजराती कन्नड भी]	५
■ 174	भक्त चन्द्रिका-सखू, विट्ठल आदि छ भक्तगाथा [गुजराती कन्नड तेलुगु, मराठी ओडिआ भी]	५
■ 175	भक्त कुसुम-जगन्नाथ आदि छ भक्तगाथा	५
■ 176	प्रेमी भक्त-बिल्वमंगल, जयदेव आदि [गुजराती भी]	५
■ 177	प्राचीन भक्त—मार्कण्डेय उत्तङ्क आदि	८
■ 178	भक्त सरोज—गङ्गाधरदास श्रीधर आदि [गुजराती भी]	६
■ 179	भक्त सुमन—नामदेव राँका बाँका आदिकी भक्तगाथा [गुजराती भी]	६
■ 180	भक्त सौरभ—व्यासदास प्रयागदास आदि	६
■ 181	भक्त सुधाकर—रामचन्द्र, लाखा आदिकी भक्तगाथा [गुजराती भी]	६
■ 182	भक्त महिलारत्न-रानी रत्नावती हरदेवी आदि [गुजराती भी]	६
■ 183	भक्त दिवाकर—सुव्रत वैश्वानर आदि भक्तगाथा	६
■ 184	भक्त रत्नाकर—माधवदास विमलतीर्थ आदि चौदह भक्तगाथा	६
■ 185	भक्तराज हनुमान्-हनुमान्जीका जीवनचरित्र [मराठी, ओडिआ तमिल, तेलुगु, कन्नड़ गुजराती भी]	४
■ 186	सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र [ओडिआ भी]	३
■ 187	प्रेमी भक्त उद्धव [तमिल, तेलुगु, गुजराती ओडिआ भी]	३
■ 188	महात्मा विदुर [गुजराती तमिल, ओडिआ भी]	३
■ 136	विदुरनीति	८
■ 138	भीष्मपितामह [तेलुगु भी]	८
■ 189	भक्तराज ध्रुव [तेलुगु भी]	३

परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके शीघ्र कल्याणकारी प्रकाशन

कोड		मूल्य
■ 683	तत्त्वचिन्तामणि—(सभी खण्ड एक साथ)	७०
■ 814	साधन कल्पतरु	७
■ 527	प्रेमयोगका तत्त्व—[अंग्रेजी भी]	९
■ 242	महत्त्वपूर्ण शिक्षा—[तेलुगु भी]	१२
■ 528	ज्ञानयोगका तत्त्व [अँग्रेजी भी]	१
▲ 266	कर्मयोगका तत्त्व—(भाग १)	८
▲ 267	(भाग २)	७
▲ 303	प्रत्यक्ष भगवद्दर्शनके उपाय	८
▲ 298	भगवान्के स्वभावका रहस्य	६
▲ 243	परम साधन—भाग १	६
▲ 244	—भाग २	५
▲ 245	आत्मोद्धारके साधन—भाग १	७
▲ 335	अनन्यभक्तिसे भगवत्प्राप्ति—(आत्मोद्धारके साधन भाग २) [गुजराती भी]	६
▲ 579	अमूल्य समयका सदुपयोग [तेलुगु, गुजराती मराठी कन्नड़ भी]	६
▲ 246	मनुष्यका परम कर्तव्य—भाग १	८
▲ 247	मनुष्यका परम कर्तव्य— भाग २	७
▲ 611	इसी जन्ममें परमात्मप्राप्ति [गुजराती भी]	७
▲ 588	अपात्रको भी भगवत्प्राप्ति [गुजराती भी]	८
▲ 1296	कर्णवासका सत्संग [तमिल भी]	६
▲ 1015	भगवत्प्रेमकी प्राप्तिमें भावकी प्रधानता	७
■ 248	कल्याणप्राप्तिके उपाय (त चि म भा १) [बँगला भी]	९
▲ 249	शीघ्र कल्याणके सोपान-भाग २ खण्ड १ [गुजराती भी]	८
▲ 250	ईश्वर और संसार भाग २ (खण्ड २)	८
▲ 519	अमूल्य शिक्षा-भाग ३ (खण्ड १)	७
▲ 253	धर्मसे लाभ अधर्मसे हानि भाग ३ (खण्ड २)	८

कोड	मूल्य
▲ 251 अमूल्य वचन तत्त्वचिन्तामणि भाग ४ (खण्ड-१)	८
▲ 252 भगवद्दर्शनकी उत्कण्ठा (खण्ड २)	७
▲ 254 व्यवहारमें परमार्थकी कला-त०चि भाग ५, (खण्ड-१) [गुजराती भी]	८
▲ 255 श्रद्धा विश्वास और प्रेम भाग ५, (खण्ड २) [गुजराती भी]	८
▲ 258 तत्त्वचिन्तामणि भाग ६ (खण्ड १)	८
▲ 257 परमानन्दकी खेती- भाग ६, (खण्ड २)	७
▲ 260 समता अमृत और विषमता विष-भाग-७ (खण्ड १)	८
▲ 259 भक्ति भक्त भगवान् भाग ७ (खण्ड २)	८
▲ 256 आत्मोद्धारके सरल उपाय	८
▲ 261 भगवान्‌के रहनेके पाँच स्थान [मराठी कन्नड तेलुगु, तमिल गुजराती ओडिआ भी]	३
▲ 262 रामायणके कुछ आदर्श पात्र [तेलुगु, कन्नड गुजराती ओडिआ तमिल, मराठी भी]	६
▲ 263 महाभारतके कुछ आदर्श पात्र [तेलुगु, कन्नड, गुजराती तमिल, मराठी भी]	५
▲ 264 मनुष्य जीवनकी सफलता—भाग १	७
▲ 265 मनुष्य जीवनकी सफलता— भाग २	६
▲ 268 परमशान्तिका मार्ग—भाग १	६
▲ 269 भाग-२	८
▲ 543 परमार्थ सूत्र संग्रह [ओड़िआ भी]	६
▲ 769 साधन नवनीत [गुजराती ओडिआ, कन्नड भी]	५
▲ 599 हमारा आश्चर्य	७
▲ 681 रहस्यमय प्रवचन	७
▲ 1021 आध्यात्मिक प्रवचन [गुजराती भी]	७
▲ 1324 अमृत वचन	७
▲ 1409 भगवत्प्रेम प्राप्तिके उपाय	७
▲ 1433 साधना पथ	६
▲ 1022 निष्काम श्रद्धा और प्रेम	७
▲ 292 नवधा भक्ति [तेलुगु भी]	४
▲ 273 नल दमयन्ती [मराठी तमिल कन्नड़ गुजराती ओडिआ तेलुगु भी]	३
▲ 274 महत्त्वपूर्ण चेतावनी	५
▲ 277 उद्धार कैसे हो?—५१ पत्रोंका संग्रह [गुजराती मराठी भी]	५
▲ 278 सच्ची सलाह—८ पत्रोंका संग्रह	६
▲ 280 साधनोपयोगी पत्र—७२ पत्रोंका संग्रह	६
▲ 281 शिक्षाप्रद पत्र—७ पत्रोंका संग्रह	७
▲ 282 पारमार्थिक पत्र—९१ पत्रोंका संग्रह	६
▲ 284 अध्यात्मविषयक पत्र—५४ पत्रोंका संग्रह	४
▲ 283 शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ [अँग्रेजी कन्नड गुजराती मराठी भी]	५
▲ 680 उपदेशप्रद कहानियाँ [गुजराती कन्नड़ तेलुगु भी]	७
▲ 891 प्रेममें विलक्षण एकता [मराठी भी]	६
▲ 958 मेरा अनुभव [गुजराती मराठी भी]	६
▲ 1120 सिद्धान्त एवं रहस्यकी बातें	६
▲ 1283 सत्सगकी मार्मिक बातें	६
▲ 1150 साधनकी आवश्यकता	७
▲ 320 वास्तविक त्याग	५
▲ 285 आदर्श भ्रातृप्रेम [ओडिआ भी]	४
▲ 286 बालशिक्षा [तेलुगु, कन्नड, ओडिआ गुजराती भी]	३
▲ 287 बालकोंके कर्तव्य [ओडिआ भी]	३
▲ 272 स्त्रियोंके लिये कर्तव्य शिक्षा [कन्नड़, गुजराती भी]	७
▲ 290 आदर्श नारी सुशीला [बँगला तेलुगु, तमिल, ओडिआ गुजराती, मराठी भी]	३
▲ 291 आदर्श देवियाँ [ओडिआ भी]	३
▲ 300 नारीधर्म	३

कोड	मूल्य
▲ 293 सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय [गुजराती भी]	१५०
▲ 294 संत महिमा [गुजराती ओडिआ भी]	१५०
▲ 295 सत्सगकी कुछ सार बातें—(हिन्दी) [बँगला तमिल, तेलुगु, गुजराती ओडिआ मराठी भी]	१५
▲ 301 भारतीय संस्कृति तथा शास्त्रोंमें नारीधर्म	१५०
▲ 310 सावित्री और सत्यवान्—(हिन्दी) [गुजराती, तमिल तेलुगु, ओडिआ, कन्नड़ मराठी भी]	२
▲ 299 श्रीप्रेमभक्ति प्रकाश—ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप [तेलुगु भी]	३
▲ 304 गीता पढ़नेके लाभ और त्यागसे भगवत्प्राप्ति—गजलगीतासहित [गुजराती असमिया तमिल भी]	१५
▲ 305 गीताका तात्त्विक विवेचन एवं प्रभाव	
▲ 309 भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय—(कल्याणप्राप्तिकी कई युक्तियाँ) [ओडिआ भी]	३
▲ 311 परलोक और पुनर्जन्म एवं वैराग्य [ओडिआ भी]	१५०
▲ 306 धर्म क्या है? भगवान् क्या हैं? [गुजराती ओडिआ भी]	१५
▲ 307 भगवान्‌की दया (भगवत्कृपा एवं कुछ अमृत कण) [ओडिआ कन्नड भी]	१५०
▲ 316 ईश्वर साक्षात्कारके लिये नाम जप सर्वोपरि साधन है और सत्यकी शरणसे मुक्ति	१५
▲ 314 व्यापार सुधारकी आवश्यकता और हमारा कर्तव्य [गुजराती मराठी भी]	१५
▲ 623 धर्मके नामपर पाप	१५
▲ 315 चेतावनी और सामयिक चेतावनी [गुजराती भी]	१५
▲ 318 ईश्वर दयालु और न्यायकारी है और अवतारका सिद्धान्त [गुजराती तेलुगु भी]	१५०
▲ 270 भगवान्‌का हेतुरहित सौहार्द एवं महात्मा किसे कहते हैं? [तेलुगु भी]	१५
▲ 271 भगवत्प्रेमकी प्राप्ति कैसे हो?—	१५
▲ 302 ध्यान और मानसिक पूजा [गुजराती भी]	१५
▲ 326 प्रेमका सच्चा स्वरूप और शोकनाशके उपाय [गुजराती भी]	१५
▲ 328 सध्या गायत्रीका महत्त्व चतु श्लोकी भागवत एव गजलगीतासहित	१५

परम श्रद्धेय श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार (भाईजी) के अनमोल प्रकाशन

कोड	मूल्य
■ 820 भगवच्चर्चा (ग्रन्थाकार)	७०
■ 050 पदरत्नाकर	५
■ 049 श्रीराधा माधव चिन्तन	५
■ 058 अमृत कण	१६
■ 332 ईश्वरकी सत्ता और महत्ता	१५
■ 333 सुख शान्तिका मार्ग	१५
■ 343 मधुर	११
■ 056 मानव जीवनका लक्ष्य	१२
■ 331 सुखी बननेके उपाय	१०
■ 334 व्यवहार और परमार्थ	१
■ 514 दु खमें भगवत्कृपा	१
■ 386 सत्संग सुधा	१
■ 342 सतवाणी—ढाई हजार अनमोल बोल तमिल (तीन भागोंमें)	१५
■ 347 तुलसीदल	१
■ 339 सत्सगके बिखरे मोती—	१
■ 349 भगवत्प्राप्ति एवं हिन्दू संस्कृति—	१२
■ 350 साधकोंका सहारा—	१५
■ 351 भगवच्चर्चा—(भाग-५)	१५
■ 352 पूर्ण समर्पण	१५
▲ 353 लोक परलोक-सुधार—(भाग १)	८
■ 354 आनन्दका स्वरूप	८५

कोड	मूल्य
■ 355 महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर—	१२
■ 356 शान्ति कैसे मिले ? (भाग-४)	१३
■ 357 दु ख क्यों होते हैं ?	१२
■ 348 नैवेद्य	१०
▲ 337 दाम्पत्य-जीवनका आदर्श [गुजराती तेलुगु भी]	७
▲ 336 नारीशिक्षा [गुजराती भी]	८
■ 340 श्रीरामचिन्तन	९
■ 338 श्रीभगवन्नाम चिन्तन	१०
▲ 345 भवरोगकी रामबाण दवा [ओडिआ भी]	८
▲ 346 सुखी बनो	७
■ 341 प्रेमदर्शन [तेलुगु भी]	९
▲ 358 कल्याण कुज— (क कु भाग १)	६
▲ 359 भगवान्‌की पूजाके पुष्प-(भाग २)	७
▲ 360 भगवान् सदा तुम्हारे साथ हैं (भाग ३)	८
■ 361 मानव कल्याणके साधन—(भाग-४)	१
▲ 362 दिव्य सुखकी सरिता— (भाग ५) [गुजराती भी]	६
▲ 363 सफलताके शिखरकी सीढ़ियाँ-(भाग ६)	६
▲ 364 परमार्थकी मन्दाकिनी—(भाग-७)	५
▲ 366 मानव धर्म—	६
▲ 526 महाभाव कल्लोलिनी	६
▲ 367 दैनिक कल्याण सूत्र—	४
▲ 368 प्रार्थना—प्रार्थना पीयूष [ओडिआ भी]	५
▲ 369 गोपीप्रेम	३
▲ 370 श्रीभगवन्नाम [ओडिआ भी]	३
▲ 373 कल्याणकारी आचरण	१
▲ 374 साधन पथ—सचित्र [गुजराती तमिल भी]	४
▲ 375 वर्तमान शिक्षा	३
▲ 376 स्त्री धर्म प्रश्नोत्तरी	३
▲ 377 मनको वश करनेके कुछ उपाय [गुजराती भी]	१
▲ 378 आनन्दकी लहरें [बगला ओडिआ गुजराती भी]	१५
▲ 379 गोवध भारतका कलक एवं गायका माहात्म्य	३
▲ 380 ब्रह्मचर्य [ओडिआ भी]	२
▲ 381 दीनदुखियोंके प्रति कर्तव्य—	१
▲ 382 सिनेमा मनोरजन या विनाशका साधन	२
▲ 344 उपनिषदोंके चौदह रत्न—	५
▲ 371 राधा माधव रससुधा (षोडशगीत) सटीक	३
▲ 384 विवाहमें दहेज—	१
▲ 809 दिव्य सदेश एव मनुष्य सर्वप्रिय और जीवन कैसे बनें?	१

परम श्रद्धेय स्वामी रामसुखदासजीके कल्याणकारी साहित्य

कोड	मूल्य
■ 465 साधन सुधा सिन्धु	७०
▲ 400 कल्याण पथ	६
▲ 401 मानसमें नाम वन्दना	७
▲ 605 जित देखूँ तित तू [गुजराती मराठी भी]	६
▲ 406 भगवत्प्राप्ति सहज है	६
▲ 535 सुन्दर समाजका निर्माण	७
▲ 1175 प्रश्नोत्तर मणिमाला [बगला ओडिआ भी]	७
▲ 1247 मेरे तो गिरधर गोपाल	६
▲ 403 जीवनका कर्तव्य [गुजराती भी]	७
▲ 436 कल्याणकारी प्रवचन [गुजराती बगला ओडिआ भी]	५
▲ 405 नित्ययोगकी प्राप्ति	६
▲ 1093 आदर्श कहानियाँ [ओडिआ भी]	६
▲ 407 भगवत्प्राप्तिकी सुगमता [कन्नड मराठी भी]	६
▲ 408 भगवान्‌से अपनापन [गुजराती ओडिआ भी]	४
▲ 861 सत्संग मुक्ताहार [गुजराती ओडिआ भी]	४
▲ 860 मुक्तिमें सबका अधिकार [गुजराती भी]	१
▲ 409 वास्तविक सुख [तमिल भी]	५

कोड		मूल्य
▲1308	प्रेरक कहानियाँ	५
▲1408	सब साधनोंका सार	४
▲ 411	साधन और साध्य [मराठी बँगला भी]	४
▲ 412	तात्त्विक प्रवचन [मराठी ओडिआ बगला गुजराती भी]	४
▲ 414	तत्त्वज्ञान कैसे हो? एवं मुक्तिमें सबका समान अधिकार [बगला भी]	६
▲ 410	जीवनोपयोगी प्रवचन	६
▲ 822	अमृत बिन्दु [बगला तमिल अग्रेजो गुजराती मराठी भी]	५
▲ 821	किसान और गाय	१५
▲ 416	जीवनका सत्य [गुजराती भी]	४
▲ 417	भगवन्नाम [मराठी भी]	३
▲ 418	साधकोंके प्रति [बगला मराठी भी]	४
▲ 419	सत्सगकी विलक्षणता [गुजराती भी]	३
▲ 545	जीवनोपयोगी कल्याण मार्ग [गुजराती भी]	३
▲ 420	मातृशक्तिका घोर अपमान [तमिल बगला मराठी गुजराती ओडिआ भी]	३
▲ 421	जिन खोजा तिन पाइयाँ [बगला भी]	४
▲ 422	कर्मरहस्य [बगला, तमिल कन्नड ओडिआ भी]	३
▲ 424	वासुदेव सर्वम् [मराठी भी]	३
▲ 425	अच्छे बनो	४
▲ 426	सत्सगका प्रसाद [गुजराती भी]	४
▲1019	सत्यकी खोज [गुजराती भी]	४
▲1035	सत्यकी स्वीकृतिसे कल्याण	१
▲1360	तू ही तू	१५
▲1434	एक नयी बात	१५
▲1440	परम पितासे प्रार्थना	१
▲1441	ससारका असर कैसे छुटे?	१५
▲1176	शिखा (चोटी) धारणकी आवश्यकता और हम कहाँ जा रहे हैं विचार करें [बगला भी]	१५
▲1255	कल्याणके तीन सुगम मार्ग [बगला मराठी भी]	१५०
▲ 431	स्वाधीन कैसे बनें?	१५
▲ 702	यह विकास है या विनाश जरा सोचिये	१५
▲ 589	भगवान् और उनकी भक्ति [ओडिआ भी]	५
▲ 617	देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम [तमिल बगला तेलुगु, ओडिआ कन्नड, गुजराती मराठी भी]	३
▲ 427	गृहस्थमें कैसे रहें ? [बगला मराठी कन्नड ओडिआ अग्रेजी तमिल तेलुगु, गुजराती भी]	५
▲ 432	एकै साधे सब सधे [गुजराती तमिल, तेलुगु भी]	४
▲ 433	सहज साधना [गुजराती बगला ओडिआ मराठी भी]	३
▲ 434	शरणागति [तमिल ओडिआ, तेलुगु, कन्नड भी]	३
▲ 435	आवश्यक शिक्षा (सन्तानका कर्तव्य एवं आहारशुद्धि) [गुजराती ओडिआ भी]	४
■1012	पञ्चामृत—(१ पत्रोंका पैकेटमें) [गुजराती भी]	१
■1037	हे मेरे नाथ मैं आपको भूलूँ नहीं (१ पत्रोंका पैकेटमें)	१
▲1072	क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं? [गुजराती ओडिआ भी]	३
▲ 730	सकल्पपत्र	२
▲ 515	सर्वोच्चपदकी प्राप्तिका साधन [गुजराती तमिल तेलुगु भी]	१
▲ 770	अमरताकी ओर [गुजराती भी]	५
▲ 438	दुर्गतिसे बचो [गुजराती बगला (गुरुतत्त्व सहित) मराठी भी]	१५
▲ 439	महापापसे बचो [बगला, तेलुगु, उर्दू, कन्नड, गुजराती तमिल भी]	१५

कोड		मूल्य
▲ 440	सच्चा गुरु कौन ?	१५०
▲ 781	अलौकिक प्रेम [गुजराती भी]	१५
▲ 444	नित्य स्तुति और प्रार्थना [कन्नड, तेलुगु भी]	१५०
▲ 729	सार संग्रह एवं सत्संगके अमृत कण [गुजराती भी]	१५
▲ 445	हम ईश्वरको क्यों मानें? [बँगला, नपाली भी]	१५
▲ 745	भगवत्तत्त्व [गुजराती भी]	१५०
▲ 632	सब जग ईश्वररूप है [ओडिआ भी]	४
▲ 447	मूर्तिपूजा नाम जपकी महिमा [ओडिआ, बँगला, तमिल तेलुगु, मराठी गुजराती भी]	१५०

नित्यपाठ साधन भजन हेतु

कोड		मूल्य
■ 592	नित्यकर्म पूजा प्रकाश [गुजराती भी]	३
■ 1417	शिवस्तोत्ररत्नाकर	१६
■ 610	व्रतपरिचय	२५
■ 1162	एकादशी व्रतका माहात्म्य—मोटा टाइप	१
■ 1136	वैशाख कार्तिक माघमास माहात्म्य	१८
■ 1367	श्रीसत्यनारायण व्रतकथा	६
■ 052	स्तोत्ररत्नावली—सानुवाद [तेलुगु भी]	१८
■ 117	दुर्गासप्तशती—मूल मोटा टाइप [तेलुगु, कन्नड भी]	१२
■ 876	मूल गुटका	६
■ 1346	सानुवाद मोटा टाइप	२
■ 118	सानुवाद [गुजराती बगला भी]	१५
■ 489	सजिल्द	२
■ 866	केवल हिन्दी	१
■ 1161	केवल भाषा मोटा टाइप	३
■ 1281	सटीक राजसस्करण	३
■ 819	श्रीविष्णुसहस्रनाम-शाकरभाष्य	१५
■ 206	सटीक	३
■ 226	मूल, [मलयालम तेलुगु, कन्नड तमिल गुजराती भी]	१५
■ 509	सूक्ति सुधाकर—सूक्ति सग्रह	१
■ 207	रामस्तवराज—(सटीक)	३
■ 211	आदित्यहृदयस्तोत्रम्—हिन्दी अग्रजी अनुवाद सहित [ओडिआ भी]	१५
■ 224	श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्र भक्त बिल्वमगलरचित [तेलुगु, ओडिआ भी]	३
■ 231	रामरक्षास्तोत्रम्— [तेलुगु भी]	१५
■ 715	महामन्त्रराजस्तोत्रम्	३
■ 704	श्रीशिवसहस्रनामस्तोत्रम्	३
■ 705	श्रीहनुमत्सहस्रनामस्तोत्रम्	३
■ 706	श्रीगायत्रीसहस्रनामस्तोत्रम्	३
■ 707	श्रीरामसहस्रनामस्तोत्रम्	३
■ 708	श्रीसीतासहस्रनामस्तोत्रम्	३
■ 709	श्रीसूर्यसहस्रनामस्तोत्रम्	३
■ 710	श्रीगङ्गासहस्रनामस्तोत्रम्	२
■ 711	श्रीलक्ष्मीसहस्रनामस्तोत्रम्	३
■ 712	श्रीगणेशसहस्रनामस्तोत्रम्	३
■ 713	श्रीराधिकासहस्रनामस्तोत्रम्	
■ 810	श्रीगोपालसहस्रनामस्तोत्रम्	३
■ 495	दत्तात्रय वज्रकवच—सानुवाद [तेलुगु, मराठी भी]	३
■ 229	श्रीनारायणकवच एवं अमोघ शिवकवच [ओडिआ भी]	३
■ 563	शिवमहिम्नस्तोत्र—[तेलुगु भी]	३
■ 054	भजन सग्रह—पाँचों भाग एक साथ	२४
■ 140	श्रीरामकृष्णलीला भजनावली	१४
■ 142	चेतावनी पद सग्रह—(दोनों भाग)	१४
■ 144	भजनामृत—६७ भजनोंका स...	६
■ 1355	सचित्र स्तुति सग्रह	५
■ 1344	सचित्र आरती सग्रह	१

कोड		मूल्य
■ 153	आरती संग्रह—१०२ आरतियोंका सग्रह	५
■ 807	सचित्र आरतियाँ [गुजराती भी]	१०
▲ 385	नारद भक्ति सूत्र एवं शाण्डिल्य भक्ति सूत्र सानुवाद [बँगला, तमिल भी]	२
■ 208	सीतारामभजन	३
■ 221	हरेरामभजन—दो माला (गुटका)	३
■ 222	हरेरामभजन—१४ माला	१
■ 576	विनय पत्रिकाके पैंतीस पद	२
■ 225	गजेन्द्रमोक्ष-सानुवाद, हिन्दी पद्य भावानुवाद [तेलुगु, ओडिआ भी]	१५
■ 699	गङ्गालहरी	१५
■ 232	श्रीरामगीता	२
■ 383	भगवान् कृष्णकी कृपा तथा दिव्य प्रेमकी प्राप्तिके लिये	१५
■ 1094	हनुमानचालीसा-हिन्दी भावार्थसहित	४
■ 1181	हनुमानचालीसा मूल (रगीन)	२
■ 227	हनुमानचालीसा—(पाकेट साइज) [गुजराती असमिया तमिल, बगला, तेलुगु, कन्नड, ओडिआ भी]	१५०
■ 695	हनुमानचालीसा—(छोटी साइज) [गुजराती भी]	१
■ 228	शिवचालीसा	१५०
■ 1185	शिवचालीसा— लघु आकार	१
■ 851	दुर्गाचालीसा विन्ध्येश्वरीचालीसा	१५०
■ 1033	दुर्गाचालीसा—लघु	१
■ 203	अपरोक्षानुभूति	३
■ 139	नित्यकर्म प्रयोग	८
■ 524	ब्रह्मचर्य और संध्या गायत्री	३
■ 210	सन्ध्योपासनविधि एवं तर्पण बलिवैश्वदेवविधि—मन्त्रानुवादसहित	३
■ 236	साधकदैनन्दिनी	२
■ 614	सन्ध्या	१५

बालोपयोगी पाठ्यपुस्तकें

कोड		मूल्य
■ 573	बालक अङ्क—(कल्याण वर्ष २७)	८
■ 1316	बालपोथी (शिशु) रगीन	१
■ 461	भाग १	३
■ 212	भाग २	३
■ 684	भाग ३	३
■ 764	भाग ४	६
■ 765	भाग ५	६
■ 125	रगीन, भाग १	४
■ 216	बालककी दिनचर्या	३
■ 214	बालकके गुण	३
■ 217	बालकोंके सीख	३
■ 219	बालकके आचरण	३
■ 218	बाल अमृत वचन	३
■ 696	बाल प्रश्नोत्तरी [गुजराती भी]	३
■ 215	आओ बच्चो तुम्हे बतायें	३
■ 213	बालकोंकी बोल चाल	३
■ 145	बालकोंकी बातें	६
■ 146	बड़ोंके जीवनसे शिक्षा [ओडिआ भी]	६
■ 150	पिताकी सीख [गुजराती भी]	८
■ 402	आदर्श सुधारक	४
■ 897	लघुसिद्धान्तकौमुदी	१५
■ 148	वीर बालक	५
■ 1437	वीर बालक (रगीन)	७
■ 149	गुरु और माता पिताके भक्त बालक	५
■ 152	सच्चे ईमानदार बालक	४
■ 155	दयालु और परोपकारी बालक बालिकाएँ	४
■ 156	वीर बालिकाएँ	४
■ 727	स्वास्थ्य सम्मान और सुख	३

कोड	मूल्य

सर्वोपयोगी प्रकाशन

- ■ 698 मार्क्सवाद और रामराज्य-स्वामी करपात्रीजी
- ■ 202 मनोबोध— ५
- ■ 746 भ्रमण नारद
- ■ 747 सप्तमहाव्रत २
- ■ 1300 महाकुम्भ पर्व
- ■ 542 ईश्वर २
- ■ 196 मननमाला
- ■ 57 मानसिक दक्षता १६
- ■ 59 जीवनमें नया प्रकाश १३
- ■ 60 आशाकी नयी किरणें १४
- ■ 132 स्वर्णपथ ११
- ■ 55 महकते जीवनफूल- २
- ■ 1381 क्या करें ? क्या न करें ? १६
- ■ 1416 गरुडपुराण सारोद्धार (सानुवाद) १८
- ■ 64 प्रेमयोग १८
- ■ *774 गीताप्रेस परिचय* ४
- ■ 387 प्रेम सत्संग सुधामाला १२
- ■ 668 प्रश्नोत्तरी १५
- ■ 501 उद्धव सन्देश १३
- ■ 191 भगवान् कृष्ण [तमिल तेलुगु, मराठी गुजराती भी] ३५
- ■ 193 भगवान् राम [गुजराती भी] ४
- ■ 195 भगवान्पर विश्वास ४
- ■ 120 आनन्दमय जीवन ११
- ■ 130 तत्त्वविचार ९
- ■ 133 विवेक चूडामणि [तेलुगु भी] १
- ■ 701 गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका [ओडिआ बंगला तमिल, तेलुगु, मराठी *अंग्रेजी गुजराती कन्नड भी]* ३
- ■ 131 सुखी जीवन ९
- ■ 122 एक लोटा पानी १
- ■ 888 परलोक और पुनर्जन्मकी सत्य घटनाएँ १
- ■ 1217 भवनभास्कर १
- ■ 134 सती द्रौपदी ८
- ■ 137 उपयोगी कहानियाँ [तेलुगु, तमिल कन्नड गुजराती भी] ७
- ■ 157 सती सुकला ३
- ■ 147 चोखी कहानियाँ [तेलुगु, तमिल गुजराती मराठी भी] ४
- ■ 159 आदर्श उपकार (पढ़ो समझो और करो) ८
- ■ 160 कलजेके अक्षर— ८
- ■ 161 हृदयकी आदर्श विशालता— ८
- ■ 162 उपकारका बदला ८
- ■ 163 आदर्श मानव हृदय ८
- ■ 164 भगवान्‌के सामने सच्चा सो सच्चा ८
- ■ 165 मानवताका पुजारी— ८
- ■ 166 परोपकार और सच्चाईका फल- ८
- ■ 510 असीम नीचता और असीम साधुता ८
- ■ 129 एक महात्माका प्रसाद— १५
- ■ 827 तेईस चुलबुली कहानियाँ— ८
- ■ *151 सत्संगमाला एवं ज्ञानमणिमाला* ८
- ■ 1363 शरणागति रहस्य १५

चित्रकथा

- ■ 190 बाल चित्रमय श्रीकृष्णलीला ८
- ■ 1114 श्रीकृष्णलीला (राजस्थानी शैली १८ वीं शताब्दी) १
- ■ 867 भगवान् सूर्य (वृन्दाकार) ४०
- ■ 868 भगवान् सूर्य (ग्रंथाकार) १५
- ■ 1156 एकादश रुद्र (शिव) ५
- ■ 1032 बालचित्र रामायण—पुस्तकाकार ४
- ■ 869 कन्हैया [बंगला तमिल गुजराती ओडिआ भी] १०
- ■ 870 गोपाल [बंगला तमिल भी] १
- ■ 871 मोहन [बंगला तमिल, गुजराती ओडिआ भी] १
- ■ 872 श्रीकृष्ण [बंगला तमिल भी] १
- ■ *1018 नवग्रह—चित्र एवं परिचय* १०
- ■ 1016 रामलला १५
- ■ 1116 राजाराम १५
- ■ 862 मुझे बचाओ मेरा क्या कसूर? १५
- ■ *1017 श्रीराम—नवीन संस्करण* १५
- ■ 1394 भगवान् श्रीराम (पुस्तकाकार) १
- ■ 1418 श्रीकृष्णलीला दर्शन (   ) १
- ■ 1278 दशमहाविद्या [बंगला भी] १०
- ■ 829 अष्टविनायक [ओडिआ मराठी गुजराती भी] १
- ■ 1214 मानस स्तुति संग्रह १०
- ■ 1343 हर हर महादेव १५
- ■ 204 ॐ नमः शिवाय (द्वादश ज्योतिर्लिंगोंकी कथा) *[बंगला ओडिआ कन्नड भी]* १५
- ■ 787 जय हनुमान [तेलुगु, ओडिआ भी] १५
- ■ 779 दशावतार [बंगला भी] १
- ■ 1215 प्रमुख देवता १
- ■ 1216 प्रमुख देवियाँ १
- ■ *1420 पौराणिक देवियाँ* १
- ■ 1443 रामायणके प्रमुख पात्र १५
- ■ *1442 प्रमुख ऋषि मुनि* १५
- ■ 205 नवदुर्गा [तेलुगु, गुजराती असमिया कन्नड अंग्रेजी ओडिआ बंगला भी] १
- ■ 1307 नवदुर्गा—पॉकेट साइज ४
- ■ 537 बाल चित्रमय बुद्धलीला ५
- ■ 194 बाल चित्रमय चैतन्यलीला
- ■ 693 श्रीकृष्णरेखा चित्रावली
- ■ *656 गीता माहात्म्यकी कहानियाँ* [तमिल तेलुगु भी] ६
- ■ 651 गोसेवाके चमत्कार— [तमिल भी] ८

रंगीन चित्र प्रकाशन

- ▲ 237 जयश्रीराम—भगवान् रामकी सम्पूर्ण लीलाओंका चित्रण १५
- ▲ 546 जय श्रीकृष्ण—भगवान् कृष्णकी सम्पूर्ण लीलाओंका चित्रण १५
- ▲ *1001 जगज्जननी श्रीराधा—* ८
- ▲ 1020 श्रीराधा कृष्ण—युगल छवि ८
- ▲ 491 हनुमान्‌जी—(भक्तराज हनुमान्) ८
- ▲ 492 भगवान् विष्णु ८
- ▲ 560 लड्डू गोपाल (भगवान् श्रीकृष्णका बालस्वरूप) ८
- ▲ 1351 सुमधुर गोपाल ८
- ▲ 548 मुरलीमनोहर—(भगवान् मुरलीमनोहर) ८
- ▲ 776 सीताराम— युगल छवि ८
- ▲ 1290 नटराज शिव ८
- ▲ 630 सर्वदेवमयी गौ ८
- ▲ 531 श्रीबाँकेबिहारी ८
- ▲ 812 नवदुर्गा (माँ दुर्गाके नौ स्वरूपोंका चित्रण) ८
- ▲ 437 कल्याण चित्रावली—I ८
- ▲ *1320 कल्याण चित्रावली—II* ८

'कल्याण' के पुनर्मुद्रित विशेषाङ्क

- ■ 1184 कृष्णाङ्क १
- ■ 749 ईश्वराङ्क ९
- ■ *635 शिवाङ्क* १
- ■ 41 शक्ति अङ्क १
- ■ 616 योगाङ्क ९
- ■ 627 संत अङ्क १
- ■ 604 साधनाङ्क १
- ■ 1104 भागवताङ्क १३
- ■ 1002 सं० वाल्मीकीय रामायणाङ्क ६५
- ■ 44 संक्षिप्त पद्मपुराण १२०
- ■ 539 संक्षिप्त मार्कण्डेयपुराण ५५
- ■ 1111 संक्षिप्त ब्रह्मपुराण ७०
- ■ *43 नारी अङ्क* १०
- ■ 659 उपनिषद्-अङ्क— १०
- ■ 518 हिन्दू संस्कृति अङ्क १२०
- ■ 279 सं० स्कन्दपुराण १४
- ■ 40 भक्त चरिताङ्क १२०
- ■ 573 बालक-अङ्क ८
- ■ 1183 सं० नारदपुराण १
- ■ 667 संतवाणी अङ्क
- ■ 587 सत्कथा अङ्क १
- ■ 636 तीर्थाङ्क १
- ■ 660 भक्ति-अङ्क
- ■ 1133 सं० देवीभागवत मोटा टाइप १२
- ■ *574 सं० योगवासिष्ठ अङ्क* ९
- ■ 789 सं० शिवपुराण-(बड़ा टाइप) १
- ■ 631 सं० ब्रह्मवैवर्तपुराण ११
- ■ 1362 सं० अग्निपुराण ११
- ■ 1135 भगवन्नाम महिमा और प्रार्थना अङ्क ८५
- ■ *572 परलोक पुनर्जन्माङ्क* १
- ■ 517 गर्ग संहिता-[भगवान् श्रीराधाकृष्णकी *दिव्य लीलाओंका वर्णन]* ७०
- ■ 1113 नरसिंहपुराणम् सानुवाद ५५
- ■ 657 श्रीगणेश अङ्क ७५
- ■ 42 हनुमान अङ्क— ७०
- ■ 791 सूर्याङ्क ६
- ■ 584 सं० भविष्यपुराणाङ्क ७५
- ■ 586 शिवोपासनाङ्क ७५
- ■ *628 रामभक्ति अङ्क* ६५
- ■ 653 गोसेवा-अङ्क ७५
- ■ 1432 सं० वामनपुराण (मुद्रणकी प्रक्रियामें)
- ■ 1131 कूर्मपुराणाङ्क
- ■ *448 भगवल्लीला अङ्क* ६५
- ■ 1044 वेद कथाङ्क
- ■ 1189 सं० गरुड़पुराणाङ्क ८०
- ■ *1377 आरोग्य अङ्क* ८
- ■ 1379 नीतिसार-अङ्क (मासिक अङ्कोंके साथ) १२
- ■ कल्याण मासिक अङ्क ६

Annual Issues of Kalyan Kalpataru at Reduced Rates

- ■ 1395 Woman No. 40
- ■ 1396 Rama No 40
- ■ *1397 Manusmriti No* 40
- ■ 1398 Hindu Sanskriti No 40

अन्य भारतीय भाषाओंके प्रकाशन

संस्कृत

- ▲ 679 गीतामाधुर्य ६

बँगला

- ■ *954 श्रीरामचरितमानस ग्रन्थाकार* १२०
- ■ 763 गीता साधक संजीवनी— ८५
- ■ 1118 गीतातत्त्व विवेचनी— ६५
- ■ 556 गीता दर्पण— ३०
- ■ 013 गीता पदच्छेद— २०
- ■ 957 गीता ताबीजी— ३
- ■ 1322 दुर्गासप्तशती सटीक १५
- ■ *1075 ॐ नमः शिवाय* १५
- ■ 1043 नवदुर्गा १
- ■ 1439 दशमहाविद्या १
- ■ 1292 दशावतार १

कोड	मूल्य
■ 1096 कन्हैया	१०
■ 1097 गोपाल	१
■ 1098 मोहन	१
■ 1123 श्रीकृष्ण	१
■ 1393 गीता भाषा टीका (पॉकेट साइज) सजि.	१
■ 496 गीता भाषा टीका (पाकेट साइज)	६
■ 275 कल्याण प्राप्तिके उपाय	१०
▲ 1305 प्रश्नोत्तर मणिमाला	७
▲ 395 गीतामाधुर्य	५
▲ 1102 अमृत बिन्दु	५
■ 1356 सुन्दरकाण्ड—सटीक	४
▲ 816 कल्याणकारी प्रवचन	४
▲ 276 परमार्थ पत्रावली— भाग १	४
▲ 1306 कर्त्तव्य साधनासे भगवत्प्राप्ति	४
▲ 1359 जिन खोजा तिन पाइया	४
▲ 1115 तत्त्वज्ञान कैसे हो?	४
▲ 1303 साधकोके प्रति	४
▲ 1358 कर्म रहस्य	४
▲ 1119 ईश्वर और धर्म क्यों?	७
▲ 1122 क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?	३
▲ 625 देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	३
▲ 428 गृहस्थमें कैसे रहें ?	३
▲ 903 सहज साधना	३
▲ 1368 साधना	३
▲ 312 आदर्श नारी सुशीला	३
▲ 955 तात्त्विक प्रवचन	३
■ 1103 मूल रामायण एवं रामरक्षास्तोत्र	२
▲ 449 दुर्गतिसे बचो गुरुतत्त्व	२
▲ 956 साधन और साध्य	२
▲ 330 नारद एवं शाडिल्य भक्ति सूत्र	२
▲ 762 गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२
▲ 848 आनन्दकी लहरें	१५
■ 626 हनुमानचालीसा	१५
▲ 1319 कल्याणके तीन सुगम मार्ग	१५
▲ 1293 शिखा धारणकी आवश्यकता और हम कहाँ जा रहे है?	१५
▲ 450 हम ईश्वरको क्यों मानें?	१५
▲ 849 मातृशक्ति का घोर अपमान	१
▲ 451 महापापसे बचो	१
▲ 469 मूर्तिपूजा	१
▲ 1140 भगवान्के दर्शन प्रत्यक्ष हो सकते हैं	१५
▲ 296 सत्संगकी सार बातें	१
▲ 443 सतानका कर्तव्य	१

मराठी

कोड	मूल्य
■ 1314 श्रीरामचरितमानस सटीक मोटा टाइप	१२
■ 784 ज्ञानेश्वरी गूढ़ार्थ दीपिका	१३०
■ 853 एकनाथी भागवत—मूल	९०
■ 7 गीता साधक संजीवनी टीका	८५
■ 1304 गीता तत्त्व विवेचनी	७०
■ 1071 श्रीनामदेवांची गाथा	५
■ 859 ज्ञानेश्वरी—मूल मझला	३५
■ 15 गीता माहात्म्यसहित	३
■ 504 गीता दर्पण	३०
■ 748 ज्ञानेश्वरी—मूल गुटका	२५
■ 14 गीता पदच्छेद	२५
■ 1388 गीता श्लोकार्थसहित (मोटा टाइप)	१
■ 1257 गीताश्लोकार्थसहित (पाकेट साइज)	६
■ 1168 भक्त नरसिंह मेहता	८
▲ 429 गृहस्थमें कैसे रहें ?	७
▲ 1387 प्रेममें विलक्षण एकता	७
■ 857 अष्टविनायक	६
▲ 391 गीतामाधुर्य	६
▲ 1099 अमूल्य समयका सदुपयोग	६

कोड	मूल्य
▲ 1335 रामायणके कुछ आदर्श पात्र	६
▲ 1155 उद्धार कैसे हो?	४
▲ 1386 महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	५
▲ 1340 अमृत बिन्दु	५
▲ 1382 शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	६
▲ 1210 जित देखूँ तित तू	६
▲ 1330 मेरा अनुभव	६
■ 1073 भक्त चन्द्रिका	४
■ 1383 भक्तराज हनुमान	४
▲ 886 साधकोंके प्रति	४
▲ 885 तात्त्विक प्रवचन	४
■ 1333 भगवान् श्रीकृष्ण	४
■ 1332 दत्तात्रेय वज्रकवच	३
■ 855 हरीपाठ	३
■ 1169 चोखी कहानियाँ	३
▲ 1385 नल दमयती	३
▲ 1384 सती सावित्री कथा	२
▲ 880 साधन और साध्य	४
▲ 1006 वासुदेव सर्वम्	३
▲ 1276 आदर्शनारी सुशीला	३
▲ 1334 भगवान्के रहनेके पाँच स्थान	३
▲ 899 देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	३
▲ 1339 कल्याणके तीन सुगम मार्ग और सत्यकी शरणसे मुक्ति	३
▲ 1341 सहज साधना	३
▲ 802 गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२
▲ 882 मातृशक्तिका घोर अपमान	२
▲ 883 मूर्तिपूजा	१५
▲ 884 सन्तानका कर्तव्य	१५
▲ 1279 सत्संगकी कुछ सार बातें	१५
▲ 901 नाम जपकी महिमा	१५
▲ 900 दुर्गतिसे बचो	१५
▲ 902 आहार शुद्धि	
▲ 1170 हमारा कर्तव्य	१५
▲ 881 भगवत्प्राप्तिकी सुगमता	५
▲ 898 भगवन्नाम	४

गुजराती

कोड	मूल्य
■ 799 श्रीरामचरितमानस—ग्रन्थाकार	१२
■ 1430 श्रीरामचरितमानस मूल मोटा	६
■ 1326 सं० देवीभागवत	१२
■ 1286 संक्षिप्त शिवपुराण	११
■ 467 गीता साधक संजीवनी	९
■ 1313 गीता तत्त्व विवेचनी	७०
■ 785 श्रीरामचरितमानस—मझला सटीक	
■ 468 गीता दर्पण	४
■ 878 श्रीरामचरितमानस—मूल मझला	३५
■ 879 श्रीरामचरितमानस—मूल गुटका	२५
■ 1365 नित्यकर्म पूजाप्रकाश	३
■ 12 गीता पदच्छेद	२५
■ 1315 गीता—सटीक मोटा टाइप	१५
■ 1366 दुर्गासप्तशती—सटीक	१५
■ 1227 सचित्र आरतियाँ	१०
■ 1034 गीता छोटी—सजिल्द	१
■ 1225 मोहन— (धारावाहिक चित्रकथा)	१
■ 1224 कन्हैया—	१
■ 1228 नवदुर्गा	१
■ 936 गीता छोटी—सटीक	६
■ 948 सुन्दरकाण्ड—मूल मोटा	५
■ 1085 भगवान् राम—	४
■ 950 सुन्दरकाण्ड—मूल गुटका	३
■ 1199 सुन्दरकाण्ड—मूल लघु आकार	२
■ 1226 अष्ट विनायक	१

कोड	मूल्य
■ 613 भक्त नरसिंह मेहता	९
▲ 1164 शीघ्र कल्याणके सोपान	८
▲ 1146 श्रद्धा विश्वास और प्रेम	८
▲ 1144 व्यवहारमें परमार्थकी कला	८
▲ 1062 नारीशिक्षा	८
▲ 1129 अपात्रको भी भगवत्प्राप्ति	८
■ 1400 पिताकी सीख	८
▲ 1128 दाम्पत्य जीवनका आदर्श	७
▲ 1061 साधननवनीत	७
▲ 1264 मेरा अनुभव	७
▲ 1046 स्त्रियोंके लिये कर्त्तव्य शिक्षा	७
■ 1143 भक्त सुमन	७
■ 1142 भक्त सरोज	७
▲ 1211 जीवनका कर्तव्य	७
▲ 404 कल्याणकारी प्रवचन	७
▲ 877 अनन्य भक्तिसे भगवत्प्राप्ति	७
▲ 818 उपदेशप्रद कहानियाँ	७
▲ 1265 अध्यात्मिक प्रवचन	७
▲ 1052 इसी जन्ममें भगवत्प्राप्ति	६
■ 934 उपयोगी कहानियाँ	६
■ 1076 आदर्श भक्त	६
■ 1084 भक्त महिलारत्न	६
■ 875 भक्त सुधाकर	६
▲ 1067 दिव्य सुखकी सरिता	६
▲ 933 रामायणके आदर्श पात्र	६
▲ 1295 जित देखूँ तित तूँ	६
▲ 943 गृहस्थमें कैसे रहें?	६
▲ 932 अमूल्य समयका सदुपयोग	६
▲ 392 गीतामाधुर्य-	६
■ 1082 भक्त सप्तरत्न	५
■ 1087 प्रेमी भक्त	५
▲ 1077 शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	५
▲ 940 अमृत बिन्दु	५
▲ 931 उद्धार कैसे हो?	५
▲ 894 महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	५
▲ 413 तात्त्विक प्रवचन	५
■ 892 भक्त चन्द्रिका	४
■ 895 भगवान् श्रीकृष्ण	४
▲ 1126 साधन पथ	४
▲ 946 सत्संगका प्रसाद	४
▲ 942 जीवनका सत्य	४
▲ 1145 अमरताकी ओर	४
▲ 1066 भगवान्से अपनापन	४
■ 806 रामभक्त हनुमान्	४
▲ 1086 कल्याणकारी प्रवचन	४
▲ 1287 सत्यकी खोज	४
▲ 1088 एकै साधे सब सधै	४
■ 1399 चोखी कहानियाँ	४
▲ 889 भगवान्के रहनेके पाँच स्थान	३
▲ 1141 क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?	३
▲ 939 मातृ शक्तिका घोर अपमान	३
■ 890 प्रेमी भक्त उद्धव	३
▲ 1047 आदर्श नारी सुशीला	३
▲ 1059 नल-दमयन्ती	३
▲ 1045 बालशिक्षा	३
▲ 1063 सत्संगकी विलक्षणता	३
▲ 1064 जीवनोपयोगी कल्याण मार्ग	३
▲ 1165 सहज साधना	३
▲ 1151 सत्संगमुक्ताहार	३
■ 1401 बालप्रश्नोत्तरी	३
■ 935 संक्षिप्त रामायण (वाल्मीकीय रामायण अन्तर्गत)	२
▲ 893 सती सावित्री	२
▲ 941 देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	२
▲ 1177 आवश्यक शिक्षा	२

कोड		मूल्य
▲ 804	गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२
▲ 1049	आनन्दकी लहरें	१५०
■ 947	महात्मा विदुर	
■ 937	विष्णुसहस्रनाम	१५
▲ 1058	मनको वश करनेके उपाय एवं कल्याणकारी आचरण	१५०
▲ 1050	सच्चा सुख	१५०
▲ 1060	त्यागसे भगवत्प्राप्ति और गीता पढ़नेके लाभ	१५०
■ 828	हनुमानचालीसा	१५
▲ 844	सत्सगकी कुछ सार बातें	१५
▲ 1055	हमारा कर्तव्य एव व्यापार सुधारकी आवश्यकता	१५०
▲ 1048	संत महिमा	१५
▲ 1179	दुर्गतिसे बचो	१५०
▲ 1178	सार सग्रह सत्सगके अमृत कण	१५०
▲ 1152	मुक्तिमे सबका अधिकार	१५
▲ 1207	मूर्तिपूजा नाम जपकी महिमा	१५
▲ 1167	भगवतत्त्व	१५०
▲ 1206	धर्म क्या है? भगवान् क्या है?	१५
▲ 1051	भगवान्‌की दया	१५
■ 1198	हनुमानचालीसा—लघु आकार	१
■ 1229	पचामृत	१
▲ 1054	प्रेमका सच्चा स्वरूप और सत्यकी शरणसे मुक्ति	१५०
▲ 938	सर्वोच्चपदप्राप्तिके साधन	१
▲ 1056	चेतावनी एवं सामयिक चेतावनी	१
▲ 1053	अवतारका सिद्धान्त और ईश्वर दयालु एव न्यायकारी	१५०
▲ 1127	ध्यान और मानसिक पूजा	१५
▲ 1148	महापापसे बचो	१
▲ 1153	अलौकिक प्रेम	१५०

तमिल

कोड		मूल्य
■ 1426	गीता साधक संजीवनी—भाग १	७५
■ 800	गीता तत्त्व विवेचनी	७५
■ 1256	अध्यात्म रामायण	५०
■ 823	गीता पदच्छेद	२०
■ 743	गीता मूलम्	१५
▲ 389	गीतामाधुर्य	८
■ 365	गोसेवाके चमत्कार	८
■ 1134	गीता माहात्म्यकी कहानियाँ	८
▲ 1007	अपात्रको भी भगवत्प्राप्ति	८
▲ 553	गृहस्थमें कैसे रहें ?	८
▲ 850	सतवाणी—(भाग १)	७
▲ 952	(२)	७
▲ 953	(३)	७
▲ 1353	रामायणके कुछ आदर्श पात्र	७
▲ 1354	महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	७
■ 795	गीता भाषा	६
■ 646	चोखी कहानियाँ	६
■ 608	भक्तराज हनुमान्	६
■ 1246	भक्तचरित्रम्	६
▲ 643	भगवान्‌के रहनेके पाँच स्थान	५
▲ 550	नाम जपकी महिमा	
▲ 1289	साधन पथ	५
■ 793	गीता मूल विष्णुसहस्रनाम	५
▲ 1117	देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	५
▲ 1110	अमृत बिन्दु	५
▲ 655	एकै साधे सब सधै	५
▲ 1243	वास्तविक सुख	५
■ 741	महात्मा विदुर	४
▲ 536	गीता पढ़नेके लाभ सत्यकी शरणसे मुक्ति	३
▲ 591	महापापसे बचो संतानका कर्तव्य	३
▲ 609	सावित्री और सत्यवान्	३
▲ 644	आदर्श नारी सुशीला	३

कोड		मूल्य
▲ 68	शरणागति	३
▲ 805	मातृशक्तिका घोर अपमान	२
▲ 607	सबका कल्याण कैसे हो?	२
■ 794	विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्	२
■ 127	उपयोगी कहानियाँ	
■ 600	हनुमानचालीसा	२
▲ 466	सत्सगकी सार बातें	१
▲ 499	नारद भक्ति सूत्र	१५०
■ 601	भगवान् श्रीकृष्ण	
■ 642	प्रेमी भक्त उद्धव	
■ 647	कन्हैया (धारावाहिक चित्रकथा)	
■ 648	श्रीकृष्ण—( )	
■ 649	गोपाल—( )	
■ 650	मोहन— ( )	
■ 1042	पञ्चामृत	
▲ 742	गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	
▲ 423	कर्मरहस्य	४
▲ 569	मूर्तिपूजा	१५०
▲ 551	आहारशुद्धि	
▲ 645	नल दमयन्ती	
▲ 606	सर्वोच्चपदकी प्राप्तिके साधन	
▲ 792	आवश्यक चेतावनी	

कन्नड़

कोड		मूल्य
■ 1112	गीता तत्त्व विवेचनी	७०
■ 1369, 1370	गीता साधक सजीवनी (दो खण्डोंमें सेट)	१२०
■ 726	गीता पदच्छेद	२५
■ 718	गीता तात्पर्यके साथ	१५
■ 1375	ॐ नम शिवाय	१५
■ 1357	नवदुर्गा	१
▲ 1109	उपदेशप्रद कहानियाँ	८
▲ 945	साधन नवनीत	८
■ 724	उपयोगी कहानियाँ	७
▲ 833	रामायणके कुछ आदर्श पात्र	७
▲ 834	स्त्रियोके लिये कर्तव्य शिक्षा	७
■ 1288	गीता श्लोकार्थ	६
▲ 716	शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ	६
■ 832	सुन्दरकाण्ड (सटीक)	६
■ 840	आदर्श भक्त	६
■ 841	भक्त सप्तरत्न	६
■ 843	दुर्गासप्तशती—मूल	६
▲ 390	गीतामाधुर्य	६
▲ 720	महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	६
▲ 1374	अमूल्य समयका सदुपयोग	६
▲ 128	गृहस्थमें कैसे रहें ?	५
■ 661	गीता मूल (विष्णुसहस्रनामसहित)	५
■ 721	भक्त बालक	५
■ 951	भक्त चन्द्रिका	५
■ 835	श्रीरामभक्त हनुमान्	४
■ 837	विष्णुसहस्रनाम—सटीक	४
■ 842	ललितासहस्रनामस्तोत्र	४
▲ 717	सावित्री सत्यवान् और आदर्श नारी सुशीला	४
▲ 723	नाम जपकी महिमा और आहार शुद्धि	३
▲ 725	भगवान्‌की दया एवं भगवान्‌का हेतु रहित सौहार्द	३
▲ 722	सत्यकी शरणसे मुक्ति गीता पढ़नेके लाभ	३
▲ 325	कर्मरहस्य	३
▲ 597	महापापसे बचो	१५
▲ 719	बालशिक्षा	३
▲ 839	भगवान्‌के रहनेके पाँच स्थान	३
▲ 1371	शरणागति	३
■ 737	विष्णुसहस्रनाम एवं सहस्रनामावली	३
▲ 836	नल दमयन्ती	२

कोड		मूल्य
▲ 838	गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२
■ 736	नित्यस्तुति आदित्यहृदयस्तोत्रम्	१५०
■ 1105	श्रीवाल्मीकि रामायणम् सक्षिप्त	१५०
■ 738	हनुमत् स्तोत्रावली	१५०
▲ 593	भगवत्प्राप्तिकी सुगमता	
▲ 598	वास्तविक सुख	
▲ 831	देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	३

असमिया

कोड		मूल्य
■ 714	गीता भाषा टीका—पाकेट साइज	६
■ 1222	श्रीमद्भागवत माहात्म्य	
■ 825	नवदुर्गा—	५
▲ 624	गीतामाधुर्य—	५
■ 1323	श्रीहनुमान चालीसा	१५०
▲ 703	गीता पढ़नेके लाभ	१

ओडिआ

कोड		मूल्य
■ 1121	गीता साधक सजीवनी	१
■ 1100	गीता तत्त्व विवेचनी—ग्रन्थाकार	७०
■ 1218	रामचरितमानस—मूल मोटा टाइप	७०
■ 1298	गीता दर्पण	३५
■ 815	गीता श्लोकार्थसहित—(सजिल्द)	१८
■ 1219	गीता पञ्चरत्न	१५
■ 1009	जय हनुमान्	१५
■ 1250	ॐ नम शिवाय	१५
■ 1157	गीता सटीक मोटे अक्षर (अजिल्द)	१
■ 1010	अष्टविनायक	१
■ 1248	मोहन	१
■ 1249	कन्हैया—	१
■ 863	नवदुर्गा	१
▲ 1251	भवरोगकी रामबाण दवा	८
▲ 1209	प्रश्नोत्तर मणिमाला	७
▲ 1274	परमार्थ सूत्र संग्रह	७
▲ 1254	साधन नवनीत	७
■ 1008	गीता—पाकेट साइज	६
▲ 754	गीतामाधुर्य	६
▲ 1208	आदर्श कहानियाँ	६
▲ 1139	कल्याणकारी प्रवचन	६
■ 1342	बड़ोके जीवनसे शिक्षा	६
▲ 1205	रामायणके कुछ आदर्श पात्र	६
■ 1204	सुन्दरकाण्ड—मूल मोटा	५
▲ 1299	भगवान् और उनकी भक्ति	५
■ 854	भक्तराज हनुमान्	४
▲ 1004	तात्त्विक प्रवचन	४
▲ 1138	भगवान्‌से अपनापन	४
▲ 1187	आदर्श भ्रातृप्रेम	४
▲ 430	गृहस्थमें कैसे रहें ?	४
▲ 1321	सब जग ईश्वररूप है	४
▲ 1269	आवश्यक शिक्षा	४
▲ 865	प्रार्थना	३
▲ 796	देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	३
▲ 1130	क्या गुरु बिना मुक्ति नहीं?	३
■ 1154	गोविन्ददामोदरस्तोत्र	३
■ 1200	सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र	३
▲ 1174	आदर्श नारी सुशीला	३
■ 541	गीता मूल विष्णुसहस्रनाम सहित	३
▲ 1003	सत्सगमुक्ताहार	३
▲ 817	कर्मरहस्य	३
▲ 1078	भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय	३
▲ 1079	बालशिक्षा	३
▲ 1163	बालकोंके कर्तव्य	३
▲ 1252	भगवान्‌के रहनेके पाँच स्थान	३
▲ 757	शरणागति	३
▲ 1186	श्रीभगवन्नाम	३
▲ 1267	सहज साधना	१

कोड	मूल्य
▲1005 मातृशक्तिका घोर अपमान	३
▲1203 नल दमयन्ती	३
▲1186 श्रीभगवन्नाम	३
▲1253 परलोक और पुनर्जन्म एवं वैराग्य	३
▲1220 सावित्री और सत्यवान्	२
▲ 826 गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२
■ 856 हनुमानचालीसा	१५
▲ 798 गुरुतत्त्व	१५
▲ 797 सन्तानका कर्तव्य-	१५०
■1036 गीता—मूल लघु आकार	१५
■1070 आदित्यहृदयस्तोत्र	१५०
■1068 गजेन्द्रमोक्ष	१५
■1069 नारायणकवच	१५
▲1089 धर्म क्या है? भगवान् क्या है?	१५०
▲1039 भगवान्‌की दया एवं भगवत्कृपा	१५
▲1090 प्रेमका सच्चा स्वरूप (पाकेट साइज)	१५०
▲1091 हमारा कर्तव्य	१५
▲1040 सत्संगकी कुछ सार बातें	१५
▲1011 आनन्दकी लहरें	१५०
▲ 852 मूर्तिपूजा नामजपकी महिमा	१५
▲1038 सत महिमा	१
▲1041 ब्रह्मचर्य एवं मनको वश करनेके कुछ उपाय	१५०
▲1221 आदर्श देवियाँ	
■1201 महात्मा विदुर	
■1202 प्रेमी भक्त उद्धव	
■1173 भक्त चन्द्रिका	
नेपाली	
▲ 394 गीतामाधुर्य	
▲ 554 हम ईश्वरको क्यों मानें?	
उर्दू	
▲ 393 गीतामाधुर्य	८
▲ 549 महापापसे बचो	१५
▲ 590 मनकी खटपट कैसे मिटे	८
तेलगू	
■1352 रामचरितमानस सटीक—ग्रन्थाकार	१२
■1429 श्रीमद्वाल्मीकि रामायण सुन्दरकाण्ड (तात्पर्यसहित)	७५
■1172 गीता तत्त्व विवेचनी	७
■ 845 अध्यात्मरामायण	६

कोड	मूल्य
■ 772 गीता पदच्छेद अन्वयसहित	२
■ 924 वाल्मीकि रामायणम् सुन्दरकाण्डम् मूलम्	१७
■ 914 स्तोत्ररत्नावली	१७
■ 887 जय हनुमान् पत्रिका	१५
■ 771 गीता तात्पर्यसहित	१५
■ 910 विवेकचूडामणि	१३
■ 904 नारद भक्तिसूत्र मुलु (प्रेमदर्शन-)	१२
■ 909 दुर्गासप्तशती—मूलम्	१०
■1029 भजन संकीर्तनावली	१
■1301 नवदुर्गा पत्रिका	१०
■1309 गीता माहात्म्यकी कहानियाँ	१०
■1390 गीता तात्पर्य (पॉकेट साइज) (मोटा टाइप)	१
■ 691 श्रीभीष्मपितामह	९
▲1028 गीता माधुर्य	८
▲ 915 उपदेशप्रद कहानियाँ	८
▲ 905 आदर्श दाम्पत्य जीवनमु	८
■1031 गीता—छोटी पाकेट साइज	६
■ 929 महाभक्तुलु	६
■ 919 मंचि कथलु (उपयोगी कहानियाँ)	६
▲ 766 महाभारतके कुछ आदर्श पात्र	६
▲ 768 रामायणके कुछ आदर्श पात्र	६
▲ 733 गृहस्थमें कैसे रहें?	५
■ 908 नारायणीयम्—मूलम्	
■ 682 भक्तपञ्चरत्न	५
■ 687 आदर्श भक्त	५
■ 767 भक्तराज हनुमान्	५
■ 917 भक्त चन्द्रिका	५
■ 918 भक्त सप्तरत्न	५
■ 641 भगवान् श्रीकृष्ण	५
■ 663 गीता भावा	५
■ 662 गीता मूल (विष्णुसहस्रनामसहित)	४
■ 753 सुन्दरकाण्ड— सटीक	४
■ 685 भक्त बालक	४
■ 692 चोखी कहानिया	४
▲ 920 परमार्थ पत्रावली	४
■ 930 दत्तात्रेय वज्रकवच	३
■ 846 ईशावास्योपनिषद्	३
■ 686 प्रेमीभक्त उद्धव	३
■1023 श्रीशिवमहिम्न स्तोत्रम् सटीक	३

कोड	मूल्य
■ 1025 स्तोत्रकदम्बम्	३
■ 1026 पंचसूक्तमुलु रूद्रमु	५
■ 674 गोविन्ददामोदरस्तोत्र	३
■ 675 सं० रामायणमु,रामरक्षास्तोत्रम्	३
▲ 906 भगन्तुडे आत्मेयुणु	३
■ 801 ललितासहस्रनाम	३
■ 688 भक्तराज ध्रुव	२
■ 670 विष्णुसहस्रनाम मूल	१५
■ 732 नित्यस्तुति आदित्यहृदयस्तोत्रम्	१५
■ 912 रामरक्षास्तोत्र सटीक	१५०
■ 676 हनुमानचालीसा	१५०
■ 677 गजेन्द्रमोक्षम्	१५
▲ 913 भगवत्प्राप्ति सर्वोत्कृष्ट साधनमु नाम स्मरणमें	१५०
▲ 923 भगवन्तु दयालु न्यायमूर्ति	१५
▲ 760 महत्त्वपूर्ण शिक्षा	४
▲ 761 एकै साधे सब सधै	४
▲ 922 सर्वोत्तम साधन	४
▲ 759 शरणागति एवं मुकुन्दमाला	३
▲ 752 गर्भपात उचित या अनुचित फैसला आपका	२
▲ 734 आहारशुद्धि मूर्तिपूजा	२
▲ 664 सावित्री सत्यवान्	२
▲ 665 आदर्श नारी सुशीला	३
▲ 921 नवधा भक्ति	३
▲ 666 अमूल्य समयका सदुपयोग	६
▲ 672 सत्यकी शरणसे मुक्ति	१५
▲ 671 नामजपकी महिमा	१
▲ 678 सत्संगकी कुछ सार बातें	१
▲ 731 महापापसे बचो	१५
▲ 925 सर्वोच्चपदकी प्राप्तिके साधन	१५
▲ 758 देशकी वर्तमान दशा तथा उसका परिणाम	३
▲ 916 नल दमयन्ती	५
▲ 689 भगवान्‌के रहनेके पाच स्थान	३
▲ 690 बालशिक्षा	४
▲ 907 प्रेमभक्ति प्रकाशिका	१५
▲ 673 भगवान्‌का हेतुरहित सौहार्द	१५०
▲ 926 सन्तानका कर्तव्य	१५
मलयालम	
■ 739 गीता विष्णुसहस्रनाम मूल	४
■ 740 विष्णुसहस्रनाम—मूल	१

Code	Price
■ 1318 Śrı Rāmacaritamanasa (With Hindı Text Transliteration & Engl sh Translation)	200
■ 452 } 453 } Śrimad Vālmīki Rāmāyana (With Sanskr t Text and English Translation) Set of 2 volumes	250
■ 564 } 565 } Śrimad Bhāgavata (With Sanskr t Text and Engli h Translation) Set	200
■ 1080 } 1081 } Śrimad Bhāga adgitā Sadhaka-S nji ani (By Swam Ramsukhdas) (English Commentary) Set of 2 Volumes	70
■ 457 Śrimad Bhagavadgitā Tatt a Vivecanī (By Jayadayal Goyandka) Detailed Commentary	50
■ 455 Bhagavadg tā (With Sanskrit Te t and English Translation) Pocket s ze	5
■ 534 (Bo nd)	8
■ 1223 Bhagavadg tā (Roman G tā) (W th San krit Text Transleteration and English Translation)	10
■ 456 Śri Rāmacaritamānasa (W th Hindi Text and English Translation)	100
■ 786 „ „ Medium	50
▲ 783 Abortion Right r Wrong You Decide	2
■ 824 Songs From Bhartrhari	2
■ 494 The Immanence of God (By Madan Mohan Mala iya)	

Our English Publications

By Jayadayal Goyandka

Code	Price
▲ 477 Gems of Truth [Vol I]	5
▲ 478 „ [Vol. II]	6
▲ 479 Sure Steps to God Realization	8
▲ 481 Way to Divine & Bliss	5
▲ 482 What is Dharma? What is God?	1 50
▲ 480 Instructive Eleven Stories	4
▲ 694 Dialogue w th the Lord During Meditation	2
▲ 1125 Five Div ne Abodes	3
▲ 520 Secret of Jna ayoga	8
▲ 521 „ Premayoga	6
■ 522 „ „ Karmayoga	9
▲ 523 „ „ Bhaktiyoga	8
▲ 658 „ „ Gitā	4
▲ 1013 Gems f Satsan ga	1

By Hanuman Prasad Poddar

Code	Price
▲ 484 Look Beyond the Veil	8
▲ 622 H w to Attain Eternal Happiness	8
▲ 483 Turn to God	8
▲ 485 Path to Divinity	7
▲ 847 Gopis Lo e for Śrī Kṛṣṇa	4
▲ 6 0 The Divine Name and Its Practice	3
▲ 486 Wavelets of Bliss & the Divine Message	

By Swami Ramsukhdas

Code	Price
▲ 498 In Search of Supreme Abode	
▲ 619 Ease in God Realization	4
▲ 471 Benedictory Discourses	6
▲ 473 Art of Living	4
▲ 487 Gitā Mādhurya (E glish)	6
▲ 1101 The Drops of Nectar (Amṛta Bindu)	4
▲ 472 How to Lead A Househ ld Life	3
▲ 570 Let us Know the Truth	3
▲ 638 Sahaja Sādhanā	2
▲ 634 God is Everything	3
▲ 621 Invaluable Advice	2
▲ 474 Be Good	
▲ 497 Truthfulness of Life	2
▲ 669 The Di ne Name	2
▲ 476 How to be Self Reliant	
▲ 552 Way to Attain the S preme Bliss	1
▲ 562 Ancient Idealism for Mod rnday Living	1

SPECIAL EDITIONS

Code	Price
■ 1391 The Bhagavadgitā (Sanskrit Text and Engl h Translat n) Pocket Size	10
■ 1411 Gitā Roman (Sanskrit text, Transliteration & English Translation) Book Size	15
■ 1407 The Drops of Nectar (By Swami Ramsukhdas)	10

॥ श्रीहरि ॥

'कल्याण' का उद्देश्य और इसके नियम

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित लेखाद्वारा जन-जनको कल्याण-पथ (आत्मोद्धारके सुमार्ग)-पर अग्रसरित करनेकी प्रेरणा देना इसका एकमात्र उद्देश्य है।

नियम—भगवद्भक्ति, ज्ञान, वेराग्यादि प्रेरणाप्रद एव कल्याण-मार्गमे सहायक अध्यात्मविषयक व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखाके अतिरिक्त अन्य विपयाके लेख 'कल्याण' मे प्रकाशित नहीं किये जाते। लेखोको घटाने-बढाने ओर छापने-न-छापनेका अधिकार सम्पादकको हे। अमुद्रित लेख बिना मॉगे लोटाये नहीं जाते। लेखाम प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदायी नहीं है।

१-'कल्याण' का वर्तमान वार्षिक सदस्यता-शुल्क डाक-व्ययसहित नपाल-भूटान तथा भारतवर्षम रु० १२० (सजिल्द विशेपाङ्कका रु० १३५) और विदेशके लिये सजिल्द विशेपाङ्कका हवाई डाक (Air mail) से US$25 (रु० ११५०) तथा समुद्री डाक (Sea mail) से US$13 (रु० ६००) हे। समुद्री डाकसे पहुँचनेम बहुत समय लग सकता है, अत हवाई डाकसे ही अङ्क मॅगवाना चाहिये।

२-'कल्याण' का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ होकर दिसम्बरतक रहता है, अत ग्राहक जनवरीसे ही बनाये जाते ह। वर्पके मध्यमे बननेवाले ग्राहकाको जनवरीसे ही अङ्क दिये जाते हैं। एक वर्पसे कमके लिये ग्राहक नहीं बनाये जाते हैं।

३-ग्राहकाको वार्षिक शुल्क १५ दिसम्बरतक 'कल्याण'-कार्यालय अथवा गीताप्रेसकी पुस्तक-दूकानोपर अवश्य भेज देना चाहिय। जिन ग्राहक-सज्जनासे अग्रिम मूल्य-राशि प्राप्त नहीं होती, उन्हे विशेपाङ्क वी०पी०पी० द्वारा भेजनेका नियम है। वी०पी०पी० द्वारा 'कल्याण'-विशेपाङ्क भेजनेमे यद्यपि वी०पी०पी० डाक-शुल्कके रूपमे रु० १० ग्राहकको अधिक देना पडता हे, तथापि अङ्क सुविधापूर्वक सुरक्षित मिल जाता है। अत सभी ग्राहकाको वी०पी०पी० ठीक समयसे छुड़ा लेनी चाहिये। पाँच वर्पके लिये भी ग्राहक बनाये जाते हैं, इससे आप प्रतिवर्ष शुल्क भेजने/ वी०पी० पी० छुडानेकी असुविधासे बच सकते हैं।

४-जनवरीके विशेपाङ्कके साथम फरवरीका अङ्क भी रहता ह। मार्चसे दिसम्वरतकके अङ्क प्रतिमास भली प्रकार जाँच करके मासके प्रथम सप्ताहतक डाकसे भेजे जाते हैं। यदि किसी मासका अङ्क २० तारीखतक न मिले तो डाक-विभागसे जॉच करनेके उपरान्त हम सूचित करना चाहिये। खोये हुए मासिक अङ्काके उपलब्ध होनेकी स्थितिम पुन भेजनेका प्रयास किया जाता हे।

५-पता वदलनेकी सूचना कम-से-कम ३० दिनाके पहले कार्यालयमे पहुँच जानी चाहिये। पत्रोम ग्राहक-सख्या, पिनकोडसहित पुराना और नया—पूरा पता पढनेयाग्य सुस्पष्ट तथा सुन्दर अक्षराम लिखना चाहिये।

६-पत्र-व्यवहारम 'ग्राहक-सख्या' न लिखे जानेपर कार्यवाही होना कठिन हे। अत 'ग्राहक-सख्या' प्रत्येक पत्रम अवश्य लिखी जानी चाहिये।

७-जनवरीका विशेपाङ्क ही वर्पका प्रथम अङ्क होता हे। वर्पपर्यन्त मासिक अङ्क ग्राहकाको उसी शुल्क-राशिम भेजे जाते हैं।

८-'कल्याण' मे व्यवसायियाके विज्ञापन किसी भी स्थितिमे प्रकाशित नहीं किये जाते।

'कल्याण' के पञ्चवर्षीय ग्राहक

पाँच वर्पके लिय सदस्यता-शुल्क ६०० रुपये, सजिल्द विशेपाङ्कके लिये ६७५ रुपय विदेश (Foreign)-के लिये सजिल्द विशेपाङ्कका हवाई डाक (Air mail)-से US$ 125 (रु० ५,७५०), समुद्री डाक (Sea mail) -से US$65 (रु० ३ ०००) है। फर्म, प्रतिष्ठान आदि भी ग्राहक बन सकते हैं। किसी अनिवार्य कारणवश यदि 'कल्याण' का प्रकाशन वद हो जाय तो जितने अङ्क मिले हो उतनेम ही सताप करना चाहिये।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पत्रालय—गीताप्रस—२७३००५ (गारखपुर)

रजि० समाचारपत्र—रजि०न० २३०८/५७ पजीकृत-सख्या—NP/GR—13/2003—2005
प्र० ति० २०-१२-२००२
LICENCE NO. WPP/GR-03/2003 LICENSED TO POST WITHOUT PRE PAYMENT

भगवत्प्रेमीकी प्रेमास्पदसे प्रार्थना

ससारसागरमतीव गभीरपार दु खोर्मिभिर्विविधमोहमयैस्तरङ्गै ।
सम्पूर्णमस्ति निजदोषगुणैस्तु प्राप्त तस्मात् समुद्धर जनार्दन मा सुदीनम्॥
कर्माम्बुदे महति गर्जति वर्षतीव विद्युल्लतोल्लसति पातकसञ्चयो मे।
मोहान्धकारपटलेर्मम नष्टदृष्टेर्दीनस्य तस्य मधुसूदन देहि हस्तम्॥
ससारकाननवर बहुदु खवृक्षै ससेव्यमानमपि मोहमयैश्च सिहै ।
सदीप्तमस्ति करुणाबहुवह्नितेज सतप्यमानमनस परिपाहि कृष्ण॥
ससारवृक्षमतिजीर्णमपीह सूच्च मायासुकन्दकरुणाबहुदु खशाखम्।
जायादिसङ्घछदन फलित मुरारे त चाधिरूढपतित भगवन् हि रक्ष॥
त्वामेव ये नियतमानसभावयुक्ता ध्यायन्त्यनन्यमनसा पदवीं लभन्ते।
नत्वेव पादयुगल च महत्सुपुण्य ये देवकिन्नरगणा परिचिन्तयन्ति॥
नान्य वदामि न भजामि न चिन्तयामि त्वत्पादपद्मयुगल सतत नमामि।
एव हि मामुपगत शरण च रक्ष दूरेण यान्तु मम पातकसञ्चयास्ते।
दासोऽस्मि भृत्यवदह तव जन्म जन्म त्वत्पादपद्मयुगल सतत नमामि॥

जनार्दन! यह ससार-समुद्र अत्यन्त गहरा है, इसका पार पाना कठिन है। यह दु खमयी लहरा और मोहमयी भाँति-भाँतिकी तरङ्गोसे भरा है। म अत्यन्त दीन हूँ और अपने ही दोषो तथा गुणोसे—पाप-पुण्योसे प्रेरित होकर इसम आ फँसा हूँ, अत आप मेरा इससे उद्धार कीजिये। कर्मरूपी बादलाकी भारी घटा घिरी हुई है, जो गरजती और बरसती भी है। मेरे पातकोकी राशि विद्युल्लताकी भाँति उसमे थिरक रही है। मोहरूपी अन्धकारसमूहसे मेरी दृष्टि—विवेकशक्ति नष्ट हो गयी है, में अत्यन्त दीन हो रहा हूँ, मधुसूदन! मुझे अपने हाथका सहारा दीजिये। यह ससार एक महान् वन है, इसम बहुत-से दु ख ही वृक्षरूपम स्थित हें। मोहरूपी सिह इसमे निर्भय होकर निवास करते ह, इसके भीतर शोकरूपी प्रचण्ड दावानल प्रज्वलित हो रहा है, जिसकी आँचसे मेरा चित्त सतप्त हो उठा है। श्रीकृष्ण! इससे मुझ बचाइये। ससार एक वृक्षके समान है, यह अत्यन्त पुराना होनेके साथ बहुत ऊँचा भी है, माया इसकी जड है, शोक तथा नाना प्रकारके दु ख इसकी शाखाएँ ह, पत्नी आदि परिवारके लोग पत्ते ह ओर इसम अनेक प्रकारके फल लगे हें। मुरारे! में इस ससार-वृक्षपर चढकर गिर रहा हूँ, भगवन्! इस समय मेरी रक्षा कीजिये—मुझे बचाइये। जो सयमशील हृदयके भावसे युक्त होकर अनन्य चित्तसे आपका ध्यान करते ह, वे आपके मार्गको पा लेते हैं तथा जो देवता ओर किन्नरगण आपके दोनो परम पवित्र चरणोको प्रणाम करके उनका चिन्तन करते हें, वे भी आपकी पदवीको प्राप्त होते हें। मैं न तो दूसरेका नाम लेता हूँ, न दूसरेको भजता हूँ ओर न दूसरेका चिन्तन ही करता हूँ। नित्य-निरन्तर आपके युगल चरणाको प्रणाम करता हूँ। इस प्रकार मैं आपकी शरणमे आया हूँ। आप मेरी रक्षा करे, मेरे पातकसमूह शीघ्र दूर हो जायें। मैं सेवककी भाँति जन्म-जन्म आपका दास बना रहूँ। भगवन्! आपके युगल चरण-कमलाको सदा प्रणाम करता हूँ। (पद्मपुराण)